स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

MAEC-04 (N)

श्रम अर्थशास्त्र

प्रथम खण्ड : श्रम बाज़ार

द्वितीय खण्ड : श्रमशक्ति संरचना एवं जन शक्ति नियोजन

तृतीय खण्ड : मजदूरी सिद्धान्त एवं नीति

वर्धमान महावीर
खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

एम.ए. अर्थशास्त्र (उत्तरार्द्ध)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

श्रम अर्थशास्त्र

MAEC-04 (N)

श्रम बाजार 1

खण्ड परिचय

श्रम बाजार

श्रम अर्थव्यवस्था के इस खण्ड में कुल आठ इकाईयां हैं। इस खण्ड में हम अपना ध्यान मुख्य रूप से श्रम बाजार से सम्बन्धित शक्तियों जैसे - श्रम की पूर्ति, श्रम की मांग, श्रम की उत्पादकता एवं रोजगार से जुड़े हुए पहलुओं पर केन्द्रित करेंगे।

प्रथम इकाई में श्रम की अवधाराणा अर्थात् श्रम का अर्थ, परिभाषा, श्रम के प्रकार एवं श्रम की समस्याओं के साथ-साथ इसके महत्व की विवेचना करेंगे। इस इकाई में श्रम को उत्पादन साधन के रूप में परिभाषित किया गया है।

द्वितीय इकाई में श्रम अर्थशास्त्र का अर्थ, क्षेत्र एवं महत्व का विवेचन किया गया है। इस इकाई में विभिन्न क्षेत्रों जैसे - बागान, संचार, बन्दरगाह, खान आदि में रोजगार की समस्याओं की चर्चा की गई है। संक्षेप में महिला एवं बाल श्रम का परिचय भी यहाँ दिया गया है।

तृतीय इकाई श्रम बाजार पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है। इस इकाई में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि विकासशील देशों में श्रम बाजार की कुछ विशिष्टताएं होती हैं। इसी संदर्भ में भारत में श्रम बाजार पर हुए अनुसन्धानात्मक अध्ययनों के निष्कर्षों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ इकाई में श्रम बाज़ार का महत्वपूर्ण घटक श्रम की पूर्ति एवं इसे निर्धारित करने वाले तत्वों का विवेचन किया गया है। इसमें श्रम के पूर्ति वक्र के आकार एवं अल्पकाल एवं दीर्घकाल में फर्म एवं उद्योग के पूर्ति वक्रों को स्पष्ट करने के साथ-साथ सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए श्रम की पूर्ति वक्र को स्पष्ट किय गया है।

इकाई पांच में बाजार के दूसरे महत्वपूर्ण घटक श्रम की मांग की चर्चा की गई है। श्रम की पूर्ति की भांति श्रम की अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक मांग को स्पष्ट किया गया है। इसमें पूर्ण एवं अपूर्ण प्रतियोगिताओं में बाजार संतुलन की व्याख्या की गई है।

इकाई छः में श्रम की उत्पादकता का अर्थ व इसकी माप करने की विधियों को स्पष्ट किया गया है। श्रम की उत्पादकता के निर्धारक तत्वों का संक्षिप्त परिचय भी इस इकाई की विषय-वस्तु है।

सांतवी इकाई में श्रम समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में श्रम की विभिन्न विशिष्टताओं को स्पष्ट कर इस इकाई में श्रम समस्या के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

अन्तिम इकाई में बेरोजगारी व अर्द्ध-रोजगार की स्थितियों की चर्चा की गई है। इस इकाई में बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी घटकों की चर्चा करने के बाद इसे दूर करने के लिए किए गए सरकारी उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

श्रम अर्थशास्त्र

MAEC-04 (N)

खण्ड-1

श्रम बाजार

इकाई 1
श्रम की अवधारणा

इकाई 2
श्रम अर्थशास्त्र, अर्थ, क्षेत्र एवं महत्व

इकाई 3
श्रम बाजार

इकाई 4
श्रम की पूर्ति की अवधारणा

इकाई 5
श्रम की मांग एवं श्रम की मांग के सिद्धान्त

इकाई 6
श्रम की उत्पादकता

इकाई 7
विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्था में श्रम समस्याएं

इकाई 8
बेरोजगारी एवं अर्द्ध रोजगार

इकाई 1

श्रम की आवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 श्रम का अर्थ

1.3 श्रम के प्रकार

1.3.1 उत्पादक व अनुत्पादक श्रम

1.3.2 कुशल व अकुशल श्रम

1.3.3 शारीरिक व मानसिक श्रम

1.4 श्रम की विशेषताएं

1.5 श्रम समस्याएं

1.6 श्रम का महत्व

1.7 श्रम व श्रम अर्थशास्त्र

1.8 कार्य की अवधारणा व क्षेत्र

1.8.1 कार्य के घण्टे अधिक होने के दुष्परिणाम

1.9 रोजगार की अवधारणा व क्षेत्र

1.10 श्रम उत्पादन के साधन के रूप में

1.10.1 उत्पादन के साधन के रूप में श्रम का महत्व

1.10.2 उत्पादन के साधन के रूप में श्रम के महत्व के कारण

1.10.3 श्रम उत्पादन के अन्य साधनों से अधिक महत्वपूर्ण या भिन्न है।

1.11 बेरोजगारी की समस्या

1.11.1 बेरोजगारी के प्रकार

1.11.2 बेरोजगारी की प्राकृतिक दर

1.12 सारांश

1.13 शब्दावली

1.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 उद्देश्य

श्रम उत्पादन का एक सक्रिय साधन है। उत्पत्ति का पैमाना छोटा हो अथवा बड़ा श्रम की सहायता के बिना उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। आधुनिक युग में आर्थिक विकास के संदर्भ में जब एक देश या देशों का अध्ययन किया जाता है तो श्रम एक महत्वपूर्ण

स्थान रखता है चाहे वह देश कृषि प्रधान हो अथवा उद्योग-प्रधान। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- ❖ जान सकेंगे कि श्रम का क्या अभिप्राय है?
- ❖ श्रम की विशेषताएं एवं उत्पादन के साधन के रूप में इसका क्या महत्व है?
- ❖ समझ सकेंगे कि श्रम की अवधारणा से जुड़े अन्य मुद्दे कौन-कौन से हैं?

1.1 प्रस्तावना

अर्थशास्त्र में उत्पादन के तीन साधनों (श्रम, भूमि, पूंजी) में श्रम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कोई भी शारीरिक व मानसिक कार्य जो आर्थिक दृष्टिकोण से किया गया हो या जिस कार्य को करने के बदले में आर्थिक प्रतिफल प्राप्त होता है उसे श्रम कहते हैं। जैसे — डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, प्राध्यापक, दुकानदार, व्यवसायी, नाई, धोबी इत्यादि कोई भी श्रमिक जिसे कार्य करने के बदले आर्थिक भुगतान प्राप्त है उसे श्रम कहते हैं। इसमें वे लोग नहीं आते हैं जो कार्य के बदले में आर्थिक भुगतान नहीं लेते हैं या जिनका कार्य जीविका कमाने के लिए नहीं किया जाता हैं जैसे — घर में काम करने वाली महिलाएँ अपने बच्चों को पढ़ाने वाला पिता व स्कूल जाने वाले बच्चे व बुजुर्ग व्यक्ति इत्यादि।

1.2 श्रम का अर्थ

प्रो. मार्शल के अनुसार — "श्रम का अर्थ मनुष्य के आर्थिक कार्यों से है, चाहे वे शारीरिक हो अथवा मानसिक।"

पीगू के अनुसार — "वह पारिश्रमिक (या सेवा) जिसे द्रव्य द्वारा मापा जाता है श्रम कहलाता है।"

उत्पादन के साधन के रूप में श्रम का सबसे अधिक महत्व है। क्योंकि उत्पादन के तीन साधनों में श्रम ही सजीव व सक्रिय साधन है। जिसे अल्पकाल व अतिअल्प काल में परिवर्तित करके उत्पादन की मात्रा (पूर्ति) व बाजार की माँग में सामन्जस्य पैदा किया जा सकता है। श्रम के सजीव व सक्रिय साधन होने के कारण उत्पादन की गुणात्मकता तथा मात्रा को प्रभावित करता है।

उत्पादन के इस महत्वपूर्ण मानवीय संसाधन 'श्रम' का अत्यधिक महत्व इसलिए भी है कि यही उत्पादन करता है व इसी के लिए उत्पादन किया जाता है या उत्पादक व उपभोक्ता दोनों ही यह स्वयं है। एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

उत्पादन के इस साधन श्रम को हम निम्न तीन श्रेणियों में बाँटते हैं :—

1. कुशल श्रम,
2. अर्द्ध कुशल श्रम,
3. अकुशल श्रम।

श्रम का व्यापक अर्थ लेते समय समस्त श्रम शक्ति या जन शक्ति को सम्मिलित करके ही उत्पादन के साधन के रूप में लिया जाता है जो उत्पादन कार्य में लगी है या लगने में तत्पर है।

1.3 श्रम के प्रकार

श्रम के तीन प्रकार होते हैं। 1. उत्पादक व अनुत्पादक श्रम, 2. कुशल व अकुशल श्रम, 3. शारीरिक मानसिक श्रम

1.3.1 उत्पादक व अनुत्पादक श्रम

किसी भी प्रकार के किए गए श्रम जिससे उत्पादन होता है उसे उत्पादक श्रम कहते हैं जिस उत्पादन को कीमत में मापा जा सके उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। जिस श्रम में उत्पादन नहीं होता है या जिसे कीमत में न मापा जा सके उसे अनुत्पादक श्रम कहते हैं। जैसे ग्रहणियों का कार्य कीमत से मापा नहीं जा सकता वह अनुत्पादक श्रम है। **प्रो. मार्शल** के अनुसार — "जो प्रयत्न उपयोगिता का सृजन करता है और अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होता है उसे उत्पादक श्रम कहेंगे।"

प्रो. थामस ने 'उपयोगिता सृजन' के स्थान पर 'मूल्य सृजन' वाक्यांश का प्रयोग किया है क्योंकि कई कार्यों की अधिक उपयोगिता होते हुए भी उसकी बाजार कीमत नहीं होती अतः वह अनुत्पादक श्रम है जैसे - माता द्वारा किया गया शिशु का कार्य।

1.3.2 कुशल व अकुशल श्रम

कुशल श्रम से तात्पर्य उस श्रम से है जिसे कि विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता हो व श्रमिक प्रशिक्षित हो जैसे डाक्टर, इन्जीनियर कारीगर, नाई आदि। जबकि अकुशल श्रम वह है जिसमें प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है जैसे - कारीगर के कुली, बेलदार, चपरासी, चौकीदार, घरेलू नौकर आदि। अकुशल श्रमिकों की मजदूरी हमेशा कम होती है क्योंकि प्रशिक्षण के अभाव में अकुशल श्रमिकों की पूर्ति अधिक होती है।

1.3.3 शारीरिक व मानसिक श्रम

मानसिक श्रम से अभिप्राय दिमाग द्वारा कार्य करने पर जिसे पारिश्रमिक मिलता हो जैसे - डाक्टर, इन्जीनियर, वकील, प्राध्यापक आदि शारीरिक श्रम से अभिप्राय शारीरिक कार्य द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त होता हो व श्रम जैसे कारीगर, बेलदार, नाई, धोबी आदि।

1.4 श्रम की विशेषताएँ

श्रम उत्पादन के अन्य साधनों से अलग एक महत्वपूर्ण विशेषता रखता है जो उत्पादन के अन्य साधनों में नहीं होती है।

1. श्रम उत्पत्ति का सक्रिय साधन है।

श्रम उत्पत्ति का सक्रिय साधन है क्योंकि उत्पादन के अन्य साधन कार्य प्रारम्भ नहीं कर सकते भूमि कितनी भी उपजाऊ हो वहाँ पूँजी के रूप में ट्रेक्टर बैल खाद आदि हो परन्तु उस पर कार्य श्रमिक द्वारा ही प्रारम्भ होता है उसी प्रकार उद्योगों में कार्य को प्रारम्भ श्रमिक द्वारा ही किया जाता है चाहे स्वचालित मशीनें हों।

2. श्रम एवं श्रमिक में अन्तर नहीं है।

उत्पत्ति के अन्य साधन भूमि पूँजी अपने स्वामी से अलग रहते है। जबकि श्रम श्रमिक के साथ ही रहता व श्रमिक से अलग नहीं होता है। जहाँ श्रमिक जाता हैं उसका श्रम उसके साथ ही रहता है।

3. श्रम अधिक गतिशील है।

भूमि की तुलना में तो श्रम गतिशील है ही किन्तु पूँजी की तुलना में भी अल्पकाल

में श्रम अधिक गतिशील है। क्योंकि अल्पकाल एक मशीन के पूँजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलना मुश्किल होता है। जबकि श्रम अल्पकाल व अति अल्पकाल में भी अधिक गतिशील है।

4. श्रम नाशवान है।

श्रम नाशवान है। अतः श्रम का संचय सम्भव नहीं है। उत्पादन के अन्य साधन भूमि व पूँजी का संचय हो सकते हैं। उनका उपयोग न होने पर उनका नाश नहीं होता जबकि श्रम नाशवान है। यदि श्रमिक एक दिन कार्य नहीं करता है तो उसका श्रम संचय नहीं होता व नाश हो जाता है वह उस दिन का श्रम दूसरे दिन नहीं कर सकता है।

5. श्रमिक की सौदा शक्ति दुर्बल होती है।

श्रमिक की सौदाशक्ति सेवायज़क की तुलना में कमजोर होती है क्योंकि (A) श्रम नाशवान है इसका संचय नहीं हो सकता। (B) श्रमिक सेवायोजक की तुलना में गरीब होता है। (C) श्रम संगठनों का अभाव या कमजोर होने के कारण श्रमिक की सौदा शक्ति कमजोर हो जाती है। (D) शिक्षा व जागरूकता के अभाव के कारण भी श्रमिक की सौदा शक्ति कमजोर होती है।

6. श्रम की पूर्ति बहुत धीरे-धीरे घटती बढ़ती है।

यदि किसी समय उद्योग में मन्दी हो जाने से श्रम की माँग कम हो जाय तो इसकी पूर्ति में शीघ्र ही कमी नहीं हो सकती वरना धीरे-धीरे होती है जबकि पूर्ति शीघ्र बढ़ाई भी नहीं जा सकती क्योंकि जो बालक आज पैदा होता है वह 15 साल बाद श्रम शक्ति में सम्मिलित होता है। अतः कुशल श्रमिक तैयार करने के लिए तकनीकी शिक्षा और 8-10 साल का समय की होती है।

7. श्रमिक अपना श्रम बेचकर अधिक अनुभवी व कुशल होता है।

उत्पादन के अन्य साधन को काम में लेने से घिसावट होती है। जैसे — भूमि में प्रयोग के बाद खाद डालना पड़ता है जबकि मशीनें टूटती व घिसती हैं जबकि श्रमिक कार्य करके कुशल व अनुभवी होता है। अतः उसका अनुभव उसके उत्पादन की गुणात्मकता को बढ़ाता है घटाता नहीं। जबकि उत्पादन के अन्य साधनों के प्रयोग के बाद उनके उत्पादन की गुणात्मकता घटती है। श्रम की बढ़ती है।

8. श्रम में पूँजी का विनियोग करके उसकी गुणात्मक में वृद्धि की जा सकती है।

उत्पत्ति के अन्य साधनों की भाँति श्रमिक को भी पूँजी के विनियोग से अधिक कुशल बनाया जा सकता है। उच्च शिक्षा, प्रशिक्षण, उचित पोषण, उच्च रहन सहन का स्तर इत्यादि के द्वारा श्रम की गुणात्मकता को बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इसी कारण से श्रमिक को मानवीय पूँजी भी कहते हैं।

9. श्रम की गुणात्मकता परिस्थितियों से प्रभावित होती है।

उच्च आय वर्ग के बच्चों के मानसिक विकास तीव्र व निम्न आय वर्ग का मानसिक विकास धीरे होता है क्योंकि सुविधाएँ जैसे - शिक्षा का स्तर सुविधायें (T.V. Cable, Phone) उसके मानसिक विकास को तीव्र व सोचने की शक्ति को प्रभावित करते है।

10. श्रम की बुद्धि और निर्णय शक्ति दोनों उत्पादन को प्रभावित करती है।

श्रमिक मनुष्य होने के कारण उनमें स्वाभाविक बुद्धि व तर्क शक्ति व निर्णय शक्ति

है। अतः कार्य करते हुए वे इस मानवीय शक्ति का प्रयोग करता है जो कि उत्पादन के अन्य साधन नहीं कर सकते।

1.5 श्रम समस्याएँ

किसी भी अर्थव्यवस्था का अगर अध्ययन किया जाय तो मात्र दो समस्याएँ हैं। जिनके समाधान के लिए अर्थव्यवस्थाएँ तत्पर होती हैं जैसे — आर्थिक विकास करना तथा आर्थिक विकास को बनाए रखना। अतः स्पष्ट है कि किसी देश के आर्थिक विकास में श्रमिक वर्ग की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण व निर्णायक होती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पूँजी व भूमि का कोई महत्व नहीं है किन्तु पूँजी भूमि का उचित विनियोग करने का कार्य मानवीय शक्ति द्वारा ही होता है।

प्रो. ब्लूम एवं नोरथप के शब्दों में — "श्रम समस्याएँ प्रत्येक व्यक्ति की समस्याएँ हैं, वे समस्याएँ प्रत्येक उपभोक्ता, नियोक्ता एवं श्रमिक को प्रभावित करती हैं। श्रम समस्याओं के मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, कानूनी तथा आर्थिक पहलुओं के आधार पर आँका जाता है। श्रम समस्याओं के समाधान के लिए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, प्रशासनिक, वैधानिक, आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को अपनाना तथा खोजना पड़ता है। श्रम अर्थ शास्त्र तथा श्रम समस्याओं का अध्ययन इन्हीं दृष्टिकोणों के बीच सामजस्य बैठाते हुए करना होता है इसलिए श्रम अर्थशास्त्र को अर्थशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता है।"

श्रम समस्याओं का महत्व इसलिए है कि मानव या श्रमिक ही वह केन्द्र बिन्दु हैं जिसके लिए उत्पादन किया जाता है एवं जिसके द्वारा उत्पादन किया जाता है। श्रम समस्याओं का अध्ययन केवल अर्थशास्त्र का विषय न होकर अपितु अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र, कानून शास्त्र यहाँ तक कि कई बार राजनीति शास्त्र व इतिहास का भी विषय हो जाता है। श्रमिकों की समस्याएँ चाहे इतिहास में हो या राजनीति द्वारा उनका स्वरूप राजनैतिक बन चुका है। श्रमिकों का मनोविज्ञानिक पहलू महत्व रखता है इससे सारा समाज प्रभावित होता है क्योंकि श्रम समस्याएँ ही मानव समस्याएँ हैं। किसी भी अर्थव्यवस्था का या समाज का लक्ष्य वहाँ के नागरिकों के जीवन स्तर को ऊँचा करना होता है। श्रम समस्याओं के विभिन्न पहलू निम्नांकित हैं :—

1. मनोवैज्ञानिक पहलू

श्रम समस्याएँ मनोवैज्ञानिक समस्याएँ हैं समस्त पारस्परिक मानवीय क्रियाएँ ही श्रम समस्याएँ हैं। मानव की इच्छा, सम्मान, सुरक्षा, उन्नति यह समस्त समस्याएँ उसकी आर्थिक परिस्थितियों के साथ बदलती है।

2. सामाजिक पहलू

श्रम समस्याएँ ही समाज की समस्याएँ है। अगर श्रमिक वर्ग गरीब बेरोजगार हो तो समाज का आर्थिक स्तर गिरता जाएगा। अतः समाज में विद्रोह अनैतिकता, झगड़े बढ़ेंगे। हम कह सकते हैं कि श्रम समस्याओं के आर्थिक व सामाजिक पहलू में बहुत सामंजस्य पाया जाता है।

3. कानूनी पहलू

श्रम समस्याएँ ही कानूनों द्वारा हल करी जाती हैं। कानून जो कि व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान के लिए होते हैं या सरकारों द्वारा श्रमिकों के सामाजिक कल्याण के लिए

बनाये जाते हैं। बालश्रम अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, कारखाना अधिनियम इत्यादि।

4. आर्थिक पहलू

आर्थिक समस्याओं के केन्द्र बिन्दु हैं — 1. वेतन, 2. बोनस, 3. रोजगार की सुरक्षा, 4. सामाजिक सुरक्षा, 5. उन्नति के अवसर, 6. कार्य की दशाएँ, 7. रोजगार (बेरोजगारी)।

ऊँचा वेतन होना श्रमिकों की काफी समस्याओं का समाधान होता है किन्तु इसके अलावा कई अन्य महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर भी श्रमिक का आर्थिक कल्याण, मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टी निर्भर करती है जिसमें बोनस, वेतन, रोजगार की सुरक्षा, उन्नति, कार्य की दशाएँ हैं। अगर उचित कार्य की दशाएँ नहीं होंगी तो श्रमिक की कार्य क्षमता पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता है जो कि उत्पादन को भी प्रभावित करता है अगर रोजगार की सुरक्षा नहीं होगी तो भी मानसिक सन्तुष्टि नहीं होने से उत्पादन पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ेगा। उपर्युक्त समस्त बिन्दु राजनैतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक व कानूनी समस्याओं को जन्म देते हैं।

इन श्रम समस्याओं का समाज से सीधा सम्बन्ध होता है अतः समाज के हर क्षेत्र में श्रम का महत्व और बढ़ जाता है।

1.6 श्रम का महत्व

किसी देश की समृद्धि वहाँ के श्रम शक्ति पर चाहे अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान हो अथवा उद्योग प्रधान श्रम का महत्व बरकरार रहता है. उत्पादन के साधन के रूप में श्रम का बहुत महत्व है श्रमिक में मानवीय तत्व इतने प्रधान होते हैं कि वे जिम्मेदारी उठा सकता है सहयोग कर सकता है लक्ष्य पूरा कर सकता है इन समस्त कार्यों को करने में श्रमिक की भावनाएँ आकाक्षाएँ हैं जो कि श्रम के महत्व को बढ़ाती हैं।

श्रम के महत्व के कारण

श्रम के महत्व के कारण निम्न हैं :—

1. श्रम उत्पादन का सक्रिय साधन है।
2. श्रम बुद्धि से निर्णय ले सकता है।
3. श्रमिक श्रम बेचकर अधिक कुशल होता है।
4. श्रम अधिक गतिशील है।

आज विश्व में सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन की गति तेज करने तथा अन्तिम रूप से आर्थिक समस्याओं से मुक्ति पाने के उद्देश्य से उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र में श्रमिकों की अधिक नजदीकी, सार्थक व उद्देश्य पूर्ण सहयोग प्राप्त करते के लक्ष्य के सम्बन्ध के रूप में श्रम का महत्व बढ़ता जा रहा है। वास्तव में किसी देश के लिए श्रम सम्बन्धी समस्याएँ व समाधान राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तर पर महत्वपूर्ण होता है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि किसी भी भावी सम्पन्नता उस देश के विभिन्न उद्योगों व क्षेत्रों में लगे श्रम की गुणात्मकता पर ही निर्भर करती है।

1.7 श्रम व श्रम अर्थशास्त्र

श्रम अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की एक प्रमुख शाखा के रूप में विकसित होता जा रहा है। आर्थिक प्रक्रिया में श्रम के कार्यों का एक विशेष अध्ययन होता है क्योंकि अर्थव्यवस्था

में श्रम की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है।" श्रम अर्थशास्त्र में श्रम समस्याओं के वर्गीकरण एवं विश्लेषण एवं विश्लेषण तथा श्रमिक संघों के विकास एवं भूमिका के साथ श्रम बाजार की विशेषताओं का विवेचन होता है।" श्रम अर्थशास्त्र में अग्रलिखित महत्वपूर्ण क्षेत्रों का अध्ययन करना होता है :

नियोजन (Manpower planning) श्रम संगठन (Labour organisation) श्रम सम्बन्ध (Labour Relation) सार्वजनिक नीति (Public Policy) मजदूरी नीति (Wages Policy) रोजगार सिद्धान्त (Employment Policy) सामूहिक सौदेकारी (Collective Bargaining Theory) सामाजिक सुरक्षा (Social Security) सामाजिक कल्याण (Social Welfare) श्रम संघ (Trade Unions) कार्य की दशाएँ (Working Conditions of Work) औद्योगिक सम्बन्ध (Industrial Relations) श्रम कानून (Labour legislation)

श्रम अर्थशास्त्र के क्षेत्र को दृष्टिगत रखते हुए इसके निम्न दो पक्ष देखे जाते हैं 1. सैद्धान्तिक पक्ष 2. संस्थागत पक्ष सैद्धान्तिक पक्ष में सिद्धान्त को आधार पर अध्ययन करना व समस्याओं का समाधान निकालना है जबकि संस्थागत पक्ष में संस्था विशेष की परिस्थितियों के आधार पर अध्ययन करना व निर्णय लेना आता है।

1.8 कार्य की अवधारणा व क्षेत्र

अर्थशास्त्र जब हम उत्पादन को बढ़ाने या आर्थिक विकास की बात करते हैं तो उत्पादन के साधन के रूप में श्रम की भूमिका महत्वपूर्ण है किन्तु उस श्रम को कितना कार्य दिया जाये या किस परिस्थितियों में कार्य कराया जाये-यह भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

कार्य के घण्टे

श्रमिक द्वारा श्रम के दौरान कितने घण्टे काम करना या करवाना चाहिये यह अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अधिक घण्टे तक काम करने में स्वाभावतः श्रमिक थकान हो जाती है तथा वह अपने कार्य के प्रति शिथिल हो जाता है व उसके स्वाथ्य व कार्यकुशलता पर इसका कुप्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त कार्य के घण्टे अधिक होने पर श्रमिक इधर उधर घूमने बहाने बनाने की या कामचोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। साथ कार्य के घण्टे अधिक होने पर अनुपस्थिति की दर भी बढ़ जाती है। कार्य के घण्टे अधिक होने से परिवार के प्रति लापरवाही की स्थिति पैदा होती है जो पारिवारिक समस्याओं को जन्म देती है। साथ ही मानसिक व शारीरिक मनोरंजन के लिए समयाभाव बना रहता है। थकान के कारण कम मात्रा में उत्पादन, श्रम व पूँजी में असामान्जस्य से उद्योगिक विवादों का जन्म होता है।

1.8.1 काम के घण्टे अधिक होने के दुष्परिणाम

काम के घन्टे अधिक होने के दुष्परिणाम निम्न लिखित हैं :—

1. कार्य के घण्टे व स्वास्थ्य

निरंतर कई घण्टे कार्य करते रहने से प्रत्येक व्यक्ति को थकान का अनुभव होता है जो कि उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो जागीरदार जमीदारों के द्वारा या उद्योगपतियों के द्वारा अधिक घण्टे कराने के कारण श्रमिक का स्वास्थ्य खराब होने के साथ उनकी मृत्यु तक हो जाती है कारखाना अधिनियम

1881 के अन्तर्गत केवल 7-12 साल तक के बच्चों के कार्य के घण्टे निर्धारित थे व ये घण्टे 9 थे। जिसमें 1 घण्टे विश्राम था।

1891 कारखाना अधिनियम द्वारा महिलाओं के कार्य के घण्टे 11 थे। जिसमें 1.5 घण्टे विश्राम था। व्यस्क पुरुष के कार्य के घण्टे अधिक थे। अतः श्रम को एक वस्तु के रूप में देखा जाता था जिसे "वस्तु रूप धारणा" (Commodity Concept of Labour) के रूप में माना जाता है। इस अवधारणा का विरोध अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ILO द्वारा 10 मई 1944 एक विधेयक पास करके किया गया। जिसके द्वारा काम घण्टे एक वयस्क के लिए सामान्य उद्योगों में 8 घण्टे व 1 घण्टे का अवकाश रखा गया। काम की प्रकृति के आधार पर ये घण्टे कम भी किये गये। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा 14 साल से छोटे बच्चों के कामकाज का विरोध किया जाता है। अधिक घण्टे काम करने का स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः बालक द्वारा श्रम कराने से उसके विकास में बाधा आती है।

2. कार्य के घण्टे व कार्य क्षमता

काम करने के घण्टों एवं कार्य क्षमता का गहरा सम्बन्ध है। अधिक समय तक काम करने से श्रमिकों की कार्यक्षमता घटती है। श्रमिक मन लगाकर काम नहीं कर सकेगा अतः श्रमिक के कार्य क्षमता के साथ कार्य की गुणात्मकता घटती जाती है जो कि श्रमिक अकुशलता की ओर ले जाती है।

यहाँ तक कि समाजशास्त्री मानते हैं कि अधिक लम्बी अवधि तक कार्य करने से थकान के कारण श्रमिक मादक वस्तुओं का उपभोग करने लगते हैं व समाज में नैतिकता का ह्रास होता है।

3. कार्य के घण्टे व उत्पादन

कार्य के घण्टे व उत्पादन का सीधा सम्बन्ध होता है। अगर कार्य के घण्टे बढ़ते जायेंगे तो उत्पादन की गुणात्मकता एक निश्चित कार्यावधि के बाद घटती जायेगी साथ निश्चित कार्य अवधि के बाद उत्पादन की मात्रा भी कम होती है। अगर किसी कार्य में ओवर टाइम की सुविधा है तो श्रमिक वास्तविक कार्य के घण्टों में लापरवाही करके ही ओवर टाइम पर कार्यरत रहता है।

4. कार्य के घण्टे व औद्योगिक शांति

औद्योगिक शांति का काफी हद तक सम्बन्ध कार्य के घण्टे से पाया जाता है। निरन्तर कई घण्टों तक काम में व्यस्त रहने से थकान व निराशा व काम के प्रति ऊब या घृणा की स्थिति पैदा होती है। काम के प्रति उदासीनता पैदा करती है जो कम उत्पादन घटिया उत्पादन की स्थिति पैदा करती है। अधिक घण्टे काम करने से थकान व ऊब के कारण दुर्घटनाएँ बढ़ने की सम्भावनाएँ पैदा होती हैं, जिससे सेवायोजक का लाभ कम। अतः सेवायोजक असन्तुष्ट होंगे साथ ही अधिक काम के श्रमिक असन्तुष्ट होंगे दोनों तरफ असन्तुष्टी औद्योगिक अशांति को जन्म देती है।

5. कार्य के घण्टे व अनुपस्थिति की दर

कार्य के घण्टे अधिक होने के कारण श्रमिकों की कार्य के प्रति ऊब बढ़ने व रुचि कम होने लगती है जो कार्य के प्रति कम रुचि होने से श्रमिक कार्य के प्रति उदासीन होकर काम से कतराता है या अनुपस्थित रहना चाहता है। साथ ही अस्वस्थ होने के

कारण या अपने पारिवारिक कार्यों के लिए समयाभाव के कारण अनुपस्थिति रहता है।

6. कार्य के घण्टे व श्रम व पूँजी में असामन्जस्य

कार्य के घण्टे अधिक होने से श्रम व पूँजी के बीच का सामन्जस्य घटने लगता है। श्रमिक कार्य के घण्टों के समय से बातें करना, चाय पीना, मनोरंजन, हास्य विनोद करता है अतः मशीनें चालू रहती हैं या बेकार पड़ी रहती हैं। भूमि श्रम पूँजी के उपयोग का उचित दर न होने के कारण उत्पादन लागत बढ़ती है या ज्यादा आती है। जो उत्पादक के लाभ को भी प्रभावित करती है वस्तु की कीमत को बढ़ाती है जो पूर्ण उद्योग को प्रभावित करती है।

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए हम कह सकते हैं कि कार्य के घण्टों में कमी/वृद्धि केवल मानवीय दृष्टिकोण से ही सही नहीं है वरन् सामाजिक व आर्थिक दृष्टिकोण से भी सही नहीं है।

प्रो. पीगू के अनुसार — "कुछ समय पश्चात् साधारण कार्य के घण्टे से अधिक कार्य के घण्टे यदि किसी भी उद्योग में लागू किये जायें तो वो राष्ट्रीय लाभाँश में बढ़ोतरी के स्थान पर कमी ही करेंगे।"

1.9 रोजगार की अवधारणा व क्षेत्र

किसी देश में एक निर्धारित अवधि में किसी अर्थव्यवस्था में रोजगार की मात्रा से आशय उस अवधि में काम किये मानव घण्टों की संख्या से होता है। रोजगार पाने की इच्छा को सामान्य दैनिक कार्य घण्टों, पायी जाने वाली मजदूरी दरों और एक व्यक्ति की सामान्य स्वास्थ्य दशा के सम्बन्ध में देखना चाहिये। इन समस्त में सामान्यतया होने पर ही व्यक्ति रोजगार में होता है "मनुष्य को सामान्य रूप में व्यस्त रखने वाली क्रियाएँ, जिनका प्रतिफल मिलता है रोजगार कहलाती हैं। यह क्रियाएँ अवैधानिक व राष्ट्र विरोधी नहीं होनी चाहिये।"

हर देश का हर स्वतन्त्र व कार्य करने योग्य व्यक्ति अपने कार्यशील जीवन के हर दिन कार्य करता है। अतः उत्पादन करता है उस उत्पादन कार्य पर ही उसकी आजीविका निर्भर करती है। जिसे हम उसका रोजगार कहते हैं।

रोजगार की कुल श्रेणियाँ

रोजगार में लगे व्यक्ति के रोजगार को हम निम्न कई श्रेणियों में बाँट सकते हैं जो कि भारत में सामान्यतः प्रचलित हैं।

1. स्थाई रोजगार

एक तरह के स्थाई रोजगार में लगे हुये श्रमिक कुल सुविधायें होती हैं जैसे - नियमित वेतन, आकस्मिक अवकाश (CL), विशेष छुट्टी (PL), प्रोविडेन्ट फन्ड (PF), अवकाश प्राप्ति पर धन सुविधा (GPF) ऋण लेने का अधिकार, सेवा सर्टिफिकेट अन्य कई।

2. अस्थाई रोजगार

इन श्रमिकों को अस्थाई आधार पर लगाया जाता है अतः आवश्यकता या श्रमिक माँग समाप्त होने पर इन्हें उद्योग से निकाल दिया जाता है इनका कार्यकाल कम होता है कई उद्योगों में इन्हें कई प्रकार की सुविधाओं जैसे CL, PL दी जाती है। कई जगह यह सुविधाएँ नहीं दी जाती हैं। विशेषकर इन्हें प्रोविडेन्ट फन्ड की सुविधा नहीं दी जाती है।

इस प्रकार के श्रमिक ज्यादातर स्थाई व अस्थाई श्रमिकों के बदले में रखे जाते हैं। जबकि श्रमिक किसी कारणवश छुट्टी लेते हैं तब बदली श्रमिक कार्य करते हैं।

देश के सतत आर्थिक विकास के लिए देश की श्रम शक्ति का उचित प्रयोग करके ही हम विकास कर सकते हैं अतः श्रम शक्ति का पूर्ण व उचित उपयोग श्रमिकों के उचित रोजगार की समस्या को जन्म देती है जिसके समाधान के लिए देशों में रोजगार केन्द्र खोले गए हैं जो कि श्रमिकों को रोजगार दिलाने में व श्रम शक्ति को उचित प्रयोग करने में सहायक होते हैं।

1.10 श्रम उत्पादन के साधन के रूप में

जब हम अर्थशास्त्र में उत्पादन की बात करते हैं चाहे वह कृषि क्षेत्र हो अथवा उद्योग क्षेत्र या सेवा क्षेत्र उत्पादन के तीनों साधनों (भूमि श्रम व पूँजी) का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अब हम उत्पादन एक साधन श्रम के महत्व का अध्ययन करेंगे। विश्व के प्रत्येक भाग में मनुष्य अपने श्रम से ही जीविकोपार्जन करते हैं। उदाहरण के लिए यदि फल की आवश्यकता है तो उसे तोड़ना होगा। यदि आवास की आवश्यकता है तो मकान का निर्माण कराना होगा। सिर्फ भूमि पर पूँजी रख देने से मकान नहीं बन सकता। जिन प्रदेशों में प्रकृति मेहरबान है या प्रकृति प्रदत्त पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है वहाँ कम श्रम करने से कुछ काम चल सकता है। किन्तु श्रम के बिना आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं है।

1.10.1 उत्पादन के साधन के रूप में श्रम का महत्व

1. आदि काल में श्रम का महत्व

आदि काल से जब मानव के पास पूँजी नहीं थी। तब भी वह श्रम करके ही आजीविका कमाता था चाहे शिकार हो या कृषि। मानव ने शिकार करने के लिए बिना भूमि व पूँजी का प्रयोग करके अपनी आजीविका की पूर्ति करता था। वह पत्थर के औजार भी अपने श्रम करके ही बनाता था। उसके बाद आदि मानव ने श्रम में भूमि का संयोग करके कृषि प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे पशुओं को पूँजी के रूप में प्रयोग करके उत्पादन के तीनों साधनों का उचित उपयोग करना प्रारम्भ किया।

उसके बाद जैसे जैसे मानव का विकास हुआ वैसे वैसे पूँजी का व भूमि का भी उत्पादन में महत्व बढता चला गया।

2. मध्य काल में

जब हम 18वीं शताब्दी का अध्ययन करते हैं तो यूरोप जो आज सबसे विकसित था, वहाँ भी श्रम का ही अधिक उपयोग करके ही उत्पादन होता था। उसी काल में भारत को देखें तो बड़े उद्योग नही थे। छोटे उद्योग यानी कुटीर उद्योग व कृषि उत्पादन जिसमें श्रमिक का व श्रमिक के कला कौशल का महत्व पूर्ण स्थान होता था। अतः हम कह सकते हैं कि जहाँ के श्रमिक जो कि अपने कार्य कौशल में कुशल थे वही राज्य या देश आर्थिक सम्पन्न देश माना जाता था। कुशल कारीगरों की कुशलता ही देश की आर्थिक सम्पत्ति व पूँजी थी। 1760 में औद्योगीकरण प्रारम्भ होने के बाद पूँजी का प्रभाव उत्पादन में बढ़ता चला गया।

3. आधुनिक काल में श्रम का महत्व

जब हम आधुनिक व औद्योगिक काल में जब श्रम के महत्व की बात करते हैं तो उत्पादन में श्रम का महत्व हमेशा है व रहेगा। यह साबित होता है आज भी आधुनिक मशीनों को चलाने के लिए श्रमिक की आवश्यकता पड़ती है। हम चाहे विद्युत रेल की बात करें तो भी उसे चलाने के लिए या अब आधुनिक उद्योगों के उत्पादन में मशीनों को चलाने के लिए श्रमिक की आवश्यकता होती है।

4. अति आधुनिक काल

अति आधुनिक काल में जब हम कम्प्यूटर या स्वचालित मशीनों की व मोटरों की बात करते हैं तो उन्हें स्वचालन के लिए तैयार करने का कार्य श्रमिक द्वारा ही किया जाता है। कम्प्यूटर को Feed करने का कार्य या Operate करने का कार्य श्रमिक द्वारा ही किया जाता है। साथ ही आधुनिकतम तकनीकी के निर्माण कार्य में भी बड़े बड़े वैज्ञानिक व शोध कर्ता का श्रम ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। बाद में मशीनों के निर्माण का कार्य भी श्रम द्वारा होता है।

1.10.2 उत्पादन के साधन के रूप में श्रम के महत्व के कारण

1. आर्थिक विकास या सभ्यता के विकास क्रम

सभ्यता के विकास का पूर्ण श्रेय श्रम को दिया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि जब तक मानव का अस्तित्व है वह पैदल से घोड़ा गाड़ी, ऊँट गाड़ी से बस, ट्रक से ट्रेन, हेलीकोप्टर, हवाई जहाज, राकेट बराबर विकास के लिए प्रयासरत रहेगा। विकास की आकांशा श्रमिक के श्रम के रूपमें परिवर्तित होकर ही आर्थिक विकास को मूर्त रूप देती रहेगी क्योंकि भूमि व पूँजी की सम्पन्नता होने पर भी उस भूमि व पूँजी का प्रयोग श्रमिक द्वारा ही किया जाता है। अतः तभी भूमि पूँजी श्रम मिलकर उत्पादन के रूप में सामने आती है।

2. उत्पादन की मात्रात्मक गुणात्मकता वृद्धि की चाह

अर्थव्यवस्था के किसी भी क्षेत्र में कृषि उद्योग, सेवा में सिर्फ उत्पादन करना महत्वपूर्ण नहीं है अपितु उत्पादन अधिकतम हो व उसकी गुणात्मकता भी अधिक हो। इस चाहे के कारण श्रम का महत्व बराबर बढ़ रहा है। मानव अधिक सुख की चाह में बराबर प्रयास रत रहता है। अतः वही श्रम उत्पादन में परिवर्तित होकर उसकी चाह पूरी करता है।

3. बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति की व उच्च जीवन स्तर की चाह

बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उत्पादन में वृद्धि करने के लिए श्रम का महत्व बराबर बढ़ता जा रहा है। सिर्फ बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति नहीं अपितु उनके जीवन स्तर को ऊँचा करने की चाह के कारण उत्पादन में वृद्धि करना व गुणात्मकता में वृद्धि श्रम के महत्व को बढ़ाता है।

4. तीव्र औद्योगीकरण व आधुनिकीकरण की माँग

तीव्र औद्योगीकरण की माँग या आधुनिकीकरण के कारण भी श्रम का महत्व बराबर बढ़ता जाता है। मानव की अधिक से अधिक जानने, समझने, पाने की इच्छा की मानव को अधिक श्रम करने के लिए प्रेरित करती है। अपने उपलब्ध साधनों के द्वारा वह क्या

उत्पादित कर सकता है वह कितना सुख भोग सकता है या कौन सा नया साधन खोज सकता है? इसी चाह ने मानव को आज चाँद तक पहुँचा देने में सफलता दिलाई है। अपितु मंगल ग्रह तक की जानकारी प्राप्त करने या अधिक सीखने, जानने समझने, सुखी रहने के साधन जुटाने की चाह मानव को श्रम के लिए प्रेरित करती है। यही प्रेरणा आधुनिक औद्योगीकरण का परिणाम है। आज प्रत्येक देश आधुनिक सुख सुविधाएँ एकत्रित करने या उत्पादित करने की चाह रखते हैं। साथ ही आधुनिक सुविधाएँ अपने देशवासियों को देना चाहते हैं। इसी चाह में श्रमिक तत्पर होकर आधुनिक औद्योगीकरण में लगे हुए हैं।

1.10.3 श्रम उत्पादन के अन्य साधनों से अधिक महत्वपूर्ण या भिन्न है

1. श्रम उत्पादन का एक सक्रिय साधन है।

श्रम की उत्पादन के अन्य साधनों को क्रियाशील बनाता है। किसी मशीन को प्रारम्भ करने का कार्य श्रमिक द्वारा ही किया जाता है। भूमि में कृषि करने के लिए बीज बोने का कार्य हल चलाने का कार्य श्रमिक द्वारा ही होता है। जबकि श्रमिक को कार्य के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह स्वयं ही क्रिया करता है व अन्य साधनों को सक्रिय करता है।

2. श्रम में ही सोचने समझने की शक्ति या विवेक होता है।

श्रमिक ही उत्पादन का वह साधन है जो कि विवेक का प्रयोग कर सकता है। अगर उसे मशीन में कोई खराबी नजर आ रही है या उत्पादन में कोई सुधार गुणात्मक या मात्रात्मक करता है तो यह सब कार्य सिर्फ श्रम ही करता है। मशीन स्वचालित होने के बाद भी जैसे उसे करने को कहा (Feed किया) जाय वही करती है वह विवेक का प्रयोग नहीं करती। जबकि श्रमिक विवेक के प्रयोग के कारण से ही उत्पादन के अन्य साधनों से अलग हो जाता है।

3. श्रम में मानवीय भावनाएँ प्रधान है।

श्रम उत्पादन का वह साधन है जो मानवीय तत्वों की प्रधानता के कारण भिन्न है। इस पर भावनाओं का प्रभाव पड़ता है यदि श्रमिक के घर में कोई समस्या है तो उसके द्वारा किये गये कार्य पर उसका प्रभाव आता है। यदि श्रमिक किसी चिन्ता से ग्रस्त है या कार्य की परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं है तो शारीरिक स्वास्थ्य पर व मन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव उसके कार्य को अवश्य प्रभावित करता है। साथ ही श्रमिक अन्य श्रमिकों व साथियों की भावनाओं के बारे में भी विचार करता है। उत्पादन के इस साधन की यह विशेषता ही इसे अन्य साधनों से अलग व विवेकशील व भिन्न बनाती है।

4. श्रमिक ही उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य या उपभोक्ता भी है।

श्रम उत्पादन का केवल उपादान या साधन मात्र ही नहीं है वरन् श्रम को उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य भी कहा जाता है। उपभोक्ता के नाते जब श्रम उपभोग करता है तभी उत्पादन की मात्रात्मक व गुणात्मक पहलुओं का महत्व है अन्यथा उत्पादन की अवधारणा का कोई महत्व नहीं रह जाता है। उपभोक्ता के नाते श्रमिक की आर्थिक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, प्रशासनिक समस्याओं का समाधान में ही श्रमिक स्वयं व्यस्त रहता है।

हम कह सकते हैं कि श्रम उत्पादन के अन्य साधनों से भिन्न है और अधिक महत्वपूर्ण है। पूर्ण अध्ययन के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आदि काल से अत्याधुनिक

काल तक मानव ने उत्पादन कार्य बिना भूमि व पूँजी के अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करी है। जैसे आदि काल में श्रमिक के रूप में मानव ने आखेट करके ही अपनी आजीविका पत्थर के हथियारों द्वारा चलाई किन्तु श्रम का प्रयोग उसे तब भी करना पड़ता था। बाद में उसने श्रम के साथ भूमि का प्रयोग करके कृषि करके उत्पादन किया फिर पशुओं को पूँजी के रूप में प्रयोग करके उत्पादन के तीनों साधनों से उत्पादन किया। आज तक पूँजी के रूप को परिवर्तित करते हुए उत्पादन कार्य में लगा है किन्तु पूँजी के रूप को परिवर्तित करने यानी बैल हल को ट्रेक्टर तक लाने या ट्रेक्टर बेल के प्रयोग में बराबर श्रम का ही महत्वपूर्ण स्थान है।

साथ ही आर्थिक विकास, आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण समस्त प्रक्रिया में श्रमिकों का उपभोक्ता वाला पहलू महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। श्रमिक का मानवीय पक्ष उत्पादन के तीनों साधनों में उत्पादन के इस साधन (श्रम) को अधिक महत्व देता आया है। इसी कारण आज राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम संघ व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की प्रधानता बनी हुई है देश या विश्व के आर्थिक सामाजिक राजनैतिक किसी भी नजरिये से श्रम का महत्व बढ़ता जा रहा है। नये औद्योगीकरण के युग में पूँजी का महत्व भी बढ़ता जा रहा है। आज बिना पूँजी के श्रम उत्पादन व विकास नहीं कर सकता। किन्तु पूँजी के महत्व का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि पूँजी के श्रम का महत्व कम या नगण्य है। श्रम का महत्व था व है व भविष्य में बराबर रहेगा।

श्रम की व्याख्या करते समय श्रमिक जो कि रोजगार या काम (Work) का दूसरा नाम है बेरोजगारी से जुड़ा हुआ है। इसलिए सिक्के के दूसरे पहलू को समझना आवश्यक हो जाता है क्योंकि पूर्ण कुशल बेरोजगार श्रमिक कुछ नहीं कर सकता है व समाज पर बोझ हो जाता है।

1.11 बेरोजगारी की समस्या

श्रम के महत्व का अध्ययन करते समय एक समस्या है जो बेरोजगारी की समस्या के रूप में जन्म लेती है। ज्यादातर विकासशील व अविकसित देशों में जहाँ शिक्षा का स्तर व जीवन स्तर दोनों ही नीचा होता है बेरोजगारी वहाँ की मुख्य समस्या होती है।

प्रो. पीगू के अनुसार — "किसी को तभी बेरोजगार कहा जा सकता है, जब उसे रोजगार प्राप्त करने की इच्छा तो होती है परन्तु रोजगार मिलता नही।"

बेरोजगारी का अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमें देश में काम करने वाली आयु (15-16) के योग्य व समर्थ व्यक्ति बहुत संख्या में होते हैं और ऐसे व्यक्ति काम करना चाहते हैं परन्तु उन्हें प्रचलित मजदूरी पर काम प्राप्त नहीं हो पाता। जो व्यक्ति काम करने में अयोग्य है (जैसे बालक, वृद्ध, रोगी, अपाहिज) उन्हें रोजगार के लिए अयोग्य कहा जाता है वे बेरोजगार नहीं होते हैं इसी प्रकार जो व्यक्ति योग्य होते हुए भी काम नहीं करते (जैसे - जागीरदार, भिखारी, साधु-संन्यासी) इन्हें भी बेरोजगार नहीं कहा जाता है। क्योंकि ये काम करना नहीं चाहते हैं।

बेरोजगार सिर्फ वो कहित होते हैं जो प्रचलित मजदूरी दरों पर निश्चित घण्टों तक काम करने को तैयार हो व सक्षम हो। अतः उन्हें काम न मिले।

1.11.1 बेरोजगारी के प्रकार

1. ऐच्छिक बेरोजगारी

श्रम शक्ति में आने वाला वह वर्ग जो इच्छा से काम नहीं करना चाहता जैसे

जागीरदारी, जमींदार, भिखारी, रईसी या सामाजिक प्रथा के कारण (घर की महिलाओं) को श्रम से दूर रखना इत्यादि।

2. अनेच्छिक बेरोजगारी

अनेच्छिक बेरोजगारी कई प्रकार की है :—

(i) मौसमी बेरोजगारी

विशेष कर कृषि में मौसमी बेरोजगारी अधिक पायी जाती है कि कृषि में बुवाई व कटाई के समय अधिक श्रमिक कार्यरत होता है। अतः इसके बाद वह शहर आकर रोजगार ढूँढता है व काम न मिलने पर बेरोजगार रहता है।

(ii) चक्रीय बेरोजगारी

आर्थिक चक्रों में उतार चढ़ाव या तेजी, मन्दी के कारण होने वाली बेरोजगारी चक्रीय बेरोजगारी होती है।

3. तकनीकी बेरोजगारी

आधुनिक तकनीकी परिवर्तन के कारण जैसे आधुनिक मशीनों/कम्प्यूटर आदि के कारण होने वाली तकनीकी बेरोजगारी होती है- चाहे अल्पकालीन हो या दीर्घकालीन।

1.11.2 बेरोजगारी की प्राकृतिक दर

बेरोजगारी की प्राकृतिक दर वह दर है जिस पर मुद्रा स्फिति स्थिर रहती है। बेरोजगारी का प्राकृतिक दर श्रम शक्ति में संरचनात्मक परिवर्तनों से प्रभावित होती है। इस दर (v*) पर फिलिप्स वक्र लम्बवत् (Vertical) हो जाता है।

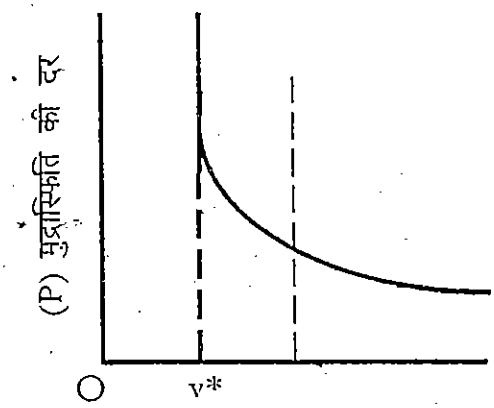

(v) बेरोजगारों की दर

रेखाचित्र — 1.1

इस दर को पूर्ण रोजगार स्तर की बेरोजगारी भी कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि श्रम शक्ति में युवाओं तथा स्त्रियों के योगदान में वृद्धि होने से इस प्राकृतिक दर में भी वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि बेरोजगारी की प्राकृतिक दर श्रम शक्ति में भिन्न-भिन्न समूहों में विद्यमान बेरोजगारी औसत है।

बेरोजगारी की प्राकृतिक दर को बेरोजगारी की समयावधि से भी परिभाषित किया

जा सकता है। बेरोजगारी के समयावधि वह औसत समय है जब एक व्यक्ति बेरोजगार रहता है यह समयावधि निम्न बातों पर निर्भर करती है। :—

(1) श्रम बाजार का संगठन जैसे रोजगार संस्थाएँ, युवा रोजगार सेवाएँ आदि।

(2) श्रम शक्ति का जनांकिक वर्गीकरण जैसे — श्रम शक्ति में स्त्रियों तथा युवाओं का स्थान।

(3) बेरोजगारों द्वारा अच्छे रोजगार अवसरों की तलाश।

(4) रोजगारों के प्रकार।

(5) बेरोजगार श्रमिकों का व्यवहार।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि बेरोजगारी हमेशा एक गम्भीर सामाजिक समस्या नहीं है। क्योंकि एक बेरोजगार व्यक्ति अनेक बार अच्छे रोजगार अवसरों की तलाश के कारण स्वेच्छा से बेरोजगार रहता है। इस प्रकार विकसित राष्ट्रों में स्वेच्छिक बेराजगारी होना स्वाभाविक है। जबकि विकासशील देशों में व्याप्त अनैच्छिक बेरोजगारी समस्या होती है यानी बेरोजगारी का स्वरूप ही महत्वपूर्ण है।

इस बेरोजगारी की दर में कमी श्रम बाजार से सम्बन्धित नीतियों द्वारा ही सम्भव है। इस दर को नापना या अवधारित करना विकसित राष्ट्रों के लिए भी अत्यन्त कठिन है।

1.12 सारांश

श्रम उत्पादन का एक सक्रिय एवं महत्वपूर्ण साधन है। श्रम मनुष्य का वह शारीरिक अथवा मानसिक प्रयास है जो अंशतः या पूर्णतः कार्य से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होने वाले सुख के अतिरिक्त अन्य किसी आर्थिक उद्देश्य से किया जाता है। श्रम के कई रूप हैं जैसे - उत्पादक-अनुत्पादक श्रम, कुशल-अकुशल श्रम, शारीरिक-मानसिक श्रम आदि। श्रम में उत्पत्ति के साधनों से भिन्न अपनी विशेषताएं हैं जैसे श्रम नश्वर है, यह उत्पादन का साधन व साध्य दोनों है, श्रमिक अपना श्रम बेचता है परन्तु अपने गुणों तथा व्यक्तित्व का स्वामी स्वंय बना रहता है, श्रम एवं श्रमिक को पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता आदि। श्रम के साथ वस्तु की भांति व्यवहार नहीं किया जा सकता। अधिक कार्य के घण्टे का श्रम की कार्य शक्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। श्रमिक को चाहते हुए यदि रोजगार न मिले तो उसे बेरोजगार कहा जाता है। बेरोजगारी के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। बेरोजगारी की प्रकृतिक दर पर मुद्रा स्फीति स्थिर रहती है।

1.13 शब्दावली

1.	श्रम	Labour
2.	उत्पादक श्रम	Productive Labour
3.	अनुत्पादक श्रम	Unproductive Labour
4.	कुशल श्रम	Skilled Labour
5.	अकुशल श्रम	Unskilled Labour
6.	मानसिक श्रम	Mental Labour
7.	शारीरिक श्रम	Physical Labour
8.	बरोजगारी की प्राकृतिक दर	Natural Rate of Unemployment

1.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिन्हा, जे० पी०	श्रम अर्थशास्त्र एस० चांद एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली
के.पी. जैन	अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, साहित्य भवन, आगरा
ममोरिया एण्ड जैन	भारतीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा
Mehrotra, S.N.	Labour Problems in India
Govt. of India,	INDIA, Reference Annual Publication Division, Delhi

1.15 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 श्रम की परिभाषा दीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2 उत्पादन साधन के रूप में श्रम के विशेषताओं का वर्णन कीजिए। क्या श्रम के साथ एक वस्तु की भांति व्यवहार किया जा सकता है।

प्रश्न 3 श्रम के कार्य के घण्टे एवं उसकी क्षमता में क्या सम्बन्ध है? क्या श्रम की विशेषताए उसकी मजदूरी को प्रभावित करती है।

इकाई 2

श्रम अर्थशास्त्र : अर्थ, क्षेत्र एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 श्रम अर्थशास्त्र का क्षेत्र

- 2.2.1 बागानों में रोजगार
- 2.2.2 संचार क्षेत्र में रोजगार
- 2.2.3 बन्दरगाहों में रोजगार
- 2.2.4 खानों में रोजगार

2.3 कार्यबल में महिलाएं

2.4 श्रम अर्थव्यवस्था का महत्व

2.5 बाल श्रम

2.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.7 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

श्रम अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए इसके अर्थ में क्षेत्र का सीमांकन करना आवश्यक है। अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- ❖ जान सकेंगे कि श्रम अर्थशास्त्र किसे कहते हैं?
- ❖ इसके क्षेत्र का सीमांकन कर सकेंगे
- ❖ समझ सकेंगे कि श्रम अर्थव्यवस्था के अध्ययन का क्या महत्व है?

2.1 प्रस्तावना

व्यापक अर्थ में श्रम को मौद्रिक उद्देश्य के लिए हाथ के द्वारा या मस्तिष्क के द्वारा किए गए कार्य के रूप में परिभाषित किया जाता है। एस.सी. थामस के अनुसार — "श्रम में शारीरिक-मानसिक सभी मानवीय प्रयासों को सम्मलित किया जाता है, जो कि पारितोषिक की आकांक्षा में किये जाते है।" जेवोंस के अनुसार — "श्रम में वे सभी शारीरिक एवं मानसिक प्रयास सम्मलित होते है, जो पूर्णतः या आंशिक रूप से खुशी के अलावा कुछ वस्तु उस श्रम द्वारा प्रत्यक्षतः प्राप्त हो रही है।" श्रम समस्यायें नियोक्ता द्वारा निर्धारण परिसर में वेतन या कार्य के लिए सेवा खरीदने एवं बेचने के इर्द-गिर्द केन्द्रित होती है। अतः श्रम शब्द का प्रयोग सामान्यतः या तो उन लोगों के लिए किया जाता है, जो प्रत्यक्षतः नियोक्ता को अपनी सेवायें बेचकर जीवित रहते है या जो सेवा बेचते है, उनकी सेवा में होते हैं।

श्रम मुद्दे विश्व के लगभग सभी देशों में प्राथमिक महत्व के रहे हैं। क्योंकि विश्व जनसंख्या का अधिकांश भाग या तो श्रम बेच रहा है या खरीद रहा है या अपनी जीविका के लिए श्रम पर निर्भर रहता है। तकनीकी विकास एवं औद्योकिगकरण के फलस्वरूप आत्म निर्भर उत्पादनकर्त्ता तथा स्वनियोजित श्रमिक तेजी से खत्म होते जा रहे हैं। इस कारण समाज में दो पृथक वर्गों की स्थापना हुई है ये हैं :— (i) नियोक्ता वर्ग एवं (ii) श्रमिक वर्ग।

2.2 श्रम अर्थशास्त्र का क्षेत्र

अधिकांश पश्चिमी औद्योगिक देशों की अपेक्षा भारतीय श्रमिक वर्ग का अपना पृथक ऐतिहासिक उद्भव को शहरी निवासियों, दस्तकारों एवं शहरी अर्थ व्यवस्था के अन्य सामाजिक वर्गों के रूप में देखा जा सकता है। जबकि भारत में यह तस्वीर भिन्न रही है। यद्यपि यहां वेतन भोगी वर्ग के उद्भव की अपेक्षा आधुनिक औद्योगिकरण पहले आया है। किन्तु फिर भी श्रमिक वर्ग में अधिकांशतः वे दस्तकार एवं शिल्पकार रहे है, जिनके कि परम्परागत जीविकोपार्जन के स्रोत खत्म हो गये है। कोई वैकल्पिक स्रोत नहीं रहे है तथा जिन्हें खेती पर निर्भर होना पड़ा है। गैर कृषिगत परम्परागत क्षेत्र की जनसंख्या का कृषिगत क्षेत्र की तरफ अग्रेसित होना साथ ही जनसंख्या का बढ़ना, भूमि का बटवारा, अनुचित लगाव, भूराजस्व की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था तथा पूंजीपतियों द्वारा कृषक वर्ग का शोषण आदि सभी का यह परिणाम रहा है कि भारतीय इतिहास में पहलीबार भूमिहीन सर्वहारावर्ग का उद्भव हुआ। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सामूहिक अधिकारों के हनन के साथ ही सामूहिक उद्यम की अनुपयुक्तता, लगान लेने वालों की संख्या में बढ़ोतरी, मुफ्त भूहस्तांतरण, कुटीर उद्योगों का पतन आदि के फलस्वरूप इस वर्ग की संख्या में वृद्धि हुई एवं भाड़े पर श्रम लेने के युग की शुरूआत हुई। यह खेतीहर श्रमिक स्थायी एवं आकस्मिक दोनों की तरह का रहा है। यह पहली कृषि फार्मों में पूर्ण एवं आंशिक रोजगार के रूप में अपने श्रम को देने लगे। 1961 में इनकी संख्या 189 लाख रही है, जो बढ़कर 1971 में 263 लाख तथा 1981 में 326 लाख हो गयी। आज यह श्रमशक्ति के 70 प्रतिशत भाग को जीविका प्रदान कर रही है।

यह बढ़ी हुई कृषि श्रम शक्ति, जिसका कि आधार जातियों की पदसोपानियता पर था, औद्योगिक केन्द्रों में रोजगार प्राप्त नहीं कर पायी। भयंकर अकालों के समय, 1872-81 तथा 1891-1901 के समय, इन ग्रामीणों को औद्योगिक केन्द्रों में जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। किन्तु यह एक अस्थायी परिवर्तन था, क्योंकि उद्योग पर्याप्त तेजी नहीं बढ़ पाये थे। अतः जब इन लोगों को यहां रोजगार नहीं मिला तो ये वापिस अपने गॉवों की ओर लोटने लग गये।

भारत के औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों में विस्थापित ग्रामीण जनों को 19वीं सदी के मध्य के वर्षों में भारत सरकार के लोकनिर्माण विभाग द्वारा प्रारम्भ किये गये सड़क निर्माण, रेलवे एवं लोक-भवनों के निर्माण कार्य में लगाया गया। इससे पहले भारतीय श्रमिकों के एक बहुत बड़े भाग को ब्रिटिश उपनिवेशों जैसे — दक्षिण अफ्रिका, मोरिशस एवं प्रशान्त तट के देशों तथा "प्रतिज्ञाबद्ध श्रमिक" (Indentured Labour) व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ अन्य देशों में भेजा गया। किन्तु जब बागानों, खानों एवं कारखानों ने काम करना प्रारम्भ किया तो पिछली सदी के छठे एवं सॉतवें दशक में देश में कुछ प्रगति हुयी। इसके फलस्वरूप श्रमिक वर्ग की ध्यान आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस समय बम्बई के कारखानों में श्रमिकों की कमी महसूस की गयी। वेतनभोगी वर्ग जनता

का सबसे नीचे का एवं सबसे दुभाग्यशाली वर्ग था जिसको कि परम्परागत ग्रामीण समाज की सामाजिक पदसोपानियता में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया था। ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से ही जर्जर आर्थिक दशाओं के फलस्वरूप लोग बाध्य होकर अपने पैतृक घरों को छोड़कर उन शहरों में रोजगार ढूढने चले गये, जहां कारखाने थे। "जहां रीति रिवाजों का स्थान समझौतों ने, सहयोग का स्थान प्रतियोगिता ने निकटस्त ग्रामीण पड़ोस का स्थान गैर वैयक्तिक सम्बन्धों एवं अलगाव ने ले लिया तथा संयुक्त परिवार द्वारा प्रदान की गयी सुरक्षा का स्थान व सुरक्षा तथा बेरोजगारी ने ले लिया।"

यह वेतनभोगी वर्ग, जोकि ग्रामीण रीति रिवाजों के अत्याचारों तथा सामाजिक अन्याय एवं अक्षमता से मुक्त था, को इन "मिल टाउनों" में एक जेल श्रमिक की तरह देखा जाने लगा। इसके फलस्वरूप सामाजिक एवं आर्थिक असंतुलन के कारण उद्‌भव हुई समस्या पैदा होने लगी। सामाजिक दृष्टि से मुख्य समस्या औद्योगिक समाजों में इनके स्तर से जुड़ी होती है। आर्थिक दृष्टि से यह स्वास्थ्य, आवास, समय, कार्य-दशाओं, लोककल्याण आदि समस्याओं से जुड़ी होती है। विपरीत कारखाना पर्यावरण आदि स्थितियां अधिकांश श्रमिकों को अपने गांव में रहने को ही बाध्य करती है या जो कारखानों में कार्यरत है। उन्हें स्थायी या अस्थायी रूप से अपने घरों को लौटने के लिए बाध्य कर देती है।

औद्योगिकीकरण के विकास विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एवं बाद से दशाओं में परिवर्तन आया है। यह दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। प्रथम, भारत एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में उभरा एवं द्वितीय भूमिहीन श्रमिकों में तेजी से वृद्धि हुई। फलतः इस श्रमिक वर्ग का अधिकांश भाग औद्योगिक केन्द्रों में जमा हो गया एवं वहां औद्योगिक वर्ग के रूप में स्थायी रूप से बस गया।

भारतीय श्रमिक वर्ग की दशाओं में आये परिवर्तन को रेखांकित करते हुये रेगे समिति ने लिखा है कि जब "रोयल आयोग" ने श्रम पर उल्लेख किया कि भारत में सेवीवर्गी समूह न तो पर्याप्त रूप से संगठित है और न ही उचित रूप से स्थापित है। इन आधुनिक वर्षों में सेवीवर्गी जनसंख्या का अधिकांश भाग औद्योगिक क्षेत्रों में केन्द्रित हो गया है, जिसके फलस्वरूप अधिकांश शहरों में औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का उद्‌भव हुआ है, जो कि पहले की अपेक्षा आज शहरों में ज्यादा रहने को तैयार है। आपने न्यायोचित अधिकारों के लिए लड़ता है तथा ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरों में अपनी जीविकोपार्जन में लगा रहता है। श्रमिक वर्ग उद्योग से जुड़े रहते है, जहां कार्य दशायें अच्छी हो वहां एक जगह से दूसरी जगह घूमते नहीं फिरते हैं। साथ वे अपने गांवों से भी सम्बन्ध बनाये रखते है।" लगभग इसी तरह की राष्ट्रीय श्रम आयोग की भी टिप्पणी रही है कि "औद्योगिक श्रमिक की स्थायीकरण की प्रवृति और ज्यादा मजबूत हुई है आज एक श्रमिक अपने पूर्वजों की अपेक्षा रूचियों एवं दृष्टिकोण में ज्यादा शहरी है। ग्रामीण सम्बन्धों में ग्राम्य आदर्श का विचार पृष्ठभूमि में चला गया है। इस परिवर्तन के उत्तरदायी कारक निम्नलिखित रहे है —

1) नियोक्ताओं द्वारा औद्योगिक श्रमिकों के हित में उठाये जाने वाले सकारात्मक कदम जैसे — नियमितता एवं उत्पादन पर प्रोत्साहित भुगतान।

2) विभिन्न श्रम प्रावधानों के अन्तर्गत न्यूनतम सुविधाओं का होना तथा विभिन्न सामाजिक सुरक्षा कदम उठाये जाना।

3) विभिन्न श्रेणी की नौकरियों का प्रादुर्भाव होना जैसे — कुशल एवं अकुशल दोनों की तरह की नौकरियों की योजना। इसके परिणामस्वरूप शहरी परिवारों को युवावर्ग भी उद्योगों में काम पाने लगा।

2.2.1 बागानों मे रोजगार

अर्थ व्यवस्था में बागान एक ऐसा महत्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसमें श्रम की बहुत ज्यादा जरूरत पड़ती है तथा इनमें सारा श्रम शारीरिक होता है। बागानों चाय, कॉफी तथा रबड़ बागानों को लेते है, जो कि फसली क्षेत्र के 0.4 प्रतिशत क्षेत्र में फैले हुये है। ये मुख्यतः उत्तर-पूर्व एवं दक्षिण-पश्चिम तट के सहारे फैले हुए है। घरेलू उपयोग में वृद्धि एवं इन उत्पादों के विदेशी बाजारों में विस्तार के कारण श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुयी है। सन् 1911 में बागान श्रमिकों की संख्या 7.4 लाख थी। सन् 1921 में यह 10 लाख एवं सन् 1961 में संख्या 12.2 लाख हो गयी सन् 1971 में बागान श्रमिकों की संख्या का 8 लाख के लगभग अनुमान लगाया तथा 1981 में यह अनुमानतः 9 लाख रही तथा 1983 में 9.9 लाख 1986 में 7.9 लाख श्रमिक चाय बगानों में कार्यरत थे।

बागानों में लगे श्रमिकों में जो स्वयं जीविकोपार्जन कर रहे है तथा जो स्वयं कार्य पर निर्भर है, उन्हीं को लिया गया है। अगर गैर-कार्य निर्भरों अर्थात् श्रमिकों पर निर्भर रहने वालों को गिना जाये तो बागान उद्योग पर निर्भर रहने वालों की जनसंख्या 5 मिलियन से कम नहीं होगी।

2.2.2 संचार क्षेत्र में रोजगार

बागानों के बाद संचार समूह आता है, जिसमें रेलवे मुख्य नियोक्ता है। 1931 में परिवहन क्षेत्र के 28 लाख लोगों में से 636311 व्यक्ति केवल रेलवे में नियुक्त थे तथा अन्य विभिन्न प्रकार की अन्य ठेलागाड़ी, टांगा, इक्का आदि चलाने में लगे हुये थे। 1951 में परिवहन, संचार, गोदामों आदि में 20 लाख श्रमिक नियुक्त थे। जिनमें रेलवें परिवहन में 5.70 लाख थें तथा अन्य जल, पथ, वायु आदि परिवहन में लगे हुये थे। 1961 में कुल 30 लाख लोग परिवहन, संचार एवं गोदामों में लगे थे। 1971 में यह संख्या 40 लाख थी। इनमें 1961 में 11.6 लाख तथा 1971 में 13.7 लाख रेलवे में नियुक्त थे। 1981 में रेलवे में 15.7 लाख नियमित श्रमिक एवं 2.3 लाख आकस्मिक श्रमिक कार्यरत थे।

2.2.3 बन्दरगाहों में रोजगार

बन्दरगाहों पर विभिन्न अभिकरणों जैसे — बन्दरगाह ट्रस्ट या बन्दरगाह आयुक्तों के द्वारा रोजगार प्रदान किया जाता है। साथ ही यहां रोजगार प्रदान करने वालों में कोयला प्रतिष्ठान, नौका मालिक, जहाज मरम्मत एवं रंगरोगन प्रतिष्ठान एवं ठेकेदार भी होते हैं। भारतीय श्रम सांख्यिकी 1977 (1979) पृ. 56, तथा भारतीय श्रम वार्षिकी की पुस्तक 1987 के अनुसार कलकत्ता बन्दरगाह सबसे ज्यादा श्रमिकों को रोजगार प्रदान करता है। इसके बाद मुम्बई का नम्बर आता है। फिर चेन्नई, विशाखापटनम, मारमुगोवा तथा कांडला में श्रमिकों को रोजगार तुलनात्मक रूप से कम मिला है।

2.2.4 खानों में रोजगार

रोजगार की दृष्टि से खनन एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। खनन सम्पदा की दृष्टि से भारत एक समृद्ध देश है। भारत में बिहार, उड़ीसा, पं. बंगाल, राजस्थान, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक

तथा मध्य प्रदेश में महत्वपूर्ण खनन केन्द्र है। अतः इन क्षेत्रों में बहुत बड़ी संख्या में बाहर से आकर काम करने वाले श्रमिक काम करते है। 1901 में खनन में 104.48 हजार श्रमिक कार्यरत थे जो 1950 में बढ़कर 305.24 हजार, 1960 में 652.06 हजार, 1976 में 748 हजार तथा 1983-84 में 773.96 हजार हो गए। यह उल्लेखनीय है कि 1901 से 1984 तक के सभी वर्षों में खानों के अन्दर काम करने वाले श्रमिकों की संख्या अधिक थी तथा खानों के ऊपर काम करने वालों की संख्या कम थी।

दुकानों एवं प्रतिष्ठानों में रोजगार

प्रतिष्ठानों, रेस्तराओं, थियेटरों तथा दुकानों में भी श्रमिकों को रोजगार मिलता है। 1961 में इन स्थानों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या 20.96 लाख थी। 1971 में यह 31.12 लाख, 1980 में यह 47.33 लाख रही है।

2.3 कार्यबल में महिलायें

भारत के श्रम बाजार में बहुत सी शक्तियां महिलाओं की अपेक्षा पुरूषवर्ग की पक्षधर हैं। इनमें मुख्य निम्न हैं :—

1. महिलाओं के रोजगार के विरूद्ध सामाजिक पूर्वाग्रह
2. यह भावना कि महिला श्रमिकों को कार्यसमय के दौरान एवं बाद में विशेष संरक्षण एवं सुविधायें प्रदान करनी होगी।
3. कपास, जूट एवं रेशम वस्त्र उद्योगों आदि में उन्नत तकनीक के प्रयोग के फलस्वरूप काम स्वतः होने लगा। फलतः महिलाओं को रोजगार से बाहर रहना पड़ा। साथ ही इन्हें जो शिक्षा मिलनी चाहियें, जो महिला श्रमिकों नही मिल रही है।
4. रात की पारी में महिलाओं के रोजगार पर प्रतिबन्ध।

उपर्युक्त बाधाओं के होते हुए भी महिला रोजगार में वृद्धि हो रही है।

विगत के साथ दशाओं में बहुत मामूली गिरावट के साथ भारत में कार्यशील जनसंख्या का 70 प्रतिशत से अधिक कृषि या उससे जुड़े पेशों में लगा हुआ है। हॉलाकि द्वितीयक क्षेत्र में लगे श्रमबल का प्रतिशत 1950 के उपरान्त बढ़ रहा है। किन्तु कुल संख्या 1901 की अपेक्षा कम ही रही है। तृतीयक क्षेत्र के पेशे में श्रम बल 16 प्रतिशत से अधिक रहा है। द्वितीय एवं वृद्धि क्षेत्र इस रफ्तार से आगे नहीं बढ़ रहे है कि वे अतिरिक्त भू-श्रमिकों को रोजगार दे सके। इसका तात्पर्य यह है कि ये क्षेत्र इतने पर्याप्त तेजी से विकसित नहीं हुए है कि वे प्राथमिक क्षेत्र में हिस्सेदारी बांट सके।

2.4 श्रम अर्थशास्त्र का महत्व

देश की बदलती औद्योगिक तस्वीर के साथ नये औद्योगिक शहरों का विकास एवं गतिविधियों की विविधता, श्रमिकों में औद्योगिक सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। नये कार्यकारी वर्गक्षेत्र अस्तित्व में आने लगे तथा पुराने विस्तृत होने लगे। राष्ट्रीय श्रम आयोग की टिप्पणी है कि — "हमारी मुलाकातें यह स्पष्ट करती है कि श्रमिकों के दैनिक जीवन में परिवर्तन आया है। जिसका हमें उल्लेख करना होगा। यद्यपि उनमें संख्यात्मक निश्चियता

का अभाव है तथा वे कुछ आभास पर आधारित है फिर भी भारतीय परिदृश्य पर समग्र रूप से लिखने वाले सामाजिक पर्यवेक्षकों के विविधतापूर्ण अध्ययनों से वे पुष्ट होती है।" भारतीय श्रमिक वर्ग की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित है :—

1. औद्योगिक श्रम की सामाजिक रचना

प्रारम्भ में, कारखानों, खानों एवं बागानों में मुख्यतः श्रम बल समाज के निम्नवर्ग, दलितवर्ग एवं अभाग्यशाली वर्ग आता था। किन्तु आज श्रमिक अन्य समुदायों तथा जातियों जैसे — ब्राह्मण राजपूत, वैश्य, आदि से भी आ रहा है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय श्रम आयोग के मत का उल्लेख करना उपयुक्त होगा। "चाहे कोई भी कारण रहें हो श्रमिकों के मध्य एक व्यापक समानता की भावना विकसित हुयी है। साथ ही यह हमें एक तरफ पर्यवेक्षकों के समूहों के मध्य तथा दूसरी तरफ श्रमिकों के मध्य स्पष्ट दिखायी देती है। यद्यपि कुछ औद्योगिक शहरों में कम्पनी यातायात या मेडिकल या मनोरंजन सुविधाओं के संदर्भ में अन्य स्टाफ सदस्यों के मध्य पायी जाने वाली विभिन्नताओं के प्रति भी श्रमिक सचेत हो रहे है। श्रमिक अपने बच्चों को अधिक से अधिक विद्यालयों या महाविद्यालयों में भेजने लगे हैं। कई ऐसे उदहरण हैं। जहां कारखानों के श्रमिकों के बच्चें इंजिनियर, डॉक्टर, लेखाकार तथा अध्यापक बनकर निकले है तथा इनकी संख्या बढ़ रही है। इन सभी ने एक प्रकार से सामाजिक सम्मिश्रण में योगदान दिया है।

2. श्रमिक लिंग रचना

प्रारम्भिक अवस्था में, कारखानों के कार्य स्थलों में मुख्यतः पुरूषों की ही बहुतायत होती थी। किन्तु अब औद्योगिक कामों में, कुशल एवं अकुशल दोनों ही तरह के कामों में महिला श्रमिकों भी संख्या बढ़ रही है। प्रारम्भ में महिलायें मुख्यतः बागानों एवं वस्त्र उद्योग तक ही सीमित थी। किन्तु आज कारखानों में काम करने वाली मध्यम वर्ग की युवा लड़कियों की संख्या बढ़ रही है। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि 1971 में कलकारखानों में 37000 तथा बागानों में 3,77,000 महिलाएं काम करती थी उनकी संख्या बढ़कर 1986 में क्रमशः 471,000 तथा 4,07,000 हो गयी। महिला रोजगार के बारे राष्ट्रीय श्रम आयोग का कहना है कि "कुछ स्थितियों में तो काम करने की आर्थिक बाध्यता है, किन्तु बहुत सी अन्य स्थितियों में अपने जीवन स्तर को सुधारने की आकांक्षा तथा पति-पत्नी दोनों काम करके कुछ अतिरिक्त वस्तुओं की प्राप्ति के कारण काम किया जाता है।"

3. जनजातीय श्रम का उद्भव

औद्योगिक श्रम में जनजातीय श्रम की संख्या काफी हो गयी है। राष्ट्रीय श्रम आयोग की टिप्पणी रही है कि 19वीं सदी के अंत में वन सम्पदा एवं कोयला, मेंगनीज तथा लोह अयस्क की खानों का शोषण के साथ जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी, वह स्वतंत्रता उपरान्त जनजातीय क्षेत्रों में कारखानों की स्थापना के साथ ओर तेज हो गयी। इस प्रक्रिया ने जनजातीय क्षेत्रों के शहरीकरण की ओर अग्रसित किया। उन्नत औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए भूमि के अधिग्रहण की जो क्षतिपूर्ति दी गयी, उससे थे सन्तुष्ट नहीं थे। अतः ये परिवार विस्थापित हुए। वे यह चाहते थे कि उनके पुनः लोगों को उद्योगों में रोजगार मिलें।"

4. सामाजिक सुरक्षा एवं लोककल्याण की सुविधाये

औद्योगिक श्रमिकों आज जो सामाजिक सुरक्षा एवं लोककल्याणकारी सुविधायें मिली

हुयी है, विगत में वे उन्हें प्राप्त नहीं थी। पहले कुछ सुविधायें थी भी तो वे या तो धर्मार्थ संस्थाओं द्वारा दी गयी या नियोक्ताओं की दया की देन थी। किन्तु औद्योगिक श्रमिक आज इन सुविधाओं का उपभोग एवं अधिकार के रूप में कर रहा है। जब से ये सुविधायें वैधानिक प्रावधानों के तहत प्रदान की गयी, ये सुविधायें अधिकार बन गयी है। इस संदर्भ में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने लिखा है कि व्यापक जनसंख्या एवं अपर्याप्त स्रोतों के साथ लोककल्याणकारी राज्य जो सुविधायें प्रदान करता है, उनका वह उपभोग करता है, चाहे वे अल्प ही क्यों न हो। उसे सामाजिक सुरक्षा की सुविधा मिली हुयी है।

5. सेवा सुरक्षा

भूत में, वैयक्तिक औद्योगिक श्रमिक की सेवादशा बहुत असन्तोषजनक थी। उसे नियोक्ता जब चाहे तब सेवा से मुक्त कर सकता था। किन्तु आज औद्योगिक श्रमिकों के एक बार सेवा में आने के बाद उसकी सेवायें ज्यादा सुरक्षित है। जैसा कि राष्ट्रीय श्रम आयोग ने लिखा है, "वह एक बार प्रवेश करने पर अपने रोजगार में सुरक्षित है। उसे अन्यायोचित तरीके से सेवामुक्त नहीं किया जा सकता है उसे सेवामुक्ति या स्थायी छंटनी के विरूद्ध वैधानिक सुरक्षा मिली हुयी है।"

6. धन प्राप्ति

राष्ट्रीय श्रम आयोग द्वारा कहा गया है कि श्रमिक धन प्राप्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आज उसे अपने जीवन से सम्बन्धित बहुत सी सुविधायें मिली हुयी है। ये या तो कानूनों द्वारा प्रदान की गयी है या नये उद्योगों की स्थितियों द्वारा दी गयी सुविधायें होती है।

7. उपभोग प्रारूप

भारत के औद्योगिक श्रमिक की भोजन रूचियाँ तथा उपभोग प्रारूप में परिवर्तन आया है। इस संदर्भ में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने लिखा है कि "कई केन्द्रों पर श्रमिकों के घरों में प्रचलित उपभोग प्रारूपों महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। विगत की अपेक्षा आज बना बनाया खाना सामान्य प्रचलन में हो गया है। बेकरिज का बहुत प्रयोग होने लगा है। पहुँच उन क्षेत्रों में भी हो गयी है, जहां कि गेहूँ एवं गेहूँ से बने खाद्य पदार्थ केवल उच्च वर्ग के लोगों के लिए ही सीमित होती था।" खाना पकाने की विधि बदल गयी है। लकड़ी एवं गोबर की जगह खाना बनाने में तेल, ईंधन, मिट्टी तेल तथा प्रेशर स्टोव काम में आने लगे है।

8. जीवन एवं आवास दशायें

औद्योगिक श्रमिकों के लिए उन्नत आवास सुविधा प्रदान करने के लिए कारखानों के श्रमिकों हेतु रियायती दर की औद्योगिक आवास योजना बनायी गयी है। कोयला एवं अभ्रक खानों, बागानों एवं बन्दरगाहों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए लोककल्याण कोष की स्थापना की गयी है। किन्तु प्रदान किये गये मकान बहुत सीमित है दोनों श्रेणी के श्रमिकों को मकान उपलब्ध करवाने की दिशा में कम ही रही है। इस अल्प सुविधा के संदर्भ में भी राष्ट्रीय आयोग ने परिवर्तन का उल्लेख किया है। प्रथम स्थान पर उसने लिखा आज का औद्योगिक श्रमिक अपने आपको साफ़ रखने का प्रयास करता। इसके अतिरिक्त वास्तविक परिवर्तन घरों के अन्दर दिखायी देते है। मिट्टी के बर्तनों का स्थान

एलुमेनियम एवं पीतल के बर्त्तनों ने ले लिया है। क्रोकरी का होना कोई असामान्य बात नहीं रह गयी है। साथ ही फर्नीचर के उपकरण जैसे चारपायी, टेबल, कुर्सी, मच्छरदानी भी मिलने लगी है। रेडियों/ट्रांजिस्टर, घड़ियों का होना आज केवल कुछ लोगों तक ही सीमित नहीं रह गया है।

9. सामाजिक दृष्टिकोण

मनोरंजन ने एक भिन्न रूप ले लिया है। धार्मिक खेल एवं भजनों का स्थान एक भिन्न सामाजिक संदर्भयुक्त नाटकों ने ले लिया। प्रतियोगितायें, इन्डोर एवं आउटडोर खेल तथा राजनीतिक विषयों पर भाषण श्रमिकों को आकर्षित करने लगे हैं। मनोरंजन में पहले की अपेक्षा समुदाय की सहभागिता बढ़ी है। आज बच्चों को ईश्वर की देन नहीं माना जाता है। परिवार नियोजन को लोग अपनाने लगे है। आज श्रमिक की यह आदत बन गयी है कि अगर वह बीमार है तो अपना इलाज करवाने स्वयं स्वतः जाता है।

10. सामाजिक बाधाओं का दूर होना

सामाजिक बाधायें दूर हो गयी है। आज यह एक सामान्य बात हो गयी है कि एक जुलाह या बुनकर का बेटा-बेटी रसायन अथवा दवा उद्योग में उस अग्रिम पीढ़ी के साथ काम कर रहा है। जहां पहले उस अग्रिम पीढ़ी के बच्चों का कारखानों में मिलों में लिपिकीय या पर्यवेक्षण श्रेणी के अलावा कार्य को वर्जित माना जाता था। इस परिवर्तन का प्रभाव न केवल कार्य स्थल पर दिखायी देता है। वरन् यह घरों में दिखायी देने लगा हैं जहां कमाने वाले सदस्य अपने से वरिष्ठ लोगों के परिवारों से समानता स्थापित करने लगे है। अपने कार्य स्थल पर अपने साथियों में आपसी सामाजिक मेल-जोल करने लगे है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने लिखा है कि "आधुनिक उद्योगों में काम करने के लिए श्रमिकों में जो उच्च कौशल एवं शैक्षणिक आवश्यकताओं की जरूरत होती है, उसने एवं अच्छे वेतन ने शारीरिक श्रमिकों एवं गैर शारीरिक श्रमिकों के परम्परागत भेदों को खत्म कर दिया है।" अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चाहे जो कारण रहे हों श्रमिकों के मध्य एक व्यापक समानता की भावना विकसित हुयी है। साथ ही यह एक तरफ पर्यवेक्षक समूह एवं दूसरी तरफ श्रमिकों के मध्य भी दिखायी देती है।

2.5 बाल श्रम

1946 में जब श्रम जॉच का उल्लेख किया गया था, उसकी अपेक्षा बालश्रम के प्रयोग में कमी आयी है। किन्तु आज भी यह कुछ रोजगारों में व्याप्त है। हॉलाकि इसका प्रयोग क्षेत्र एक जगह से दूसरी जगह भिन्न-भिन्न पायी जाती है। बालश्रम मुख्यतः कृषि, बागान, दुकानों तथा अन्य छोटे एवं असंगठित क्षेत्रों में पाया जाता है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि हम यह नहीं कर सकते है कि उद्योगों के संगहित क्षेत्र भी पूरी तरह बालश्रम नहीं पाया जाता है। इस संदर्भ में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने लिखा है कि अभ्रक खानों में बच्चे आज काम करते है। 1944-46 भी तुलना में कुल श्रम के अनुपात में यह आज बहुत कम है। असंगठित क्षेत्र में जिस तरह से बाल श्रमिकों का प्रयोग होता है, वह स्थिति चिन्ताजनक है। हर स्थिति में जहां जुलाहें मुख्य जुलाह के साथ काम करते है। वहां उन जुलाहों के हाथ, स्कूल जाने की आयु में उसकी सहायता करते है।" बच्चे मुख्य जुलाहा के कर्मचारी नहीं होते है, किन्तु वे कर्मचारियों को सहायता करते है। उनसे जो कुछ पैसा मिल जाये, उसे वे ले लेते है। देश के अधिकांश भागों में गलीचा बुनवायी में तथा सब जगह बीड़ी उद्योग में बच्चों को लगाया जाता है।

2.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

माइरस, सी.ए.	:	इन्डस्ट्रीयल रिलेशन्स इन इंडिया, 1958
रिचर्डसन, जे.एच.	:	एन इन्ट्रोडुक्शन टु दि स्टेडी ऑफ इन्डस्ट्रीयल रिलेशन्स, 1958
त्यागी, एस.पी.	:	लेबर इकोनोमिक्स एण्ड सोसियल वेल्फेयर, 1990
मामोरिया, सी.बी. एण्ड सतीश	:	डायनामिक्स ऑफ इंडस्ट्रीयल रिलेशन्स तृतीय संशोधित संस्करण, 1991

2.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रम अर्थशास्त्र से आप क्या समझते है? इसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
2. श्रम अर्थशास्त्र के क्षेत्र एवं महत्व का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिये।
3. श्रम अर्थशास्त्र के अर्थ, क्षेत्र एवं महत्व पर विस्तृत लेख लिखिये।

इकाई 3

श्रम बाजार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 श्रम बाजार के प्रतिरूप

3.2 श्रम बाजार की गतिशीलता

3.3 विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में श्रम बाजार का द्वैतवाद

3.4 भारत में श्रम बाजार

3.4.1 कृषि क्षेत्र

3.4.2 कृषितर क्षेत्र

3.4.3 विशिष्ट समूह

3.4.4 स्थानीय श्रम बाजार

3.5 शब्दावली

3.6 निबन्धात्मक प्रश्न

3.7 संदर्भ सूची

3.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य निम्नांकित जानकारी प्राप्त करना है :

- श्रमिक बाजार के प्रतिरूप — पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार, एककेताधिकार और द्विपक्षीय एकाधिकार में मजदूरी निर्धारण।
- श्रमिक बाजार की गत्यात्मकता — श्रमिक बाज़ार की गत्यात्मकता के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये विचार।
- कम विकसित अर्थव्यवस्थाओं में श्रमिक बाजार का द्वैतवाद-कारण, विभिन्न स्वरूप
- भारत में श्रमिक बाजार - मजदूरी के निर्धारक, रोज़गार प्रतिरूप और कृषि के क्षेत्र, कृषतिर क्षेत्र, विशिष्ट समूहों और स्थानीय श्रमिक बाजार में बेरोजगारी की घटना।

3.1 श्रम बाजार के प्रतिरूप :

श्रमिक बाजार के व्यवहार की 4 सामान्य स्थितियाँ हैं, जो कि मांग और आपूर्ति वक्रों के ढ़ाल पर आश्रित है। इन स्थितियों को रेखाचित्र 1 में प्रदर्शित किया गया है।

रेखाचित्र 3.1 प्रतिस्पर्धा बाजार में मजदूरी निर्धारण का चित्रण करता है, जहाँ यह माना

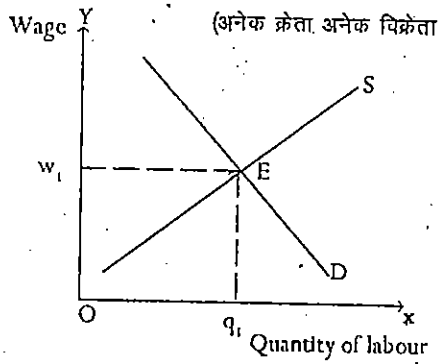

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा बाजार में मजदूरी निर्धारण

रेखाचित्र 3.1

जाता है कि श्रम के कई क्रेता और विक्रेता हैं। बिन्दु E पर, जहाँ मांग वक्र D और आपूर्ति वक्र S प्रतिच्छेछित होते हैं, मजदूरी-दर W1 और श्रमिक परिमाण Oq1 के सन्तुलन स्तर ज्ञात किये जाते हैं। रेखाचित्र 3.2 मजदूरी निर्धारण को इस स्थिति में प्रदर्शित करता है, जिसमें कि एकाधिकारवादी हैं जो कि श्रम-आपूर्ति को नियन्त्रित करता है। श्रम-बिन्दु को निर्धारित किया जाता है। अब मांग वक्र D के संगत बिन्दु a2 पर मजदूरी-दर निर्धारित किया जाता है जो कि बदले में मजदूरी दर W2 निर्धारित करता है। इन दो स्थितियों की तुलना से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि एकाधिकार के अधीन मजदूरी दर W2 पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अधीन मजदूरी दर W1 से अधिक होती है। एकाधिकार के अधीन श्रम आपूर्ति oq2 निम्नतर तथा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अधीन यह oq1 उच्चतर होती है।

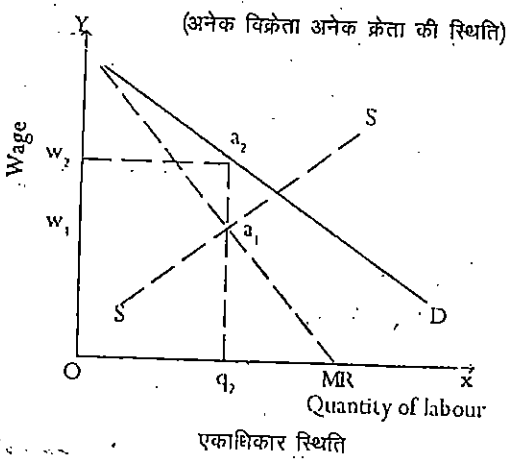

एकाधिकार स्थिति

रेखाचित्र 3.2

एक क्रेताधिकार के अधीन मजदूरी-निर्धारण रेखाचित्र 3.3 में द्वारा स्पष्ट किया गया है। एक क्रेताधिकारवादी स्थिति में एक क्रेता और कई विक्रेता होते हैं। श्रम की सीमांत लागत और उत्पाद की सीमांत आय (D=MR) के प्रतिच्छेदी बिन्दु b1 को ज्ञात किया जाता है। MC वक्र पर बिन्दु b1 के संगत आपूर्ति वक्र S पर बिन्दु B2 है, जे कि मजदूरी पर W3 और श्रम परिमाण oq3 निर्धारित करता है। एक क्रेताधिकार की तुलना में आपूर्त श्रम की मजदूरी दर प्रतिस्पर्धा की स्थिति में अधिक होती है, एकाधिकार की अपेक्षा एक क्रेताधिकार में मजदूरी की दर कम होती है।

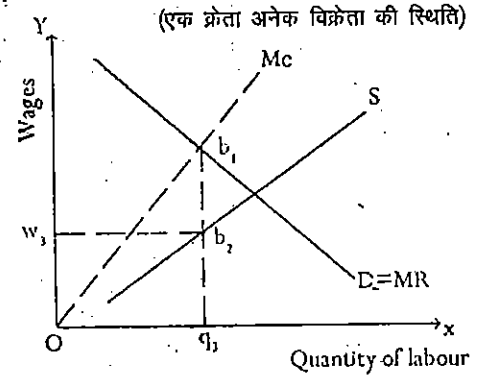

एक क्रेताधिकार की स्थिति
रेखा चित्र 3.3

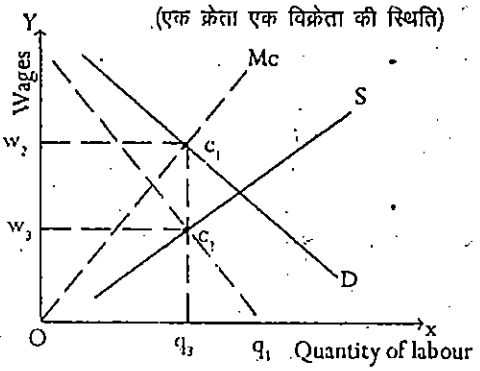

द्वि–पक्षीय एकाधिकार
रेखा चित्र 3.4

द्विपक्षीय एकाधिकार के अधीन मजदूरी और श्रम की मांग और आपूर्ति को रेखाचित्र 3.4 में प्रस्तुत किया गया है। एकाधिकारवादी बिन्दु C1 पर सीमांत लागत और श्रम की मांग को समान रखते हैं, वे मजदूरी दर W2 और श्रम परिमाण oq3 को मजूदरी-दर W3 पर क्रय करना पसन्द करता है क्योंकि उसके लिए भी संगत बिन्दु C1 है, लेकिन, आपूर्ति वक्र में C1 का संगामी बिन्दु C2 है। अतः क्रेता परिमाण oq3 के लिए मात्र W3 मजदूरी दर अदा करने के लिए ही उद्यत है। स्पष्टतः जिस श्रम-परिमाण को मजदूरी W2 पर विक्रय करने के लिए एकाधिकारवादी तैयार है, उसी परिमाण को वह मजदूरी दर W3 पर क्रय करने के लिए तत्पर है। इसके परिणमस्वरूप, बेचे जाने वाले और खरीदे जाने वाले मजदूरी के परिमाण में समझौता होने के बावजूद दोनों प्रस्तावों के मध्य अन्तराल है, इसको सामान्यतः अनिर्धारण स्थिति का मण्डल कहते हैं। ऐसी स्थिति में मजदूरी-दर का निर्धारण दो पक्षों की सापेक्ष रियायती सौदेबाजी की शक्ति द्वारा होता है।

3.2 श्रम बाजार की गतिशीलता :

श्रमिक/श्रम-बाजार की गतिशीलता का अध्ययन विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वार दिये गये विचारों के अध्ययन से किया जा सकता है। क्लार्क कर द्वारा अभिव्यक्त विचार के अनुसार श्रम बाजार संरचना और गतिशीलता[2] में लगभग असीमित रूप से परिवर्तित होते हैं। प्रोफेसर कर[3] सामान्य श्रम बाजार के पाँच प्रतिरूप प्रस्तुत करते हैं।

1. पूर्ण बाजार:– यह पूर्ण प्रतिस्पर्धा श्रम बाजार का प्रतिरूप है। इस बाजार के अभिलाक्षणिक गुण इस प्रकार हैं— स्वतन्त्र प्रवेश और निकास, पूर्ण ज्ञान, कई क्रेता और विक्रेता, दुरभि संधि की अनुपस्थिति। मजदूरी बाजार जाब बाजार है और संसाधान-विनिधान में उपभोक्ता का सर्वोच्च स्थान होता है। मांग और आपूर्ति बाजार की निकासी के लिए अन्तर्क्रिया करते हैं तथा मजदूरी चालू रहती है।

श्रम-बाजार का यह प्रतिरूप वास्तविक विश्व की कुछ अपूर्णताओं को मान्यता देता है। कर्मचारी परस्पर भिन्न होते हैं संघों का अस्तित्व होता है किन्तु वे मजबूत नहीं होते। अकुशल कारीगर अपनी विकारीय सेवाओं के कारण असुविधाजनक स्थिति में होते हैं आदि। फिर भी श्रम बाजार मजदूरी निर्धारण का प्रमुख निर्धारक होता है और कामगारों को गतिशील माना जाता है। अतिरिक्त समय भत्ता स्पर्धात्मक स्तर की ओर प्रवृत्त होता है, संसाधन विनिधान अधिकतम पर पहुंचता है और उपभोक्ता अपना प्रभुत्व बनाये रखता है।

2. प्राकृतिक बाजार

द्वितीय विश्व युद्ध के पहले और उसके बाद अर्थशास्त्रियों ने पाया कि इस बात के परीक्षण के लिए पर्याप्त सबूत हैं तथा यह कहना अधिक सही है कि किसी टकराव की अनुपस्थिति में, मजदूरी दर के बड़े बिखराव के कारण मजदूरी दरें एक दूसरे के विपरीत होने के बजाय असमानता की ओर प्रवृत्त होती हैं। कामगार के जॉब के लिए बाजार कुपरिभाषित है। क्योंकि, वैकल्पिक जॉबों के विषय में उसका ज्ञान बहुत कम है। कामगार का विचार बाजार के विषय में ज्ञान की कमी और सीमित आमधारणा के कारण सीमित होते हैं। अब प्रभुता से मुक्त रूप से उपभोक्ता और नियोक्ता की होती है, मजदूरियां प्रतिस्पर्धात्मक स्तर पर समान रूप से तय नहीं होती और सर्वोत्तम रूप में संसाधनों का उपयोग नहीं होता जॉब के बाजार की संक्रिया मजदूरी तय नहीं करती। किन्तु, मजदूरियों को निश्चित करने की सीमायें तय करता है तथा इन सीमाओं के अन्तर्गत विशिष्ठ मजदूरी स्तरों को प्रभावित करती है।

3. संस्थागत बाजार

श्रम-बाजार के इस प्रतिरूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मजदूरी आन्दोलनों के स्त्रोत के रूप में संघों, नियोक्ताओं और सरकार की नीतियों को बाजार शक्ति परम्परागत क्रिया के लिए प्रतिस्थापित किया जाता है। मजदूरी बाजार और जॉब बाजार असंयुक्त अवस्था में अलग अलग चलते हैं। श्रमिक सीमित जॉब बाजार में रोजगार प्राप्त और बेरोजगार होते हैं। किन्तु मजदूरी बाजार बलात् तुलनाओं का चक्र होता है। मजदूरी-बाजारों की अन्तर्सम्बन्धता के प्रमुख आधार के रूप में भौतिक गति को संस्थागत और नेतृत्व की तुलनाओं से प्रतिस्थापित किया जाता है। अब एकल मजदूरी बाजार की शक्तियों के बजाय नीतियों के परिणाम के रूप में अस्तित्व में है। संघों और नियोक्ता समूहों की नीतियों के साथ साथ उपभोक्ता-विकल्प संसाधन-आबंटन को परिवर्तित करते हैं।

5. प्रबन्धित बाजार

श्रम-बाजार के इस प्रतिरूप को अभी अभी उन अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया है जिनका विश्वास है कि वास्तविक विश्व-श्रम बाजार बहुत अपूर्ण है। आधारिक रूप में प्रस्तुत प्रबन्धित बाजार के दो प्रकार हैं। एक अनिवार्य व्यक्तिवाद है- व्यावसायिक संघों को दृढ़ता से सीमित करने या व्यावसायिक संघों के उन्मूलन और प्रबल ट्रस्ट विरोधी अभियोजनों द्वारा उत्पाद बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ाने के लिए श्रम बाजार को प्रतिस्पर्धा में लौटना चाहिए। प्रबन्धित बाजार का दूसरा प्रकार सामूहिक निर्धारण है। सामूहिक सौदेबाजी को सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा मजदूरी निधारण से प्रतिस्थापित कर मजदूरी-व्यवस्थापन होना चाहिए। दोनों स्थितियों में निजी नियन्त्रण को आंशिक या पूर्ण रूप में राज्य-नियन्त्रण प्रतिस्थापित करता है।

संस्थागत बाजार सर्वाधिक सामान्य है। पाश्चात्य देशों में इसने पर्याप्त महत्व अर्जित किया है। इस बाजार के बिश्लेषण को नव क्लासिकी प्रतिरूपों के विकल्प के रूप में देखा गया है, रेनॉल्ड्स के अनुसार श्रम बाजार के नव क्लासिकी प्रतिरूपों का मूल्यांकन उनकी भविष्यवाणियों और इन भविष्यवाणियों की घटनाओं से संगति के आधार पर किया जाना चाहिए। उनका यह भी कथन है कि सरलीकृत प्रतिरूप की सही आलोचना यह नहीं है कि वह गलत है बल्कि यह है कि वह सीमित और अपूर्ण है। ''जिस सरल ढांचे के अन्तर्गत यह संक्रिया करता है, उसके कारण ऐसे कई पक्ष हैं जिनको यह प्रकाशित नहीं कर सकता।'' इस प्रकार रेनॉल्ड श्रम बाजार का अधिक जटिल प्रतिरूप प्रस्तावित करता है। इस प्रतिरूप के गुण इस प्रकार हैं—

1. श्रम-मांग बारम्बार विवर्तित होती है।

2. श्रम-आपूर्ति विसमांगी है।

3. श्रम-बाजार की सूचनायें अपर्याप्त हैं।

4. श्रम-गतिशीलता सीमित है।

उनके प्रतिरूप में कामगारों और जॉबों के प्रवाह और स्टॉक का समावेश किया गया है। इस प्रतिरूप को रेखाचित्र 3.5 में प्रस्तुत किया गया है।

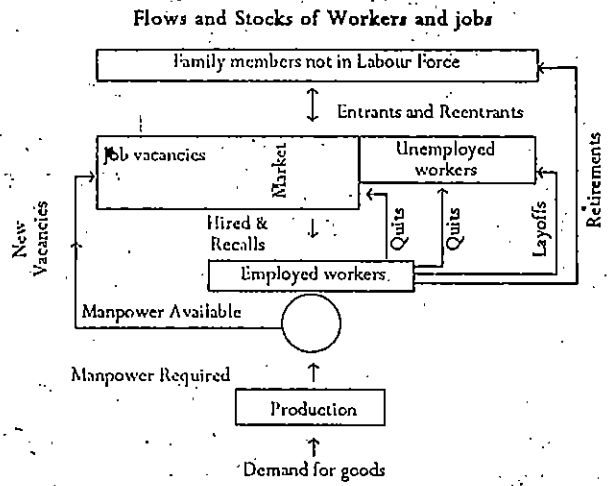

रेखाचित्र 3.5

अर्थव्यवस्था में माल और सेवाओं की मांग श्रम की मांग को संदर्शित करती है। श्रम का स्रोत कुटुम्ब (परिवार के सदस्य) हैं। कामगारों का माँग और आपूर्ति की ओर से संचलन, त्यजन, कामबन्दी, अवकाश ग्रहण नव नियुक्तों के परिणाम स्वरूप जॉब-सर्जन और बेरोजगारी में परस्परिक सम्बन्ध को अनुक्रम चार्ट में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रतिरूप के प्रमुख गुण निम्नांकित है—

1. सामान्यतः बेरोजगार कामगार और जॉब रिक्तियाँ बड़ी संख्या में सह-अस्तित्व में होती है।

2. चार्ट में प्रवाह स्वतन्त्र न होकर परस्पर मजबूती से अन्तर्सम्बन्धित हैं। यह व्यवस्था इस अर्थ में निषेधात्मक प्रतिपुष्टि को प्रदर्शित करती है कि स्वयमेव ही बेरोजगारी स्तर को बढ़ाने या कम करने के साथ बेरोजगारी उन दूसरे परिवर्तनों को लाती है जोकि बेरोजगारी को पूर्व स्तर में संचालित करने में प्रवृत्त है।

3. बाजार से होकर लोगों के सकल प्रवाह की तुलना में बेरोजगार कामगारों और रिक्तियों के स्टॉक में निवल परिवर्तन बहुत कम है।

ऐसे कई कारक हैं जो कि नियोक्ता के अन्वेषी व्यवहार को प्रभावित करते हैं तथा आन्तरिक श्रम बाजार का प्रत्यय और संगठन में विकसित चयन प्रक्रम। डनलॉप[6] के अनुसार आन्तरिक और बाह्य श्रम बाजारों के मध्य प्रत्यक्ष जुड़ाव ही घटना केवल पत्तनों पर ही होती है। उनका यह भी कथन है कि ऐसे पत्तन बहुत सीमित हैं और कलान्तर में संगठन में परिवर्तन अथवा सामूहिक सौदेबाजी में व्यावहारिक परिवर्तन से परिवर्तित होते हैं। ऐसे नियम और प्रक्रम हैं जो कि संगठन में अन्तः जॉब गति को शासित करते हैं तथा उनके द्वारा आन्तरिक श्रम बाजार परिभाषित किया जाता है, लेकिन साथ ही, चयन प्रक्रम को विभेदक के रूप में ऐसे युक्तसंगत बनाया जाता है जो कि सापक्षेतः जो बर्मों अधिक उत्कृष्ट निष्पादन की योग्यता तथा आगे प्रशिक्षण की अभियोग्यता रखने वाले कर्मचारी के अनुकूल हो। नियोक्ता का व्यवहार कामगार के खोज-व्यवहार से भी प्रभावित होता है। यह प्राकल्पित है कि "सामान्यतः कामगार के पास किसी एक समय में केवल एक जॉब का प्रस्ताव होता है, जिसको वह स्वीकार अथवा स्वीकार करने के लिए बाध्य है। इसलिए उसको

निर्णय के लिए कसौटी की आवश्यकता होती है कि उसको प्रस्ताव स्वीकार करना है अथवा अस्वीकार। इस कसौटी का निर्धारण निरन्तर बेरोजगारी के मूल्य को निरन्तर खोज के सम्भावित लाभ से तौलने पर किया जाता है।''[7]

3.3 विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में श्रम बाजार का द्वैतवाद

कम विकसित अर्थव्यवस्थाओं में द्वैतवाद की उपस्थिति के कई कारक हैं। श्रमिक बाजार में द्वैतवाद के कारणों को सेन[8] ने अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है और वे इस प्रकार हैं-

1. श्रमिक की कार्य अधिमान्यतायें: श्रमिक वास्तव में दूसरे सेक्टरों की अपेक्षा किसी एक सेक्टर को तरजीह देता है, यथा भूमिधर के कृषि कार्य को शहरी क्षेत्र में रोजगार की अपेक्षा अधिमान्यता देना।

2. श्रम आपूर्ति में अविभाज्यतायें: एक श्रमिक आधे समय अपने खेत में और आधे समय किसी उद्योग में कार्य करने को तरजीह दे सकता है किन्तु उद्योग की स्थिति की भौतिक समस्याओं और उसकी संगठनात्मक समस्याओं के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता।

3. परिवार की आय की भागीदारी का ह्रास: अपने फार्म से दूर होने की स्थिति में किसी व्यक्ति के परिवार की आय में उसकी भागीदारी का ह्रास अन्तर्भवित हो सकता है।

4. श्रम विधि निर्माण और संघ का दबाव : यह संगठित और असंगठित सेक्टरों में मजदूरी के अन्तर की संस्थागत सीधे ही प्रस्तुत करता है।

5. मजदूरी की अदायगी के लिए नियोक्ता का प्रोत्साहन : अनिश्चित परिस्थितियों के दबाव में; नियोक्ता श्रमिक के न्यूनतम दर पर भरती करने की अपेक्षा अधिक मजदूरी देने पर अधिक सुविधा की स्थिति में रहता है।

कम विकसित आर्थिक व्यवस्थाओं में द्वैतवाद के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। यहां ऐसे तीन आदर्श प्रकारों यथा ग्रामीण श्रम बाजार, अनौपचारिक बाजार और संगठित औद्योगिक श्रम बाजार की व्याख्या की जा रही है।

मजूमदार के अनुसार कम विकसित आर्थिक व्यवस्थाओं के ग्रामीण क्षेत्रों में दो श्रम बाजार औपचारिक और अनौपचारिक सेक्टर हैं। ''इन दोनों सेक्टरों में बुनियादी अन्तर इस विचार पर है कि किसी आशय अथवा किसी आशयों से औपचारिक सेक्टर में नियोजन संरक्षित होता है। जिससे कि सामान्यतः बाजार में जॉब ढूंढने वालों को इस सेक्टर में मजदूरी-स्तर और नियोजन शर्तें उपलब्ध नहीं होती। जब तक कि वे प्रवेश की रुकावट को किसी भी प्रकार से पार करने की व्यवस्था न कर दें। इस प्रकार का संरक्षण व्यावसायिक संघों, सरकारों अथवा दोनों के कार्यों से होत हैं।'' वे आगे कहते हैं कि नियोजन में असंविदाकारी सम्बन्ध की कमी, जो कि सेक्टर के प्रमुख अंगों का गुण है, मजदूरी के उच्च प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करती है। सेक्टर में प्रवेश की आसानी के लिए यह अनुकूल है। ''आसान प्रवेश का विचार और परिवर्तनशील कार्य घंटे इस प्राकल्पना की ओर बढ़ाते हैं कि अनौपचारिक सेक्टर उन शहरी श्रम बाजार के प्रवासियों के लिए संक्रमण बिन्दु का कार्य करता है जो औपचारिक सेक्टर में घुसना चाहते हैं।''[10] उनके द्वारा निम्नलिखित सैद्धान्तिक बिन्दु दिये गये है[11] :—

1. निम्न रोजगार और कम औसत आमदनी अनौपचारिक सेक्टर के प्रमुख गुण होते हुए भी खुले बाजार की ऊँची दर नहीं है।[2] अनौपचारिक सेक्टर में दो प्रकार के कार्मिक भागीदार हैं। एक समूह वह है जो कि अनौपचारिक सेक्टर का उपयोग अपने प्रतीक्षा काल में वित्तीय आवश्यकता के लिए करता है औपचारिक सेक्टर में जाने से पूर्व। दसूरा समूह (आगन्तुक) जो कि अनौपचारिक सेक्टर के नियोजन को अपने आप में पूर्ण मानता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी संरचना के अन्तर की उपस्थिति के लिए कई कारण दिये हैं। कैन्नापैन कहते हैं कि कम विकसित आर्थिक व्यवस्था के ग्रामीण श्रम बाजार में मजदूरी संरचना की विचारणीय विविधता है।[12] उन्होंने कम विकसित देशों में मजदूरी संरचना की विविधता की उपस्थिति के लिए निम्नलिखित कारण दिये हैं।[1] अपेक्षाओं को अवसरों की उपलब्धि के साथ समायोजित करना।

2. औपचारिक सेक्टर में लचीले वेतनों अनुकूलनों के आरूप सामान्यतः सही नहीं होते क्योंकि यहां कठोरताओं और समायोजनाओं की समस्यायें होती हैं।

3. आधुनिक सेक्टर में नियोजन के लिए पंक्तियां बढ़ती हैं। शिक्षित और विशिष्ट कौशलों और अनुभवों के लिए दीर्घ प्रतीक्षायें अधिक गम्भीर होती हैं। साथ ही, दूसरे ग्रामीण जॉब पाने वालों के लिए सूचना में अन्तराल प्रावरोधी कारक लगते हैं। कन्नापन निष्कर्ष निकालते हैं कि, ''थोड़ी सी शंका है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के परम्परावादी श्रम बाजार को आधारभूत रचनाओं (कन्सूटक्ट्स) की व्यापक प्रयुक्ति और उपयोगिता है..... (यद्यपि) निर्णय लेने की सत्ताओं की पहचान के लिए प्रयत्नों के शोधन और अनुकूलन की आवश्यकता होगी।''[13]

प्रतियोगी प्रतिरूप में ग्रामीण और शहरी आय में सन्तुलन लाने वाले वेतन समायोजनों की अपेक्षा टोडारो[14] इसके लिए ग्रामीण-शहरी देशान्तर को अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार नगरीय वेतनों को अधोमुखी दिशा में अविकारी मानते हुए, नगरीय और ग्रामीण ''अपेक्षित'' आयों को समान किया जा सकता है, केवल जबकि नगरीय बेरोजगारी में वृद्धि के परिणाम स्वरूप नगरीय जॉब की प्राथिकताओं में कमी आ जाये। टोडारो कहते हैं: यह आधारभूत परिसर है कि, निर्णायकों के रूप में प्रवासी उपलब्ध श्रम बाजार के सभी अवसरों के मध्य तथा नगरीय और ग्रामीण सेक्टरों ऐसा चयन करें जो कि प्रवसन के अपेक्षित लाभों को अधिकतम बना सके। अपेक्षित लाभ को निम्नलिखित से नाप सकते हैं, (अ) ग्राम्य और नगरीय जॉब-अवसरों के मध्य वास्तविक आयों में अन्तर, (ब) नये प्रवासी को नगरीय जॉब प्राप्त होने की प्रायिक्ता।[15]

टोडारो कहते हैं कि प्रवासी स्थाई आय संगणना पर ध्यान देता है। प्रारम्भिक चरणों में प्रवासी कामगार के लिए जॉब प्राप्त करना सम्भव न हो, जिससे कि वह ग्रामीण सेक्टर की अपेक्षा नगरीय सेक्टर में अधिक आय कर सके। किन्तु कुछ समयावधि के बाद प्रवासी ग्रामीण सेक्टर की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अतः टोडारो के अनुसार जब तक प्रवासी के नियोजन क्षितिज की अपेक्षित शहरी आय की निवल धारा व वर्तमान मूल्य ग्रामीण आय से अधिक है, प्रवसन का निर्णय न्यायसंगत है।[16]

टोडारो का निष्कर्ष है, चूंकि सम्भावित आयों को वेतनों और नियोजन की सम्भावनाओं दोनों के ही द्वारा परिभाषित किया जाता है, यह केवल सम्भव ही नहीं है अपितु प्राथिक भी है कि शहरी बेरोजगारी की आकारिक गति के अस्तित्व में रहने पर भी प्रवसन जारी रहे।

3.4 भारत में श्रम बाजार

भारत में श्रम बाजार पर कई अनुसन्धानात्मक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों के जाँच परिणामों से स्पष्ट होता है कि द्वैतवादों के द्वारा सृजित श्रम बाजारों में अपूर्णतायें हैं। ये अध्ययन ग्राम्य सेक्टर, कृषितर सेक्टर, विशिष्ट समूहों यथा महिलाओं, पिछड़ी जातियों, उच्च योग्यताधारी मानव शक्ति एवं व्यावसायिक वेतनों के निश्चित पहलुओं की समस्याओं से सम्बन्धित है। अतः भारत में श्रम बाजार की गत्यात्मकता विभिन्न परिपार्श्वों और नियोजन तथा मजदूरियों पर उनके प्रभावों में देखी जा सकती है।

3.4.1 कृषि क्षेत्र

कृषि के क्षेत्र में मजदूरियों और नियोजन का निर्धारण करने वाले कारक श्रम की मांग और उसकी आपूर्ति की बाजार शक्तियाँ हैं। पाण्डे[17] ने लिखा है कि बेरोजगारी की घटना कृषि की दृष्टि से कम विकसित कई राज्यों में बहुत निम्न है। इन्हीं राज्यों में निम्न मजदूरियों के कारण गरीबी की घटना बहुत अधिक है। वे परस्पर विरोधी केरल और पंजाब के मामलों को लेते हैं। केरल में, कृषक कामगार संघों की अत्यधिक सैन्य कार्यवाहियों से सारभूत मजदूरी बढ़ौतरियाँ हुयी हैं। इनके परिणाम स्वरूप भूमिहीनों में बेरोजगारी और गरीबी की अधिक घटनाओं हुयीं। इसके विपरीत, मशीनीकरण के कारण पंजाब में भूमिहीन श्रमिक उपलब्ध मानव-दिवसों के लिए लाभदायक रोजगार प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए। अपने दूसरे अध्ययन में पाण्डे[18] ने कहा कि जिन जिलों में सिंचित भूमि में जनसंख्या का दबाव अधिक है, उनमें मजदूरी माग चरों से प्रभावित होती है और जिन ज़िलों में भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम है, उनमें मजदूरी को आपूर्ति चर प्रभावित करते हैं। वे यह निष्कर्ष निकालते है कि कृषि श्रमिकों का निम्न मजदूरियों की समस्या स्वयं कृषि सेक्टर के विकास में निहित है।

बर्दन[19] ने एन.एस. के 1973-74 तथा 1977-78 के आंकड़ों से पश्चिमी बंगाल के लिए सांख्यिकीय विश्लेषण आगर्तो, प्राथमिक शिक्षा और व्यस्त सूत्रों के साथ धनात्मक रूप से परिवर्तित होती है। यह पाया गया कि मजदूरियाँ उच्च आयु, बेरोजगारी की दर और सम्पत्ति विहीन परिवारों के अनुपात के साथ ऋणात्मक साहचर्य में हैं।

3.4.2 कृषितर क्षेत्र

कृषितर क्षेत्र में नियोजन और बेरोजगारी का प्राक्कलन आधारभूत रूप में जनसंख्या गणना, उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण और प्रतिदर्श सर्वेक्षणों से न्युत्पन्न होता है। इन अध्ययनों के जाँच निष्कर्ष आगे दिये जा रहे हैं। कृष्णमूर्ति[20] नगरीय सेक्टर में बेरोजगारी के आंकड़ों के प्राक्कलन में आतिशयोक्ति पायी। उन्होंने कहा कि सामान्यतः बेरोजगारी की दर अशिक्षित संवर्ग के लिए निम्न है। यह स्नातकों और ऊपर के लिए जरा उच्चतर तथा माध्यमिक संवर्ग के लिए उच्च है।

मित्रा[21] ने कृषितर सेक्टर में नियोजन के आरूप का अध्ययन किया। उनके अध्ययन जाँच के अनुसार कृषांतर सेक्टर में समुचित नियोजन में वृद्धि के लिए संघटित आम-परिवार का प्रभाव पड़ता है। विकास की प्रक्रिया के साथ, संगठित सेक्टर की अनुक्रिया द्वैतिक और तृतीयक सेक्टरों में बढ़ी हुयी नियोजन अक्सरों में थी। ब्रिमैन[22] के अनुसार अनौपचारिक सेक्टर की अवधारणा विश्लेषात्मक रूप से अपर्याप्त थी। उनका कहना है कि अनौपचारिक सेक्टर के सीमांकन का कोई भी प्रयास उत्पादन व्यवस्था की एकता और समग्रता की उपेक्षा करेगा। उन्होंने आगे कहा कि नगरीय व्यवस्था को दो भागों में बाँटने की अपेक्षा श्रम बाजार की खण्डित प्रकृति पर बल दिया जाना चाहिए। उन्होंने नगरीय श्रम शक्ति की प्रकृति के बोध के लिए सामाजिक वर्गों को कसौटी माना।

3.4.3 विशिष्ट समूह

श्रम बाजार के चरों की गत्यात्मकता ने निश्चित रूप से विशिष्ट समूहों यथा महिलाओं, कमजोर वर्गों, अर्थव्यवस्था में उच्च योग्यताधारी मानव शक्ति के विरूद्ध विभेद को आगे बढ़ाया है। इन वर्गों के प्रति विभेद की उपस्थिति और अनुपस्थिति ज्ञात करने के लिए अनुसन्धान अध्ययन हुए हैं। चयनित ऐसे कुछ अध्ययनों के जाँच तथ्य आगे दिये जा रहे हैं।

उच्च शिक्षा के बावजूद महिलाओं के प्रति विभेद है पटेल शाह[23] द्वारा अध्ययन निष्कर्ष इस प्रकार दिये गये हैं :— (अ) निम्न आय वर्ग में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का अनुपात सार्थक रूप में अधिक है। स्व-नियोजन की अपेक्षा प्राइवेट सेक्टर में निम्न आय कोष्टक में जन संकुलन

अपेक्षाकृत अधिक पाया गया। किन्तु सार्वजनिक सेक्टर में यह निम्न था। (स) 25 वर्ष से कम आयु-वर्ग में डिग्रीधारक पुरूष और महिलाओं की आयु संरचना में सार्थक अन्तर पाया गया। पच्चीस वर्ष से कम आयु वर्ग में पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं के प्रमाणाधिक्य की व्याख्या इस कारक से हुयी है। लेकिन आयु संरचना ने सापेक्ष जनसंकुलन और उत्तरवर्ती आयु-समूहों में बढ़ते हुए जन संकुलन की व्याख्या नहीं की।

तिलक[24] के अनुसार कमजोर वर्ग के अन्तर्गत आने वाले महिलायें पिछड़ी जातियां, ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोग कई प्रकार के भेदभावों से ग्रसित हैं। यह अध्ययन 1977-78 में आन्ध्र प्रदेश के गोदावरी जिले में किया गया था। कार्य शक्ति के 1000 सदस्यों के प्रतिदर्श सर्वेक्षण द्वारा आंकड़े एकत्रित किये गये थे। इस अध्ययन से भेदभाव के दो पहलू प्रकाश में आयें। अर्थात नियोजन में भेदभाव और मजदूरी में भेदभाव। इस अध्ययन के जांच तथ्य इस प्रकार हैं: (1) शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर बेरोजगारी की घटना पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं में अधिक थी। (2) उच्च शिक्षितों में बेरोजगारी की दर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक थी, (3) श्रम बाजार में कमजोर वर्गों के प्रति भेदभाव मजदूरी की दृष्टि से गुणार्थक पाया गया।

प्रसाद[25] द्वारा किये गये अध्ययनों से निम्नलिखित परिणाम सामने आये: हैं: शिक्षा के उद्भासन की तुलनीय लम्बाई के लिए, व्यावसायिक मानव शक्ति के विभिन्न संवर्गों में बेरोजगारी की अवधि सार्थक रूप में भिन्न है। (ii) प्रत्येक संवर्ग में उच्चतर शैक्षिक निष्पादन के लिए बेरोजगारी की अवधि न्यून शैक्षिक निःष्पादन की अपेक्षा कम पायी गयी और (iii) पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं को बेरोजगारी की अधिक लम्बी अवधि का सामना करना पड़ा।

3.4.4 स्थानीय श्रम बाजार

स्थानीय श्रम बाजार से सम्बन्धित कई अनुसन्धान अध्ययन हैं। इनसे यह तथ्य प्रकाश में आया है कि इन बाजारों में मजदूरियों का निर्धारिण आपूर्ति चरों के द्वारा होता है। कुछ प्रमुख अध्ययनों के जाँच तथ्य इस प्रकार हैं :—

जौहरी और मिश्रा[26] के अनुसार संस्थागत कारकों की अपेक्षा व्यक्तिगत कारण श्रम गतिशीलता के प्रारूप को प्रभावित करते हैं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी परिक्षेय में श्रम बाजार के उद्विकास के समानान्तर औद्योगिक संरचना का परिवर्धन होता है। श्रम बाजार के सबसे प्रमुख गुण नियोजन का स्थायित्व को परिक्षेय के अन्दर ही व्यवसाय के लिए प्राथमिकता हैं। कामगारों की अपेक्षाओं और गत्यात्मक व्यवहार में यथार्थवाद और व्यवसाय में सर्वोत्तम व्यवसाय की खोज पाये गये। दूसरे अध्ययन में जौहरी और मिश्रा[27] ने अभ्युपगम प्रस्तुत किया कि आयु, कौशल, अनुभव जैसे कारक श्रम-आपूर्ति का विनियमन करते हैं, इसके कारण मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया पर इनको प्रभाव पड़ता है। इस अध्ययन का निष्कर्ष इस प्रकार है, ''इस प्रभासी अति अनियमित और अपसंरचित श्रम बाजार में मजदूरी-व्यवहार की कसी सीमा तक व्याख्या आयु, कौशल, कामगार की वरीयता जैसे आपूर्ति चरों, की सहायता से की गयी। ये चर दीर्घकालीन सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की शक्तियों और उद्योग के प्रावैधिक आधार को परावर्तित करते हैं। ये मजदूरी निर्धारण के स्थायी किन्तु अदृश्य प्रभावों को उद्घाटित करते हैं।''[28]

पपोला और सुब्रमण्यम्[29] ने अहमदाबाद के एक अध्ययन से स्पष्ट किया कि मांग चरों के द्वारा मजदूरियों का निर्धारण होता है। इस अध्ययन ने दर्शाया कि विभिन्न उद्योगों के उन्हीं व्यवसायों में वेतनों का अन्तर है। उन्होंने इस घटना के लिए किसी सीमा तक अप्रतियोगी कारकों को पाया। इस अध्ययन में दिये गये आँकड़ों से इस प्राक्कल्पना की पुष्टि होती है कि माँग सम्बन्धी चर मिलकर उद्योगों में मजदूरी के अन्तरों के लिए उत्तम व्याख्या उपलब्ध करते हैं। किन्तु सभी

चयनित व्यवसायों के लिए किसी एक चर को समान रूप से सार्थक नहीं पाया गया। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हुआ कि उच्च वेतन स्तर की इकाई निम्न वेतन स्तर की इकाई की अपेक्षा प्रत्येक व्यवसाय को उच्चतर वेतन दर से भुगतान करती है। इन अध्ययनकर्ताओं के अनुसार इकाइयों के अन्तर्गत व्यावसायिक वेतन दरों के कोटिकरण की प्रवृत्ति यह भी दर्शाती है कि व्यावसायिक विभेदकों को कुछ निश्चित आधार व्यवसाय, कौशल, शिक्षा, प्रशिक्षण और कार्यभार जैसे अभिलाक्षणिक गुणों में होता है। यह कहा गया है कि जब व्यावसायिक विभेदक प्रधान रूप से शैक्षिक और प्रशिक्षण की आवश्यकताओं से सह सम्बन्धित हैं और इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों में कौशल, कुछ स्थितियों में श्रम बाजार की स्थिति भी किसी व्यवसाय को उच्च अथवा निम्न वेतन वाला बनाने में प्रभावी प्रतीत होते हैं।

नाथ[30] द्वारा पूना के उद्योगों के लिए किये गये एक अध्ययन में यह लिखा गया है कि वेतन आय के लिए सान्द्रता अनुपात ने एक उद्योग से दूसरे उद्योग में पर्याप्त असमानता को दर्शाया है। इस अध्ययन ने यह भी प्रकट किया कि उसी उद्योग में कौशल विभेदक विभिन्न व्यवसायों के लिए तात्त्विक रहे हैं। किन्तु अलग अलग व्यवसायों में विभेदक की सीमा इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी। इस विभेदक को प्रभावित करने वाले कारकों में, इस अध्ययन के अनुसार, औद्योगिक इकाई का आकार और प्रभुक्त उत्पादन तकनीकें रही हैं। इस अध्ययन के अनुसार श्रमिक संघ आन्दोलन ठीक तरह से विकसित नहीं था और संघवाद का प्रभाव छोटी इकाइयों के अस्तित्व के कारण केवल नाम मात्र के लिए रहा है। सिंह[31] ने कानपुर के टेक्सिटाइल मिलों के मध्य मजदूरी दरों की तुलना एवं अन्तरा-विभागीय विभेदकों के विश्लेषण के लिए एक अध्ययन किया। इस अध्ययन के जांच तथ्य इस प्रकार हैं:— (i) उसी मिल के किसी एक विभाग में विभिन्न कामगार-संवर्गों में मजदूरियों में भारी अन्तर हैं। (ii) किसी विभाग में औसत मजदूरी दरों ने मिल के विभिन्न विभागों में महत्वपूर्ण अन्तर प्रदर्शित नहीं किये हैं। (iii) किसी मिल के विभिन्न विभागों में मजदूरी दरों ने स्पष्ट अन्तर नहीं दर्शाये हैं। (iv) अलग-अलग मिलों और अलग विभागों में मजदूरी अन्तर के स्तरों में सार्थक अन्तर पाये गये। मजदूरी विभेदकों के लिए कामगारों और प्रबन्धनों द्वारा दिये गये कारणों में सार्थक अन्तर नहीं पाये गये। उदाहरणार्थ - कामगारों ने इन विभेदकों के लिए कौशल के स्तर, तनाव, थकान, अनुभव और प्रशिक्षण को उत्तरदायी माना। दूसरी ओर, प्रबन्धनों का मानना था कि ये विभेदक कौशल के स्तर, तनाव, अनुभव, प्रशिक्षण, दायित्व और कार्य के खतरों पर आधारित है।

3.5 शब्दावली

1. **श्रम (श्रमिक-):-** अर्थ-लाभ के लिए प्रयुक्त हस्त या मानसिक कार्य श्रम (श्रमिक) कहलाता है।

2. **श्रम बाजार:-** इसका सम्बन्ध उन क्रियाओं से है जो किसी व्यवसाय के लिए श्रमिक के किराया या आपूर्ति से सम्बन्धित है। इस प्रक्रिया में यह भी शामिल है कि किन क्रियाओं के निष्पादन में किनको कितना भुगतान किया जाय।

3. **पूर्ण प्रतियोगिता:-** एक पूर्ण प्रतियोगी बाजार वह है जिसमें क्रेताओं और विक्रेताओं की बड़ी संख्या होती है। ये सभी बिना किसी कृत्रिम बाधाओं और किसी समय बाजार के पूर्ण ज्ञान के साथ क्रय और विक्रय में व्यस्त रहते हैं।

एकाधिकार:- यह बाजार की एक ऐसी संरचना है जिसमें किसी जिस या सेवा के केवल एक विक्रेता कई क्रेताओं के साथ सौदा करता है। बेचने वाले का माल की मात्रा और उसके बेचान मूल्य पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। माल का कोई प्रतिस्थानिक नहीं होता। उद्योग में इसका

प्रविष्टि कई भारी बाधायें उपस्थित करती हैं। एकाधिकारी अधिकतम लाभ का प्रयास करता है। यह प्रतियोगी और अल्पतन्त्रीय स्थितियों की अपेक्षा अधिक मूल्य और अधिक सीमित आपूर्ति निर्धारित करता है।

5. **एक क्रेताधिकार:-** इसका सम्बन्ध उस बाजार स्थिति से है जिसमें किसी जिंस अथवा सेवा का केवल एक क्रेता होता है। इसकी प्रयुक्ति ऐसी संस्थिति में होती है जहां क्रय में ''एकाधिकार'' तत्व हो।

6. **द्विपक्षीय एकाधिकार:-** यह बाजार की वह स्थिति है जिसमें केवल एक ही उत्पादक एक ही क्रेता हो। दोनों अपने को एकाधिकारी मानते हैं।

7. **आन्तरिक श्रम बाजार:-** यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें बाहरी श्रम बाजार में प्रविष्टि के बिना फर्म के ही अन्दर श्रम की माँग और आपूर्ति होते है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था में व्यवसाय रिक्तियों की पूर्ति वर्तमान नियुक्तियों की प्रोन्नति से की जाती है।

8. **बाह्य श्रम बाजार:-** इस बाजार व्यवस्था में किसी भौगोलिक अथवा व्यावसायिक परिसभाओं की क्रिया के गुच्छ उपलब्ध होते हैं, जिन्हें कि नये व्यवसायों में लिया जा सकता है। इनमें प्रवेश द्वार इनके लिए निर्बाध खुले रहते हैं।

3.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रम बाजार के प्रतिरूपों पर टिप्पणी दीजिए।

2. श्रम बाजार की गत्यात्मकता का क्या तात्पर्य है?

3. कम विकसित अर्थ व्यवस्थाओं में श्रम-बाजार का द्वैतवाद है। क्या आप इस विचार से सहमत हैं?

4. वर्तमान भारत में श्रम बाजार की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।

3.7 संदर्भ सूची

1. Lipsey, Richard G., "An introduction to Positive Economics," Weidenfeld and Nicolson, London, 1966, pp. 453-457, quoted in Pramod Verma, p.129.
2. Kerr, Clark, "Labour Markets: Their Character and consequences", reprinted in Richard A. Lester, Labor:*Readings on Major Issues*, Random House, New York, 1965, pp. 292-306, quoted in Pramod Vrma, p.131.
3. Clark Korr, "Labour Markets: Their Character and Consequences" in Industrial Relations research Association Proceedings (1950).
4. Reynolds, Lloyd G., Labour Economics and Labour Relations, Prentice-Hall, New Delhi, 1978, p.109.
5. Ibid., pp.110-113.
6. Dunlop, John T, "Job Vacancy Measures and Economic Analysis", in

The Measurement and Interpretation of Job Vacancies, New York, National Bureau of Economic Research, 1966, pp. 27-48, quoted in Lloyd G. Reynolds, p.115.

7. Renolds, op.cit., p.121.
8. Sen, Amartya K., "Employment Technology and Development," Oxford University Press, Delhi, 1975, p.53-55, quoted in Pramod Verma, p.133.
9. Mazumdar, Dipak, "Analysis of the Dual Labour Marets in Ldcs", in Subbiah Kannappan (ed.), Studies of Urban Labour Market Behavior in Developing Areas, International Institute for Labour Studies, Geneva, 1977, p.15, quoted in Pramod Verma, p.134.
10. Ibid., p.18, quoted in Pramod Verma, p.134.
11. Ibid, quoted in Pramod Verma. p.134.
12. Kannappan, Subbiah, "Studies of Urban Labour Market Behavior in Developing Areas," International Institute for Labour Studies, Geneva, 1977, p.9, quoted in Pramod Verma, p.134.
13. Ibid., p.10, quoted in Pramod Verma, p.134.
14. Todaro, Michael P., "Internal Migration in Developing Countries," ILO, Geneva, 1976, pp.28-36, quoted in Pramod Verma, p.134.
15. Todaro, "Internal Migration in Developing Countries," op.cit. pp.28-29, quoted in Pramod Verma, p.134.
16. Ibid., p.31 quoted in Pramod Verma, p.135.
17. Pandey, S.M., "Nature and Magnitude of Rural Unemployment in India", Indian Journal of Industrial Relations, Vol. 10(2), October, 1974, pp.221-238, quoted in Pramod Verma, p.135.
18. Pandey, S.M., "Wage Determination in Indian Agriculture: An Empirical Analysis", Indian Journal of Industrial Relations, Vol. 9(1), July, 1973, pp.83-100, quoted in Pramod Verma, p.135.
19. Bardhan, P.K., "Land, Labour and Rural Poverty," Oxford University Press, New Delhi, 1984, quoted in Pramod Verma, p.136.
20. Krishnamurthy, J., "Some Aspects of Unemployment in Urban India", Journal of Development Studies, Vol. 11(2), January, 1975, pp.11-19, quoted in Pramod Verma, p.136
21. Mitra, Ashok K., "Analysis of the Structure and Quantum of Non-Agricultural Employment in India", Artha Vinjnana, Vol. 19(3), September, 1977, pp.213-232, quoted in Pramod Verma, p.136.

22. Breman, Jan, "Dualistic Labour System? A Critic of Informal Concept Sector" Economic and Political Weekly, Vol. 11(48), November 27, 1976, pp.1870-1876, quoted in Pramod Verma, p.136.

23. Patel, B.B. and S.P. Singh, "Labour Market for Educated Women in India, Verification of Some Hypotheses on Discrimination", Indian Journal of Labour Economics, Vol. 22(4), Jan, 1980 pp.89-98, quoted in Pramod Verma, p.136.

24. Tilak, Jandhyala B.G., "Education and Labour Market Discrimination", Indian Journal of Industrial Relations, Vol. 16(1), July, 1980, pp.95-114, quoted in Pramod Verma, p.137.

25. Prasad, K.V. Eswara, "Education and Unemployment of Professional Manpower in India" Economic and Political Weekly, Vol. 14(20), May 29, 1979, pp.881-887, quoted in Pramod Verma, p.137.

26. Johri, C.K. and V.N. Mixra, "Regional Labour Mobility: Inter-industry Analysis", Indian Journal of Industrial Relations, Vol. 8(2), October, 1972, pp.159-199, quoted in Pramod Verma, p.137.

27. Johri, C.K. and V.N. Misra, "Wage Payment Systems, Wage Differentials and Incomes Policy", Indian Journal of Industrial Relations, Vol.9(1), July, 1973, pp.39-68, quoted in Pramod Verma, p.137.

28. Ibid., p.53, quoted in Pramod Verma, p.137.

29. Papola, T.S. and K.K. Subramanian, "Wage Structure and Labour Mobility in a Local Labour Market," Sardar Patel Institute of Economic and Social Research, Ahmedabad, 1975, quoted in Pramod Verma, p.137.

30. Nath, Rabindra, "Wage Patterns and Wage Structure in Indian Industries," Sterling, New Delhi, 1976, quoted in Pramod Verma, p.138.

31. Singh, V.B., "Wage Patterns, Mobility and Savings of Workers in India:" A study of Kanpur Textile Industry, Lalwani, Bombay, 1973, quoted in Pramod Verma, p.138.

3.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Anne Booth & R.M. Sundaram, "Labour Absorption in Agriculture, Theoretical Analysis and Empirical Investigations," Oxford University Press, Madras, 1984.

2. Alan W. Evans, "Urban Economis, An Introduction," Bansil Blackwell Ltd., Oxford, 1985.

3. Derek Robinson, "Monetarism and the Labour Market", Clarendon Press, Oxford, 1986.

4. Lloyd G. Reynolds, S.H. Masters & C.H. Moser, "Economics of Labour", Prentice-Hall, Inc., Englewood Cliffs, New Jersey, 1987.

5. Peter Fallon & Donald Verry, "The Economics of Labour Markets", Heritage Publishers, New Delhi, 1989.

6. Pramod Verma, "Labour Economics and Industrial Relations", Tata McGraw-Hill Publishing Company Limited, New Delhi, 1987.

7. Lloyd G. Reynolds, "Labour Economics and Labour Relations", Prentice-Hall of India, New Delhi, 1978.

8. Lloyd G. Reynolds et. al, "Readings in Labour Economics and Labour Relations", Prentice-Hall, New Delhi, 1986.

9. Derek Carline et.al, "Labour Economics", Longman Inc., Newyork, 1986.

इकाई 4

श्रम पूर्ति की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 श्रम पूर्ति फलन

4.3 श्रम पूर्ति को निर्धारित करने वाले तत्व

4.4 श्रमपूर्ति वक्र

4.4.1 श्रमिक विशेष के लिए पूर्ति वक्र का निर्धारण

4.5 एक फर्म के लिए श्रम पूर्ति वक्र

4.5.1 फर्म का अल्पकाल व दीर्घकाल में पूर्ति वक्र

4.5.2 उद्योग का पूर्तिवक्र

4.6 सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में श्रमपूर्ति

4.6.1 दीर्घकाल में श्रमपूर्ति वक्र का निर्धारण

4.6.2 अल्पकाल में श्रमपूर्ति वक्र का निर्धारण

4.7 श्रम पूर्ति में महिलाएं

4.8 महिलाओं की मजदूरी में अन्तर के कारण

4.9 भारत में महिला श्रम का मुख्य कार्यक्षेत्र

4.10 महिला श्रम व कार्य के घण्टे

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

किसी भी देश के लिए श्रम की पूर्ति की दशाओं का ज्ञान अतिआवश्यक है। श्रम की पूर्ति एक दुधारी तलवार है इसकी कमी जहाँ एक ओर देश के आर्थिक विकास में बाधक है वहीं दूसरी ओर इसकी बहुलता भी कई समस्याओं को जन्म देती है। इस इकाई में श्रम पूर्ति की अवधारणा से आपका परिचय कराया जाएगा।

4.1 प्रस्तावना

अर्थशास्त्र में उत्पादन का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्पादन से विपणन, विनिमय व उपभोग होता है। किन्तु उत्पादन वस्तु को उत्पादित करेन में श्रम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अतः श्रम के महत्व में श्रम पूर्ति की मात्रात्मकता व गुणात्मकता दोनों ही पहलू उत्पादन को प्रभावित करते हैं। इस इकाई में श्रम की पूर्ति को निर्धारित करने वाले तत्वों का अध्ययन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त अल्पकाल व दीर्घ काल में एक फर्म एवं सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के पूर्ति वक्रों से आपको अवगत कराया जाएगा।

4.2 श्रम पूर्ति फलन

श्रम की पूर्ति विभिन्न घटकों पर निर्भर करती है गणितीय रूप में इस फलनात्मक सम्बन्ध को निम्नानुसार व्यक्त किया जा सकता है।

$$S = f(W, Y_1, Y_2, \ldots\ldots, Y_{10})$$

यहां S = श्रमपूर्ति, f = फलन, W = मजदूरी, $Y_1, Y_2, \ldots\ldots, Y10$ = पूर्ति के विभिन्न निर्धारक घटक।

4.3 श्रम पूर्ति को निर्धारित करने वाले तत्व

श्रम की पूर्ति मुख्य रूप से निम्नलिखित घटकों पर निर्भर होती है।

1. जनसंख्या

आधुनिक जनसंख्या का सिद्धान्त बताता है विकसित अर्थव्यवस्था में जनसंख्या की वृद्धि अर्थव्यवस्था को प्रेरित करती है। क्योंकि जनसंख्या सीधी श्रम पूर्ति को नहीं बढ़ाती है। विकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि दर 1% से कम होती है, क्योंकि जन्म दर कम व मृत्यु दर भी कम होती है। जबकि विकासशील देशों में जनसंख्या वृद्धि दर ज्यादा होती है, क्योंकि विकासशील देशों में (जन्म दर अधिक व मृत्यु दर कम होती है इस कारण जनसंख्या की वृद्धि दर तीव्र होती है।)

2. कार्यशील जनसंख्या

किसी देश की जनसंख्या को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जाता है :

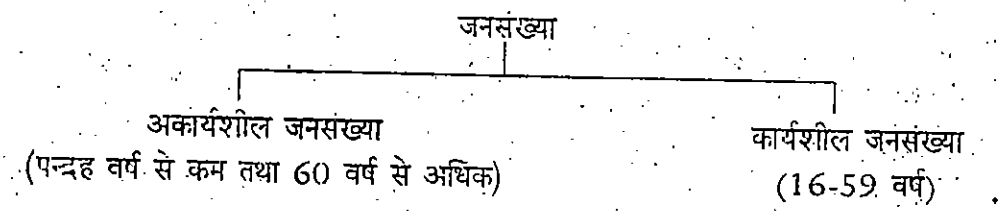

श्रम पूर्ति में देश की जनसंख्या की बनावट बहुत महत्वपूर्ण होती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 15-60 तक की जनसंख्या को ही कार्यशील जनसंख्या माना जाता है। भारत में भी कार्यशील जनसंख्या 15-60 की आयु वर्ग है। परन्तु यहाँ बालश्रम भी पाया जाता है।

विकसित अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति के कारण समस्त कार्यशील जनसंख्या कार्यरत होती है। विकासशील देशों में कार्यशील जनसंख्या भी दो भागों में बंट जाती है — (1) पूर्ण श्रमिक और (2) सीमान्त श्रमिक। पूर्ण श्रमिक वह होते हैं जिनको साल में 183 दिन या 6 महीने से अधिक काम मिलता है जबकि सीमान्त श्रमिक वे होते हैं जिनको साल में 183 दिन या 6 माह से कम काम मिलता है।

विकसित देशों में समस्त जनसंख्या का 50% के लगभग भाग कार्यशील जनसंख्या होता है, या श्रमपूर्ति करता है जैसे 1993 में अमेरिका में 48% जापान में 50.8% जबकि भारत में 38% (मुख्य श्रमिक + सीमान्त श्रमिक) क्योंकि विकासशील देशों में गरीबी, बेरोजगारी व जनाधिक्य के कारण श्रमशक्ति कम होती है।

3. श्रम शक्ति की भागीदारी व काम के घण्टे

श्रमिक के द्वारा एक साल में कितने घण्टे व उसे जीवन काल में उसके द्वारा कितने घण्टे

काम किया गया यह अर्थव्यवस्था की आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है जैसे — विकसित अर्थ व्यवस्था में श्रमिक रोजगार में है तो एक दिन में किये कार्य को साल भर व जीवन के काम में नापा जा सकता है। जबकि विकासशील अर्थव्यवस्था में बेरोजगार व सीमान्त श्रमिक भी पाये जाते हैं तथा श्रमशक्ति से उनकी भागीदारी कम घण्टे होती है। यह प्रत्येक देश की आर्थिक स्थिति व विकास पर निर्भर करता है।

4. श्रमिक को प्रदान की गई मात्रात्मक व गुणात्मक सुविधाएँ

श्रमिकों को प्रदान की गई मात्रात्मक व गुणात्मक सुविधाओं का श्रमिक की उत्पादकता व श्रम पूर्ति पर सीधा प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया मजदूरी दर व कार्य के घण्टे है दोनों श्रम पूर्ति को सीधा प्रभावित करते हैं। श्रमिक की श्रम पूर्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि श्रमिक साल में कितने दिन काम व कितने दिन (आराम) अवकाश प्राप्त करता है। क्योंकि कार्य के दिन कार्य के घण्टे व मजदूरी तीनों ही उसकी गुणात्मक को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा अन्य सुविधाएँ जैसे — मनोरंजन, यातायात सुविधाएँ, आवास, बच्चों के लिए स्कूल, बोनस, ऋणसुविधा, रोजगार की सुरक्षा, अन्य सामाजिक सुरक्षाएँ चिकित्सा सुविधा, कार्य स्थल, को स्वस्थ व अच्छा पाया जाना हवा रोशनी की पूर्ण व्यवस्था आदि सुविधाएँ भी श्रम पूर्ति को प्रभावित करती है। इसके अलवा श्रम पूर्ति कार्य विशेष की प्रकृति पर भी निर्भर करती है जैसे — जोखिम उद्योगों (तेजाब उद्योग, काँच उद्योग आदि) में श्रम तुलनात्मक रूप से कम होती है।

5 आप्रावास (Immigration) और उत्प्रवास (Emigration)

विकसित देशों में जहाँ जनसंख्या की वृद्धि नहीं बराबर होती है। वहाँ पर सिर्फ आप्रावास ही श्रम पूर्ति को बढ़ाने में सहायक होता है जबकि अप्रवास विकसित देशों में कम होता है किन्तु विकसित देशों में आप्रवास पर रो होती है जैसा कि अमेरिका में विश्व युद्ध के बाद आप्रवास पर कानूनी रोक लगाने के लिए अमेरिकन श्रम संगठनों ने अमेरिकन सरकार पर दबाव डाला उसके बाद आप्रावास पर रोक लगा दी गई (गैर कानूनी अप्रवास को छोड़ दिया जाय) क्योंकि श्रम बाजार के अन्दर श्रम पूर्ति (अप्रवास) पर कानूनी रोक लगाकर ही मजदूरी स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा पैदा की जा सकती।

जबकि विकासशील देशों में आप्रावास महत्त्व पूर्ण नहीं होता है किन्तु बेरोजगारी की समस्या ही श्रम पूर्ति को प्रभावित किये रखती है। अतः मजदूरी में स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा सम्भव नहीं होती।

6 जनसंख्या का सामाजिक व आर्थिक स्तर व राजनैतिक स्थितियाँ

सामान्यतया सामाजिक व आर्थिक स्तर एक सिक्के के दो पहलू की तरह जुड़े हुए हैं। क्योंकि ऊँचे आर्थिक स्तर के कारण व्यक्ति का सामाजिक स्तर स्वतः ऊँचा उठ जाता है। विकासशील देशों में श्रमिक का आर्थिक स्तर नीचा होने के कारण स्त्रियाँ वृद्ध बच्चे कार्य करने के लिए विवश हो जाते है ताकि पारिवारिक आय बढ़ सके जो कि श्रम पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

जबकि विकसित देशों में विकास के साथ-साथ आये सामाजिक परिवर्तन के कारण महिलाएँ बड़ी मात्रा में श्रम शक्ति का अंश बन गई है। अमेरिका में 60 के दशक के मध्य में श्रम शक्ति में महिलाओं की भागीदारी मात्र 40% था जो कि 80 के दशक के मध्य में 53% तक हो गई। इस परिवर्तन का मुख्य कारण आर्थिक नहीं था। जबकि सामाजिक कारण इस परिवर्तन के पीछे जिम्मेदार था जिनमें — (1) परिवार का बदलता रूप (या Size), (2) महिलाओं का बदलता परिवेश (3) कार्यशैली में आये परिवर्तन, आदि।

4.4 श्रम पूर्ति वक्र निर्धारण

किसी भी अर्थव्यवस्था में उठती हुई अथवा एक ऊपर बढ़ती हुई श्रम पूर्ति रेखा (अर्थात्

एक ऊंची कीमत या मजदूरी दर पर ज्यादा श्रमिकों की पूर्ति बढ़ना) श्रम बाजार में श्रम की सापेक्षिक कभी अथवा श्रम की एक बड़ी माँग की सूचक है। इसका अभिप्राय है कि एक स्वस्थ व गतिशील आर्थिक स्थिति है। जिस अर्थ व्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं की खपत बाजार में हो जाती है। अतः वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक श्रमिक की आवश्यकता बढ़ जाती है। श्रम की ऊपर चढ़ती हुई पूर्ति रेखा न केवल कम होने वाली बेकारी का सूचक है। वरन एक स्वस्थ व तेज आर्थिक क्रिया का भी सूचक है। श्रम की पूर्ति वक्र का ऊपर उठना विकसित अर्थव्यवस्था में ही पाया जाता है। विकसित अर्थव्यवस्था में ही प्रतिस्पर्द्धा प्रभाव व आय प्रभाव अपना प्रभाव दिखाते हैं।

4.4.1 श्रमिक विशेष के लिए पूर्ति वक्र का निर्धारण

प्रतिस्पर्द्धा प्रभाव बनाम आय प्रभाव

जब हम श्रमपूर्ति में व्यक्तिगत श्रमिक विशेष का अध्ययन करते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा सामने आता है कि ऊंची मजदूरी दर पर श्रमिक किस प्रकार प्रतिक्रया करता है। प्रत्येक व्यक्ति के पूरे जीवन काल में उसने कितने घण्टे काम किया। ऊंची मजदूरी दर का इस पर क्या प्रभाव होता है। रेख चित्र 4.1 में दर्शाया गया है कि प्रत्येक मजदूरी दर पर श्रमिक के द्वारा किये गये काम के घण्टों को दर्शाया गया है कि किस प्रकार श्रम पूर्ति वक्र प्रारम्भ में दायी तरफ ऊपर उठती है। जो कि C बिन्दु के बाद बायीं तरफ झुकना प्रारम्भ हो जाती है। हम देखते हैं कि उंची मजदूरी किस प्रकार श्रम पूर्ति को बढ़ाती है जैसा कि चित्र में S बिन्दु से C बिन्दु तक दिखता है बाद में स्वतः ही श्रम पूर्ति को कम कर देती है।

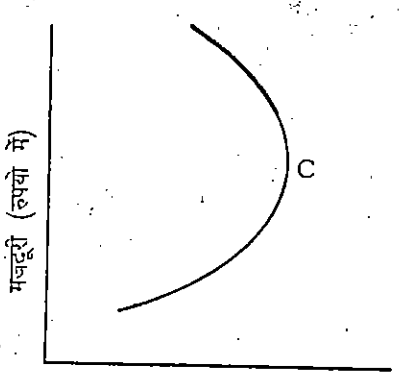

रेखा चित्र 4.1

अगर हम अपने आपको श्रमिक मानकर देखे तो स्पष्ट हो जायेगा कि प्रत्येक अधिक घण्टे या नये घण्टे (यानि 8 घण्टे से 9 वें 10 वें 11 वें घण्टे) काम करने पर हमें अधिक मजदूरी दर मिल रही है साथ ही काम के घण्टें चुनने के लिए हम स्वतन्त्र हों और हम अपने काम के मुख्य घण्टे (प्रारम्भ के 8 घण्टे ईमानदारी से काम किया हो या कामचोरी न की हो) काम किया हो तो हम पायेंगे कि हम दो अलग-अलग स्थिति में है। एक तरफ हमें अधिक काम करने का आकर्षण होगा क्योंकि काम का प्रत्येक घण्टा हमें अधिक महंगा होगा। अतः प्रत्येक आराम के घण्टे को हम उंची **मजदूरी के** कारण काम के घण्टे से प्रतिस्थापित करने को उत्सुक होंगे।

किन्तु प्रतिस्थापन **प्रभाव** के विपरीत एक आय प्रभाव भी कार्य करता है। श्रमिक उसी मजदूरी पर अधिक अमीर होंगे। अधिक अमीर होने से अच्छे व अधिक कपड़े अच्छा भोजन व अधिक उपभोक्ता वस्तुएं खरीदेंगे। किन्तु इस स्थिति में एक समस्या होगी कि इन सब सुखों के साथ श्रमिक अधिक आराम को भी पसन्द करेंगे। इस समय श्रमिक आर्थिक रूप से अधिक सम्पन्न होने के कारण शनिवार को एक अतिरिक्त अवकाश वहन करने या लेने में सक्षम होंगे साथ ही एक

C:\KOTA-98\MEC-07\UNIT-4.PM5 486 (3)
(4A)

अतिरिक्त सप्ताह सर्दी में व एक अतिरिक्त सप्ताह गर्मी में लेना चाहेंगे। यहां तक कि श्रमिक सेवानिवृत्ति भी कुछ वर्ष पूर्व लेना पसन्द करेगा।

इस समय वह भी महत्वपूर्ण है कि प्रतिस्थापना प्रभाव व आय प्रभाव में क्या प्रभावशाली है या दोनों प्रभावों में सन्तुलन कहां होगा अगर दोनों प्रभाव एक दूसरे के असर को काटते हैं तो जैसा रेखा चित्र 4.2 में दर्शित है कि पूर्ति वक्र सीधा ऊपर की ओर उठेगा यानि C बिन्दु के बाद बेलोचदार हो जायेगा।

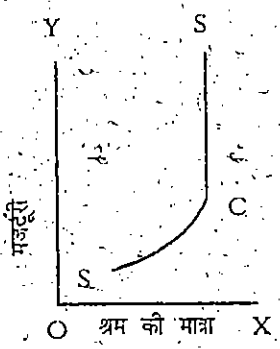

रेखा चित्र 4.2

किन्तु पूर्ति वक्र C बिन्दु के बाद बाई तरफ मुड़ेगा (जैसा चित्र 4.2 में है) या सीधा ऊपर जायेगा। (जैसा चित्र 4.2 में है) इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है क्योंकि यह श्रमिक विशेष की व्यक्तिगत आर्थिक परिस्थिति पर ही निर्भर करता है।

C बिन्दु तक श्रम पूर्ति ऊंची मजदूरी दर के कारण ऊपर बढ़ती है यानी आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव पर भारी पड़ता है या प्रतिस्थापन प्रभाव C बिन्दु तक कमजोर व आय प्रभाव शक्तिशाली रहता है। किन्तु C बिन्दु के बाद चित्र 4.1 में आय प्रभाव कमजोर पड़ने लगता है व प्रतिस्थापन प्रभाव भारी पड़ने लगता है यानी एक स्तर के बाद ऊंची मजदूरी दर के बाद भी श्रमिक श्रम पूर्ति बढ़ाने के स्थान पर श्रम पूर्ति घटने लगती है। श्रमिक ऊंची मजदूरी के स्थान पर पूर्ति घटने लगती है श्रमिक ऊंची मजदूरी पर काम करने के स्थान पर आराम पसन्द करने लगता है।

रेखा चित्र 4.2 में ये दोनों प्रभाव एक दूसरे को काटने लगते हैं या एक दूसरे का प्रभाव कम करते हैं अथवा श्रम पूर्ति चक्र सीधा ऊपर की ओर जाता है या बेलोचदार हो जाता है। श्रम पूर्ति वक्र एक स्थिति तक दायीं तरफ ऊपर की ओर बढ़ता है अतः C बिन्दु के बाद बाई ओर झुकने लगता है इसमें आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव के अलावा भी कोन से कारण ऐसा करने के लिए श्रमिक को मजबूर करते हैं जैसे :– (1) अधिक मजदूरी दर या ऊंची मजदूरी पर ऊंची दर की मात्रा श्रम पूर्ति को प्रभावित करती है। (2) अधिक उदारवादी या कल्याणकारी भुगतान श्रमपूर्ति को घटाते हैं या बढ़ाते हैं।

अर्थशास्त्र इन मुद्दो को सार्वजनिक नीति व कानून के आधार पर सुलझाने की बात करते हैं। इस क्षेत्र के कई अध्ययन बताते हैं कि युवा पुरुष श्रमिकों के अध्ययन में श्रमपूर्ति वक्र C

बिन्दु के बाद बायीं ओर झुकता दिखता है किन्तु श्रमपूर्ति के अन्य जनांकिक वर्गों में श्रमपूर्ति वक्र बाई ओर झुकता नहीं पाया गया। याने अन्य जनांकिक वर्ग C बिन्दु के बाद कार्य नहीं करेंगे (अधिक ऊंची मजदूरी दर पर ज्यादा घण्टे काम नहीं करेंगे)

4.5 एक फर्म के लिए श्रम पूर्ति वक्र

एक फर्म के लिए श्रम पूर्ति की दर या वक्र इस पर भी निर्भर करता है कि फर्म में मजदूरी की दर क्या है इसके अलावा श्रमिकों की प्रकृति यानी फर्म में विशेष कुशलता के श्रमिक जैसे इन्जीनियर कम्पयूटर योग्यता के श्रमिक डाक्टर या अन्य की या अकुशल श्रमिक की मांग है। फर्म का आकार क्या है फर्म के उत्पादन की प्रकृति क्या है?

इसके अलावा आस-पास के क्षेत्र (रीजन में) मिलने वाले श्रमिकों की मात्रा या श्रमिक गतिशीलता की दर फर्म श्रमिक के साथ किया जाने वाला व्यवहार व श्रमिक प्रतिष्ठान आदि एक फर्म में श्रमिक की पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

4.5.1 फर्म का अल्पकाल व दीर्घकाल में पूर्ति वक्र

एक फर्म का अल्पकाल या दीर्घकाल में श्रमपूर्ति को मजदूरी बढ़ाकर (W बढ़ाकर) बढ़ाया जा सकता है कि यदि फर्म A ने मजदूरी बढ़ाई है तो फर्म B, C, D आदि के श्रमिक फर्म A में आकर श्रम पूर्ति बढ़ायेंगे। अतः फर्म में श्रम पूर्ति के इस परिवर्तन को इस श्रम पूर्ति की लोच कहते हैं जिसको इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है।

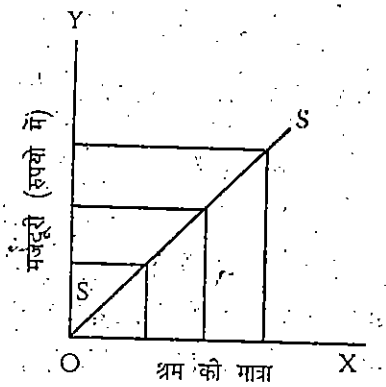

रेखा चित्र 4.3

$$\text{श्रम पूर्ति की लोच} = \frac{\text{श्रम पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन}\ /\ \text{प्रारम्भिक श्रम पूर्ति (\%)}}{\text{मजदूरी में परिवर्तन}\ /\ \text{प्रारम्भिक मजदूरी (\%)}}$$

$$e_s = \frac{\frac{\Delta QL}{QL}}{\frac{\Delta W}{W}} = \frac{\Delta QL}{\Delta W} \cdot \frac{W}{QL}$$

e_s = श्रम पूर्ति की लोच
ΔQL = श्रम पूर्ति में परिवर्तन
QL = प्रारम्भिक श्रमपूर्ति
ΔW = मजदूरी में परिवर्तन
W = प्रारम्भिक मजदूरी

रेखा चित्र 4.3 में हम देखते हैं कि मजदूरी (W) बढ़ने से L (श्रम) पूर्ति बराबर बढ़ रही है यानी श्रमिक फर्म A में आने को तैयार हैं।

4.5.2 उद्योग का श्रम पूर्ति

जैसा कि सर्वविदित है कि एक उद्योग कई फर्मों का समूह होता है जैसे सूती वस्त्र उद्योग उसमें कई सूती वस्त्र की फर्मे होती है। एक उद्योग में श्रम पूर्ति क्षेत्रीय जनसंख्या के आधार पर निर्धारित नहीं होती यहां तक कि कुशल श्रमिकों की पूर्ति को मजदूरी के आधार पर भी बढ़ाना अल्पकाल में सम्भव नहीं होता क्योंकि उस उद्योग के समस्त कुशल श्रमिक कार्यरत रहते हैं। उन्हीं श्रमिकों के कार्य के घण्टे व दिन बढ़ाकर पूर्ति को थोड़ा बढ़ाना ही सम्भव होता है जबकि दीर्घकाल में सब कुछ सम्भव होता है जैसे कि किसी फ्रीज या T.V. बनाने वाली उद्योग श्रमपूर्ति को बढ़ाने में कम सफल होता है जबकि ऐसे विशिष्ट कुशलता के उद्योगों में श्रम पूर्ति उस उद्योग के प्रशिक्षण केन्द्रों पर भी निर्भर करती है जैसे — इंजीनियरिंग कालेज, नर्सिंग कॉलेज, मेडीकल कालेज आदि जबकि ऐसे उद्योग जिनमें अकुशल श्रमिक कार्य कर सकते हैं जिससे पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। इसके अलावा उद्योग में श्रमपूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व निम्न हैं :—

1. जनसंख्या
2. अर्थव्यवस्था का आर्थिक स्तर (विकसित अथवा विकासशील)
3. देश में अप्रवास का उत्प्रवास
4. उद्योग में मजदूरी की दर
5. उद्योग के श्रमिक की प्रशिक्षण लागत व प्रशिक्षण सुविधाएं
6. देश की सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति
7. उद्योग की प्रकृति
8. उद्योग की प्रतिष्ठा उद्योग में श्रमिक की प्रतिष्ठा

जनसंख्या अधिक होने पर प्रत्येक उद्योग में श्रम पूर्ति अधिक होगी। साथ ही यदि अर्थव्यवस्था विकसित है तो अप्रवास अधिक होगा साथ ही उद्योगों में मजदूरी दर ऊंची होगी। देश उद्योग की प्रशिक्षण लागत वहन करने में सक्षम होगा। इसके अलावा अन्य तत्व जैसे — उद्योग की प्रकृति व प्रतिष्ठा भी उद्योग में श्रम पूर्ति को प्रभावित करती है।

4.6 सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में श्रम पूर्ति

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में श्रमपूर्ति मुख्य रूप से देश की जनसंख्या जनसंख्या वृद्धिदर व जनसंख्या की संरचना के द्वारा निर्धारित होती है।

4.6.1 दीर्घकाल में श्रमपूर्ति वक्र का निर्धारण

दीर्घकाल में विकसित अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी सिर्फ ऐच्छिक होती है अनैच्छिक नहीं विकसित अर्थव्यवस्था जागरूकता, पूंजी, या योग्यता या शिक्षा सुविधाओं के अभाव में श्रमिक बेरोजगार नहीं रहता है और श्रमपूर्ति में लगा रहता है। विकसित अर्थव्यवस्था में कुशल श्रमिक अधिक होते हैं क्योंकि विकास के कारण सेवा क्षेत्र में अधिक रोजगार उपलब्ध होते हैं कृषि प्रधान देश में कम प्रतिशत श्रमिक कार्यरत रहते हैं जैसे — 1994 के आधार पर भारत में 65% चीन में 64% जर्मनी में 4% यू.के. 2% यू.एस.ए. 2% विकसित राष्ट्र में 5% से कम कृषि में यानि 95% श्रमिक उद्योग व सेवा क्षेत्र में कार्यरत होते हैं। इसके अलावा आर्थिक व सामाजिक कारण भी अर्थव्यवस्था की श्रमपूर्ति को प्रभावित करते हैं जैसे भारत में महिलाओं से काम न कराने

की प्रथा सामाजिक प्रतिष्ठा में आती है जो श्रम पूर्ति को प्रभावित करती है जो कि एक सामाजिक कारण है। जबकि बाल श्रम एक आर्थिक कारण है आर्थिक व सामाजिक कारण अविकसित अर्थ व्यवस्थाओं में अधिक प्रभावी होते हैं जबकि विकसित अर्थव्यवस्थाओं में सामाजिक व आर्थिक कारण कम प्रभावी होते हैं।

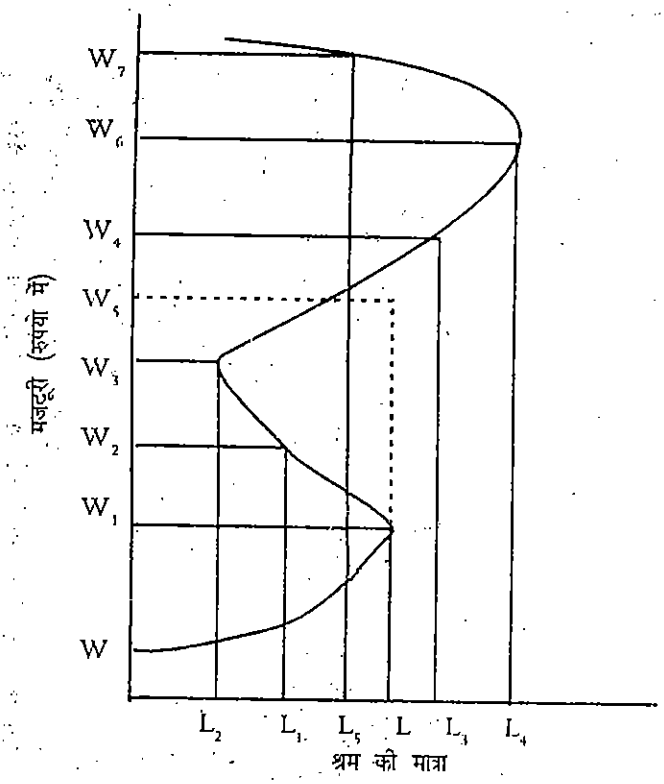

रेखा चित्र 4.4

दीर्घ काल में श्रम पूर्ति वक्र लोचदार होता है क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि करके आज के शिशु को 15-20 साल बाद श्रम पूर्ति में लाया जा सकता है किन्तु विकास के बाद जनसंख्या की वृद्धि दर को भी अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है इसके लिए नागरिक तैयार नहीं होते हैं अतः आप्रवास रोकने के लिए श्रम संघ सरकारों पर दबाव बनाये रहते हैं ताकि श्रम पूर्ति बढ़ाने से मजदूरी कम न हो। फिर भी विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या वृद्धि व आप्रवास द्वारा बहुत कम मात्रा में श्रम पूर्ति को बढ़ाना सम्भव है।

अल्पकाल में श्रमपूर्ति

विकसित अर्थव्यवस्था में सामान्यतया अल्पकालीन श्रमपूर्ति प्रचलित मजदूरी दर के बाद बेलोचदार होता है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रचलित मजदूरी दर से ऊंची मजदूरी करने के बाद भी अर्थव्यवस्था में प्राप्त श्रमिकों की संख्या में किसी प्रकार की भी वृद्धि नहीं की जा सकती है। विकसित अर्थ व्यवस्था में औसत श्रमिकों को काम मिल जाता है जो कि प्रचलित मजदूरी पर कार्य करना चाहते हैं। इन विकसित देशों में अनुसीमान्त श्रमिकों को ही श्रम पूर्ति की तरफ खींचकर श्रमपूर्ति को बढ़ाना सम्भव होता है।

(अनुसीमान्त श्रमिक = महिलाएं, बच्चे, वृद्ध जो कि सामान्यतया कार्य नहीं करते हैं।)

ये अनुसीमान्त श्रमिक सामान्य मजदूरी दर पर कार्य करने को तैयार नहीं होते हैं। अतः

युद्ध काल या अन्य विशेष परिस्थितियों में इन अनुसीमान्त श्रमिकों के श्रम पूर्ति में लाने में अत्यधिक मजदूरी देनी पड़ती है। अन्यथा श्रम पूर्ति को थोड़ा लोचदार बनाना भी सम्भव नहीं होता है।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन करते समय श्रमिक गतिशीलता को 100% प्रभावी मानकर ही उपरोक्त स्थिति देखने को मिलती है किन्तु यदि किसी कारणवश गतिशीलता कम हो तो श्रमपूर्ति कहीं अधिक लोचदार व कहीं कम लोचदार पाई जाती है।

4.6.2 अल्पकाल में श्रम पूर्ति वक्र का निर्धारण

जैसा कि रेखा चित्र 4.4 में स्पष्ट है कि अल्पकाल में भी OW मजदूरी दर तक कोई भी श्रमिक कार्य करने को तैयार नहीं होगा क्योंकि OW से कम मजदूरी में न्यूनतम स्तर पर जीवन यापन सम्भव नहीं होता है अत: श्रमिक OW मजदूरी से कम मजदूरी पर काम करने के स्थानपर आराम पसन्द करेगा व अपनी बचत को खर्च करके जीवन यापन करना पसन्द करेगा। OW मजदूरी आने पर श्रमिक श्रम पूर्ति प्रारंभ हो जायेगी बढ़ने लगेगी। जबकि OW मजदूरी होने पर समस्त श्रमिक (L) कार्य में आने लगेगें किन्तु यदि मजदूरी W_1 से भी बढ़ाई जाय तो उस स्थिति में श्रमपूर्ति कम हो जायेगी या L से घटकर L_1 हो जायेगी क्योंकि उचित जीवन स्तर के बाद आराम को महत्व देने लगेगा किन्तु यदि मजदूरी और बढ़ा दी जाय W_3 कर दी जाय तो श्रमिक और अधिक आराम व कम काम पसन्द करने लगेगा यानि श्रमिक पूर्ति घटकर L_1 से घटकर L_2 हो जायेगी या तो श्रमिक कम घण्टे काम करेंगे या परिवार में 2 के स्थान पर एक कार्य करेगा क्योंकि कम काम मे समान जीवन स्तर बना रहेगा। अगर मजदूरी को W_3 से बढ़ाया जाय या W_4 कर दी जाय तो श्रमिक अधिक उच्च जीवन स्तर व सुख सुविधाओं की तरफ आकर्षित होकर श्रमपूर्ति बढ़ायेगा यानी श्रमिक वापस श्रम पूर्ति बढ़ायेगा W_5 मजदूरी तक को श्रम पूर्ति उसी प्रकार बढ़ेगी कि एक ओर परिवर्तन बराबर मजदूरी बढ़ने से देखने को मिलेगा जो कि W_5 से मजदूरी ऊंची होने पर आयेगा वह है कि मजदूरी W_6 होने पर अनुसीमान्त श्रमिक पूर्ति (बच्चे बूढ़े, महिलाएं) बढ़ेगी जो कि L से भी ज्यादा L_3 है मजदूरी ओर बढ़ने W_6 होने पर समस्त अनुसीमान्त श्रमिक कार्य पर होगा व श्रम पूर्ति L_4 हो जायेगी फिर हम देखते हैं कि मजदूरी और बढ़ाने पर W_7 करने पर हम श्रमपूर्ति को और बढ़ाने में सफल नहीं हो सकेंगे, जबकि W_7 मजदूरी श्रम पूर्ति को घटाकर L_5 पर ले आयेगी क्योंकि और मजदूरी बढ़ने पर उनकी जीवन स्तर ऊंचा ही बना रहेगा व अनुसीमान्त श्रमिक फिर श्रम शक्ति से बाहर हो जायेंगे।

इस प्रकार हम देखते है कि एक विकसित अर्थव्यवस्था में अल्पकाल में मजदूरी बड़ाकर हम श्रम पूर्ति को कुछ सीमा तक बढ़ा सकते हैं।

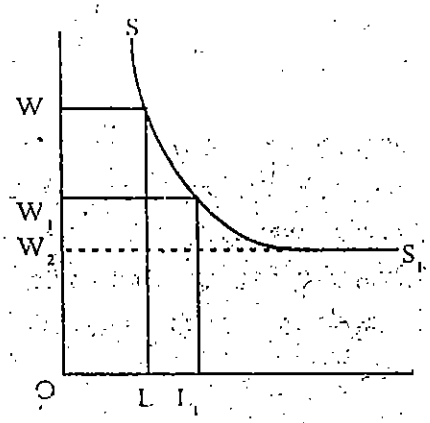

रेखा चित्र 4.5

एक अन्य स्थिति जिस अर्थव्यवस्था में विकास नहीं हुआ हो या पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था में जहां जनसंख्या अधिक होती है वहां श्रम पूर्ति वक्र गिरती हुआ या नीचे की ओर झुकती हुआ होती है। श्रम पूर्ति रेखा (अर्थात् एक नीची कीमत पर ज्यादा श्रमिक पूर्ति जबकि ऊंची कीमत या कम श्रम पूर्ति पाई जाती है) मजदूरियों के बहुत ही नीचे स्तर पर श्रमिकों की एक बड़ी मात्रा में पूर्ति दर्शाती है अथवा श्रमिकों की मांग की कमी (जो उत्पादित वस्तुओं की मांग की कमी) अथवा बेरोजगारी की स्थिति को दिखाती है जैसा कि रेखा चित्र 4.5 में दर्शाया गया है कि पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं में दीर्घकाल अथवा अल्पकाल दोनों में बेरोजगारी की स्थिति दिखती है इन देशों में मजदूरी की कमी के साथ श्रम पूर्ति बढ़ती है जैसे रेखा चित्र 5 में W से मजदूरी W_1 होने पर श्रम पूर्ति बढ़कर L से L_1 हो गई है जबकि W_2 मजदूरी पर श्रमपूर्ति असीमित है या न्यूनतम मजदूरी पर असीमित श्रम पूर्ति है क्योंकि अकुशल श्रमिक इतने ज्यादा बेरोजगार होते हैं कि न्यूनतम मजदूरी पर काम करने को तैयार होते हैं ऊंची मजदूरी पर श्रम की पूर्ति कम होने का कारण अधिक योग्य व कुशल श्रमिकों का अभाव होता है जैसे किसी तकनीकि कार्य के श्रमिक ऊंची प्रशिक्षण लागत के कारण कम पूर्ति होती है जैसा चित्र में ऊंची मजदूरी W पर श्रम पूर्ति OL ही है।

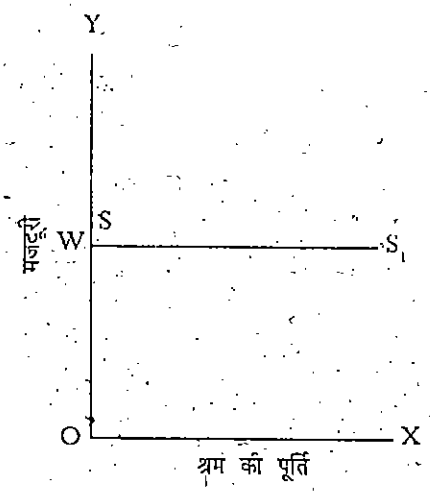

रेखा चित्र 4.6

विकसित व विकासशील या प्रगतिशील अर्थव्यवस्थाओं में श्रम पूर्ति वक्र एक पड़ी हुई रेखा के समान जैसा रेखा चित्र 4.6 में दर्शाया गया है बिल्कुल बेलोचदार पाया जाता है ऐसा सिर्फ विकसित या प्रगतिशील आव्यवस्थाओं में तब होता है जब कि अर्थव्यवस्था में मन्दी व्याप्त होती है किन्तु विकसित व प्रगतिशील अर्थव्यवस्थाओं में यह अति उल्पकाल में ही पाया जाता है जबकि मन्दी के कारण उत्पादित मात्रा का क्रेता बाजार में उपलब्ध न होने के कारण श्रमिक रोजगार से निकाल दिये जाते हैं व बेरोजगारी होने से श्रम पूर्ति बढ़ जाती है। किन्तु पिछड़े देशों में भी यह मन्दी पर निर्भर होता है।

जैसा कि रेखा चित्र 4.6 में OW मजदूरी पर असीमित श्रम पूर्ति है। पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं में बेलोचदार पूर्ति वक्र (अत्यधिक जनसंख्या के कारण बेरोजगार अनिपुण श्रमिक की ज्यादा पूर्ति) पायी जाती है किन्तु पिछड़ी अर्थव्यवस्थाएं जैसे विकास करती है स्थिति रेखा चित्र 4.6 से 4.5 व 4.5 से 4.4 के समान श्रम पूर्ति वक्र विकास होने पर (Backworkd Banding) बाई ओर झुका हुआ हो जाता है किन्तु इस प्रक्रिया से अति दीर्घकाल लगता है।

4.7 श्रम पूर्ति में महिलाएं

श्रम पूर्ति में महिलाओं का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण होता चाहे अर्थव्यवस्था विकसित हो अथवा पिछड़ी हुई क्योंकि कुछ जनसंख्या का करीब 50% भाग महिलाओं का होता है। जबकि पुरुष व महिलाएं एक प्रकार की शिक्षा ग्रहण करे हुए हैं समान रूप से दो आंखें दो हाथ यानी शारीरिक समानता के साथ समान बुद्धि का स्तर (IQ and Aptitude) समान अनुभव समान सामाजिक स्तर समान कार्य के घण्टे होने के बावजूद 60 से 65% ही मजदूरी प्राप्त करती है।

यह भेद हमें बाजारी अर्थव्यवस्थाओं में भी देखने को मिलता है जो महिला श्रम पूर्ति को प्रभावित करता है। अतः यह भेद समाज रूपी संस्था में पुराना समय से चालू है।

अगर हम सामाजिक व आर्थिक रूप से विकसित राष्ट्र अमेरिका में भी लिंग के आधार पर पाये जाने वाले मजदूरी भेद का अध्ययन करे तो पायेंगे कि महिलाओं के साथ वहां भी भेद पाया जाता है जैसा कि तालिका 4.1 में दर्शाया गया है। साथ ही तालिका 4.2 में महिलाओं की पुरुषों की तुलना में वार्षिक आय की दर को दर्शाया गया है। अमेरिका में कॉलेज स्नातक महिला की आय पुरुष हाई स्कूल स्नातक के बराबर पाई जाती है।

तालिका 4.1

अमेरिकन श्रम बाजार में खण्ड विभाजन

व्यवसाय	महिलाओं का %	
(A) ऊंची मजदूरी दर के व्यवसाय	1970	1981
1. इन्जीनियरिंग टेकनीकल	2.9	17.8
2. सेल्स एजेन्ट होलसेल	6.4	17.2
3. स्टाक एण्ड बॉड सेल्स परमन्स	8.6	17.2
4. मेनेजर्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेटर्स	11.6	28.4
(B) नीची मजदूरी दर के व्यवसाय	1970	1981
1. नर्स एण्ड एडेड्स	84.6	84.4
2. हेयर ड्रेसर्स एण्ड ब्यूटीशियन्स	90.4	84.9
3. चाइल्ड केयर वकर्स आउट साइड होना	93.2	86.7
4. स्वेडर्स एण्ड सिटिचस	93.8	96.7
5. प्रोक्टिकल नर्सेज	96.3	97.7

तालिका 4.2

पुरुष व महिलाओं की वार्षिक आय की दर (प्रतिशत में)

(समूह)	(1970 में)	
	पुरुष	महिलाएं
श्वेत	100	49
जापानी अमेरिकन	99	52
चाइनीज अमेरिकन	85	45
भारतीय अमेरिकन	68	42

इसी प्रकार का भेद हमें भारत में भी देखने को मिलता है किन्तु भारत में मजदूरी में अन्तर असंगठित क्षेत्र में (अकुशल श्रमिक) ही पाया जाता है। हमारे देश भारत में संगठित क्षेत्र में लिंग

के आधार पर मजदूरी में अन्तर नहीं पाया जाता है। जैसा कि अमेरिका में संगठित व असंगठित दोनों क्षेत्रों में पाया जाता है।

परम्पराओं के आधार पर भारतीय नारी मिट्टी में काम करने यानी खेत में व हस्तकरघा और घरेलू कार्य से जुड़ी हुई है किन्तु बदलते परिवेश ने उसे फैक्ट्री व घर से बाहर काम के लिए मजबूर किया है। साथ ही महिला अर्द्धकुशल व अकुशल क्षेत्रों में श्रमिक के रूप में कार्य करती है। अधिक सरकारी नीतियों के संरक्षण व शिक्षा व ट्रेनिंग के प्रसार से महिलाएं संगठित क्षेत्र में भी काफी देखने को मिलती है किन्तु फिर भी महिला श्रम शक्ति का बड़ा भाग आज भी असंगठित क्षेत्र में ही पाया जाता है।

भारत में असंगठित क्षेत्र जैसे मकान बनाने का कार्य में कुली व बेलदार की मजदूरी में या घरेलू नौकरों की मजदूरियों में अन्तर देखने को मिलता है। किन्तु समान शिक्षा, अनुभव कार्य क्षमता के बाद संगठित क्षेत्र में मजदूरी में अन्तर भारत में नहीं पाया जाता है जिसका मुख्य कारण भारत मे संविधान 16(1) तथा 16(2) में पुरुषों व महिलाओं को बिना किसी भेद-भाव के रोजगार के सम्बन्ध में बराबर मौका का अधिकार देते हैं और ऐसे ही सार्वजनिक नीति का निर्देशक सिद्धान्त 39(अ) है।

इनमें महिलाओं से रोजगार में लिंग भेद न किया जाए इसकी व्यवस्था है।

4.8 महिलाओं की मजदूरी में अन्तर के कारण

(1) कार्य क्षमता की कमी

सामान्यतया पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का शारीरिक क्षमता कम पाई जाती है इस कारण प्रत्येक कार्य में महिलाएं पूर्णतया सक्षम नहीं होती है। अतः इस कमी के कारण मजदूरी में अन्तर पाया जाता है।

(2) सुरक्षा पर अतिरिक्त व्यय

कुछ ईश्वर प्रदत्त व कुछ सामाजिक कारणों से महिलाएं समाज में सुरक्षित नहीं पाई जाती हैं। उन्हें रात्रि में अतिरिक्त सुरक्षा की आवश्यकता होती है। अतः सेवायोजकों की लागत बढ़ जाती है इस कारण से मजदूरी में भेद पाया जाता है।

(3) प्रसूति लाभ व शिशु सदन का कानूनी दायित्व

विशेष कर प्रसूति लाभ व शिशु सदन से सम्बन्धित कानूनीं व्यवस्थाओ के कारण भी सेवायोजक की लागत बढ़ जाती है। प्रसूति काल में उत्पादक को उत्पादन भी प्राप्त नहीं होता साथ ही दूसरे श्रमिक को रखकर उत्पादन पर दुगना व्यय होता है। शिशु छोटा होने पर माता के कार्य के बीच में दूध पिलाना आदि अवकाश के कारण उत्पादकता कम देती है।

(4) स्थायित्व का अभाव या अनुपस्थिति दर का ऊंचा होना

सामान्यतया महिला श्रम में स्थायित्व का अभाव है क्योंकि प्रसूति काल व बच्चों के पालन पोषण के साथ ही महिला शादी होने से स्थान परिवर्तन के कारण व्यवसाय छोड़कर चली जाती है और पति के स्थानान्तरण के साथ महिलाएं भी अपने व्यवसाय को या तो छोड़कर चली जाती है या उनकी उपस्थिति कम हो जाती है तथा वे ज्यादा समय अवकाश पर रहती है जो कि सेवायोजन के लिए समस्या बन जाता है।

(5) आय का प्रमुख साधन नही

स्त्रियां सामान्यतया अपनी नौकरी से अपनी पारिवारिक आमदनी में कुछ थोड़ी सी वृद्धि

कर लेने अथवा अपना शौक पूरा करने का साधन मानती है। अतः उन्हें कितनी मजदूरी मिल रही है, के प्रति ज्यादा चिन्तित नहीं होती है।

(6) श्रम संघों का व्यवहार

वास्तव में श्रम संगठनों में महिला श्रमिक सदस्य 15-20% पाये जाते हैं। अतः श्रम संगठन उनकी समस्याओं पर विशेष ध्यान नहीं देते है।

4.9 भारत में महिला श्रम का मुख्य कार्यक्षेत्र

देश में महिला श्रम के मुख्य कार्य क्षेत्र निम्न है :-

(1) कारखाना उद्योग

कारखाना उद्योग में महिलाएं अधिकतर खाद्यान्न, काटन, जिंग प्रेसिंग, तम्बाखू, बीड़ी, अलोह धातु, कागज, रासायनिक पदार्थ, लकड़ी, सूती, रेशमी, ऊनी, जूट टेक्सटाइल, धान, दाल मिल आदि में कार्यरत है।

(2) बागानों में महिला श्रम

बागानों में महिला श्रमिकों को काफी मात्रा में रोजगार प्राप्त है। चाय, काफी, रबर बागानों में अधिकतर महिलाएं कार्यरत है। क्योंकि चाय की पत्तियां तोड़ने का कार्य पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं के कोमल हाथ सुगमता व शीघ्रता से करते हैं।

(3) बीड़ी उद्योग में महिला श्रम

बीड़ी उद्योग मुख्यतया मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल में है किन्तु अन्य राज्यों में भी पाये जाते हैं। यह मौसमी उद्योग है जब महिलाएं खेती के कार्य से निवृत या मुक्त होती हैं उस समय वे बीड़ी उद्योग में कार्य करती हैं।

(4) चावल हुल्ल मिलों में महिला श्रम

भारत में ज्यादातर बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु अन्य राज्यों में जहां चावल ज्यादा पैदा होता है अथवा दालों का उत्पादन ज्यादा होता है मुख्यतया महिला श्रमिक इन उद्योगों में कार्यरत पाई जाती है।

(5) खेती व फलों के बागों में महिलाएं

पूरे भारत वर्ष में महिलाएं सारे साल कार्य करती है। बुवाई से कटाई तक महिलाएं कार्य करती है। साथ ही फलों के बागों में फलों को तोड़ने, पैक करने में भी महिला श्रम कार्यरत रहता हैं।

मुख्यतया इन उद्योगों के अलावा करीब प्रत्येक संगठित व असंगठित क्षेत्र में भारत में महिलाएं श्रम में संलग्न है। 1991 में जनगणना के आधार पर महिला जनसंख्या की 22.69 महिलाएं श्रमिक रूप में रजिस्टर्ड पाई गई जो कि 91.4 मिलियन है।

जो कुल महिला जनसंख्या 402.8 मिलियन (जम्मू कश्मीर छोड़कर) है। ज्यादातर महिला श्रमिक ग्रामीण है जो कि 87% करीब कृषि क्षेत्र में किसान व खेतिहर मजदूर के रूप में कार्यरत है।

शहरी क्षेत्र की महिलाओं ये करीब 80% महिलाएं दूसरे क्षेत्रों में लगी हुई है जो कि असंगठित क्षेत्र हैं। जैसे घरेलू बिल्डिंग कन्सट्रेक्शन इत्यादि। पूर्ण श्रमिकों में कुल महिला श्रमिक 64.27 मिलियन है (जो कि 72% के आसपास है) पूर्ण महिला-श्रमिकों का विभाजन नीचे दिया गया है

जैसा कि तालिका 4.3 से स्पष्ट है कि 80% के लगभग महिलाएं कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं बाकी 20% अन्य स्थानों पर कार्य करती हैं।

तालिका - 4.3

भारत में पूर्ण महिला श्रमिकों का विभाजन

महिला श्रमिक		मिलियन में	पूर्ण श्रमिक % में
(1)	कृषक	22.22	34.57
(2)	खेतिहर मजदूर	28.43	44.57
(3)	पशु पालन, वन, मछलीपालन	1.32	2.05
(4)	खानों में खनन में	0.21	0.32
(5)	घरेलू कार्य	2.25	3.50
(6)	अन्य उद्योग	2.45	3.81
(7)	स्ट्रेक्शन कार्य	0.42	0.65
(8)	व्यापार व वाणिज्य	1.43	2.22
(9)	यातायात, भण्डारण, संचार	0.20	0.31
(10)	अन्य नोकरियां	5.31	8.26
	कुल पूर्ण श्रमिक (महिलाएं)	64.27	

जैसा कि तालिका 4.4 से स्पष्ट होता है कि 1971 में कुल महिलाएं जो कार्यरत श्रमिक थी उनकी स्थिति में 1991 तक देखने में हमें कुछ सुधार दिखता जो कि अभी भी बहुत बहुत कम है जिस सुधरने की आवश्यकता है।

तालिका 4.4

भारत में श्रम मे महिला भागीदारी की दर प्रतिशत में

वर्ष	प्रकार	व्यक्ति	पुरुष	महिलाएं
1971	कुल	34.17	52.75	14.22
	ग्रामीण	35.33	53.78	15.92
	शहरी	29.61	48.88	7.18
1981	कुल	36.70	52.62	19.67
	ग्रामीण	38.79	53.77	23.06
	शहरी	29.99	49.06	8.31
1991	कुल	37.68	51.56	27.73
	ग्रामीण	40.24	52.50	27.20
	शहरी	30.44	48.95	9.74

4.10 महिला श्रम व कार्य के घण्टे

समय-समय पर कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत सर्वप्रथम 1991 के कारखाना अधिनियम द्वारा स्त्रियों के कार्य करने के घण्टे 11 निर्धारित किये गये जिसमें 1.5 घण्टा बीच में विश्राम रखा गया। इसमें स्त्रियों के लिए रात्रि का कार्य निषिद्ध किया गया। नवम्बर 1945 में सातवें श्रम सम्मेलन में 48 घण्टे प्रति सप्ताह के सिद्धान्त की सिफारिश की गई और उसके परिणाम स्वरूप 1946 में एक संशोधन करके एक अधिनियम पारित किया गया। तब से निरन्तर चालू कारखानों में कार्य के घण्टे घटाकर अधिकतम प्रतिदिन सप्ताह 48 अथवा प्रति दिन 9 और मौसमी कारखाने में प्रति सप्ताह 54 अथवा प्रतिदिन 10 कर दिये। अतः कारखाना अधिनियम कार्य के घण्टे प्रति सप्ताह 48 रखे व 1 घण्टे का रोज 6 दिन तक अवकाश का प्रावधान रखा। जबकि 7 दिन में एक दिन अवकाश का भी प्रावधान रखा गया जो कि महिलाओं के लिए भी पुरुषों के समान वेतन समान कार्य के सिद्धान्त पर आधारित माना गया।

जिसमें विशेष उद्योगों में या व्यवसायों में काम के घण्टे अलग (कम) हो सकते हैं किन्तु 48 घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक नहीं। अतः उनमें लिंग के आधार को भेद-भाव नहीं होगा ऐसा प्रावधान रखा गया।

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कार्यशील एवं अकार्यशील जनसंख्या में भेद स्पष्ट कीजिये।
2. पूर्ण श्रमिक, सीमान्त श्रमिक व अनुसीमान्त श्रमिक क्या होते हैं? स्पष्ट करिये।
3. श्रम पूर्ति वक्र का एक बिन्दु के पश्चात् बाई ओर क्यों झुकता है?
4. श्रम पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व बताइये।
5. पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं में पूर्ति वक्र कम मजदूरी पर बेलोचदार व ऊंची मजदूरी पर कम श्रम पूर्ति क्यों दर्शाता है?
6. महिलाओं की मजदूरी में अन्तर के कारण बताइये।
7. महिला श्रम के कार्यक्षेत्र बताइये।

4.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नाथूरामका, लक्ष्मी नारायण, भारतीय अर्थव्यवस्था, कालेज बुक हाउस, जयपुर

Samuelson, P.A. and W. Nordhaus! *Economics*

Mc Graw Hill Book Company, 1985

भगोलीवाल टी.एन, *श्रम अर्थशास्त्र एवं औद्योगिक संबंध*, साहित्य भवन, आगरा, 1985

इकाई 5

श्रम की मांग एवं श्रम की मांग के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 श्रम की मांग

5.2.1 श्रम की अल्पकालीन मांग

5.2.2 एक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था या उद्योग के लिए श्रम की मांग

5.2.3 दीर्घ काल में श्रम की मांग

5.3 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत संतुलन स्तर पर मजदूरी एंव रोजगार

5.4 अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में संतुलन

5.5 न्यूनतम मजदूरी

5.6 निबन्धात्मक प्रश्न

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उन दशाओं से अवगत कराना है जो श्रम की मांग को प्रभावित करती है। श्रम की मांग एक व्युत्पन्न मांग है। इस इकाई में आपको बाजार की विभिन्न दशाओं के अन्तर्गत मजदूरी एवं रोजगार के निर्धारण से अवगत कराया जाएगा।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में विभिन्न प्रतियोगिता दशाओं में मजदूरी एवं रोजगार स्तर का निर्धारण का रेखाचित्रों के माध्यम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई में लेखक की मान्यता है कि इन रेखा चित्रों के निर्माण के लिए आवश्यक ज्ञान आप अब तक प्राप्त कर चुके हैं।

5.2 श्रम की मांग

श्रम की मांग प्रत्यक्ष मांग नहीं है वरण यह परोक्ष मांग है। वस्तुओं के उत्पादन के कारण इसकी मांग हो जाती है अत: इस का मूल्य उस वस्तु के मूल्य पर निर्भर करता है जिसका इसके द्वारा उत्पादन किया जाता है। इस प्रकार मजदूरी श्रम की उत्पादकता के बराबर होने की प्रवृति रखती है। उत्पादक श्रम को उसकी उत्पादकता के बराबर मजदूरी चुकाता है अर्थात् श्रम की उत्पादकता वह है जो वह उत्पादन करता है तथा उत्पादन के लिए प्रचलित मजदूरी है। यह किसी व्यवसाय विशेष का उदाहरण नहीं है वरण सभी उद्योगों के लिए है। अर्थात श्रम को प्रत्येक स्थान पर उसकी उत्पादकता के बराबर मजदूरी चुकाई जाती है।

श्रम की मांग की प्रकृति नीति निर्धारण से सम्बन्धित है। सरकार की नीति प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से श्रम बाजार को प्रभावित करती है। मोंद्रिक व राजकोषीय नीति या अप्रत्यक्ष रूप से श्रम की मांग को प्रभावित करती है। सरकार की शर्तों व स्तर का सरकार की नीति न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। इस प्रकार के अधिनियमों द्वारा सरकार श्रम बाजार को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। यह श्रम को कम मजदूरी स्वीकार करने व नियोक्ता को कम मजदूरी देने से रोकती है।

इस विषय पर विवाद इसलिए आरम्भ होता है कि श्रम की मांग का वक्र ऋणात्मक ढाल वाला होता है। यदि अधिनियम द्वारा न्यूनतम मजदूरी को बढ़ाया जाता है तो कुछ व्यक्तियों को रोजगार से हटाना पड़ता है। जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है :—

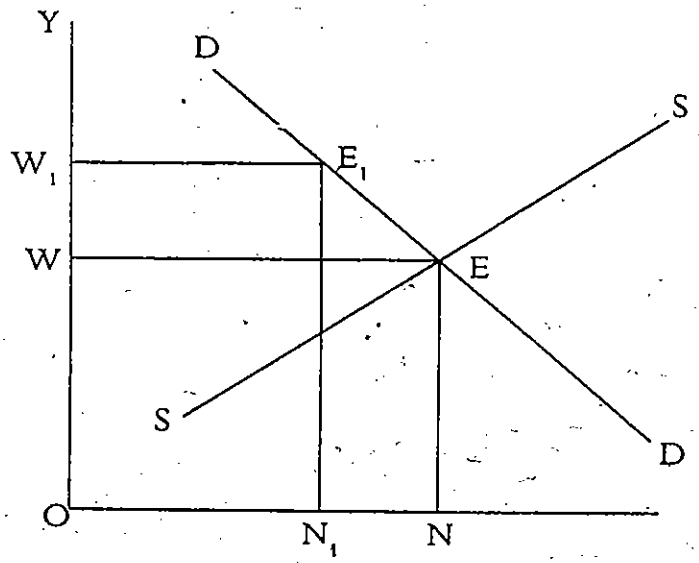

रेखाचित्र — 5.1

श्रम की मांग विश्लेषण करने में निम्नलिखित मान्यताएं हैं।

1. श्रम की मांग की सभी इकाइयां समरूप है।
2. समान मजदूरी दी जाती है।
3. नकद भुगतान किया जाता है।
4. अर्थव्यवस्था एक बन्द अर्थव्यवस्था है जहाँ श्रम आप्रावास व उत्प्रवास वर्जित है।

रेखा चित्र 5.1 में W बाजार में प्रचलित मजदूरी दर है। सरकार यदि न्यूनतम मजदूरी दर बढ़ाकर W_1 कर दे तो रोजगार N से घटकर N_1 स्तर पर आ जाता है।

5.2.1 श्रम के अल्पकालीन मांग

श्रम की मांग की सिद्धान्त सामान्य रूप में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है जिसे एक फर्म के प्रारूप के रूप में दर्शाया जा सकता है। एक फर्म जो दो साधन श्रम व पूंजी की उपयोग करती है इन दो साधनों के विभिन्न संयोगों से विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन किया जा सकता है। वास्तविक उपयोग इन दो साधनों की प्रचुरता की सीमितता पर निर्भर करता है के एक फर्म किस प्रकार अधिकतम उत्पादन करती है।

अल्पकाल का अभिप्राय उस अवधि से है जिसमें एक उत्पादक अपने स्थिर साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता कन्तु वह परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में परिवर्तन कर सकता है जैसे श्रम की मात्रा एवं उत्पादन सामग्री आदि। इस प्रकार के प्रारूप में स्थिर साधनों के साथ श्रम की मात्रा में वृद्धि की जाती है तो उत्पादन तो बढ़ता है किन्तु यह घटी हुई दर पर बढ़ता है। ह्रासमान प्रतिफल के नियम को जीवन के कई पहलुओं में देखा जा सकता है किन्तु इसे उत्पादन प्रक्रिया से सरलता से देखा जा सकता है।

एक सरलतम उदाहरण के रूप में इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है माना कि एक व्यक्ति एक बड़ी शावल (गड्ढा खोदने का औजार) से एक दिन में 100 फीट गड्ढा खोद सकता है। दो व्यक्ति मध्यम श्रेणी की शवल से 150 फीट गड्ढा खोद सकते हैं। तीन व्यक्ति छोटी शावल से 180 फीट गड्ढा खोद सकते है। एवं चार व्यक्ति उससे भी छोटी शाबल से 400 फीट गड्ढा खोद सकते है एवं इसी तरह शावल का आकार छोटा करते हुए व व्यक्तियों की संख्या बढ़ाते हुए। इस उदाहरण में स्थिर पूंजी अपरिवर्तनीय रहती है और अधिक श्रमिक लगाने पर प्रति श्रमिक स्थिर पूंजी घटती जाती है। इस प्रकार औसत उत्पादन घटता जाता है एक श्रमिक पर 100 इकाईया दो श्रमिक पर 75 इकाईयों, तीन श्रमिक पर 60 इकाईया चार श्रमिक पर 50 ईकाइयाँ।

$$\text{औसत उत्पादन} = \frac{\text{कुल उत्पादन}}{\text{श्रमिकों की संख्या}}$$

सीमांत उत्पादन वह है जो एक अतिरिक्त श्रमिक की इकाईयों को उत्पादन कार्य में लगाने पर कुल उत्पादन में वृद्धि होती है। जैसे प्रथम श्रमिक की सीमांत उत्पादन 100 इकाइयाँ है। द्वितीय श्रमिक की 50 इकाईयां, तृतीय श्रमिक की 30 इकाइयां, चतुर्थ श्रमिक का 20 इकाइयां आदि। कुल उत्पादन औसत उत्पादन व सीमांत उत्पादन को रेखाचित्र 5.2 एवं 5.3 द्वारा दर्शाया गया है।

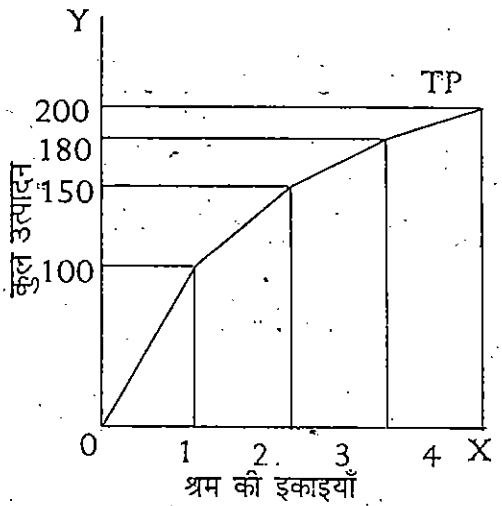

रेखा चित्र 5.2

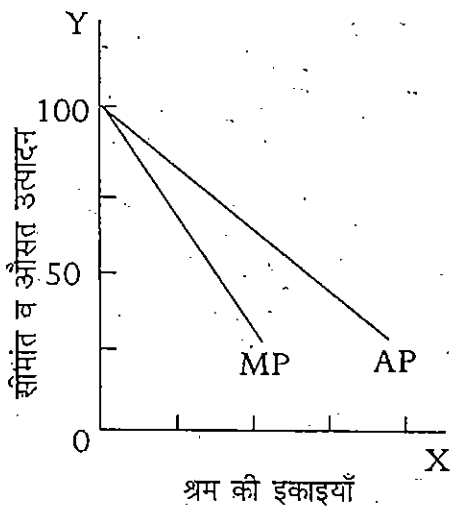

रेखा चित्र 5.3

तीनों उत्पादन वक्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुल उत्पादन वक्र में निहित होता है कि औसत उत्पादन व सीमांत उत्पादन वक्र की किस प्रकार निरूपण किया जाय। एक अभिकतम लाभ कमाने वाला उत्पादक यह सोचेगा कि एक श्रमिक को लगाने से उसे जो अतिरिक्त आय प्राप्त होगी वह उस श्रमिक को चुकाई जाने वाली मजदूरी से अधिक है या नहीं यदि अधिक है तो वह अतिरिक्त

श्रमिक लगायेगा अन्यथा नहीं। सीमांत उत्पादकता सारणी से उत्पादक को यह ज्ञात होता है कि एक अतिरिक्त श्रमिक को कार्य पर लगाने से कितना उत्पादन प्राप्त होगा। किन्तु इससे उत्पादन का मूल्य ज्ञात नहीं होता है। उत्पादन का मूल्य ज्ञात करने के लिए उत्पादन व उत्पादन मूल्य को गुणा करके कुल मूल्य को ज्ञात किया जा सकता है।

संक्षेप में सीमांत आय उत्पाद सारणी ही श्रम की मांग सारणी होती है। चूंकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई एक फर्म बाजार में प्रचलित मजदूरी दर को प्रभावित नहीं कर सकती, प्रत्येक फर्म को यह निर्णय लेना होता है कि उसे प्रचलित मजदूरी दर पर कितने श्रमिकों को कार्य पर लगाना है। उत्पादक अपने उत्पादन में श्रमिकों की संख्या तब तक बढ़ता चला जायगा जब तक कि सीमांत आय उत्पाद मजदूरी के बराबर न हो जाय।

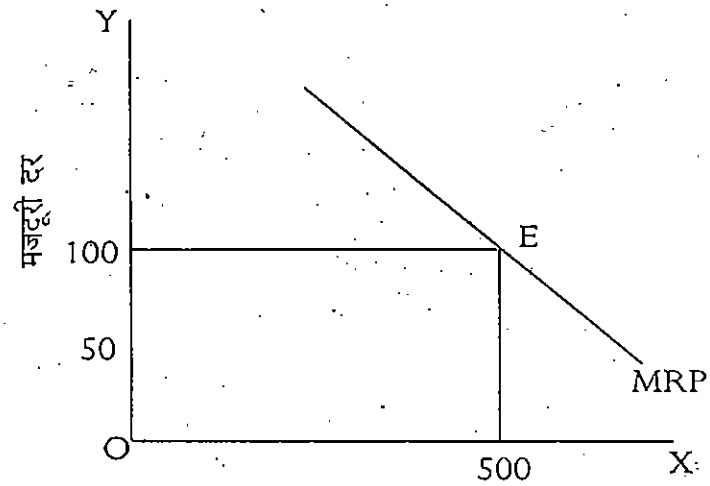

रेखाचित्र – 5.4

यह सत्य है कि यदि उत्पादक E बिन्दु से कम श्रमिकों को अपने उत्पादन कार्य पर लगाता है तो वह लाभकारी स्थिति से वंचित रहेगा क्योंकि वह उन श्रमिकों को कार्य पर नहीं लगा रहा है जिनका उत्पादन मूल्य उनकी मजदूरी से अधिक है। जबकि E बिन्दु के बाद भी श्रमिकों को लगाता है तो उनका उत्पादन मूल्य उनकी मजदूरी से कम है। अतः वह हानि की स्थिति में रहेगा। इस प्रकार प्रचलित मजदूरी दर पर श्रमिक की सीमांत आय उत्पाद उसकी मजदूरी के बराबर रहेगा। प्रतियोगी बाजार में किसी भी फर्म का इतना अधिक उत्पादन नहीं है कि वह उत्पादन मूल्य को प्रभावित कर सकें। अतः वस्तु का मूल्य स्थिर रहता है। सीमांत भौतिक उत्पाद का ऋणात्मक ढाल यह दर्शाता है कि श्रम की मांग वक्र भी ऋणात्मक है। श्रम के मांग वक्र में उत्पादन तकनीकी व अन्य कई कारणों से परिवर्तन हो सकता है।

5.2.2 एक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का उद्योग के लिए श्रम की मांग

एक उद्योग के लिए श्रम की मांग प्रत्येक फर्म की श्रम की मांग अनुसूची का योग है। उनकी विशेषताएं की पूर्ववत ही रहती है। जैसे श्रम के मांग वक्र का ऋणात्मक ढाल। किन्तु कुछ तथ्य जिन्हें फर्म के स्तर पर नगण्य मान लिया जाता है। उद्योग के स्तर पर महत्वपूर्ण होते है। जैसे एक फर्म के स्तर पर उत्पाद की कीमत में परिवर्तन से रोजगार या उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु यदि उद्योग की सभी फर्में श्रमिकों की संख्या में वृद्धि कर दें तो उत्पादन बढेगा और उत्पादन को बेचने के लिए इसकी कीमत में कमी करनी पड़ेगी। इस प्रकार श्रम की मांग वक्र सीमांत आगम वक्र नहीं हो सकता जैसे कि स्थिर कीमतों की मान्यता के साथ माना गया

था। रोजगार बढ़ने के साथ कीमत में कमी होगी और सीमांत आगम वक्र बांयीं ओर विवर्तित होगा जैसा कि रेखा चित्र 5.5 में स्पष्ट है।

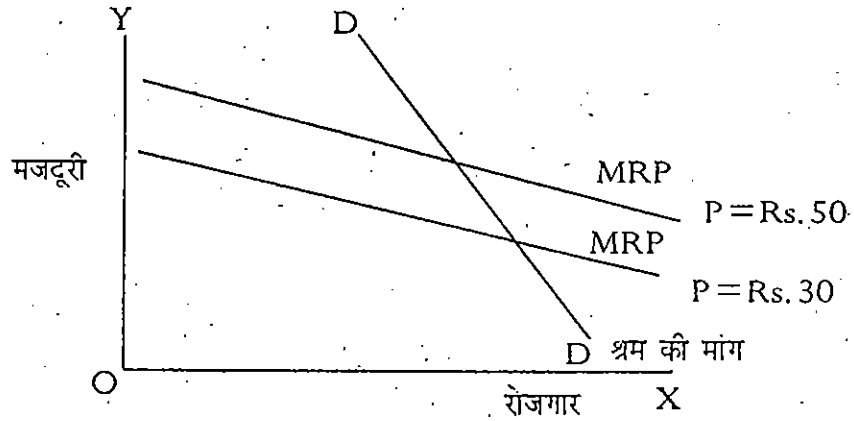

रेखा चित्र 5.5

इस प्रकार सीमांत उत्पाद वक्र में नीचे की और विवर्तन की परिणाम यह होगा कि उत्पादक श्रम को कम मजदूरी देना चाहेंगे जबकि श्रम संघ इन्के मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि की मांग करेंगे जबकि मजदूरी में वृद्धि मजदूरों की संख्या में कमी कर देगी। श्रम के मांग वक्र की ढाल दर्शाता है कि यदि ढाल कम होगा तो मजदूरी में वृद्धि से अधिक श्रमिकों को रोजगार से वंचित होना पड़ेगा जबकि ढाल अधिक होने पर श्रमिकों की संख्या में अपेक्षाकृत कमी कम होगी।

5.2.3 दीर्घकाल में श्रम की मांग

दीर्घकाल वह काल है जिसमें संसाधनों की उचित रूप से आवटंन किया जा सकता है एवं पूंजी को भौतिक संयत्रों के रूप में बदला जा सकता है।

दीर्घकाल में मजदूरी में परिवर्तन के अनुरूप एक फर्म अपने व्यवहार में परिवर्तन कर सकती है। दीर्घकाल में मजदूरी बढ़ने के साथ ही फर्म श्रम का पूंजी से प्रतिस्थापन भी कर सकती है। किन्तु जितना उत्पादन किया जाना है और मजदूरी में वृद्धि की जाती है तो रोजगार में कमी होगी। सामान्य रूप में अल्पकाल कि तुलना में दीर्घकाल में श्रम के माग वक्र की ढाल कम होगा। इसे रेखाचित्र 5.6 में दर्शाया गया है।

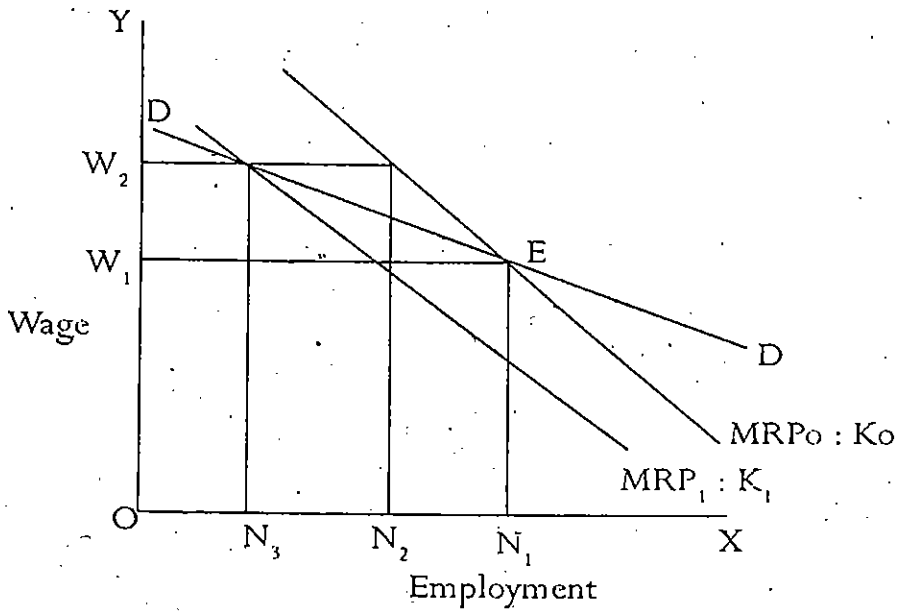

रेखाचित्र – 5.6

मानाकि आरंभ में E बिन्दु पर W_1 मजदूरी पर है और N_1 रोजगार का स्तर हैं और उत्पादक Ko पूंजी की मात्रा की उपयोग कर रहा है और सीमांत आय उत्पाद वक्र MRPo है अब मजदूरी दर में वृद्धि होती है और यह W_2 है तो उत्पादक रोजगार में कमी करेगा और उल्पकालीन मांगवक्र की दृष्टि से वह N_2 स्तर रखेगा किन्तु वह पुनः देखता है कि यह अनुकुलतम स्तर नहीं है और वह पूंजी की मात्रा में कमी करेगा और पूंजी की स्तर K_1 रखेगा अब पूंजी में कमी होने से श्रम की उत्पादकता में कमी होगी जिससे श्रम में और कमी करनी पड़ेगी इस प्रकार रोजगार की स्तर N_3 होगा। अतः दीर्घकाल में पूंजी व श्रम दोनों में परिवर्तन किया जा सकता है।

5.3 पूर्ण पूतियोगिता के अन्तर्गत संतुलन स्तर पर मजदूरी एवं रोजगार

श्रम बाजार में एक नियोक्ता के लिए श्रम का पूर्तिवक्र पूर्णतया लोचदार होता है। और नियोक्ता जितने चाहे उतने श्रमिकों को प्रचलित मजदूरी दर पर नियुक्त कर सकता है उसे मजदूरी में कोई वृद्धि या कमी करने की आवश्यकता नहीं होती है। पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचदार होता है जैसा कि रेखाचित्र 5.6 में स्पष्ट है।

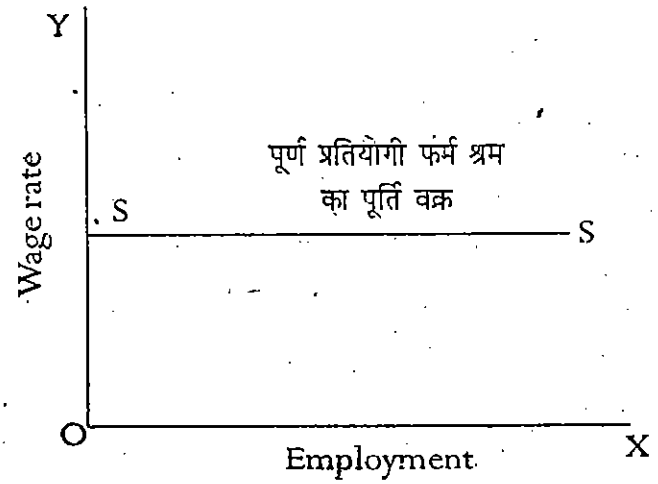

रेखाचित्र – 5.7

एक पूर्ण प्रतियोगी बाजार में श्रम की मांग व पूर्ति वक्र का विश्लेषण रेखाचित्र 5.8 द्वारा दर्शाया जा सकता है। श्रम की पूर्ति वक्र एक फर्म के सम्बन्ध में वही होता है जो उसकी सीमांत उत्पाद वक्र अल्पकाल में होता है। मांग व पूर्ति वक्र के संतुलन बिन्दु P पर मजदूरी दर व रोजगार स्तर भी संतुलन की स्थिति में है।

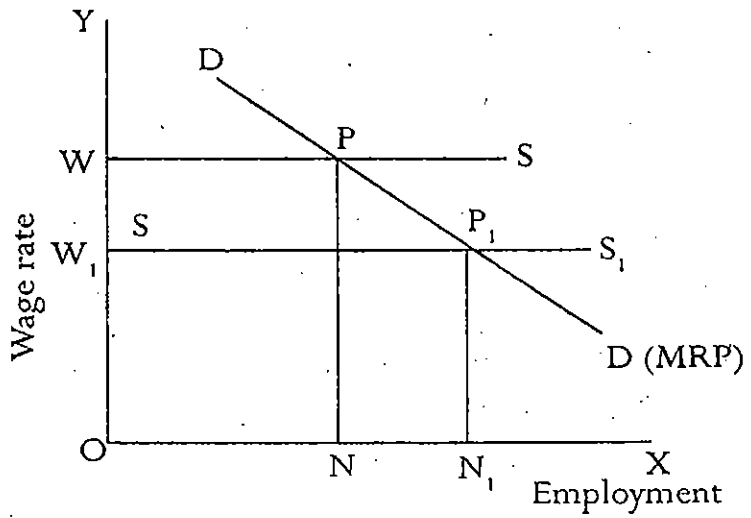

रेखाचित्र – 5.8

P बिन्दु एक स्थिर संतुलन है जिससे कम व अधिक मजदूरों को रोजगार पर नहीं लगाया जायगा। यदि अधिक मजदूरों को काम पर लगाया ज़ायगा तो मजदूरी दर कम हो जायगी या श्रमपूर्ति के वृद्धि होती है तव भी मजदूरी दर में कमी होगी जैसे S_1 पूर्तिवक्र होने पर मजदूरी W_1 हो जाती है और रोजगार का स्तर N_1 हो जाता है।

5.4 अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में संतुलन

एक पूर्ण प्रतियोगी बाजार में सीमांत भौतिक उत्पाद को वस्तु की कीमत से गुण करके सीमांत आय उत्पाद ज्ञात करना आसान है किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमांत आय उत्पाद ज्ञात करना जटिल है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में एक अतिरिक्त इकाई को कवल कीमत में कमी करके ही बेचा जा सकता है।

रेखाचित्र 5.9 में A से D तक बाजार की विभिन्न अवस्थाओं में श्रम की मात्रा में विश्लेषण किया गया है।

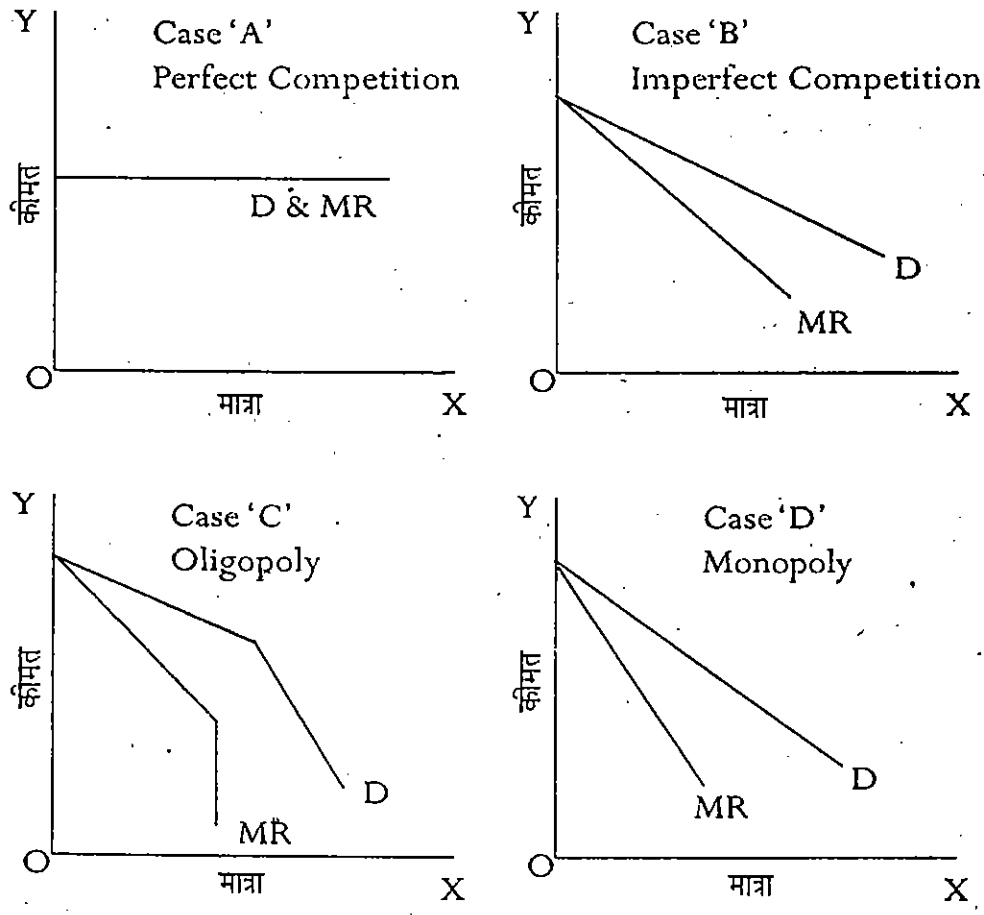

Product Market

रेखाचित्र – 5.9

चित्र 5.9 A में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत श्रम की मांग 5-9 लोचदार है इस स्थिति में श्रम की सीमांत भौतिक उत्पादकता को वस्तु की कीमत से गुणा करके श्रम की सीमांत आय उत्पाद ज्ञात किया जा सकता है। 5.9 B में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की स्थिति है जिसमें उत्पादक वस्तुओं में थोड़ी सी भिन्नता करके विक्रय करते है। इसमें सीमांत आय उत्पाद में बहुत तीव्र गति से कमी होती है। चित्र 5.9 C में एक अल्पाधिकार की स्थिति का वर्णन है। जहां मांग

वक्र मुड़ा हुआ (Kinked) होता है। चित्र 5.9 D में एक एकाधिकारी का वर्णन हैं इसमें श्रम की मांगवक्र कम लोचदार होता है।

उपर्युक्त चारों स्थितियों में श्रम की मांग वक्र आर्थिक रूप में सीमांत भौतिक उत्पादकता पर एक आर्थिक रूप में बाजार की स्थितियों एवं वस्तु की मांग की लोच द्वारा निर्धारित होता है।

आधुनिक बड़े उद्योगों में अल्पाधिकार अधिकतर दृष्टिगोचर होता है जैसे वाहन, तम्बाकू, रबर टायर, इलेक्ट्रोनिक्स आदि। इन उद्योगों में वस्तु का मांग वक्र विंकुचित होता है।

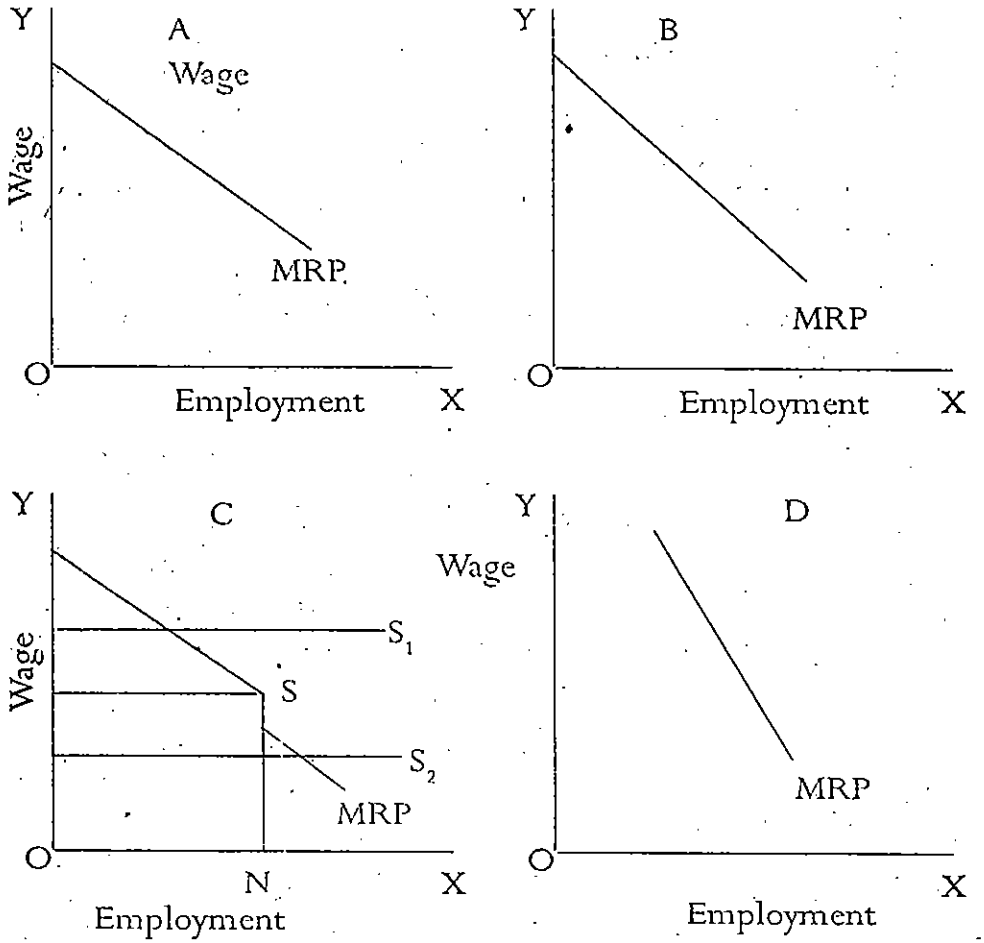

रेखाचित्र — 5.10

उपर्युक्त चित्र 5.10 C में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में श्रम बाजार में पूर्ति वक्र एक पड़ी हुई रेखा के रूप में है। यदि पूर्ति वक्र S है तो MRP रेखा के टूटे हुए भाग को काटते हुए है और रोजगार का स्तर ON होगा। यदि पूर्ति वक्र में कमी का वृद्धि होती है किन्तु यह फिर भी MRP के टुटे हुए हिस्से से गुजरता है तो रोजगार के स्तर में कमी वृद्धि नहीं होगी किन्तु लाभ में कमी का वृद्धि हो सकती है। यदि पूर्ति वक्र S_1 हो जाय तो फर्म को रोजगार के कमी द्वारा अधिक लाभ होगा किन्तु पूर्तिवक्र S_2 होने पर रोजगार में वृद्धि किन्तु कीमत में कमी होगी। अल्पधिकार में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अल्पकाल में मजदूरी दर में परिवर्तन होने के बावजूद भी रोजगार स्तर में परिवर्तन आवश्यक नहीं होता है।

यदि कोई फर्म जो श्रमिकों को रोजगार प्रदान करती है वह इतनी अधिक बड़ी है कि स्थानीय बाजार पर अपना महत्वपूर्ण अधिकार रखती है तो उसकी स्थिति एक क्रेताधिकार की होगी एक

अर्थशास्त्री के रूप में यह कहना पर्याप्त होगा कि इस फर्म को अपनी स्थिति के अनुसार मजदूरी में कमी या वृद्धि के दूरगामी प्रभावों का ज्ञान होता है एवं यह प्रतियोगी बाजार की अपेक्षा इस स्थिति में विभिन्न वैकल्पिक निर्णयों के प्रभावों के बारे में सजग रहती है।

रेखाचित्र 5.11 में एक स्थानीय बाजार में बड़ी नियोक्ता फर्म रोजगार में 5 या 10 प्रतिशत विस्तार करती है जिसके मजदूरी में वृद्धि होती है। ऊपर की ओर धनात्मक ढाल वाला पूर्ति वक्र यह दर्शाता है कि यह अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति है जिसमें मजदूरी दर पर एक फर्म का महत्वपूर्ण प्रभाव हैं। पूर्ति वक्र में ऊपर की ओर विवर्तित होने का अभिप्राय यह होगा कि रोजगार के स्तर में वृद्धि होगी। यह वृद्धि उसी क्षेत्र के अन्य उद्योगों से श्रमिकों के वहां आने पर होगी या अन्य क्षेत्रों से वहां श्रमिक आयेगें अथवा कम उत्पादकता वाले श्रमिकों को रोजगार में लगाना पड़ेगा। यदि दूसरी स्थिति होती है तो मजदूरी का स्तर पूर्ववत बने रहने के बावजूद भी प्रति मजदूर मजदूरी लागत में वृद्धि होगी।

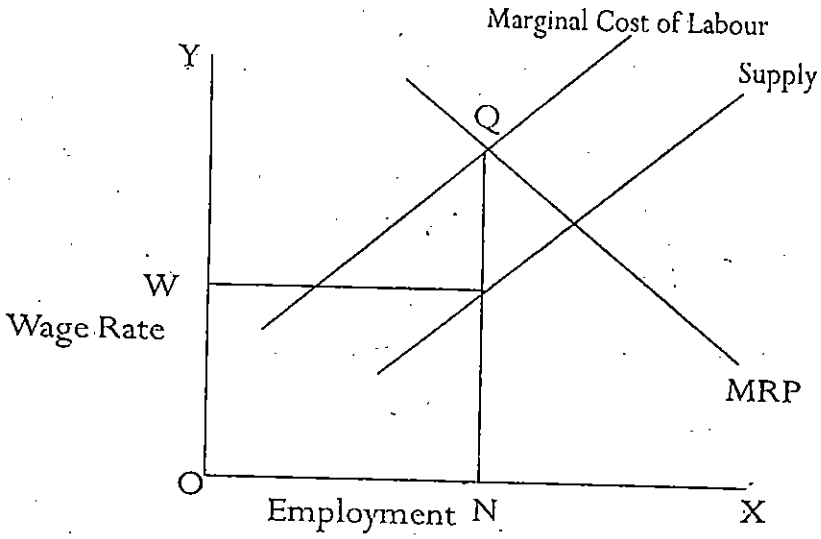

रेखाचित्र — 11

यदि नियोक्ता को यह ज्ञात है कि श्रम पूर्ति वक्र धनात्मक ढाल वाला है तो वे प्रतियोगी स्तर से कम रोजगार के स्तर पर रोक लगायेंगे ताकि उन्हें अधिकतम आय प्राप्त हो सके। एक विवेकशील नियोक्ता ऐसा करने का प्रयास करेगा क्योंकि उसे ज्ञात है कि सीमांत श्रमिक की सीमांत उत्पादकता उसको दी जाने वाली मजदूरी से कम है। मजदूरी के स्तर में वृद्धि होने का प्रभाव यह होगा कि अतिरिक्त श्रमिक को ही बढ़ी हुई मजदूरी नहीं देनी पड़ेगी वरन् सभी श्रमिकों की मज़दूरी में वृद्धि होगी।

रेखा चित्र 5.11 में श्रम का पूर्तिवक्र व श्रम का सीमांत लागत वक्र दर्शाया गया है। सीमांत लागत वक्र यह दर्शाता है कि फर्म अतिरिक्त श्रम को कार्य पर लगाने पर जो मजदूरी चुकाती है वह कमी श्रमिकों को बढ़ी हुई मजदूरी चुकाने के समान होती है। एक नियोक्ता के लिए रोजगार की उपयुक्त स्तर वह होगा जहां श्रम का सीमांत आय उत्पाद वक्र व पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हुए हों जिस बिन्दु पर पूर्ति वक्र व सीमांत आय उत्पाद वक्र एक दूसरे को काटते हुए होते है वह रोजगार में विस्तार करने के फलस्वरूप अतिरिक्त लागत उतनी ही होती है जितनी सीमांत श्रमिक द्वारा आय में वृद्धि होती है।

इस स्तर पर रोजगार के स्तर को रोकने का परिणाम होगा फर्म की भावी आय में होनेवाली वृद्धि पर रोक। उस स्तर से अधिक रोजगार का विस्तार अर्थात अधिकतम संभाव्य ON रोजगार के स्तर से अधिक वृद्धि से आय में कमी होगी। ON रोजगार के लिए मजदूरी दर OW होगी।

सीमांत आय उत्पाद व श्रम की सीमांत लागत द्वारा रोजगार निर्धारित होता है किन्तु मजदूरी दर पूर्तिवक्र द्वारा निर्धारित होती है जो कि रेखाचित्र 5.11 में बिन्दु से नीचे है।

एक अपूर्ण प्रतियोगिता की किसी भी दशा में रोजगार की स्तर पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा नीचा होता है। पूर्ण प्रतियोगिता में श्रम की कीमत व सीमांत आय उत्पाद समान होता है जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता में रोजगार व मजदूरी का स्तर दोनों नीचे होते है।

5.5 न्यूनतम मजदूरी

श्रम की मांग एवं रोजगार व मजदूरी के स्तर के निर्धारक तत्वों द्वारा न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण किया जा सकता है। न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण द्वारा श्रम की पूर्ति वक्र में कृत्रिम परिवर्तन करना है। रेखाचित्र 5.12 में पूर्ति वक्र SL है एवं न्यूनतम मजदूरी दर OW होने पर श्रम का वास्तविक पूर्तिवक्र WRS होगा क्योंकि OW से कम मजदूरी देना अवैधानिक होगा।

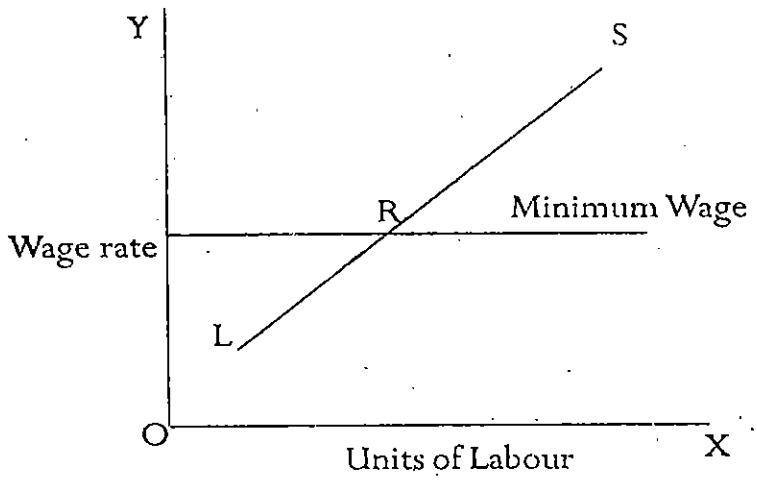

रेखाचित्र – 5.12

न्यूनतम मजदूरी का रोजगार के स्तर पर भी प्रभाव पड़ सकता है जिसे रेखाचित्र 5.13 में दर्शाया गया है।

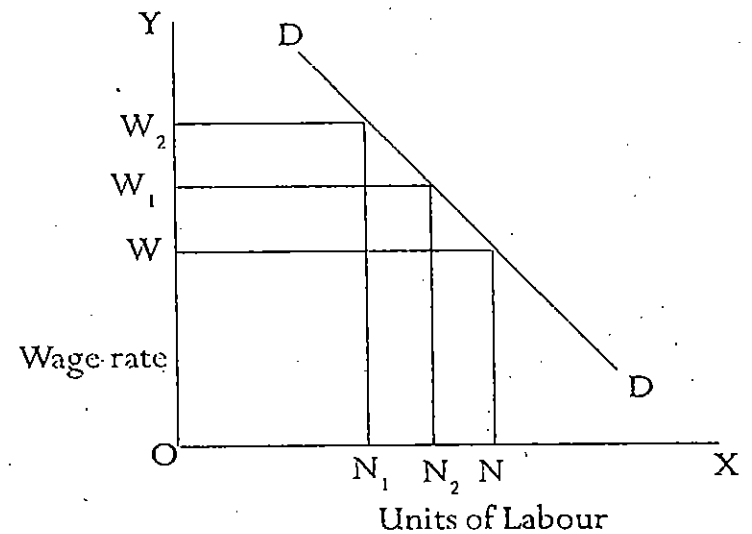

रेखाचित्र – 5.13

रेखाचित्र 5.13 में न्यूनतम मजदूरी को श्रम की मांग पर प्रभाव के रूप मे दर्शाया गया है। यदि OW मजदूरी दर है तो रोजगार की स्तर ON रहता है अब यदि न्यूनतम मजदूरी OW_2 कर दी जाती है तो श्रमिकों को उनकी उत्पादकता से अधिक मजदूरी चुकाई जाती है जिसका परिणाम होगा कि कुछ श्रमिकों को रोजगार से हटना पड़ेगा और वे बेरोजगार हो जायेंगे या ऐसे क्षेत्रों में रोजगार की तलाश करेंगे जहां न्यूनतम मजदूरी कानून लागू न होता हो।

वास्तविकता में न्यूनतम मजदूरी इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि वे 5 या 10 प्रतिशत जो कम मजदूरी वाले श्रमिक होते है उन्हें ही प्रभावित करती है यदि न्यूनतम मजदूरी दर OW_1 हो तो केवल WN_1 मजदूर ही प्रभावित होंगे। इस स्थिति में कुछ मजदूर बेरोजगार होंगे किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि कितने बेरोजगार होंगे यह मांग व पूर्ति वक्र की लोचों पर निर्भर करता है।

न्यूनतम मजदूरी कानून की औचित्य यह है कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान नहीं है और नियोक्ता की क्रेताधिकार श्रम की अगतिशीलता, तथा अन्य अपूर्णताएं जिम्मेदार है जिससे मजदूरों को कम मजदूरी चुका कर उनका शोषण किया जाता है। न्यूनतम मजदूरी कानून के आलोचक यद्यपि उनका गरीबों के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण है, कहते है कि जिस प्रकार यह कानून लागू किया गया है वह उचित नहीं है।

5.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रम की मांग क्या है? श्रम की मांग की सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यताओं की विवेचना कीजिए एवं यहां सिद्धान्त मजदूरी के विवादों को निपटाने में कहां तक मददगार है?
3. विभिन्न बाजारों में श्रम की मांग किस प्रकार निर्धारित होती है? समझाइए।

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Marshall, Carter and King	Labour Economics, wages and Trade Dimension Richerd D Irwin INC, Irwin Darsay Ltd. Geogre Town, ontario America.
Robinson, J.W. and Walber R.W.	Labour Economics and Labour Relations Ronald Press Company, New 1973
Dunlop, J.T., and Diat C.V.P.	Labour Productivity MC-Craw Hili Book co. New York 1964
Singh, R.R.	Labour Economics, Sri Ram Mehra & Co., Agra, 1971

इकाई 6

श्रम उत्पादकता

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 उत्पादकता का अभिप्राय

6.3 उत्पादकता की माप

6.3.1 श्रम की उत्पादकता की माप

6.3.2 श्रम की उत्पादकता की माप का महत्व

6.4 श्रम की उत्पादकता को निर्धारित करने वाले तत्व

6.5 श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के उपाय

6.6 श्रम की उत्पादकता बढ़ाने हेतु सुझाव

6.7 सारांश

6.8 शब्दावली

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

उत्पादकता औद्योगिक प्रगति तथा आर्थिक विकास का मूल आधार हैं। यह उपलब्ध साधनों के अधिकतम मितव्ययी उपयोग का परिणाम है। यद्यपि उत्पादन उत्पत्ति के पाँचों साधनों भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन और साहस के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। परन्तु श्रम उत्पादन का सबसें अधिक महत्वपूर्ण साधन है। अतः श्रम की उत्पादकता कुल उत्पादकता को प्रभावित करती है। हमें यहाँ पर श्रम की उत्पादकता, उसका मापन, उत्पादकता को प्रभावित करने वाले तत्व और उत्पाकदता को बढ़ाने हेतु किये गये उपायों का अध्ययन करना है। सर्वप्रथम उस शब्दावली का भली प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर ले जिसका प्रयोग विषय सामग्री में किया गया है।

6.1 प्रस्तावना

उत्पादकता का आशय एक और कुल उत्पादन तथा दूसरी और उसके लिए प्रयुक्त किये गये साधनों के बीच सम्बन्ध अथवा अनुपात से है। यदि साधनों की तुलना में उत्पादन अधिक है तो यह अनुकूलता का सूचक होगा और उत्तम उत्पादकता का प्रतीक माना जायेगा। इसके विपरित यदि उत्पादन के विभिन्न साधनों की तुलना में कुल उत्पादन अपेक्षाकृत कम है तो यह प्रतिकूल स्थिति का सूचक होगा और न्यून उत्पादकता का प्रतीक माना जायेगा। कुल उत्पादन की तुलना में प्रयोग में लाये गये विभिन्न साधनों की संयुक्त उत्पादकता भी ज्ञात की जा सकती है तथा प्रत्येक साधन (जैसे श्रम, कच्चे पदार्थ, मशीनों)

की पृथक उत्पादकता भी ज्ञात की जा सकती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कुल उत्पादन के किसी साधन का जो अनुपातिक योगदान रहता है। उसे उस साधन की उत्पादकता की संज्ञा प्रदान की जाती है।

6.2 उत्पादकता का अभिप्राय

अर्न्तराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार—"उत्पादकता से आशय समूह, समाज अथवा देश के संसाधनों के साथ समस्त उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं के अनुपात से है। इसमें मानव, मशीन, माल, द्रव्य शक्ति तथा भूमि आदि उपलब्ध साधनों का पूर्ण उचित एंव कुशल उपयोग निहित है। यह प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार के अपव्यय के विरूद्ध संगठित प्रयास हैं।"

डा० बी. बी. लाल के अनुसार—"उत्पादकता का आशय उस सम्बन्ध से है जो एक और सुपरिभाषित उत्पादन तथा दूसरी ओर साधनों के बीच होता है - अर्थात् एक ऐसा सम्बन्ध है जो कि उत्पादन के परिणामों तथा सम्बद्ध उत्पादन साधनों के बीच निर्धारित समय एवं निश्चित दशाओं के अर्न्तगत वित्तीय एवं मौलिक दोनों रूपों से होता है।

इस प्रकार उत्पादकता एक अनुपात है जो उत्पादन एवं उसके लिए प्रयोग में लाये गये साधनों के बीच होता है। उत्पादकता की तुलना भी की जा सकती है। उदाहरण के लिए, मान लजिए कि "अ" व "ब" दो उत्पादक इकाईयां है जो समान वस्तुओं का उत्पादन करती है। एक निश्चित अवधि में दोनो में प्रत्येक उस वस्तु की एक हजार, इकाईयों का निर्माण करती है किन्तु "अ" कारखाने में इसके लिए केवल 50 श्रमिक पर्याप्त होते हैं जबकि "ब" कारखाने में इसके लिए 75 श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इस स्थिति में यह स्पष्ट है कि "ब" कारखाने की तुलना में "अ" कारखाने की प्रति श्रमिक उत्पादकता पचास प्रतिशत अधिक है।

6.3 उत्पादकता की माप

औद्यौगिक क्षेत्रों में उत्पादकता का अभिप्राय प्रायः उत्पादक इकाईयों के उत्पादन के समस्त साधनों अथवा पृथक रूप से अलग अलग साधनों के कुल उत्पादन के अनुपात से होता है। जैसे — कुल विनियोजित पूँजी की उत्पादकता, श्रम की उत्पादकता; मशीन की उत्पादकता, कच्चे माल की उत्पादकता आदि। औद्यौगिक इकाईयों में प्रायः श्रम की उत्पादकता तथा मशीन की उत्पादकता को नापने का अधिक चलन है।

6.3.1 श्रम की उत्पादकता की माप

इसे दो प्रकार से नापा जा सकता है—

1. प्रति श्रमिक उत्पादकता
2. प्रति घण्टे उत्पादकता

इसके लिए अग्र सूत्र प्रयोग में लाया जाता है

$$P = \frac{O}{M}$$

यहाँ

P = श्रम की उत्पादकता
O = कुल विशुद्ध उत्पादन
M = कुल प्रयुक्त श्रमिकों की संख्या अथवा कुल प्रयुक्त श्रमिक घंटों की संख्या

6.3.2 श्रम की उत्पादकता की माप का महत्व

उत्पादकता एक सांख्यिकीय माप है। आधुनिक युग में इसका अत्यधिक महत्व है।

1. **आर्थिक विश्लेपण में सहायक** – यह आर्थिक प्रगति के विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण साधन है। आर्थिक परिवर्तनों को मापने तथा भावी परिस्थितियों का पूर्वानुमान लगाने के लिए उत्पादकों सूचकांको का महत्व एवं उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

2. **नीति निर्धारण में सहायक** – सरकार, व्यापारिक संस्थानों व संगठनों को इसकी सहायता से मूल्य, रोजगार, मजदूरी, कार्य के घण्टे आदि के सम्बन्ध में नीति बनाने में सहायता मिलती है।

3. **तुलनात्मक अध्ययन के लिए मापदण्ड** – राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादकता संबंधी अध्ययन से विभिन्न उद्योगों में उत्पादन की प्रकृति, विभिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों की तुलनात्मक उत्पादकता, एक ही उद्योग में विभिन्न उद्योगों की संबंधित क्षमता तथा अन्य क्षेत्रों की क्षमता से तुलनात्मक अध्ययन सरल हो जाता है।

4. **विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रवन्धन की योजनाओं का मूल्यांकन करने में सहायक** – इकाई स्तर पर उत्पादकता सूचकांको का उपयोग विवेकीकरण व वैज्ञानिक प्रवन्ध की योजनाओं की प्रभावोत्पादकता का मूल्यांकन करने विभिन्न उत्पादन विधियों का उत्पत्ति के साधनों की उत्पादकता पर प्रभाव का अध्ययन करने तथा विभिन्न विभागों की तुलनात्मक प्रगति का अध्ययन करने के लिए किया जाता है

5. **अच्छे संबंध बनाने में सहायक** – नियोक्ता व श्रमिकों के मध्य भ्रान्तियों को दूर करने में उत्पादकता सूचकांक सहायक होते हैं।

6.4 श्रम की उत्पादकता को निर्धारित करने वाले तत्व

श्रम की उत्पादकता अनेक कारकों पर निर्भर करती है प्रमुख रूप से ये निम्नलिखित है :—

1. **श्रमिकों की किस्म** – श्रम की उत्पादकता व्यापक एवं अन्तिम रूप से श्रमिकों की किस्म पर निर्भर करती है। निपुण एवं कार्य कुशल श्रमिकों की उत्पादकता ऊँची होती है।

2. **कार्य की दशाएं** – श्रम एक सजीव साधन है उसके कार्य करने के लिए स्वस्थ दशाओं का होना आवश्यक है। अस्वस्थ दशाओं में कठिन परिश्रम करना सम्भव नहीं है। यदि निर्विवाद है कि गंदे अन्धकारपूर्ण, उदास एवं अस्वस्थकर वातावरण की अपेक्षा स्वच्छ, स्वस्थ, उज्जवल एवं प्रेरणात्मक वातावरण में मनुष्य मात्रा में अधिक एवं गुण में अच्छी वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है।

3. **पूंजी की मात्रा** – श्रम की उत्पादकता प्रति श्रमिक द्वारा प्रयोग की गई पूंजी की मात्रा पर भी निर्भर करती है। आधुनिक मशीनों एवं यन्त्रों की स्थापना, औद्योगिक एवं तकनीकी अनुसंधान, आधुनिक व सुधरी हुई उत्पादन विधियों का प्रयोग कार्य की दशाओं में सुधार मानव पूंजी निर्माण की उपलब्धि पर निर्भर है प्रत्यक्ष प्रभाव श्रम की उत्पादकता पर पड़ता है।

4. **तकनीकी तत्व** – तकनीकी विकास नयी मशीने उपलब्ध कराता है, मशीनों के स्वचालन को प्रोत्साहित करता है, उत्पादन विधियों में सुधार करता है एवं प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण तथा सरलीकरण को सम्भव बनाता है। जिससे श्रम की उत्पादकता प्रभावित होती है।

5. **प्रबन्ध कुशलता** – श्रम उत्पादकता प्रबन्ध पर भी निर्भर करती है श्रमिकों के प्रति मानवीय व्यवहार करना तथा वैज्ञानिक साधनों द्वारा उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि करना प्रबन्ध का मूल लक्ष्य होता है।

6. **प्राकृतिक तत्व** – किसी देश के प्राकृतिक साधन, भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु का श्रमिकों की उत्पादकता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सामान्यताया गर्म जलवायु में श्रमिकों की उत्पादकता कम और शीत जलवायु में अधिक होती है।

7. **सामाजिक तत्व** – अज्ञान, अशिक्षा, भाग्यवाद, रूढ़िवाद अन्धविश्वास आदि सामाजिक तत्व श्रम की उत्पादकता में अवरोध उत्पन्न करते हैं। प्रदूषण, गंदगी, बीमारी के कारण भी श्रम की उत्पादकता कम हो जाती है।

8. **सरकार की करायेवण** – प्रशुल्क, वित्तीय संरक्षण तथा प्रशासनिक नीतियां देश के औद्योगिकरण एवं औद्योगिक उत्पादकता को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करती है। वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से प्रदान की गयी पर्याप्त एवं सस्ती पूंजी व साख सुविधाएं उत्पादकता के स्तर को बढ़ाने में परोक्ष रूप से सहायक सिद्ध हुई है। कर रियायतें, आर्थिक संयोजन, बचत व विनियोग सुविधाओं में वृद्धि आदि के द्वारा उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत विद्युत संकट, परिवहन व संचार में रूकावटें, श्रमिकों में अशान्ति आदि के कारण उत्पादकता का स्तर प्रायः गिर जाता है।

6.5 श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के उपाय

भारत सरकार श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि करने के लिए काफी समय से प्रयत्नशील है। जब तक श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि नहीं होगी तब तक औद्योगिक उत्पादन में भी वृद्धि सम्भव नहीं है। भारत में औद्योगिक श्रमिकों की कार्यकुशलता हेतु जो प्रयास किये गये हैं वे मुख्यतया निम्नलिखित हैं :

(1) **श्रम सन्नियम का प्रतिपादन** – श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं की दृष्टि में रखते हुए भारतीय कारखाना अधिनियम 1948 प्रतिपादित किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न विषयों को वर्णित किया गया है। जिसे सेवायोजक अपने कर्तव्यों को समझे और श्रमिक अपना जीवन सुखपूर्ण व्यतीत कर सकें। श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा कल्याणकारी कार्य आदि का उत्तरदायित्व मिल मालिकों पर रखा गया है। इसके अतिरिक्त और बहुत से श्रम-सन्नियम प्रतिपादित किये गये है जिनका मुख्य उद्देश्य देश के श्रमिकों को सभ्य एवं उन्नतशील जीवन व्यतीत करने की सुविधाएं प्रदान करना है।

(2) **कल्याणकारी सुविधायें** – भारतीय कारखाना अधिनियम 1948, उद्यान श्रम जीवी अधिनियम तथा भारतीय खान अधिनियम 1952 के अन्तर्गत उद्योगों के लिए जलपान-गृहों, शिशु पालन गृहों, विश्राम ग्रहों, चिकित्सा सहायता, स्नान आदि की सुविधायें तथा कल्याणकारी अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई हैं। हमारी सरकार ने कल्याण योजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता का भी प्रबन्ध किया है। अधिकांश राज्य की

सरकारें अनेक कल्याण केन्द्र चला रही है जिससे श्रमिक एवं उनके परिवार के सदस्य मनोरंजन तथा अन्य सांस्कृतिक सुविधायें प्राप्त करते रहते हैं।

(3) **श्रमिकों के लिए आवास सुविधायें** – भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति होने के पश्चात से भारत सरकार ने समाजवादी विचारधारा को कार्यान्वित किया है। अतः सरकार सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रही है कि यहाँ के श्रमिकों की दशाओं में यथासम्भव सुधार किया जाये जिससे वे अपने जीवन-स्तर को उन्नत बना सकें। अतः श्रमिकों के आवास की सुविधा हेतु भारत सरकार ने समय-समय पर अनेक योजनायें कार्यान्वित की है। मई, 1956 में गन्दी बस्ती उन्मूलन योजना का शिलान्यास किया गया जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों के माध्यम से नगरपालिकाओं और स्थानीय संस्थाओं को गन्दी बस्ती के उन्मूलन हेतु अपना आर्थिक योगदान प्रदान कर रही है। ग्राम आवास योजना अक्टूबर, 1957 में प्रारम्भ हुई थी। इसके माध्यम से सामुदायिक विकास खण्डों के कुछ चुने हुए ग्रामों के आवास की उपयुक्त व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया है।

सन् 1952 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के सुझाव पर भारत सरकार द्वारा सहायता प्राप्त आवास योजना क्रियान्वित की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत मुख्यतया तीन प्रकार के मकान बनाये जाते हैं (1) औद्योगिक सेवायोजकों द्वारा (2) राज्य सरकार द्वारा (3) श्रमिकों की आवास सम्बन्धी सहकारी समितियों द्वारा। आजकल लगभग सभी औद्योगिक नगरों में श्रमिकों के रहने के लिए अच्छे मकानों का प्रबन्ध किया जा रहा है। सेवायोजक एवं सरकार दोनों ही इनके आवास के प्रबन्ध के लिए अपना उत्तरदायित्व समझते हैं।

इन योजनाओं के अतिरिक्त भारत में और भी आवास सम्बन्धी योजनायें चल रही है जो मुख्यतया निम्नलिखित है–

तालिका 6.1

भारत की मुख्य आवास योजनाएं

योजना	प्रारम्भ होने का समय
निम्न आय वर्ग आवास योजना	1954
उद्यान कर्मचारी आवास योजना	1956
गन्दी बस्ती सफाई योजना	1956
मध्य आय वर्ग आवास योजना	1959
किराया विकास योजना	1959
दिल्ली में झुग्गी एवं झोपड़ी हटाने की योजना	1960
भूमि अर्जन तथा विकास योजना	1969
ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन कामगरों को आवास स्थलों को उपलब्ध कराना।	1971
इंदिरा आवास योजना	

उपर्युक्त योजनाओं के लिए अधिकांश धनराशि का प्रबन्ध भारत सरकार तथा जीवन बीमा निगम द्वारा किया जाता है।

(4) सामाजिक सुरक्षा – देश में श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि करने हेतु अनेक प्रयास किये गये। इनके अन्तर्गत प्रो० अदारकर के सुझाव पर तथा स्ट्रेव एवं राव के पुनर्विचार किये जाने के उपरान्त सन् 1948 में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम औद्योगिक विभाग में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। इस अधिनियम के अन्तर्गत बीमा कराये हुए श्रमिकों को निम्नलिखित सुविधायें प्रदान होती है :—

(क) बीमारी सम्बन्धी लाभ,

(ख) अयोग्यता सम्बन्धी लाभ,

(ग) मातृत्व सम्बन्धी लाभ,

(घ) आश्रित सम्बन्धी लाभ,

(ङ) चिकित्सा सम्बन्धी लाभ।

सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की अखण्डता सम्बन्धी कानून, प्रशासनिक एवं संगठनात्मक मामलों की जाँच करने और अखण्डता हेतु विस्तृत रूप-रेखा तैयार करने हेतु जनवरी, 1971 में एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया गया है और इस अधिकारी से सरकार रिपोर्ट भी प्राप्त हो चुकी है।

श्रमिक की भविष्य की अनिश्चितता तथा चिन्ता को दूर करने के लिए भविष्य-निधि योजना चालू की जा चुकी है। भारत सरकार द्वारा कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम 1952 पारित किया गया। इस अधिनियम में अपने सदस्यों को परिवार पेंशन, लाभ आदि प्रदान करने के लिए सन् 1971 में संशोधन किया गया।

(5) प्रशिक्षण व्याख्या – श्रमिकों की शिक्षा की दृष्टि से श्रमिक शिक्षा योजना प्रारम्भ की गई जिसका प्रमुख उद्देश्य श्रमिकों को देश के औद्योगिक, आर्थिक और सामाजिक विकास हेतु योग्य बनाया जाये। श्रमिक शिक्षा, कार्यक्रम आयोजित करने के लिए 132 संघों व संस्थानों को 168 लाख रूपये के सहायक अनुदान भी प्रदान किये गये। भारतीय श्रमिक शिक्षा संस्थान की स्थापना 1970 में बम्बई में की गई जिसका प्रमुख उद्देश्य शिक्षा अधिकारियों के लिए पुनश्चर्या पाठ्यक्रम और संगठित प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये गये हैं।

श्रमिकों की सामान्य शिक्षा के लिए प्रायः सभी औद्योगिक बस्तियों में श्रमिकों के बच्चों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की गई है। कुछ स्थानों पर प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था की गई है। तकनीकी प्रशिक्षण को दृष्टिकोण में रखते हुए अनेक केन्द्र खोले गये हैं। अनेक योग्य एवं कुशल श्रमिकों को विदेशों में भेजकर भी, प्रशिक्षित कराया जाता है। उपर्युक्त प्रयासों के आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे श्रमिकों की कार्य कुशलता में अवश्य वृद्धि होगी।

(6) उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन – स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् भारत में केन्द्रीय सरकार द्वारा उत्पादकता में वृद्धि करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में उन विशेष कारणों की वैज्ञानिक जाँच कराई गई, जो औद्योगिक उत्पादकता वृद्धि में बाधक थे। उत्पादकता वृद्धि के उपयों का विस्तार करने हेतु, अध्ययन गोष्ठियों को भी आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त तकनीकी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत विदेशों से भी तकनीकी विशेषज्ञों को भारत में आमन्त्रित किया गया। अपने यहाँ से शिष्ट मण्डलों को भी विदेशों में अध्ययन के लिए भेजा गया। द्वितीय योजना काल में राष्ट्रीय उत्पादकता

परिषद द्वारा अनेक क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की गई। ये परिषदें उत्पादकता-वृद्धि की दृष्टि से अपना पूर्ण योग दे रही है।

(7) **उत्पादकता वृद्धि और श्रम-संघ** – श्रमिक संघ किसी भी देश की प्रगति तथा उनकी कल्याणकारी राज्य बनाने में अपना विशेष योग प्रदान कर सकता है। श्रमिक संघों के द्वारा श्रमिकों में ऐसी भावना एवं प्रवृत्ति जागृत की जा सकती है। जिससे वे राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखते हुए अधिकाधिक उत्पादन-वृद्धि कर सकें। अतः श्रमिक संघ निम्नलिखित रूपों में कार्य करके राष्ट्रों के निर्माण में योग प्रदान कर सकते हैं—

(i) श्रमिक संघ सहकारी समितियों द्वारा मकान बनवा सकते हैं।

(ii) श्रमिकों में बचत की आदत उत्पन्न करके विभिनन प्रकार की सहकारी समितियाँ संगठित कर सकते हैं।

(iii) श्रमिक संघ श्रमिकों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं सामाजिक दशा में सुधार करने की दृष्टि से सुधार करके उनके जीवन स्तर में सुधार कर सकते हैं जिससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जयेगी।

(iv) श्रमिक परिवारों में ग्राम उद्योगों को प्रसारित करके उनकी आय में वृद्धि करने का प्रयोग कर सकते हैं।

निष्कर्ष के रूप में श्रमिक संघ विभिन्न क्षेत्रों में रचनात्मक कार्य करके राष्ट्र के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकते हैं। श्रमिक संघों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं वे उनके स्वयं न होकर अपितु उनके स्वार्थी नेताओं के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः श्रमिक-समाज देश के कल्याण हेतु यह आवश्यक है कि श्रमिक संघ स्वास्थ्य सम्बन्धी आधारों पर विकसित किये जाये और उसे नेता भी श्रमिकों में से ही होने चाहिए। इससे श्रमिकों का जीवन स्तर उच्च बनाने में सफलता प्राप्त हो सकेगी।

उपर्युक्त बातों के आधार पर तृतीय पंचमवर्षीय योजना में श्रम नीति को काफी महत्व प्रदान किया गया हैं। इस योजना के अनुसार प्रबन्धकों को यह चाहिए कि श्रमिकों के लिए मशीन, कार्य करने की उपयुक्त स्थिति तथा दशायें, पर्याप्त प्रशिक्षण एवं उपयुक्त मनोरंजन आदि प्रदान करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। भारत में जब तक उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि नहीं होगी तब तक श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर में वास्तविक सुधार नहीं हो सकता है श्रमिकों को अपने तथा देश की भलाई के लिए वैज्ञानिककरण में बाधा नहीं डालनी चाहिए अपितु उन्हें इसकी मॉग करनी चाहिए। वैज्ञानिकीकरण के द्वारा श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि की जा सकती है तथा उनकी कार्यकुशलता से ही उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि हो सकती है।

(8) **श्रम आयोग की नियुक्ति** – शाही श्रम आयोग की 1931 की रिपोर्ट के पश्चात श्रम कानूनों औद्योगिक सम्बन्धों और श्रमिकों के कार्य करने और रहने की दशाओं में विस्तृत जॉच अभी तक प्राप्त नहीं हो पाई। श्रमिकों की कार्य करने दशाओं से सम्बन्धित आकड़े श्रम-अनुसन्धान समिति ने सन् 1946 में एकत्र किये थे। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् औद्योगिक धन्धों में आमूल परिवर्तन हुए है। अतः भारत सरकार ने श्रम नीति के लिए 24 दिसम्बर 1966 को श्री पी० वी० गजेन्द्रगड़कर की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय श्रम आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने इस मामलों के साथ श्रमिकों की स्थिति में हुए परिवर्तनों एवं उनके हितों की रक्षा करने वाले वर्तमान वैज्ञानिक व उनके कार्यों का मूल्यांकन करने का परामर्श दिया है। आयोग के अर्न्तगत 38 अध्ययन दल अथवा समितियाँ निर्मित की गई है।

6.6 श्रम की उत्पादकता बढ़ाने हेतु सुझाव

श्रम की उत्पादकता बढ़ाने हेतु निम्न सुझाव हैं :—

(क) कुल मजदूरी के 3 भाग होने चाहिए— बुनियादी अथवा न्यूनतम मजदूरी, रहन-सहन की लागत से सम्बद्ध भाग और उत्पादन में वृद्धि से सम्बद्ध भाग। मजदूरी की वृद्धि को उत्पीड़न की वृद्धि से सम्बद्ध करने हेतु मानव स्तर पर लाना और मजदूरी के अन्तर को घटाना आवश्यक है।

(ख) परिणामों के आधार पर मजदूरी भुगतान की प्रणाली को उन क्षेत्रों में भी विकसित करना चाहिए जहाँ यह अभी प्रचलित नहीं है इस प्रणाली को श्रमिकों की सहमति और मधुर वातावरण में लागू किया जाये।

(ग) उत्पादकता के उचे स्तर को प्राप्त करने हेतु मानव पूंजी निर्माण हेतु क्रमबद्ध व संगठित प्रयास किए जाने चाहिए।

(घ) सेवायोजकों और श्रमिकों को मिलाकर अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार उत्पादन यूनिट के स्तर पर साधारण प्रोत्साहन योजनाओं का विकास करना चाहिए।

(ङ) श्रमिकों की सलाह के साथ प्रोत्साहन योजनाएं बनाते समय उत्पादकता बढ़ाने के लिए कार्य की सन्तोषजनक परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए। वित्तीय और गैर वित्तीय प्रोत्साहनों के अनिश्चित नौकरी की सुरक्षा काम के प्रति सन्तोष की भावना और काम की प्रतिष्ठा आदि तथा प्रोत्साहनों को भी उचित महत्व देना चाहिए।

6.7 सारांश

उत्पादकता आधुनिक औद्योगिक व आर्थिक विकास का मूलाधार है। भारत एक अल्पविकसित देश है। यहाँ परम्परागत समाज है। रहन-सहन का स्तर निम्न है उत्पादन तकनीकि के पिछड़े व अविकसित है। शिक्षा च प्रशिक्षण सुविधाओं का अभाव है। उत्पादन का स्तर नीचा है। श्रम जो उत्पत्ति का एक प्रमुख साधन है उसकी उत्पादकता तो और भी कम है। श्रम की उत्पादकता के आधार पर की जा सकती है। आर्थिक विश्लेषण, नीति निर्धारण व तुलनात्मक अध्ययन के लिए श्रम की उत्पादकता की माप आवश्यक है। श्रम की उत्पादकता पर प्राकृतिक, सामाजिक तकनीकी, पूंजीगत व प्रबन्धकीय कुशलता का प्रभाव पड़ता है। श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए सराकर ने समय-समय पर बहुत से प्रयास किए हैं जिसमें श्रम सन्नियम का प्रतिपादन, कल्याणकारी सुविधाएं, सामाजिक सुरक्षा और उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन प्रमुख है। श्रम की उत्पादकता के ऊँचे स्तर को प्राप्त करने के लिए मजदूरी की वृद्धि के एक अंश को उत्पादन से सम्बद्ध किया जाये और मानव पूंजी निर्माण हेतु क्रमबद्ध संगठित प्रयास किए जाने चाहिए।

6.8 शब्दावली

श्रम की उत्पादकता – श्रम की उत्पादकता विशुद्ध और कुल प्रयुक्त श्रमिकों की संख्या अथवा कुल प्रयुक्त श्रमिक घंटों की संख्या के बीच अनुपात होता है।

विवेकीकरण – विवेकीकरण सामूहिक प्रयत्नों पर आधारित एक ऐसी विधि है जिसमें अव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अन्वेषण तथा अध्ययन पर आधारित प्रणालियों और तकनीकों को अपनाया जाता है जिससे समय धन और उत्पत्ति के साधनों का अपव्यय कम से कम हो तथा इनका प्रयोग उद्योग और राष्ट्र के सर्व-श्रेष्ठ हित में हो।

वैज्ञानिक प्रबन्धन – यह जानने की कला कि आप व्यक्तियों से क्या कराना चाहते हैं? तथा यह देखना कि वे सबसे उचित ढंग से कार्य करते हैं वैज्ञानिक प्रबन्ध कहलाता है।

सामाजिक सुरक्षा – सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज द्वारा एक उपयुक्त संगठन के माध्यम से अपने सदस्यों की कार्य शक्ति को क्षति पहुँचाने तथा जीवन स्तर को गिराने वाली आकस्मिक घटनाओं जैसे बीमारी, बेकारी, दुर्घटनाओं, औद्योगिक रोग, मातृत्व, बुढ़ापा, मृत्यु आदि के विरूद्ध एक वांछित न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करने की दिशा में किया गया सामूहिक प्रयास है।

श्रम संघ – श्रम संघ से हमारा तात्पर्य ऐसे संगठन से है जिसका निर्माण ऐच्छिक रूप से सामुदायिक शान्ति के आधार पर श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए किया जाता है।

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. उत्पादकता को परिभाषित कीजिए। श्रम की उत्पादकता का मापन कैसे किया जाता है?

प्रश्न 2. श्रम की उत्पादकता से आप क्या समझते हैं? श्रम की उत्पादकता की माप की क्यों आवश्यकता है?

प्रश्न 3. श्रम की उत्पादकता को प्रभावित करने वाले प्रमुख घटक कौन-कौन से हैं?

प्रश्न 4. भारत की एक प्रमुख समस्या श्रम की न्यून उत्पादकता है। श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के लिए कौन-कौन से उपाय अपनाये गये हैं?

6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिन्हा, जे० पी०	श्रम अर्थशास्त्र एस० चाँद एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली
सक्सेना	श्रम समस्याएं एण्ड सामाजिक सुरक्षा रस्तौगी एण्ड कम्पनी, मेरठ।
Agarwal, A.N.	Indian, Labour problems: Wiley Eastern Limited, New delhi.
Giri, V.V.	Labour Problems in Indian Industry Asia publishing House, Bombay
Memoria C.B.	Labour Problems and social Welfare in India.Himalaya Publishing House, New Delhi.
Mehrotra, S.N.	Labour Problems in India, S. Chand & Co. Delhi.

इकाई 7

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में श्रम समस्यायें

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 श्रम समस्याओं के कारण

- 7.2.1 श्रम बाजार में श्रम विक्रय के समय अस्पष्ट शर्तें
- 7.2.2 उद्योग के उत्पाद के वितरण में परस्पर विरोधी हित
- 7.2.3 बाजार सम्बन्धी अपूर्णताएं
- 7.2.4 मनोवैज्ञानिक कारक
- 7.2.5 उद्योग का प्रबन्धन
- 7.2.6 श्रम समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र

7.3 विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की विशेषताएं

- 7.3.1 औद्योगिक श्रमिक की सामाजिक रचना
- 7.3.2 कामगारों का यौन संघटन
- 7.3.3 जनजातिय श्रम का उद्भव
- 7.3.4 साक्षरता का निम्न स्तर
- 7.3.5 श्रमिक वर्ग की विषमांगता
- 7.3.6 अनुपस्थितता एवं श्रम प्रतिस्थापितता की ऊँची दर
- 7.3.7 प्रवासी चरित्र
- 7.3.8 श्रमिक वचन बद्धता

7.4 निबन्धात्मक प्रश्न

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आपका परिचय, एक विकासशील देश की श्रम समस्याओं से कराना है। इस इंकाई के अध्ययन के बाद आप :

- जान सकेंगे कि श्रम समस्याएं क्यों पैदा होती है?
- समझ सकेंगे कि विकासशील देशों में श्रम की क्या विशिष्टताएं हैं जो उन्हें विकसित देशों के श्रम से अलग करती है।

7.1 प्रस्तावना

श्रम को ऐसे किसी मस्तिष्क अथवा हस्त-कार्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसको आर्थिक विचार से लिया जाता है। एस.ई. थॉमस के अनुसार, "श्रम में वे सभी शारीरिक और मानसिक मानवीय प्रयास हैं, जिन्हें पारितोषिक अर्थात् लाभ की प्रत्याशा में किया जाता है।" जिवॉन्स (Jevons) के अनुसार, "श्रम शरीर अथवा मन का ऐसा कोई प्रयत्न है जो कि आंशिक अथवा पूर्णरूप से, कार्य से व्युत्पन्न प्रत्यक्ष आनन्द के अलावा अन्य वस्तु को दृष्टिगत करते हुए किया जाता है।" श्रम समस्यायें तब उठती हैं, जब व्यक्ति नियोक्ता के वायदों द्वारा निदेशित कार्य और मजदूरी के लिए अपनी सेवाओं का विक्रय करते हैं। अतः पद 'श्रम' का सामान्य उपयोग या तो उन व्यक्तियों के लिए किया जाता है जो सीधे नियोक्ता के पास अपनी सेवाओं को विक्रय करते हैं अथवा उन सेवाओं के लिए किया जाता है, जिनका वे विक्रय करते हैं। यह कहा जा सकता है कि संसार के लगभग सभी देशों में श्रम-समस्यायें प्राथमिक महत्व की हैं। क्योंकि, जनसंख्या के बहुसंख्यक या तो श्रम का विक्रय करते हैं अथवा इसका क्रय करते हैं और अपने जीवन यापन के लिए इन विक्रयों पर आश्रित हैं।

"श्रम-समस्यायें जैसा कि इन्हें आधुनिक युग में समझा जाता है, इस तथ्य के कारण उठती हैं कि वृहत् उद्योग की दशाओं में लोगों को अपनी जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। उन्हें, वे काम स्वीकार करने पड़ते हैं जिन्हें वे पसन्द नहीं करते, उन्हें वह मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है जो कि उनके सामान्य जीवन-यापन के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार, श्रम समस्यायें वृहत् उद्योगों के साहचर्य में हैं। ये लघु उद्योगों के कारण नहीं उठतीं। जहां कि न तो कोई नियोक्ता है, न कोई कर्मचारी और कर्मचारियों तथा उत्पादन के विभिन्न कारकों की आपूर्ति एक और उसी व्यक्ति द्वारा होती है।

7.2 श्रम समस्याओं के कारण

निम्नलिखित अवतरणों में उन कारकों पर विमर्श करने का प्रयास किया गया है जिनके कारण श्रम-समस्यायें उठती हैं :—

7.2.1 श्रम बाजार में श्रम विक्रय के समय अस्पष्ट शर्तें :

श्रम-समस्याओं का प्रमुख बिन्दु श्रम-बाजार है। ऐसा माना जाता है कि यहां पर विभिन्न समस्यायें, यथा- मजदूरी के दरें, कार्य के घंटे, कार्य की शर्तें और काम की अवधि, हल होती हैं। अन्य विक्रेताओं की भांति, श्रम के विक्रेता अपने श्रम के लिए सम्भावित उच्चतम मूल्य प्राप्त करना चाहते हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विक्रेता का जीवन-स्तर बड़े पैमाने पर उस मूल्य अथवा मजदूरी पर आश्रित है जो उसको अपनी सेवाओं के बदले प्राप्त होता है। श्रम के विक्रेता केवल प्रतिघंटा मजदूरी दरों में ही रुचि नहीं रखते। किन्तु वे साप्ताहिक और वार्षिक उपार्जनों में भी रुचि रखते हैं। जो कि विक्रय किये गये श्रम के घंटों को मजदूरी की दर से गुणा करने पर निर्भर है। इसलिए वे स्थिरक विक्रियों में रुचि रखते हैं।

जिस समय श्रम-सेवाओं का विक्रय होता है, उस समय प्रायः कार्यशाला की शर्तों पर कोई समझौता नहीं होता। कार्य की प्रकृति बदल सकती है, कर्मी की गति में भिन्नता आ सकती है, अधिकर्मी (फोरमैन) बदला जा सकता है या उन्नति की सम्भावनायें बदल सकती है।

सर्वाधिक बिक्रीयों के समय बेचा गया परिमाण सन्देह में नहीं छोड़ा जाता। किन्तु, ठीक प्रकार से कोई यह नहीं जानता कि प्रति घंटा श्रम के बेचने में क्या बेचा गया है क्रेता का एक घंटे को कार्य उसकी गति की रुचि खरीदे गये श्रम के निर्गत में होती है। श्रम को भाड़े पर लेने पर उसको कितना निर्गत प्राप्त हुआ।

श्रम के बेचान को घेरे हुई अस्पष्ट और अनिश्चित संस्थितियाँ गलतफहमी, असहमति और संघर्ष के लिए पर्याप्त स्थिति बना देती हैं।

7.2.2 उद्योग के उत्पाद के वितरण में परस्पर विरोधी हित

अधिकतर सामग्रियों के उत्पादन में कच्चा माल, भूमि, श्रम, पूंजीगत उपकरण, और संगठनात्मक प्रयास सभी योगदान करते हैं। उद्योग के उत्पाद का वितरण सारे झगड़े की जड़ है। यह विशेष रूप से उस स्थिति मे हैं जब कि जनसंख्या निश्चित और परस्पर विरोधी समूहों में बँटी हुई है। एक ओर श्रम के क्रेता तो दूसरी ओर उसके विक्रेता हैं। विक्रेता अपनी सम्पूर्ण आमदनी के व्यावहारिक आधार श्रम मूल्य को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहते हैं। जबकि क्रेता उसको कम रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, जिससे लाभ कम अथवा समाप्त न हो जाय। विलियम एम. लीसर्सन ने सही कहा, "सही या गलत का ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिससे मजदूरियों और आमदनियों को ज्ञात किया जा सके। कार्यकारी लोगों को क्या आमदनी उनके श्रम के बदले उपलब्ध करायी जाय, एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर किसी नैतिक निर्णय के आधार पर नहीं दिया जा सकता"।

7.2.3 बाजार सम्बन्धी अपूर्णताएं

"लगभग प्रत्येक वेतन भोगी अपनी सेवाओं के लिए किसी अन्य द्वारा निर्धारित मूल्य को प्राप्त करता है।" वर्तमान सन्दर्भ में यह प्रोफेसर सी. कैम्बी बोल्डर्सटॅन का कथन है। तथ्य यह है कि मजदूरी नियोक्ता निर्धारित करता है, इस ओर इशारा करता है कि बाजार अपूर्ण है और नियोक्ता के नियन्त्रण का विषय है।

यह कहा जा सकता है कि जब कई स्थानीय श्रम बाजार अपूर्ण होते हैं तथा क्रेताओं के द्वारा शासित होते हैं तो श्रम के विक्रेता बार-बार लड़ाइयां अपने हितों की रक्षा एवं प्रोन्नति के लिए संगठित करते हैं। वे या तो हड़ताल की धमकियॉ देते हैं और धरना देते हैं अथवा व्यवस्थापिकाओं पर राजनैतिक दबाव से ऐसे कानून पारित करवाते हैं जिससे कि उनके नियोक्ताओं की भांति उनके हितों की भी रक्षा हो। कर्मचारियों की मान्यता है कि संघ में शक्ति है।

7.2.4 मनोवैज्ञानिक कारक :

श्रम संघों की सार्थकता मात्र अपने सदस्यों के लिए अधिक मजदूरी, छोटे कार्यघंटे कार्यअवधि उत्तम कार्य संस्थितियां उपलब्ध कराने की युक्ति में ही नहीं है। श्रम संघर्ष के भौतिक और बाजार सम्बन्धी कारणों के अलावा मानवीय या मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं। कर्मचारी की कार्य-सन्तुष्टि उसकी मजदूरी, कार्य के घंटों, नियुक्ति की संस्थितियों पर आंशिक रूप ही आधारित हैं। कामगार को गर्व, आत्म सन्तुष्टि, और महत्व का संज्ञान चाहिए। उनके कार्य में सामान्य रूपसे ऐसी आवश्यकताओं के निर्गम निहित है।

इसके अलावा, शिक्षा के प्रसार से इन कारकों का औद्योगिक शान्ति बनाये रखने में महत्वपूर्ण स्थान दे दिया है। इसलिए, नियोक्ता की पितृवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह और औद्योगिक प्रजातन्त्र के लिए आन्दोलन इस तथ्य से जुड़ गये हैं कि कई कामगार अच्छी

शिक्षा प्राप्त हैं और अपने कार्य तथा निर-कार्य के घण्टों में नियोक्ता के आधिपत्य को पसन्द नहीं करते।

7.2.5 उद्योग का प्रबन्धन

श्रमिकों और नियोक्ताओं के मध्य वार्ता तय नियमों के माध्यम से कामगार उद्योग के लिए सामान्य कानून की उम्मीद करते हैं। जो कि प्रबन्धन की स्वेच्छाचारी कार्रवाइयों को रोकेगा, तथा उद्योग के विशेष क्षेत्रों में व्याप्त मनमानी और पक्षपात को कम करेगा। अतः नियोक्ता मानते हैं कि श्रमिक संघवाद उनकी अधिनायकवादी शक्तियों को रोकने का कार्य करता है। ताकि जैसा कि प्रोफेसर हॉक्सी ने कहा है कि सामूहिक रियायती सौदेबाजी; "उद्योग पर श्रमिकों के नियन्त्रण की प्रक्रिया में एक कदम तथा औद्योगिक लोकतन्त्र की ओर एक प्रविष्ट फलक है।" यह एक कारण है कि कुछ नियोक्ताओं ने अपने कर्मचारियों के स्वतंत्र संगठन पर प्रतिरोध किया है। नियोक्ताओं और कर्मचारियों के आर्थिक स्वार्थों के मध्य टकराव विभिन्न श्रम समस्याओं को जन्म देता है।

7.2.6 श्रम-समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र

श्रम समस्यायें किसी देश या स्थान की विशेषता नहीं हैं। प्रत्येक देश में मजदूरी कमाने वाले अपने जीवन स्तर और कार्य की शर्तों को सुधारने के लिए संघर्षरत हैं। चाहे विकसित देश हों या अविकसित और विकासशील सभी क्षेत्रों में श्रम-समस्यायें सामान्य है। वे मुश्किल से ही कुछ व्यक्तियों अथवा स्थानीय संस्थितियों के उत्पाद हैं। किसी एक देश में श्रमिकों को देय रियायत अन्य देशों में मांगी जाती है। इस प्रकार श्रम-समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र विकसित हो चुका है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) की स्थापना की गई है, जिससे कि श्रम समस्याओं पर पारस्परिक समझ विकसित की जाय। औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिए मार्ग और साधन ज्ञात किये जाये जिससे कामगारों के अधिकारों की रक्षा की जा सके। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कामगारों को संगठित किया जा सके।

अतः किसी एक देश में उठने वाली श्रम-समस्या आज उसी देश में सीमित नहीं रहती। किन्तु, दूसरे देशों में भी इसका प्रभाव पड़ता है। यह भी इस समस्या के अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र का कारण है।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि श्रम समस्यायें केवल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उठती हैं और नियन्त्रित तथा समाजवादी व्यवस्था में ऐसी समस्यायें नहीं होती। वास्तव में, यह समस्या प्रत्येक उस आर्थिक व्यवस्था में उठेगी जिसमें जनसंख्या का बड़ा भाग धन कमाने के लिए मजदूरी का काम करता है। तथा श्रम और धन अलग-अलग हाथ नियन्त्रित करते हैं। प्रत्येक देश में मजदूरी करने वाले अपने जीवन स्तर को उठाने के लिए संघर्षरत हैं चाहे अर्थव्यवस्था पूंजीवादी हो या समाजवादी। अतः यह सोचना बुद्धिमता नहीं है कि श्रम समस्यायें नियन्त्रित और समाजवादी व्यवस्था में नहीं उठती। राजनैतिक अधिनायकवाद के आधीन देशों में हड़तालें और कानूनी होने के कारण श्रम के क्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य आर्थिक स्वार्थों के संघर्ष उस रूप में नहीं उठते जिस रूप में अन्यत्र।

7.3 विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की विशेषताएं

भारत की तरह विकासमान देशों में विभिन्न विकास हुए हैं। जैसा कि इनके द्वारा भारतीय कामगार के व्यक्तित्व के उद्विकास को प्रभावित किया गया है। हमारे संविधान और उसकी उद्देशिका तथा निर्देशक सिद्धान्तों ने आर्थिक विकास के लिए दर्शन और

सामाजिक राजनैतिक ढांचा उपलब्ध किये है। आगे, नियोजन प्रक्रिया ने उद्योग के विकास और अभिवृद्धि को सरल बनाया है। एक श्रम नीति उस संस्थागत ढांचे से हुयी है, जिसका निर्माण इसको सुत्रबद्ध करने के लिए हुआ है। इन कारकों से अलग, राजनैतिक शक्तियों और सामाजिक परिवर्तन का सामाधात कामगारों के जीवन को प्रभावित कर रहे हैं। यह कहा जा सकता है कि भिन्न अभिलक्षणें और सामाजिक गतिशीलता के औद्योगिक श्रम के संदर्भ में एक नया कामगर उद्विकसित हो रहा है।

राष्ट्रीय श्रम आयोग का पर्यवेक्षण है, "यह उल्लेखनीय तथ्य है कि हमारी मुलाकातों से यह स्वप्रकाशित हुआ कि कामगार को दैनिक जीवन में परिवर्तित हो रहे हैं। यद्यपि ये प्रभाववादी और परिमाणात्मक परिशुद्धता में कम है, फिर भी ये भारतीय परिदृश्य में प्रतिनिध्यात्मक सामाजिक पर्यवेक्षकों के लेखों से सामने आये हैं।" भारत की भांति विकासशील देशों में श्रमिक के मुख्य अभिलाक्षणिक गुण निम्नलिखित है :—

7.3.1 औद्योगिक श्रमिक की सामाजिक रचना

यद्यपि जाति और व्यवसाय में सदा अन्तर्क्रिया होती है और इन दोनों के मध्य समाज में लचीले सम्बन्ध रहे हैं। आज सामाजिक गतिशीलता मिश्र कार्य शक्ति के उद्विकास के लिए उत्तरदायी है। पुरातन सामाजिक रुकावटें त्वरित रूप से ढह रही हैं। यह पाकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि पुरानी पीढ़ी के फैक्ट्री के कामगार का लड़का/लड़की किसी रासायनिक अथवा औषधि निर्माण संस्थान में किसी जुलाहे या बुनकर के लड़के/लड़की के साथ काम कर रहे हों। यह कहा जा सकता है कि उच्चतर कौशल, उत्तम शिक्षा और मजदूरी स्तर शारीरिक और गैर शारीरिक कामगारों के मध्य अन्तर हैं।

इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय श्रम आयोग के विचार लिखने योग्य है, "चाहे कोई भी कारण हो, कामगारों के मध्य अन्तः और अन्तर दोनों ही प्रकार से समानता का महान् संवेदन विकसित हुआ है। जैसे-जैसे कामगार अपने बच्चों को स्कूलों, कालेजों और संस्थानों में भेज रहे है, वैसे-वैसे फैक्ट्री के कर्मचारियों के बच्चे इन्जीनीयर, डॉक्टर, लेखापाल, शिक्षक बनते जा रहे हैं। इन सब ने एक मिश्रित समाज के निर्माण में योगदान किया है।

7.3.2 कामगारों का यौन संघटन

पूर्व में फैक्ट्रियों में पुरुष कामगारों की बहुतायत रही है। किन्तु अब महिलाओं ने दोनों औद्योगिक कुशल और अकुशल कार्य सम्भाल लिए हैं। महिलाओं के रोजगार के सम्बन्ध में राष्ट्रीय श्रम आयोग का कथन है, "कुछ स्थितियों में आर्थिक अनिवार्यता उनको काम लेने के लिए बाध्य करता है। किन्तु, अन्य सन्दर्भों में जीवन-स्तर को सुधारने की चाह और अतिरिक्त सामान जुटाने की लगन पति-पत्नी दोनों को कार्य की ओर आकर्षित करते हैं।

7.3.3 जनजातीय श्रम का उद्भव

औद्योगिक श्रम में जनजातीय श्रम का बड़े अनुपात में उद्विकास हुआ है। राष्ट्रीय श्रम आयोग के अनुसार, "यह प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के अन्त में वन सम्पदा और कोयला, मैंगनीज, लोहा जैसे खनिजों के शोषण के साथ आरम्भ हुई। इसने स्वतंत्रता के बाद जनजातीय पट्टियों में उद्योगों की स्थापना के से अधिक गति प्राप्त की।" इन जनजातीय युवाओं ने अपने आपको नवीन जीवन पद्धति में अनुकूलित कर लिया। जनजातीय लोगों को अब दूसरों के साथ खनन क्षेत्रों, लोहा और इस्पात उद्योगों तथा निर्माण और भवन निर्माण जैसे असंगठित उद्योगों में काम करते हुए देखा जाता है।

7.3.4 साक्षरता का निम्न स्तर

यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक कामगारों में साक्षरता का निम्न प्रतिशत है। चूंकि साक्षरता कामगारों के लिए अपनी दक्षता और कौशल को सुधारना सम्भव बनाती है, अतः युद्ध स्तर निरक्षरता को दूर करने के लिए प्रयास किये जाने चाहिएं।

7.3.5 श्रमिक वर्ग की विषमांगता

उद्योग में कार्यकारी वर्ग में विषमांगता नहीं है। इसका कारण यह है कि उद्योग में विभिन्न जातियों, समुदायों, नृजातीय समूहों, धार्मिक विश्वासों, विभिन्न भाषियों के लोग काम करते हैं। तथा वे एक दूसरे के लिए अजनबी होते है। भारतीय श्रम शक्ति स्पष्ट रूप से "उच्च वर्ग-निम्न वर्ग", "कुशल-अकुशल", "उत्तरी-दक्षिणी", "हिन्दु-मुसलमान", "बंगाली-गुजराती" आदि विभिन्न वर्गों में बंटा हुआ है। भारतीय कार्यकारी वर्ग अभी तक वर्ग के रूप में अविभेदित है। इसके कारण औद्योगिकरण का निम्न स्तर, गांव और संयुक्त परिवार से लगाव की स्थिरता, जाति और अन्य सामाजिक संस्थायें, निम्न मजदूरी और पूर्ण जनसंख्या में निम्न रचना हैं।

7.3.6 अनुपस्थितता एवं श्रम-प्रतिस्थापितता की ऊँची दर

उनका एक मुख्य अभिलाक्षणिक गुण यह है कि उनकी कार्य से अनुपस्थित रहने का आदत है तथा अन्य देशों के श्रमिकों की अपेक्षा उनमें कारखाना बदलने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल है। अनुपस्थितता की दर 13 से 30 प्रतिशत है।

अनुपस्थितता मुख्यतः और अनधिकृत कारणों से है। अधिकृत कारणों में निम्नलिखित हैं :—

(अ) बीमारी, कुल अनुपस्थिति का 3 प्रतिशत इसमें सम्मिलित है।

(ब) दुर्घटना 0.2—0.4 प्रतिशत।

(स) अवकाश 3.0—3.5 प्रतिशत।

अनधिकृत कारणों में निम्नलिखित सम्मिलित हैं :—

(अ) कामगारों की थकान।

(ब) बुरी आदतें यथा- मद्यपान, जुआ आदि।

(स) कर्जदारी।

(द) अनुपस्थितता के लिए दण्ड।

(य) स्थानीय मेले आदि।

बेशक अनुपस्थितता उद्योग में एक प्रमुख श्रम-समस्या है। कामगारों की आय और दक्षता में ह्रास के अलावा उत्पादन में बड़ी हानि (5 से 25 प्रतिशत हानि) होती हैं। इस प्रकार उत्पादकता ह्रास से राष्ट्रीय आय को गहरा धक्का लगता है। इसलिए इस समस्या से इस आवश्यकता को बल मिलता है कि अनुपस्थितता को कम से कम करने तथा नियन्त्रित करने के लिए मार्ग और साधन विकसित किये जाने चाहिएं।

7.3.7 प्रवासी चरित्र

अधिकतर कामगार निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों के अप्रवासी हैं और ग्रामीण गृह में उनके

सम्बन्ध बने रहते हैं। वे प्रायः अपने गांव आते जाते रहते हैं। क्या गांव आज भी बच्चों, बूढ़ों थकेमादों, बेरोजगारों और बेरोजगार योग्यों के लिए असिमित रूप से अच्छे हैं? कामगारों का आंशिक प्रतिबद्धता का चरित्र और अस्थिरता केवल देश के आर्थिक विकास को ही मन्द नहीं करता अपितु व्यावसायिक संघों की शक्ति पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

ग्रामीण जनसंख्या का शहर की ओर प्रवास के तात्कालिक कारण इस प्रकार हैं :

(अ) कुटीर उद्योगों के पतन से भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव।

(ब) भूमिहीन कृषि मजदूरों की बढ़ती हुयी संख्या को अन्यत्र जीवन निर्वाह के लिए बाध्य करना।

(स) उच्च जाति के वर्गों द्वारा अनुसूचित जाति और अन्य शोषित वर्ग के लोगों, तथा सामाजिक निर्योग्यों के साथ बुरा व्यवहार।

(द) पारिवारिक झगड़े और विवाद,

(य) कर्जदारी।

प्रवास के फलस्वरूप कामगार अपने आप को पूर्ण रूप से सभी दृष्टियों से भिन्न पर्यावरण में पाते है। बन्द कारखानों, दृढ़ अनुशासन, अजीब परम्परायें और प्रथायें, भिन्न भाषा अनुकूल कार्य-दशायें, त्रुटिपूर्ण पोषण, आवास की कमी और अन्य भीड़-भाड़ जिसमें रहने के वे आदि नहीं हैं। नवीन पर्यावरणीय अवस्थाओं में कामगार का स्वास्थ्य कई दबावों के प्रभाव में आ जाता है। बीमारियों और बीमरी के कारण अन्य खतरे बढ़ जाते हैं। औद्योगिक संगठन पर प्रवासन का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और व्यावसायिक संघों का अस्वस्थ विकास होता है।

कार्य से अनुपस्थिति की बारम्बारता, श्रम की अस्थिरता, नियौकता-नियोक्ता में सम्पर्क स्थापित करने और उनमें सहयोग का संवेदन बनाने में बाधक हैं :—

— प्रबन्धन और कामगार दोनों ही दृष्टियों से श्रमिक का प्रवासन चरित्र दूसरे गम्भीर प्रतिकूलता में फलीभूत होते हैं।

— कई देशों में विभिन्न नये और विकसित उद्योगों की श्रम के लिए बढ़ती हुयी मॉग के परिणाम स्वरूप ग्रामीण प्रवास के प्रवाह ने कई ठोस आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया है जैसे औद्योगिकरण की बुराइयां, स्वास्थ्य और स्वास्थ्यकर अवस्था की कमी तथा देखभाल की कमी।

अन्त में, ग्रामीण और शहरी श्रमिकों की भर्ती के प्रवाह के साथ-साथ स्वतंत्र काम ढूंढ़ने वालों का प्रवाह भी प्रत्यक्ष में देखा जा सकता है, फिर भी, अस्थाई प्रवास के कुछ लाभ भी हैं। जो इस प्रकार हैं -

(i) औद्योगिक कामगारों में अधिकतर का पोषण ग्रामीण प्राकृतिक वातावरण में हुआ। अतः शारीरिक रूप से वे शहरियों की अपेक्षा अधिक पुष्ट होते हैं।

(ii) जहां कहीं भी गांवों से सम्पर्क बने रहते हैं, आवश्यकता पड़ने पर वापिस गांव जाने की सुविधा रहती है। शाही श्रम आयोग ने सही कहा है, "बीमारी, प्रसव-काल, हड़ताल, तालाबन्दी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था में कई लोगों के लिए गांव का घर आश्रय रहता है। यह तथ्य कि यह है, आवश्यक न होने पर भी सुरक्षा का संवेदन तो बना ही रहता है।"

(iii) शहरी जीवन मन को संकुचित और दृष्टिकोण को भ्रष्ट की अपेक्षा अधिकतर कामगारों में व्यापक बनाता है। गांवों में कई सुधार सम्भव हो गये हैं। तथा गांव स्वयं को प्रथाओं, पूर्वाग्रहों, परिवर्तन विरोधी भावनाओं की बेड़ियों से छुटकारा दिलाने में समर्थ हुए हैं।

नवीन अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ कि कामगारों का गांव से सम्बन्ध श्रम-शक्ति की अस्थिरता का कारण, अब न्यूनाधिक रूप में इतिहास का विषय बन चुका है। कामगारों के गांव से सम्बन्ध होते हैं। किन्तु वे आर्थिक व्यवसाय के लिए गांव नहीं जाते। वे केवल आराम करने या सामाजिक समारोहों के लिए या लम्बे अवकाश में ही गांव जाते हैं। श्रम शोध समिति (लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी) ने महसूस किया कि, "कारखाना के कर्मचारी कृषि-कार्य की अपेक्षा आराम और आरोग्यता के लिए अधिक, अपने सम्बन्ध गांव से बनाये रखते हैं।" ये कर्मचारी अपनी जमीन में कोई रुचि नहीं रखते तथा अपने द्वारा चुने गये व्यवसाय की जीवन पद्धति से जुड़ जाते हैं।

समिति द्वारा किये गये तथ्यात्मक सर्वेक्षण से स्पष्ट हुआ है कि औद्योगिक क्षेत्रों में कामगार वर्ग की बड़ी सान्द्रता ने अधिकतर शहरों में औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया हैं। समिति ने आगे महसूस किया कि; "कामगार बड़ी सीमा तक अपने न्यायसंगत अधिकारों और जीवन-निर्वाह के लिए ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरों तक ही सीमित थे। औद्योगिक नगर में श्रम शक्ति का स्थिरिकरण चयन की अपेक्षा अनिवार्यता थी।"

7.3.8 श्रमिक वचन-बद्धता

श्रमिक वचन बद्धता को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि, "औद्योगिक जीवन पद्धति के लिए उपयुक्त व्यवहार को स्वीकृत करना तथा इसका निष्पादन दोनों ही।" लेखक श्रमिक वचन बद्धता को निम्नलिखित चार संवर्गों में देखता है :—

(i) अनप्रतिबद्ध कामगार, जो कि औद्योगिक समाज का एक अस्थायी सदस्य है तथा औद्योगिक रोजगार को अपनी अस्थायी कठिनाई पर काबू पाने के लिए स्वीकार करता है और अल्प समय के लिए काम पर आने के बाद वापिस गांव चला जाता है।

(ii) आंशिक प्रतिबद्ध एक अर्द्ध प्रतिबद्ध कामगार है जो औद्योगिक रोजगार को स्थायी मानता है। किन्तु, हृदय से ग्रामीण ही रहता है और गांव से सम्पर्क बनाये रखता है।

(iii) सामान्य रूप से प्रतिबद्ध कामगार वह है जो औद्योगिक जीवन पद्धति से समायोजित हो जाता है, जो पूर्ण रूप से अपने जीवन यापन के लिए औद्योगिक रोजगार पर आश्रित रहता है और गांव के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखता।

(iv) विशिष्ट प्रतिबद्ध कामगार वह है जो कि किसी विशेष व्यवसाय और किसी विशेष उद्यम के साथ स्थायी रूप से जुड़ चुका हो।

चूंकि भारत में औद्योगिक कामगार ग्रामीण पृष्ठभूमि से होता हैं। उसका गांवों से स्थायी जुड़ाव होता है। औद्योगिक जीवन पद्धति में वह पूरी तरह धुलमिल नहीं पाता। इसलिए भारतीय उद्योगों में अनुपस्थितता प्रतिशत काफी ऊँचा है। औद्योगिक कामगारों में प्रतिबद्धता का स्तर बहुत निम्न है।

श्रमिक खोज समिति के वर्तमान अध्ययनों से, (प्रभु, सी.ए. माइरिस, मॉरिस और लैम्बार्ट द्वारा किये गये), स्पष्ट होता है कि जैसा कुछ लोग सोचते है भारतीय कारखानों में कामगारों की प्रतिबद्धता कम नहीं है। यद्यपि, प्रतिबद्धता का स्तर अपेक्षित नहीं है।

इसलिए, यहां स्थायी औद्योगिक जनसंख्या की अभिवृद्धि के चिन्ह मौजूद है। दूरदराज से आये कामगारों की प्रवृत्ति स्थायी रूप से शहरों में बसने की ओर है। वे शहरी वातावरण के आदि बनते जा रहे हैं। उद्योग के हित में स्थिर श्रमिक शक्ति अपेक्षित है। औद्योगिक क्षेत्र को हालतों- मकानों की हालतें, कार्य की मजदूरी-हालतें, रहने तथा कल्याणकारी उपायों तथा अन्य सुविधाओं में सुधार किया जाना चाहिए। जिससे उन कारणों, जिनसे कामगार वापिस गांव जाता है, को समाप्त और नियन्त्रित किया जाय। यदि ये उपाय किये जाय, विकसित और विकासशील देशों में श्रम समस्या का समाधान किया जा सकता है। यह सही कहा गया है कि स्थिर श्रम-शक्ति, "निष्ठा और सहयोगिता, अर्जित कौशल और व्यावहारिक समझ का समानार्थी है। इसका मूल्य होता है जिसको आसानी से वित्तीय पदों में मापा नही जा सकता है।"

7.4 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के सन्दर्भ में विकासशील देशों की श्रमिक-समस्या पर टिप्पणी दीजिए।
2. विकासशील देशों में श्रम-समस्या के लिए उत्तरदायी कारकों की समालोचनात्मक जाँच कीजिए।
3. भारतीय औद्योगिक श्रम के प्रमुख अभिलाक्षणिक गुण क्या हैं? समालोचनात्मक जाँच कीजिए।

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Lambert, R.D. — Workers, Factories and Social change in India, Princetan University Press; 1963.
2. Kher, Manik — Profile of Industrial Workers; The Time Research Fourdatia Poona; 1984.
3. Singh, V.B. — An Introduction to the Study of Labour Problems in India, 1967.
4. Manoria, C.B. — Dynamics of Industrial Relations, Third Revised Edition, 1999; Himalaya Publishing House, New Delhi. 1991.

इकाई 8

बेरोजगारी एवं अर्द्धरोजगार

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 बेरोजगारी का अर्थ

8.2.1 अर्द्धरोजगार या अल्परोजगार

8.3 दृश्य अर्द्धरोजगार का माप

8.3.1 अदृश्य अर्द्धरोजगार का माप

8.4 बेरोजगारी के अन्य माप

8.4.1 अस्वेच्छिक बेरोजगारी

8.4.2 खुली बेरोजगारी

8.4.3 चक्रीय बेरोजगारी

8.4.4 तकनीकी बेरोजगारी

8.4.5 घर्षण बेरोजगारी

8.4.6 संरचनात्मक बेरोजगारी

8.4.7 मौसमी बेरोजगारी

8.4.8 शिक्षित बेरोजगारी

8.4.9 शहरी बेरोजगारी

8.5 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

8.6 बेरोजगारी के कारण

8.6.1 विकास की धीमी प्रक्रिया

8.6.2 श्रम शक्ति में वृद्धि

8.6.3 अनुपयुक्त तकनीकी

8.6.4 अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली

8.6.5 गरीबी एवं कृषि का पिछड़ापन

8.6.6 राष्ट्रीय रोजगार नीति का अभाव

8.6.7 निजी उपक्रमों के लिए सरकारी नीति

8.7 बेरोजगारी दूर करने में सरकारी नीति

8.7.1 नियोजन के पूर्व की अवधि

8.8 मुख्य रोजगार कार्यक्रम
8.8.1 काम के बदले अनाज योजना
8.8.2 राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम
8.8.3 एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम
8.8.4 ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण (ट्राइसेम)
8.8.5 ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम
8.8.6 योजनाओं का क्रियान्वयन
8.9 छिपी हुई बेरोजगारी एवं पूंजी निर्माण
8.10 सुझावात्मक टिप्पणी
8.10.1 कृषि को पूर्णकालीन व्यवसाय बनाना
8.10.2 सहकारी कृषि
8.10.3 उद्योग एवं कृषि के मध्य सामंजस्य
8.10.4 जनसंख्या नियंत्रण एवं शिक्षा पद्धति के सुधार

8.0 उद्देश्य

भारत में बेरोजगारी की समस्या आज की सबसे ज्वलंत समस्या हैं इस इकाई का उद्देश्य आपको बेरोजगारी के स्वरूप व कारणों की संक्षिप्त संक्षिप्त जानकारी देना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप न केवल बेरोजगारी के अर्थ से परिचित हो जाएंगें बल्कि भारत में चलाए गए विभिन्न कार्यक्रमों से भी परिचित हो जाएंगे।

8.1 प्रस्तावना

बेरोजगारी विश्व की भयंकरतम समस्याओं में से एक है, जो विश्व के सभी देशों में फैली हुई है यद्यपि उनमें इसकी मात्रा का अंतर है। यह समस्या केवल अकुशल श्रमिकों तक ही सीमित नहीं हैं। कभी-कभी कुशल श्रमिक भी उचित प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरांत भी रोजगार प्राप्त करने के काफी समय तक बेरोजगार बने रहते है। आधुनिक आर्थिक प्रणाली इन सभी श्रमिकों को जो रोजगार प्राप्त करने को इच्छुक है, रोजगार देने में असफल रहती है। इसीलिए इस समस्या की तरफ सभी अर्थशास्त्रियों एवं प्रशासकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। भारत की बेरोजगारी व निर्धनता की समस्या अधिक स्पष्ट रूप से सामने आई है और इसे दूरे करने के लिए विशेष उपाय किये गये है। बेरोजगारी व्यक्तिगत परिवारों व सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को बहुत बुरी तरह प्रभावित करती हैं।

जब एक परिवार बेरोजगारी से प्रभावित होता है तो इसके जीवन स्तर में गिरावट अवश्यंभावी है। ये परिवार अपने कपड़े, ईंधन एवं आवास सुविधाओं में कमी करने लगते है। आर्थिक कठिनाइयाँ मानसिक भटकाव को जन्म देती है एवं आर्थिक अपराधें को बढ़ावा मिलता है। किसी भी समाज में बेरोजगारी आर्थिक व सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में बाधा पहुंचाती है। जब बहुत आर्थिक मात्रा में व्यक्ति बेरोजगार हो तो राष्ट्रीय उत्पादकता में वृद्धि असंभव है। श्रमिकों से उचित मजदूरी देना भी कठिन होता है। इस प्रकार बेरोजगारी उत्पादक शक्ति के उद्देश्यहीन समाप्ति को प्रकट करती है।

द्वितीय, बेरोजगारी असामान्य रूप से मानवीय शक्ति को नष्ट करती है। लम्बे समय

तक बेरोजगारी व्यक्ति के सम्मान व पद को सामाप्त कर देता है। इससें कुंठा व वैराग्य को बढ़ावा मिलता है। यह धीरे-धीरे व्यक्ति के व्यक्तित्व बोध व आनन्द को समाप्त कर देती है।

तृतीय बेरोजगारी श्रमिके के व्यवहार को दूषित कर देती है। एक श्रमिक हमेशा रोजगार खो देने की आंशका में रहता है।

बेरोजगारी के दौरान दैनिक मजदूर मुख्य रूप से अधिक नुकसानदेह स्थिति में होते है। बेरोजगारी के दौरान श्रमिकों की बचत भी समाप्त हो जाती है क्योंकि उनकी आय समाप्त हो चुकी होती है। इस अवधि में श्रमिकों का अपव्यय भी होता है।

बेरोजगारी से आर्थिक संस्थिति समाप्त होने के साथ बड़ी संख्या में व्यक्ति दैनिक मजदूरों में परिवर्तित हो जाते है। उनकी आय में कमी होती है और कुशलता समाप्त हो जाती है। श्रमिक का नैतिक बल समाप्त हो जाता है और आर्थिक पतन को जन्म देती हैं। उत्साहहीनता एवं नैतिक गिरावट बेरोजगारी के त्वरित परिणाम है। यह सामाजिक असंतोष को जन्म देती है एवं मजदूरों में वर्तमान सामाजिक व आर्थिक प्रणाली के प्रति असंतोष उत्पन्न होता है। व्यक्ति सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा चाहता है, जो व्यक्ति ऋण व गरीबी में जीवन जीने को बाध्य है उनमें क्रांतिकारी विचार पनपने लगते है। प्रोफेसर लेस्कोहेयर ने बेरोजगारी के प्रभावो का सारांश इस प्रकार दिया है :—

"अस्थिर बेरोजगारी श्रमिकों की दक्षता को इतने अधिक रूप से प्रभावित करती है कि इसे गिनना मुश्किल है। यह उसे शारीरिक रूप से कमजोर करती है, मस्तिष्क को शिथिल करती है, आशाओं को कमजोर करती है, लगातार व स्थिर प्रयास करने की क्षमता को नष्ट करती है, आत्म विश्वास व जिम्मेदारी की भावना को कमजोर करती है, तकनीकी दक्षता को पंगु बनाती है, मानव व संकल्प शक्ति को कमजोर करती है, अपनी असफलताओं का दूसरों पर दोषारोपण करने की प्रवृत्ति को जन्म देती है, साहस को कमजोर करती है, परिवार के बढ़ने की आशा व मितव्ययता को रोकती है, श्रमिक की इस भावना को नष्ट करती है कि वह परिवार की देखभाल कर रहा है, उसे चिंताग्रस्त व अपूर्ण भोजन के साथ काम पर भेजती है एवं उसे कर्ज में डूबोती है।"

बेरोजगारी एक बहुत बड़ी बुराई है। यह समाज को प्रदूषित करती है और देश के राजनीतिक तंत्रुओं को नष्ट करती है। यह शैतानों को जन्म देती है। यह सदाचारी को दुराचारी व ईमानदारी को अपराधी में बदल देती है। यह भ्रष्टाचार को संरक्षण देती है और असत्यता को महिमामण्डित करती है। यह ऐसी समाज को जन्म देती है जिसमें सत्य, ईमानदारी व कुलीनता न हो। बेरोजगारी राष्ट्र को दूषित करती है, देश की भूख को बढ़ाती है और इस भूख की आग में एक पिता के आदर्श गुण, एक पुत्र या पति के कर्त्तव्य सब जल कर राख हो जाते है।

बेरोजगारी की समस्या के इन सभी कारणों की वजह से सामाजिक आर्थिक साहित्य में यह एक ज्वलंत प्रश्न है। भारत में पिछले साढ़े चार दशकों में यह समस्या तीव्र गति से बढ़ी है किन्तु प्रभावपूर्ण हल नहीं निकाला जा सका है। इसी वजह से भारत में सभी प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है और यह देश की मूलभूत समस्या है।

8.2 बेरोजगारी का अर्थ

सामान्य रूप से कहा जाता है कि कोई भी व्यक्ति जो किसी उत्पादक कार्य में लगा हुआ नहीं हो वह बेरोजगार माना जाता है। यह बिना इच्छा के बेकार रहने के

विचार को प्रकट करता है। बेरोजगार वह व्यक्ति है जो काम करने की इच्छा व शक्ति होने के बावजूद वह अपने लिए काम ढूढ़ने में असफल रहता है। बेरोजगारी श्रम बाजार की वह अवस्था है जिसमें श्रम की पूर्ति इसकी मांग की तुलना में अधिक होती है। बेरोजगारी की धारणा केवल कार्यशील जनसंख्या जो 15-60 वर्ष की आयु के मध्य विद्यमान रहती है, के सम्बन्ध में ही मानी गई है। बेरोजगारी देश की उस अवस्था को माना जाता है जब देश के नवयुवक कार्य करने को तैयार है किन्तु उन्हें काम नहीं मिलता है।

अर्द्धविकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या विकसित पूंजीवादी देशों की समस्या से भिन्न है। विकसित देशों में बेरोजगारी प्रभावपूर्ण मांग में कमी या कीमत लागत असंतुलन या उपकरण या अन्य संरचनात्मक कारण जैसे पूंजी की कमी से उत्पन्न होती है। अर्द्धविकसित देशों में अर्द्धबेरोजगारी की समस्या बेरोजगारी की समस्या से अधिक महत्वपूर्ण है। प्रो. ए.ई. वाथ के अनुसार— "एक बेरोजगार व्यक्ति वह है जो योग्य है और कार्य करने को इच्छुक है किन्तु कार्य नहीं कर रहा है और रोजगार जिसके लिए वह स्थानीय मानको के अनुसार योग्य है, प्राप्त नहीं कर पाता है।"

8.2.1 अर्द्धरोजगार या अल्परोजगार

अर्द्धरोजगार बेरोजगारी की तुलना में अल्पविकसित देशों में और विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक फैली हुई है। इसमें उन सभी व्यक्तियों को सम्मिलित लिया जाता है जो अंशकालीन; मौसमी, आकस्मिक रूप से रोजगार में लगे हुए है या कम उत्पादक कार्यों में लगे हुए है। इस दृष्टि से कि उनकी उत्पादकता व आय कम है एवं मुश्किल से ही बढ़ सकती है। कभी-कभी अर्द्धरोजगार को दृश्य व अदृश्य रूप से भी परिभाषित किया जाता है। दृश्य का अभिप्राय अल्पकाल के लिए रोजगार प्राप्त होना है एवं अदृश्य या अभिप्राय एक निश्चित समय के लिए कम मजदूरी पर रोजगार प्राप्त होना है। अर्द्ध अल्परोजगार को छिपी हुई बेरोजगारी भी कहते हैं।

8.3 दृश्य अर्द्धरोजगार का माप

भारत में दृश्य अर्द्धरोजगार के माप के लिए समय मापदण्ड अपनाया जाता है जिसके अन्तर्गत एक श्रमिक जितने समय लाभ पद कार्य कर सकता है और जितना वह कार्य करता है उसका माप किया जाता है। संदर्भ अवधि ठीक पिछले सप्ताह को माना जाता है ताकि वह न बहुत कम हो और न बहुत अधिक हो। ग्रामीण क्षेत्र के लिए मौसमी परिवर्तन को महत्व दिया जाता है और सर्वेक्षण अवधि एक वर्ष मानी जाती है किन्तु एक वर्ष के लिए सर्वेक्षण अवधि मानने पर एक व्यक्ति के लिए सूचना प्राप्त करने पर अल्प अवधि के आधार पर प्राप्त सूचना का महत्व कम होने से विवारणी समस्या उत्पन्न हो जायेगी।

दृश्य अर्द्धरोजगार के विषय में समय मापदण्ड के आधार पर सूचना एकत्रित करने पर यह स्वयं सिद्ध माना पड़ेगा कि व्यक्ति लाभ पूर्ण कार्य पर लगा हुआ है। इस प्रकार के मापदण्ड में कुछ संदेह है। यह संदेह कृषि क्षेत्र के पूरक कार्यो की वजह से है।

8.3.1 अदृश्य अर्द्धरोजगार का माप

अवधारणात्मक एवं अन्य व्यवहारिक समस्याओं के कारण इस विषय पर अधिक कार्य नहीं हो पाया है। कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन ने अपनी सातवीं रिपोर्ट 1960 में कुछ मानक फार्मो का अध्ययन कर के कुछ निश्चित कार्यदिवस निर्धारित किये। इसने

उन फार्मों में कार्य करने वाले व्यक्तियों के वास्तविक कार्यदिवसों की तुलना करके अध्ययन किया। विचारणीय फार्मों को आगे फसलों का स्वरूप, सिंचाई, परिवार में वयस्क व्यक्ति, प्रति व्यक्ति कृषि भूमि के आधार पर समरूप वर्गीकृत किया। अर्द्धरोजगार को इस प्रकार अनुमानित किया। इस प्रकार अनुकूलतम फार्मों में लगने वाले कार्य दिवसों व वास्तविक मानव दिवसों का अंतर ज्ञात हो सकता है। भाड़े पर लिया गया श्रमिक भी सम्मिलित है। रबी एवं ख़रीफ दोनों फसलों में इस प्रक्रिया को अपनाया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रक्रिया की भी सीमाएं हैं किन्तु यह प्रक्रिया निश्चित रूप से अदृश्य अर्थ रोजगार को मापने की विधियों में एक कदम आगे है।

8.4 बेरोजगारी के अन्य माप

स्वैच्छिक बेरोजगारी

यह वह अवस्था है जब श्रमिक प्रचलित मजदूरी दर पर कार्य करने से मना करता है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब श्रमिक को उसकी सीमांत उत्पादकता से कम मजदूरी चुकाई जाती है। यह वह अवस्था है जब वे काम करना चाहते किन्तु फिर भी बेकार रहना पसंद करते है। भारत में शिक्षित व्यक्ति कम मेहनत के काम के अभाव में बेकार रहना पसंद करते है किन्तु जो अन्य की कमाई पर आश्रित रहते है वे परजीवी कहलाते है, न कि स्वैच्छिक बेरोजगार।

8.4.1 अस्वैच्छिक बेरोजगारी

यह बेरोजगारी की वह अवस्था है जब कार्य उपलब्ध नहीं होता है या कार्य पर्याप्त नहीं होता है। इसके विभिन्न प्रकार हो सकते है :—

छिपी हुई बेरोजगारी :— यह अर्द्धविकसित कृषि देशों में विशेष रूप से पाई जाती है। विस्तृत रूप में इसका आशय है कि इन देशों में कृषि क्षेत्र में लगे हुए काफी व्यक्तियों को वहां से हटा देने पर भी कृषि उत्पादन में कोई कमी नहीं आयेगी। अर्थात् इन व्यक्तियों की कृषि क्षेत्र में सीमांत उत्पादकता शून्य है। टी.डबल्यू. शुल्ज प्रथम अर्थशास्त्री थे उन्होंने 1964 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "परम्परा गत कृषि का रूपान्तरण" में इस तथ्य पर प्रकाश डाला। उन्होंने इपलुएंजा एपेडमिक टेस्ट के द्वारा बताया कि यदि कुछ व्यक्तियों को कृषि क्षेत्र से हटाया गया तो कुल उत्पादन में निश्चित रूप से कमी आयेगी। प्रो. ए.के. सेन ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में छिपी हुई बेरोजगारी की अवधारणा को परिवर्तन किया।

वर्तमान में जो सूचना उपलब्ध है उसके आधार पर हरित क्रांति क्षेत्र में कोई छिपी हुई बेरोजगारी नहीं है। पिछले डेढ़ दशकों में इस क्षेत्र में श्रमिकों को यहां लाया गया है। अन्य क्षेत्रों में बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव कृषि पर बढ़ता जा रहा है एवं कोई इस बात पर ध्यान देता है कि काफी व्यक्ति छोटी भूमि जोतों पर काम कर रहे है तो यह विश्वास होने लगता है कि इस क्षेत्रों में छिपी हुई बेरोजगारी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। यह केवल भ्रम है और इस सम्बन्ध में ठोस निर्णय गलत निष्कर्षों की ओर से जा सकता है। इस बारे में कुछ व्यक्ति स्तर के शोध किये गये है। शकुंतला मेहरा ने अपने पत्र भारतीय कृषि में अवशेष श्रम जो इन्डियन इकोनोमिक रिव्यू में प्रकाशित हुआ था तथा इसमें बताया कि 1960 में कृषि क्षेत्र में 17.1 प्रतिशत व्यक्ति अतिरेक श्रम के रूप में थे। ये आकड़े अलग-अलग राज्यों के लिए अलग-अलग थे। अन्यों ने अन्य राज्य स्तरीय आकड़े भी प्रस्तुत किये है। जे.एस. उपाल ने अपने पत्र "पंजाब में कृषि

क्षेत्र में छिपी हुई बेरोजगारी का माप" में बताया कि 1956-57 में पंजाब में कृषि क्षेत्र में लगे हुए श्रमिकों का बाहरवां हिस्सा अतिरेक श्रम के रूप में था। उसने आगे भी कहा कि वह कृषि फार्मों की तुलना में छोटे कृषि फार्मों में छिपी हुई बेरोजगारी कम मात्रा में पाई जाती है।

8.4.2 खुली बेरोजगारी

यह दृश्य बेरोजगारी की दशा है जो विकसित व अर्थ विकसित दोनों देशों में पाई जाती है। इसके विभिन्न प्रकार होते हैं।

विस्फोतिकारी बेरोजगारी :- यह विकसित देशों में सामान्य रूप से पाई जाती है अधिक बचत अनुपात के कारण विकसित देशों में प्रभावपूर्ण मांग में कमी हो जाती है। जिसमें अल्पकाल में उत्पादन कम हो जाता है और फलस्वरूप बेरोजगारी फैलना लगती है। इसी वजह से विकसित देश रोजगार नीति में स्थमित्व की समस्या से चिंतित रहते है।

8.4.3 चक्रीय बेरोजगारी

एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था में इस प्रकार की बेरोजगारी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रकार देशों में आर्थिक गतिविधियों में उतार-चढ़ाव सामाजिक-आर्थिक प्रणाली की अनियोजित व अनियंत्रित प्रकृति के कारण होता है। व्यापार चक्र की स्थिति अर्थात् मंदी के बाद तेजी एवं इसी तरह आर्थिक गतिविधियों में गिरावट सामान्य बेरोजगारी के कारण है। मोद्रिक व गैर मौद्रिक तत्वों के कारण भी बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है।

8.4.4 तकनीकी बेरोजगारी

इस प्रकार की बेरोजगारी सामान्य रूप से विकासशील देशों में पाई जाती है। इन देशों में नई तकनीकी के साथ श्रम का सामंजस्य न हो पाने के कारण इस प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है। यह स्थिति तब भी उत्पन्न होती है जब नई प्रक्रिया में नई मशीनों के कारण विशिष्ट श्रमिकों को वहां नहीं लगाया जा सकता है। विकासशील देशों में उत्पादन की लागत कम करने के लिए श्रम उत्पादन अनुपात कम रखने के प्रयास के श्रम की मात्रा कम करने के उपाय अपनाये जाते है। श्रम की अगतिशीलता के कारण भी श्रम की मात्रा घटाने के उपाय किये जाते है। दीर्घकाल में श्रम घटाने के ख्यालों से उत्पादन में कई गुना वृद्धि हो सकती है किन्तु अल्पकाल में सामंजस्य स्थापित करने में तकनीकी बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है।

8.4.5 घर्षण बेरोजगारी

जब श्रम की मांग व पूर्ति की स्थिति में समायोजन रहता है तो श्रमिक अल्पसमय के लिए बेरोजगार हो जाते है और इसे ही घर्षण बेरोजगारी की संज्ञा दी जाती है। यह समायोजन श्रम की अगतिशीलता, कार्य की मौसमी प्रकृति, कच्चे माल की कमी, संयत्र की खराबी या रोजगार के अवसरों की जानकारी का अभाव के कारण हो सकता है। ए.पी. लर्नर ने अपनी पुस्तक रोजगार का अर्थशास्त्र में इस बात पर प्रकार डाला है कि श्रम की गतिशीलता बढ़ने से घर्षण बेरोजगारी ने कमी आती है। उनसे कहा कि यदि पूर्ण रोजगार की प्राप्ति खाली बर्तन में पानी भरने के समान है तो श्रम की गतिशीलता में वृद्धि बर्तन के आकार में वृद्धि के समान है जिससे अधिक पानी की मात्रा इसके अंदर आ सके।

8.4.6 संरचनात्मक बेरोजगारी

इस प्रकार की बेरोजगारी तब उत्पन्न होती है जब संरचनात्मक कुसमायोजन हो और

उत्पादन क साधनों की कमी होती है। देश में भूमि, पूंजी या दक्ष श्रम की कमी होने के कारण श्रम बाजार में संरचनात्मक असंतुलन होने से बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है। यह उद्योग के आकार में कमी या उद्योग की भोगोलिक स्थिति में परिवर्तन के कारण भी हो सकता है। यदि श्रमिकों को उद्योग से तुरंत बाहर निकाला जाता है। तो वे तुरन्त रोजगार प्राप्त नहीं कर सकते।

8.4.7 मौसमी बेरोजगारी

अर्द्धविकसित कृषि देशों ने मौसमी बेरोजगारी एक प्रमुख विशेषता के रूप में हैं। कृषि चूंकि एक मौसमी कार्य है अतः अन्य समय के लिए श्रमिक बेरोजगार रहता है। यह उन उद्योगों में भी पाई जाती है जो अपना कच्चा माल कृषि क्षेत्र से प्राप्त करते है। विकसित देशों में इस प्रकार की बेरोजगारी मांग या उत्पादन में परिवर्तन के कारण पाई जाती है।

8.4.8 शिक्षित बेरोजगारी

शिक्षित बेरोजगारी देश के आर्थिक विकास व गलत शिक्षा नीतियों के कारण पाई जाती है। शिक्षित बेरोजगार एक खतरनाक व्यक्ति होता है वह अपनी बात को बताता है, उसका प्रभाव है और वह अपनी पीड़ा को समझता है। शिक्षित युवकों को रोजगार प्राप्त करने के लिए अवसर नहीं दिया जाता और इस प्रकार के कठोर पीड़ा भोगते है। भारतीय शिक्षा पद्धति में केवल साक्षरता है और हमारे स्नातक युवक क्लर्क, या शिक्षक के अलावा अन्य स्थानों के लिए उपयुक्त नहीं होते है। सीमित स्थानों के लिए बढ़ते हुए स्नातकों को रोजगार के लिए उपयुक्त नहीं होते है। सीमित स्थानों के लिए बढ़ते हुए स्नातकों को रोजगार देना संभव नहीं होता है इस प्रकार शिक्षित लोगों में बेरोजगारी वढ़ती जा रही है। तकनीकी शिक्षा के व्यापक विस्तार से भी शिक्षित लोगों में बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। औद्योगिक व व्यावसायिक प्रणाली बढ़ती हुई तकनीकी परिवर्तनों के कारण शिक्षित युवकों को रोजगार के अवसर नहीं दे पा रही है।

श्रम व रोजगार मंत्रालय के अनुसार 1951 में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 2.44 लाख थी जो बढ़कर 1972 से 32.0 लाख हो गई। योजना आयोग द्वारा 1980 में यह 34.72 लाख अनुमानित की गई। 1985 में यह 1951 की तुलना में 20 गुना अधिक अनुमानित की गई। 1985 में 26 प्रतिशत स्नातक व 74 प्रतिशत मैट्रिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा प्राप्त थे। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारी शिक्षा प्रणाली में व्यावसायिक प्रशिक्षण बहुत कम मात्रा में है और वे क्लर्क बनने की दौड़ में रहते है। फलस्वरूप शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि होती जाती है। ब्लांग, लेयर्ड एवं चुहहात जैसे अर्थशास्त्री ने शिक्षित बेरोजगारी की धारणा के सम्बन्ध में बताया की शिक्षित बेरोजगारों की मांग सापेक्षिक स्थिर रहती है जबकि पूर्ति स्थिर रूप से बढ़ती रहती है। भारत में शिक्षा की निजी लागत इसकी भावी आय की तुलना में काफी कम है। इसी कारण से काफी व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त करने को प्रेरित रहते है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य सरकारी नौकरी प्राप्त करना या बेरोजगार के अवसरों में वृद्धि करना है।

भारत में शिक्षित बेरोजगारी की समस्या प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अधिक पैदा हुई और बम्बई, मद्रास, बंगाल व पंजाब में जांच समितियां नियुक्त हुई और यह पाया गया कि शिक्षित बेरोजगारी नियमित रूप से बढ़ रही है तथा यह बेरोजगारी अन्य बेरोजगारी के स्वरूपों से अधिक खतरनाक है। इन विभिन्न समितियों के निष्कर्षों से भिन्नता थी किन्तु

इनमें यह समानता थी कि शिक्षित युवकों की संख्या में तेज गति से वृद्धि हो रही है किन्तु सरकारी क्षेत्र या निजी क्षेत्र में उनकी मांग से बहुत कम वृद्धि हो रही है।

8.4.9 शहरी बेरोजगारी

शिक्षित बेरोजगारी को मुख्य रूप से औद्योगिक बेरोजगारी व शिक्षित बेरोजगारी में बांट जा सकता है। शहरी बेरोजगारी के सम्बन्ध में कुछ अनुमान निम्न प्रकार है :—

तालिका 8.1

शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारी

	स्त्रोत	वर्ष	बेरोजगारी (लाखों में)
1.	आर.सी. भारद्वाज	मार्च 51	25
2.	राष्ट्रीय सेम्पल सर्वे संमक	सित. 53	24
3.	राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे समंक	मई 56	34
4.	आर.सी. भारद्वाज	मई 61	45
5.	सातवीं योजना	मार्च 05	61
6.	राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे 38वां राउण्ड	मार्च 85	42

तालिका 8.1 के आंकड़े बताते है कि शहरी बेरोजगारी लगातार बढ़ रही है। यह निरपेक्ष रूप में ही नहीं सापेक्ष रूप में भी बढ़ रही है।

8.5 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

योजना आयोग ने 1980 एवं 1985 के वर्षों के लिए बेरोजगारी के अनुमान उपलब्ध कराते है।

तालिका 8.2

मार्च 1980 में बेरोजगारी (लाखों में)

क्र.सं.	अवधारणा	(5+)	आयु वर्ग (15+)	(15-59)
1.	सामान्य स्थिति	120.2	114.2	113.1
2.	साप्ताहिक स्थिति	121.8	116.4	113.6
3.	दैनिक स्थिति	207.4	197.7	191.7

इन आंकड़ों के आधार पर योजना आयोग ने बताया है कि सामान्य स्थिति में 75 प्रतिशत रोजगार प्राप्त करने वाले व्यक्ति वे थे जो श्रम शक्ति में नये जुड़े थे। यह भी बताया कि बेरोजगारी की दर ग्रामीण क्षेत्र की तुलना में शहरी क्षेत्र में अधिक थी।

1985 में सामान्य स्थिति की बेरोजगारी के अनुमान राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे के 32वें दौर व रोजगार व बेरोजगारी के 38वें दौर के प्रथम दो उपदौर के आधार पर थे।

तालिका 8.3

मार्च 1985 में बेरोजगारी की सामान्य स्थिति) (लाखों में)

आयु वर्ग	32वें दौर पर आधारित	38वें दौर पर आधारित
(5+)	138.9	92.0
(15+)	132.5	87.7
(15-58)	131.0	86.7

मार्च 1985 के सामान्य स्थिति के बेरोजगरी के अनुमान जो कि 32 वे दौर पर आधारित है। इसकी की तुलना मार्च 1980 के सामान्य स्थिति के बेरोजगारी के अनुमान से की जा सकती है। यह दर्शाता है कि बेरोजगारी निरपेक्ष रूप में बढ़ी है। 38 वें छोर के आकड़ों के बारे में अर्थशास्त्रियों के द्वारा माना गया है कि वे कम अनुमानित किये गये है।

8.6 बेरोजगारी के कारण

भारत में बेरोजगारी के लिए मुख्य संरचनात्मक ढांचा जिम्मेदार है फिर भी भारत में बेरोजगारी के मुख्य कारण निम्नलिखित है :—

8.6.1 विकास की धीमी प्रक्रिया

किसी भी देश के विकास का स्तर इसके रोजगार के स्तर को प्रभावित करता है। उत्पादन की वृद्धि के साथ रोजगार के अवसरों में विस्तार होता है। योजना काल में विकास की दर धीमी रही जबकि जनसंख्या में वृद्धि तेज गति से बड़ी फलस्वरूप बेरोजगारी में निरपेक्ष रूप वृद्धि हुई। तीव्र विकासशील अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक संसाधनों को उचित तरीके से उपयोग होता है जिससे बेरोजगारी पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। भारत में दो दशक तक ये योजना काल में महालनोबिस प्रारूप को अपनाया गया और पाँचवी पंचवर्षीय योजना में विकास व रोजगार में परस्पर विरोध को अन्तर्निहित मानकर व्यूह रचना अपनायी गयी। इसके पहले यह माना जाता था कि विकास से स्वतः ही बेरोजगारी समाप्त हो जायेगी।

8.6.2 श्रम शक्ति में वृद्धि

जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। जिससे श्रम शक्ति में वृद्धि हुई है। जनांकिकीय एवं सामाजिक कारण इसके लिए जिम्मेदार है। जनांकिकीय कारण प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार है जबकि सामाजिक कारणों से भी श्रम शक्ति से अभूतपूर्ण वृद्धि हुई है। दृष्टिकोण में परिवर्तन के कारण अब महिलाएं भी पुरूषों के बराबर रोजगार में आगे आ रही है। जिससे बेरोजगारी में लगातार वृद्धि होती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह छिपी हुई बेरोजगारी के रूप में है जबकि शहरी क्षेत्रों में यह दृश्य बेरोजगारी रूप में है। इसका मूलभूत कारण यह है कि आर्थिक विकास से नये रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हो पाई है। कृषि क्षेत्र में जनसंख्या की वृद्धि से ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र में व्यक्तियों के जाने से बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।

8.6.3 अनुपयुक्त तकनीकी

भारत में पूंजी कम मात्रा में है जबकि श्रम का बाहुल्य है। यदि बाजार प्रणाली को स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है तो देश के श्रम गहन तकनीकी का प्रयोग किया जायेगा। यूरोपीय देशों में विकास प्रक्रिया में श्रम को पूंजी से प्रतिस्थापित किया जा रहा है। उत्पादन प्रक्रिया नें आर्थिक विवेकशीलता के लिए गैरभेदभावपूर्ण मशीनीकरण किया जाता है और यह प्रदर्शनात्मक प्रभाव का परिणाम हैं। ल्यूइस ने भी इसका समर्थन किया है कि जिस देश में अधिक मात्रा में अकुशल श्रमिक हो वहां उत्पादन प्रविधि के बारे में चयन करते समय अधिक सावधनी बरती जानी चाहिए। उसने कहा कि पूंजीगत संयंत्र में विनियोग एक पूंजीपति के लिए अधिक लाभप्रद हो सकता है किन्तु यह समाज के लिए लाभप्रद नहीं हो सकता क्योंकि इससे बेरोजगारी बढ़ती है और उत्पादन नहीं बढ़ता।

8.6.4 अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली

भारत में शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है। इसमें अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और उपनिवेश काल में मैकाले द्वारा प्रचलित शिक्षा पद्धति अभी तक चली आ रही है। मानवीय संसाधनों का विकास शिक्षा नीति का लक्ष्य नहीं है। इसमें सरकारी व निजी क्षेत्र के लिए निचले स्तर के कर्मी उत्पन्न किये है। इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं में वृद्धि के साथ बेरोजगारी में वृद्धि हुई है। गुन्नार मिर्डल ने कहा है कि जो इस प्रकार कि शिक्षा ग्रहण करते है वे अपर्याप्त शिक्षित नहीं है वरन् गलत रूप से शिक्षित है। यदि देन से बेरोजगारी को समाप्त करना है तो शिक्षा प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन आवश्यक है। मानवीय संसाधनों के उचित विकास में शिक्षा प्रणाली की सहायता आवश्यक है जिससे उन सभी को रोजगार प्राप्त हो सके और वे शिक्षा ग्रहण कर सके।

8.6.5 गरीबी एवं कृषि का पिछड़ापन

गरीबी एवं बेरोजगारी एक दूसरे के पूरक है। एक व्यक्ति गरीब है क्योंकि वह बेरोजगार है। वह बेरोजगार है क्योंकि वह गरीब है। एक गरीब व्यक्ति के पास लाभ पर कार्य के लिए संसाधन हीं है। यह तथ्य राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण के 32वें दौर में बेरोजगारी एवं मासिक प्रति व्यक्ति व्यय में प्रतिस्थापित हुआ है।

8.6.6 राष्ट्रीय रोजगार नीति का अभाव

विभिन्न योजनाओं में कुछ कार्यक्रमों के अलावा बेरोजगारी हटाने के लिए कोई विशेष नीति का क्रियान्वयन नहीं किया गया है। रोजगार के अवसरों को योजना के दौरान विकास का प्रतिफल माना गया है। रोजगार सृजन के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन क लिए कोई कानूनी प्रावधान नहीं है। मानव शक्ति नियोजन के लिए कोई ठोस उपाय नहीं किये गये है। मानव शक्ति नियोजन के लिए कोई ठोस उपाय नहीं किये गये है। स्पष्ट रोजगार नीति के स्वभाव में बेरोजगारी एवं अर्द्धबेरोजगारी में प्रत्येक योजना में वृद्धि हुई है।

8.6.7 निजी उपक्रमों के लिए सरकारी नीति

रोजगार सृजन हेतु निजी क्षेत्र के लिए सरकारी नीति सहायक नहीं रही है। अभी तक लाइसेंस नीति पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहा है। अभी नियमित कर दरों एवं मजदूरी सीमा में वृद्धि से निजी उपक्रमों के विस्तार को प्रोत्साहन नही मिला है। इन सभी बेरोजगार के स्तरों का सृजन नहीं हुआ है।

8.7 बेरोजगारी दूर करने में सरकारी नीति

भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों में बेरोजगारी को दूर करने को प्रमुख बताया जाता है। किन्तु अब तक की सभी योजनाओं में दीर्घकालीन रोजगार नीति का अभाव रहा है जो बेरोजगारी को दूर कर सके। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में इस विषय पर संदेह करता है। रोजगार वृद्धि के उपायों को प्राथमिकता नहीं दी गई। यह डर था कि इससे विकास की प्रक्रिया में शिथिलता आयेगी और उपभोग ने वृद्धि होगी। महिलाओं में रोजगार प्राप्ति की इच्छा में वृद्धि से भी बेरोजगारी की मात्रा एवं प्रकृति में बदलाव आया है।

8.7.1 नियोजन के पूर्व की अवधि

प्रथम योजना के आरंभ मे लगभग 33 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इस योजना में 90 लाख व्यक्ति और बेरोजगार की पंक्ति में जुड़ने की संभावना था। इस प्रकार

123 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने का लक्ष्य रखा गया। किन्तु इस अवधि में केवल 70 लाख व्यक्तियों को ही रोजगार प्रदान किया जा सका और योजन के अंत में 53 लाख व्यक्ति बेरोजगार रह गयें। यह अपेक्षा थी कि कुटीर उद्योग, नहर तथा सड़कों के निर्माण से अधिकतम लोगों को रोजगार प्रदान किया जा सकेगा किन्तु इसमें अधिक सफलता नहीं मिली। द्वितीय व तृतीय योजनाओं की नीतियों में भी कोई परिवर्तन नहीं यिा गया। संगठित क्षेत्र के रोजगार के अवसरों की उपलब्धता प्रर्याप्त नहीं थी। फलस्वरूप 1969 तक 220 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। चौथी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण विकास के विस्तृत कार्यक्रम अपनाये श्रम गहन कार्यक्रम, उद्योगों मे श्रम गहन तकनीकी, घरेलू एवं विदेशी बाजारों में श्रम गहन औद्योगिक उत्पादन को बढ़ावा दिया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि सैद्धांतिक रूप में बेरोजगारी समाप्ति की व्यूह रचना अपनायी। किन्तु व्यवहार में पूर्व नीतियों से हटकर कोई नई बात नहीं हुई।

पांचवी योजना में योजना आयोग को यह आशा थी कि विकास कार्यक्रमों के द्वारा रोजगार सृजन होगा। इसमें श्रम गहन कार्यक्रमों को बढ़ावा देने पर जोर दिया। योजना में कुछ ग्रामीण कार्यक्रमों पर भी विशेष ध्यान दिया जो रोजगार के अवसरों को बढ़ावा दे सकते थे। इसके उद्देश्यों से क्रय शक्ति का पुनः वितरण श्रम गहन वस्तुओं की मांग में वृद्धि ग्रामीण संरचना एवं सामाजिक सेवाओं में त्वरित विनियोग सम्मिलित थे।

छठी योजना के दस्तावेज में योजना आयोग ने इस कटु सत्य को स्वीकार किया दीर्घकालीन आर्थिक नियोजन के बावजूद रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाई है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए रोजगार नीति में दो महत्वपूर्ण लक्ष्य निर्धारित किये। प्रथम श्रम शक्ति में विद्यमान अल्परोजगार को कम करना और द्वितीय दीर्घकालीन बेरोजगारी की मात्रा में कमी करना। हमारी अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था होने के कारण वहां सरकारी क्षेत्र के साथ निजी क्षेत्र एवं सहकारी क्षेत्र भी विद्यमान है। सरकार स्वयं सभी क्षेत्रों में रोजगारसृजन हेतु कृत संकल्प है। गैर कृषि कार्यो से सम्बन्धित गतिविधियों, लघु एवं कुटीर उद्योग, कृषि क्षेत्र मे स्वयं रोजगार पर अधिक ध्यान दिया गया। कुछ रोजगार सृजन के कार्यक्रम जैसे — एकीकृत ग्रामीण विकास परियोजना, आपरेशन फ्लड द्वितीय, डेयरी योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, लघु किसान विकास एजेंसी आदि आरंभ किये।

सातवीं योजना में उत्पादन व विनियोग की उपयुक्त मात्रा को अपनाने का लक्ष्य अपनाया, तकनीकी की उपयुक्त प्रकार, उत्पादन तकनीकी एवं संगठनात्मक सहयोग का सही अनुपात का लक्ष्य निर्धारित किया। रोजगार सृजन के लिए कृषि क्षेत्र के योगदान को योजना में ध्यान दिया गया।

8.8 मुख्य रोजगार कार्यक्रम

देश में रोजगार के लिए निम्नलिखित मुख्य कार्यक्रम आरंभ किये हैं इनका विस्तार पूर्वक वर्णन इस प्रकार हैं :—

8.8.1 रोजगार गारन्टी योजना

यह योजना महाराष्ट्र सरकार द्वारा 1972-73 में आरंभ की गई थी ताकि ग्रामीण क्षेत्र के 18 वर्ष या इससे अधिक आयु के अकुशल युवाओं को रोजगार प्राप्त हो सके। उन्हें प्रचलित मजदूरी दर पर मानवीय श्रम करना था। यह माना गया कि वहां 50 अथवा इससे अधिक रोजगार की तलाश में व्यक्ति रहते हैं उसके 5 किलोमीटर की परिधि में

नया कार्यक्रम आरंभ करना था एवं उत्पादक कार्य किया जाना था तथा श्रम का भाग एवं उपकरण के भाग का खर्च में अनुपात 60:40 से कम नहीं रखा जाना था। 1983-84 में 1645 लाख मानव दिवसों का रोजगार का सृजन किया गया। 90 प्रतिशत व्यक्ति जो इस योजना के तहत रोजगार प्राप्त कर सके। वे गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जीवन यापन करते थे।

8.8.2 काम के बदले अनाज योजना

यह योजना गैर योजना मद के रूप में आरंभ की गई थी। इसके उद्देश्य रोजगार का सृजन, एवं पोषण आय में वृद्धि एवं ग्रामीण संरचना को मजबूत करना था। यह माना गया कि इस योजना से एक वर्ष में 40 करोड़ मानव दिवस रोजगार का सृजन होगा किन्तु यह योजना केवल अल्पकाल के लिए ही लागू रही। यह योजना काफी अच्छी थी किन्तु इसके क्रियान्वयन में कुछ हानियां थी।

8.8.3 राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम

वह योजना छठीं योजना का हिस्सा थी किन्तु यह सातवीं योजना तक भी लागू रही। ग्रामीण जनसंख्या का बड़ा भाग जो कि मुख्य रूप से दैनिक मजदूरी पर आश्रित रहता है। उसके पास कृषि क्षेत्र में हानि होने पर आय का अन्य कोई स्त्रोत नहीं होता है। यह कार्यक्रम केन्द्र प्रवर्तित योजना के रूप लागू किया गया जिसमें केन्द्र सरकार का एवं राज्य सरकार की हिस्सा 50:50 के अनुपात में था। छठी योजना में इस पर 1620 करोड़ रूपये व्यय का प्रावधान रखा गया था।

8.8.4 एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम

यह कार्यक्रम छठी योजना में गरीबी उन्मूलन के रूप में आरंभ किया गया। इसके अन्तर्गत रेशम उत्पादन, पशुपालन तथा प्राथमिक क्षेत्र में कृषि आधारित गतिविधियों द्वारा स्वयं रोजगार का सृजन किया जाना था। सम्पूर्ण देश में सभी खण्डों में 15 लाख परिवारों एवं प्रति खण्ड 3000 परिवारों को लाभान्वित करना था। छठी योजना में इस कार्यक्रम के लिए 1500 करोड़ रू. का प्रावधान किया गया था एवं बैंकों के द्वारा भी 3000 करोड़ का चयनित परिवारों को ऋण देना का लक्ष्य रखा गया था। इस कार्यक्रम का विभिन्न संस्थाओं द्वारा मूल्यांकन करने पर पाया गया कि यह अन्य कमियों के अलावा उपयुक्त रोजगार प्रदान करने में असफल रहा है।

8.8.5 ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण (ट्राईसेम)

यह योजना ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार प्राप्त करने के उद्देश्य से चालू की गई थी। इसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष 2 लाख ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण देने का लक्ष्य रखा गया था। प्रति खण्ड से 40 युवकों का चयन किया जाना था जिनकी पारिवारिक आय 3500 रूपये वार्षिक से कम हो। अनुसूचित जाति एवं जनजाति के युवकों को प्राथमिकता दी जानी थी। छठी योजना में 10.05 लाख के मुकाबले 9.4 लाख युवकों को प्रशिक्षण दिया गया।

8.8.6 ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम

इस योजना का सूत्रपात 15 अगस्त 1983 से किया गया इसका उद्देश्य ग्रामीण भूमिहीन व्यक्तियों को रोजगार के अवसरों की मात्रा में वृद्धि करना था। इसके अन्तर्गत भूमिहीन परिवारों के कम से कम एक व्यक्ति को एक वर्ष में 100 दिन रोजगार प्रदान

करना था। इसके लिए केन्द्र में 500 करोड़ रू. का बजट प्रस्तावित किया गया था जिसका क्रियान्वयन राज्यों को करना था। केन्द्रीय समिति ने 320 योजनाओं के लिए 906.6 करोड़ रू. व्यय करने हेतु स्वीकृत किये। 3600 लाख मानव दिवसों के लक्ष्य के मुकाबले 2601.8 लाख मानव दिवसों का रोजगार सृजन किया गया।

8.8.7 योजनाओं का क्रियान्वयन

इन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी पंचायत राज संस्थाओं को सोपी गई थी जबकि ये संस्थाएं अब भ्रष्टाचार के अड्डे बन चुकी है। हमारे समाज में इन कार्यक्रमों का लाभ गरीबों के स्थान पर अमीरों को प्राप्त हो रहा है। तीन मूलभूत समस्याओं के कारण इन कार्यक्रमों का उचित रूप से क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। प्रथमतः उचित कार्य का चुनाव जो कि किया जाना है, द्वितीय इस कार्यक्रम के लिए आर्थिक संसाधनों की प्राप्ति तथा तृतीय ग्रामीण कार्यक्रमों के संगठन में स्पष्टता का अभाव। योजना आयोग ने हमेशा उन कार्यक्रमों का समर्थन किया है जो बेरोजगारों के घरों के नजदीक रोजगार का सृजन करते है। ये कार्यक्रम बड़ी मात्रा में कृषि श्रमिकों को कृषि से पूर्ण रूप से अलग करते है। किन्तु केवल समस्या यह है कि कोई भी कार्यक्रम भारत में मापदण्ड पर खरा नहीं उतरा है।

8.9 छिपी हुई बेरोजगारी एवं पूंजी निर्माण

भारत में छिपी हुई बेरोजगारी बहुत मात्रा में है और इस अतिरेक श्रम को कृषि क्षेत्र से हटाकर अन्य क्षेत्र में लगाया जाय जहां इसकी उत्पादकता शून्य से अधिक है तो इससे राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने में मदद मिलेगी जिससे देश की खपत क्षमता में वृद्धि होगी और पूंजी निर्माण में अनुभूत प्रभाव पड़ेगा।

किन्तु इस अतिरेक श्रम को अन्य क्षेत्र में किस प्रकार लगाया जाय जहां पर पहले से ही पूंजी की मात्रा कम है। इन व्यक्तियों की सेवाएं वास्तविक पूंजी निर्माण में ली जानी चाहिए। इन व्यक्तियों को सिंचाई, पानी का निकास, नहर, रेलवे, मकान, फैक्ट्रियां, प्रशिक्षण योजनाओं में लगातार पूंजी का निर्माण किया जाना चाहिए।

चूकिं बचत का छठा भाग शहरी वर्ग द्वारा किया जाता है ओर इसका एक भाग ही पूंजीगत कार्यक्रमों हेतु उपलब्ध हो पाता है। राज्य आय पर एवं व्यय पर कर लगाकर अपने आय के स्रोतों को बढ़ा सकता है। कुछ में विदेशी पूंजी का भी आयात किया जा सकता है। इन व्यक्तियों के लिए भोजन की आपूर्ति हेतु वैकल्पिक व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

इस अतिरेक श्रम को कृषि क्षेत्र से पूंजीगत योजनाओं में स्थापित की जानी वाली लागत कृषि क्षेत्र से प्राप्त की जा सकती है। कृषि क्षेत्र में छिपी हुई बेरोजगारी अपने आप में छिपी हुई बचत का प्रमाण है। कृषि क्षेत्र का अनुत्पादक श्रम उत्पादक श्रम में परिवर्तित होगा और राष्ट्रीय उत्पादन में बचत में वृद्धि कर होगी। और कृषि क्षेत्र के श्रमिकों का अनुत्पादक उपभोग उत्पादन उपभोग में परिवर्तित होगा। नर्कसे ने यह मत दिया कि पूंजीगत योजनाओं में लगाये गये इन श्रमिकों का उपभोग व्यय कृषि क्षेत्र से प्राप्त होगा। छिपी हुई बेरोजगारी से बचत प्राप्त करने की नर्कसे की योजना प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों एवं कीन्स के दृष्टिकोण के मध्य की स्थिति को दर्शाती है। प्रतिष्ठित माडल, जो कि पूर्ण रोजगार को मान कर चलता है। विनियोग के स्तर से वृद्धि द्वारा उपभोग स्तर में कमी की जा सकती है। जबकि कींन्सियन माडल में उपभोग व विनियोग दोनों में साथ-साथ कमी या वृद्धि की जा सकती है। नर्कसे के मॉडल में विनियोग में वृद्धि

के लिए उपभोग में कमी आवश्यक नहीं है किन्तु एक साथ विनियोग एवं उपभोग में वृद्धि की संभावना में छिपी हुई बेरोजगारी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

8.10 सुझावात्मक टिप्पणी

यह एक वास्तविक तथ्य है कि बेरोजगारी की समस्या पर स्थायी नियंत्रण के लिए रोजगार बाजार का सुव्यवस्थित संगठन होना आवश्यक है। उद्योग में संरचनात्मक परिवर्तन या अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली में संघर्ष के कारण बेरोजगारी होने पर इसे समाप्त करने पर रोजगार बाजार की महत्वपूर्ण भूमिका है। यहां कुछ व्यावहारिक सुझाव निम्नलिखित है :—

8.10.1 कृषि को पूर्णकालीन व्यवसाय बनाना

भारत में कृषि एक मौसमी व्यवसाय है अतः इसे पूर्णकालिक व्यवसाय बनाना महत्वपूर्ण है। सैद्धांतिक रूप से एक आदर्श स्थिति तब होती है जब कृषि से कृषकों, कृषि जोत एवं कृषि श्रमिकों को वर्षपर्यंत रोजगार प्राप्त होता है। व्यवहार में यह अत्यन्त कठिन है क्योंकि कृषि प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर रहती है। अतः सबसे अच्छा यह हो कि ऐसी स्थितियां उत्पन्न की जाय कि वर्ष पर्यंत तक कृषि क्षेत्र से रोजगार प्राप्त हो सके। सिंचाई सुविधाओं द्वारा दोहरी कृषि से मौसमी बेरोजगारी में कमी आयेगी। इस सम्बन्ध में कृषि के सहायक धन्धों जैसे — मुर्गीपालन, नदियों एवं तालाबों में मछलीपालन, डेयरी उद्योग, वृक्षारोपण द्वारा भी अतिरिक्त रोजगार का सृजन किया जा सकता है।

8.10.2 सहकारी कृषि

बढ़ती हुई जनसंख्या एवं कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि को प्राप्त करना व रोजगार प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण देश में सहकारी कृषि को बढ़ावा दिया जाए। सामुदायिक विकास आंदोलन के द्वारा सामान्य कृषि के प्रयासों की सफलता, ऋण विपणन, वितरण प्रसारण में सहकारिता की प्रगति, ग्रामीण उद्योगों के विकास एवं भूमि सुधारों में उद्देश्यों की प्राप्ति सहकारी कृषि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

8.10.3 उद्योग एवं कृषि के मध्य सामंजस्य

एक संतुलित अर्थव्यवस्था में औद्योगिक एवं कृषि विकास में सामंजस्य होना आवश्यक है अन्यथा आर्थिक विकास की गति मंद पड़ जायगी। विकास के संदर्भ में दोनों क्षेत्र निकट रूप से जुड़े हुए है एक क्षेत्र में रोजगार का सृजन दूसरे क्षेत्र में रोजगार सृजन को बढ़ावा देता है।

8.10.4 जनसंख्या नियंत्रण एवं शिक्षा पद्धति में सुधार

जब तक जनसंख्या का नियोजन एवं नियंत्रण नहीं होगा तब तक भारत में बेरोजगारी की समस्या का समाधान कठिन है। जिस दर से श्रम शक्ति में वृद्धि हो रही है उस दर से रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हो पा रही है। अतः यह आवश्यक है कि जनसंख्या नियंत्रण के लिए ठोस उपाय किये जाय। शिक्षित बेरोजगारों की समस्या को हल करने के लिए आवश्यक है कि भारत में शिक्षा पद्धति में परिवर्तन किये जायें। मिडिल स्तर तक शिक्षा में छूट दी जाय किन्तु सैकण्डरी के बाद शिक्षा का व्यावसायिकरण किया जाना चाहिए। महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय में प्रवेश केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाय जिनका अकादमिक स्तर ऊँचा हो। देश की वर्तमान एवं भविष्य की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए मानव शक्ति का उचित तरीके से नियोजन किया जाना चाहिए।

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

श्रम अर्थशास्त्र

MAEC-07

श्रमशक्ति संरचना एवं जनशक्ति नियोजन 2

श्रम अर्थशास्त्र पर इस खण्ड में कुल 6 इकाइयां हैं।

इकाई 9 में जनसंख्या संरचना एवं जनशक्ति नियोजन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की चर्चा की गई है। कसी भी देश के आर्थिक विकास में जनसंख्या की संरचना एवं प्राकृतिक साधनों की अहम् भूमिका होती है। व्यावसायिक संरचना में प्राथमिक क्षेत्र से द्वितीयक क्षेत्र एवं तृतीयक क्षेत्र में हस्तान्तरण विकास का प्रतीक माना जाता रहा है।

इकाई 10 में तकनीकी परिवर्तन के परिणाम स्वरूप रोजगार पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा की गई है। इस इकाई में विवेकीकरण (Rationalisation) एवं स्वचालित (Automation) के अर्थ को स्पष्ट करने के बाद भारत में रोजगार की स्थिति की चर्चा की गई है।

इकाई 11 विकासशील देशों में जनाधिक्य की समस्या ने तकनीकी द्वेतवाद को जन्म दिया है। एक तरफ ग्रामीण अथवा अनौपचारिक क्षेत्र है तथा दूसरी तरफ औपचारिक अथवा शहरी क्षेत्र। दोनों क्षेत्रों की अपनी-अपनी विशिष्ट समस्याएं हैं इस इकाई में उन्हीं की चर्चा की गई है।

इकाई 12 में श्रम की गतिशीलता एवं प्रवास प्रक्रिया के कारणों एवं प्रभावों की चर्चा की गई है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लेविस, टोडेरो के मॉडल को भी स्पष्ट किया गया है।

इकाई संख्या 13 नियोजन हेतु श्रम का अनुमान लगाने हेतु प्रक्षेपण की विभिन्न विधियों के अन्तर्गत प्रवृति पद्धति, प्रतीपगमन पद्धति एवं आगत निर्गत पद्धति को स्पष्ट किया गया है। अन्तिम इकाई 14 में सरकार द्वारा प्रारम्भ किए गए विभिन्न रोजगार कार्यक्रमों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

खण्ड-2

श्रमशक्ति संरचना एवं जन शक्ति नियोजन

पृष्ठ सं०

इकाई 9
जनसंख्या संरचना और जनशक्ति नियोजन 7-15

इकाई 10
भारतीय वैज्ञानिक पुनर्गठन और स्वचालिता के संदर्भ में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तन एवं रोजगार 16-26

इकाई 11
तकनीकी द्वैतवाद तथा ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अनौपचारिक क्षेत्र का विकास 27-35

इकाई 12
श्रम की गतिशीलता एवं प्रवास 36-45

इकाई 13
नियोजन हेतु श्रम की मांग एवं आपूर्ति के प्रक्षेपण की विधियां 46-56

इकाई 14
रोजगार सृजन कार्यक्रम 57-92

इकाई-9

जनसंख्या संरचना और जनशक्ति नियोजन

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 जनसंख्या का व्यावसायिक विभाजन

9.2.1 व्यवसायों का विभाजन

(क) प्राथमिक

(ख) द्वितीयक

(ग) तृतीयक

9.2.2 व्यावसायिक विभाजन तथा आर्थिक विकास का संबंध

9.3 भारत में व्यावसायिक संरचना

9.3.1 पूर्व योजना काल

9.3.2 योजना काल में व्यावसायिक संरचना

9.4 व्यावसायिक ढांचे की स्थिति का विश्लेषण

9.4.1 प्राथमिक क्षेत्र का प्रभुत्व

9.4.2 द्वितीयक क्षेत्र में कुछ वृद्धि

9.4.3 तृतीयक सेवा क्षेत्र में उच्चावचन

9.5 जनसंख्या व व्यावसायिक वितरण में अपरिवर्तनशीलता के कारण

9.6 सारांश

9.7 निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 उद्देश्य

जनसंख्या की विशेषताओं और आर्थिक विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां एक ओर नगरीकरण की प्रवृत्ति आर्थिक विकास को प्रभावित करती है वहीं व्यावसायिक संरचना का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। व्यावसायिक संरचना आर्थिक विकास को प्रभावित भी करती है। हम यहां जनसंख्या के व्यावसायिक विभाजन का अध्ययन करेंगे तथा आर्थिक विकास से उसके संबंध को भी पढ़ेंगे। आर्थिक विकास के साथ साथ कृषि में लगे हुए या यों कहें प्राथमिक क्षेत्र में नियोजित जनसंख्या घटती जाती है और विकसित देशों में कार्यशील जनसंख्या का छोटा भाग ही इस क्षेत्र में लगा होता है। हम कुछ चुने हुए देशों में आर्थिक विकास के साथ व्यावसायिक संरचना में होने वाले परिवर्तन का भी अध्ययन करेंगे। भारत में व्यावसायिक संरचना पूर्व योजना काल और योजनाकाल में कैसी है तथा व्यावसायिक ढांचे में परिवर्तनशीलता क्यों है? के बारे में भी पढ़ेंगे।

9.1 प्रस्तावना

किसी भी देश के आर्थिक विकास में प्राकृतिक साधनों का उतना ही महत्व है, जितना कि मानवीय संसाधनों अर्थात् जनसंख्या का। लेकिन प्राकृतिक संसाधन निर्जीव है जिस पर मानवीय संसाधनों के द्वारा अपनी कार्यकुशलता का योग्यता का जोहर दिखाया जाता है। इसीलिए मानवीय संसाधन एवं प्राकृतिक संसाधन एक ही गाड़ी के दो पहिये हैं, जिनका किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए होना अनिवार्य है। आर्थिक विकास को कार्यशील जनसंख्या सबसे अधिक प्रभावित करती है और यह तथ्य कि जनसंख्या व्यावसायिक दृष्टि से किस किस क्षेत्र में लगी हुई है। जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण से अर्थ कुल जनसंख्या के उस अनुपात से है जिसमें जनसंख्या विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगी है। दूसरे शब्दों में, कुल जनसंख्या विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में किस अनुपात में लगी है इसी को जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण कहते हैं। 1991 के आंकड़ों के अनुसार भारत में कुछ श्रमिकों का 68.8 प्रतिशत कृषि में 13.5 प्रतिशत खनन व उद्योग में व शेष 17.7 प्रतिशत सेवाओं (जैसे- परिवहन, संचार, व्यापार-वाणिज्य आदि में लगा हुआ है।

9.2 जनसंख्या का व्यावसायिक विभाजन

जनसंख्या का व्यावसायिक विभाजन आर्थिक विकास के स्तर का महत्वपूर्ण मापदण्ड है। व्यावसायिक विभाजन से आशय कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में क्रियाशील जनसंख्या की तुलनात्मक मात्रा के अध्ययन को व्यावसायिक विभाजन के अध्ययन में शामिल किया जाता है।

9.2.1 व्यवसायों का विभाजन

व्यावसायिक क्रियाओं को मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है:

1. **प्राथमिक वर्ग** – इस वर्ग में कृषि, वानिकी, मछली पकड़ना, जंगलों से वस्तुएं प्राप्त करना इत्यादि को शामिल किया जाता है। इन व्यवसायों को प्राथमिक इसलिए कहा जाता है कि इनका उत्पादन मानव अस्तित्व के लिए आवश्यक और महत्वपूर्ण है। तथा इन व्यवसायों को मुख्यतः प्रकृति के सहयोग से चलाया जाता है।
2. **द्वितीयक अथवा मध्यमिक वर्ग** – इस वर्ग में विनिर्माण उद्योग, गैस तथा बिजली इत्यादि के उत्पादन को शामिल किया जाता है। कभी-कभी खनिज व्यवसायों को भी इसी वर्ग में शामिल कर लिया जाता है।
3. **तृतीयक वर्ग** - इस वर्ग में प्राथमिक और द्वितीयक वर्ग की क्रियाओं को सहायता देने वाले व्यावसायों को शामिल किया जाता है जैसे - यातायात, बैंकिंग बीमा, वित्त प्रबन्ध इत्यादि।

सरल शब्दों में इन तीनों वर्गों को क्रमशः कृषि क्षेत्र, उद्योग क्षेत्र तथा सेवा क्षेत्र भी कहा जा सकता है।

9.2.2. व्यावसायिक विभाजन एवं आर्थिक विकास का सम्बन्ध

कार्यशील जनसंख्या के व्यावसायिक विभाजन एवं आर्थिक विकास के स्तर में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कार्यशील जनसंख्या का सर्वाधिक अनुपात प्राथमिक क्षेत्र में होता है। ऐसा होने के तीन मुख्य कारण है- प्रथम, विकास की प्रारम्भिक अवस्था में अर्थात अल्प-विकसित देशों में प्रति व्यक्ति खाद्य सामग्री का उत्पादन बहुत हम होता है अतः बहुत अधिक संख्या में लोग भोजन की न्यूनतम आवश्यकता

की पूर्ति करने के लिए कच्चे पदार्थों (कृषि उपज अथवा खनिज पदार्थ का निर्यात करते हैं, जिसके कारण वहाँ कार्यशील जनसंख्या का अधिकांश भाग इन प्राथमिक उद्योगों में लगा रहता है। तीसरे, गैर कृषि क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों का अभाव होने के कारण इन देशों में लोगों को मजदूरी में कृषि क्षेत्रों में लगा रहना पड़ता है।

ज्यों-ज्यों आर्थिक विकास होता जाता है, कृषि क्षेत्र में उत्पादन उत्पादकता में वृद्धि होने लगती है और श्रमिक इस क्षेत्र से निकलकर निर्माण उद्योगों की ओर जाने लगते हैं। निर्माण उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि होने का एक कारण यह भी होता है कि विकास के साथ लोगों की आय बढ़ती है और आय बढ़ने के साथ प्राथमिक उत्पादनों की मांग कम अनुपात में बढ़ती है। लेकिन निर्माणी उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की माग में तेजी से बिका वृद्धि होती है। निर्माण क्षेत्र में वृद्धि के साथ ही बैंकिंग बीमा, परिवहन इत्यादि क्षेत्रों का तेजी से विकास होता है और इस सम्बन्ध में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात बढ़ता चला जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्राथमिक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में कमी होने तथा द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि की प्रक्रिया की गति बहुत धीमी रहती है।

व्यावसायिक संरचना और आर्थिक विकास के सम्बन्ध में पुष्टि करते हुए कॉलिन क्लार्क ने अपनी पुस्तक में लिखा है — "प्रति व्यक्ति वास्तविक आय का ऊँचा औसत स्तर सदैव तृतीयक उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या के बड़े अनुपात में लगे रहने से सह "सम्बन्धित रहता है (जबकि) प्रति व्यक्ति निम्न वास्तविक आय सदैव तृतीयक उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या के कम अनुपात तथा प्राथमिक उद्योगों से कार्यशील जनसंख्या के अधिक अनुपात से सह सम्बन्धित होती है।" इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए ए०बी०जी० फिशर ने लिखा है, "हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में रोजगार और विनियोग का मूल प्राथमिक क्षेत्र से धीरे-धीरे द्वितीयक क्षेत्र में और उससे भी अधिक तृतीयक क्षेत्र में निरन्तर स्थानान्तरण होता रहता है।" व्यावसायिक संरचना एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध को निम्नलिखित ऐतिहासिक एवं संख्यात्मक तथ्यों से भी स्पष्ट किया जा सकता है:

कुछ चुने हुए देशों में आर्थिक विकास के साथ व्यावसायिक संरचना में परिवर्तन हुए हैं। यह स्थिति निम्न तालिका में दर्शायी गयी है:

तालिका 3.1

देश	वर्ष	कार्यशील जनसंख्या का वितरण (प्रति में)		
		प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक
संयुक्त राज्य अमेरिका	1965	5	35	60
	1993	2	35	65
ब्रिटेन	1965	3	47	50
	1980	3	38	59
जापान	1965	26	32	42
	1980	11	34	55
भारत	1965	73	12	15
	1980	70	13	17

उपर्युक्त तालिका 9.1 से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे इन देशों में आर्थिक विकास होता गया, प्राथमिक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात कम होता गया और द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात बढ़ता गया। वास्तव में कृषि पर आधारित सक्रिय जनसंख्या तथा सूची प्रति व्यक्ति आय में ऋणात्मक सह-सम्बन्धी है।

9.3 भारत में व्यावसायिक संरचना

भारत में व्यावसायिक संरचना को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: (1) पूर्व योजनाकाल में व्यावसायिक संरचना तथा (2) योजनाकल में व्यावसायिक संरचना।

9.3.1 पूर्व योजना काल में व्यावसायिक संरचना

पूर्व योजनाकाल में व्यावसायिक संरचना की स्थिति निम्न प्रकार रही:

तालिका 9.2

देश / क्षेत्र	कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत				
	1901	1911	1921	1931	1951
प्राथमिक क्षेत्र	71.76	74.76	75.19	74.75	72.12
द्वितीय क्षेत्र	12.61	11.23	10.41	10.21	10.62
तृतीयक क्षेत्र	15.63	14.01	13.50	15.04	17.25

तालिका 9.2 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सन् 1901 और 1921 की अवधि में कार्यशील जनसंख्या का प्राथमिक क्षेत्र में अनुपात निरन्तर बढ़ता गया है। इसका मुख्य कारण तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की वाणिज्यिक नीति थी, जिसके अन्तर्गत भारत के कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को इंग्लैंड में मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता करनी पड़ी। फलस्वरूप कुटीर और लघु उद्योगों का पतन होने लगा और उन उद्योगों में लगी जनसंख्या मजबूरी में अपनी आजीविका पूर्ति के लिए कृषि पर आश्रित होने लगी। द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में कमी आने का करण यह भी रहा कि कृषि क्षेत्र जीवन में निर्वाह योग्य उत्पादन करने वाला ही क्षेत्र था। इसके विपणन योग्य अतिरेक बहुत कम रहता था, जिससे औद्योगिक वस्तुओं का मांग पक्ष कमजोर रहता था।

सन् 1951 में प्राथमिक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात पुनः लगभग 1901 के अनुपात के स्तर पर आ गया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जहां एक ओर द्वितीयक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात सन् 1921 से 1961 के मध्य लगभग स्थैतिक रहा है वहां तृतीयक क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि हुई है। कुल मिलाकर पूर्व योजनाकाल में व्यावसायिक संरचना की स्थिति स्थैतिक रही है।

9.3.2 योजना काल में व्यावसायिक संरचना : योजना काल में व्यावसायिक संरचना की स्थिति को निम्न तालिका 9.3 द्वारा दर्शाया जा सकता है:

तालिका 9.3

क्षेत्र	कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत				
	1951	1961	1971	1981	1991
(अ) प्राथमिक क्षेत्र	72.1	71.8	72.1	58.8	66.8
1-कृषक	50.0	52.8	43.4	41.6	38.4
2-खेतिहर मजदूर	19.7	16.7	26.3	24.9	26.4
3-वन, पशु-पालन इत्यादि	2.4	253	2.4	2.3	1.9
(ब) द्वितीयक क्षेत्र	10.7	12.2	11.2	13.5	12.7
1-खनन	0.6	0.5	0.5	0.6	0.6
2-लघु एवं बड़े उद्योग	9.0	10.6	9.5	11.3	10.2
3-निर्माण कार्य	1.1	1.1	1.2	1.6	1.9
(स) तृतीयक क्षेत्र	17.2	16.0	16.7	17.7	20.5
1-व्यापार एवं वाणिज्य	5.2	4.0	5.6	6.2	7.5
2-परिवहन एवं संचार	1.5	1.5	2.6	2.7	2.6
3-अन्य सेवाएं	10.5	10.4	8.7	8.8	10.2
योग	100.0	100.00	100.0	100.0	100.0

9.4 व्यावसायिक ढ़ांचे की स्थिति का विश्लेषण

9.4.1 प्राथमिक क्षेत्र का प्रभुत्व

उपर्युक्त समंकों से स्पष्ट है कि देश में लगभग दो तिहाई कार्यशील जनसंख्या प्राथमिक क्षेत्र पर आधारित है, जो इस तथ्य का प्रतीक है कि भारत में व्यावसायिक ढांचे की स्थिति अर्द्ध-विकसित या असन्तुलित अर्थ व्यवस्था पर आधारित है। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कृषि क्षेत्र में इतनी अधिक कार्यशील जनसंख्या लगी होने पर भी देख कृषि उत्पादन के सभी क्षेत्रों में आत्म निर्भर नहीं है, जबकि इसके विपरीत अमेरिका में कुल 4 प्रतिशत श्रमिक ही कृषि कार्य में लगे हैं और वे देश के लिए आवश्यक खाद्यान्न ही उत्पन्न नहीं कर लेते वरन पर्याप्त मात्रा में विदेशों को निर्यात भी करते हैं।

प्राथमिक क्षेत्र के उपवर्गों में सन् 1951 में 50 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या कृषक के रूप में थी, जो सन 1961 में 52.6 प्रतिशत हो गयी। इसका मुख्य कारण इसी अवधि में जमींदारी उन्मूलन के कारण अनेक व्यक्तियों को नवीन भूमिस्वामित्व प्राप्त होना था, लेकिन इसके पश्चात कृषकों की संख्या घटकर 1971 में 43:4 प्रतिशत और 1991 में 38.4 प्रतिशत रह गयी। दूसरी ओर खेतिहर मजदूरों की संख्या 19.7 प्रतिशत से बढ़कर 26.4 प्रतिशत हो गयी। इस तथ्य के दो मुख्य कारण हैं। प्रथम इस अविध में बड़े पैमाने पर कृषक किरायेदारों को कानूनी अथवा गैर कानूनी ढंग से भूमि से बेदखल किया गया। दूसरे, सरकार की अनेक योजनाओं को लाभ उठाने की दृष्टि से कृषकों द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था विकसित की गई, कि वे अपने को खेतिहार

मजदूर बना सकें। कृषक और खेतिहर मजदूरों के अनुपातों में उच्चावचन होने पर भी कुल मिलाकर इन दोनों वर्गों का प्रतिशत यह स्पष्ट करता है कि योजना काल में हम कार्यशील जनसंख्या को कृषि से हटाकर अन्य क्षेत्रों की ओर ले जाने में सफल नहीं हो पाये हैं।

9.4.2 द्वितीयक क्षेत्र में कुछ वृद्धि

सन 1951 में देश की कार्यशील जनसंख्या का 10.7 प्रतिशत भाग द्वितीयक क्षेत्र में लगा था, जो बढ़कर सन 1961 में 12.2 प्रतिशत हो गया, लेकिन 1971 में घटकर 11.2 प्रतिशत ही रह गया। सन 1961 से 1971 के मध्य अनुपात घटने का मुख्य कारण यह था कि उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या का भाग 10.6 प्रतिशत से घटकर 9.5 प्रतिशत रह गया, क्योंकि इस अवधि में आधार भूत एवं पूंजीगत उद्योगों के विकास पर अधिक जोर दिया गया, जो पूँजी प्रधान होते हैं। यह सन्तोष का विषय है कि 1981 में उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या का भाग 11.3 प्रतिशत हो जाने से द्वितीयक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या का भाग 13.5 प्रतिशत हो गया सन् 1991 में उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या का विषय है कि 1981 में उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या का भाग 11.3 प्रतिशत हो जाने से द्वितीय क्षेत्र में कार्य जनसंख्या का भाग 13.5 प्रतिशत हो गया सन 1991 में उद्योगों में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात घटकर 10.2 प्रतिशत रह जाने पर द्वितीय क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत भी 12.2 प्रतिशत रह गया। द्वितीय क्षेत्र में खनन वर्ग में कार्यशील जनसंख्या का भाग 0.6 प्रतिशत के स्तर पर लगभग स्थिर हो गया, लेकिन निर्माण कार्यों में 1.1 प्रतिशत से बढ़ते हुए 1.9 प्रतिशत के स्तर पर पहुँच गया है। अतः हमें यह स्वीकार करना होगा कि योजनाकाल में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलताओं प्राप्त करने पर भी द्वितीयक क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या के भाग में मामूली वृद्धि ही हो पायी है।

9.4.3 तृतीयक अथवा सेवा क्षेत्र में उच्चावचन

सेवा क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या के अनुपात में कोई निश्चित प्रवृति नहीं रही है। सन् 1951 में इस क्षेत्र का भाग 17.2 प्रतिशत था, जो 1961 में घटकर 16 प्रतिशत रह गया। सन् 1971 में यह बढ़कर 16.7 प्रतिशत सन 1981 में 17.7 प्रतिशत तथा 1991 में 20.5 प्रतिशत हो गया। लेकिन इस वर्ग में यह प्रवृति अच्छी है कि परिवहन और संचार में कार्यशील जनसंख्या का भाग सन् 1951 में 1.5 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 2.8 प्रतिशत हो गया अर्थात् देश में विकास के लिए आधारभूत संरचना के रूप में परिवहन एवं संचार सेवाओं का उल्लेखनीय विकास हुआ है। दूसरी ओर अन्य सेवाओं में यह अनुपात 10.5 प्रतिशत से घटकर 10.2 प्रतिशत रह गया है। अन्य सेवाओं में प्रशासनिक सेवायें, सुरक्षा सेवायें इत्यादि शामिल होती हैं, जिन्हें सामान्य रूप से अनुत्पादक सेवायें माना जाता है।

देश में व्यावसायिक ढ़ांचे का क्षेत्रवार अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट है कि कुल मिलाकर यह लगभग स्थिर और गतिहीन रहा है और नियोजन के लगभग 50 वर्ष होने पर भी यह अर्थव्यवस्था कोई विकसित स्थिति में दर्शाता है।

9.5 जनसंख्या व व्यावसायिक वितरण में अपरिवर्तनशीलता के कारण

ऊपर दिए गए विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों

के अलावा भारत में व्यावसायिक संरचना पिछले कुछ दशकों में अपरिवर्तन शील रही है। यह बता पाना भी कठिन है कि इसमें आमूल परिवर्तन कब तक हो पाएंगे। भारत अब गतिहीनता की स्थिति में नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों में असफलताओं के बावजूद योजनाओं के दौरान उसने शुद्ध राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि कर पाने में सफलता पाई है। परन्तु फिर भी व्यावसायिक संरचना लगभग वही चली आ रही है जैसा कि ब्रिटिश काल के अंतिम चरण में थी जब आर्थिक गति हीनता की स्थिति पाई जाती थी। आइए अब इस बात पर विचार करें कि व्यावसायिक संरचना मे अपरिवर्तनशीलता के क्या कारण रहे है?

विभिन्न विकसित देशों के आर्थिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें व्यावसायिक संरचना में जो आमूल परिवर्तन हुए उसके तीन मुख्य कारण थे- जनसंख्या वृद्धि की दर में तेज कमी, कृषि में श्रम उत्पादकता में तेज वृद्धि तथा उद्योगों का तीव्र विकास। पिछले दशकों में भारत में इनमें से कोई कारक मौजूद नहीं था। जहां तक जनसंख्या वृद्धि दर का प्रश्न है, दूसरी योजना के समय योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि जनसंख्या वृद्धि की दर 2.0 प्रतिशत प्रति वर्ष से कम हो जायेगी जिससे 1975-76 तक कृषि पर केवल 60 प्रतिशत कार्यकारी जनसंख्या निर्भर होगी। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। परिवार नियोजन के तमाम कार्यक्रमों के बावजूद जनसंख्या वृद्धि की दर 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक बनी रहीं।

दूसरे, भारतीय कृषि का अधिकांश भाग आज भी परम्परागत है और उसमें श्रम की उत्पादकता काफी कम है। व्यावसायिक संरचना में परिवर्तन लाने के दृष्टिकोण से कृषि में श्रम की उत्पादकता को बढ़ाया जाना आवश्यक है क्योंकि केवल इसी स्थिति में अतिरिक्त श्रम शक्ति को वैकल्पिक व्यवसायों में भेजा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त कृषि क्षेत्र में उत्पादकता को बढ़ाया जाना आवश्यक से इस क्षेत्र में औद्योगिक वस्तुओं की मांग में तेजी से वृद्धि हो सकेगी जिससे औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा। क्योंकि भारत में कृषि में श्रम की उत्पादकता कम बनी रही है इसलिए न तो इस क्षेत्र में लगे लोग अन्य व्यवसायों की ओर जा पाए हैं और न ही औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक व्यापक बाजार उपलब्ध हो सके हैं। कृषि उत्पादकता में वृद्धि लाने के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि भूमि सुधारों को कड़ाई से लागू किया जाए और दूरवासी जमींदारों से जमीन लेकर काश्तकारों के बीच बांट दी जाए। दूसरे, नई उत्पादन तकनीकों के प्रसार को और तेज किया जाए। अभी तक इन तकनीकों से केवल कुछ राज्यों को ही लाभ हुआ है और केवल गेहूं की उत्पादकता में ही आशातीत वृद्धि हुई है। आवश्यक है कि इन तकनीकों को अन्य राज्यों तक पहुंचाया जाए तथा अन्य फसलों के लिए अपनाया जाए।

अततः आयोजन के शुरू से ही औद्योगीकरण की गति धीमी रही है और 1965 से 1985 के बीच तो औद्योगिक क्षेत्र में गतिहीनता भी बनी रही जैसा कि ऊपर कहा गया है इस गतिहीनता का मुख्य कारण यह था कि कृषि क्षेत्र में उत्पादकता का स्तर कम होने के कारण औद्योगिक वस्तुओं के बाजार सीमित थे। इसके अतिरिक्त आर्थिक संवृद्धि से लाभों का वितरण उचित नहीं हो पाया। गरीब जनता की इस संवृद्धि से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ जबकि सारा फायदा कुछ चुने हुए विशिष्ट आय वर्गों को ही हुआ। इसलिए उन्हीं उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा जो इस समृद्धशाली वर्ग की मांग की पूर्ति के लिए आवश्यक थे। अन्य उद्योगें को विकास अत्यन्त असंतोषजनक था। भारी मशीनरी, मशीन टूल्स, इस्पात व अन्य औद्योगिक कच्चे माल के उत्पादक

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की विकास की दर भी कम रहीं क्योंकि धीमी गति से विकास करें रहे निजी क्षेत्र के उद्यम उनके उत्पादन के लिए आवश्यक मांग पैदा नहीं कर पाए। औद्योगिक गतिहीनता के कारण 1965 से 1985 के दो दशकों के दौरान उद्योगों में जो भारी निवेश किए गए उनसे केवल उत्पादन क्षमता ही बढ़ी परन्तु रोजगार अवसरों में विशेष वृद्धि नहीं हुई। इसलिए व्यावसायिक संरचना में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हो पाए।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में पश्चिमी यूरोप के देशों में और अभी हाल में जापान में औद्योगिक विकास को निर्यात-प्रसार से काफी प्रोत्साहन मिला। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में विकसित देशों की कड़ी स्पर्धा के कारण भारत के लिए यह मार्ग भी सुगम नहीं है। इन परिस्थितियों में अधिक उपयुक्त नीति यही होती है कि सरकार औद्योगिक वस्तुओं के घरेलू बाजार को बढ़ाने का प्रयास करती। यह तभी संभव हो सकता है यदि एक ओर उत्पादकता के स्तर को बढ़ाने का प्रयास करती। यह तभी सम्भव हो सकता था यदि एक और उत्पादकता के स्तर को बढ़ाने के सतत प्रयास किए जाते और दूसरी ओर राष्ट्रीय आय का पुनवितरण निर्धन आय-वर्गों के पक्ष में किया जाता। इस नीति से औद्योगिक वस्तुओं और सेवाओं के बाजार का प्रसार होता जिसके द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्र में रोजगार के नए अवसर पैदा होते।

जे० कृष्णामूर्ति के अनुसार 1971 से 1981 के बीच कार्यकारी जनसंख्या का कृषि से अन्य व्यवसायों की ओर कुछ स्थानातरण अवश्य हुआ है। यदि इस प्रकार का स्थानान्तरण जारी रहता है तो हो सकता है कि इस शताब्दी के अंत तक व्यावसायिक संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाएं। परन्तु इस स्थानान्तरण के पीछे कौन से कारक थे यह बता पाना कठिन है? यदि कृषि से लोग इसलिए हट रहे हों कि औद्योगिक विकास की गति तेज हो रही है तो यह एक स्वस्थसूचक है। परन्तु यदि कृषि से स्थानान्तरण इसलिए हो रहा हो कि कृषि क्षेत्र में प्रतिकूल दशाएं पाई जाती हों (जैसा कि छोटे और सीमान्त किसानों की जीविका उपार्जन की क्षमता न रखना या भूमि से बेदखल किया जाना) तो फिर इस स्थिति को कोई अच्छा सूचक नहीं माना जा सकता।

9.6 सारांश

इसमें कोई संन्देह नहीं कि योजनाकाल में देश में व्यावसायिक ढांचा लगभग स्थिर रहा है। और कृषि में उत्पादकता का स्तर ऊँचा उठाने तथा अर्थव्यवस्था को विकसित स्वरूप की ओर ले जाने की दृष्टि से इस ढांचे में परिवर्तन की आवश्यकता है अर्थात कृषि पर कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत कम हो तथा उद्योग और सेवा क्षेत्र में बढ़े। इसके लिए जनसंख्या वृद्धि की दर को नियन्त्रित करना होगा, औद्योगिक क्षेत्र में ग्रामीण, कुटीर और लघु उद्योगों को और अधिक प्रोत्साहन देना होगा तथा तृतीयक क्षेत्र में रोजगार के नवीन और अधिक क्षेत्र विकसित करने होंगे, लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के सन्दर्भ में निकट भविष्य में व्यावसायिक संरचना में किसी उल्लेखनीय परिवर्तन की आशा नहीं कर सकते।

जनसंख्या के व्यवसायिक वितरण से आशय कुल जनसंख्या के उस अनुपात से है जिसमें जनसंख्या विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगी है। यदि किसी देश की कुल जनसंख्या का एक बहुत बड़ा प्रतिशत कृषि पर निर्भर रहता है तो वह देश आर्थिक विकास की निम्न अवस्था में माना जाता है। इस अवस्था में कृषि अनेक समस्याओं

से ग्रस्त और पिछड़ी अवस्था में होती है। अतः अधिकांश जनसंख्या के लग होने पर भी उत्पादन विकसित देशों की तुलना में कम ही रहता है। अन्य क्षेत्रों में रोजगार सुलभ न हो पाने के कारण जनसंख्या कृषि पर ही आश्रित रहती है। ज्यों ज्यों आर्थिक विकास होता है जाता है कृषि क्षेत्र में, उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि होने लगती है और श्रमिक इस क्षेत्र से निकलकर निर्माणी उद्योगों की ओर जाने लगते हैं। यदि हम भारत की व्यावसायिक संरचना की तुलना संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और जापान की व्यवसायिक संरचना के साथ करें तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इन देशों की आधी के लगभग जनसंख्या तृतीयक क्षेत्रों से रोजी रोटी प्राप्त कर रही है।

भारत में व्यवसायिक संरचना में पूर्व योजना काल तथा योजना काल में स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया है आज भी अधिकांश जनसंख्या प्राथमिक क्षेत्र में ही रोजगार प्राप्त कर रही है।

9.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण की विवेचना कीजिए।
2. योजनाबद्ध आर्थिक विकास के बावजूद भारत के व्यावसायिक ढांचे में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

इकाई-10

भारतीय वैज्ञानिक पुनर्गठन और स्वचालिता के संदर्भ में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तन एवं रोजगार

विषय सूची

10.0 उद्देश्य

10.1 तकनीकी का अर्थ एवं अवधारणा

10.2 वैज्ञानिक पुनर्गठन (Rationalisation) का अर्थ एवं अवधारणा

10.3 स्वचालिता(Automation) का अर्थ एवं अवधारणा

10.4 भारत में रोजगार की स्थिति (ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र में)

10.5 तकनीकी परिवर्तन एवं रोजगार

10.5.1 सकारात्मक प्रभाव

10.5.2 नकारात्मक प्रभाव

10.6 वैज्ञानिक पुनर्गठन का प्रभाव

10.7 स्वचालिता का प्रभाव

10.8 सारांश

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य –

आज विश्व एल्विन टाफलर (Alvin Toffler's Thirdwave) की थर्डवेव में से गुजर रहा है। उसकी प्रथम लहर कृषिकरण की लहर थी, जिसका प्रारम्भ हजारों वर्षों पहले हुआ था। जहां शिकारी समाप्त हो गये थे तथा मछुआरे एवं चरवाहे कृषक बन गये थे एवं गांव की स्थापना हुयी। टॉफलर ने इस स्थिति को सभ्यता के उद्भव के साथ जोड़ा था। द्वितीय लहर, औद्योगिक लहर थी, जिसका प्रारम्भ लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुआ था। मशीनें, वृहद उत्पादन, खपत, जनसंचार एवं जनशिक्षा आदि आधारित, एक उद्योग आधारित जीवन शैली प्रारम्भ हुयी। प्राचीन कृषक सभ्यता का स्थान उद्योग आधारित जीवन शैली ने ले लिया। प्रथम लहर कृषि क्रांति लेकर आयी तथा द्वितीय लहर औद्योगिक क्रांति लेकर आयी।

तदुपरान्त, तृतीय लहर प्रारम्भ हुयी, जो कि उपर्युक्त दोनों लहरों से प्रभावित रही। इस लहर के फलस्वरूप अंतरिक्ष युग, सूचनायुग, इलैक्ट्रानिक युग आदि का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रेजेजिन्सको ने कहा है कि आज हम तकनीकी युग में रह रहें हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डेनियल वेल ने व्याख्या करते हुये लिखा कि "एक उत्तर औद्योगिक समाज का प्रादुर्भाव हो रहा है।" सोवियत भविष्यवैत्ताओं ने एस. टी. आर. (वैज्ञानिक तकनीक क्रांति) की बात की है। एल्विन टॉफलर सुपर औद्योगिक समाज के प्रारम्भ का अग्रदूत रहा है। टॉफलर के अनुसार "थर्ड वेव" ने उच्च तकनीकी प्रारम्भ की है।

10.1 तकनीकी का अर्थ एवं अवधारणा –

तकनीकी को सामान्यतः मशीनों एवं प्रक्रियाओं से सम्बंधित ज्ञान के संदर्भ में जाना जाता है। व्यापक अर्थ में इसका सम्बन्ध कौशलयुक्त ज्ञान एवं प्रक्रिया से होता है। इसमें चीजों के प्रयोग एवं उपयोगी चाजों को बनाने की दक्षता शामिल की जाती है। इस प्रकार तकनीक में गैर बाजारी गतिविधियों एवं बाजारी गतिविधियों दोनों में ही प्रयोग में ली जाने वाली पद्धतियों को सम्मिलत किया जाता है। इसके अन्तर्गत क्या उत्पादन करना है एवं कैसे उत्पादन करना है की प्रकृति तथा विशिष्टीकरण को सम्मलित किया जाता है। इसके क्षेत्र मे प्रबन्धकीय एवं विपणन तकनीकों और उत्पादन से जुड़ी हुयी तकनीको को भी लिया जाता है। तकनीक के अन्तर्गत सेवा प्रशासन, शिक्षा, बैंकिंग एवं कानून के साथ ही निर्माण एवं कृषि को भी सम्मिलित किया जा सकता है। किसी भी देश की उत्पादन इकाइयों के संगठन, उनके स्वामित्व एंव उत्पादन से जुड़ी हुयी चीजों को भी तकनीक के पूर्ण विवेचन में सम्मलित किया जा सकता है।

तकनीकी में क्रिया - विधियों की एक श्रंखला होती है। क्रिया विधियों का विकास मूलतः एक ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है जिसके अन्तर्गत एक क्रिया विधि अपनी विशेषताओं के साथ एक समय विशेष की आर्थिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप अन्य क्रिया विधि का स्थान ले लेती है। आज हमारे यहां जो अधिकांश तकनीकी प्रयोग किये जा रहे हैं, उसका विकास पश्चिमी देशों में पहले विगत दो शताब्दियों के दौरान किया जा चुका है। पश्चिमी देशों में पहले जो तकनीकी का प्रयोग हो चुका है उससे भिन्न तकनीक अपनाकर उसे आधुनिक तकनीक का नाम दिया जा रहा है। तथा पूर्व तकनीक जिसे कि परम्परागत तकनीक के नाम से पुकारा जाता है वह आज बहुत से अविकसित एवं विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र एवं लघु उद्योग में काम में ली जा रही है।

10.2 वैज्ञानिक पुनर्गठन (Rationalsation) का अर्थ एवं अवधारणा –

वैज्ञानिक पुनर्गठन का तात्पर्य सभी गतिविधियों में विवेक का प्रयोग करना है। इस प्रकार से इसके अन्तर्गत एक निश्चित सुधार अपेक्षित होता है। यह अच्छी प्रबन्धकीय नीतियों, अच्छी उत्पादन पद्धति, अच्छी कार्य प्रणाली, अच्छी कच्चा माल, अच्छा स्तर एवं विशिष्टीकरण, अच्छे प्रशिक्षित श्रमिकों, अच्छी मशीनों एवं उपकरणों, अच्छी कार्यदशाओं, आदि के द्वारा संभव बन पाता है। भारत में औद्योगिक विकास के लिए इस तरह का विवेकीकरण एक ऐसा सचेत आन्दोलन है जिसका लक्ष्य रद्दी एवं अक्षमता को समाप्त करना एवं वैज्ञानिकता और तार्किकता को बढ़ाने का लक्ष्य होता है। इस हेतू एक उद्योग के अन्तर्गत कार्यरत विभिन्न इकाईयों के संयुक्त एवं सामूहिक प्रयासों की अपेक्षा की जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि सामग्री के न्यूनतम रद्दीकरण हेतु विभिन्न रीतियों, कार्य विधियों एवं संगठनों का निर्धारण किया जाये। इसमें निम्नलिखित कारके सम्मलित होते हैं –

1. वैज्ञानिक संगठन एवं श्रम।
2. प्रक्रियाओं का सरलीकरण और सामग्री एवं उत्पादों का स्तरीकरण।
3. परिवहन एवं विपणन में सुधार।

इसका सम्बन्ध कम्पनी एवं उद्योग के मध्य सम्बन्ध के पुनर्गठन से होता है। इसमें एक कम्पनी की आन्तरिक कार्य प्रणाली भी सम्मलित की जा सकती है।

विवेकीकरण के अन्तर्गत मुख्यतः दो प्रमुख शाखाओं पर बल दिया जाता है।

1. प्रत्येक इकाई में वैज्ञानिक प्रबन्ध।

2. उद्योग में व्यापार संयुक्तिकरण द्वारा संयुक्तकरण। विवेकीकरण के अन्तर्गत केन्द्रीय विचार के दो आयाम होते हैं

1. उत्पादन एवं वितरण की पद्धतियों एवं कार्य विधियों का सचेत पुर्नगठन एवं विवेकीकरण।

2. कुव्यवस्था एवं आर्थिक असंतुलन में कमी ताकि आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था की पुनर्स्थापना की जा सके।

विवेकीकरण में पश्चिमी प्रयास चार दिशाओं में रहे हैं –

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध के माध्यम द्वारा उत्पादन की लागत में रद्दी माल को समाप्त किया जाये।

2. औद्योगिक संयुक्तिकरण आन्दोलन के द्वारा प्रतियोगिता को समाप्त किया जाये।

3. वाणिज्यिक संयुक्तिकरण के द्वारा –

(अ) निर्गत (ब) कीमत (स) बाजार, के नियंत्रण हेतु उत्पादकों के मध्य निकट सहयोग स्थापित किया जाये।

4. अतिवादी व्यक्तिवाद की बुराईयों से बचा जाये। एकाधिकार की बुराईयों से दूर रहा जाये अतिवादी व्यक्तिवाद को समाप्त किया जाये।

इस प्रकार के प्रयासों को विवेकीकरण या वैज्ञानिक पुर्नगठन कहा जाता है। इसका प्रारम्भ प्रथमतः उत्पादन पक्ष से होता है तथा तदुपरान्त धीरे-धीरे यह एक संयुक्त आन्दोलन के रूप में फैल जाता है। कालान्तर में यह वाणिज्यिक संयुक्तीकरण के रूप में वितरण एवं विपणन की मशीनरी तक फैल जाता है। इसके बाद यह कार्यालय, कार्य एवं प्रशासन अर्थात प्रबन्धकीय विवेकीकरण को भी प्रभावित करता है। समय के साथ विवेकीकरण न केवल वित्तीय स्त्रोतों में आता है वस्तु पर मानव संसाधनों में भी प्रवेश कर जाता है।

विवेकीकरण का प्रयोग तीन चरणों में होता है –

1. योजना - इसमें एकत्रीकरण या संयुक्तीकराण तथा निश्चित बाजार सर्वेक्षणों को सम्मलित किया जाता है।

2. स्तरीकरण एवं सरलीकरण के द्वारा उपकरणों एवं मशीनों का पुर्नगठन एवं पुर्नव्यवस्था।

3. विभिन्न भागों एवं उपभागों के द्वारा विकास करना। इसके अन्तर्गत अधिकतम मशीनीकरण या स्वचालिता को सम्मिलित किया गया है।

इस प्रकार विवेकीकरण के आदर्श के अन्तर्गत व्यापार को ही महत्व दिया जाता है। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसमें केवल निजी लाभ एवं तकनीकी आर्थिक पक्ष ही जुड़े हुये नहीं होते। विवेकीकरण की प्रक्रिया में कर्मचारी का सन्तोष एवं कल्याण, उपभोक्ता आवश्यकताएँ जैसे सामाजिक पक्ष भी जुड़े हुये होते हैं। साथ ही इसमें आर्थिक स्थिरता की आवश्यकता एवं उच्च जीवन स्तर भी जुड़ा होता है। उद्योग में मानवीय पक्षों से सम्बंधित सामाजिक पक्षों को अगर उचित स्थान नहीं दिया जात है तो इसका तात्पर्य व्यापारिक गतिविधयो का छद्म विवेकीकरण होगा।

10.3 स्वचालिता (Automation) का अर्थ एवं अवधारणा –

यांत्रिकीकरण का तात्पर्य मानव शक्ति का स्थान यांत्रिकी शक्ति के ले लेने से होता है।

जिसमें मशीनी शक्ति द्वारा नियंत्रित हो जाता है। स्वचालिता इससे भी एक कदम आगे है। इसमें मानव नियंत्रण पूर्णतः विलोप हो जाता है। मशीनीकरण की भांति शारीरिक एवं मानसीय शक्ति का स्थान मशीनें ले लेती हैं। स्वचालिता का लक्ष्य मानव की मानसिक गतिविधियों विशेषकर मानसिक निर्णय निर्माण प्रक्रिया को भी नियंत्रित करना होता है।

स्वचालिता (Automation) शब्द का प्रथम प्रयोग फोर्ड मोटर कम्पनी के डी. एस. वार्डर (Warder) ने 1946 में मशीन को परिभाषित करते हुये किया था। तदुपरान्त फोर्ड द्वारा इसका प्रयोग इंजिनों के स्वाभाविक चलन हेतु किया जाने लगा। साथ ही इसका प्रयोग मशीनों के स्थानान्तरण तथा प्रेस द्वारा मुद्रित छाप को मिटाने के लिये किया जाने लगा। फोर्ड ने पहली बार अप्रेल, 1947 में ऑटोमेशन विभाग की स्थापना की तथा इसमें उत्पादन में विशेषज्ञ अभियंताओं को नियुक्त किया जिन्हें कि ऑटोमेशन अभियंता कहा जाने लगा। अमेरिकन मैकनिष्ट ने 21 अक्टूबर 1948 को पहली बार स्वचालित शब्द को छापा। इसने फोर्ड ऑटोमेशन ग्रुप के प्रयासों का भी विवेचन किया। स्वचालिता शब्द को परिभाषित करते हुये लिखा गया कि "यह तकनीकी प्रक्रिया को प्रयोग करने की वह कला है जिसमें कार्य को बड़ी मशीनों की सहायता से निष्पादित किया जाता है तथा इस कार्य निष्पादन की प्रक्रियात्मकता तथा निष्पादता और इसके मध्य के प्रक्रिया के बीच में एक निश्चित समय श्रृंखला होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि एक केन्द्र बिन्दु पुश बटन के जरिये सम्पूर्ण कार्य प्रक्रिया संचालित की जा सके।"

एम. आई. टी. के रॉबर्ट वीनर द्वारा 1950 में प्रकाशित "ह्यूमन यूज ऑफ ह्यूमन विङ्गस" के साथ स्वचालिता शब्द का एक नया अर्थ सामने आया। वीनर को यह श्रेय जाता है कि उसने तकनीकी उन्नयन के नये युग में ऐसा उपकरण बनाया जो एक ट्यब के रूप में सामने आया वह पूर्णतः स्वनियंत्रित कार्य विधि पर आधारित था। जॉन ली लॉड ने स्वचालिता को परिभाषित करते हुये लिखा है कि "स्वचालित उद्योग के विकास का तात्पर्य, स्वचालित प्रक्रिया तथा चालों के बनने की प्रक्रिया की स्वचालिता से होता है।" अतः स्वचालिता एक चिन्तन का एक नया रूप है जो कि उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया से जुड़ा हुआ होता है। आज स्वचालिता का तात्पर्य मशीनों की स्वचालित, नियंत्रित कार्य विधि से होता है। इसको एक तकनीकी यक्ष के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत इलैक्ट्रोनिक कम्प्यूटर, स्थानान्तरित युक्तियों आदि को भी सम्मलित किया जा सकता है।

10.4 भारत में रोजगार की स्थिति (ग्रामीण एवं शहरी)

यद्यपि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य श्रम शक्ति के विकास की अपेक्षा रोजगार अवसरों को तेजी से बढ़ाना रहा है। किन्तु वास्तव में नियोजन प्रक्रिया के प्रारम्भ से ही बेरोजगारी में तेजी से वृद्धि हुयी है। बेरोजगारों के विकास की गति एवं आकार दोनों ही बढ़ रहे हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में बेरोजगारी का प्रतिशत 2.9 प्रतिशत ही था। किन्तु यह द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत में बढकर 3.6 प्रतिशत एवं तीसरी पंचवर्षीय योजना के अंत में 4.5 प्रतिशत हो गया। तदुपरान्त वार्षिक योजना के तीन वर्ष (1966-1969) के दौरान यह प्रतिशत 9.6 प्रतिशत हो गया।

छठी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या 12 मिलियन के लगभग थी। जिसमें से 3.47 मिलियन शिक्षित (मैट्रिक एवं इससे ऊपर के) बेरोजगार थे। योजना में यह अनुमान लगाया गया कि श्रम शक्ति में 1980-1985 के दौरान लगभग 34 मिलियन नये बेरोजगार और जुड़ जायेंगे। पूर्व के बेरोजगार व्यक्ति एवं उनमें जुड़ते नये व्यक्ति कुल मिलाकर 46 मिलियन व्यक्ति छठी पंचवर्षीय योजना में काम की तलाश में थे। हांलाकि

छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान रोजगार का विकास 5.2 प्रतिशत की सीमा तक पहुंच गया था किन्तु फिर भी इस काल में 3.3 प्रतिशत व्यक्ति बेरोजगारी की संख्या में और जुड़ गये। 15 से 59 वर्ष का आयु वर्ग की सम्पूर्ण श्रम शक्ति की संख्या लगभग 27 करोड़ आज मानी जा रही है। इसमें बेरोजगारी की संख्या बहुत ऊँची है।

तालिका संख्या 10.1 में 32 वे राऊन्ड सर्वेक्षण को आधार मानकर के सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में बेरोजगारी को प्रदर्शित किया गया है। इस तालिका में विभिन्न आयु वर्गों एवं लिंग के आधार पर विभाजित कर देखा गया है।

तालिका - 10.1

32 वें राऊन्ड के आधार पर मार्च 1985 में बेरोजगार (सामान्य स्थिति) का अनुमान

श्रेणी	आयु वर्ग		
	5-	15-	15-50
ग्रामीण पुरूष	3.74	3.56	3.52
ग्रमीण महिलायें	4.06	3.77	3.71
शहरी पुरुष	3,65	3.56	3.52
शहरी महिलायें	2.44	2.36	2.35

स्रोत - 7 वीं पंचवर्षीय योजना, 1985-1990, खण्ड-2 योजना आयोग, भारत सरकार।

राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे संगठन (NSSO), 32 वॉ राऊन्ड (1977-1978) को आधार मानकर, सामान्य स्तरीय सहभागिता दर प्रदर्शित की गयी है। जिसमें आयु, लिंग एवं निवास को कारक माना गया है। सर्वेक्षण के दौरान पिछले 15 वर्ष में पैदा हुये बच्चों को सन् 1985-2000 के काल के समय की श्रम शक्ति में सम्मिलित किया जायेगा। 1985-1990 के दौरान श्रम शक्ति की वार्षिक वृद्धि की दर 2.56 प्रतिशत होगी। तथा 1990-2000 में यह दर 2.24 प्रतिशत हो जायेगी। इस दौरान जनसंख्या वृद्धि की वार्षिक दर क्रमशः 1.96 प्रतिशत तथा 1.69 प्रतिशत रहेगी। इन दो कालों के दौगन श्रम शक्ति में क्रमशः 39 मिलियन तथा 81 मिलियन व्यक्ति अतिरिक्त जुड़ जायेगें। 1985 में जो बेरोजगार व्यक्तियों की बची हुयी संख्या थी, उसको ध्यान में रखते हुये सन् 2000 तक लगभग 130 मिलियन व्यक्तियों को रोजगार प्रदान की व्यवस्था की जायेगी। आने वाले 15 वर्षों में इस व्यापक अतिरिक्त रोजगार को पैदा करना एक प्रमुख चुनौती होगी। इस सब के लिये यह माना गया कि हमारे यहां एक ऐसा परिदृश्य पैदा होगा, जिसमें निरंतर रूप से सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि की दर 5 प्रतिशत वार्षिक होगी, तथा कृषि का तीव्र विकास एवं उद्योगों के तीव्र विकास के फलस्वरूप रोजगार प्रदान करना संभव होगा। ऐसा अनुमान लगाया जा रहा है कि सन् 2000 तक सम्पूर्ण श्रम शक्ति के लिए रोजगार का प्रावधान संभव बना लिया जायेगा।

1990-2000 के लिए रोजगार प्रक्षेपण –

तालिका संख्या 10.2 में सन् 1990 में बचे हुये बेरोजगारी की संख्या 28 मिलियन दिखाई गयी है। सन् 1990-1995 के दौरान इसमें 37 मिलियन अतिरिक्त मानव शक्ति जुड़ने का अनुमान लगाया गया इस तरह 8 वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान रोजगार चाहने वाले कुल व्यक्तियों की संख्या का अनुमान 65 मिलियन लगाया गया है। यह अनुमान लगाया गया है कि 1995-2000 के दौरान श्रम शक्ति 41 मिलियन तक बढ़ जायेगी। इस प्रकार सन् 2000 तक नौकरी प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की कुल संख्या लगभग 106 मिलियन हो जायेगी।

तालिका - 10.2

1990-2000 के लिए रोजगार प्रक्षेपण

		मिलियन
1.	1990 के प्रारम्भ में बचे हुये बेरोजगार	28
2.	1990-95 के दौरान श्रम शक्ति में जुड़ने वाले नये व्यक्ति	37
	8 वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान कुल बेरोजगार (1+2 =योग)	65
3.	1995-2000 के दौरान श्रम शक्ति में जुड़ने वाले नये व्यक्ति	41
4.	9 वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान कुल बेरोजगार	106

स्रोत - योजना आयोग

इन तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की स्थिति अधिक गंभीर है। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन श्रमिकों एवं सीमानत कृषकों के द्वारा बेरोजगारी की समस्या पैदा हो रही है तो शहरी क्षेत्रों में यह व्हाईट कॉलर नौकरी की समस्या है। अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र द्वारा लगभग 11 प्रतिशत श्रम शक्ति के वार्षिक विस्तार के द्वारा तथा असंगठित क्षेत्र के द्वारा 89 प्रतिशत श्रम शक्ति को खपाया जा रहा है।

10.5 तकनीकी परिवर्तन एवं रोजगार –

10.5.1 सकारात्मक प्रभाव –

पश्चिमी देशों के आधुनिक तकनीक का इतिहास औद्योगिक क्रांति के साथ प्रारम्भ होता है। नयी उपयोगी वस्तुओं उत्पादन में भी तकनीकि विकास को प्रयोग में लाया गया है। एक बार जब औद्योगिक क्रांति ने अपनी जड़े स्थापित कर लीं तो नये अन्वेषणों एवं प्रयोगों की खोज को बढ़ावा दिया जाने लगा। उत्पादको द्वारा अधिक से अधिक उन्त तकनीक के प्रयोग की प्रतियोगिता प्रारम्भ हुयी। प्रत्येक उत्पादक का यह प्रयास रहा कि अधिक उन्नत व परिष्कृत उच्च श्रेणी की वस्तुओं को उपभोक्ता के सामने लाकर अपने प्रतिस्पर्द्धी को प्रतियोगिता से बाहर करना रहा। एक क्षेत्र में किये गये प्रयोग एवं अन्वेषणों ने दूसरे क्षेत्र के प्रयोग एवं अन्वेषणों को बढ़ावा दिया। जैसा कि ए. के. कार्नक्रॉस (A.K. Cairncross) ने लिखा है कि "विकास एक निरन्तर रूप से आगे बढ़ती प्रक्रिया होती है, जो कि तकनीक के निरन्तर वेग द्वारा संभव बन पाती है। साथ ही वह तकनीकि परिवर्तनों के उद्भव एवं उनके अपनाने की क्षमता पर भी निर्भर करता है।"

पश्चिम देशों में अन्वेषणों का आग्रह कीमत को कम करना एवं मांग में वृद्धि करना रहा है। औद्योगिक क्रांति के प्रारंम्भिक वर्षों के दौरान अन्वेषणों एवं नयी खोजों ने उत्पादन की लागत को घटाया साथ ही इन्होंने बाजार में नयी उपभोक्ता वस्तुओं की एक व्यापक श्रंखला प्रारम्भ की। चूंकि अधिक से अधिक उपभोक्ता वस्तुओं की नयी किस्मों को खरीदना चाहता है, अतः मांग बढ़ती है। इसके फलस्वरूप उत्पादक अधिक से अधिक नयी एवं उन्नत वस्तुओं को लेकर सामने आते हैं। पश्चिमी देशों के आर्थिक विकास में उपभोक्ताओं की बढ़ती हुई मांगों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है क्योंकि औद्योगिक वस्तुओं के लिए निरन्तर रूप से व्यापक बाजार

मिलता रहा है साथ ही, आर्थिक विकास में तकनीक को खोजने के लिए पश्चिमी देशों के उदाहरण के साथ ही जापान का उदाहरण भी दिया जा सकता है जैसा कि कॉर्न क्रॉस ने पीछे लिखा है कि देश में एक वर्ष पूर्व आर्थिक विकास तीव्र गति से बढ़ने लगा था। यह अन्य पूर्ण औद्योगिक समाजों की भांति खेती पर ही अधिकांशतः निर्भर करता था। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि जापान की 75% जनसंख्या खेती में लगी हुयी थी। हालांकि यह देश दूसरे अविकसित देशों की अपेक्षा कई दृष्टियों से भिन्न था, जिस प्रकार से अन्य अविकसित देशों में शिक्षा, शहरी संस्कृति, प्रबन्धकीय अनुभव, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में जिस तरह का पिछड़ापन पाया जाता था, वैसा जापान में होते हुये भी यहां अन्य देशों जैसा आर्थिक पिछड़ापन नहीं था इस तरह से पश्चिमी देशों एवं जापान ने जो तीव्र आर्थिक प्रगति की उससे तीव्र आर्थिक विकास में तकनीक की भूमिका स्पष्टतः परिलक्षित होती है। तकनीक, व्यापकनिर्गत, कम कार्य समय, कौशल युक्त रोजगार का उद्भव, नये प्रारूपों, रख रखाव, सुरक्षित कार्य दशाओं, स्तरीय गुणवत्तायुक्त नयी एवं अच्छी वस्तुओं का उत्पादन, कच्चे माल का ज्यादा प्रभावकारी से प्रयोग, अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादिता में कमी की तरफ अग्रसित करती है। तकनीक जीवन के प्रति वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण को बढ़ाने में सहायक होती है।

10.5.2 नकारात्मक प्रभाव –

तकनीकी अन्वेषणों का सबसे नकारात्मक प्रभाव यह रहा है कि इनके फलस्वरूप श्रमिक विस्थापित होते हैं, फलतः बेरोजगारी की समस्या पैदा होती है। तकनीकी परिवर्तन के समर्थकों का तर्क होता है कि तकनीकी परिवर्तन के नकारात्मक प्रभाव का असर कुछ श्रमिकों तक ही सीमित रहता है। इसके लाभ अर्थव्यवस्था को अधिक मिलते हैं। विकसित एवं परिवर्तित अर्थव्यवस्था में तकनीकी परिवर्तन अपरिहार्य होते हैं। इसका नकारात्मक प्रभाव श्रमिकों या व्यापारियों पर पड़ सकता है। सामने वाले प्रतियोगी के अन्वेषणों के द्वारा वे बुरी तरह प्रभावित हो सकते हैं। हालांकि यह तर्क व्यापारी एवं श्रमिकों के मध्य के दृष्टिकोण की मूलभूत भिन्नता को अस्वीकार करता है। व्यापारी, लाभ एवं हानि को व्यापार से जुड़ा हुआ मानता है जबकि श्रमिक की रूचि केवल निश्चित मौद्रिक राशि (वेतन) तक होती है। साथ ही व्यापारी के पास संकट से उभरने के लिए पर्याप्त मात्रा में जमा पूंजी होती है जबकि श्रमिक के पास अल्प जमा राशि ही होती है जो कुछ दिनों में ही समाप्त हो सकती है। अतः बेरोजगारी के तनाव एवं दबाब को सहन करना उनके लिए भारी होता है। तकनीकी प्रगति एवं अन्वेषणों में भी व्यापक परिवर्तन किया है। जीवन स्तर बढ़ा है। शहरी एवं औद्योगिक व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप बहुत से अवसर उपलब्ध करवाये है जिनसे कि व्यक्ति अपनी प्रगति कर सकते हैं। किन्तु दूसरी तरफ इन सब के फलस्वरूप पर्यावरणीय प्रदूषण बढ़ा है, चिन्ता एवं असुरक्षा में वृद्धि हुयी है तथा कुटीर उद्योग व्यवस्था समाप्त होती जा रही है मानव मशीन बन गया है तथा धीरे-धीरे वह तीव्र रूप से बदलते समाज में अपनी अस्मीता खो रहा है।

अन्ततः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि तकनीक के इन अवगुणों, जो कि उन्नत औद्योगिक देशों में आज सामने आ रहे हैं, के होते हुए भी अविकसित देश आज तकनीकि अन्वेषणों को बढ़ाने का आज भरपूर प्रयास कर रहें है। क्योंकि उनके आर्थिक विकास के लिए मात्र एक तकनीक ही एक आशा की किरण दिखाई पड़ती है वे यह महसूस करने लगे हैं और कुछ हद तक यह सही भी है कि अपने स्थिर निम्न जीवन स्तर, महामारी, अकाली के फलस्वरूप भुखमरी को दूर तकनीकी परिवर्तनों को लागू किये बिना नहीं दिया जा सकता।

10.6 वैज्ञानिक पुनर्गठन का प्रभाव –

वैज्ञानिक पुर्नगठन के प्रभाव का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत मूल्यांकन किया जा सकता है –

1 व्यापक बेरोजगारी का डर –

वैज्ञानिक पुर्नगठन की हर योजना श्रम के प्रति एक पूर्वाग्रह की स्थिति लेकर चलती है। तथा बेरोजगारी का डर वास्तिविक एवं न्यायोचित होता है। छटनी को अनदेखा नही किया जा सकता है। जब व्यापक स्तर पर मशीनीकरण को अपनाया जाता है तो अस्थायी बेरोजगारी होगी अतः श्रमिक हमेशा वैज्ञानिक पुर्नगठन की हर योजना के विरूद्ध होते हैं।

2 कुशल श्रमिकों पर नकारात्मक प्रभाव –

यद्यपि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य श्रम शक्ति के विकास की अपेक्षा रोजगार अवसरों को तेजी करना है तथापि वैज्ञानिक पुर्नगठन के अन्तर्गत कुशल श्रमिकों का स्थान या तो मशीनें ले लेती हैं या सीमित संख्या के अकुशल श्रमिक जिनका काम केवल मशीन को चलाना होता है। वैज्ञानिक पुनर्गठन की योजना के अन्तर्गत कुशल श्रमिक को बाहर कर दिया जाता है।

3 शोषण का भय

वैज्ञानिक पुनर्गठन के आवरण के अन्तर्गत बेईमान प्रबन्ध, शोषण करने को भी प्रेरित हो सकता है। तथा कार्यभार, अनावश्यक तनाव, उच्च वेतन एवं बोनस के बिना थकाऊ स्थिति पैदा की जा सकती है।

भारतीय उद्योग में वैज्ञानिक पुनर्गठन –

भारत के पुराने उद्योग जैसे सूती वस्त्र, जूट वस्त्र, कोयला एवं चीनी उद्योगों में वैज्ञानिक पुनर्गठन की समस्या उत्पन्न हो गयी है। हम इसमें समान्यतः वैज्ञानिक पुनर्गठन के तकनीकि पक्ष को ही लेते हैं। अर्थात इसमें आधुनिकीकरण की समस्या एवं पुरानी पड़ी मशीनों के बदलाव को ही लेते हैं। विकसित देशों में श्रम कम है, एवं मशीनों की पूर्ति तथा पूंजी की बहुलता है। अतः इन देशों में वैज्ञानिक पुनर्गठन के सामाजिक पक्ष के द्वारा कोई समस्या उत्पन्न नही की जाती है। किन्तु भारत जैसे विकसित एवं बडी जनसंख्या वाले देश में वैज्ञानिक पुनर्गठन के द्वारा बेरोजगारी की समस्या पैदा हो जायेगी। सरकार को बाध्य होना पड़ेगा कि वह रूढ़िवादी एवं सतर्कतापूर्ण दृष्टिकोंण अपनाये। वैज्ञानिक पुनर्गठन की योजना को चरण बद्ध तरीके से इस तरह लागू किया जाये कि उसके द्वारा वर्तमान श्रमिकों को न्यूनतम हांनि हो, एवं अस्थायी रूप से जिन श्रमिकों की छटनी की जाये उन्हें भी आगे चलकर काम पर ले लिया जाये। भारत में पूंजी की कमी एवं श्रमिकों की अधिकता के कारण प्रति श्रमिक निर्गत में वृद्धि करने की अपेक्षा प्रति मशीन या प्रति ऐकड़ भूमि का उत्पादन बढ़ायें। इस प्रकार से भारत जैसे विकसित देश में हमें यह समझ लेना होगा कि हमें उच्च उत्पादकता के साथ-साथ उच्च आर्थिक गतिविधियों को भी संचालित कारना होगा।

भारत में वैज्ञानिक पुनर्गठन की किसी भी योजना के मुख्य कारक निम्नलिखित होंगे :–

1. नियोक्ताओं एवं यूनियनों के मध्य समझौते द्वारा या विभिन्न पक्षों के बीच मध्यस्थों द्वारा सहमति के आधार पर ही वैज्ञानिक पुनर्गठन के प्रभावों को लागू किया जाये।
2. वर्तमान कर्मचारियों में कोई छटनी नहीं हो तथा उनकी आमदनी में कमी नहीं हो।

3. वैज्ञानिक पुनर्गठनों के लाभों को नियोक्ताओं श्रमिकों एवं समुदाय के मध्य समान रूप से वितरित किया जाये।

4. कार्यदशाओं में उपयुक्त दृष्टि से सुधार किया जाये।

5. राज्य को निष्क्रिय रूप से नहीं बैठ जाना चाहिये, उसे उपयुक्त कानूनों एवं प्रशासन के द्वारा वैज्ञानिक पुनर्गठन से जुड़े महत्वपूर्ण मुद्दों से संबंधित समस्याओं को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। तथा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना चाहिये।

10.7 स्वचालिता का प्रभाव –

प्रारम्भ में विकसित देशों के विशेषज्ञों का मानना रहा था कि स्वचालिता रोजगार पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं डालेगी। इस धारणा के पीछे मुख्य विचार यह रहा था कि स्वचालिता के प्रवेश के फलस्वरूप जितनी नौकरियों का नुकसान होगा उससे ज्यादा वैकल्पिक नौकरियां प्रदान की जायेगीं। किन्तु आज विशेषज्ञ यह महसूस करने लगे हैं कि अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह धारणा सही नहीं है। इस संदर्भ में एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है। भूतपूर्व सोवियत संघ में 1976-80 के मध्य 7000 रॉबोटों के कारण 20,000 लोगों को रोजगार खोना पड़ा था। साथ ही आज पश्चिम देशों में भी स्वचालिता के परिणामस्वरूप बेरोजगारी का स्तर बढ़ रहा है। अमेरिका, जापान, ब्रिटेन, जर्मनी तथा फ्रांस में उच्च औद्योगिक समृद्धता प्राप्त करने के उपरान्त कम्प्यूटरों का प्रयोग किया गया। किन्तु यहां जनसंख्या की कोई समस्या नहीं है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुये यह उल्लेख किया जा सकता है कि भारत को उन समृद्ध राष्ट्रों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता जहां की औद्योगिक क्रांति ने कम्प्यूटर क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। भारत को अभी उन्नत देशों तक पहुंचने के लिए लम्बा रास्ता तय करना पड़ेगा। साथ ही हमारे यहां श्रम की कमी नहीं है। हमारे यहां वास्तिवक समस्या उपयुक्त रोजगार के अवसरों को पैदा करने है न कि औद्योगिक विकास के पश्चिमी प्रतिमान के अनुकरण की अगर स्वचालिता की प्रवृति को नहीं रोका गया तो इसका भारत में सामाजिक आर्थिक कारकों जैसे आय, खपत, बचत एवं निवेश पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। बचत मुख्यतः उपभोक्ता की बचाने एवं खर्च करने की प्रवृति द्वारा प्रभावित होती है। बचत एवं निवेश् मुख्यतः अर्थव्यवस्था के आर्थिक स्तर पर निर्भर करती है। स्वचालिता अन्ततः देश की अर्थव्यवस्था में चिरकालीन समस्याओं को पैदा करती है। इस प्रकार सही ही कहा गया है कि स्वचालिता की सामाजिक कीमत काफी भारी होती है।

भारत में स्वचालिता के प्रवेश की संभावना

स्वचालिता के समर्थक यह दावा करते है कि इसके फलस्वरूप उपादन बढ़ेगा, लागत कम होगी, उच्च वेतन मिलेगा, उच्च मांगे होंगी, जीवन स्तर में वृद्धि होगी तथा अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध होगें। अर्थात् स्वचालिता के फलस्वरूप अधिक रोजगार के अवसरों के साथ ही तकनीकि अन्वेषण एवं तीव्र आर्थिक विकास भी संभव हो पायेगा। इनका आगे तर्क रहा है कि बेरोजगारी का भय मुख्यतः ज्ञान एवं शिक्षा के अभाव के कारण से है। लेकिन वास्तिविकता यह है कि भारत में भी स्वचालिता के जिन चुने हुये उद्योंगों मे लागू किया गया वहां भी किसी प्रकार की कोई छटनी नहीं हुयी है। यद्यपि हम तकनीकी प्रगति की आवश्यकता को अनदेखा नहीं कर सकते किन्तु हमारा मुख्य ध्यान इस तरफ होना चाहिए कि देश में इसके लागू करने की गति उतनी ही हो जितनी की सहन की जा सके। भारत जैसे देश में जहां कि व्यापक मानव शक्ति अतिरिक्त है, बेरोजगारी बढ़ रही है, आय के स्तरों में असंतुलन पाया जाता है, संभावित रोजगार सिकुड़ रहें है तथा विदेशी विनिमय की स्थिति अच्छी नहीं है, वहॉ कम्प्यूटर युग में प्रवेश करना

उपयुक्त नहीं होगा। साथ ही अगर स्वचालिता को लागू भी करना है तो इसके फलस्वरूप उत्पन्न स्थितियों को पहले देख लिया जाये, इसको क्रमशः लागू किया जाये तथा इसके आर्थिक परिणामों को भी ध्यान में रखा जाये। यह ध्यान भी रखा जाना आवश्यक है कि हम स्वचालिता को तभी लागू करें जबकि इसके नकारात्मक परिणामों को पहले ध्यान में रख लें। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि स्वचालिता में अधिक प्रगति केवल उन्हीं विकसित देशों तक सीमित रही है जिनको कि संयुक्त राज्य अमेरिका का संरक्षण प्राप्त हो रहा है।

10.8 सारांश

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि बढ़ते हुये विदेश व्यापार के संदर्भ में आत्मनिर्भता का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगी अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ होता है। इसकी प्राप्ति केवल तभी की जा सकती है जबकि उत्पादन प्रक्रिया तकनीकी रूप से अन्य देशों में जितनी उन्नत है उतनी ही उन्नत वहां भी हो। इस प्रकार उत्पादन की उन्नत उत्पादन की तकनीकों की तरफ हमें सावधानी पूर्वक देखना होगा किन्तु साथ ही साथ हमें उस परम्परागत श्रम बहुल क्षेत्र को भी देखना होगा जो अधिकांश श्रमबल को रोजगार प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में परम्परागत श्रम बहुल क्षेत्र भी चलता रहे तथा आधुनिक पूँजी बहुल क्षेत्र का भी विकास हो। इस दोहरी स्थिति को हमें कुछ समय तक तो चलाना ही चहिऐ चाहे परम्परागत श्रम बहुल उद्योगों को आर्थिक सहायता ही क्यों न देनी पड़े। अगर इस दृष्टिकोंण को अपनाया जाता है तो श्रम बचत तकनीकों के सीमित प्रवेश के प्रभाव का पूर्ण रोजगार पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ेगा।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. कॉनक्रास, ए. केण "रॉल ऑफ टेक्नोलोजी एण्ड नेचुरल रिसोर्सेज इन द डैवलपमैंट प्रोसेस," इन राव, सी. एच. हनुमन्ना एण्ड जोशी, पी. सी. (सं०), रिफ्लैक्शन्स ऑन इकोनॉमिक डेवलपमैंट एण्ड सोशियल चैन्ज प्रो० वी. के. आर. वी. राव के सम्मान में लेख, बम्बईः अलाइड पब्लिशंस प्रा० लि०, 1779।
2. रॉबिन्स, ऑसटीन, (सं०), एप्रोप्रियेट टैक्नोलोजिज फॉर थर्ड वर्ल्ड डेवलपमैंट। प्रीसीडिंग्स ऑफ दी कॉन्फ्रेंस हेल्ड वाई दी इन्टरनेशनल ऐट तेहरान, ईरान लंदनः दी मैकमिलन प्रेस लि०, 1970।
3. स्टेवार्ट - फ्रांसिस, टैक्नोलॉजी एण्ड अण्डर डेवलपमैंट, लंदनः दी मैकमिलन प्रेस लि०, 1977।
4. थर्लवाल, ए. पी., ग्रोथ एण्ड डेवेलपमैंट - विद स्पेशल रेफरेन्स ट्र डेवलिपंग इकोनॉमिक्स, लंदनः मैकमिलन, 1986।
5. शूमैकर, एफ. ई., स्माल इज ब्यूटीफुल, नई दिल्लीः राधाकृष्णा प्रकाशन, 1979।
6. सैन, ए. के. च्वायस ऑफ टेक्नीकस, बम्बईः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1972।
7. मिश्रा एण्ड पुरी, डेवलपमैंट एण्ड प्लानिंग शेयरी एण्ड प्रेक्टिस, हिमालया पब्लीशिंग हाऊस 1991।
8. गुप्ता पी. वी. एण्ड कुमार, राजेन्द्र, ऑटोमेशन - इटस सोशियो इकानॉमिक इम्पैक्टः ए केस स्टडी ऑफ इण्डिया, इन्सटीट्यूसन ऑफ इंजीनियर्स खण्ड 70 अक्टूबर 1979 1989, कलकत्ता।

43 प्रतिशत

9. कुमार, राजेन्द्र एण्ड शर्मा, आर. सी., "इम्पलायमैंट पालिसी इन दी 7 फाइवइयर प्लान -ए क्रटीकल एप्रेजल", द इंडियन जनरल ऑफ लेबर इकोनोमिक्स, ,खण्ड 28. संख्या-4. जनवरी 1986।

10. 7 वीं, 8 वीं पंचवर्षीय याजनाओं के प्रारूप, भारत सरकार।

11. नौवीं पंचवर्षीय योजना का प्रारूप, भारत सरकार।

इकाई 11

तकनीकी द्वैतवाद तथा ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अनौपचारिक क्षेत्र का विकास

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 तकनीकी द्वैतवाद (Technological Dualism)

11.2.1 अनौपचारिक क्षेत्र के लक्षण

11.2.2 औपचारिक क्षेत्र की विशेषताएं

11.3 अनौपचारिक क्षेत्र का परिमाण

11.3.1 अनौपचारिक क्षेत्र में वृद्धि के कारण

11.3.2 विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में अनौपचारिक क्षेत्र की भूमिका

11.3.3 अनौपचारिक क्षेत्र की आवश्यकता

11.4 अनौपचारिक क्षेत्र की समस्याएं

11.5 अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमों की पहचान

11.6 सारांश

11.7 शब्दावली

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

विकासशील देशों में जनाधिक्य के दबाव तथा धीमी गति के औद्योगीकरण ने तकनीकी द्वैतवाद को जन्म दिया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

(I) जान सकेंगे कि विकासशील देशों के श्रम बाजार जनाधिक्य एवं सीमत रोजगार के अवसरों के दबाव में किस प्रकार कार्य करते हैं?

(II) अनौपचारिक क्षेत्र के क्या लक्षण हैं एवं इनकी क्या समस्याएं हैं?

11.1 प्रस्तावना

वर्तमान शताब्दी के द्वितीय अर्धभाग में विकासशील देश अनुमान से अधिक जनसंख्या वृद्धि के प्रत्यक्षदर्शी रहे है। जनसंख्या की इस ऊँची वृद्धि दर का परिणाम यह रहा है कि शहरी जनसंख्या तेजी से बढ़ी है और श्रम पूर्ति मे, विशेष रूप से शहरी क्षेत्र में, शहरी जनसंख्या का अधिकांश दबाव बड़े शहरों पर पड़ा है।

बड़े शहरों के प्राकृतिक विकास के अलावा ग्रामीण क्षेत्र से शहरी प्रवासियों का लगातार प्रवाह, मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्र में अधिक्य मानव श्रम के कारण हुआ है। विकासशील देशों

के बड़े शहरों में औद्योगिक प्रगति का केन्द्रीयकरण अधिक है, व्यापार व व्यवसायिक क्रियाएं, यातायात व अन्य सम्वादवहन सुविधाऐं और सरकारी नौकरियाँ है। यद्यपि यह पाया गया है कि ये शहरी क्षेत्र इन देशों में उपलब्ध श्रम शक्ति को पूर्ण रोजगार देने में असफल रहे हैं। इन शहरी क्षेत्रों में समय गुजरने के साथ नये रोजगार के अवसर प्रतिवर्ष खुलते हैं। नये व्यक्तियों को जो रोजगार बाजार में जोड़े जाते है प्राकृतिक वृद्धि एवं नव प्रवास ग्रामीण क्षेत्र के द्वारा, के मध्य तालमेल नहीं रख पाते हैं।

अतः शहरी क्षेत्रों में अतिरिक्त श्रम शक्ति को अपने स्वयं के रोजगार के साधन ढूढने होंगे। परम्परागत रोजगार के तरीकों के अलावा, अपनी पूँजी व कौशल के बल पर। इस प्रकार का स्वयं रोजगार जिसे अनौपचारिक क्षेत्र कहा जाता है वह शहरी क्षेत्र में वर्तमान विकसित देशों में रोजगार का प्रमुख साधन बन गया है। इस प्रकार के औपचारिक क्षेत्र में लगे तृतीय विश्व देशों में शहरी श्रम शक्ति का भाग 20% से 70% तक पाया गया है।(1)

11.2 तकनीकी द्वैतवाद

विकासशील देशों की अर्थिक प्रणालियों की तकनीकी द्वैतवाद विशेषता है। इससे पूर्व ये अर्थव्यवस्थाएं परम्परागत व आधुनिक क्षेत्रों में विभाजित थी। परम्परागत क्षेत्र आकार में छोटा होने के कारण निदर्शन नीरिक्षण में सांख्यकी विशालता से बहुत सम्भव है कि बच जाते हो। दूर्ट (1973) ने प्रथम बार विश्व का इस परिघटना के बारे में ध्यान आकर्षित किया। इस बात पर जोर दिया कि ऐतिहासिक प्रति सांस्कृतिक तुलना शहरी अर्थव्यवस्थाओं की अनौपचारिक व औपचारिक क्षेत्र का विश्लेषण किया है।

11.2.1 अनौपचारिक क्षेत्र के लक्षण

अनौपचारिक समूह की आधारभूत विशेषताओं का लेखा-जोखा निम्नलिखित है —

1. सरल प्रवेश

सहासियों के लिए अनौपचारिक क्षेत्र में प्रवेश के लिए कोई सुस्पष्ट औपचारिक आवश्यकता नहीं है सिर्फ अल्प आधार की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए छोटी दुकान में जूते बेचना, सापेक्ष रूप से आसान है वनिस्पत जानी पहचानी ब्राण्ड के जूते की ऐजेन्सी लेने के। यद्यपि अनौपचारिक क्षेत्र में सहासी को प्रतियोगिता रहती है पर व्यक्तिगत सम्बंध और अन्य सामाजिक सम्बंध उसमें प्रवेश में सहायक हो सकते हैं।

2. घरेलू साधनों पर निर्भरता

अनौपचारिक क्षेत्र में ज्यादातर उत्पादन बनाने में घरेलू (देशीय) कच्चा माल, काम में लेते हैं। स्थानीय उपलब्ध साधनों अथवा घरेलू संसाधन इसलिए उपयोग में लिये जाते हैं कि वे आसानी से उपलब्ध होते हैं। आयातित साधनों के प्राप्त करने की लम्बी प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है। अनौपचारिक क्षेत्र में व्यापार के लिए अधिक प्रक्रियाए नहीं है।

3. परिवार संचालित उद्योग

उद्योगों का स्वामित्व अनेकों व्यक्तियों को स्वयं रोजगार का अवसर उपलब्ध कराता है। अतः अनौपचारिक उद्योगों में सामान्य रूप से कार्य कर्ता ही उनके स्वामी होते हैं।

4. लघुस्तरीय उद्यम

बड़े उद्योगों की निर्माण इकाई वित, बैंकिंग, लाइसेन्स आदि औपचारिक माध्यम से नहीं

(1) एम० वी० सेनूरमन- "द अरबन इनफारमल लेवर इन डवलपिंग कन्ट्रीज"

बच सकते हैं जबकि अनौपचारिक क्षेत्र में उद्यमी को ऐसी औपचारिकताएं नहीं करनी होती हैं।

5. श्रम गहन और अपनाई गई (adopted) तकनीक

इसकी प्रकृति अन्य परिभाषात्मक आवश्यकता अनौपचारिक समूह की ऐसी है कि इस समूह में आने वाले क्षेत्र श्रम गहन और पूँजी प्रधान तकनीक का भी इस्तेमाल और नवीनीकरण (modified) होगा। क्योंकि इसकी आधार भूत आवश्यकता रोजगार है। अतः यह श्रम प्रधान होना चाहिए।

6. औपचारिक स्कूल प्रणाली के बाहर अर्जित कुशलता

सामान्यतः औपचारिक क्षेत्र अपने मजदूरों को स्वयं ही उत्पादन कराती और प्रशिक्षित करती है। प्रशिक्षित श्रम अपने बच्चों को या अन्य बच्चों को नाम मात्र या मजदूरी पर प्रशिक्षण देते हैं। इस प्रकार का सम्पूर्ण प्रशिक्षण व्यक्तिगत आधार पर चलता है और किसी प्रकार की स्कूली शिक्षा और औपचारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है।

7. असुरक्षित और प्रतियोगी बाजार

अनौपचारिक क्षेत्रों के बाजार में उत्पादित वस्तुओं को अधिकतम प्रतियोगिता का सामान करना पड़ता है क्योंकि विभिन्न उद्यमियों का प्रवेश बाजार में आसान है। ऐसे समूहों को सरकार से कोई सुरक्षा नहीं है। जैसा कि आयात शुल्क, आयात व्यापार लाइसेन्स आदि।

11.2.2 औपचारिक क्षेत्र की विशेषताएं

उपर्युक्त विशेषताओं के समान औपचारिक क्षेत्र की निम्न विशेषताएं हैं।

1. कठिन प्रवेश
2. आयातित समुद्र पार साधनों पर निरन्तर निर्भरता
3. सहकारी या सामूहिक स्वामित्व
4. बड़े पैमाने के उद्यम
5. पूंजी गहन और आयातित तकनिक
6. औपचारिक प्राप्त कुशलता
7. सरंक्षित बाजार

उपर वर्णित तकनीकी द्वैतवाद में शहरी क्षेत्र के वनिस्पत ग्रामीण क्षेत्र में विरोधाभास अधिक तीव्र रूप में देखने को मिलता है ग्रामीण क्षेत्र में यह द्वैतवाद उन्नत कृषि व परम्परागत कृषि के रूप में देखने को मिलता है। ग्रामीण क्षेत्र में गैर कृषि क्रियाओं में तकनीकी समानता देखने को मिलती है। ज्यादातर ग्रामीण क्षेत्र की क्रियायें लघु स्तरीय श्रम प्रधान और घरेलू स्वामित्व, तथा औपचारिक क्षेत्र में आती है।

जैसे अनौपचारिक क्षेत्र केवल गैर कृषि कार्यों के लिए उपयोग में आता है। ग्रामीण क्षेत्र में कृषि का तकनीकी द्वैतवाद अनौपचारिक क्षेत्र के अर्न्तगत नहीं आतस है। ग्रामीण क्षेत्र में गैर कृषि कृयाओं का का अनौपचाकिर क्षेत्र बहुत कमजोर है। परिणाम स्वरूप इसके प्रभाव कम है अगर इसकी तुलना इसके प्रतिरूप शहरी क्षेत्र के मध्य की जाये।

11.3 अनौपचारिक क्षेत्र का परिमाण

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि शहरी क्षेत्र में अनौपचारिक क्षेत्र का भाग विकसित

देशों में 20-70% के बीच में है। विकासशील देशों के कुछ चुने शहरों में अनौपचारिक क्षेत्र के अन्तर्गत अनुमानित श्रम शक्ति का प्रतिशत भाग नीचे तालिका में दिया गया है।

तालिका 11.1

विकास शील देशों के अनौपचारिक क्षेत्र में शहरी श्रम शक्ति का अनुमानित प्रतिशत भाग कुछ प्रमुख शहरों में

क्षेत्र	वर्ष	प्रतिशत भाग
अफ्रिका		
अबीडजन	1970	31
लागोस (आइवरी कोस्ट)	1976	50
कुमासी (धाना)	1974	60/70
नैरोबी (कीनिया)	1972	44
अरबन एरिया (सीनिगल)	1976	50
अरबन एरिया (ट्यूनिशिया)	1977	34
एशिया		
कलकत्ता (भारत)	1971	40/50
अहमदाबाद (भारत)	1971	47
जकार्ता (इन्डोनेशिया)	1976	45
कोलम्बो (श्रीलंका)	1971	19
पश्चिमी मलेशिया शहरी क्षेत्र	1970	35
सिंगापुर	1970	23
अरबन एरिया (थाईलैण्ड)	1976	26
अरबन एरिया (पकिस्तान)	1972	69
लेटिन अमेरिका		
कोरडोबा (अरजैन्टीना)	1976	38
साओ पाउलो (ब्राजील)	1976	43
शहरी क्षेत्र (ब्राजील)	1970	30
रियो डी० जेनिरो (ब्राजील)	1972	24
बीलो होरिजोन्टी (ब्राजील)	1972	31
शहरी क्षेत्र (चीली)	1968	39
बोगोता (कोलम्बिया)	1970	43
सेन्टो डोर्गिया (डोमनिक रिपब्लिक)	1973	50

क्षेत्र	वर्ष	प्रतिशत भाग
ग्वाया क्वील (इक्योडोर)	1970	48
क्वेटी (इक्वोडोर)	1970	48
सेन सेलवे डोर (एल सेल्वेडोर)	1974	41
फेडरल डिस्ट्रीक एण्ड स्टेट आफ सेक्सेलो	1970	27
मेक्सीको डी० एल० ग्वाडालाजीरा एण्ड. मोम्मोटीरेज	1970	42
असन कोइन (पेरन्वे)	1973	57
शहरी क्षेत्र (वेनेजूएला)	1970	60
शहरी क्षेत्र (वेनेजूएला)	1974	44
केराकस (वेनेजूएला)	1974	40
किन्सटन (जूमाइका)	1974	33

तालिका 11.1 को ध्यान से देखने से पता चलता है कि अनौपचारिक क्षेत्र का भाग कोलम्बो (श्रीलंका) में 20% पाकिस्तान के शहरी क्षेत्र में लगभग 70% तक देखने को मिलता है। भारत में इसका भाग कलकत्ता (1971)[1] में 40-50 प्रतिशत, और अहमदाबाद में 47% प्रतिशत है।[2]

वे शहर जहाँ इसका भाग 50% और अधिक है वे हैं लगोस (नाइजीरिया 1976), कुमासी (धाना 1974), शहरी क्षेत्र सेनीगल के (1976), कलकत्ता (1971), पाकिस्तान शहरी क्षेत्र (1972), सेन्टो डोमेगो (गेमीनी रिपब्लिक 1973), अगुनी कोन (पेरेग्वे) और पीरम्पे शहरी क्षेत्र (1970)

11.3.1 अनौपचारिक क्षेत्र के विकास के कारण

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि शहरों का आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र जहां भारी मात्रा में आर्थिक साधन विनियोजित है आवश्यक रोजगार दिलाने में तथा आर्थिक अवसरों को उत्पन्न करने में असफल रहे हैं। तीव्र जनसंख्या वृद्धि के सन्दर्भ में और अत्यधिक ग्रामीण से शहरी होने शहरी क्षेत्र को अपनी श्रम उपयोग क्षमता को बढ़ाना चाहिए।

अनौपचारिक क्षेत्र साधनों से रोजगार उत्पन्न करने की दृष्टि से अधिक सक्षम पाया गया है। अध्ययन यह बताते हैं कि औपचारिक क्षेत्र के अपेक्षा रोजगार उत्पन्न करने के लिए अनौपचारिक क्षेत्र को पूंजी के थोड़े भाग की आवश्यकता होती है। उदाहरणतया कलकत्ता में अनौपचारिक क्षेत्र में प्रति श्रमिक औसत मात्रा में स्थिर पूँजी रूपये 2325 था. कुल औपचारिक क्षेत्र में आवश्यक मात्रा 1690 अनुमानित था यह अहमदाबाद में 50% था।

11.3.2 विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में अनौपचारिक क्षेत्र की भूमिका

विकासशील देशों के बड़े शहरों में अतिरिक्त श्रम शक्ति के अवशोषण (absorbing) में शहरी अनौपचारिक क्षेत्र महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। इसलिए शहरी गरीबी हटाने में सहायक

(1) ए० एन० थोम० – कलकत्ता और ग्रामीण बंगाल, स्माल सेक्टर सिम्बायोसिस कलकत्ता, 47 आई एल. ओ० p.66
(2) टी० एस० पपोला – शहरी क्षेत्र अनौपचारिक क्षेत्र। नगरलोक, Oct., Dec. 1978 p. 160

है। इसलिए बहुत से देश अपनी सरकारी नीति में इस क्षेत्र के लिए धनात्मक सहयोगी रूख रखते है।(1)

अन्य शब्दों में अनौपचारिक क्षेत्र शहरी क्षेत्र में अधिक श्रम अवशोषण का भार निरन्तर वहन करता है। शहरी क्षेत्र में गरीबी हटाने के अतिरिक्त, अनौपचारिक क्षेत्र का विकास शहरी विकास, पर्यावरण प्रदास और श्रम के कार्यदशाओं पर भी प्रभाव डालता है।

विकासशील देशों के शहरी विकास में सहयोग करने वाले कुछ तत्व अनौपचारिक क्षेत्र में भी है ये बिन्दु नीचे दिये गये हैं।

1. निम्न पूंजी गहनता
2. उंची श्रम गहनता
3. अर्द्धकुशल व अकुशल श्रम शक्ति पर आधारित
4. यह श्रमिको को कम लागत पर प्रशिक्षण उपलब्ध कराता है।
5. सटी तकनीक पर आधारित है जो साधनों के अधिक कुशलवितरण के परिणाम लायेगी।

यहाँ पर कुछ क्रियाएं भी है जिनमें अनौपचारिक क्षेत्र अधिक सफल हुआ है। ये क्रियाऐ विभिन्न प्रकृति के द्वारा औपचारिक क्षेत्र लघु स्तरीय रूप में की जा सकती है चुकि सही रूप में औपचारिक क्षेत्र वहाँ नहीं पहुँच सकता है। उदाहरणतया रिपेयर (repair) व्यापार और टेलरिंग (कपड़े सिलना) आदि। द्वितीय - कुछ वस्तुओं के छोटे बाजार औपचारिक क्षेत्र के कुछ सामान उत्पादन की प्रेरणा नहीं देते हैं उदाहरणतया आयातित स्पेयर पार्ट्स की नकल और व्यर्थ पदार्थों आदि का पुनः निर्माण (recycling) तृतीय - व्यर्थ पदार्थों और कुड़े को एकत्र करना जो औपचारिक क्षेत्र के लिए बहुत महंगा है इसका कारण यह है इसमें बहुत अधिक शक्ति लगती है। चतुर्थ - सस्ते श्रम के कारण लागत कुशलता, आर्थिक उपरी व्यय आदि या स्थानीय लाभों के कारण। पंचम - शहरी गरीब के द्वारा उच्च स्तर के समान की सस्ती नकल को प्राप्त करने की मांग अन्त में कुछ क्रियायें औपचारिक क्षेत्र में जानबूझ कर अनौपचारिक क्षेत्र के लिए जोड़ दी जाती है जैसे - सब कान्ट्रेक्टींग या बाजारी करण (Marketing) आदि।

11.3.3 अनौपचारिक क्षेत्र की आवश्यकता

शहरी क्षेत्र में अनौपचारिक क्षेत्र द्वारा अतिरिक्त श्रम को खपाने की अपरिहार्यता के बावजूद, इसकी प्रासंगगिता पर एक बड़ा प्रश्न चिनह है। इसके पक्ष में एक विचार है।

अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक असन्तुलन कुल मिलाकर दिये होने पर औपचारिक क्षेत्र में श्रम कठिनायों की ओर अवशोषण को इंगित करते हैं। ग्रामीण से शहरी प्रवासियों की बढ़ती संख्या के लिए नियोजन एवं आपके अवसर उपलब्ध कराने के रूप में अनौपचारिक क्षेत्र की तरफ देखा जाता है।(3)

अनौपचारिक क्षेत्र के लिए दूसरा मत यह है कि इसे औपचारिक क्षेत्र का पराश्रयी (parasitic) है अतः अन्त में अर्थव्यवस्था के आधुनिकरण के साथ यह औपचारिक क्षेत्र में विलिन हो जायेगा।

---

(1) गिलब्रेट, एल०, गूलरजोजफ - शहर, गरीबी और विकास - आक्स फोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस 1982 p 74

(2) एस० वी० सेथूरमन (p-39)

(3) कमल सलीह, "Urban Dileminas in South East Asia" सिंगापुर p-19

बोध प्रश्न 1

अपने पास के उद्यमों की लिस्ट बनाओ और निम्न लक्षणों को पता करें :

1. उद्यम का नाम
2. पंजीकृत या अपंजीकृत
3. विभिन्न व्यवसायों में श्रमिकों की संख्या, उकनी योग्यता और प्रशिक्षण के अनुसार विभाजन करते हैं।
4. समान जो उत्पादित करते हैं।
5. शक्ति का उपयोग करते हैं या नहीं
6. कच्चा माल कहाँ से प्राप्त किया जाता है और कैसे वित उत्पन्न किया जाता है, चुकाया जाता है।
7. उत्पादित माल कहाँ बेचा जाता है और भुगतान कैसे प्राप्त होते हैं।
8. उद्यम की औपचारिक व अनौपचारिक क्षेत्र उद्यम में वर्गीकृत करें।

बोध प्रश्न 2

1. अनौपचारिक क्षेत्र को परिभाषित करें, औपचारिक क्षेत्र से यह भिन्न कैसे है?
2. नकनीकी द्वैतवाद से आप क्या समझते हैं।
3. बैंक इन्सोनेन्स (Insurance) आदि अनौपचारिक क्षेत्र का भाग क्यों नहीं हो सकती है।
4. विकासशील देशों में अनौपचारिक क्षेत्र के महत्व का वर्णन करे।
5. औपचारिक क्षेत्र द्वारा अनौपचारिक क्षेत्र के शोषण की समस्या का विवेचन करें।
6. ऐसी कौन सी स्थितियाँ हैं जहाँ अनौपचारिक क्षेत्र उद्यम औपचारिक क्षेत्र से कोई प्रतियोगिता नहीं करता है।

11.4 अनौपचारिक क्षेत्र की समस्याएं

वे जो अनौपचारिक क्षेत्र के पक्ष में है का विचार है कि अर्थव्यवस्था में औपचारिक क्षेत्र की प्रमुखता होती है वहाँ अनौपचारिक क्षेत्र औपचारिक क्षेत्र से शोषित होगा ही। अनौपचारिक क्षेत्र में जो अधिकता आता है वह सरकारी नीतियां से सम्बंधित है जो औपचारिक क्षेत्र के पक्ष में है तयि यह भी बताते हैं कि विपरीत परिस्थतियों में यद्यपि अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमी भी आधिक्य का निर्माण कर सकते हैं।(1)

पूँजी प्रतिबन्धों के अनेक परिणाम होते हैं उनमें स कुछ नीचे बताये गये हैं।

1. औपचारिक स्रोत से उपयुक्त ब्याज दर पर अगर पूंजी उपलब्ध नहीं होती है तो निर्माण उद्यमी अन्य साख स्रोत से भी पूँजी लेने को बाध्य हो जाते ह। वे मध्यस्थ व्यक्ति या अन्तर मध्यस्थों से उंची ब्याज दर पर पूँजी प्राप्त करते हैं।
2. पूँजी की अनुपलब्धता के कारण - अधिकांश स्थिति में निर्माण उद्यमियों को अपना कुछ या पूरा उत्पादन औपचारिक सेवा द्वारा निर्धारित कीमत पर बेचना पड़ता है।

(1) सेथूरमन एस. वी. .....p. 35

कमी यह कहा जाता है कि निर्माणकर्ता उँची निवेश व निम्न निर्गत higher input and lower output मूल्यों के चक्र में फंस जाता है।

३. पूँजी की कमी निर्माण उद्यमियों को बाध्य करती है कि स्वयं का ध्यान आवासीय क्षेत्र व निम्न स्तरीय क्षेत्रों पर केन्द्रीत करें। जैसे कि खुले सार्वजनिक स्थान ठेला गाड़ी (Push carts) का उपयोग करते हैं। ये सभी प्रमुख बाजार से उन्हें दूर करती है। अपने माल व सेवाओं के बाजारी करण (Marketing) के लिय वो मध्यस्थों पर निर्भर करते हैं।

4. इन निर्माण कर्ताओं को इनके उद्योग के लिए आवश्यक कुछ खास आयातित समान उपलब्ध नहीं होता है और वे उचे मूल्यों पर उसे खरीदते हैं जो उनकी लाभदायकता की कम करते हैं।

उपर्युक्त तथ्य यह बताते हैं कि अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमियों को किन खराब स्थितियों में काम करना होता है और अपनी आप का कुछ भाग उन उद्यमियों को खो देते हैं जो औपचारिक क्षेत्र में लाभदायक स्थिति में हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन बाजार अपूर्णताओं की और साधन प्रतिबन्धों को हटाकर अनौपचारिक उद्यमकर्ता अपने उत्पादन व रोजगार दोनों को बढ़ा सकते हैं

जैसा कि पहले कहा गया है कि शहरी अनौपचारिक क्षेत्र श्रम शक्ति को खपाने में प्रमुख भाग अदा कर रहा है। यह भूमिका आगे भी चलते रहने की सम्भावना है। जब तक कि ग्रामीण विकास व विकेन्द्रीयकरण जैसे प्रभावी कदम ना हो। अनौपचारिक क्षेत्र द्वारा पूर्ण किये गये उपरोक्त महत्वपूर्ण सामाजिक लक्ष्यों के बावजूद यह क्षेत्र विकासशील देशों में लगातार अनदेखा रह रहा है। यही कारण है अनौपचारिक क्षेत्र अनेकों समस्याओं का समाना कर रहा है। अनौपचारिक क्षेत्र की तुलना में। इस क्षेत्र की समस्याएं कुछ नीचे दी गई हैं।

अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमी की पूँजी के स्त्रोत के औपचारिक भाग तक पहुँच नहीं होती है। यह कथन सैथूरमन कहते हैं।

विभिन्न अनौपचारिक क्षेत्र अध्ययन द्वारा एकत्र तथ्य यह सुझाव देते हैं कि वास्तव में कोई भी उद्यमी के पास औपचारिक स्रोत साख से पूंजी प्राप्त नहीं होती है। ये प्रमुख रूप से अपनी बचतों पर निर्भर करते हैं। ये कुछ हद तक मित्रों, रिश्तेदारों व अन्य घरेलू समाधनों से उधार लेते हैं।(1)

11.5 अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमों की पहचान करना

अनौपचारिक क्षेत्र की परिभाषा पूर्व में इसकी प्रमुख विशेषता के सन्दर्भ में की गई है। अब यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र के अर्न्तगत आने वाले उद्यमियों की पहचान की जाय।

अधिकांश विकासशील देशों में सभी उद्यमियों को एक स्थान पर अनुक्रमित नहीं किया जा सकता है। विशेषतः छोटे उद्यमियों को तो अनुक्रमित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उनका पंजीकरण नहीं होता है। अतः अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमी की पहचान एक सर्वेक्षण द्वारा सम्भव है। यदि सभी इकाइयों को देखें और यह पहचान करे कि वे अनौपचारिक क्षेत्र की है अथवा नहीं। अन्य तरीका उनकी पहचान का यह है कि हम हटाने की प्रक्रिया के द्वारा (Process of elimination) जैसे कि उन इकाइयों को निकाल दे जो अनौपचारिक क्षेत्र में नहीं आती है।

अतः सभी सरकारी विभाग, एजन्सी, सार्वजनिक क्षेत्र, कार्पोरेशन, नीजी संयुक्त स्टाफ कम्पनी, मल्टीनेशनल, पूर्व संस्थाऐं आदि घटा दी जायेगी बाहर से। शहरी भूमि पर कृषि क्रियाऐ

(1) एम० वी० सेथूरमन - .....p. 29

गरीब व बेरोजगारी द्वारा स्वयं रोजगार का एक मात्र साधन नहीं हो सकता है। अतः इसे अनौपचारिक क्षेत्र के अर्न्तगत नहीं माना जा सकता है। इसी तरह खान, खादान, बिजली, गैस, पानी, बिल्ल और वास्तविक सम्पत्ति आदि अनौपचारिक क्षेत्र उद्यमी में नहीं आते हैं।

अतः यह सुझाव दिया जाता है कि वे सभी उद्यमी जहाँ दस या कम सहयोग वाले उद्यमी निर्माणकारी क्षेत्र में लगे हैं तो जैसे विनिमाण, व्यापार, यातायात, और सर्विस क्षेत्र में कार्य रत श्रम को निर्माण उद्यम कहा जाता है यद्यपि उपरोक्त वर्गीकरण में भी कमियां है।

कुछ अन्य विशेषताऐं निर्माणकारी उद्योग की जो उपर लिखी के साथ मिलें की खोज की जानी चाहिए[1] इसमें यह भी देखें उद्यमी कानूनी है या नहीं, बिजली या शक्ति का उपयोग करते हैं या नहीं, परम्परा साख संस्थाओं पर निर्भर है या नहीं, उनका वितरण औपचारिक है आदि।

11.6 सारांश

विकास शील देशों की अर्थव्यवस्था में प्रमुखता आधिपत्य श्रम पूर्ति की और सीमित राजगार और आप अवसरों की हैं। इस तयि ने श्रम शक्ति को स्वयं रोजगार ढूढनें के लिए प्रेरित किया है। इसने देश में तकनीकी द्वैतवाद को जन्म दिया है जो शहरी क्षेत्र में बहुतायत से हैं। इन क्षेत्रों के कुशल व अकुशल श्रम अपने समाधान के आधार पर जिन क्षेत्रों में ये उद्यमी कार्य करते हैं जैसे विनिर्माण, सर्विस एवं प्रशिक्षण इकाई इन सभी को अनौपचारिक क्षेत्र कहते हैं। विकासशील देशों में श्रम शक्ति का काफी भाग अनौपचारिक क्षेत्र में पाया जाता है। अनौपचारिक क्षेत्र प्रतिकूल आर्थिक दशाओं में भी जीवित रहें कर आप पैदा कर अपनी अधिक कारगरता (Viability) को दर्शाते हैं।

11.7 शब्दावली

तकनीकी (Technology) अर्थव्यवस्था के क्षेत्र, Sector of the Economy, द्वैतवाद (Dualism) औपचारिक क्षेत्र (Formal Sector), अनौपचारिक क्षेत्र (Informal Sector), श्रम गहन (Labour intensive) पूँजी गहन (Capital intensive) अपनाई गई तकनीक (Adopted Technology) पुनः निर्माण (Recycling) परावजीवी (Parcisitic) शोषण (Exploitation)

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. एस०वी० सेथूरमन - "दी अरबन इनफोरमल सेक्टर इन डवलपिंग कन्ट्रीज" एम्पलोइमेन्ट, पावरटी, और एनवायर मेन्ट" जीनेवा, इन्टरनेशनल लेवर आफीस 1981.

2. एस.वी. सेथूरमन "इनफोरमल अरबन सेक्टर इन डवलपिंग कन्ट्रीज : सम पालिसी एप्लीकेशन" सोसियल एक्शन जूलाई - सेप्टेम्बर 1971

3. गिलवर्ट, एलन, जूगलर जोजफ सीटीज - पावरटी, और डवलपमेन्ट' आक्सफोर्ड यूनिवरसीटी प्रेस, 1982

4. ए० एन० बोस "कलकत्ता एण्ड रूरल बंगाल स्माल सेक्टर सिम्बोइसिस, कलकत्ता, साई० सल० ओ० 1978

5. टी० एस० पापोला "इनफोरमल सेक्टर इन एन अरबन इकोनोमी, नगरलोक, अक्टूबर दिसम्बर 1978

(1) एस० वी० सेथूरमन - .....pp. 22

इकाई 12

श्रम की गतिशीलता एवं प्रवास

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 श्रम शक्ति के प्रवास की प्रक्रिया

12.3 श्रम के प्रवास के कारण

12.3.1 प्राकृतिक कारण

12.3.2 मानव निर्मित कारण

12.4 भारत में आन्तरिक प्रवास के रूप

12.5 प्रवास के परिणाम

12.5.1 मूल स्थान पर प्रभाव

12.5.2 गंतव्य स्थान पर प्रभाव

12.6 सारांश

12.7 शब्दावली

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं संदर्भ

12.0 उद्देश्य

श्रम की जो विशेषता इसे अन्य साधनों से विशिष्टता प्रदान करती है वह है इसकी गतिशीलता। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य एक देश के विभिन्न क्षेत्रों में एवं विभिन्न देशों के भिन्न-भिन्न भागों में समय एवं काल के साथ-साथ श्रम के प्रवास के कारण एवं परिणामों से आपको अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- समझ सकेंगे कि श्रम शक्ति के प्रवास के मुख्य कारण क्या रहे हैं;
- भारत में श्रम प्रवास के प्रतिरूपों को जान सकेंगे; एवं
- श्रम प्रवास के प्रभावों की व्याख्या कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

मानव सदियों से अपनी गतिशीलता के कारण जाना जाता है। और मानव इतिहास ऐसे लेखों से भरा पड़ा है कि कहीं बस जाने की खोज में वह प्रवासित होता है। यद्यपि वर्तमान समय में इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास कम हो गये है।[1] आधुनिक श्रम प्रवास सामान्यतया आर्थिक परिवर्तनों के कारण श्रम का प्रवास है।[2]

1. अमीन समीर, मोर्डन माइग्रेशन इन वेस्टर्न अफ्रीका, लन्दन आक्सफोर्ड युनि. प्रेस 1974, P-66.
2. यू. एन डीपार्टमेन्ट आफ इको. एण्ड सोमियल अफेयर्स डीटर्मीनेन्टस एण्ड कोन्सीक्वेन्सेस आफ पोपूलेशन ट्रेन्डस्, वोल्यूम न. Population Studies, No. 50, New York UN, 1973, P.159

आज औद्योगिक देशों में ग्रामीण जनसंख्या को नियोजित ढंग से शहरी क्षेत्रों के उद्योगों की तरफ मोड़ा जा रही है। इन देशों में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि में यशीनीकरण करके कृषि श्रम की कमी पूरी की जा रही है।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका जैसे विकासशील देशों में जनसंख्या की अधिक-वृद्धि दर और उचित रोजगार के अवसरों की कमी प्रवास का कारण है। साधारण ग्रामीण से शहरी श्रम के प्रवास के अतिरिक्त, एक ग्रामीण क्षेत्र से दुसरे ग्रामीण क्षेत्र में श्रम का प्रवास बढ़ा है, जिसका कारण कुछ ग्रामीण क्षेत्र में बहुत अधिक गरीबी और आधुनिक कृषि का प्रार्दुभाव है।

आर्थिक संसाधन एवं तकनीकी जानकारी उनके शोषण की सभी क्षेत्रों में समान नहीं है। यह समय के साथ-साथ बदलती रहती है। इसके परिणामस्वरूप अन्य क्षेत्रों के मुकाबले, कुछ क्षेत्रों में अच्छे आर्थिक अवसर प्राप्त होते है। यद्यपि कुछ लोग जो कम अवसर वाले क्षेत्रों में रहते है, वे ज्यादा प्रगतिशील होते है, क्योंकि वे अपने अवसरों से सन्तुष्ट नहीं होते है। ये लोग अपने रहने वाले क्षेत्रों से गतिशील होकर उन क्षेत्रों की तरफ जाते है। जहाँ अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं ताकि वहाँ जाकर बस जावें। व्यक्तियों के इस प्रकार गतिशील होने को प्रवास कहते है।

12.2 श्रम शक्ति के प्रवास की प्रक्रिया

श्रम के प्रवास की आधारभूत शक्तियों को समझने के लिये इसे दूरी, उत्पत्ति की प्रकृति और गतव्य स्थान एवं अवधि के आधार पर कुछ ग्रामीणों में वर्गीकृत कर दिया गया है। जैसा नीचे समझाया गया है।

(अ) दूरी के आधार पर प्रवास का वर्गीकरण

1. आन्तरिक प्रवास अथवा देश के अन्दर प्रवास।

   आन्तरिक प्रवास आगे निम्न में पुनः विभाजित है-

   (अ) अतः क्षेत्रीय अथवा क्षेत्र के अन्दर प्रवास।

   (ब) अतः क्षेत्रीय अथवा दो क्षेत्रों मध्य प्रवास।

2. अन्तराष्ट्रीय प्रवास अथवा दो देशा भवण प्रवास।

(ब) आरंभ और गतंव्यस्थान के आधार पर वर्गीकरण (प्रवास का प्रवाह)

1. ग्रामीण से शहरी प्रवास।
2. शहरी से शहरी प्रवास
3. ग्रामीण से ग्रामीण प्रवास
4. शहर से ग्रामीण प्रवास।

(स) प्रवास की अवधि के आधार पर वर्गीकरण

1. मौसमी प्रवास।
2. तात्कालिक प्रवास।
3. अन्तर जन प्रवास।
4. जीवनकालीन प्रवास।

सामन्यरूप से मौसमी प्रवास कृषि से सम्बन्धित है। बुआई व कटाई की मौसम में कृषि श्रम अधिवक्य के क्षेत्र से उन क्षेत्रों की तरफ प्रवास करते है, जो कृषिगत विकसीत क्षेत्र है, जहां उनकी सेवाओं की मांग अधिक है। प्रवासियों को ज्यादातर अल्प समय के लिये आर्थिक दृष्टि से आर्कषक मजदूरी पर रोजगार उपलब्ध होता है। मौसम के बाद वे अपने क्षेत्रों पुनः लौट जाते है और इस तरह से परिवार की आप से सहयोग करते है।

तात्कालिक प्रवास अल्प अवधि प्रवास है इसमें गतंव्य स्थान पर तीन या पांच साल से कम ठहरना शामिल है।

अन्तर जन प्रवास दो जनगणनाओं के मध्य का प्रवास है और जीवन कालीन प्रवास वह प्रवास है जहां प्रवासियों के प्रवास की अवधि निश्चित न हो।

12.3 श्रम के प्रवास के कारण

एक स्थान से दूसरे स्थान पर श्रम के प्रवास के पीछे प्राकृतिक साथ ही मानव निर्मित आर्थिक कारण हो सकते है।

12.3.1 प्राकृतिक कारण

एक स्थान से दूसरे स्थान पर श्रम के प्रवास के पीछे प्राकृतिक कारण निम्न है-

1) विशिष्ट प्राकृतिक साधन जैसे खान, लकड़ी, अथवा कृषि संसाधन के कम होना अथवा खत्म होना।

2) प्राकृतिक विपदाएं जैसे सूखा, बाढ़, महामारी जैसी प्राकृतिक विपदाये।

12.3.2 मानव निर्मित कारण

1. देशों का विभाजन अथवा देश की सीमाओं को पुनः संगठित करना।
2. जनता के एक वर्ग के विरूद्ध राजनैतिक भेदभाव।
3. सामाजिक कारण जैसे शिक्षा, विवाह, परिवार के मुखिया के स्थानान्तरण के कारण गतिशील होना।
4. एक स्थान से दूसरे स्थान में मजदूरी की भिन्नता।
5. कुछ क्षेत्रों में रोजगार के अच्छे अवसर
6. जन-शिक्षा
7. कुछ योजनाओं जैसे बाँध आदि के निर्माण के कारण विस्थापक।
8. कुछ क्षेत्रों में अच्छे रहन-सहन की सुविधाओं के कारण।

सभी प्राकृतिक कारण सामान्य रूप से प्रभावित क्षेत्रों की श्रम शक्ति को प्रेरित करते है कि वे अन्य क्षेत्रों की तरफ पलायन करें ताकि प्राकृतिक कारणों से आई बाधाओं से मुक्त हो सके।

कुछ मानव निर्मित कारण, चाहे, प्रत्यक्ष प्रभाव डालते है मानव की गतिशीलता पर जब कि अन्य प्रभाव नहीं डाले। उदाहरण के रूप में विवाह वधु का प्रवास तो है पर श्रम शक्ति का प्रवास नहीं है। इसी तरह से छोटे परिवार के सदस्य जो परिवार के साथ

गतिशील होते है, विद्यार्थी शिक्षा के लिये प्रवासित होते है, ये भी श्रम शक्ति के प्रवास का भाग नहीं है।

यहाँ पर यद्यपि निकट सम्बन्ध है, श्रम की गतिशीलता, प्रवास की दूरी, मजदूरी भिन्नता, शिक्षा स्तर, स्त्री/पुरूष, ग्रामीण व शहरी, जगह की प्रकृति व लक्ष्य व गन्तव्य के मध्य।

यह पाया गया है कि प्रवास के लाभ बढ़ते है तो प्रवास की दूरी भी बढ़ जाती है। अतः एक ग्रामीण क्षेत्र से दूसरे ग्रामीण क्षेत्र में प्रवास में यह पाया गया है कि अधिकतर अल्प दूरी का होता है क्योंकि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र के मध्य कृषि मजदूरी के लाभ अधिक ऊँचे नहीं होते है। इसके विपरीत ग्रामीण से शहरी क्षेत्र की दूरी सामान्यतः अधिक होती है फिर श्रम अधिक दूरी के प्रवास की जोखिम व कठिनाइयाँ उठाने को तैयार हो जाता है क्योंकि शहरी व ग्रामीण कुशल श्रम की मजदूरी सामान्यरूप से काफी ऊँची होती हैं ग्रामीण से शहरी प्रवासी न केवल अधिक दूरी तय करते वरन् ऊँची शिक्षा के स्तर को लिये होते है।

लेविस ने ग्रामीण से शहरी प्रवास के द्वि क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था के मॉडल में जो ग्रामीण व शहरी क्षेत्र की असीमित श्रम शक्ति और ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र में अधिक मजदूरी को लेकर समझाया है। ऐसी अर्थव्यवस्था में यदि कृषि श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य या लगभग शून्य हो तो श्रम संसाधन शहरी क्षेत्र की तरफ स्थानान्तरित हो जायेंगे। शहरी क्षेत्रों में श्रम की अधिक पूर्ति के कारण वहां मजदूरियां नीचे आ जावेगी, पर शहरी क्षेत्र में अधिक लाभ की प्रवृतियां अधिक रोजगार उपलब्ध करायेगी। इस कारण प्रवासी के रूप में अधिक लोग शहरी क्षेत्र की तरफ विस्थापित होते जायेंगे। आधुनिक क्षेत्र एवं रोजगार के विस्तार की यह प्रक्रिया बढ़ती रहेगी ऐसा माना जाता है जब तक कि सभी अतिरिक्त श्रम ग्रामीण क्षेत्र का खपा नहीं लिया जाता और ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में मजदूरी का अन्तर भली प्रकार कम नहीं हो जाता है।

यद्यपि लेविस का मॉडल इस तथ्य की अनदेखी करता है कि Added Profit अतिरिक्त लाभ श्रम की मांग में वृद्धि न करके यह श्रम स्थानापन्न पद्धतियो को इसके स्थान पर आमन्त्रित करेगा।[1]

टोडेरो ने अपने विस्तृत चर्चित मॉडल से अर्थमिती पारिपेक्ष्य Econometric Perspective को दिया है जो निम्न मान्यताओं पर आधारित है।

1) व्यक्ति अपनी संभावित आय को अधिक करने की प्रेरणा को लेकर गतिशील होता है।

2) भावी प्रवासी उनके स्तर के शिक्षित वर्ग के प्रचलित औसत आय को प्राप्त करने का प्रयास करते है।

3) प्रवास से पहले, व्यक्तियों को यह जानकारी होती है कि उन्हें शीघ्रता से नौकरी मिलने की सम्भावना है। वह यह भी जानता है कि कुछ समय बेकार एवं अर्ध बेकार रहने के बाद नौकरी की पूरी सम्भावना है।

टोडेरो का प्रमुख तर्क यह है कि अगर प्रवासी को t समय अवधि पर शहरी सेवा

1. आलोचना के लिये लेविस के मॉडल की टोडेरो एम.पी. का इन्टरनल माइग्रेशन इन डवलपिंग कन्ट्रीज, जीनेवा आई.एल.ओ. 1973, pp 24-25.

में नौकरी मिलने की सम्भावना है [माना Yu (t)] इसके वर्तमान मूल्य की ब्याज की दर पर कटौति की जायेगी। वह विशेष रूप से सम्भावित लाभ के विचार का उपयोग करता है जिसे शहरी मजदूरी की उत्पादकता के रूप में परिभाषित किया है कि t समय के पश्चात नौकरी मिलने की सम्भावना [माना P(t)] है।

व्यक्ति के प्रवास का निर्णय इस पर निर्भर करेगा

$$\int_{t=0}^{n} \left[P(t)\,Yu\,(t) - Yr(t)\right] e^{-it}\,dt - C\,(o) > o$$

यहाँ पर Yr(t) = t समय अवधि में ग्रामीण क्षेत्र में मजदूरी
C(o) = गतिशीलता की लागत
i = ब्याज की दर

और Yu(t) और P(t) जैसा उपर परिभाषित किया गया। अगर इसका मूल्य धनात्मक नहीं है तो प्रवास वास्तविक लाभ नहीं होगे ऐसी स्थिति में व्यक्ति प्रवास नहीं करेगा।

टोडेरो के मॉडल में यद्यपि बहुत कमियों यह प्रवास के पीछे के सामाजिक व व्यक्तिगत तत्वों को लेने में असफल रहा है। वास्तव में इस मॉडल के लिए श्रम बाजार की जो सूचनाये जरूरी थी, वह व्यवहार उपलब्ध नहीं हो पाई।

लेविस व टोडेरो के अलावा कुछ महत्व सिद्धान्त रेविस्टीन (1885) स्टोफर (1940) कुजनेट (1964) द्वारा बनाये गये है। इन सभी सिद्धान्तों में ('Push' and 'Pull') धक्का व खीचने का तत्व रूप से पाया जाता है। प्राकृतिक विपदा, राजनैतिक, सामाजिक असमानता, गरीब खेती और जमीन पर आदि दबाव, कम मजदूरी आदि सृजात्मक तत्व एक क्षेत्र जो उनको मूल निवास से जाने को प्रेरित करते है सब 'Push' धक्का तत्व कहलाते है। 'Pull' खीचने (रोकने) के तत्व वे है जो विशेष क्षेत्र की ओर को खीचते है जैसे कि विस्तृत भूमि जहां जनसंख्या कम हो, महानगरीय संस्कृति जहां सामाजिक भेदभाव न हो, ऊँची मजदूरी, अच्छी रहने की दशाएं एवं अन्य आर्थिक तत्व आदि।

ऊपर वर्णित सैद्धान्तिक व्याख्याओं के अलावा कई ऐसे अनुभविक अध्ययन है जो श्रम की गतिशीलता का वर्णन करते है। इसमें कोनल (1977) गोसल (1961) ग्रीनवुड (1971) ओबीराव (1980) और पटेल प्रमुख हैं (1965)।

बोध प्रश्न 1

1. मौसमी प्रवास को परिभाषित करे।
2. मानव निर्मित व प्राकृतिक अन्य प्रवासों में भेद करे।
3. विकासशील देश में ग्रामीण से शहरी क्षेत्र प्रवास की महत्वता का वर्णन करे।
4. स्त्री प्रवास ग्रामीण से ग्रामीण क्षेत्र में प्रमुखता क्यों रखता है?
5. टोडेरो के मॉडल की आधारभूत आलोचना करते हुए विकासशील देशों में ग्रामीण से शहरी प्रवास को समझाइये।
6. ग्रामीण से शहरी प्रवास को समझने के लिए लेविल माडल का वर्णन करे।

12.4 भारत में आन्तरिक प्रवास के रूप

प्रवास के सन्दर्भ में दस वर्षिय जनगणना भारतीय जनसंख्या के आकड़ों का प्रमुख स्रोत है। 1961 की जनगणना के अनुसार 1961 में 144.8 मिलियन जनसंख्या जो कुल का 33.0 प्रतिशत है प्रवासी अनुमानित किये गये। 1971 स्व 1991 की जनगणना में ये 166.8 एवं 203.6 मिलियन है जो कुल जनसंख्या का क्रमशः 30.4 प्रतिशत एवं 30.6 प्रतिशत है।

1981 में अन्तर जिला, जिले के अन्दर (उसी राज्य में) दो राज्य मध्य, पुरूष वस्ती प्रवास की तालिका (12.1) नीचे दी गई है।

तालिका 12.1

जिले में, अन्तर जिले और अन्तर राज्यीय प्रवास का प्रतिशत भाग 1981 ने पुरूष व स्त्रियों में।

गतिशीलता के रूप	पुरूष	स्त्री
1. जिले के अन्दर	48.91	67.00
2. अन्तर जिला (राज्य के अन्दर)	30.98	23.97
3. अन्तर राज्यीय	20.11	9.03
कुल	100.00	100.00

अन्तर जिला प्रवास के पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिले में एवं अन्तरजिला (राज्य के अन्दर) एवं अन्तरक्षेत्रीय, यद्यपि यह अन्तर, यद्यपि यह अन्तर राज्यीय के समान ही है।

उपरोक्त तालिका 12.1 से स्पष्ट है कि लधु दूरी का अन्तर जिला गतिशीलता व्यक्तियों में अधिक प्रभावशाली है और स्त्रियों के मामले में यह और अधिक है। जैसे दूरी का स्तर बढ़ता जाता है प्रवास का प्रतिशत घटता जाता है स्त्रियों में अधिक तेजीसे उपरोक्त वास्तविकता यह बनाती है कि सामान्य रूप से बाकि कम दूरी तय करना पसन्द करते है।

चार प्रकार के प्रवाह जो पहले से बताऐ जा चुके हे में प्रतिशत भाग प्रवासियों का नाम से ग्रामीण से ग्रामीण, ग्रामीण से शहरी, शहरी से शहरी एवं शहरी से ग्रामीण नीचे बताये गये है तालिका न. 12.2 में जो 1981 के लिये पुरूष व स्त्री वर्ग के लिये अलग से है।

तालिका 12.2

1981 में चार प्रकार के प्रवास का प्रतिशत भाग (स्त्री व पुरूष में)

प्रवास के प्रकार	पुरूष	स्त्री
ग्रामीण से ग्रामीण	45.57	73.28
ग्रामीण से शहरी	30.00	12.45
शहरी से ग्रामीण	45.57	8.69
शहरी से शहरी	7.00	5.58
कुल	100.00	100.00

तालिका 12.2 से यह स्पष्ट है कि यह तालिका 12.2 की पुष्टि करती है। यह बताती है कि अधिकतर व्यक्ति ग्रामीण से ग्रामीण, प्रवास वाले सामान्यतः लघु दूरी की प्रकृति के होते है। इस प्रकार के प्रवाह में स्रोतों की प्रमुखता रहती है। यह इसकी भी पुष्टि करता है। स्त्री प्रवास का एक भाग जो ग्रामीण से ग्रामीण प्रवाह में योगदान करता है वह है शादी के रूप मे प्रवास। इसका कारण है कि लड़कियों की पास के गावों में शादी की जाती है।[1] तालिका 12.2 यह बतलाती है ग्रामीण से शहरी और शहर से शहर प्रवास का भाग पूरूष की जगह स्रोतों में अधिक पाया जाता है प्रवास का यह कारण सामान्यत रोजगार से जुड़ा है यह पुरूष प्रवास के भाग को बढ़ाने का करण हो सकता है।

1981 की जनगणना में प्रथम बार प्रवास के प्रमुख कारणों के आधार पर प्रवासियो की तालिका बनाई गई। नीचे तालिका 12.3 में स्त्री व पुरूष के प्रतिशत भाग को पांच प्रमुख श्रेणियों में विभाजित करके बताया गया है।

तालिका 12.3

1981 में स्त्री पुरूष प्रवास का प्रतिशत भाग उनके प्रवास के प्रमुख कारण के अनुसार।

प्रवास के प्रकार	पुरूष	स्त्री
रोजगार	30.98	1.93
शिक्षा	5.36	0.83
परिवार गतिशीलता	30.23	14.49
शादी	3.06	72.36
अन्य	30.37	10.34
कुल	100.00	100.00

स्रोतः 1981 में भारत की जनगणना श्रेणी। प्रवासी तालिका भाग V, तालिका D3

तालिका 12.3 यह स्पष्ट बताती है कि रोजगार ही पुरूष वर्ग के प्रवास का प्रमुख कारण है। स्त्रीयों में फिर भी तालिका यह बताती है कि शादी ही प्रवास का प्रभावशाली कारण है।

बोध प्रश्न 2

1. भारत में आन्तरिक प्रवास के मुख्य लक्षण को समझाये?
2. दूरी के प्रवास के सन्दर्भ में भारत में प्रवास के मुख्य रूप कौन-कौन से है।
3. जिले में, अन्तर जिले (राज्य के अन्दर) और अन्तरराज्य प्रवास से आप क्या समझते है, स्पष्ट करे।
4. श्रम के प्रवास की प्रक्रीया का अध्ययन करते समय प्रवास की प्रवाहो की आवश्यकता क्यों पड़ती है।

1. डेविस के, पोपूलेशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान प्रिन्सतन यूनिर्वसिटी, प्रेस, 1951, pp 110-113.

12.5 प्रवास के परिणाम

जब कभी भी मूल स्थान से लक्ष्य स्थान की ओर प्रवास होता है तो दोनों स्थानों पर कुछ प्रभाव आवश्य पड़ते है। हर समाज के क्षेत्र पर इसके प्रभाव पडते है और यह प्रभाव स्थान व दूरी के साथ अलग-अलग होते है। यद्यपि, आर्थिक प्रभाव, श्रम के प्रवास से प्रत्यक्षरूप से सम्बन्धित है।

चूकि प्रवाह पुरूष प्रधान है इसलिये युवा व शिक्षित में गतिशीलता की ऊँची प्रवृति होती है और इसके मूल व लक्ष्य स्थान दोनों पर महत्वपूर्ण जनसंख्या व सामाजिक आर्थिक प्रभाव होते है। ये प्रभाव धनात्मक साथ ही ऋणात्मक होंगे।

12.5.1 मूल स्थान पर प्रभाव

जैसा कि उपर बताया गया है कि प्रवास विशिष्ट स्वरूप वाला होता है। शिक्षित युवा पुरूष में अन्य के मुकाबले गतिशीलता की ऊँची प्रवृति होती है। इसके परिणामस्वरूप मूल स्थान पर स्त्री पुरूष अनुपात स्त्री के पक्ष में जाता है। जैसा कि युवावर्ग के अधिक लोग बाहर प्रवास करे तो मूल स्थान पर बच्चों व बूढ़ो का अनुपात बढ़ जायेगा, इससे निर्भरता अनुपात (dependency-ratio) बढ़ जाता है। प्रवासी वर्ग सामान्यतः अधिक शिक्षित व उत्साही होता है अतः मूल स्थान अपने सहासी व उत्साही वर्ग को खो देता है। यही वर्ग ग्रामीण क्षेत्र में विकास का अग्रगामी और खोजकर्त्ता कहलाता है। अतः सामान्यतः उपर्युक्त बताये कारण अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन के लिये उत्तरदायी होते है। अन्य रूप से बाहर प्रवासी मूल स्थान पर धनात्मक प्रभाव ही डालते है।

उदाहरण के लिये प्रवासी जो राशि भेजते है अपने मूल स्थानों पर वह कई अच्छे कार्यो में काम आती है जैसे शिक्षा, कृषि में नवीन उपकरण, अच्छे मकान और अच्छी स्वास्थ दशाऐ आदि। अर्ध रोजगार संबंधी बेरोजगारी के चलते, बाहर गये प्रवासी, अपने प्रवासी स्थानो को मदद भेजते है एवं वहां के जनाधिक्य के दबाव को भी कम करते है। बाहर गये प्रवासी जो अनुभव लेकर लौटते है अपने मूल स्थानो पर वह भी धनात्मक प्रभाव डालते है।

12.5.2 गंतव्य स्थान पर प्रभाव

गतव्य स्थानों पर जब प्रवासी पहुँचते है वे भी प्रवासियों के प्रभाव से बच नहीं सकते है। सर्वप्रथम प्रवासी जब मकान, यातायात, शिक्षा और अन्य सुविधाओं का उपयोग स्थानीय जनता के साथ करते है तो वहां पर आधारभूत सुविधाओं पर भारी दबाव उत्पन्न होता है। स्थानीय श्रम शक्ति में यह प्रतिस्पर्धा की शुरूआत करती है।

धनात्मक प्रभाव अप्रवास के मूल स्थान पर यह सम्मिलित करते है कि सस्ता श्रम उपलब्ध होता है, द्वितीयक क्रियाऐं का विकास होता है।

बोध प्रश्न 3

1. श्रम शक्ति का प्रवास मूल व गतव्य स्थानों को कैसे प्रभावित करता है।
2. अपने मूल स्थान पर बाहर प्रवास के कौन से जनसंख्या सम्बन्धित कारण होते है।
3. गतंव्य स्थान पर प्रवास के धनात्मक व ऋणात्मक परिणामों की सूची बनाइये।

12.6 सारांश

आधुनिक प्रवास मुख्य रूप से युवा पुरूष द्वारा रोजगार की तलाश में हुआ प्रवास

है। आन्तरिक प्रवास का स्थान मुख्य रूप से ग्रामीणों से शहरी प्रवास दे, विशेष रूप से पूरूष वर्ग के मामले में। श्रम का आन्तरिक प्रवास मुख्य रूप से तब होता है जब शहरी व ग्रामीण क्षेत्र के मध्य औसत मजदूरी में अन्तर हो। वे सभी तत्व जो एक व्यक्ति को बाहर प्रवास के लिये प्रेरित करते है तो धक्का 'Push' तत्व कहलाते है इसी तरह वे तत्व जो एक व्यक्ति को किसी स्थान की तरफ ले जाते है वे खीचने 'Pull' वाले तत्व है। मूल व लक्ष्य स्थान पर प्रवास के प्रभाव धनात्मक व ऋणात्मक दोनों होते है।

12.7 शब्दावली

प्रवास के प्रवाह (Steams migration) श्रक की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Production of labour) मजदूरी भिन्नता (Wage differintial) श्रम स्थापना (Labour-substitute) धक्का व खीचने वाले तत्व (Pull and Push factor) क्षेत्रीय में, अन्तर क्षेत्रीय (Intraregional & inter-rigional)

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं संदर्भ

1. समीर अमीन, मोर्डन माइग्रेशन इन वेस्ट अफ्रीका लन्दन, ओक्सफोर्ड युनि. प्रेस 1974.
2. यू.एन. डीटरमेन्टस एण्ड कोन्सीक्वेन्सेस आफ पापूलेशन ट्रेण्ड, पोपुलेशन स्टडीज न. 50 न्यूयार्क, यू.एन. 1973.
3. लेविस. डब्लू. ए. "इकोनोमिक डवलपमेन्ट विद अनलिमिटेड सप्लाई आफ लेकर," मेन्चेस्टर स्कूल आफ इकानोमिक्स एण्ड सोसिपल स्टडीज मई 1954.
4. टोडेरो म. इन्टरनल माइग्रेशन इन डवलपिंग कन्टरीज, साई.एल.ओ. जिनेवा, 1973
5. टोरेजे. म. 'ए मोडल आफ लेवर माइग्रेशन इन लेस डवलपड कन्ट्रीज' अमेरिकन इकोनोमिक रिव्यू मार्च 1969.
6. डेविस. के. पोपूलेशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान प्रिन्सटन युनि. प्रेस. 1951.
7. सेन्सेस आफ इण्डिया 1981, माइग्रेशन टेवल, पार्ट V सीरीज।
8. सेमुअल ए. स्टूफर. "इन्टरवेनिज ओपोरजूनेटि स. ए. थियोरी रिलेटिग मोबिलिटी एण्ड डिस्टेन्स" अमेरिकन सोसोलिजिकल रिव्यू वीलूम 5, 1940.
9. रवनस्टीन इ.जी. 'द लोज आफ माइग्रेशन' जनरल आफ रावल स्टेतीस्टीकंल सोसाइटी.48 जून 1955.
10. एवरेट एस.ली. 'ए थ्योरी आफ माइग्रेशन, डेमोग्राफी, 3; 1966
11. डोरथी. एस. थोमस एण्ड मुजनेट, साइगन 'पोपूलेशन रिजिट्रीव्यूशन एण्ड इकोनोमिक ग्रेथ इन यूनाइटेड स्टेरस 3 वोल्यूम फिलाडेफीपर दी अमेरिकन फिलोसोफिकल सोसाइटी, 1957.
12. कोनेल, जे. दासगुप्ता, बी. 'et, at. 'माइग्रेशन फ्रोम रन्लर एरिया' द स्वीडेना फ्राम विलेज स्टडीज।
13. गोसल, एस, एस, इन्टरनल माइग्रेशन इन इण्डिया, ए. रिजनल एनालिसिम इण्डियन जोगराफिकल जनरल वोल्यूम 36, 1961.

14. ग्रीन्वूड, एम. 'एन एनालिसिज आफ इन्टरनल लेबर मोबिलिटी इन इण्डिया, एनालिसिस आफ जनरल आफ रिजनल साइन्सेस, न.1 1971.

15. ओबिराय, ए.एस. और मनमोहन सिंह एच.के "माइग्रेशन इन पन्जाबस ग्रीन रेवल्यूशन बेल्ट, इकानोमीक एण्ड पोलिटिकल बिकली वोल्यूम 15 न. 13, 1960.

16. पटेल. के. 'रन्लर लेबर इन इन्डस्ट्रीयल बोम्बे, बोम्बे पोपूलर प्रकाशन 1965.

17. ओबिराय ए. एस. प्रसार पी.एच. सरधना एम डी. डीटरमीनेन्टस एण्ड कोन्सीक्वेन्सेड आफ इन्टरनल माइग्रेशन इन इण्डिया देहली, 1989 आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस

इकाई-13

नियोजन हेतु श्रम की मांग एवं आपूर्ति के प्रक्षेपण की विधियां

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 प्रक्षेपण की विधियाँ

13.2.1 प्रवृति पद्धति

13.2.2 पतोपगमन एवं अन्य अर्थमिति/विधियां

13.2.3 आगत-निर्गत विधि

13.3 आगत-निर्गत मॉडल के मुख्य तत्व

13.4 सारांश

13.5 शब्दावली

13.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में श्रमशक्ति की प्रचुरता है। मानव पूँजी का समुचित उपयोग करने के लिए किसी भी देश के लिए उपलब्ध श्रमशक्ति का अनुमान लगाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस इकाई में आपका परिचय योजना निर्माण हेतु श्रमशक्ति के प्रक्षेपण की विभिन्न तकनीकों की जानकारी प्राप्त करना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप आगत निर्गत विधि की सहायता से श्रम शक्ति की मांग एवं पूर्ति के प्रक्षेपण से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

मुख्य अर्थशास्त्र के श्रमशक्ति की आपूर्ति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी प्रायः बहुत कम की जाती है क्योंकि इसमें आपूर्ति को मूल्य के एक कार्य के रुप में लिया जाता है। सामान्यतः इसका अर्थ श्रमशक्ति की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने अथवा निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने की आवश्यकता के रुप में इस परिकल्पना के आधार पर लिया जाता है कि सभी सापेक्षिक मूल्य तथा वेतन स्थिर रहते हैं, तथा बीच के सामान की अन्तरऔद्योगिक मांग भी स्थिर रहती है। अतः यह संकल्पना अर्थशास्त्रीय होने के बजाय तकनीकी अधिक नजर आती है।

यदि एक निश्चित प्रकार की श्रम शक्ति की अधिकता एवं कमी रहती है तो नियोक्ता को अपने पूंजीगत माल की संरचना को बदलना होगा। जिससे की कम आपूर्ति होने पर कम श्रम शक्ति का प्रयोग करेगा तथा अधिक मांग होने पर अधिक श्रम शक्ति का उपयोग करेगा। यदि यह तकनीक कारणों से कठिन हो तो उन वस्तुओं के मूल्य

में वृद्धि होगी जो कि कम आपूर्ति होने पर भी अधिक मंहगी श्रम-शक्ति का प्रयोग करते हैं। तथा इनके स्थान पर उन वस्तुओं को प्राथमिकता मिलेगी जिनकी अधिक आपूर्ति होती है तथा कम श्रम शक्ति लगी होती है।

किसी भी अर्थव्यवस्था में श्रम शक्ति की अधिकता या कमी उसकी वृद्धि को प्रभावित करती है। अतः इस समस्या का यदि उचित समय पर ध्यान रखा जाए तो अर्थव्यवस्था के उन्नयन में काफी सहायता मिलगी। श्रम शक्ति की भविष्य की मांग की पूर्ति हेतु समय के साथ ही प्रशिक्षण तथा शैक्षिक कार्यक्रमों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब कि हमें अपनी भविष्यवाणी की आवश्यकताओं की स्पष्ट समझ हो। किसी अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लिए श्रम शक्ति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना इस प्रकार से हमारी नियोजन व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। क्योंकि श्रम शक्ति की आवश्यकता अर्थव्यवस्था की निर्गतता (output) से सम्बन्धित है। इसलिए विभिन्न क्षेत्रों हेतु श्रम शक्ति के स्तरों की आवश्यकता का ज्ञान भी इस सम्बन्ध में काफी महत्वपूर्ण है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए श्रम शक्ति की तकनीकी आवश्यकता मुख्यतः विभिन्न क्षेत्रों की भविष्य की निर्गतता पर निर्भर करती है। इसलिए एक क्षेत्र हेतु आवश्यक भविष्य निर्गतता उस क्षेत्र की भावी अन्तिम मांग से अधिक होगी। यह अतिरिक्त उत्पादन अन्तर्क्षेत्रीय उत्पादनों हेतु आवश्यक होगा। यदि किसी एक क्षेत्र हेतु एक इकाई की निर्गतता को उत्पादित करना है तो उस क्षेत्र का समग्र अपेक्षित उत्पादन एक इकाई से अधिक होगा। इस क्षेत्र के अतिरिक्त उत्पादन की दूसरे सैक्टर के उत्पादन हेतु आवश्यकता होगी जो कि अन्त में उपलब्ध नहीं होगा तथा वह दूसरे सेक्टर हेतु केवल आगत (In put) बन कर रह जायेगा, और स्पष्ट रुप से कहें तो यदि किसी उद्योग की एक ईकाई की निर्गतता दूसरे सैक्टर की निर्गतता के साथ उत्पादित की जानी है। तो आपको उद्योग की एक ईकाई की निर्गतता तथा उद्योग की कुछ अन्य निगर्तता की आवश्यकता होगी तथा इसके अलावा कृषि की एक ईकाई को उत्पन्न करने हेतु उद्योगों की कुछ निर्गतता चाहिए तथा परिवहन और अन्य क्षेत्रों की भी एक इकाई चाहिये। अतः उद्योग की समग्र निगंतता उसी अन्तिम एक इकाई की मांग की निर्गतता से अधिक होगी।

अतः अन्तर्क्षेत्रीय ढांचे में मुख्य चीज यह है कि आप अर्थव्यवस्था के विभिन्न सैक्टरों की अन्तिम आवश्यकता को निश्चित कर सके। एक बार अन्तिम क्षेत्रीय मांग यदि निश्चित हो गयी तो इनपुट-आउटपुट मॉडल की सहायता से समग्र क्षेत्रीयता की निर्गतता को निकाला जा सकता है। अन्तिम क्षेत्रीयता की मांग को निकालने के पश्चात श्रमिक आवश्यकता को निकाला जा सकता है। इसके लिए क्षेत्रीयता की मांग को क्षेत्रीय श्रम कोफीसियेन्ट (coefficients) से गुणा करना होगा। इस श्रमिक कोफीसियेन्ट-को आप प्रत्येक क्षेत्र में प्रति इकई श्रम की आवश्यकता भी कह सकते हैं।

13.2 प्रक्षेपण की विधियाँ (Methods of Projection)

किसी घटना के भविष्य के बारे में जानना हमेशा से वैज्ञानिक खोज का एक महत्वपूर्ण पक्ष रहा है। हम किसी भी घटना के भविष्य को मुख्यतः दो कारणों से जानना चाहते हैं।

1. यदि यह घटना नियंत्रण से बाहर जा रही है तो उसमें परिमार्जन करना या यह पता लगाना कि यह घटना अब कुछ कारणों से उपयुक्त नहीं रह गयी है।
2. भविष्य की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में नियोजन करना।

चाहे उद्देश्य कोई भी रहा हो जिसके लिए भविष्य में प्रक्षेपण तैयार किया जा रहा है, उस प्रक्षेपण के पीछे कुछ निर्देशात्मक मान्यताएं होंगी, अतः विभिन्न प्रक्षेपण विभिन्न मान्यताओं के साथ बनाये जाते है। विभिन्न मान्यताओं के आधार पर बनाये प्रक्षेपणों की विभिन्न पद्धतियां निम्नलिखित है।

1. प्रवृति पद्धति (Trend Method)
2. प्रतीपगमन पद्धति (Regression Method)
3. आगत-निर्गत पद्धति (Input-Output Method)

13.2.1 प्रवृति पद्धति (Trend Method)

प्रक्षेपण निर्माण की प्रवृति पद्धति के अर्न्तगत हम यह मूल मान्यता लेकर चलते हैं कि घटना की भूतकालीन प्रवृति भविष्य में भी जारी रहेगी। यह मान्यता तभी बनाई जा सकती है जबकि यह सुनिश्चित हो कि घटना के निर्धारक कारक बदलेंगे नहीं। कई स्थिति ऐसी जटिल होती है कि इसके निर्धारकों की पूर्ण जानकारी नहीं होती और हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भूत में जो प्रवृत्तियां रही हैं वे भविष्य में भी रहेंगी। विभिन्न प्रवृत्तियों को जानने के लिए जो तरीके अपनाये जाते हैं, वे निम्न हैं।

(1) रेखाचित्र प्रवृति (Graphic Method)

(2) बदलती औसत विधि (Moving Average Method)

(3) कर्व फिटिंग विधि (Curue Fitting)

13.2.2 प्रतीपगमन एवं अन्य अर्थमितिय पद्धतियाँ

कर्व फिटिंग मेथड एक प्रतीपगमन समीकरण है जो कि निर्भर चर तथा समय के रुप में स्वतंत्र चर के मध्य फिट होता है। यदि आप समय के अलावा कोई अन्य स्वतंत्र चर रखते हैं तो हम वर्ग प्रतीपगमन समीकरण विधि का प्रयोग कर सकते है। यह समीकरण विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। जैसे–

1. रेखीय (Linear)
2. अरेखीय (Non Linear)
3. द्वविचलन (Bivariat)
4. बहुविचलन (Multivariat)
5. युगपत अर्थमितीय समीकरण (Simultaneons Econometric Equations)

13.3.2 आगत - निर्गत विधि (Input Output Method)

यह एक विशिष्ट प्रणाली है जिसमें अन्तिम क्षेत्रीय मांग के आधार पर विभिन्न सैक्टरों के निर्गत का अन्दाजा लगाया जाता है। यहां पर हमें अन्तिम मांग तथा समग्र निर्गत के बीच जो अन्तर है वह हमें पता होना चाहिए। समग्र निर्गत में अन्तिम मांग के साथ साथ अन्तरऔद्योगिक उपभोग के लिए आवश्यक निर्गत भी समाहित होता है।

यहां पर अन्तिम क्षेत्रीय मांग को बाह्य रुप से दर्शाया गया है जिसकी किसी अन्य विधि से भी भविष्यवाणी की जा सकती है।

बोध प्रश्न - 1

1. भविष्यवाणी (प्रक्षेपण) तथा अनुमान में अन्तर बताइये।

2. मानव शक्ति नियोजन का अर्थशास्त्रीय विकास के संगणक के रूप में महत्व समझाइये।

3. मानव शक्ति को प्रक्षेपित करने की विभिन्न विधियां कोन-कोन सी है। इन विधियों के प्रमुख दिशा निर्देशों का वर्णन कीजिये।

4. प्रवृत्ति विधि प्रतिगमन विधि से किस प्रकार भिन्न है।

13.3 आगत - निर्गत मॉडल के मुख्य तत्व

इस मॉडल का सार यह है कि किसी भी अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों के उत्पादन आपस में एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। किसी भी उद्योग का निर्गत उसी उद्योग तथा उससे सम्बन्धित अन्य उद्योगों की आगत पर निर्भर करता है इसलिए एक सेक्टर के निर्गत को तय करने समय हमें इन अर्न्तऔद्योगिक सम्पादनों (लेन-देन) को भी ध्यान में रखना होगा।

इनपुट-आऊटपुट विश्लेषण का सार यह है कि दिये गये कल्पित तथा अन्तिम मांग के सन्दर्भ में प्रत्येक अर्न्तजात सेक्टर का निर्गम बहुसम्भागीय मांग के योग द्वारा निश्चित होगा।

1. मान लिजिये किसी अर्थव्यवस्था को "N" सैक्टर में बाटा जा सकता है।

2. Xi सेक्टर i अपेक्षित उत्पादन है (i=1, 2,...,N)

3. Xij सेक्टर i की Xj अमाउन्ट को जो कि सेक्टर j का निर्गत है, को उत्पादित करने की आवश्यकता है।

4. पहले सेक्टर की सामग्रीयों का Fl अन्तिम मांग का अमाउन्ट है।

$$Xi = Xi1+Xi2+Xi3+ \ldots + Xin + Fi$$

यदि हम यह मान लें कि अन्तर्क्षेत्रीय आवश्यकता AIJ निर्गतता के स्तर के साथ नहीं बदलती है तो इसे निम्न रुप मे लिखा जा सकता है।

$$X_1 = (X_{11}+X_{12}+X_{13}+\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots+X_{1n}) + F_1$$

$$X_2 = (X_{21}+X_{22}+X_{23}+\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots+X_{2n}) + F_2$$

$$\vdots \quad \vdots \quad \vdots \quad \vdots \quad \vdots \quad \vdots$$

$$X_n = X_{n1}+X_{n2}+X_{n3}\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots X_{nn} + F_n$$

यदि इसे और सरल रुप में देखें तो j सेक्टर की एक ईकाई का उत्पादन करने के लिए हम aij को पहले सेक्टर की आवश्यकता के रुप में ले सकते हैं इस अवस्था में j सेक्टर के xj अमाउन्ट को उत्पादित करने के लिए xij जो कि Ist सेक्टर की आवश्यकता है को निम्न रुप से भी प्राप्त किया जा सकता है, aij x 1 इस समीकरण एक को निम्न रुप में भी लिखा जा सकता है।

$X_1 = (a_{11} \times 1 + a_{12} \times 2 + a_{13} \times 3 + \ldots\ldots\ldots F_1$

$X_2 = (a_{12} \times 1 + a_{22} \times 2 + a_{23} \times 3 + \ldots\ldots\ldots F_2$

$X_n = (a_{n1} \times 1 + a_{n2} \times 2 + a_{n3} \times 3 + \ldots\ldots\ldots + F_n$

समीकरण 2 के उपयुक्त सैट को निम्न मेंटिक्स के रुप में भी लिखा जा सकता है।

$X + AX + F \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots 3$

जहाँ

$$X = \begin{bmatrix} X_1 \\ X_2 \\ \\ \\ \\ X_m \end{bmatrix} \quad A = \begin{bmatrix} a_{11} & a_{12} & a_{13} & \ldots\ldots & a_n \\ a_{21} & a_{22} & a_{23} & \ldots\ldots & a_{23} \\ : & : & : & & : \\ : & : & : & & : \\ : & : & : & & : \\ : & : & : & & : \\ a_{n1} & a_{n2} & a_{n3} & \ldots.ann & \end{bmatrix} \text{ and } F = \begin{bmatrix} F_1 \\ F_2 \\ : \\ : \\ : \\ F_n \end{bmatrix}$$

F. को क्षेत्रीय निर्गत के सदिश वाहक (Vector) के रुप में जाना जाता है।

F. को संभागीय अन्तिम मांग के सदिश वाहक के रुप में जाना जाता है।

A. को आगत निर्गत कोएफिसियन्ट मैटिक्स या तकनीकी कोएफीसियेन्ट - मैटिक्स के रुप में जाना जा सकता है।

जिसे मेट्रिक्स बीज गणित का थोड़ा ज्ञान है वह समीकरण 3 को निम्न रुप में लिख सकता है।

$$[X - AX] = F$$

OR

$$[1 - A]\, X = F$$

OR

$$X = [1 - A]^{-1}\, F \qquad -(4)$$

समीकरण 4 सैक्टोरियल निर्गत X तथा अन्तिम मांग F के मध्य आगत निर्गत कोएफीरिसेन्ट मैटिक्स A के मध्य महत्वपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करता है।

यदि एक संभागीय अन्तिम मांग को प्रक्षेपित किया गया है तो उतना ही उत्पादन करना अपेक्षित नहीं होगा। वास्तविक उत्पादन इस प्रक्षेपित मांग से अधिक होगा क्योंकि उसका अन्तरऔद्योगिक उपभोग भी होगा। इस प्रकार से आगत निर्गत सम्बन्ध दी गई प्रक्षेपित संभागीय अन्तिम मांग के सन्दर्भ में समग्र संभागीय निर्गत की भविष्यवाणी करने में सहायता करेगा।

उदाहरण

यदि किसी अर्थव्यवस्था में तीन संभागीय कृषि, निर्माण तथा सेवा 1000 रुपये लागत के कृषि उत्पादन को बनाना चाह रहे हैं तो कृषि निर्माण तथा सेवा का इनपुट क्रमशः 250 रुपये, 250 रुपये तथा 80 रुपये होगा। इसी तरह से द्वितीयक सैक्टर के 1150 रुपये के निर्गत के लिए उपर्युक्त वर्णित सैक्टरों का इनपुट क्रमशः रुपया 150 तथा रुपया 120 होगा। सेवा सेक्टर के 750 रुपये के निर्गत के लिए उपर्युक्त सैक्टरों में से क्रमशः 50 रुपये 150 रुपये तथा 50 रुपये का इनपुट अपेक्षित होगा। इसी तथ्य को निम्न तालिका के द्वारा भी दर्शाया जा सकता है:—

क्रय / विक्रय	कृषि	निर्माण	सेवा	क्रय अन्तिम मांग	अन्तिम निर्गत	(प्रयोग किये गये सामान के साथ
कृषि	250	300	50	400	1000	
निर्माण	250	150	150	600	1150	
सेवा	80	120	50	500	750	
समग्र निर्गत	1000	1150	750		2900	

यदि हम इस तालिका को पंक्ति (Row) के अनुसार देखें तो हमें प्रत्येक सेक्टर के आगत के सम्बन्ध में जानकारी मिल जायेगी, जो कि विभिन्न सैक्टरों के (बिक्री) निर्गत को उत्पादित करने से सम्बन्धित होगी। यदि इसे हम कॉलम के अनुसार देखें तो यह हमें प्रत्येक सेक्टर में (खरीददारी) आने वाले विभिन्न सेक्टरों के इनपुट की जानकारी देगी।

यदि हम प्रत्येक कॉलम के तीनों मूल्यों को तालिका में नीचे दी गई समग्र निर्गत मूल से विभाजित कर दे तो हमें आगत निर्गत कोएफीसियेन्ट निम्न रुप से प्राप्त होगा।

आगत निर्गत कोएफीसियेन्ट-2 मैटिक्स

	खरीददारी		
विक्रय	कृषि	निर्माण	सेवा
कृषि	0.25	0.26	0.07
निर्माण	0.25	0.13	0.20
सेवा	0.08	0.10	0.07

इस मैटिक्स की सहायता से हम विभिन्न सेक्टरों की प्रक्षेपित अन्तिम मांग हेतु विभिन्न सेक्टरों के समग्र उत्पादन समीकरण चार का प्रयोग करके पता लगा सकते हैं।

उदाहरण के लिए यदि तीनों सेक्टरों की अन्तिम मांग को 500 रुपये 700 रुपये तथा 550 रुपये के रुप में प्रक्षेपित किया गया है तो अन्तिम मांग संदिश वाहक (Vector) की गणना समीकरण $X = (I-A)^{-1}F$ के रुप में होगी।

जहां $(I-A)^{-1} = \begin{bmatrix} 100 \\ 010 \\ 001 \end{bmatrix} - \begin{bmatrix} 0.25 & 0.26 & 0.07 \\ 0.25 & 0.13 & 0.20 \\ 0.08 & 0.10 & 0.07 \end{bmatrix}^{-1}$

$$(I-A)^{-1} = \begin{bmatrix} 0.75 & -.26 & -.07 \\ -.25 & 0.87 & -.20 \\ -.08 & -0.10 & .93 \end{bmatrix} = \begin{bmatrix} 1.5158 & .4780 & .2169 \\ .4773 & 1.3291 & .3217 \\ .1817 & .1848 & 1.1285 \end{bmatrix}$$

यदि $X=(I-A)^{-1}F = \begin{bmatrix} 1.5158 & .47810 & .2169 \\ .4773 & 1.3291 & .3217 \\ .1817 & .1840 & 1.1285 \end{bmatrix} \times \begin{bmatrix} 500 \\ 700 \\ 550 \end{bmatrix} \times \begin{bmatrix} 1211 \\ 1330 \\ 840 \end{bmatrix}$

यदि उत्पादन को उत्पादित करने के लिए प्रत्येक सेक्टर में श्रम की आवश्यकता को रुपयों में दर्शाया गया है तो हम किसी भी अर्थव्यवस्था के प्रक्षेपित अन्तिम सेक्टर की समग्र श्रम की आवश्यकता की भी गणना कर सकते हैं।

If $L^* = \ell 1\ \ell 2\ \ldots\ldots\ldots\ \ell n)$ विभिन्न सेक्टरों में इकाई रुपये को उत्पादित करने के लिए श्रम की आवश्यकता है तथा $X^* = (X_1\ X_2\ \text{-----}\ X_{n1})$ अन्तिम सैक्टोरियल मांग वैक्टर है तो समग्र श्रम की आवश्यकता को निम्न रुप में प्रक्षेपित किया जा सकता है।

$$L^1X = (1\ \ 1\text{------}\ 1n)\begin{bmatrix} X1 \\ X2 \end{bmatrix} = n < \ell i\ x\ i$$

उदाहरण

यदि तीनों क्षेत्रों में अन्तिम सैक्टोरियल मांग वेक्टर क्रमश (1211, 1330, 840) है तथा तीनों सेक्टरों में प्रति इकाई उत्पादन में श्रम की आवश्यकता क्रमश (.42, 51, .66) हैं तो श्रम की समग्र आवश्यकता निम्न होगी।

$L^1 \times = (.42, .51, .66) \begin{bmatrix} 1211 \\ 1330 \\ 840 \end{bmatrix}$

$= [.42\times1211=.51\times1330+.66\times840]$

$= [508.6+678.3+554.1] = 1741.0$

बोध प्रश्न 2

1. तकनीकी कोएफीसियेन्ट मैटिक्स को परिभाषित कीजिए तथा इसमें अर्न्तनिहित मान्यताओं

को बताईये।

2. एक सेक्टर में एक इकाई के निर्गत उत्पादन के लिए क्या उसी सेक्टर के एक इकाई से अधिक आऊटपुट निर्गत की आवश्यकता होगी।

3. मानवशक्ति नियोजन के उपकरण के रुप में इनपुट - आउटपुट विश्लेषण विधि के गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए।

4. निम्न इनपुट आऊटपुट तालिका से समग्र मांग वैक्टर तथा उसे लिए आवश्यक श्रम की गणना कीजिए।

		I	II	(अन्तिम मांग) F
क्षेत्र (सेक्टर)	I	20	80	50
	II	60	40	60
श्रम	40		20	

If $A = \begin{bmatrix} .204 & .089 \\ .037 & .441 \end{bmatrix}$ $F = \begin{bmatrix} 7611 \\ 2246 \end{bmatrix}$ Find $X = ?$

मानव श्रम आपूर्ति (Man Power Supply)

मानव शक्ति आपूर्ति का जनसंख्या वृद्धि के साथ बढ़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। हमें यह अवश्य समझना चाहिए कि जनसंख्या वृद्धि में दो समय बिन्दु समाहित होते है। जनसंख्या वृद्धि को मानव श्रम की बढोत्तरी के रुप में पूर्णता नहीं लिया जा सकता क्योंकि इसमें बच्चे तथा वृद्ध भी सम्मिलित होते हैं जो कि श्रम शक्ति का हिस्सा नहीं होते।

यद्यपि श्रम शक्ति के लिए कोई आयु सीमा निर्धारित नहीं की गयी है। परन्तु ऐसा माना जाता है कि 15 से 59 वर्ष के बीच लोगों की शक्ति का प्रयोग श्रम के रुप में किया जा सकता है। इसलिए श्रम शक्ति की गणना सम्पूर्ण जनसंख्या के बजाए इसी आयु वर्ग पर ध्यान दिया जाना चाहिए इस प्रकार से श्रम शक्ति की गणना में वो लोग बाहर होगे जो 15 वर्ष से कम आयु के हैं या 59 वर्ष से अधिक आयु के है या, उस विशिष्ट समय वे बाहर रहते हैं मान लिजिये कि हमें आने वाले दस वर्ष के समय के लिए इन परिवर्तनों का अध्ययन करना है तथा वहां आब्रजन का प्रतिशत 0 है तो हमें सम्पूर्ण श्रम शक्ति की गणना में जो 5 से 14 वर्ष के बच्चे जोडना होगा जो 49 से 59 वर्ष के बीच लोग हैं– उन्हें भी बाहर रखना होगा। क्योंकि यह अनुमान आने वाले 10 वर्षों के लिए लगाया जा रहा है। इस प्रकार की गणना के लिए हमें समय के प्रारम्भ का जनसंख्या आयु वितरण की तालिका तथा विशिष्ट आयु के जीवित व्यक्तियों का अनुपात चाहिए।

उदाहरण

निम्न तालिका में जनसंख्या का आयु वितरण दस वर्षीय विशिष्ट आयु के जीवित व्यक्तियों के अनुपात 1990 के सन्दर्भ में सन् 2000 हेतु श्रम शक्ति का अनुमान दिखाया गया है।

आयु वर्ग जनसंख्या (हजार में)	0-10	10-19	20-29	30-39	40-49	50-59	60
10 वर्षीय जीवत अनुपात (Survival Ratios)	100	80	50	40	20	10	5
	0.91	0.92	0.98	0.985	0.985	0.800	–

आयु वर्ग	जनसंख्या 1990 में (हजार में)	10 वर्षीय जीवित व्यक्तियों का अनुपात	जनसंख्या 2000 में (हजार में)
0-10	100	.910	.910×100=91
10-20	80	.920	.920×80=73.6
20-30	50	.980	.980×50=49.4
30-40	40	.985	.985×40=39.4
40-50	20	.985	.985×20=19.7
50-60	10	.800	.800×10=8.0
60+	5		

15.59 आयु वर्ग की जनसंख्या

इस प्रकार से हमें पता चलता है कि 1990 में जो व्यक्ति 0 से 10 आयु वर्ग में थे वे दस वर्ष जीवित रहने के पश्चात् सन् 2000 में 10 से 20 आयु वर्ग में आ गए। इसी प्रकार 10 वर्ष पश्चात सभी आयु वर्गों में एक दशक की बढ़ोतरी हो गई। 40 से 50 आयु वर्ग वाले व्यक्ति 50 से 60 आयु वर्ग में आ गए तथा 50 से 60 आयु वर्ग के लोग 60+ होकर श्रम शक्ति से बाहर हो गए। इस प्रकार 1998 की जनसंख्या के 15 से 59 आयु वर्ग की श्रम शक्ति सन् 2000 में 1/2 80+50+40+20+10=160 लाख होगी। यहां हम यह मानकर चले कि दस से बीस वर्ष के आयु वर्ग की जनसंख्या का वितरण एक समान होगा। इस प्रकार 15 से 19 वर्ष के बीच की जनसंख्या 10 से 20 वर्ष के आयु वर्ग की जनसंख्या की आधी होगी। 15 से 59 आयु वर्ग की सन् 2000 में प्रक्षेपित जनसंख्या - 1/2×91+73.6+49.4+39.4+19.7=227.6 लाख होगी।

जन्म दर के सम्बन्ध में अनुमान (प्रक्षेपण)

क्योंकि श्रम शक्ति में 15 से 59 वर्ष के बीच के व्यक्तियों को ही सम्मिलित किया जाता है इसलिए श्रम शक्ति के अनुमान में 14 वर्ष से कम तथा 60 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों को छोड़ दिया जाता है, लेकिन यह तभी तक सम्भव है जबकि हमें अनुमान 14 वर्ष के लघु समय की अवधी के लिए ही लगाने हों। जब हमें 14 वर्ष से अधिक समय के लिए अनुमान लगाना होता है तो हम प्रत्येक वर्ष में जन्म लेने वाले बच्चों की संख्या, प्रत्येक वर्ष जीवित रहने वाले बच्चों की संख्या को ध्यान में रखते हैं, तथा जब वे 14 वर्ष के हो जाते हैं तो उनकी गणना श्रम शक्ति में कर लेते हैं। यह प्रक्रिया काफी लम्बी है तथा इसमें पुरुष एवं महिला जनसंख्या का अलग अलग आयु वितरण तथा विशिष्ट आयु जन्म दर जो कि केवल महिला जनसंख्या पर लागू होगी, को ध्यान में रखना होगा, कि उसमें पिछले 5 वर्ष में कितने बच्चों को जन्म दिया है। इस सम्बन्ध में हमें 5 वर्षीय या 10 वर्षीय बच्चों के जीवित

रहने के आंकड़ों को भी ध्यान में रखना होगा जिससे कि 0 से 5 या 0 से 10 वर्ष के आयु वर्ग का निर्धारण हो सके।

उदाहरण

एक क्षेत्र की जनसंख्या के आयु वितरण (1990) को 5 वर्षीय जीवित रहने के अनुपात (महिला-पुरुष दोनों) तथा विशिष्ट आयु जन्म दर के आधार पर 1985 में श्रम शक्ति की गणना तथा 0 से 4 वर्ष के आयु वर्ग की गणना यह मानते हुए की इस अवधि में कोई आवजन नहीं हुआ।

आयु वर्ग		0-4	5-9	10-14	15-19	20-24	25-29	30-34	35-39	40-44	45-49	50-54	55-59	60-64	65+
जनसंख्या	M	60	40	45	40	35	30	20	15	10	5	5	2	2	7
हजारों में	F	50	50	45	40	30	25	15	15	10	3	2	2	2	7
पाँच वर्षों में जीवित रहने का अनुपात		0.7	.93	.98	.97	.96	.95	.95	.94	.94	.93	.90	.87	.80	.50
विशिष्ट आयु जन्म दर (ASBR)		–	–	–	.07	.17	.21	.20	.15	.07	.03	–	–	–	–

जन्म से 0-4 आयु वर्ग में जीवित रहने की संभावना .86 है तथा जन्म के समय लिंग अनुपात प्रत्येक 100 लड़कियों पर 106 लड़कों का होता है।

आयु वर्ग	जनसंख्या 1990 में पुरुष M	महिला F	योग	पांच वर्षों में रहने का अनुपात M+F	जनसंख्या 1995 में M+F	विशिष्ट आयु जन्म दर ASBR	जन्म 1990-95
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)=(4)×(5)	(7)	(8)=(3)×(7)×5
0-4	60	50	110	0.70	82.99	–	..
5-9	40	50	90	0.93	77.0	–	–
10-14	45	45	90	0.98	83.7	–	–
15-19	40	40	80	0.97	88.2	.07	2.8×5
20-24	35	30	65	0.96	77.6	.17	5.1×5
25-29	30	25	55	0.95	62.4	.21	5.3×5
30-34	20	15	35	0.95	52.3	.20	3.0×5
35-39	15	15	30	0.94	33.3	.15	2.3×5
40-44	10	10	20	0.94	28.8	.07	0.7×5
45-49	5	3	8	0.93	18.8	.03	0.1×5
50-54	5	2	7	0.90	7.4	–	–
55-59	2	2	4	0.87	6.3	–	–
60-64	7	7	4	0.80	3.5	–	–
65+	7	7	14	0.50	–	–	–
							19.3×5=96.5

1990 से 1995 के जन्म की संख्या पो हेतु 1990 की महिला जनसंख्या को विशिष्ट आयु जन्म दर से गुणा कर दिया गया है। ये जन्म 5 वर्ष में हुए परिवर्तनों को बतायेंगे। इस अवधि के जन्मों को 5 से गुणा करके (19.3×5=96.5, जन्म) गणना प्राप्त की जा सकती है। इस अवधि के जन्मों को 0 से चार वर्ष के आयु वर्ग तक जीवित संख्या 0.86 से गुणा करके (96.5×.86=82.99 लाख) इस सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है। इस अवधि में हुए जन्मों में कितनी महिला है और कितने पुरुष, इसका पता निम्न समीकरण के प्रयोग द्वारा किया जा सकता है।

महिला श्रम = $\frac{1 \text{ लाख}}{1 \text{ लिंग अनुपात}}$ = 82.99 × $\frac{1}{1+1.06}$ (लाख) = 82.99 × $\frac{1}{2.06}$ = 40.29 (लाख)

अतः पुरुष = 82.99 – 40.29=42.70 (लाख) इस अवधि की श्रम शक्ति की गणना निम्न प्रकार से हो सकती है, सन् 1990 में 15 से 59 आयु वर्ग की जनसंख्या होगी 80+65+55+35+30+20+8+7+4=304 (लाख), सन् 1995 में यह संख्या 88.2+77.6+62.4+52.3+33.3+28.8+18.8+7.4+6.3=375.1 लाख होगी।

नोट:–गणना को सरल बनाने के लिए इनमें से कुछ बिन्दुओं को हटा दिया गया है यह बिन्दु निम्नलिखित हो सकते हैं–

1. 1998 से 1995 के बीच हुए जन्मों को (ASBR) विशिष्ट आयु जन्म दर (Age Specific Birth Rate) तथा 1998 और 1995 की महिला जनसंख्या के औसत से गुणा करके पता लगाया जा सकता है।
2. 1999 की जनसंख्या के आधार पर महिला तथा पुरुषों की अलग-अलग जनसंख्या की गणना की जा सकती है उसके लिए महिला तथा पुरुषों के जीवित रहने के अनुपात को ध्यान में रखना होगा।

13.4 सारांश :

श्रम शक्ति की मांग और पूर्ति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना नियोजन अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है। श्रम शक्ति का अनुमान प्रवृत्ति विधि, प्रतिगमन पद्धति तथा आगत-निर्गत विधि के द्वारा पता लगाया जा सकता है। श्रम की आपूर्ति समाज की आयु संरचना विशिष्ट आयु वर्ग में जीवित रहने की दर तथा विशिष्ट आयु जन्म दर पर निर्भर करती है।

13.5 शब्दावली

प्रवृत्ति, बदलना औसत, प्रतिगमन समीकरण, द्विविचलन व बहुविचलन, रेखीय, मॉडल, आगत गिर्नत मॉडल, तकनीकी सारिणी (मैट्रिक्स) अर्न्तऔद्योगिक सम्बन्ध, सदिश प्रवाह, मैट्रिक्स ऑपरेशन- अन्तिम मांग वैक्टर, समग्र मांग वैक्टर, विशिष्ट आयु में जीवित रहने वाले व्यक्तियों का अनुपात, विशिष्ट आयु जन्म दर जीवित अनुपात, लिंग अनुपात।

13.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अहमद बा और क्लांगे, एम. (सं.) दी प्रैक्टिस ऑफ मैनपॉवर फोरकास्टिंग कलैक्शनए ऑफ केस स्टेडिज, ऐल्सेवियर साईन्टीफिक पब्लिशिंग कम्पनी एम्सस्टेरडम, लन्दन, न्यूयार्क, 1973
2. मेहता, बी.सी., मैथमेटीकल इकोनॉमिक्स, माईक्रो इकोनॉमिक मॉडल्स, सुल्तान चंद एंड संस 1987।
3. मिश्रा बी.डी. एन इन्ट्रोडेक्शन टू द स्टेडी ऑफ पॉपुलेशन, साउथ ऐशियन प्रा. लि., नई दिल्ली, 1982।

इकाई-14

रोजगार सृजन कार्यक्रम

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 भारत में बेरोजगारी का स्वरूप

14.3 भारत में बेरोजगारी के अनुमान

14.4 भारत में रोजगार की उपनितियाँ

14.5 रोजगार संरचना

14.6 भारत में बेरोजगारी संबंधी मुख्य लक्षण

14.7 रोजगार बढ़ाने संबंधी सरकारी नीति

14.7.1 रोजगार सृजन की विभिन्न योजनाएं

14.7.2 रोजगार बढ़ाने के कार्यक्रम

14.8 समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम

14.8.1 समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम - लक्ष्य एवं उपलब्धि तथा कमजोरियां

14.8.2 राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम

14.8.3 समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम की आलोचनात्मक समीक्षा

14.8.4 जवाहर रोजगार योजना

14.8.5 जवाहर रोजगार योजना की प्रगति की समीक्षा

14.9 रोजगार प्रेरित विकास रणनीति

14.10 ग्रामीण रोजगार के लिए नई पहल

14.11 रोजगार नीति में परिवर्तन और जनशक्ति आयोजन हेतु सुझाव

14.12 सारांश

14.13 निबन्धात्मक प्रश्न

14.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

किसी देश का आर्थिक विकास उस देश के प्राकृतिक साधन, मानवीय साधन, पूँजी व तकनीकी ज्ञान की क्रिया प्रतिक्रिया पर निर्भर है।'' मानवीय साधन प्राकृतिक साधनों का विदोहन करते हैं और अर्थ-व्यवस्था को विकास की गति देते हैं परन्तु विकासशील देशों जिसमें भारत भी सम्मिलित है की मुख्य समस्या सभी काम चाहने वालों को काम देना है। हमारे देश में जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है उसके अनुपात में रोजगार

नहीं बढ़ पा रहे हैं अतः बेकारी अपने विभिन्न कार्यक्रम चला रही है जिससे बेकार हाथों को काम मिल सके ये योजनाएं अपना कितना प्रभाव डालने में समर्थ हैं इसका भी मूल्यांकन होना ही चाहिए। हम इस अध्ययन में रोजगार सृजन, रोजगार सृजन के विभिन्न कार्य और उनका मूल्यांकन तथा बजट 1999 में घोषित तथा अप्रैल 1999 से कार्य रूप में परिणित स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, जवाहर ग्राम समृद्धि योजना आदि का भी अध्ययन करेंगे।

14.1 प्रस्तावना

भारत एक विकासशील देश हैं जहां जनसंख्या का बाहुल है पिछले दशकों में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है परन्तु रोजगार में वृद्धि धीरे-धीरे हो रही है इसलिए बेकारी विकराल रूप धारण कर रही है। रोजगार की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है। मनुष्य के जीवन की कुछ मूलभूत आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए उसे आय चाहिए और आय तभी प्राप्त होगी जब रोजगार मिलेगा। आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक साधनों के विदोहन हेतु विकासशील देशों में लोगों को रोजगार मिलना ही चाहिए। समाज में भी तभी शान्ति रह सकती है जब सभी अपने-अपने रोजगार में लगे रहें, अन्यथा खाली दिमाग शैतान का घर वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। खाली पेट के लिए कोई नियम कानून नहीं होता कहा भी जाता है भूखे भजन न होई गोपाला' भूखा व्यक्ति अपने उदर की ज्वाला की शान्ति के लिए कोई भी सही गलत काम कर सकता है चोरी डकैती लूट मारधाड सभी कुछ सम्भव है इससे अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। राजनीतिक स्थिरता के लिए भी सभी लोगों को कामकाज मिलना आवश्यक है अन्यथा सत्ताओं तक में परिवर्तन सम्भव है। रोजगार का सृजन हमारे चाहने मात्र से नहीं हो सकता इसके लिए तो विकास की प्रक्रिया तेज करनी पड़ती है। विकास के मार्ग में अवरोधक तत्वों पर नियंत्रण करना होता है। प्रत्येक देश में भौगोलिक आर्थिक, मानवीय विशेषताएं अलग अलग प्रकार की है इस कारण विकासशील देश विकसित देशों का अंधानुकरण करके भी रोजगार सृजन नहीं कर पाते। प्रत्येक देश की अपनी विशेषताओं को देखते हुए अपने हिसाब से रोजगार कार्यक्रम के बारे में जानकारी लेने से पहले यह जान ले कि भारत में बेकारी का स्वरूप क्या है?

14.2 भारत में बेरोजगारी का स्वरूप

भारत का अल्प-विकसित किन्तु विकास समान देश है इस कारण, यहाँ बेरोजगारी का स्वरूप उन्नतदेशों से काफी भिन्नता लिए हुए है। लार्ड कीन्स के विश्लेषण के अनुसार औद्योगिक देशों में बेरोजगारी का मूल करण प्रभाव पूर्ण मांग का कम होना है, जिससे अस्थायी व चक्रीय प्रकृति की बेरोजगारी उत्पन्न होती है। लेकिन इसे विपरीत भारत जैसे अल्प-विकसित देशों में बेरोजगारी, पूंजी या अन्य अनुपूरक साधनों के अभाव का परिणाम मात्र है। अतः इस दृष्टि से बेरोजगारी के समाधान करने के लिए पूंजीगत वस्तुओं के स्टाक को बढ़ाना अनिवार्य हो जाता है, जिससे कि उत्पादन की नयी इकाईयां स्थापित होने पर अतिरिक्त श्रम-शक्ति को लाभदायक रोजगार दिलाया जा सकेगा।

जहां तक भारत में व्याप्त बेरोजगारी की संरचना का सवाल है इसका विश्लेषण निम्न दो क्षेत्रों में किया जा सकता है :

(अ) ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी

भारत में अधिकतर बेरोजगारी ग्रामीण क्षेत्र में ही पायी जाती है और इसके दो स्वरूप है- (1) मौसमी तथा (2) निरन्तर अल्प-रोजगार या अदृश्य बेरोजगारी। मौसमी

बेरोजगारी का मूल्य कारण खेती के तरीकों, भूमि की बनावट, उगाई जाने वाली फसलों आदि के स्वरूप में अन्तर का पाया जाना है। इसके विपरीत अदृश्य बेरोजगारी का मूल्य कारण कृषि पर आवश्यकता से अधिक श्रम-शक्ति का निर्भर रहना है।

(ब) नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी

नगरीय क्षेत्र की बेरोजगारी के भी दो स्वरूप हैं - (1) औद्योगिक श्रमिकों में बेरोजगारी और (2) शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी। औद्योगिक बेरोजगारी के मुख्य कारण ये हैं : तीव्र जन-वृद्धि के फलस्वरूप सक्रिय जनसंख्या में बढ़ोतरी होना, नगरीकरण के कारण ग्रामीण जनसंख्या का शहरों में प्रवास करना, औद्योगिक श्रम में होने वाली वृद्धि की तुलना में उद्योगों का विस्तार अपेक्षाकृत कम हो पाना। नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी का दूसरा स्वरूप, शिक्षित-मध्यम वर्ग में बेरोजगारी का पाया जाना है। माध्यमिक या उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त ये बुद्धि जीवी वर्ग अर्थात कम शारीरिक श्रम चाहने वाला रोजगार पसन्द करते है और इसमें समाज के नेतृत्व की पर्याप्त क्षमता होती है। "इस शिक्षित वर्ग में असन्तोष के कारण श्रम-जीवी वर्ग में क्रान्ति भड़काने का डर सदैव बना रहता है। इस छोटे से वर्ग द्वारा आवाज बुलन्द करना चाहे शासन का स्वरूप कैसा ही क्यों न हो, सरकार के लिए सर दर्द बन जाता है (सैडलर कमीशन)। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि शिक्षित बेरोजगारी को पनपने का कम से कम अवसर दिया जाए।

14.3 भारत में बेरोजबारी के अनुमान

भारत में बेरोजगारी सम्बन्धी विश्वसनीय आंकड़ों का पूर्णतया अभाव है क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई गहन सर्वेक्षण नहीं किया जा सका। फिर भी, अनुमान के रूप में सरकारी व अर्द्ध सरकारी स्तर पर कुछ आंकड़े उपलब्ध किये गये हैं। तालिका 14.1 से स्पष्ट है कि भारत की पंचवर्षीय योजनायें पूर्ण रोजगार का उद्देश्य प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ सही हैं, बल्कि प्रत्येक अगली योजना के दौरान बेरोजगार लोगों की संख्या में वृद्धि होती गयी है। 30 अगस्त 1992 को 854 रोजगार कार्यालयों में दर्ज व्यक्तियों की संख्या 371 लाख थी, जबकि 1961 में इनकी संख्या 18 लाख थी।

तालिका 14.1 : भारत में योजना-वार बेरोजगारी की स्थिति (लाख व्यक्ति)

मद	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	3-वार्षिक	चतुर्थ	पंचम
1. योजना के शुरू में श्रम-शक्ति	1852	1970	2150	2290	2430	2800
2. योजना के दौरान श्रम-शक्ति में वृद्धि	90	118	170	140	230	370
3. योजना के शुरू में अवशिष्ट बेरोजगारी	33	53	71	96	95	140
4. कुल बेरोजगारी (2+3)	123	171	241	236	325	510
5. अतिरिक्त स्थापित नौकरियां	70	100	145	14	185	230
6. योजना के अन्त में बेरोजगारी (4-5)	53	71	96	222	140	280
7. बेरोजगारी : कुल श्रम-शक्ति के रूप में	29	3.6	4.5	9.7	5.8	10.0

शिक्षित वर्ग में व्याप्त बेरोजगारी देश के लिए आज एक गम्भीर समस्या बन चुकी है। उदाहरण के तौर पर शिक्षित बेरोजगारों की संख्या जो 1961 में 5.9 लाख थी, बढ़कर 1981 में 90.18 लाख और 1987 में 167.4 लाख हो गयी अर्थात् इसमें 28 गुना वृद्धि हुई। तालिका-14.2 से यह भी स्पष्ट है कि शिक्षित बेरोजगारों में मैट्रिक पास लोगों का अनुपात 1961 में 76 प्रतिशत से घटकर 1987 में 58 प्रतिशत रह गया जबकि स्नातक व स्नातकोतरों का प्रतिशत 1961 में 9.5 प्रतिशत के विरूद्ध 1987 में बढ़कर 17 प्रतिशत हो गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में केवल नौकरी प्राप्त करने के लिए लोग ग्रेजुएट बनना चाहते हैं न कि शिक्षा प्राप्त करने के लिए।

तालिका 14.2

भारत में शिक्षित बेरोजगारी (हजारों में)

मद	1961	1971	1981	1987	वार्षिक वृद्धि दर % (1961-87)
(अ)शिक्षित (1+2+3)	590	2296	9018	16735	13.7
1. मैट्रिक	463	1297	5008	9744	12.4
2. स्नातक पूर्व (इन्टर)	71	605	2325	4176	17.0
3. स्नातक व स्नातकोत्तर	56	394	1685	2815	16.3
(ब) अकुशल शारीरिक श्रमिक	1243	2804	7566	13512	9.6
कुल अभ्यर्थियों की संख्या (अ+ब)	1833	5100	16584	30247	10.9
रोजगार कार्य (सं०)	325	437	592	755	3.2

इसके विपरित 1961-87 के दौरान गैर-शिक्षित बेरोजगारों की 9.6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि-दर, शिक्षित बेरोजगारों की 13.7 प्रतिशत वृद्धि दर की तुलना में कम थी। इसका यह अर्थ निकलता है कि भारत में शिक्षा रोजगार दिलाने में अधिक सहायक नहीं है।

काम का अधिकार

यह विचार राष्ट्रीय मार्चा सरकार की देन है जिसका उद्देश्य काम के अधिकार को "मौलिक अधिकार" का रूप देना था। भले ही राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का अब कोई अस्तित्व शेष नहीं है; तथापि यह एक न्यायपूर्ण सोच होने के नाते अभिनन्दनीय है। वास्तव में, रोजगार की गारन्टी ही एक मात्र ऐसा उपाय है जो गरीबी पर गहरी चोट कर सकता है। फिर, यह भी निर्विवाद सत्य है कि गरीबी, वास्तव में बेरोजगारी या रोजगार के निम्न-स्तर (अल्प रोजगार या अदृश्य बेरोजगारी) का ही परिणाम है। अतः यह बहुत जरूरी है कि अब हमारे आयोजन का झुकाव रोजगारोन्मुखी-आयोजन की तरफ होना चाहिए, न कि उत्पादन मुखी-आयोजन पर।

14.4 भारत में रोजगार की उपनीतियां

भारत में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण द्वारा प्रत्येक भाव वर्ष के बाद रोजगार तथा बेरोजगारी की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इसके आधार पर पिछले 15 वर्षों (1973-88) के लिए रोजगार वृद्धि के अनुमान तैयार किए गए हैं जिनके कुछ प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

पिछले 15 वर्षों के दौरान रोजगार की वृद्धि दर 2.21 प्रतिशत वार्षिक रही है। ग्रामीण-रोजगार 1.75 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा, जबकि शहरी-रोजगार अपेक्षाकृत ऊँची -दर 4 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा। फलस्वरूप 1973-88 के दौरान कुल रोजगार में, शहरी रोजगार का भाग 16 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा और फलस्वरूप कुल रोजगार में इनका अनुपात भी 2:1 स्थिर बना हुआ है।

तालिका 14.3

लिंग, निवास तथा शिक्षा के अनुसार रोजगार-वृद्धि

(प्रतिशत)

लिंग/निवास	1973-88	शिक्षा	1977-88
ग्रामीण	1.75	ग्रामीण	8.1
शहरी	4.00	शहरी	7.1
पुरूष	2.19	पुरूष	7.3
स्त्री	2.24	स्त्री	7.5
कुल	2.21	कुल	7.5

शिक्षा के अनुसार रोजगार-वृद्धि

यद्यपि सकल रूप में रोजगार की दर में गिरावट आई है परन्तु शिक्षितों में रोजगार की दर सापेक्षतः ऊँची रही है, विशेष रूप से शिक्षित स्त्रियों के मामले में। पिछले दशक में शिक्षित रोजगार-दर 7.5 प्रतिशत वार्षिक रहीं, जबकि पुरूषों में यह दर 7.3 प्रतिशत वार्षिक रहीं, जबकि पुरुषों में यह दर 7.3 प्रतिशत और स्त्रियों में 9.7 प्रतिशत वार्षिक देखने में आई, जैसा कि तालिका-143 से स्पष्ट है।

प्रमुख क्षेत्र के अनुसार रोजगार वृद्धि

रोजगार की क्षेत्रीय उपनितियों से पता चलता है कि कृषि क्षेत्र में, जो 1960 व 1970 के दशक में कुल रोजगार जनन के दो तिहाई भाग का दावेदार रहा है, जबरदस्त गिरावट आई है और यह 1977-88 के दौरान 0-92 प्रतिशत वार्षिक थी। निर्माण, विद्युत गैस आदि क्षेत्र में रोजगार की दर बढ़ी है जबकि अन्य क्षेत्रों में रोजगार दर या तो स्थिर रही है या घटी है कुल मिलाकर रोजगार-वृद्धि की दर में गिरावट आई है जैसा कि तालिका 14.4 से स्पष्ट है।

तालिका 14.4

प्रमुख क्षेत्रों के अनुसार रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर

क्षेत्र	1977-83	1983-88	1977-88
1. कृषि	0.91	0.94	0.92
2. खनन	6.32	5.68	6.03
3. विनिर्माण	3.76	2.18	3.05
4. निर्माण	7.93	13.03	10.19
5. विद्युत, गैस जल पूर्ति	6.01	3.15	4.71
6. व्यापार	3.52	3.83	3.66
7. परिवहन, भण्डारण, संचार	6.66	2.35	4.70
8. सेवाएं	4.49	2.06	3.39
कुल	2.10	1.77	1.95

जहां तक संगठित या असंगठित क्षेत्र का प्रश्न है दोनों ही क्षेत्रों में रोजगार में गिरावट आई है परन्तु इसकी तीव्रता संगठित क्षेत्र विशेष रूप से विनिर्माणी क्षेत्र (में अधिक अनुभव की गयी है। 1973-77 में संगठित क्षेत्र की रोजगार दर 2.48 प्रतिशत से घटकर 1983-87 में 1.36 प्रतिशत वार्षिक रह गयी। रोजगार मंच का एक दूसरा उल्लेखनीय लक्षण यह है कि संगठित क्षेत्र में जितना भी रोजगार मंच का एक दूसरा उल्लेखनीय लक्षण यह है कि संगठित क्षेत्र में जितना भी रोजगार बढ़ा है, उसका अधिकांश भाग सार्वजनिक क्षेत्र की देन है। जबकि कुल संगठित क्षेत्र की रोजगार-दर 1973-78 के दौरान 2 प्रतिशत वार्षिक थी, वहां ''सार्वजनिक क्षेत्र'' की दर 3 प्रतिशत और उसके विपरीत ''निजी क्षेत्र'' की 0.5 प्रतिशत वार्षिक थी। किन्तु 1990 के दशक से स्थिति के बदलाव आया है और निजी क्षेत्र का रोजगार में योगदान बढ़ा है। फिर, नई औद्योगिक नीति 1991 में सार्वजनिक क्षेत्र के पंख तराश दिए गए हैं। इसलिए आर्थिक उदारवाद के परिवेश में, रोजगार वृद्धि की सारी आशाएं अब निजी क्षेत्र पर ही केन्द्रित रहेगी।

तालिका 14.5

भारत में संगठित क्षेत्र में रोजगार-वृद्धि

वर्ष	सार्वजनिक क्षेत्र		निजी क्षेत्र		कुल रोजगार
	लाखों में	वार्षिक वृद्धि	लाखों में	वार्षिक वृद्धि	लाखों में
1961	70.5	3.2	50.4	1.0	120.9
1971	107.3	3.4	67.4	0.9	174.7
1981	154.8	2.7	74.0	2.3	228.8
1986	176.8	2.4	73.7	0.7	200.5
1989	184.4	0.7	74.5	0.8	258.9
1990	187.3	1.6	75.9	1.9	263.2
1991	189.7	1.3	78.5	3.4	268.2

14.5 रोजगार संरचना

पिछले 15 वर्षों के दौरान रोजगार की संरचना में काफी बदलाव आया है जो कि इस प्रकार है-

(1) क्षेत्रीय ढांचा - भारत में रोजगार-संरचना के क्षेत्रीय ढांचे में काफी परिवर्तन आया है। जबकि 1972-73 में कार्य-शक्ति का 74 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र में लगा हुआ था, यह 1987-88 में घटकर 66 प्रतिशत रह गया। इसके विपरीत द्वितीयक क्षेत्र एवं तृतीयक या सेवा क्षेत्र का अंशदान बढ़ा है।

(2) संगठित तथा असंगठित क्षेत्र - संगठित तथा असंगठित क्षेत्र का कुल रोजगार में योगदान लगभग स्थिर बना हुआ है और यह अनुपात क्रमशः 10 तथा 90 है।

(3) रोजगार का वर्ग या श्रेणी - पिछले 15 वर्षों के दौरान कुल रोजगार में स्वः रोजगार का अनुपात घटा है और यह 1972-73 में 61 प्रतिशत से घटकर 1987-88 में 56 प्रतिशत रह गया था। नियमित वेतन-भोगी रोजगार में भी मामूली गिरावट आई है परन्तु आकस्मिक मजदूरी रोजगार में काफी वृद्धि हुई है और 1972-73 में 23 प्रतिशत के विरूद्ध 1987-88 में यह बढ़कर 30 प्रतिशत हो गया।

तालिका 14.6

रोजगार-वर्ग के अनुसार श्रमिकों का प्रतिशत वितरण

वर्ग	1972-73	1977-78	1982-83	1987-88
1. स्वः रोजगार	61.4	59.3	57.3	56.5
2. नियमित वेतनभोगी	15.3	13.2	13.7	13.7
3. आकस्मिक मजदूर	23.3	27.5	28.9	29.9

योजना आयोग ने राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण के 43 वे दौर के आधार पर 1987-88 वर्ष के लिए बेरोजगारी की मात्रा और वृद्धि दर के अनुमान तैयार किए हैं। बेरोजगारी की मात्रा सामान्य मुख्य स्थिति के अनुसार 124.3 लाख, साप्ताहिक स्थिति के अनुसार 153 लाख और दैनिक स्थिति के अनुसार 189.5 लाख मानव वर्ष अनुमानित की गयी। इन तीनों स्थितियों के अनुसार बेरोजगारी की दर (श्रम शक्ति के प्रतिशत रूप में) क्रमशः 3.77 4.80 तथा 6.09 प्रतिशत थी।

तालिका 14.7

लिंग व निवास के अनुसार 1983 व 1987-88 में बेरोजगारी (%)

		ग्रामीण		शहरी		योग	
श्रमिक	वर्ष	पुरुष	स्त्री	योग	पुरुष	स्त्री	योग
यू.पी.एस.	1983	2.12	1.41	1.91	5.86	6.90	6.04	2.77
	1987-88	2.87	3.52	3.07	6.07	8.77	6.56	3.77
डब्लू.एस.	1983	3.72	4.26	3.88	6.69	7.47	6.81	4.51
	1987-88	4.16	4.27	4.19	6.71	8.93	7.12	4.80
डी.एस.	1983	7.52	8.98	7.94	9.23	10.99	9.52	8.25
	1987-88	4.58	6.91	5.25	8.79	12.00	9.26	6.09

14.6 भारत में बेरोजगारी सम्बन्धी मुख्य लक्षण

एन.एस.एस. के 43 वें दौर के आधार पर आठवीं योजना प्रलेख में भारत में व्याप्त बेरोजगारी सम्बन्धी कुछ मुख्य लक्षणों की ओर संकेत किया गया है, जोकि इस प्रकार है :

(1) ग्रामीण क्षेत्रों के मुकाबले, शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारी अधिक है।

(2) पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में बेरोजगारी की दर ऊँची है।

(3) पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में अल्प-रोजगार का अनुपात अधिक है।

(4) सन् 1983-88 के दौरान सामान्य स्थिति (यू०पी०एस०) बेरोजगारी बढ़ी है, जबकि साप्ताहिक स्थिति (डब्ल्यू.एस.) और दैनिक स्थिति (डी.एस.) बेरोजगारी दोनों में कमी आई है। यह तथ्य इस बात का संकेत है कि देश में बेरोजगारी के ढाँचे में बदलाव आया है अर्थात् अल्प-रोजगार धीरे-धीरे खुली बेरोजगारी का रूप लेता जा रहा है।

(5) स्त्रियों में खुली बेरोजगारी, ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में बढ़ी है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में इसका प्रभाव दुगना रहा है।

(6) शिक्षित वर्ग में बेरोज़गारी की गहनता अधिक है। जबकि कुल सामान्य स्थिति बेरोजगारी का अनुपात 3.77 प्रतिशत है, शिक्षित बेरोज़गारी का अनुपात 12 प्रतिशत है।

(7) उच्च-स्तर की शिक्षा के साथ-साथ बेरोजगारी की दर में भी वृद्धि हो रही है।

(8) एक आध राज्य को छोड़कर, अन्य राज्यों में साक्षरता व शिक्षा के स्तर और/या आर्थिक विकास और खुली बेरोजगारी के बीच घनात्मक सह-सम्बन्ध बनता जा रहा है।

14.7 रोजगार बढ़ाने सम्बन्धी सरकारी नीति :

बेरोजगारी पर भगवती कमेटी

भारत सरकार ने बेरोजगारी की समस्या का समुचित हल खोजने के लिए श्री. बी. भगवती की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया था। समिति ने अपनी रिपोर्ट 1973 में सरकार को प्रस्तुत कर दी। समिति ने ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त बेरोजगारी के निदान हेतु देहातों में विद्युतीकरण, सड़क ग्रामीण आवास निर्माण तथा छोटी सिंचाई योजनाओं को अभी अगले दो वर्षों के लिए चालू रखने का सुझाव दिया और इस सम्पूर्ण कार्यक्रम के लिए 740 करोड रु० के अतिरिक्त व्यय की जोरदार सिफारिश की। इन ग्रामीण योजनाओं से लगभग 40 लाख लोगों को रोजगार मिलने की आशा व्यक्त की गयी थी। इसके अलावा समिति ने कृषि सेवा केन्द्रों की योजना को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का सुझाव रखा ताकि प्रशिक्षित तकनीशियनों व इन्जीनियरों को इस क्षेत्र में स्व-रोजगार का खुला अवसर मिल सके।

शहरी अर्थात् औद्योगिक क्षेत्र की बेरोजगारी के सम्बन्ध में समिति ने अल्प कालीन व दीर्घकालीन दो समाधान प्रस्तुत किये। तुरन्त रूप में रोजगार-वृद्धि के लिए उद्योगों में स्थापित क्षमता के अल्प उपयोग को आवश्यक सम्भव स्तर पर लाना होगा और

कुछ विशिष्ट उद्योगों में लाईसेंस प्राप्त क्षमता की सीमा के ऊपर 100 प्रतिशत अतिरिक्त उत्पादन करने की इजाजत देनी होगी ताकि देश की अल्प-प्रयुक्त जन-शक्ति आयोजन करने का सुझाव दिया। समिति की राय में ''बेरोजगारी की समझ का स्थायी रूप से हल हो सके, इसके लिए नीचे से नियोजन और बुनियादी-स्तर पर शिक्षा के स्वरूप में तबदीली लाने की जरूरत है।

14.7.1 रोजगार सृजन की विभिन्न योजनाएं

प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में अतिरिक्त विनियोग द्वारा अतिरिक्त रोजगार कायम करने के मुख्य उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न किया गया। रोजगार के अवसरों की व्यवस्था करना केवल कल्याणकारी उपाय ही नहीं,यह एक निर्धन देश में विकास की विधि का अनिवार्य अंग है क्योंकि ऐसा देश अपने मानवीय साधनों का अल्प प्रयोग या कम प्रयोग सहन नहीं कर सकता। सदैव यह कल्पना की जाती रही है कि आर्थिक विकास के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होगी और इस कारण रोजगार बढ़ेगा। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ द्वारा संकलित आंकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि उत्पादन और रोजगार की वृद्धि में सह-सम्बन्ध का अभाव है। हाल ही में प्राप्त हुए प्रमाण से यह पता चलता है कि कम से कम विकसित देशों में आर्थिक विकास और रोजगार में महत्वपूर्ण सकारात्मक सह-सम्बन्ध विद्यमान नहीं है। विकसित देशों में विद्यमान इस परिस्थिति का मुख्य कारण तकनीकी परिवर्तन है। नयी तकनीकों के कारण उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु इससे रोजगार के प्रत्यक्ष विस्तार पर कोई प्रभाव नहीं हुआ बल्कि इसके विरूद्ध चूंकि कई प्रकार के उपलब्ध कौशल नयी तकनीक के लिए अनुचित है, इस कारण इससे बेरोजगारी की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं।

चूँकि तीव्र आर्थिक विकास का अनिवार्य रूप में अर्थ, कम से कम अल्पकाल में, अधिक रोजगार नहीं होता और चूँकि जन्म दर में कमी का प्रभार तो केवल दीर्घकाल में ही व्यक्त हो सकता है, बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए विशिष्ट प्रोग्राम बनाने की जरूरत है। नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए एक से उपाय लागू नहीं किए जा सकते हैं। जबकि प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था, ग्रामों का बिजलीकरण, सड़क-निर्माण, गृह-निर्माण, सिंचाई योजनाओं और ग्राम उद्योगों द्वारा ग्रामीण बेरोजगारी को कम करने में सहायता मिलती है, किन्तु नगरीय क्षेत्र में इस उद्देश्य के लिए भिन्न प्रकार के उपायों की आवश्यकता है। सूक्ष्म तकनीकी परिवर्तन के कारण चूंकि रोजगार के विस्तार पर दुष्प्रभाव पड़ता है, इसलिए नीति निर्धारकों को प्रतितुलन की दृष्टि से उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण और बड़े पैमाने के उद्योगों को छोटे पैमाने की पूरक इकाइयों के साथ सम्बन्द्ध करने के उपायों का प्रयोग करना होगा। उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण का उद्देश्य नौकरी ढूंढने वालों का ग्रामों से शहरों में उत्प्रवास अप्रोत्साहित करना है और बड़े एवं छोटे उद्योगों के समन्वय का उद्देश्य रोजगार के विस्तार को और अधिक बढ़ाना है। इसी प्रकार तृतीयक क्षेत्र में नौकरियां कायम करने के लिए नगरीय वर्गों द्वारा अधिकाधिक मात्रा में मांगी जाने वाली सेवाओं के लिए तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी।

14.7.2 रोजगार कार्यक्रम

(1) ग्राम-निर्माण कार्यक्रम

इसमें ऐसी परियोजनाएं शामिल की गई जिनमें एक ओर अधिक रोजगार सामर्थ्य उपलब्ध है और दूसरी ओर भूमि और श्रम की उत्पादिता की वृद्धि की प्रत्याशा है।

इन प्रोग्रामों में कृषि श्रमिकों को राहत देने का लक्ष्य रखा गया। इस प्रोग्राम में स्थायी रूप की नगर निर्माण परियोजनाओं को बल दिया गया ताकि वे इन क्षेत्रों में अभाव की स्थिति को दूर कर सकें।

(2) छोटे किसानों के विकास की एजेन्सियां

चौथी योजना का उद्देश्य छोटे किसानों को उधार उपलब्ध करना था ताकि वे अद्यतन तकनीक का प्रयोग कर सकें, सघन खेती को अपना सकें। इन एजेन्सियों द्वारा ऐसी संस्थाओं की भी सहायता की गई जो आदानों के वितरण विपणन, विधायन एवं संग्रहण का कार्य करती है।

(3) समन्वित खुश्क भूमि विकास

इसके अधीन, भूमि संरक्षण, भूमि विकास कार्यक्रम सम्मिलित किए गए। ये श्रम-प्रधान कार्यक्रम थे और एक करोड़ रुपए के व्यय के लिए लगभग 15,000 व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया।

(4) कृषि सेवा केन्द्र

इस योजना में बेरोज़गार ग्रेजुएटों और डिप्लोमाधारियों को सहायता प्रदान की जाती है। इस योजना के मुख्य उद्देश्य हैं: (1) तकनीकी श्रमिक को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराना (2) फार्म के ऊपर कृषि-मशीनरी और औजारों के लिए असुरक्षण और मरम्मत की सुविधाएं उपलब्ध कराना, (3) फालतू पुरजों, इंधन, तेल, स्नेहक तेल और अन्य इंजीनियरिंग सेवाओं के लिए आसानी से प्राप्त होने वाले केन्द्र खोलना, और (4) उर्वरकों कीटनाशकों आदि जैसे आदान उपलब्ध कराना।

(5) क्षेत्र विकास योजनाएं

इन योजनाओं में अधःसंरचना सुविधाएं जैसे सड़के, बाजार आदि कायम करने का प्रोग्राम रखा गया।

(6) ग्राम रोजगार के लिए वृहद कार्यक्रम

इस कार्यक्रम का उद्देश्य विभिन्न श्रम प्रधान एवं उत्पादक ग्राम प्रोजेक्टों द्वारा अतिरिक्त रोजगार कायम करना है। इस योजना के दो उद्देश्य थे - प्रथम प्रत्येक प्रोजेक्ट में औसतन 1000 व्यक्तियों के लिए प्रत्येक जिले में एक वर्ष में लगभग 10 मास का लगातार रोजगार उपलब्ध कराना चाहिए। द्वितीय, प्रत्येक प्रोजेक्ट द्वारा स्थानीय विकास योजनाओं के अनुकूल निर्माण कार्य या विरस्थायी ढंग की परिसम्पत्ति शामिल करनी चाहिए।

इस योजना में जो विभिन्न प्रकार के प्रोजेक्ट शामिल किए गये हैं, वे है छोटी सिंचाई, भू-संरक्षण एवं भू-उपकरण, बाढ़ से बचाव और जलरोध-विरोधी उपाय, मत्स्यपालन, पीने के पानी और सड़क-निर्माण की योजनाएं।

चौथी योजना के आधीन चालू की गई बहुत सी रोजगार-जनन योजनाएं ग्रामीण बेरोजगारी और अल्परोजगार को दूर करने में सफल नहीं हो सकी। क्योंकि ग्रामीण बेरोजगारों की सेना को उचित संभरण शिविरों में संगठित न किया गया ताकि उन्हें वाँछनीय न्यूनतम मजदूरी देकर मांग के स्थानों तक पहुंचाया जा सकता है। आडिटर-जनरल

ने अगस्त 1974 में लोक सभा को अपनी रिपोर्ट में यह दुःखद उल्लेख किया कि विभिन्न महान् और ग्राम-रोजगार कार्यक्रम जिस पर केन्द्र सरकार ने चौथी योजना के दौरान 170 करोड़ रुपये खर्च किए पूर्णतया विफल हो गए।

(7) महाराष्ट्र की रोजगार गारन्टी योजना

1972-73 में महाराष्ट्र सरकार ने रोजगार गारन्टी योजना चालू की। यह अपनी प्रकार की पहली योजना थी। जिसमें संविधान में दिए गए "काम के अधिकार" को स्वीकार किया गया। इसके अधीन यदि कोई व्यक्ति काम करने की मांग करता है, तो राज्य सरकार का यह दायित्व है कि उसे काम उपलब्ध कराए।

इस योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है :-

(क) किसी व्यक्ति को स्वीकृत ग्राम परियोजनाओं में जो अर्थव्यवस्था की उत्पादिकता बढ़ाने वाली हो, लाभकारी एवं उत्पादक रोजगार उपलब्ध कराना।

(ख) इन परियोजनाओं द्वारा क्षेत्र में चिरस्थायी सामुदायिक परिसम्पत्ति कायम करनी चाहिए।

(ग) श्रम-प्रधान उत्पादक परियोजनाओं अर्थात छोटी सिंचाई जल एवं भू-संरक्षण, नालों पर बाँध लगाना, नहरें खोदना, भूमि-विकास, नव-रोपण आदि को कार्यान्वित करना चाहिए।

(घ) इन योजनाओं को ठेकेदारों की अपेक्षा विभागों द्वारा लागू करना चाहिए ताकि इनका कम से कम 60 प्रतिशत व्यय मजदूरी पर और 40 प्रतिशत सामग्री, पूंजी उपकरणों पर्यवेक्षण एवं प्रशासनिक सेवाओं के लिए खर्च हो।

यह योजना ग्रामों के बालिग पुरुषों एवं स्त्रियों जिनकी आयु 18 वर्ष से अधिक हो, के लिए तैयार की गई। इसके अधीन आरम्भ में 3 रुपये प्रतिदिन की मजदूरी की गारन्टी दी गई। इस योजना का उद्देश्य ग्राम समाज के आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों विशेषकर भूमिहीन मजदूरों और सामान्य किसानों की सहायता करना है।

उपस्थिति के आधार पर रोजगार-जनन के बारे में निम्नलिखित मुख्य लक्षणों का पता चला :-

(1) फरवरी और जून के बीच रोजगार गारन्टी योजना में भाग लेने वाले श्रमिकों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है, जो किसी एक महीने में प्राप्त न्यूनतम स्तर से दो या तीन गुना होती है और

(2) खरीफ़ फसल और रबी बुआई के मौसम अर्थात नवम्बर में सबसे कम संख्या रिकार्ड की गई।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्राम समाज के कमजोर वर्गों की विशेष रूप में सहायता करना था। इन वर्गों द्वारा ही राजगार की गारण्टी योजना के आधीन रोजगार की मांग होनी थी।

(3) आरम्भ में बहुत कम स्त्रियों ने इसमें भाग लिया परन्तु जनवरी-मार्च 1979 में इस योजना के आधीन उपलब्ध कराए गए श्रमिकों में स्त्रियों का भाग 43 प्रतिशत हो गया।

1972-73 से 1982-83 के 10 वर्षों के दौरान योजना की प्रगति से पता चलता है कि जहाँ पर रोजगार गारण्टी योजना के आधीन विभिन्न कार्यक्रमों पर व्यय बढ़ता ही गया, वहाँ पर इन प्रोग्रामों के फलस्वरूप मानव दिनों के रूप में जनित-रोजगार पिछले चार वर्षों में लगातार घटता गया। पहले 7 वर्षों में योजना की प्रगति अच्छी थी क्योंकि 1972-73 में 1.89 लाख करोड़ रुपये से बढ़कर 1979-80 में 109.2 करोड़ रुपये हो गया। किन्तु 1980-81 के पश्चात व्यय में वृद्धि के बावजूद जनित रोजगार के मानव-दिनों में गिरावट की प्रवृत्ति व्यक्त हुई 1979-80 में एक मानव-दिन रोजगार के लिए 5.3 रुपये खर्च किए गए और यह आंकड़ा बढ़कर 1982-83 में 10.2 रुपये हो गया।

चूँकि एक अकुशल श्रमिक की औसत दैनिक मजदूरी बढाकर 6 रुपये प्रतिदिन कर दी गई है, इसलिए जनित रोजगार के मानव-दिनों में गिरावट की एक हद तक व्याख्या इस बात से होती है। व्याख्या का दूसरा कारण कीमतों की वृद्धि है। कुछ हद तक प्रति मानव दिन रोजगार पर व्यय में वृद्धि का कारण भ्रष्टाचार एवं अपव्यय है जो हमारी एशियाई संस्कृति का अंग बन गए हैं।

पिछले चार वर्षों (1979-80 से 1982-83) के दौरान श्रम की उपस्थिति में लगातार गिरावट आई, चाहे इस काल के दौरान राज्य प्राकृतिक विपत्तियों अर्थात सूखे और बाढ़ के प्रकोप से गस्त रहा। श्रम की उपस्थिति 1981-82 में गिरकर 62 लाख हो गई और 1982-83 में और गिरकर 57 लाख हो गई।

महाराष्ट्र रोजगार गारण्टी योजना में केवल ऐसे उत्पादक प्रोजैक्ट लिए जाते हैं जिनमें अकुशल मजदूरी का भाग 60 प्रतिशत से अधिक हो। इस योजना में हाल ही में किए गए संशोधनों द्वारा छोटे तथा सीमान्त किसानों की अपनी भूमि पर व्यक्तिगत परियोजनाएं चलाने की स्वीकृति दी गई है। ऐसी परिस्थिति में कुल व्यय का 50 प्रतिशत संबंधित किसान या लाभ प्राप्तकर्ता को वहन करना होगा। इसके अतिरिक्त बागवानी कार्यक्रम जोकि 10 लाख हैक्टेयर तक फैला होगा, आठवीं योजना (1992-97) के दौरान अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों/छोटे किसानों की भूमिकों पर सरकारी खर्च पर लागू किया जाएगा। अन्य भूमियों पर सामग्री पर खर्च को सरकार और लाभ प्राप्तकर्ता के बीच 75:25 के अनुपात में बांटा जाएगा।

इस योजना के लिए राज्यीय सरकारों द्वारा साधन जुटाए जाते हैं और इस उद्देश्य से वे (1) बहुत से कर/अधिभार लगाती है, जैसे व्यवसायकर व्यापार कर मोटर गाड़ी कर बिक्रीकर सिंचाई प्राप्त भूमि पर कर, भू-राजस्व और गैर-रिहायशी भूमि पर कर और (2) इन करों से एकत्रित राशि के समतुल्य योगदान राज्यीय सरकार द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। पिछले 5 वर्षों (1987-88 से 1991-92) के दौरान रोजगार गारण्टी योजना पर व्यय 1987-88 में 288 लाख रुपये और 1991-92 में 200 करोड़ रुपये के बीच रहा है और इससे जनित रोजगार 18.95 करोड मानव दिन और प्रत्याशित 7.5 करोड़ मानव दिन के बीच रहा। इस योजना का एक अत्यन्त संतोषजनक लक्षण यह है कि इसके आधीन दी जाने वाली मजदूरी अकुशल कृषि श्रम का ही दी जाने वाली न्यूनतम मजदूरी से कम नहीं है।

आठवीं योजना के अनुसार, "इस योजना के परिणाम स्वरूप ग्राम क्षेत्रों में बेरोजगारी के आपात में महत्वपूर्ण कमी हुई। ग्रामीण महाराष्ट्र में औसत दैनिक बेरोजगारी की दर

जो 1977-78 में 7.2 प्रतिशत थी कम होकर 1987-88 में 3.1 प्रतिशत हो गई है। इसके परिणाम स्वरूप ग्रामीण निर्धनता की मात्रा जो 1977-78 में 60.4 प्रतिशत थी कम होकर 1987-88 में 36.7 प्रतिशत हो गई है। इस योजना के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी में वृद्धि का दबाव बना रहता है। इस योजना से बहुत सी स्त्रियों को भी लाभ हुआ है क्योंकि रोजगार गारण्टी योजना में काम करने वाले श्रमिकों में 60 प्रतिशत स्त्रियां हैं।''

प्रोफेसर वी.एम. डांडेकर का मत है कि यह योजना सही दिशा में एक कदम था किन्तु रोजगार गारण्टी योजना एक योजना की नहीं बल्कि विकास की एक विधि है। यह अपनी प्रकार की पहली योजना है जिसमें ''काम के अधिकार'' को मान्यता दी गई है। अतः इस योजना का महाराष्ट्र के ग्रामीण लोगों के जीवन-स्तर और उनकी आय को उन्नत करने की दिशा में सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। योजना की अब बहुत सराहना होने लगी है और अन्य राज्यों में महाराष्ट्र द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चलने की बात की जा रही है ताकि भारत के प्रत्येक नागरिक को न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी दी जा सकें। किन्तु यह बात स्वीकार करनी ही होगी कि यह योजना केवल निर्वाह मजदूरी उपलब्ध कराती है। अच्छे जीवन-स्तर को प्राप्त करने के लिए ग्राम-औद्योगीकरण करना आवश्यक है।

(8) समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम, निर्धनता एवं रोजगार

ग्राम रोजगार उपलब्ध कराने का कार्य बहुत-सी एजेन्सियां करती रही हैं। इनमें शामिल है- रोजगार गारण्टी योजना रोजगार के लिए खाद्य कार्यक्रम, छोटे किसानों के विकास की एजेन्सी, सीमान्त किसान और कृषि मजदूर कार्यक्रम, सूखा प्रवृत्त क्षेत्र प्रोग्राम रेगिस्तान विकास कार्यक्रम, कमान क्षेत्र प्रोग्राम आदि। छठी योजना ने यह सुझाव दिया, ''इस प्रकार बहुत से प्रोग्राम जो काम-निर्धनों के लिए बहुविध एजेन्सियों द्वारा चलाए जाते हैं समाप्त करने चाहिए और उनका प्रतिस्थापन समग्र देश के लिए एक समन्वित प्रोग्राम द्वारा किया जाना चाहिए।'' इस प्रोग्राम को समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम कहा गया।

छठी योजना में दो महत्वपूर्ण प्रोग्रामों को प्रारम्भ किया गया- समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम द्वारा मूल रूप से गरीब परिवारों में स्वरोजगार को प्रोन्नत करने की विधि अपनाई गई ताकि उत्पादक परिसम्पदों के हस्तांतरण से वे इतनी आय कमा सकें कि निर्धनता-रेखा को पार कर लें। राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम का उद्देश्य मौसमी तथा अल्परोजगार के काल के दौरान भृति-रोजगार उपलब्ध कराना है। इसका उद्देश्य यह भी था कि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि भिन्न व्यवसायों में श्रम नियोजना क्षमता बढ़ाई जाए ताकि अधःसंरचनाओं-सामाजिक एवं आर्थिक के निर्माण द्वारा अर्थ व्यवस्था की उत्पादक-क्षमता को बढ़ाया जा सके। राष्ट्रीय ग्राम रोजगार को और बढ़ावा देने के लिए भूमिहीन श्रमिकों के लिए ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम 1983 में चालू किया गया। इन तीनों प्रोग्रामों का उद्देश्य ग्राम विकास प्रोन्नत करना और ग्राम रोजगार का विस्तार करना था।

14.8 समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम

बहुत से अर्थ-विशेषज्ञों ने अपने अध्ययनों में यह बात साफ कर दी है कि जहाँ

आर्थिक संवृद्धि द्वारा विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय को उन्नत किया जा सकता है, उसके साथ यह जरूरी नहीं कि निर्धनता कम हो जाए और बेरोजगारी तथा अल्प-रोजगार को समाप्त किया जा सके। इसके विरूद्ध तृतीय विश्व के देशों में विकास-प्रक्रिया ने (भारत इसमें कोई अपवाद नहीं) सापेक्षतः विकसित क्षेत्रों और आर्थिक दृष्टि से उन्नत लोगों को लाभ पहुंचाया है। दूसरे शब्दों में, आर्थिक विकास के लाभ पिछड़े क्षेत्रों एवं गरीब व्यक्तियों तक नहीं पहुंच पाए हैं।

इस परिस्थिति के उपचार के रूप में यह आवश्यक समझा गया कि निर्धनता पर सीधा प्रकार किया जाए। इसके लिए यह जरूरी था कि ग्राम निर्धनता को कम करने के लिए ऐसे प्रोग्राम चलाए जाए जो गरीबों को उत्पादक परिसम्पदों से या कौशल से सम्पन्न कर दें ताकि वे इनका प्रयोग लाभदायक ढंग से अधिक आय कमाने के लिए कर सकें और परिणामतः वे निर्धनता-रेखा को पार कर सकें। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए छठी योजना में ग्राम-विकास के समन्वित कार्यक्रम की कल्पना की गई। ''समन्वित'' यहां चार आयामों को शामिल करता है - क्षेत्रीय प्रोग्रामों का समन्वय, भौगोलिक समन्वय, सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं का समन्वय और इन सबसे ऊपर उन सभी नीतियों का समन्वय करना होगा जो विकास निर्धनता की समाप्ति और रोजगार जनन के बीच बेहतर तालमेल बिठाना चाहती है। और अधिक स्पष्ट रूप में इसमें उन लक्षित-समूहों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है जिनमें छोटे एवं सीमान्त किसान, कृषि मजदूर एवं ग्राम-कारीगर शामिल है और जिनके लिए ग्राम-क्षेत्रों में बहुत स्थिति-चयन विशिष्ट आयोजन की आवश्यकता है।'' इस प्रकार, समग्र विकास-रणनीति के आधीन ''समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम की कल्पना अनिवार्यताः एक पिघनता-विरोधी कार्यक्रम के रूप में की गई है।''

14.8.1 समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम - इसके लक्ष्य एवं उपलब्धियां

समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम देश के 5011 ब्लाकों में 2 अक्टूबर 1980 को चालू किया गया। 5 वर्षों (1980-85) की अवधि के दौरान प्रत्येक ब्लाक में 600 गरीब परिवारों की सहायता करने का निश्चय किया गया इस प्रकार 150 लाख परिवारों जिनमें 750 लाख व्यक्ति निर्धनता रेखा के नीचे थे, को लाभ पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया। प्रत्येक ब्लाक में 35 लाख रुपये की समरूप राशि इस कार्य के लिए व्यय करने का निर्णय किया गया जिसे 50:50 के आधार पर केन्द्र और राज्यों के बीच बाँटा जाना था।

यह कार्यक्रम उपादान की एक क्रमिक योजना पर आधारित है जिसके आधीन पूंजी-लागत को 25 प्रतिशत छोटे किसानों को 33.3 प्रतिशत सीमान्त किसानों, कृषि मजदूरों और ग्रामीण कारीगरों को और 50 प्रतिशत जनजातीय लाभ प्राप्तकर्ताओं को उपादान के रूप में प्रदान किया जाएगा। अन्त्योदय सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए प्रोग्राम का लक्ष्य सबसे पहले गरीब परिवारों तक लाभ पहुंचाया है और बाद में एक ऊर्ध्वक्रम में अन्य गरीब वर्गों तक लाभ पहुंचाना है।

सामुदायिक योजनाएँ 50 प्रतिशत उपादान के लिए हकदार होगी। कुल परिव्यय के लगभग 20 प्रतिशत का प्रयोग प्रशासनिक एवं अधःसंरचना सम्बन्धी व्यवस्था पर खर्च किया जाएगा और शेष 80 प्रतिशत लाभ प्राप्तकर्ताओं को परिसम्पद ग्रहण करने के लिए साहाय्य के रूप में दिया जायेगा।

छठी योजना (1980-81 से 1981-85) के दौरान 1661 करोड़ रुपए उपादान के रूप में उपलब्ध कराए गए और 3102 करोड रुपए सावधि ऋण के रूप में। इस प्रकार कुल मिलाकर 4762 करोड रुपये का विनियोग किया गया। इसके परिणामस्वरूप 1656 लाख लाभ प्राप्त कर्ताओं की जिनमें से 39 प्रतिशत अनुसूचित एवं जनजातियों में थे सहायता प्राप्त हुई। प्रोग्रामों का सराहनीय लक्षण यह है कि प्रति परिवार विनियोग जो 1980-81 में, 1642 रुपए था उन्नत होकर 1984-85 में 3339 रुपए हो गया।

सातवीं योजना में समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के अधीन 200 लाख परिवारों को सहायता प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए केन्द्र द्वारा 2643 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया। चाहे गरीबी रेखा के नीचे परिवार की परिभाषा में वे परिवार लिए जाते हैं जिनकी वार्षिक आय 6400 रुपये से कम हो, किन्तु इस कार्यक्रम में गरीबी की रेखा का मापदण्ड 4800 रुपए से कम आमदनी वाले परिवार हैं। यह बात भी निश्चय की गई कि सबसे पहले ऐसे परिवारों को सहायता दी जायेगी जिनकी आय 3500 रुपए से कम है।

समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम की सातवीं योजना के दौरान प्रगति की समीक्षा के पता चलता है कि इससे 182 लाख परिवारों को सहायता प्राप्त हुई और इस पर 3316 करोड़ रुपये का व्यय किया गया। अतिरिक्त वित्तीय संस्था द्वारा 5372 करोड़ रुपए का सावधि उधार उपलब्ध कराया गया। इस प्रकार कुल मिलाकर 182 लाख परिवारों के लिए 8688 करोड़ रुपये के कुल विनियोग की व्यवस्था की गई। इनमें से 45 प्रतिशत परिवार अनुसूचित एवं जनजातियों से थे। प्रति लाभप्राप्तकर्ता पर 4780 रुपए का विनियोग किया गया जिसमें से 38 प्रतिशत उपादान और 62 प्रतिशत सावधि ऋण था।

1990-91 और 1991-92 के दो वर्षों के दौरान इस कार्यक्रम पर 3920 करोड़ का विनियोग किया गया और 54 लाख परिवारों को लाभ पहुंचाया गया। प्रति परिवार विनियोग में तीव्र वृद्धि हुई और 1991-92 में यह बढ़कर 7568 रुपए हो गया।

कार्यक्रम की मुख्य कमजोरियां निम्नलिखित है :-

चाहे सरकार यह दावा करती है कि केवल 8 प्रतिशत परिवार ऐसे थे जो सहायता प्रदान करने की कसौठी पर खरे नहीं उतरते, परन्तु वास्तव में इनकी संख्या कहीं अधिक है। 72 प्रतिशत मामलों में, रिकार्ड के अन्तर्गत परिसम्पति का कीमत और लाभप्राप्तकर्ता के विचार से इसके मूल्य में कोई अन्तर नहीं था। 18 प्रतिशत मामलों में यह अन्तर 500 रुपए के समान था जिससे कुप्रथाओं और रिसावों का पता चलता है। लाभप्राप्तकर्ताओं की बहुसंख्या को काई प्रशिक्षण नहीं दिया गया। 22 प्रतिशत मामलों में कोई अतिरिक्त आप जनित नहीं हुई। लाभ प्राप्तकर्ताओं को पर्याप्त अधःसंरचना सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। आदान सुविधा केवल 40 प्रतिशत को विपणन सुविधा 14 प्रतिशत को तौर मरम्मत की सुविधा 5 प्रतिशत लाभ प्राप्तकर्ताओं को उपलब्ध थी।

14.8.2 राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम

रोजगार के लिए खाद्य कार्यक्रम को पुनर्गठित करके इसका नाम राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम रखा गया और इसे अक्टूबर 1980 से चालू किया गया। इसे भी केन्द्र द्वारा

चालू की गई योजना के रूप में जिसे 50 प्रतिशत सहायता प्राप्त थी, कार्यान्वित किया गया। 3000 से 4000 लाख मानव दिन का अतिरिक्त प्रतिवर्ष रोजगार कायम करने का संकल्प किया गया। ताकि बेरोजगारी एवं अल्परोजगार को दूर किया जा सके। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण अधःसंरचना को मजबूत करने के लिए सामुदायिक परिसम्पतियों का निर्माण करना है। इनमें शामिल है- पीने के पानी के कुंए, सामेदायिक सिंचाई कुंए, ग्राम-तालाब छोटी सिंचाई परियोजनाएं ग्रामीण सड़कें स्कूल, बालवाड़ी, भवन, पंचायत घर आदि।

इस प्रोग्राम के आधीन चलाई गई परियोजनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा की गई और इनकी निम्नलिखित कमजोरियां बताई गई।

(1) मध्यावधि समीक्षा में उल्लेख किया - "राष्ट्रीय ग्राम विकास कार्यक्रम द्वारा कार्यान्वित परियोजनाओंका प्रायः उन परिवारों की आवश्यकताओं के साथ तालमेल अथवा समन्वय नहीं किया जाता जिनकी पहचान सहायता के लिए समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के आधीन की गई। राष्ट्रीय ग्राम विकास कार्यक्रम सम्बन्धी राशि उसके कुल खर्च के 50 प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए। इस कार्यक्रम के आधीन ठेकेदारों को रखने की अनुमति नहीं है कुल निर्धारित राशि का 10 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए व्यय करना अनिवार्य है। इस प्रोग्राम के अन्तर्गत सामाजिक वानिकी इंदिरा आवास योजना और इस लाख कुओं की योजना के लिए राशि निर्धारित की जाती है।

तालिका 14.8

राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम की प्रगति

	व्यय (करोड़ रुपए)	जनित रोजगार (लाख मानव-दिन)	प्रति मानव-दिन लागत (रुपए)
छठी योजना (1980-85)	1834	17750	10.3
सातवीं योजना (1985-86)	532	3160	16.8
1986-87	718	3950	18.1
1987-88	788	3710	21.3
1988-89	902	3950	22.8
कुल	2940	14770	19.9

इस कार्यक्रम के आधीन छठी योजना के दौरान 17750 लाख मानव दिन रोजगार कायम किया जबकि इसका लक्ष्य 15000 लाख मानव-दिन रोजगार कायम करना था।

सातवीं योजना में इसे लिए 2487 करोड़ रुपए के कुल परिव्यय का प्रस्ताव रखा गया- 1251 करोड़ रुपए के केन्द्र द्वारा और 1236 करोड़ रुपए राज्यीय सरकारों द्वारा पहले उद्देश्य के अतिरिक्तए इसमें सामाजिक वानिकी के उद्देश्य का इस कार्यक्रम का अंग बनाया गया ताकि परिस्थितिकीय संतुलन कायम रखा जा सके। इस योजना में 14450 लाख मानव दिन कुल रोजगार जनति करने का लक्ष्य तय किया गया।

संशोधित मार्गदर्शी नियमों में 25 प्रतिशत परिव्यय सामाजिक वानिकी पर 10

प्रतिशत ऐसी परियोजनाओं पर जो अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को प्रत्यक्ष लाभ पहुंचाए। परिसम्पतियों के टिकाउपन को निश्चित करने के लिए यह तय किया गया कि मजदूरी एवं गैर-मजदूरी व्यय में 50 : 50 का अनुपात रखा जाएगा।

राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम की समीक्षा से पता चलता है कि सातवीं योजना के पहले चार वर्षों (1985-86 से 1988-89) के दौरान इस कार्यक्रम पर 2940 करोड़ रुपए खर्च किए गए परन्तु इसके विरूद्ध 14770 लाख मानव दिन रोजगार कायम किया जा सका। दूसरे शब्दों में चाहे इस प्रोग्राम में अपेक्षाकृत अधिक राशि झौकी गई, किन्तु इसकी तुलना में अपेक्षाकृत कम रोजगार कायम हुआ। इसके अतिरिक्त, गांधी श्रम संस्थान के अध्ययन से यह पता चलता है कि "इस कार्यक्र के आधीन उपलब्ध कराया गया प्रोग्राम बहुत ही थोड़े समय के लिए है और इस कारण यह ग्रामीण लोगों के जीवन-स्तर पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इस कार्यक्रम के आधीन बाजार-दर की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। लाभप्राप्तकर्ताओं का चयन भी उचित रूप में नहीं किया जाता और निर्धनों में सबसे अधिक निर्धन जिनके लिए यह कार्यक्रम बनाया गया, बिल्कुल छोड़ हीं दिए जाते हैं।"

इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम सही दिशा में एक कदम है। इसकी सहायता के लिए ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम भी हांल ही में चालू किया गया है। परन्तु जब तक रोजगार जनन को आयोजन का प्रधान लक्ष्य नहीं बनाया जाता है और अन्य उद्देश्य इस मुख्य उद्देश्य के इर्द गिर्द चुने नहीं जाते, तब तक बेरोजगारी एवं अल्परोजगार की समस्या का समाधान होना सम्भव नहीं।

14.8.3 समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम की आलोचनात्मक समीक्षा

कार्यक्रम के मूल्यांकन सम्बन्धी बहुत से अध्ययनों से पता चलता है कि प्रोग्राम का पारचावन प्रभाव गरीबी हटाओ के रूप में कहीं कम था जबकि सरकार अपने प्रतिवेदनों में साहाययों बैंक उधार और निर्धनता रेखा पार करने वालों के प्रभावशाली आंकड़े पेश कर रही थी।

सबसे पहले लाभप्राप्तकर्ताओं में निर्धनों का कुवर्गीकरण किया गया। अतः 165.6 लाख लाभप्राप्तकर्ताओं को निर्धन मान लेना उचित न होगा। समन्वित ग्राम-विकास कार्यक्रम के नाबार्ड सर्वेक्षण के आधार पर प्रोफेसर नील कण्ठ रथ यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं– "नाबार्ड सर्वेक्षण (1984) के अनुसार गलत ढंग से वर्गीकृत लाभ प्राप्तकर्ताओं का अनुमान असम में 42, प्रतिशत, हरियाणा में 17.76 प्रतिशत, पंजाब में 35 प्रतिशत, मध्यम प्रदेश में 13 प्रतिशत और महाराष्ट्र में 13 प्रतिशत था। इसके विरूद्ध, इस सर्वेक्षण के अनुसार कुवर्गीकरण का अनुपात तमिलनाडु और कर्नाटक के सर्वेक्षित जिलों में 11 प्रतिशत, आंध्रप्रदेश में 7 प्रतिशत और उड़ीसा, बिहार और उत्तर प्रदेश में 2 प्रतिशत से भी कम था। "कुल मिलाकर यह कहना अनुचित न होगा कि कम से कम 15 प्रतिशत ऐसे व्यक्ति जिनकी पहचान "गरीबों" के रूप में की गई और जिन्हें समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम से सहायता दी गई, वास्तव में गरीब वर्गों से नहीं थे।"

श्री ए.सी. कुट्टी कृष्णन अपने केरल के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुंचे हैं– "लाभ प्राप्तकर्ताओं की बहुसंख्या 80 प्रतिशत की सीमा तक (3000 रुपये से कम वार्षिक पारिवारिक आय पर आधारित) और 63.25 प्रतिशत (76 रुपए से कम प्रति व्यक्ति मासिक आय पर आधारित) इस प्रोग्राम से सहायता प्राप्त करने के हकदार नहीं

थे। किसी विशेष क्षेत्र में निर्धनता के आकार को वास्तविक रूप से समझे बिना लक्ष्य निश्चित कर दिए जाते हैं, जिसके नतीजे के तौर पर लाभ उदार रूप में समृद्ध वर्गों को पहुचते चले जाते हैं। इसी प्रकार प्रोफेसर इन्दिरा हीरावे, गांधी लेबर इन्सटीट्यूट अहमदाबाद, गुजरात में चार चुने हुए ग्रामों के अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं- ''प्रथम, गैर-निर्धन परिवारों का प्रोग्राम में भाग लेने वालों में प्रभुत्व है। इन ग्रामों में गैर-निर्धनों का भाग लेने वालों में अनुपात 55 से 75 प्रतिशत था। और दूसरे न भाग लेने वालों में मुख्यतः ऐसे व्यक्ति थे जो उपभाग - स्तर के निम्नतम तीन दशाओं से सम्बन्ध रखने वाले थे।'' इन्दिरा हीरावे ने यह भी अनुभव किया कि भौगोलिक दृष्टि से समन्वित ग्राम-विकास कार्यक्रम और लाभप्राप्तकर्ताओं की योजनाएं केवल विकसित गांवों तक ही पहुंच पाई है। अध्ययन से व्यक्त हुआ है कि ''चाहे विशेष कार्यक्रम 5 वर्षों से भी अधिक समय से चल रहे हैं, सिंचाई प्राप्त और कृषि की दृष्टि से समृद्ध ग्रामों में परिवारों के उपभोग स्तर में वर्षा पर आधारित ग्रामों की तलुना में अपेक्षाकृत अधिक असमानता थी जो यह जाहिर करती है कि विकास के साथ असमानताओं की जड़ें सम्भवतः इन ग्रामों अर्थव्यवस्थाओं में मजबूत बन गई है।''

दूसरे, समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के अ-परिचयवन प्रभाव के लिए दो कारणतत्व उत्तरदायी है (1) लाभप्राप्तकर्ता परिवारों को दिए जाने वाले ऋणों एवं उपादान में छिद्र हो सकते हैं, (2) ऋण का दुष्प्रयोग भी हो सकता है। समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के आधीन सबसे मुख्य परिसम्मद जिसके निर्माण के लिए ऋण (एवं साहाय्म) दिए जाते हैं पशुधन के रूप में यह जिसमें दुग्ध-पशु, बकरियाँ, भेड़ें, गाएं, बैल गाडिया, ऊंट गाडियां शामिल हैं नेवार्ड सर्वेक्षण ने यह व्यक्त किया कि 40 से 50 प्रतिशत विनियोग डेरी, बकरियों एवं भेड़ों पर किया गया। बैल, ऊँट (गाड़ियों सहित या इनके बिना) पर 20 प्रतिशत अतिरिक्त विनियोग किया गया छोटी सिंचाई पर 13 से 14 प्रतिशत विनियोग किया गया। दूसरे शब्दों में ऋण उपादान का लगभग दो तिहाई पशुधन के रूप में था।

समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम को लागू करने वाले करने वाले तीन अंगों अर्थात विकास प्रशासन, ऋण संस्थानों एवं पंचायती राज संस्थानों की कार्य पद्धति में कमजोरियों के कारण गैर-निर्धन इन ऋणों उपादान को हथियाने में सफल हो गए। इसके लिए वे या तो अपनी पहचान गरीबों के रूप में करवाते या गरीब व्यक्तियों को कुछ रुपयां देकर परिसम्पति प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल करते। इन क्षरणों का अनुपात इन्दिरा हीरावे के अनुसार कुल भागीदारों का 25 से 30 प्रतिशत था। नाबार्ड सर्वेक्षण से व्यक्त हुआ कि पशुपालन के लिए दिए गए ऋणों में 26 प्रतिशत क्षरण का उच्च अनुपात था जिसका लगभग आधा ऋणों के दुष्प्रयोग के कारण और दूसरा आधा भाग जानवरों के विक्रय के कारण था। गैर-निर्धनों द्वारा ऋणों को हथियाने के लिए बहुत से अवैध तरीकों का प्रयोग किया गया। इनमें मुख्य ये थे (1) परिवार के एक सदस्य को कागज पर किसान और बाकी सभी सदस्यों को भूमिहीन मजदूर के रूप में दिखना (2) छोटे और सीमान्त किसान के रूप में वर्गीकृत होने के लिए भूमि को परिवार के सभी सदस्यों में विभक्त करना, और (3) किसी वास्तविक निर्धन व्यक्ति के नाम में परिसम्पत् खरीद लेना और फिर गरीब व्यक्ति को कुल धनराशि देकर इन परिसम्पतों (पशु और/या गाडियों) को हथिया लेना। नेवार्ड के आधीन किए गए जयपुर अध्ययन ने यह रहस्योद्घाटन किया है कि ऋण प्राप्तकर्ताओं में से केवल 46 प्रतिशत के पास ही दो वर्षों के बाद परिसम्पत् बच पाए थे, अन्य व्यक्तियों ने या तो इन्हें बेच दिया था या पशु मर गया

था। कृषि श्रम परिवारों का बहुत ही छोटा अनुपात अर्थात 34 प्रतिशत ही ऐसा था जिसके पास पशु बच पाए थे। अध्ययन में इस असंतोषजनक स्थिति की व्याख्या करते हुए यह उल्लेख किया गया- ''वास्तविक समस्या सांझी चरागाहों की घटिया उपलब्धि, चारे अथवा भोजन के पर्याप्त संभरण विशेषकर भूमिहीन श्रमिकों के सन्दर्भ में, और खुश्क मौसम के दौरान पशुओं का पालन-पोषण की ऊँची लागत है।''

तीसरे, ''चाहे समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम में यह शर्त है कि लाभ कर्ताओं का चयन निर्धनता - रेखा के नीचे निर्धनतम वर्गों से होना चाहिए, वहाँ वस्तुस्थिति यह है कि कई एक राज्यों में लाभप्राप्तकर्ताओं की काफी बड़ी संख्या का चयन छोटे तथा सीमान्त किसानों में से किया गया। ऐसे लाभप्राप्तकर्ताओं का अनुपात भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न है और कुछ परिस्थितियों में 30 प्रतिशत तक ऊँचा है। इसका मुख्य कारण उधार की दृष्टि से छोटे तथा सीमान्त किसान की बेहतर क्षमता है और इसी कारण ब्लाक अधिकारी एवं उधार एजेन्सियां इन्हें सहायता देने में प्राथमिकता दिखलाती है। ''दूसरे शब्दों में, इस कार्यक्रम के लाभ निर्धन वर्गों की ऊँची सतहों द्वारा हथिया लिए जाते हैं। इस विकृति को सुधारना होगा यदि अन्त्योदय की भूल भावना-गरीबों में सबसे गरीब तक पहुंचना के कार्यान्वयन की प्रक्रिया को सबसे अधिक महत्व प्रदान करना है।

चौथे, उत्पादक परिसम्पदों के निर्माण के लिएं व्यक्तियों को दिए जाने वाले साहाय्यों के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि इसमें दलाली की पद्धति और बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार उत्पन्न हो गया है। ग्राम समाज के प्रभावशाली सदस्य नौकरशाही एवं सहकारी विभाग के अफसरों एवं उधार संस्थाओं के साथ मिलकर गरीब देहातियों को उपादान एवं उधार की स्वीकृति प्रदान करने के लिए दलाली वसूल करते है। बहुत सी परिस्थितियों में एक ही पशु को विभिन्न लाभप्राप्तकर्ताओं में घुमाने की कहानी सुनाने में अमती है और इनमें ''शुद्ध लाभ'' साहाय्य ही है। ग्राम समाज के ढांचे में चहां गरीब ऋणों एवं उपादान की स्वीकृति के लिए गैर-निर्धनों पर बहुत हद तक निर्भर हो गए हैं, गैर निर्धन इन विकास कार्यक्रमों के लाभों को हथियाने में कामयाब हो गए हैं। इसके परिणामस्वरूप गरीबों में अपरच्यवन और निर्धनों की गैर-सहभागिता के कारण समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम का उद्देश्य ही पराजित हो जाता है।

अन्तिम, इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समन्वित ग्रामविकास कार्यक्रम के आधीन परिसम्पदों के हस्तांतरण के नतीजे के तौर पर कितने निर्धन लाभप्राप्तकर्ताओं को निर्धनता रेखा के ऊपर खींचा गया? प्रोफेसर नीलकण्ठ रथ नेबार्ड सर्वेक्षण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं ''लाभप्राप्तकर्ताओं की मात्रा जिनकी आय 3500 रुपये की निर्धनता रेखा से अधिक बढ़ गई कुल वांछनीय लाभप्राप्तकर्ताओं का 47 प्रतिशत थी (यदि 15 प्रतिशत गैर-निर्धन लाभ प्राप्तकर्ताओ को छोड़ दिया जाए) या सभी लाभ प्राप्तकर्ताओं का 40 प्रतिशत। भिन्न-भिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में काफी भिन्नता पाई गई है। परन्तु ये चालू कीमतों पर है, यदि 1979-80 रु और सर्वेक्षण अवधि के दौरान कीमतों में परिवर्तन का समायोजना किया जाए तो यह पता चलता है कि वांछनीय लाभप्राप्तकर्ताओं का केवल 22 प्रतिशत या कुल लाभप्राप्तकर्ताओं का 18.7 प्रतिशत निर्धनता रेखा को पार कर पाया।''

प्रोफेसर रथ निर्धनता रेखा को पार करने वाले सभी लाभप्राप्तकर्ताओं के 18.7 प्रतिशत के आंकड़े को भी अत्यनुमान मानते हैं। उनके अनुसार इसका कारण यह है

कि विनियोग पश्चात् आय का परिकलन करते समय वार्षिक भुगतान की किस्तें लागत के रूप में घटायी नहीं गई। अतः रथ लिखते हैं- ''यदि इस उचित व्यय को परिचलन मे शामिल कर लिया जाए, तो लाभ प्राप्तकर्ताओं का वह प्रतिशत जो निर्धनता रेखा को पार कर गया है, बहुत बड़ी मात्रा में कम हो जाएगा।'' यदि इसका समायोजन कर लिया जाए तो निर्धनता रेखा को पार करने वाले लाभप्राप्तकर्ताओं का अनुपात गिरकर 10 प्रतिशत से भी कम रह जाएगा। इस प्रकार यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के 2 वर्षों के कार्यान्वयन के पश्चात ग्रामीण भारत के लगभग 3 प्रतिशत निर्धन परिवार निर्धनता रेखा के ऊपर रहने में समर्थ हो पाए, चाहे थोड़ी देर के लिए ही।''

समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के संचालन के विश्लेषण से प्रोफेसर नील कण्ठ रथ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं - ''समन्वितग्राम विकास कार्यक्रम के अनुभाव की इस लम्बी समीक्षा के एक बात बिल्कुल साफ हो जाती है - ग्राम समाज में अनेक निर्धनों की सहायता के लिए परिसम्पद् प्रदान करने की नीति द्वारा गरीबी हटाने की नीति बहुत हद तक मिथ्या धारणा है। इस ढंग से बहुत ही थोड़े अनुपात की सहायता की जा सकती है। इस नीति पर अधिक बल देने से प्रहार की धार के कुन्द हो जाने का भय है, इससे अपव्यय, भ्रष्टाचार पैदा होगा और अन्तोगत्वा निराशा ही मिलेगी। ग्रामीण निर्धनता पर एक बहु-दिशा के प्रहार में इस नीति का उचित स्थान अवश्यक है किन्तु यह इस प्रोग्राम का मुख्य आधार नहीं बन सकता।'' प्रोफेसर रथ का मत है कि गरीब के लिए परिसम्पद् जरूरी नहीं, बल्कि आय आवश्यक है। इस विचार के अनुसार गाय, भेड़ों या बकरियों का झुण्ड या बैलगाड़ी या कुआं या पम्पसैट आयजनन के साधन है परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि परिसम्पद्-निर्माण नीति अपने आय जनन उद्देश्य में विफल हो गयी है और इसी कारण प्रोफेसर रथ महाराष्ट्र रोजगार गारण्टी योजना या राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम के दिखाए मार्ग पर बड़े पैमाने पर भृति रोजगार कार्यक्रम को बढ़ावा देने का समर्थन करते हैं। अतः प्रोफेसर रथ के अनुसार केवल भृति रोजगार की नीति ही कार्यक्रम का मुख्य आधार होनी चाहिए।

प्रोफेसर इन्दिरा हीरावे प्रोफेसर रथ के दृष्टिकोण को सन्तुलित नहीं मानते। यह भृति-रोजगार के कार्यभाग पर अत्यधिक बल देता है और ग्राम समाज में स्वरोजगार के कार्य भाग की उपेक्षा करता है। प्रोफेसर हीरावे निर्धनों का दो वर्गों में भेद करते हैं- (1) वे जिने पास कम से कम कुछ परिसम्पद्, कुछ कौशल, शिक्षा या उद्यम है जिससे वे स्वरोजगार कायम कर सकते हैं, (2) वे जिनके पास न तो कोई परिसम्पद है, न ही कौशल, शिक्षा या उद्यम जिससे वे स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य कर सकें। पहली प्रकार के गरीबों के लिए समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम के आधीन स्वरोजगार प्रणाली के द्वारा सहायता प्रदान करनी चाहिए और दूसरी प्रकार के गरीबों के लिए राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम या रोजगार गारण्टी योजना प्रणाली के आधीन लाभ पहुंचाना चाहिए। अतः यह तक दिया जाता है कि स्वरोजगार या मजदूरी - रूपे रोजगार गरीबों को उनके औचित्य एवं स्वीकार्यता के आधार पर उपलब्ध कराना चाहिए। प्रोफेसर इन्दिरा हीरावे का विचार सही है। क्योंकि भारतीय ग्राम समाज में ग्रामीण श्रम शक्ति का लगभग 63 प्रतिशत स्वरोजगार प्राप्त है। इतनी बड़ी ग्रामीण कार्यकारी जनसंख्या को मजदूरी रूपी रोजगार का विस्तार करना चाहिए ताकि भारतीय ग्राम अर्थव्यवस्था की श्रम को समाने की शक्ति उन्नत हो सके। स्वरोजगार भृति रोजगार के कार्यक्रम एक दूसरे के पूरक समझने चाहिए जिनसे अर्थ व्यवस्था की श्रम प्रयोग क्षमता बढ़ती है। सामाजिक

तथा आर्थिक अधःसंरचना के निर्माण के द्वारा मजदूरी रूपी रोजगार बढ़ाकर वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग उसी प्रकार बढ़ती है जैसे समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम द्वारा स्वरोजगार बढ़ाकर।

इसलिए प्रोफेसर रथ राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम के आधीन अधिक मजदूरी रूपी रोजगार कायम करने के लिए अधिक बजट साधनों के आबंटन की सिफारिश करते हैं। परन्तु महाराष्ट्र से प्राप्त होने वाले प्रमाण के आधार पर के.डी. डांडेकर (1983) यह संकेत देता है कि ग्रामीण महाराष्ट्र के कमजोर वर्गों या गरीब परिवारों में कुल कार्यकारी आयु वाले कम से कम 10 प्रतिशत व्यक्तियों को पूर्णकालीन भृति रोजगार के समान काम उपलब्ध कराया गया। इसे लिए राज्यीय प्रशासन के पास तैयार परियोजनाओं की एक श्रृंखला होनी चाहिए ताकि जो करीब प्रशासन के पास अपना नाम पंजीकृत करवाते हैं, उन्हें रोजगार उपलब्ध कराया जा सके। समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम को इस काम को पूरा करने के लिए रोजगार गारण्टी योजना से सीख लेनी होगी।

विकास प्रशासन के अधिकारी-तन्त्र, उधार संसाधनों और पंचायती राज संस्थानों के नेताओं में गठबन्धन समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम जैसे विशेष कार्यक्रमों की गैर-सहभागिता और अपारच्यवन के लिए जिम्मेदार हैं। उच्च स्तर पर उधार में जो रियायतें स्वीकार की गई, वे गरीबों के पक्ष में व्यष्टि स्तर पर लागू नहीं की गई। प्रोफेसर इन्दिरा हीरावे के अनुसार, "ग्राम पंचायतें केवल एक ही वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं और वह है ग्रामीण समृद्ध वर्ग। अन्य सदस्य इस वर्ग द्वारा नामजद किए जाते हैं और इनका जनता से चुनाव नहीं होता।" विकास प्रशासन भी स्थानीय राजनीतिक नेताओं की लीक पर ही चलता है और इस प्रकार ग्राम समाज का ढ़ाचा ग्रामीण निर्धनो के लिए निर्धनता विरोधी एवं भृति रोजगार कार्यक्रमों के बल को बहुत हद तक कमजोर कर देता है। राज्यीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम के बारे में किए गए कई अध्ययनों में भ्रष्टाचार के संकेत मिले। जिनमें सामग्री का दुरूपयोग, घटिया सामान का प्रयोग, झूठे हाजिरी के रजिस्टर तैयार करना और निर्धारित मजदूरी से कम भाग करना, शामिल है।

अतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम के गरीबों की भागिता को उन्नत करने के लिए क्या किया जाना चाहिए ताकि इन प्रोग्रामों के पारच्यवन प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण बन जाए। प्रोफेसर हीरावे का सुझाव है- "ग्राम पंचायतों और तालुका पंचायतों को गरीबों के लिए तैयार किए गए प्रोग्रामों के कार्यान्वयन में कोई कार्य भाग नहीं देना चाहिए। इससे न केवल इनका हस्तेक्षेप कम हो जायेगा। बल्कि विकास प्रशासन एवं बैंकिंग स्टाफ को भी अधिक स्वतन्त्र रूप में कार्य करने का अवसर मिलेगा।" यह एक नकारात्मक सुझाव है और इसे लागू करना बहुत कठिन होगा। एक और अधिक सकारात्मक सुझाव ग्रामीण निर्धनों का संघीकरण है और इन्हें इन प्रोग्रामों के कार्यान्वयन में प्रभावी प्रतिनिधित्व प्रदान करता है।

14.8.4 जवाहर रोजगार योजना

प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने 30 अप्रैल, 1989 को जवाहर रोजगार योजना चालू करने की घोषणा की। उस समय चल रही सभी भृति रोजगार योजनाओं का विलयन जवाहर रोजगार योजना में कर दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय ग्राम रोज़गार

कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम को मिलाकर एक बड़े छत्र के आधीन कर दिया गया है जिसे जवाहर रोजगार योजना का नाम दिया गया है।

योजना के मुख्य लक्षण

(1) राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम के सात वर्षों तक लगातार चलाए जाने के कारण ग्राम रोजगार प्रोग्राम देश भर में 55 प्रतिशत पंचायतों तक ही पहुंच पाए हैं। जवाहर रोजगार योजना का लक्ष्य प्रत्येक पंचायत तक पहुंचना है।

(2) जबकि पहले इस योजना का प्रशासन ग्राम पंचायतों के आधीन होगा और इस प्रकार भारत में रहने वाले 440 लाख परिवार जो निर्धनता रेखा से नीचे हैं, ग्राम रोजगार कार्यक्रम से लाभ उठा सकेंगे।

(3) जबकि पहले चल रहे ग्राम रोजगार कार्यक्रमों में केन्द्र एव राजकीय सरकारों द्वारा दी गई सहायता का आधार 50:50 था, वहां जवाहर रोजगार योजना में यह तय किया गया कि केन्द्रीय सहायता द्वारा 80 प्रतिशत वित्त जुटाया जायेगा और राजकीय सरकारों का भाग केवल 20 प्रतिशत होगा।

(4) राज्यों में वित्त के आवंटन का आधार निर्धनता रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या का अनुपात होगा।

(5) इसके बाद जिला स्तर पर साधन के आवंटन के लिए पिछड़ेपन की कसौटियों को आधार बनाया जाएगा। इनमें हैं- जिले की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों का भाग, कुल श्रम में कृषि मजदूरों का अनुपात और कृषि उत्पादिता का स्तर। किन्तु भौगोलिक दृष्टि से विशेष पहचान वाले क्षेत्रों अर्थात् पहाड़ियों, मरूस्थलों एवं द्वीपों की आवश्यकताओं की पूर्ति का विशेष ध्यान रखा जाएगा।

(6) जवाहर रोजगार योजना ग्राम पंचायतों को अपनी रोजगार योजनाएं चलाने के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन उपलब्ध कराएगी। औसत रूप में, ग्राम पंचायत जिसकी जनसंख्या 3000 से 4000 के बीच है, प्रतिवर्ष 80000 रुपये से 1 लाख रुपए तक राशि प्राप्त करेगी ताकि यह योजना को कार्यान्वित कर सके। इसके तहत गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों के कम से कम एक सदस्य को 50 से 100 दिन के रोजगार की गारण्टी होगी।

(7) योजना का मुख्य लक्षण यह है कि जनित रोजगार का 30 प्रतिशत स्त्रियों के लिए आरक्षित किया जायेगा। इसके इतिरिक्त सरकार खाना बदोष कबीलों के लिए राजगार की व्यवस्था भी करेगी।

(8) कुल संस्थानों का 60 प्रतिशत इन्दिरा आवास योजना के लिए राष्ट्रीय स्तर पर रखा गया है।

(9) कुल संस्थानों का 20 प्रतिशत दस लाख कुओं की योजना के लिए आबंटित किया गया है।

(10) श्रमिकों को साहायियत दरों जो कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वर्तमान है, 2 किलोग्राम खाद्यान्न प्रतिदिन दिए जाते हैं।

(11) संसाधनों का कम से कम 60 प्रतिशत मजदूरी के अंश के रूप में खर्च किया जायेगा।

(12) ठेकेदारों एवं बिचौलियों को इसके आधीन किसी भी परियोजना को कार्यान्वित करने की इजाजत नहीं होगी।

(13) अनुसूचित जातियों, जनजातियों और मुक्त बन्धुआ मजदूरों की निजी भूमि को दस लाख कुओं की योजना के अन्तर्गत विकसित करने की अनुमति होगी। जवाहर रोजगार योजना के आधीन मुख्यतः निम्नलिखित कार्य कल्पित किए गए हैं-

(क) सदस्यों के लिए मकानों का निर्माण करना और इसके साथ-साथ अधःसंरचना सुविधाओं का विकास करना।

(ख) आवंटित भूमि का विकास

(ग) सामाजिक वानिकी सम्बन्धी परियोजनाएं जैसे ईंधन के लिए लकड़ी, चरागाहों का सदस्यों की भूमि पर विकास।

(घ) छोटे सिंचाई के कुएं और सामुहिक कुंए, और

(ड) पीने के पानी के कुएं।

14.8.5 जवाहर रोजगार योजना की प्रगति की सीमाक्षा

तीन वर्षों की अवधि (1980-91 से 1991-92) के दौरान जवाहर रोजगार योजना पर 7697 करोड रुपये का कुल परिव्यय किया गया जिससे 25.5 करोड मानव दिन रोजगार कायम किया गया। प्रति मानव दिन रोजगार जनन की लागत 302 रुपये बैठती है परन्तु रोजगार जनन के लक्ष्य पूर्णतया प्राप्त कर लिए गए हैं।

तालिका : 14.9

जवाहर रोजगार योजना के वित्तीय एवं भौतिक लक्ष्य

	व्यय	रोजगार जनन (लाख मानव दिन)		मानव दिन
	करोड सं०	लक्ष्य	प्राप्ति	लागत (रु० में)
1989-90	2458	876	864	284
1990-91	2600	929	875	297
1991-92	2639	735	808	327
कुल	7697	2540	2547	302

दस लाख कुओं की योजना की आधीन, गरीबों, सीमान्त किसानों, अनुसूचित एवं जनजातियों और मुक्त बन्धुआ मजदूरों के लिए खुली सिंचाई के कुएं जवाहर रोजगार योजना के अन्तर्गत उपलब्ध कराए जायेंगे? किन्तु जहां पर भौगोलिक कारणों के परिणामस्वरूप कुएं लगाने की संभावना नहीं, वहीं इस योजना का प्रयोग छोटी सिंचाई अर्थात सिंचाई के लिए तालाब आदि बनाने में किया जा सकता है। 1988-89 से 1991-92 की चार वर्षों की अवधि के दौरान 3.67 लाख कुएं कायम किए गए और इस कार्य के

लिए 1016 करोड़ रुपए का व्यय किया गया। एक कुएं पर औसत खर्च 27682 रुपए हुआ।

इंदिरा आवास योजना के आधीन गरीब वर्गों के लिए 20 वर्ग मीटर क्षेत्र में मकान तैयार किए गए। प्रत्येक मकान में एक रसोई, बिना धुएं के चूल्हा और शौचालय की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक मकान पर 12700 रुपए के व्यय का प्रावधान है। 1985-86 से 1990-91 के छः वर्षों के दौरान, इन्दिरा आवास योजना के आधीन 1051 करोड़ रुपए खर्च किए और इसके परिणाम स्वरूप 10.74 लाख मकानों का निर्माण किया गया। प्रति मकान औसत लगात 10720 रुपए बैठती है।

योजना आयोग के प्रोग्राम मूल्यांकन संगठन ने 1991-92 में जवाहर रोजगार योजना का शीघ्र अध्ययन कर निम्नलिखित बातों का संकेत किया है—

(1) जबकि अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों का रोजगार जनन में भाग 50 प्रतिशत से अधिक था, स्त्रियों का इसमें भाग जिला-स्तर पर 22-25 प्रतिशत और ग्राम पंचायत स्तर पर 15-18 प्रतिशत था।

(2) योजना में प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्याशित स्तर तक रोजगार उपलब्ध न कराया जा सका क्योंकि 1988-89 में औसत रूप में एक व्यक्ति को 11.4 दिन का राजगार 1990-91 के दौरान 15.7 दिन का राजगार और 1991-92 में 128 दिन का रोजगार उपलब्ध कराया जा सका। यह वर्ष में 50-100 दिन के रोजगार के मौलिक लक्ष्य से कहीं कम है।

(3) परिसम्पतों के रख-रखाव के लिए पर्याप्त धन नहीं दिया गया।

(4) कुछ ग्राम पंचायतों ने कुछ परियोज़नाओं के कार्यान्वियन के लिए ठेकेदारों का प्रयोग भी किया।

(5) 89 प्रतिशत लाभ प्राप्तकर्ताओं के अनुसार निर्मित परिसम्पत् लाभदायक आंकी गई।

इन्दिरा आवास योजना की समीक्षा से पता चलता है कि (क) प्रति की औसत लागत लगभग 9000 रुपए थी। (ख) लगभग सभी ग्रामों में निर्धनता रेखा के नीचे रहने वाली अनुसूचित/जनजातियों के परिवारों की कसौटी का प्रयोग किया गया (ग) 50 प्रतिशत मकानों में निर्माण की गुणवत्ता अच्छी थी। (व) 84 प्रतिशत परिवारों ने उनको दिए गए मकानों के बारे में पूर्णतया या आंशिक रूप में संतोष व्यक्त किया। (ङ) चाहे कुछ ग्रामों में इस कार्य के लिए ठेकेदारों का प्रयोग किया गया किन्तु स्वैच्छिक संस्थाओं का किसी प्रकार भी सहयोग प्राप्त न हुआ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जवाहर रोजगार योजना के लक्ष्य सराहनीय है - ग्रामीण समाज में गरीबों तथा कमजोर वर्गों की सहायता करना। किन्तु जमीनी स्तर पर संगठनात्मक ढांचे का निर्माण करने की आवश्य करता है ताकि लक्षित लाभप्राप्तकर्ताओं को आवश्यक सहायता उपलब्ध कराई जा सके।

14.9 रोजगार प्रेरित विकास रणनीति

आयोजन के लक्ष्यों में बल दिया गया कि कुल देशीय उत्पाद में 5-6 प्रतिशत

की निरन्तर वृद्धि प्राप्त करनी चाहिए, निकट भविष्य में जीवन स्तर में लगातार एवं महत्वपूर्ण उन्नति होनी चाहिए, देश में आय तथा सम्पति का अधिक न्यायपूर्ण वितरण प्राप्त करना चाहिए, क्षेत्रीय विकास का संतुलित ढांचा विकसित करना चाहिए देश के अन्दर औद्योगिक आधार कायम करने के उद्देश्य से मूल, भारी तथा प्रतिरक्षा उद्योगों का विस्तार करना चाहिए और इसके साथ-साथ निर्यात प्रोत्साहन एवं आयात प्रतिस्थापना को बढ़ावा देकर विदेशी सहायता पर निर्भरता कम करनी चाहिए। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि विकास की एक न्यापूर्ण एवं युक्ति संगत प्रक्रिया में इन उद्देश्यों में संतुलन स्थापित करना आवश्यक है अधिकाधिक विशेषज्ञों की राय अब इस विचार के इर्द गिर्द केन्द्रित होती जा रही है कि भारत जैसे अल्पविकसित देश के लिए बेरोजगारी एवं अल्प रोजगार प्रेरित रणनीति का निर्णय इसका सर्वोत्तम उत्तर है। ऐसी परिस्थिति में रोजगार प्रेरित रणनीति की रूपरेखा तैयार करना अत्यन्त लाभदायक है।

किन्तु इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि "सिद्धान्ततः या भारतीय अनुभव में अल्पकाल के दौरान उत्पादन की वृद्धि दर और रोजगार की वृद्धि दर के बीच कोई साधारण या अद्वितीय सम्बन्ध नहीं है, चाहे हमेशा ही यह मान्यता की गई कि आर्थिक विकास के परिणाम स्वरूप उत्पादन में वृद्धि होगी और उसके फलस्वरूप रोजगार मं वृद्धि होगी। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के आंकडे दर्शाते हैं। जाहिर है कि विनियोग की दर और तकनालाजी का चुनाव रोजगार की वृद्धि दर निर्धारित करते हैं।

ऐसा होने की स्थिति में विनियोग दर और ढाचें में परिवर्तन के साथ तकनालाजी के चुनाव में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप रोजगार की वृद्धि दर में भी परिवर्तन होता है। भारतीय अर्थवयवस्था में रोजगार-लोच सम्बन्धी आंकड़ों से पता चलता है कि सकल देशीय उत्पादन में 1 प्रतिशत की वृद्धि के परिणामस्वरूप 1972-73 से 1977-78 के दौरान रोजगार में 0.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई यह आंकड़ा 1977-78 और 1983 के दौरान भी 0.55 प्रतिशत के उचित एवं ऊँचे स्तर पर ही रहा परन्तु 1983 से 1987-88 के दशक की रोजगार लोज के आधार रोजगार में 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि प्राप्त करनी होगी जोकि पूर्णतया अवास्तविक है। अतः इसलिए आवश्यक है कि निम्नलिखित दिशाओं में विकास प्रक्रिया को मोड़ा जाए ताकि देश में रोजगार के अवसरों का तेजी से विस्तार हो और सकल देशीय उत्पाद में 6 प्रतिशत की वृद्धि दर के साथ देश सन 2000 तक पूर्ण रोजगार के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। योजना आयोग ने सुझाव दिया है :

(1) आर्थिक संवृद्धि मुख्यतः उन क्षेत्रों से प्राप्त की जानी चाहिए जिनमें अधिक रोजगार क्षमता विमान है और भविष्य में भी अधिक रोजगार क्षमता बनी रहने की संभावना है।

(2) समग्र संभरण एवं माँग के संतुलन (जिसमें निर्यात भी शामिल है) के सीमाबन्धन को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक मुख्य में ऐसी वस्तुओं और उत्पादन प्रणालियों को उच्च प्राथमिकता देनी होगी जिनमें रोजगार तीव्रता अधिक है।

(3) विभिन्न उत्पादन दल-प्रणालियों में जहाँ कहीं भी संभव हो, ऐसी उत्पादन तकनीकों को प्रोत्साहन देना होगा जिनमें पूंजी की प्रति इकाई के लिए अधिक रोजगार प्राप्त हो और पूंजी गहनता में अन्धाधुन्ध और प्रायः आनावश्यक वृद्धि के निरूत्साहित करना होगा।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र के विनियोग को रोजगार प्रोत्साहन क्षेत्रों में प्रेरित करने के अतिरिक्त, राजकोषीय एवं उधार नीतियों का प्रयोग गैर-सरकारी क्षेत्र के विनियोग को इस प्रकार प्रभावित करने के लिए करना होगा कि इससे ऐसे क्षेत्रों एवं तकनालाजी को बढ़ावा मिले जिससे रोजगार क्षमता तेजी से बढ़े।

इस समग्र ढांचे के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में रणनीति के मुख्य अंग इस प्रकार होने चाहिए।

कृषि तथा सम्बन्द्ध क्षेत्र

उच्च उत्पादन वृद्धि के क्षेत्रों में, रोजगार उत्पादन अनुपात के गिरने की प्रवृत्ति पाई गई है। प्रति हैक्टेयर श्रम-प्रयोग 1973-74 से 1983-84 के दौरान पंजाब में 77 से कम होकर 65 हरियाणा में 57 से 55 और उत्तर प्रदेश में 88 से कम होकर 86 हो गया। अतः उत्पादन में 1 प्रतिशत वृद्धि के विरूद्ध पंजाब में रोगार की वृद्धि शून्य, हरियाणा में 0.07 और उत्तर प्रदेश में 0.19 प्रतिशत रही। ऐसा प्रतीत होता है कि इन क्षेत्रों में वृद्धि दर के स्रोत श्रम विस्थापन के रूप में परिवर्तति होते जा रहे हैं। किन्तु अन्य सभी राज्यों में प्रति हैक्टेयर श्रम-प्रयोग में वृद्धि हुई है।

विकास की जो रणनीति पिछड़े निर्धन क्षेत्रों की वृद्धि दर को त्वरित करना चाहती है, उसे कृषि में श्रम की खपत में समग्र गिरावट की प्रवृति को पलटना होगा और इसे साथ साथ इन क्षेत्रों में ग्रामीण श्रमिकों के औसत आय-स्तर को उन्नत करना होगा। ये आठ राज्य हैं — आंध्र प्रदेश बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा. तमिलनाडु उत्तर प्रेदश और पश्चिम बंगाल। इन राज्यों में गरीबी रेखा के नीचे 80 प्रतिशत जनसंख्या रहती है और देश के कुल बेरोजगारों का इनमें 70 प्रतिशत है।

यह देखा गया है कि सिंचित क्षेत्र में 1 प्रतिशत की वृद्धि की परिणाम रूवरूप रोजगार में 0.38 प्रतिशत की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त कृषि में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि आंध्र प्रदेश एवं कर्नाटक में बांए गए एक हैक्टेयर सिंचित क्षेत्र द्वारा सिंचित क्षेत्र की तुलना में 50 से 150 प्रतिशत अतिरिक्त श्रम का प्रयोग होता है। अतः रोजगार के साथ विकास की रणनीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश के मन्द वृद्धि वाले क्षेत्रों में सिंचाई का विस्तार किया जाए, विशेषकर छोटी सिंचाई परियोजनायों की सहायता द्वारा।

चूंकि मन्द विकास वाले क्षेत्रों का अधिकतर भाग वर्षा पर आधारित है, इसलिए इन क्षेत्रों में उगाई जाने वाली फसलों में पहले ही विकसित की जा चुकी है तकनालाजी का विस्तृत प्रयोग (विशेषकर मोटे अनाजों में) किया जाना चाहिए। इंसके अतिरिक्त पानी संरक्षण और प्रबन्ध की दृष्टि से सामूहिक प्रयास इन क्षेत्रो में उत्पादन एवं रोजगार का विकास त्वरित करने में महत्वपूर्ण कारणतत्व बन सकते हैं।

अधिक मूल्य और अधिक श्रम प्रयोग वाली फसलों अर्थात सब्जियों एवं फलों को प्रोत्साहन देना चाहिए। सब्जियों फसलें में सबसे अधिक श्रम-प्रधान मानी गई है। हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में किए गए अध्ययनों द्वारा तैयार अनुमानों से ज्ञात हुआ है कि सेवों पर प्रति हैक्टेयर 180 और 170 मानव दिन और आमों पर गुजरात में 335 महाराष्ट्र में 124 उत्तर प्रदेश में 91 और कर्नाटक में 85 मानव दिन और इसकी समग्र औसत के रूप में 140 मानवदिन का प्रति हैक्टेयर

प्रयोग होता है । इन अनुमानों में इन फलों के लिए विपणन एवं विधायन के दौरान जनित रोजगार को शामिल नहीं किया गया।

अन्य सम्बन्धित कृषि क्रियाएं जिनमें अधिक रोजगार जनन होता है, पशुपालन एवं मत्स्य पालन है। कृषि पर राष्ट्रीय आयोग द्वारा इस्तेमाल किए गए मानदण्ड के आधार पर परन्तु विपणन एवं विधायन में रोजगार को न शामिल करते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि पशु पालन एवं मत्स्य क्षेत्रों में 1990-95 की अवधि के दौरान 615 लाख व्यक्ति-वर्ष रोजगार कायम किया जाएगा।

इस कारण योजना आयोग का कहना है कि "यदि क्षेत्रीय दृष्टि से विस्तृत लगभग 4 प्रतिशत की वृद्धि दर के साथ अधिक मूल्य वाली फसलों अर्थात फलों सब्जियों एवं अन्य नकद फसलों के पक्ष में खेती को बढ़ावा दिया जाए और इसके अतिरिक्त पशु पालन में 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य रखा जाए तो कृषि तथा सम्बन्द्ध क्षेत्रों में रोजगार 25 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त की जा सकती है।

ग्रामीण औद्योगीकरण

ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी और अल्प रोजगार दूर करने के लिए ग्रामीण औद्योगीकरण का प्रोग्राम चालू करना चाहिए। इस सम्बन्ध में मूल प्रश्न ऐसे उद्योगों को निर्धारित करने का है जो रोजगार की दृष्टि से चालू किए जाने चाहिए, इनका स्थिति निख्यन क्या हो और उन्हें संगठन की दृष्टि से कैसे अर्थ-क्षम बनाया जाए आदि। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के टैक्नो-आर्थिक सर्वेक्षण किए जाने चाहिए ताकि विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं एवं क्षमताओं का अनुमान लगाया जा सके। भूतकाल में कृषि द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के मुख्य भाग का विधायन नगर आधारित उद्योगों द्वारा किया जाता रहा है। ग्रामीण औद्योगिकरण के प्रोग्राम में कृषि उत्पादन की उत्पाक केन्द्र के पास विधायन करने का विचार है ताकि इस प्रकार ग्रामीण को रोजगार मिले। न केवल यह बल्कि आनुषंगिक और पोषक उद्योग भी ग्राम क्षेत्रों या उनके आस-पास की कयम किए जाने चाहिए। ग्रामीण औद्योगिकरण के ऐसे प्रोग्राम के लिए बहुत से प्रशासनिक तकनीकी, वित्तीय एवं संगठनात्मक सहायक उपाय करने जरूरी है।

तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने योजना आयोग को सम्बोधित करते हुए दो मुख्य उद्देश्यों बेरोजगारी और ग्राम क्षेत्रों के विकास पर बल देने का आग्रह किया उन्होंने इसके लिए अधःसंरचना को उन्नत करने की आवश्यकता और रोजगार क्षमता बढ़ाने के लिए सामाजिक सेवाओं को उपलब्ध कराने पर बल दिया। यह सलाह मूल रूप से सही है। गरीबी को दूर करने के लिए रोजगार का स्तर उन्नत करना और अल्प रोजगार को कम करना जरूरी है। साथ ही रोजगार जनन के लिए सरकारी योजनाओं पर अत्यधिक निर्भर होने से एक ऐसी मनोवृति पनपती है जो आत्म-पोषित विकास के मार्ग में रूकावट बन जाती है। इस दृष्टि से अधःसंरचना (अर्थात् सिंचाई, ग्रामीण विद्युतीकरण आदि) की राज्य सरकार द्वारा व्यवस्था करना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, इसकी बजाए कि सरकार प्रत्यक्ष उत्पादक क्रियाओं को प्रोन्नत करें जो अफसरशाही नियन्त्रण को बढ़ाती है जिससे अन्ततोगत्वा ठेकेदारों या पूंजीपति वर्ग को लाभ होता है जो कि अब ग्राम विकास करने के लिए इच्छुक हो गया है, विशेषकर कुछ राज्यों में ही क्रान्ति के प्रसार के पश्चात।

ग्राम औद्योगिकीकरण के कार्यक्रम को निम्नलिखित प्रकार के उद्योगों की स्थापना करने की व्यावहारिकता पर विचार करना चाहिए -

बहुत से लोगों को पूर्णकालीन रोजगार दिलाने के लिए बहुत सी औद्योगिक इकाइयाँ कायम की जा सकती हैं। ये किसानों और उनके परिवारों को अनुपूरक अंशकालीन रोजगार भी उपलब्ध करा सकते हैं। इस प्रकार के उद्योगों के कुछ उदाहरण हैं, चावल का विधायन, रूई से बिनौले निकालने, दूध एवं दूध से बनी वस्तुओं को तैयार करना, पटसन की निर्मित वस्तुएं और चीनी का उत्पादन।

(2) फलों एवं सब्जियों का विधायन

बहुत से व्यक्तियों को फलों एवं सब्जियों के पैकिंग, डिब्बा बन्दी एवं संरक्षण मुरब्बे, अचार एवं अन्य खाद्य पदार्थों के बनाने के लिए रोजगार दिया जा सकता है।

(3) कृषि उप-उत्पाद के प्रयोग के लिए उद्योग

बहुत से कृषि उप-उत्पादों की विनिर्माण उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करने की तकनीकी संभावनाओं की छानबीन करने की काफी गुंजाइश है। इस प्रकार के उप-उत्पादों के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं- शीरा और खोई से अल्कोहल, चावल के चोकर से तेल बनाना, आदि। ऐसे उद्योग ग्राम उद्योगों में रोजगार कायम करने के लिए उपयुक्त है और इनके विकास की काफी गुंजाइश है।

(4) ग्रामीण हस्तशिल्पों और कुटीर उद्योगों का विकास

कुटीर तथा ग्रामीण हस्तशिल्पों के विकास के लिए भारी क्षेत्र विद्यमान है। अब भी ग्रामीण हस्तशिल्प से तैयार की गई वस्तुएं विदेशी मुद्रा कमाने लगी हैं इसे और बढ़ावा देना चाहिए। इन ग्रामीण उद्योगों द्वारा केवल वहीं उपभोक्ता वस्तुएं नहीं बनाई जानी चाहिए जिनकी हमारे किसानों को जरूरत है जैसे हल, गैंती, बेलचा एक पहियां ठेला, आदि, इसके अतिरिक्त बचत से अनुषंगी एवं पोषक उद्योग ऐसी वस्तुओं का निर्माण भी कर सकते हैं जो अन्ततो गत्वा बड़े पैमाने के क्षेत्र में उत्पन्न की जाती है। कृषि मशीनरी के कुछ हिस्से या अन्य साज सामान निश्चित मानदण्ड के अनुसार ग्राम क्षेत्रों में उत्पन्न किया जा सकता है।

(5) औद्योगिक क्षेत्र

भारत में औद्योगीकरण की क्रिया दूसरी पंचवर्षीय योजना में प्रारम्भ की गई और इस योजना द्वारा निर्धारित पथ पर देश लगभग तीन दशक तक चलता रहा है? प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रक्रिया से उत्पादन की तीव्र वृद्धि के साथ रोजगार की भी इतनी ही तीव्र वृद्धि हुई है? विनिर्माण उद्योगों के उत्पादन एवं रोजगार की प्रवृत्ति का विश्लेषण करने से निम्नलिखित बातें पता चलती है :—

पहली, विनिर्माण क्षेत्र में उत्पादन, रोजगार की तुलना में तीव्र गति से बढ़ा है। दूसरी, हल्के उद्योगों की तुलना में, विनियोग का ढांचा भारी उद्योगों के पक्ष में परिवर्तित हुआ है। परिणामतः भारी उद्योग अर्थात् धातु उत्पाद उद्योगों धातु-भिन्न खनिज उत्पाद, मूल धातु उद्योगों रसायन और पैट्रो-रसायन उद्योग की वृद्धि हल्के उद्योगों की तुलना में कहीं गति से हुई है। हल्के उद्योग अर्थात सूची वस्त्र जूता उद्योग, लकड़ी की वस्तुएं खाद्य और तम्बाकू निर्माण उद्योग अपेक्षाकृत अवरूद्ध रहे हैं। तीसरी, भारी उद्योग जिसमें अतिरिक्त पूंजी विनियोग का मुख्य भाग लगाया गया, अधिक पूंजी-प्रधान होने के कारण, हल्के उद्योगों की तुलना में रोजगार के विस्तार की बहुत कम गुंजाइश रखते हैं।

भारत के बारे में अनुभव-जन्य प्रमाण से पता चलता है कि विनिर्माण क्षेत्र में रोजगार वृद्धि मुख्यतः असंगठित क्षेत्र की तीव्र वृद्धि का परिणाम है। संगठित विनिर्माण क्षेत्र में, रोजगार-उत्पादनक जो 1970-80 के दशक में 0.40 था गिरकर 1980-90 के दशक में लगभग 0.26 हो गया इसके और अधिक गहन अध्ययन से पता चलता है कि संगठित फैकटरी क्षेत्र में यह अनुपात छोटे क्षेत्र के कारखानों में जहां 100 से कम श्रमिक काम करते हैं 0.44 है किन्तु बड़े कारखानों के क्षेत्र में यह केवल 0.15 है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विनिर्माण क्षेत्र में, कुटीर तथा लघु स्तर उद्योगों द्वारा मूल्य-वृद्धि में योगदान 42 प्रतिशत था किन्तु, इनका रोजगार में भाग 80 प्रतिशत था। जाहिर है कि रोजगार प्रेरित रणनीति के लिए यह वांछनीय होगा कि 1990-2000 के दशक के दौरान उत्पादन का अधिकतर भाग इस क्षेत्र से प्राप्त किया जाए। इस क्षेत्र की उत्पादिता बढ़ाने के लिए यह अनिवार्य है कि तकनीकी उन्नति के कार्यक्रम चलाए जाऐं, भले ही इनके कारण प्रति इकाई उत्पाद के लिए रोजगार में कुछ गिरावट आए।

इससे यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि सभी लघु-स्तर इकाईयां श्रम-प्रधान होती हैं और सभी बृहद-स्तर इकाइयां पूँजी-प्रधान होती हैं। यह मान्यता सत्य प्रमाणित नहीं हुई। पूंजी या श्रम की तीव्रता विनियुक्त पूंजी के आकार पर निर्भर नहीं करती है। इसी प्रकार संगठित क्षेत्र में बहुत से उद्योग समूहों की रोजगार क्षमता काफी अधिक है।

योजना आयोग ने हाल ही में निम्नलिखित उद्योग समूहों की पहचान की है जिनमें रोजगार क्षमता अधिक है किन्तु बर्द्धमान पूँजी-उत्पाद अनुपात कम है। वे है- मछली की डिब्बाबन्दी और संरक्षण, बेकरी, चीनी और खांडसारी का उत्पादन, तम्बाकू उत्पादन, रूई से बिनौले निकालना, छपाई एवं रंगाई, खादी, हथकर्घा सूती वस्त्र पावरलूम, ऊन कताई एवं बुनाई (कारखानों को छोड़कर अन्य इकाइयों में), उनी वस्त्रों की रंगाई और विरंजन, चमड़े की वस्तुएं दियासलाई, सूती वस्त्र, फलों तथा सब्जियों की डिब्बाबन्दी, पटसन एवं मेस्ता की वस्तएं, शीशा एंव शीरे की वस्तएं। संरचनात्मक चिकनी मिट्टी बाइसिकल, धातु पदार्थों, पेट एवं वार्निश, डेरी उत्पादों, संशिलष्ट वस्त्रों की छपाई एवं रंगाई, शराब, औषध एवं दबाइयों और बेट्रीज में भी उत्पादन के साथ रोजगार का अंश काफी ऊँचा है इनमें भी वर्द्धमान पूँजी-उत्पाद का अनुपात इतना अधिक नहीं पाया गया।

इस सारे तर्क का सार यह है कि विनियोग के ढांचे को प्रोत्साहनों की योजना के अनुसार इस प्रकार मोड़ा जाना चाहिए। कि इससे अधिक रोजगार क्षमता वाले एवं कम पूंजी उत्पाद अनुपात वाले उद्योगों से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाए और यह नीति संगठित एवं असंगठित दोनों क्षेत्रों में लागू होनी चाहिए।

अन्य सेवाएं

सेवा क्षेत्र में अधिक रोजगार-क्षमता वाले दो क्षेत्र हैं - सड़क-निर्माण एवं गृह निर्माण। आज देश के 31 प्रतिशत गांव जिनकी जनसंख्या 1000 से 1500 के बीच है और 10 प्रतिशत बड़े ग्राम ऐसे हैं जो फीडर रोड से मिले हुए नहीं हैं। यदि 8 लाख किलोमीटर सड़क निर्माण का प्रोग्राम चलाया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप 228 लाख व्यक्ति वर्ष रोजगार कायम हो सकेगा।

ग्रामीरण और शहरी गरीबों के लिए गृह विनिर्माण का भारी कार्यक्रम तैयार करना चाहिए। इसके लिए गरीबों को न केवल भूमि के रूप में जगहें देनी होगी बल्कि उन्हें गृह निर्माण के लिए पर्याप्त संसाधन भी उपलब्ध कराने चाहिए गरीबों के लिए उधार की उदार रूप में व्यवस्था करने से भी बहुत बड़ी मात्रा में रोजगार कायम किया जा सकता है।

प्राथमिक स्तर पर एक अध्यापक वाले स्कूलों को 3-5 अध्यापकों वाले स्कूलों में परिवर्तित करने से रोजगार में वृद्धि को भी सहायता मिलेगी। पांचवे अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण (1986) के अनुसार लगभग 28 प्रतिशत प्राथमिक स्कूल जिनकी संख्या 14800 थी, में केवल एक अध्यापक था इनमें 3 अध्यापकों की व्यवस्था करने से 3 लाख अतिरिक्त नौकरियां कायम हो सकेंगी।

डिस्पेंसरियों और अस्पतालों की संख्या बढ़ाकर और उन्हें आधुनिक सुविधाओं से लैस करके ग्राम स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास द्वारा 2.7 लाख अतिरिक्त नौकरियां कायम की जा सकती हैं। इनमें 10000 डाक्टर और शेष 2.6 लाख पैरा-चिकित्सक है। इस प्रकार ग्राम स्वास्थ्य अधःसंरचना द्वारा रोजगार में और अतिरिक्त विस्तार की गुंजाइश है।

14.10 ग्रामीण रोजगार के लिए नई पहल

गरीबी की समस्या से निबटने के लिए अनेक उपाय अपनाए जाते रहे हैं। योजनाबद्ध विकास के अंतर्गत अनेक संस्थागत उपायों को बढ़ावा दिया गया और भारत सरकार के वार्षिक बजट प्रस्तावों को प्रस्तुत किए जाने के मौकों पर अनेक योजनाओं व कार्यक्रमों की घोषणा की जाती रही है। योजनाओं व कार्यक्रमों पर अमल की समीक्षा व नए उपायों को लागू करने की प्रक्रिया भी किसी न किसी रूप में चलती रही है। वर्ष 1999-2000 के लिए लोक सभा में पेश किए गए बजट में भी वित्त मंत्री ने ग्रामीण विकास के लिए महत्वपूर्ण नीतिगत उपायों की घोषणा की।

वित्त मंत्री श्री यशवंत सिन्हा ने ग्रामीणों के लिए आय अर्जन के नए अवसरों के सृजन की दृष्टि से वर्तमान स्वरोजगार व श्रम आधारित रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जरूरत बताई तथा इसके लिए कार्यक्रमों की प्रभावोत्पादकता बढ़ाने का प्रस्ताव किया। उन्होंने चार-सूत्रीय रणनिति का मुख्य आधार बनाने की बात भी कहीं गई। इसमें जवाहर रोजगार योजना में संशोधन कर जवाहर ग्राम समृद्धि योजना शुरू करने, मजदूरी पर आधारित रोजगार कार्यक्रमों को श्रमिकों के पलायन वाले इलाकों में लागू करने, धन का उपयोग करने में पंचायती राज संस्थाओं की भागीदारी सुनिश्चत करने तथा विभिन्न ग्रा रोजगार योजनाओं को मिलाकर एक ही योजना स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्व रोजगार योजना चलाने की बात कही गई।

योजनाओं का पुनर्गठन

वित्त मंत्री की घोषणाओं के अनुरूप ही ग्रामीण क्षेत्र व रोजगार राज्य मंत्री श्री बाबा गोंडा पाटिल ने इस वर्ष मार्च में ग्रामीण विकास व गरीबी अन्मूलन कार्यक्रमों के पुनर्गठन की घोषणा के साथ ही इनकी गई रूपरेखा की जानकारी दी। राज्य सरकारों के साथ पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद निर्धारित की गई पुर्नगठित योजनाओं पर अप्रैल 1999 से अमल भी प्रारम्भ कर दिया गया है। उम्मीद सही की जा रही है कि इन

योजनाओं का सामना बेहतर ढंग से कर सकेगी। यह आशा भी की जा रही है कि इन योजनाओं से मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के बेरोजगार युवकों व विशेष रूप से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के बेरोजगार युवकों को लाभ प्राप्त होगा।

इस बार जो नई योजनाएं घोषित की गई है वे है— स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना और जवाहर ग्राम समृद्धि योजना। पिछले अनेक वर्षों से चल रहे स्वरोजगार कार्यक्रमों की एक विशेषता यह रही है कि वे बेरोजगारों की आय में वृद्धि का अवसर प्रदान कर सतत गरीबी उन्मूलन में सहायक रही है परन्तु एक समस्या यह थी कि ऐसे स्वरोजगार कार्यक्रमों की संख्या अधिक थी और उनके बीच दुहराव टकराव की स्थिति से भ्रम उत्पन्न होता था। अब ऐसे अनेक कार्यक्रमों का विलय करके स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना प्रारम्भ की जा रही है। जिन कार्यक्रमों का विलय किया गया है उनमें समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला व बाल विकास कार्यक्रम (इवाकरा), स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवकों का प्रशिक्षण (ट्राईसेम), ग्रामीण दस्तकारों के लिए सुधरे हुए औजार किट की आपूर्ति (सिटरा), गंगा कल्याण योजना तथा दस लाख कुओं की योजना शामिल है। स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना को ऐसी समग्र योजना का रूप दिया गया है जिसमें लाभार्थियों के चयन, प्रशिक्षण, ढांचागत सुविधाओं, ऋण व विपणन सुविधाओं को स्थान दिया गया है। इसमें व्यक्तियों के बताये लक्ष्य-समूहों की तरफ ध्यान देकर किसी विशेष गति विधि को प्रोत्साहित करने पर जोर दिया है। कार्यक्रमों की बैंक ऋणों पर निर्भरता को देखते हुए बैंकों को भी योजनओं से जोड़ा जाएगा। प्रत्येक जिले में गरीबी उन्मूलन के लिए संसाधनों व रणनीति के बारे में विस्तार से विचार कर योजना तैयार की जायगी। चुने गये परिवार को तीन वर्ष के भीतर गरीबी रेखा से ऊपर लाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। जवाहर ग्राम समृद्धि योजना मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में ढांचागत विकास पर केन्द्रित होगी। जवाहर रोजगार योजना के इस संशोधित स्वरूप में अब आबंटित की गई समूची राशि ग्राम पंचायतों को दी जाएगी। इसमें श्रम आधारित कार्यक्रमों पर बल दिया जाता रहेगा परन्तु मजदूरी और सामग्री के बीच 60 तथा 40 के निर्धारित अनुपात में कुछ छूट का प्रावधान भी रखा जाएगा। पंचायतों को स्वयं ही 50000 रुपये तक के काम शुरू कराने की छूट दी गई है। पहले से बनी परिसंपत्तियों के रख-रखाव पर खर्च की सीमा भी 10 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दी गई है।

वास्तव में हाशिम समिति ने सिफारिश की थी कि जवाहर रोजगार योजना को गांव स्तर पर लागू किया जाना चाहिए ताकि गांव में बुनियादी ढांचे का विकास हो सके। उसी के अनुरूप योजना का स्वरूप बदला गया है।

पुनर्गठित योजनाओं में अक्तूबर 1993 में लागू की गई सुनिश्चित रोजगार योजना का स्वरूप नहीं बदला गया है। एकमात्र मजदूरी रोजगार कार्यक्रम के रूप में इसे देश के सभी जिलों और ब्लाकों के स्तर पर जारी रखा जाएगा। तथा जिलों को आबंटित राशि का 70 प्रतिशत हिस्सा ब्लाकों को दिया जाएगा तथा 30 प्रतिशत हिस्सा जिला स्तर पर आरक्षित रखा जाएगा ताकि आपदाग्रस्त क्षेत्रों में उसका इस्तेमाल किया जा सके। इसका उपयोग कैसे हो इसका निर्धारण जिला परिषद द्वारा क्षेत्र के सांसद के साथ विचार विमर्श के बाद किया जाएगा। यद्यपि सुनिश्चित रोजगार योजना का विस्तार व्यापक है परन्तु देश के अधिक पिछड़े जिलों व अत्यधिक गरीबों को इसका लाभ पहुंचाने की दिशा में विशेष रूप से ध्यान दिया जाएगा।

मंत्रालय ने जिला ग्रामीण विकास एजेंसियों को प्रशासनिक सहायता देने का निश्चय भी किया। इसके लिए जिला ग्रामीण विकास एजेंसी प्रशासन के लिए अलग से बजट रखने का प्रस्ताव भी है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर्मचारियों की भर्ती पद्धति में सुधार, उपयुक्त चयन, उनके प्रशिक्षण तथा ठीक कार्मिक नीति तय करना शामिल है। जिला ग्रामीण विकास एजेन्सियों के नाम में व्यावसायिक दक्षता लाने की आवश्यकताओं को अस्वीकार किया गया है।

पंचायती राज संस्थाओं की प्रभावी भूमिका

पुर्नगठित ग्राम विकास कार्यक्रमों का नौवी योजना के लक्ष्यों और नीतियों के साथ भी पूरा तालमेल रखा गया है। नौवीं योजना में पंचायती राज संस्थाओं के अंतर्गत ही गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के बीच समन्वय किया जाएगा। स्थानीय स्वशासन की प्रभावी संस्था के रूप में पंचायती राज संस्थाएं जिला योजना समितियों की मदद से आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाएं तैयार करेगी और उन पर अमल सुनिश्चित करेगी। स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना जैसी समन्वित योजना का एक उद्देश कार्यक्रमों के अमल में परिपाटी और भावी जरूरतों के बीच सार्थक समन्वय स्थापित करना भी है।

इन योजनाओं पर अमल में रणनीति की दृष्टि से व्यक्ति-विशेष को लाभार्थी चुनने के बजाय समान हितों वाले समूह की पहचान की जायेगी। इसका लाभ यह है कि समूह की हित चेतना, भ्रष्टाचार और शिथिलता पर अंकुश लगाने में सफल सिद्ध हो सकती है। इसके अलावा स्थानीय स्तर पर कारोबार की सम्भावनाओं के अनुरूप ही समूहों का चयन भी किया जा सकता है।

ग्रामीण विकास तथा बेरोजगारी उन्मूलन में आवास कार्यक्रमों तथा जल आपूर्ति कार्यक्रमों का भी विशेष महत्व है। ग्रामीण विकास मंत्रालय ने इस दिशा में भी ध्यान दिया है।

अब त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रम के अंतर्गत धन आवंटन के वर्तमान मानदंड को बदल कर आवश्यकतानुरूप आवंटन के दायरे में लाया जाएगा। बदले हुए मानदण्ड के अनुसार जिन राज्यों में पेय जल सुविधा से वंचित या दूषित जल की समस्याओं से गस्त क्षेत्र अधिक है। उन्हें अधिक धन आवंटित किया जायेगा। जल आपूर्ति व्यवस्था के केन्द्रीयकरण को धीरे-धीरे समाप्त कर गांव की आवश्यकताओं के अनुरूप सामुदायिक जल अपूर्ति को संस्थागत रूप देंगें उनके लिए त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रम के अन्तर्गत आबंटित बजट का 20 प्रतिशत हिस्सा अलग से रखा जाएगा। परन्तु इन राज्यों को इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि वे भाग के अनुरूप लचीली जल आपूर्ति की सेवाओं के लिए सुविधा प्रदान करें, उपभोक्ता लागत में वित्तीय संसाधनों का सहयोग दें तथा रख-रखाव की पूरी जिम्मेदारी स्वयं लें।

आवास के क्षेत्र में 13 लाख ग्रामीणी मकान बनाने के लिए योजना आयोग के परामर्श से एक कार्य-योजना तैयार की गई है। इस कार्य-योजना के तहत राष्ट्रीय ग्रामीण आवास एवं पर्यावास मिशन की स्थापना की गई है। ऋण तथा सरकारी सहायता की नई योजना और इंदिरा आवास योजना के प्रावधानों में और सुधार लाना भी इस कार्य योजना में शामिल है। ग्रामीण क्षेत्रों में आवास ऋण की सुविधा में विस्तार और आवास

की अभिनव योजनाओं को प्रोत्साहित करने के लिए मंत्रालय ने आवास व नगर विकास (हुडको) को पूंजी प्रदान की है।

ग्राम सभा वर्ष

ग्रामीण विकास मंत्रालय ने 1999-2000 को ग्राम सभा वर्ष के रूप में मनाने का फैसला किया गया है। पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राम पंचायतों का कामकाज अभी तक आशानुरूप नहीं हो पाया है। कुछ राज्यों में तोइ नका ढांचा तक नहीं बना पाया है और चुनाव भी नहीं हुए हैं। अभी तक ग्राम सभाओं की भूमि मुख्य रूप से सलाह देने की रही है परन्तु अब राज्य सरकारों से आग्रह किया गया है कि वे ग्राम सभाओं को अधिकार सम्पन्न बनाएं। उन्हें पर्याप्त अधिकार व वित्तीय साधन प्रदान किए जाएं।

पंचायती राज संस्थाओं को सुदृढ़ बना कर गरीबी उन्मूलन की रोजगार योजनाओं का संचालन करने का ताजा प्रयास पिछले अनेक वर्षों के अनुभवों का परिणाम है,यह योजनाओं को धरती पर उतारने का एक व्यवहारिक उपाय है परन्तु अततः इनकी सफलता राज्य सरकारों की ध्यय-निष्ठा और पंचायत स्तर पर सक्रिय लोगों की संकल्प शक्ति पर निर्भर करेगी। राज्य सरकारों को पंचायतों को अधिकार सौंपने और वित्तीय साधन प्रदान करने में व्याप्त जड़ता से निकलना होगा और पंचायतों को अपने कामकाज में दक्षता, पारदर्शिता और निष्पक्षता का प्रदर्शन कर अपनी सार्थकता को सिद्ध करना होगा।

14.11 रोजगार नीति में परिवर्तन और जन शक्ति आयोजन हेतु सुझाव

निसन्देह योजना आयोग के ये शब्द, ''विकास एक प्रकार से रोजगार अवसरों के विस्तार का दूसरा नाम है'', सराहनीय है। लेकिन विडम्बना तो यह हैं कि इन मार्मिक घोषणाओं के बावजूद हमारी योजनाएं, न केवल अविशिष्ट बेरोजगारी का समाधान कर सकी है बल्कि श्रम-शक्ति में नव प्रवेशकों को रोजगार दिलाने में सभी असमर्थ रही है। सच तो यह है कि भारतीय आयोजन को सबसे कमजोर कड़ी इसका रोजगार पक्ष ही है। हमारी सबसे बड़ी भूल यह रही है कि हमने आर्थिक विकास का अर्थ, उत्पादन बढ़ाने के लक्ष्य से अलग बनाये रखा। इस प्रकार एक तरफ योजना आयोग रोजगार की व्यूह रचना से अनभिज्ञ बना रहा तो दूसरी और उद्योग पति वर्ग, ''विकेकीकरण'' के नाम पर यन्त्रीकरण और नव प्रवर्तनों में संलग्न रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक स्थिरता लक्ष्य से भटकती गयी और रोजी रोटी से निराश व हतोत्साहित जन समाज आर्थिक आयोजना के प्रति अपना विश्वास ही बैठा। प्रसन्नता की बात तो यह है कि सरकार ने समस्या की गम्भीरता को देखते हुए अब एक निश्चित रोजगार नीति की घोषणा कर दी है जिसका चौथी व पांचवी रोजगार नीति के लिए कुछ आवश्यक निर्देशक सिद्धान्तों का होना जरूरी है, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न रूप में प्रस्तुत है:-

(1) निवेश के ढांचे में परिवर्तन

चूंकि भारत विकास की स्वयं-स्फूर्ति अवस्था प्राप्त कर चुका है अर्थात देश में सामाजिक उपरि-पूंजी और भारी उद्योगों का आधार तैयार हो चुका है इसलिए यह अधिक उचित होगा कि भविष्य में निवेश उन उद्योगों के लिए जाये जिनमें निवेश रोजगार अनुपात कम हो। इस दृष्टि से नया निवेश अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुत उद्योगों में किया जाना चाहिए जिससे दो लाभ होंगे- एक तरफ रोजगार बढ़ेगा तो दूसरी तरफ बढ़ती हुई कीमतों को नियन्त्रित किया जा सकेगा।

(2) छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन

बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों की स्थापना को प्राथमिकता देनी चाहिए क्योंकि ये श्रम-प्रशन होने के कारण अधिक रोजगार मूलक होते हैं।

(3) तकनीकी के चुनाव में सतर्कता

नयी तकनीकी में श्रम-विस्थापन का प्रभाव अधिक होता है। इसलिए इनका प्रयोग करने से पूर्व रोजगार फैलाव और उसके सम्बद्ध प्रभावों का पूर्ण अध्ययन कर लेना चाहिए। संक्षेप में, श्रम प्रधान तकनीक को बढ़ावा देना चाहिए।

(4) छोटे नगरों में विकास केन्द्रों की स्थापना

तुलनात्मक रूप से बड़े नगरों की अपेक्षा छोटे नगरों को विकसित केन्द्रों के रूप में विकसित किया जाए। इससे औद्योगिकरण के दुष्परिणामों से छुटकारा संकेन्द्रण पर रोक तथा रोजगार में वृद्धि हो कसती है।

(5) सरकारी आर्थिक सहायता का आधार

विभिन्न उद्योगों अथवा इकाइयों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता भविष्य में उनकी उत्पादन मात्रा पर आधारित न करके अतिरिक्त रोजगार जनन पर आधारित की जानी चाहिए।

(6) शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन

भारत में औद्योगीकरण के लिए प्रशिक्षित मानव शक्ति की जरूरत है न कि मैट्रिक व बी.ए. पास व्यक्तियों की। कला और विज्ञान में धडाधड ग्रेजूएट निकालते रहने में कोई अकलबन्दी नहीं, जबकि उनकी बाजार में मांग बहुत कम हो। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा प्रणाली में निचले स्तर से ही आमूल परिवर्तन लाये जायें। शिक्षा रोजगार मूलक और व्यवसाय-प्रधान होनी चाहिए। उद्योग, व्यवसाय व व्यापार में श्रम की सम्भावित मांग को दृष्टि में रखते हुए नये कोर्स शुरू किए जाएं ताकि विद्यालय छोड़ने पर लोगों को नौकरी की तलाश में भटकना न पड़े।

(7) समुचित सर्वेक्षण

जन शक्ति के सम्पूर्ण अनुमान क्षेत्र, लिंग; आयु, शहर, निवास, सामाजिक दर्जा व प्राप्त शैक्षिक योग्यता के आधार पर लगाए जाने चाहिए इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण की कार्य प्रणाली में सुधार किया जाए और उसका कार्य क्षेत्र विस्तृत किया जाये।

(8) संगठनात्मक सुधार

प्रत्येक राज्य में जन शक्ति नियोजन हेतु अलग से विभाग खोले जाएं, तो एक तरफ केन्द्रीय संगठन से तो दूसरी ओर जिला स्तर पर कार्यरत इकाईयों से सम्पर्क व समन्वय बनाए रख सकें।

(9) ग्रामीण क्षेत्र में अधिक रोजगार

ग्रामीण क्षेत्र में फैली अदृश्य बेरोजगारी को दूर करने के लिए नये सिरे से योजनाएं बनाई जाएं ताकि समस्या का शीघ्र समाधान हो सके।

14.12 सारांश

भारत एक विकासशील देश है जहां जनसंख्या का बाहुल्य है। पिछले दशको में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है परन्तु रोजगार में वृद्धि धीरे धीरे हो रही है इसलिए बेकारी विकराल रूप धारण पर रही है भारत में व्याप्त बेकारी उन्नत देशों से भिन्न है यह पूंजी या अन्य अनुपूरक साधनों के अभाव का परिणाम है। पुरूषों तथा महिला में ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्र में शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों वर्गों में बेकारी की विभिथिक व्याप्त है।

पिछले वर्षों में रोजगार संरचना में क्षेत्रीय ढांचा संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों में परिवर्तन आये हैं। रोजगार बढ़ाने के लिए सरकार अधिक जागरूक हुई है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में अतिरिक्त विनियोग द्वारा अतिरिक्त रोजगार कायम करने के मुख्य उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। रोजगार बढ़ाने हेतु ग्राम निर्माण, प्रोग्राम, छोटे किसानों के विकास की एजेन्सियां, कृषि सेवा केन्द्र, क्षेत्र विकास योजनाएं ग्राम रोजगार के लिए भारी कार्यक्रम बनाये गये। महाराष्ट्र सरकार ने तो रोजगार गारन्टी योजना चालू की वास्तव में इस योजना में काम के अधिकार को मान्यता दी गई।

सरकार ने समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम, जवाहर रोजगार योजना आदि प्रारम्भ किये इन कार्यक्रमों से नये रोजगार सृजित भी हुए हैं परन्तु इन कार्यक्रमों में अपनी कुछ कमियां हैं जिसके कारण वाछित सफलता नहीं मिल रहीं है। वर्ष 1999-2000 के लिए लोक सभा में पेश किए गये बजट में वित्त मंत्री श्री यशवन्त सिन्हा ने श्रम आधारित रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जरूरत बनाई तथा इसके लिए कार्यक्रमों की प्रभावोत्पादकता बढ़ानें का प्रस्ताव किया। उन्होंने चार सूत्री कार्यक्रम बनाने की पेशकश की इसमें जवाहर रोजगार योजना में संशोधन कर जवाहर ग्राम समद्धि योजना शुरू करने मजदूरी पर आधारित रोजगार कार्यक्रमों को श्रमिकों के पलायन वाले इलाकों में लागू करने धन का उपयोग करने पंचायती राज संस्थाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने तथा विभिन्न स्वरोजगार योजनाओं को मिलाकर एक ही योजना स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना चलाने की बात की अप्रैल 1999 से इस पर अमल भी किया जा रहा है।

रोजगार योजना को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए निवेश के ढांचे में परिवर्तन छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन, तकनीक के चुनाव में सतर्कता, शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन समुचित सर्वेक्षण तथा संगठनात्मक सुधारों की अत्यधिक आवश्यकता है।

14.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. "भारत की दरिद्रता का उपाय अधिक रोजगार है।" चर्चा कीजिये।
2. भारत में बेरोजगारी की समस्या का स्वरूप क्या है? बेरोजगारी कम करने के उद्देश्य से अपनाई गई भारतीय योजनाओं की कार्य-नीति के प्रमुख तत्वों का विवरण दें।
3. शिक्षित बेरोजगारी पर टिप्पणी लिखिये।
4. भारत में रोजगार प्रदान करने वाली योजनाओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. समन्वित ग्राम विकास कार्य व राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम के बारे में आप क्या जानते है?

6. भारत में नियोजन द्वारा बेरोजगारी की समस्या का समाधान नहीं हो सका है।' इस कथन का विवेचन कीजिये।

14.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Raj Krisnna, Rural Unemployment : A Survey of Concepts in Agricultural Development of India. Policy & Problems, Shoh, C.H: (ed) Orient Longman. 1979.
2. K. Puttaswamaiah, Unemployment in India : Policy for Manpower, oxford & IBH Co. Bombay.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

श्रम अर्थशास्त्र

MAEC-04 (N)

मजदूरी सिद्धान्त एवं नीति 3

खण्ड परिचय

मजदूरी सिद्धान्त एवं नीति

इस खण्ड में कुल 6 इकाइयाँ है।

इकाई संख्या 15 में पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता द्वि-पक्षीय एकाधिकार मॉडल के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। सर्व प्रथम पूर्ण प्रतियोगिता मॉडल में श्रम के मांग एवं पूर्ति वक्रों का निरूपण कर संतुलन द्वारा मजदूरी निर्धारण तंत्र को स्पष्ट किया गया है। इसमें फर्म का अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन साम्य भी स्पष्ट किया गया है। इसके बाद अपूर्ण प्रतियोगिता की विभिन्न स्थितियों जैसे- श्रम के विक्रय में एकाधिकार परन्तु क्रय में पूर्ण प्रतियोगिता, इसके विपरीत श्रम के विक्रय में पूर्ण प्रतियोगिता परन्तु क्रय में एकाधिकार द्वि-पक्षीय एकाधिकार की विवेचना की गई है। इस इकाई में मजदूरी निर्धारण के फ्लेनर मॉडल एवं कार्टर मॉडल को भी समझाया गया है।

इकाई 16 में मजदूरी निर्धारण का संस्थागत व सौदाकारी सिद्धान्त की चर्चा की गई है। इस सिद्धान्त में मजदूरी निर्धारण में श्रमिकों की व्यक्तिगत व सामूहिक सौदेबाजी की शक्तियों के महत्व को स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही मजदूरी निर्धारण में सरकार द्वारा कानूनी नियमन की व्यवस्था को भी स्वीकार किया गया है। इसमें श्रमिकों की सौदेबाजी सम्बन्धी विभिन्न मॉडलों की व्याख्या भी की गई है। सामूहिक सौदेबाजी की सफलता की शर्तों का उल्लेख भी इस इकाई में किया गया है।

इकाई 17 में हमारे द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रमुख समस्या मजदूरी भिन्नता की चर्चा की गई है। यह भिन्नता विभिन्न व्यवसायों में कार्य करने वाले मजदूरों में हो सकती है अथवा लिंग के आधार पर स्त्री या पुरूषों की मजदूरी में हो सकती है अथवा क्षेत्र के आधार पर ग्रामीण एवं शहरी मजदूरियों में हो सकती है। मजदूरी भिन्नता के कई कारण हो सकते हैं इन्हीं कारणों का विवेचन प्रस्तुत इकाई में विस्तार से किया गया है।

इकाई 18 में मजदूरी भुगतान पद्धतियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। समयानुसार मजदूरी (Time wage system) में मजदूरी निर्धारण का आधार श्रमिक द्वारा कारखाने में व्यतीत किए गए समय से होता है। समय को मजदूरी दर से गुणा कर भुगतान किया जाता है। मजदूरी भुगतान की एक अन्य पद्धति कार्यानुसार भुगतान है। इसमें भुगतान का निर्धारण व्यय किए गए समय से नहीं वरन् कार्य से होता है। इन दोनों प्रणालियों के अपने-अपने गुण दोष हैं। इसके अलावा इस इकाई में विभिन्न प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियों की चर्चा की गई है।

इकाई 19 में विकासशील देशों में मजदूरी नीति तथा इस सम्बन्ध में न्यूनतम मजदूरी उचित मजदूरी एवं पर्याप्त मजदूरी सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। मजदूरी नीति से आशय वैधानिक अथवा सरकारी कार्यवाही से है जो शासन द्वारा अपनाई जाती है।

इस खण्ड की अन्तिम इकाई संख्या 20 में भारतवर्ष में न्यूनतम मजदूरी की चर्चा की गई है। न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण करने हेतु सरकार किसी उद्योग में दूसरे उद्योगों के समान मजदूरी प्रदान कर सकती है, अथवा जीवित रहने लायक मजदूरी-निर्धारित कर सकती है, अथवा उद्योगों की भुगतान क्षमता को ध्यान में रखकर इसका निर्धारण किया जा सकता है। सामान्यतः उच्च मजदूरी की मांग श्रमिकों द्वारा की जाती है जबकि उद्योगपति भुगतान करने की क्षमता पर मजदूरी देना चाहते हैं। इस इकाई में विभिन्न उद्योगों तथा राज्य में न्यूनतम मजदूरी तथा राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी अवधारणाओं की चर्चा की गई हैं। संक्षेप में इस इकाई में भारत में बोनस की समस्या का भी उल्लेख किया गया है।

खण्ड-3

मजदूरी सिद्धान्त एवं नीति

पृष्ठ सं०

इकाई 15
मजदूरी निर्धारण सिद्धान्त 7-40

इकाई 16
संस्थागत व सौदाकारी सिद्धान्त 41-55

इकाई 17
मजदूरी ढाँचा और मजदूरी भिन्नता 56-63

इकाई 18
मजदूरी भुगतान की पद्धतियाँ 64-86

इकाई 19
विकासशील देशों में मजदूरी नीति : न्यूनतम मजदूरी, उचित मजदूरी, पर्याप्त मजदूरी 87-101

इकाई 20
भारत में न्यूनतम मजदूरी 102-114

इकाई 15

पूर्ण प्रतियोगिता व अपूर्ण प्रतियोगिता द्विपक्षीय - एकाधिकार मॉडल के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण

- 15.2.1 श्रम की मॉग व मॉग वक्र
- 15.2.2 श्रम की पूर्ति व पूर्ति वक्र
- 15.2.3 मजदूरी निर्धारण, उद्योग व फर्म का सन्तुलन

15.3 अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण

- 15.3.1 श्रम बाजार में एकाधिकार
- 15.3.2 श्रम बाजार में क्रेता-एकाधिकार
- 15.3.3 वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति
- 15.3.4 वस्तु बाजार में एकाधिकार की स्थिति

15.4 द्विपक्षीय एकाधिकार मॉडल

- 15.4.1 फैलनर मॉडल
- 15.4.2 फैलनर का वैकल्पिक मॉडल
- 15.4.3 कार्टर मॉडल
- 16.4.4 श्रम संघ के अधिमान - फलन
- 15.4.5 सेवायोजक के अधिमान - फलन
- 15.4.6 मजदूरी निर्धारण (श्रम की मॉग की तीन स्थितियों के अन्तर्गत)

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 निबन्धात्मक प्रश्न

15.0 उद्देश्य

मजदूरी निर्धारण की समस्या न केवल अर्थशास्त्र वरन् सम्पूर्ण आर्थिक विश्लेषण की महत्वपूर्ण समस्या है। मजदूरी राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो श्रमिकों को उत्पादन प्रक्रिया में अपने योगदान के फलस्वरूप प्राप्त होता है। विकसित व अविकसित दोनों प्रकार के देशों में अधिकांश परिवारों की आय मजदूरी से प्राप्त होती है। अतः समाज

में आय के वितरण में मजदूरी का विशेष महत्व है। दूसरी ओर उत्पादन लागत महत्वपूर्ण भाग होने के कारण मजदूरी काफी हद तक लाभ की मात्रा को निर्धारित करती है तथा उत्पादकों के निर्णयों को प्रभावित कर देश उत्पादन के साधनों का विभिन्न क्षेत्रों में आवंटन पर प्रभाव डालती है। रोजगार की मात्रा तथा कीमत स्तर पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। मजदूरी जो श्रम की कीमत हर प्रकार की अर्थव्यवस्था में वे सब कार्य करती है जो कीमत प्रणाली द्वारा किये जाते है।

श्रमिक एवं उनके संघ के दृष्टिकोण से मजदूरी एक ऐसी आय होती हैं जो समाज साहसियों के माध्यम से उनमें बांटता है, जिन्होंने अपनी क्षमतानुसार "श्रम" की पूर्ति द्वारा सामाजिक कर्त्तव्य का निर्वाह किया है। समाज में श्रमिक वर्ग की हैसियत उसकी कार्यक्षमता व जीवन स्तर उसकी भविष्य की पीढ़ी का निर्माण, प्रबन्धक के प्रति लगाव व उत्पादकता बढ़ाने की प्रेरणायें आदि सब कुछ उसे मिलने वाली मजदूरी की मात्रा व ढंग पर निर्भर करता है। देश में औद्योगिक शांति व वांछित दिशा में आर्थिक विकास के लिये सन्तुष्ट "श्रम" पहली शर्त है। ऐसी परिस्थितियों में श्रम संघ भी विरोध व हड़ताल का मार्ग न अपना कर रचनात्मक कार्यों को ही प्राथमिकता देते हैं। यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है कि मजदूरी वह धुरी है जिसके चारों और "श्रम" समस्यायें घूमती हैं।

श्रम की मिलने वाली मजदूरी पर्याप्त और न्यायपूर्ण है अथवा नहीं इसका ज्ञान श्रमिकों के हित में रूचि रखने वाले सभी वर्ग के लिये आवश्यक है, अर्थशास्त्री हो या राजनीतिक नीति निर्धारक हों या समाज सुधारक, श्रम संघ के नेता हो या सेवायोजक संघ के प्रतिनिधि। अतः यहाँ हमारे अध्ययन का उद्देश्य यह ज्ञान प्राप्त करना है कि मजदूरी कैसे निर्धारित की जाती है इसका सैद्धान्तिक पक्ष क्या है? तथा व्यवहारिक स्थिति क्या है? यदि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता सिद्धान्त को अव्यवहारिक बना देती है तो प्रतियोगिता के अभाव में मजदूरी निर्धारण पर कौनसे तत्व प्रभाव डालते हैं? आगे हमारे अध्ययन का विषय यह होगा कि वर्तमान में तीव्र औद्योगिकरण से सभी देशों में श्रम की मांग और साथ ही श्रम के शोषण की सम्भावनायें अधिक बढ़ गई हैं — अतः शोषित व असंगठित श्रमिकों को संगठित करके श्रम संघ श्रमिकों के पक्ष को मजबूत बनाते हैं और बड़े एकाकी सेवायोजक से अथवा सेवायोजक के संघ से द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति में सौदेबाजी करते हैं। इस प्रकार सामूहिक सौदेबाजी द्वारा मजदूरी की दर तथा श्रम की सेवाओं की अन्य शर्तों का निर्धारण ही वर्तमान में अधिक होता है। इस व्यवहारिक स्थिति को समझने के लिये द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति (अथवा सामूहिक सौदेबाजी) का अध्ययन करना अर्थशास्त्र विशेष रूप से श्रम अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिये अतिआवश्यक होगा।

15.1 प्रस्तावना

मजदूरी निर्धारण का विवेचन करने से पूर्व "मजदूरी" को परिभाषित करना आवश्यक है। अर्थशास्त्र में मजदूरी शब्द का प्रयोग संकुचित एवं विस्तृत दोनों रूपों में किया गया है। संकुचित अर्थ में "मजदूरी ..... वह भुगतान है जो किसी समझौते के अनुसार एक सेवायोजक अपने श्रमिक को उसकी सेवाओं के बदले में देता है" - बैन्हम। विस्तृत अर्थ में "श्रम की सेवा के लिये दिया गया मूल्य मजदूरी है" - मार्शल। इस अर्थ में उन सभी श्रमिकों की सेवाओं का पुरस्कार मजदूरी में सम्मिलित किया जायेगा जो स्वयं नियाजित हो या दूसरे के द्वारा नियोजित हो जैसे श्रमिक तथा लिपिक वर्ग, फैक्ट्री मैनेजर, सरकारी कर्मचारी, उच्चाधिकारी, व्यवसायिक लोग जैसे वकील, डाक्टर, अध्यापक तथा खुदरा व्यापारी आदि। अर्थशास्त्र में उपर्युक्त विस्तृत अर्थ में सम्मिलित सभी वर्ग के पुरस्कार

को मजदूरी की संज्ञा दी जाती है तथा मजदूरी निर्धारण का सिद्धान्त इन सभी की मजदूरी निर्धारण पर लागू होता है यद्यपि इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय सरलता के लिये मजदूरी का संकुचित दृष्टिकोण लिया जाता है जिससे श्रम की मांग तथा पूर्ति का सही अनुमान लगाया जा सके।

मजदूरी निर्धारण कैसे होता है? इस सम्बन्ध में तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये। प्राचीन सिद्धान्तों का विवेचन करना हमारा उद्देश्य नहीं है फिर भी मजदूरी निर्धारण की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के रूप में इनका संक्षिप्त उल्लेख उपयुक्त होगा।

मजदूरी के अधिकांश प्राचनी सिद्धान्तों का उद्गम-स्थल एडम-स्मिथ के मजदूरी सम्बन्धी विचार रहे हैं। फिजियोक्रेटस (Physiocrats) परम्परा का निर्वाह करते हुये एडम-स्मिथ ने कहा कि श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु का विक्रय मूल्य जो उसे प्राप्त होता है वह उसकी ही मजदूरी है (श्रम का मूल्य सिद्धान्त)। इस मजदूरी में वृद्धि पूंजी की उस मात्रा पर निर्भर करती है जो श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं को क्रय करने के उपयोग में आती है। यह पूंजी स्वयं बचत पर निर्भर है, जो अल्पकाल में स्थिर रहती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मजदूरी सिद्धान्त इन्हीं विचारों पर आधारित रहे। उनका यही निष्कर्ष था कि पूंजी तथा बचत में वृद्धि अल्पकाल में सम्भव नहीं अतः दी हुई श्रम संख्या हो तो मजदूरी में वृद्धि नहीं हो सकती। दीर्घ कालीन मजदूरी के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि वह जीवन-निर्वाह व्यय के बराबर होगी - इससे कम या अधिक नहीं हो सकती। माल्थस एवं रिकोर्डो ने इस विचार का समर्थन किया व जीवन-निर्वाह सिद्धानत (Subsistence Theory of Wages) के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जर्मन अर्थशास्त्री लासेल (Lassalle) ने इसे मजदूरी के लोह सिद्धान्त की संज्ञा दी की तथा अपने शोषण सम्बन्धी विचारों का आधार बनाया। कार्ल-मार्क्स के अनुसार मजदूरी पर आदत, रीति-रिवाज व रहन-सहन का प्रयास महत्वपूर्ण होता है। 19वीं शताब्दी के अन्त में कुछ अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी के जीवन निर्वाह सिद्धान्त में संशोधन करके जीवन-स्तर सिद्धान्त (Standard of Living Theory of Wages) प्रतिपादित किया। मिल (J.S. Mill) का मजदूरी कोष सिद्धान्त (Wage Fund Theory) और अमरीकन अर्थशास्त्री वॉकर (Walker) का अवशेष-अधिकारी सिद्धान्त (Residual claiment Theory of Wages) अपने समय में महत्वपूर्ण चर्चा का विषय रहे, परन्तु मजदूरी सिद्धान्त के विकास में इसका विशेष योगदान नहीं रहा।

19वीं शताब्दी के अन्त में मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का विकास इस श्रृंखला में क्रान्तिकारी मोड़ सिद्ध हुआ। अभी तक अधिकतर सिद्धान्त श्रम पूर्ति पक्ष पर बल देते रहे थे परन्तु अब अर्थशास्त्रियों (Walras, Wickstead, Jevons, J.B. Clark, J.R. Hicks) ने श्रम की मांग एवं उत्पादकता पर ध्यान देना शुरू किया, परिणामस्वरूप इस सिद्धान्त का जन्म हुआ।

मजदूरी के सीमान्त उत्पादक सिद्धान्त के अनुसार श्रम की मांग उसकी उत्पादकता के कारण की जाती है। एक उत्पादक श्रम की अतिरिक्त इकाइयां उस समय तक नियुक्त करता है जब तक कि उसकी सीमान्त उत्पादकता (जो उत्पत्ति ह्रास नियम के प्रभाव से नियुक्त श्रमिकों की संख्या बढ़ने के साथ घटती जाती है) श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के बराबर न हो जाय। अतः मजदूरी मुख्य रूप से सीमान्त उत्पादकता के बराबर रहने की प्रवृत्ति रखती है। यह सिद्धान्त इस तरह एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता।

इसकी मजदूरी में वृद्धि श्रमिकों कों सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि द्वारा सम्भव है। इस विचार ने श्रम संघों के विकास का भी आधार प्रदान किया जबकि पूर्व सिद्धान्त इनकी गतिविधियों को हतोत्साह ही करते थे। फिर भी अव्यावहारिक मान्यतों पर आधारित होने के कारण व विशेष रूप से एक पक्षीय होने के कारण इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की जाती है।

आगे चलकर मार्शल ने सीमान्त उत्पादकता के मांग पक्ष के साथ श्रम-पूर्ति का पक्ष जोड़कर इस सिद्धान्त को पूर्ण कर आधुनिक रूप दिया तथा कहा कि मजदूरी श्रम की सेवाओं की कीमत है इसलिये मजदूरी का निर्धारण भी अन्य कीमतों की तरह मांग व पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त द्वारा होता है। परन्तु श्रम में मानवीय तत्व होता है तथा इसकी कुछ अपनी विशेषतायें है जो इसे न केवल अन्य वस्तुओं से बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधनों से भिन्न बना देती है। यही कारण है कि मजदूरी निर्धारण के लिये मांग व पूर्ति सिद्धान्त को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त मूल्य के सामान्य सिद्धान्त का ही एक विशिष्ट रूप है। आगे हम पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की समस्या का अध्ययन इसी सिद्धान्त के आधार पर करेंगे।

15.2 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी-निर्धारण

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण का विवेचन करते समय हम यह मानकर चलते हैं कि श्रम बाजार में ही नहीं बल्कि वस्तु बाजार में भी पूर्ण प्रतियोगिता का प्रचलन होता है। श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के प्रचलन का अभिप्राय है कि न तो उत्पादकों/फर्मों की ओर से और न ही श्रमिकों में किसी प्रकार का एकाधिकारी तत्व पाया जाता है। फर्मों की संख्या अधिक होती है, उनका आकार छोटा होता है इसलिए वह अपने व्यवसाय में कुल श्रम शक्ति का छोटा का अंश ही नियोजित करती है। प्रत्येक फर्म स्वतंत्र रूप से कार्य करती है उनमें किसी प्रकार का समझौता नहीं होता, न ही उनके कोई संघ होते हैं। दूसरी ओर रोजगार चाहने वाले श्रमिकों की संख्या भी अधिक होती है तथा सभी श्रमिक असंगठित अवस्था में होते है और व्यक्तिगत आधार पर उत्पादकों/फर्मों को अपनी सेवायें प्रस्तुत करते हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण कीमतों के सिद्धान्त के अनुरूप श्रम की मांग व पूर्ति की पारस्परिक शक्तियों के सन्तुलन से होता है। चूंकि श्रम एक वस्तु नही अतः श्रम की मांग व पूर्ति की अपनी जटिलतायें हैं, इनको प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों का अध्ययन कर ही हम मांग व पूर्ति वक्रों को प्रस्तुत कर सकेंगे।

15.2.1 श्रम की मांग व वक्र :

श्रम की मांग व्युत्पन्न मांग (Derived Demand) है अर्थात श्रम की मांग उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग की लोच पर निर्भर करेगी।

दूसरे – श्रम की मांग अन्य सहयोगी साधनों की कीमतों पर भी निर्भर करेगी, उदाहरणार्थ यदि मशीने महंगी है तो अधिक श्रमिक काम पर लगाये जायेंगे तथा श्रम की मांग बढ़ेगी, लेकिन शर्त यह है कि पूंजी का श्रम द्वारा प्रतिस्थापन सम्भव हो। इस प्रकार श्रम की मांग श्रम एवं अन्य साधनों के बीच प्रतिस्थापन की सम्भावनाओं से प्रभावित होती है।

तीसरे – श्रम की मांग तकनीकी तत्वों से भी निर्धारित होती है। यदि उत्पादन कार्य

में श्रम की इकाइयों का अन्य साधनों के साथ अनुपात स्थिर है तो अन्य साधनों के अभाव में श्रम की अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग भी स्थिर रहेगा, इसके विपरीत यदि श्रम की तकनीकी अनुपात परिवर्तनशील है तो श्रम की मांग की लोच अधिक होगी।

इन महत्वपूर्ण बातों पर विचार करने के पश्चात एक फर्म के लिये श्रम की मांग सीमान्त उत्पादकता द्वारा शासित होती है। उत्पादन कार्य में श्रम की एक इकाई और लगाने के कुल उत्पादन में होनी वाली वृद्धि को सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) कहते हैं तथा उसे मौद्रिक मूल्य (MPP X Price) को सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (VMP) एक ही होती है अर्थात् MRP = MPP X Price = VMP सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) मुद्र में व्यक्त की जाती है, अतः स्पष्ट है कि फर्म की रूचि MRP में होगी न कि MPP में। अन्य बातों के समान रहते हुये जब एक फर्म श्रम की इकाइयों में उत्तरोत्तर वृद्धि करती है तो एक सीमा के बाद (उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण) श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता घटती जायेगी। अतः प्रत्येक फर्म श्रम का प्रयोग उस सीमा तक करेगी जहां सीमान्त आगम उत्पादकता उसको दी जाने वाली मजदूरी के बराबर नहीं हो जाती। अतः फर्म द्वारा श्रम की मांग सीमान्त आगम उत्पादकता पर निर्भर करेगी, वास्तव में सीमान्त आगम उत्पादकता फर्म के लिये श्रम का मांग वक्र है जो मजदूरी की विभिन्न दरों पर मांगी जाने वाली श्रम की मात्रा को बताता है। सामान्यतया यदि मजदूरी की दर अधिक होती है तो श्रम की मांग कम होगी और मजदूरी कम होने पर श्रम की मांग अधिक होगी, अतः श्रम का मांग वक्र का ढाल MRP के समान बांये से दांये नीचे की ओर होता है। परन्तु मजदूरी निर्धारण के लिये व्यक्तिगत फर्म की मांग महत्वपूर्ण नहीं होती।

उद्योग की कुल मांग अथवा सभी फर्मों की मांग का कुल योग इस बारे में महत्व रखता है। कुल मांग वक्र/उद्योग मांग वक्र सभी फर्मों के MRP वक्रों के किनारों के योग (Lateral Summation) द्वारा निकाला (Derived) जाता है रेखा चित्र नं 15.1 (a) में एक फर्म के लिये रेख चित्र न. 15.1 (b) में उद्योग के लिये श्रम मांग वक्र दिखाया गया है :—

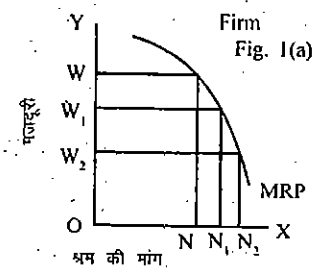

रेखा चित्र 15.1 (A)

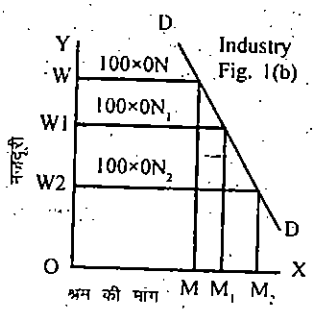

रेखा चित्र 15.1 (B)

दोनों रेखा चित्रों में Y अक्ष एक ही पैमाने पर किन्तु X अक्ष का पैमाना दोनों रेखा चित्रों में भिन्न-भिन्न है। यह मान लिया गया है कि उद्योग में 100 फर्में काम कर रही हैं। OW मजदूरी पर फर्म की मांग ON है किन्तु उसी मजदूरी पर सारे उद्योग की मांग OM है जो 100XON के बराबर है। इसी प्रकार OW^1 पर फर्म की मांग ON^1 है और उद्योग की मांग OM^1 जो $100XON^1$ के बराबर है और OW^2 पर फर्म की मांग ON^2 तथा उद्योग की मांग OM^2 है जो $100XON^2$ के समान है।

रेखा चित्र न. 15.1 (b) से स्पष्ट है कि मांग वक्र DD का ढाल बांये से दांये नीचे की ओर है। इसका कारण यह है कि MRP वक्र जिनके योग से DD वक्र बनाया गया है वह सम्बन्धित भाग में दांयी और नीचे को झुका हुआ है। इसका अर्थ है जितनी अधिक श्रम की मात्रा काम पर नियुक्त की जाती है, उसकी सीमान्त आय उत्पादकता उतनी ही घटती जाती है।

15.2.2 श्रम की पूर्ति व पूर्ति वक्र

श्रम पूर्ति का तात्पर्य एक विशेष प्रकार के श्रमिकों की संख्या से है जो मजदूरी की विभिन्न दरों पर अपनी सेवायें अर्पित करने को तैयार है तथा कार्य के घंटों से है जो विभिन्न मजदूरी दरों पर प्रत्येक श्रमिक कार्य के लिये देने को तैयार है। श्रमपूर्ति को तीन अर्थों में लिया जाता है - फर्म, उद्योग एवं अर्थव्यवस्था के लिये श्रमपूर्ति।

फर्म के लिये श्रमपूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है क्योंकि प्रचलित मजदूरी दर पर फर्म चाहे जितने श्रमिक प्राप्त कर सती है। उद्योग के लिये श्रमपूर्ति वक्र पूर्णतया लोचदार नहीं होता। यदि उद्योग अधिक श्रमिकों की मांग करता है तो उसे मजदूरी दर बढ़ानी होगी ताकि अन्य मिलते-जुलते व्यवसायों (Similar Occupation) से श्रमिक आकर्षित होकर इस उद्योग में आ सके। इसका अर्थ है ऊँची मजदूरी पर श्रमपूर्ति अधिक होगी तथा नीची मजदूरी पर कम और इसी कारण उद्योग का श्रमपूर्ति वक्र बांये से दांये ऊपर की ओर उठता हुआ होगा (Slope upwards from left to right).

लेकिन उद्योग के श्रमपूर्ति वक्र का पूर्वानुमान लगाना उतना सरल नहीं है जैसा मांग वक्र का, कारण श्रमपूर्ति को शासित करने वाले तत्व आर्थिक व गैर-आर्थिक दोनों प्रकार के होते हैं :—

आर्थिक तत्वों में मजदूरी के अतिरिक्त मंहगाई भत्ता, मकान किराया, बोनस, पेन्शन, अन्य भत्ते तथा निःशुल्क सुविधाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। कार्य की सुरक्षा, प्रतिष्ठा व पदोन्नति की सम्भावनायें भी ऊँची मजदूरी की तरह बढ़ी हुई श्रमपूर्ति को आकर्षित करती है।

गैर आर्थिक तत्वों में श्रमिकों की अगतिशीलता है जो सामाजिक व पारिवारिक परिस्थितियों के कारण तथा वर्तमान रोजगार के प्रति मोह व जड़ता (Inertia) के कारण होती है। इसके कारण श्रमिक अन्य स्थानों व उद्योगों में ऊँची मजदूरी मिलने पर भी जाने को तैयार नहीं होते हैं। श्रमपूर्ति को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व कार्य अवकाश का अनुपात है। मजदूरी वृद्धि के कारण श्रमिक अधिक घंटे काम करेंगे, अवकाश के स्थान पर कार्य प्रतिस्थापन करेंगे, इसे मजदूरी वृद्धि का प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) कहते हैं जो सदैव धनात्मक हुआ करता है। दूसरी ओर मजदूरी वृद्धि से श्रमिकों की आय बढ़ती है, आय बढ़ जाने से श्रमिक अब अधिक अवकाश करना पसन्द करते हैं, इसी मजदूरी वृद्धि का आय प्रभाव कहते हैं जो ऋणात्मक होता

है। मजदूरी वृद्धि होती है परन्तु एक सीमा के पश्चात यह सम्भव है ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण श्रमिक कम घंटे कार्य करें, जिससे श्रमपूर्ति कम हो जाय इस प्रभाव से एक सीमा के पश्चात एक व्यक्तिगत श्रमिक का श्रम पूर्ति वक्र (जिसे मजदूरी प्रस्ताव वक्र — Wage offer curve से प्राप्त किया है) पीछे की ओर मुड़ता है।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये श्रम पूर्ति वक्र कई आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक आदि बातों पर निर्भर करता है। सारे देश की श्रम-पूर्ति मुख्यतः जनसंख्या के आकार, उनके आयु और लिंग के अनुसार वितरण पर निर्भर करती है। महिलाओं का कार्य के प्रति दृष्टिकोण, अंशकालीन (Part-time) कार्य करने की सुविधा, कानून तथा परम्परा के अनुसार कार्य करने घंटे (Working hours) एवं कार्य करने की आयु (Working age) तथा श्रमिकों की कार्य कुशलता पर श्रम की कुल समर्थ-पूर्ति (effective supply) निर्भर करती है। यदि किसी देश में मजदूरी बढ़ती जाय तो प्रारंभिक अवस्थाओं (initial stages) में श्रम की पूर्ति बढ़ जायेगी। मजदूरी यदि इसी तरह बढ़ती रहे तो एक अवस्था ऐसी आती है, जहां पर श्रमिकों का जीवन-निर्वाह आसानी से हो सके। इस अवस्था के बाद भी यदि मजदूरी दर बढ़ जाय तो श्रमिक दिन में कम घंटे काम करने लगेंगे या सप्ताह तथा मास में कम दिन काम करना प्रारम्भ कर देंगे। यह मजदूरी दर की वृद्धि का ऋणात्मक आय प्रभाव है, जिसका उल्लेख व्यक्तिगत श्रमिक के प्रसंग में ऊपर किया है। इसका परिणाम सामान्यतः यह होता है कि एक विशेष अवस्था के बाद मजदूरी की दर बढ़ती जाय तो श्रम की पूर्ति घटने लगती है। इसका अर्थ यह निकलता है कि एक अवस्था के बाद सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये श्रम की पूर्ति वक्र पीछे की ओर मुड़ना आरम्भ कर देता है, जैसा रेखा चित्र नं. 15.2 में आपूर्ति वक्र बनाया गया है :—

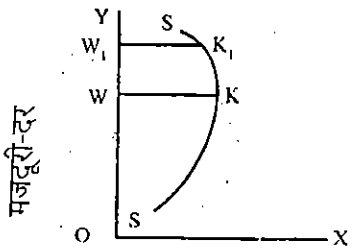

श्रम की मात्रा

रेखा चित्र 15.2

उपर्युक्त रेखा चित्र से स्पष्ट है कि OW मजदूरी दर तक (अर्थात K बिन्दु तक) श्रम की पूर्ति वक्र ऊपर को चढ़ता हुआ है, परन्तु इसके उपरान्त पीछे की ओर मुड़ा हुआ है। ऊँची मजदूरी OW^1 पर श्रमपूर्ति W^1K^1 है जो नीची मजदूरी OW की श्रमपूर्ति WK से कम है।

हमने श्रमपूर्ति की व्याख्या तीन दशाओं में की है, परन्तु मजदूरी निर्धारण के लिये उद्योग का श्रम पूर्ति वक्र ही लिया जायेगा जो बांये से दांये ऊपर की ओर चढ़ता है।

15.2.3 मांग और पूर्ति में सन्तुलन द्वारा मजदूरी निर्धारण

मांग और पूर्ति पक्षों का पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात् अब हम देख सकते हैं कि श्रम की मांग और पूर्ति की शक्तियों के सन्तुलन द्वारा मजदूरी की दर किस प्रकार निर्धारित होती है। रेखा चित्र न. 15.3(a) में DD मांग वक्र और SS पूर्ति वक्र बिन्दु E पर या OW मजदूरी की दर पर एक दूसरे को काटते हैं अतः OW (ME) मजदूरी की दर निर्धारित होगी क्योंकि इस दर पर ही मांग और पूर्ति सन्तुलन की अवस्था में है। सन्तुलन मजदूरी दर इससे भिन्न नहीं हो सकती। यदि मजदूरी इस दर से बढ़ती है तो मजदूरों की पूर्ति मांग से अधिक होगी तथा रोजगार पाने के लिये मजदूरों की आपसी प्रतिस्पर्धा इसे कम कर देगी और यह पुनः OW स्तर पर आ जायेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी इस दर से कम होती है तो श्रम की मांग उनकी पूर्ति से अधिक होगी। ऐसी स्थिति में फर्मों की आपसी प्रतिस्पर्धा इस दर को बढ़ा कर पुनः सन्तुलन स्तर पर ले आयेगी।

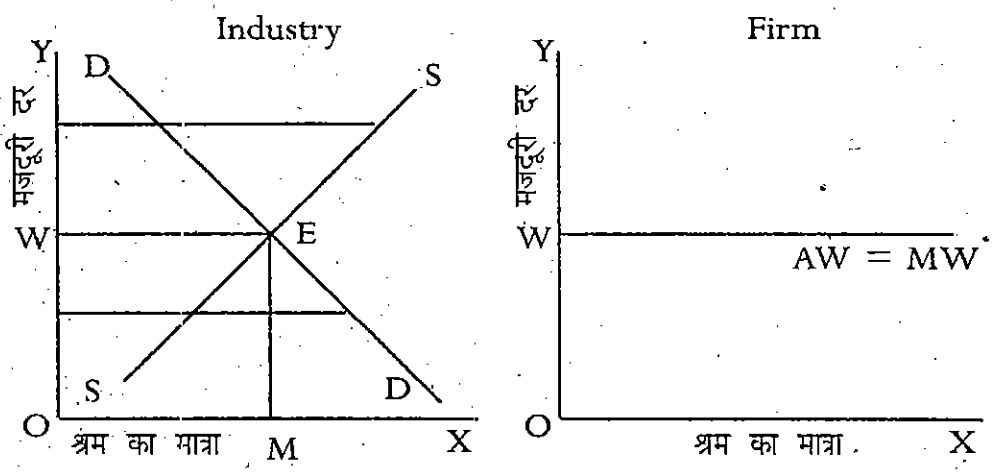

रेखा चित्र 15.3 (A)

रेखा चित्र 15.3 (B)

रेखा चित्र न. 15.3(b) में फर्म की स्थिति दिखाई गई है। पूर्ण प्रतियोगिता में जब उद्योग में एक बार मजदूरी निर्धारित हो जाती है तो व्यक्तिगत फर्म उसे स्वीकार कर लेती है। चित्र में उद्योग में प्रचलित मजदूरी दर OW है तो किसी एक फर्म के लिये श्रम की पूर्ति वक्र OW स्तर पर पूर्णतया लोचदार होगा और उसका वक्र X अंश के समानान्तर बनेगा। इसका अर्थ है कि फर्म OW मजदूरी दर पर जितने चाहे श्रमिक लगा सकती, ऐसी स्थिति में एक अतिरिक्त श्रम को कार्य पर लगाने की सीमान्त लागत (अथवा सीमान्त मजदूरी MW) वही होगी जो औसत लागत (अथवा औसत मजदूरी AW) है, अर्थात यह समानान्तर वक्र औसत मजदूरी वक्र भी है और सीमान्त मजदूरी वक्र भी अतः AW = MW.

फर्म का सन्तुलन :-

दी हुई मजदूरी पर अधिकतम लाभ फर्म को उतने श्रमिक लगाने से होगा जहाँ सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) और सीमान्त मजदूरी (MW) समान हो। MRP = MW फर्म के सन्तुलन की आवश्यक शर्त है। अल्पकाल में इस सन्तुलन पर श्रम के प्रयोग से फर्म को लाभ, सामान्य लाभ अथवा हानि की स्थिति हो सकती है। दीर्घकाल में विशेष लाभ व हानि की स्थिति समाप्त होकर केवल सामान्य लाभ की स्थिति रहती है। इन तीनों स्थितियों को रेखा चित्र नं. 15.4 (a), (b), (c) द्वारा स्पष्ट किया गया है :-

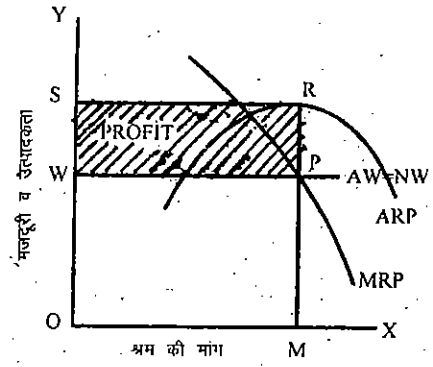

रेखा चित्र 15.4 (a)

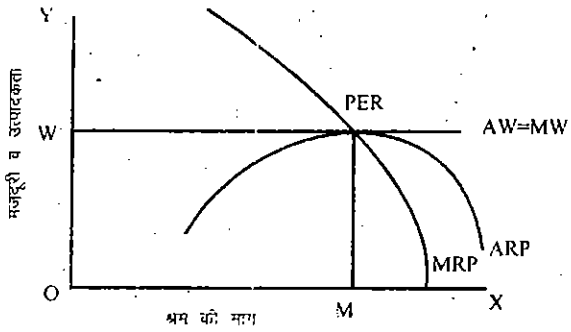

रेखा चित्र 15.4 (b)

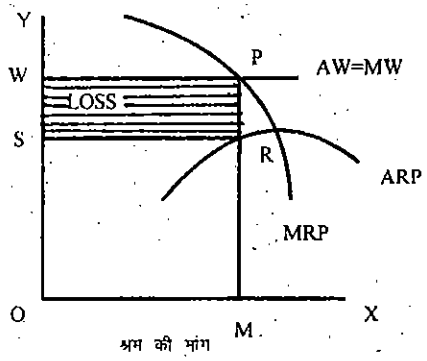

रेखा चित्र 15.4 (c)

उपर्युक्त तीनों चित्रों में OY अक्ष पर मजदूरी की दर व श्रम की उत्पादकता और OX अक्ष श्रम की मात्रा दर्शायी गई है। मजदूरी का स्तर OW उपयोग द्वारा निर्धारित मजदूरी है, जिसे फर्मों ने स्वीकार किया है। प्रत्येक चित्र में फर्म का सन्तुलन बिन्दु P है जहाँ MRP वक्र MW वक्र को काटता है। P बिन्दु से X अक्ष पर डाला गया लम्ब उसे M बिन्दु पर काटता है, अतः OM श्रम की मात्रा है जिसे OW(PM) मजदूरी दर पर फर्म रोजगार पर लगाती है।

परन्तु अल्पकालीन सन्तुलन की इन स्थितियों में फर्म की लाभ-हानि की स्थिति ज्ञात करने के लिये औसत मजदूरी (AW) की तुलना श्रम की औसत आय उत्पादकता से करनी होगी, जिसे चित्रों में ARP वक्र द्वारा दिखाया गया है। OM रोजगार के स्तर पर प्रत्येक चित्र में औसत आय उत्पादकता RM है, इसकी तुलना जब हम औसत मजदूरी (जो प्रत्येक चित्र में PM के बराबर है) से करते हैं तब चित्र न. 15.4(a) में RM > PM इसका अर्थ है, श्रमिक से फर्म की औसत आय RM उसे दी जाने वाली मजदूरी PM से अधिक है। अर्थात् प्रति श्रमिक से फर्म को (RM–PM=)RP लाभ प्राप्त हो रहा है और कुल लाभ का क्षेत्र RPWS है। चित्र नं. 15.4(b) में चूँकि RM = PM है औसत मजदूरी औसत आय उत्पादकता के बराबर ही है अतः फर्म को न लाभ हो रहा है न हानि - इसे ही सामान्य लाभ की स्थिति कहा जाता है। चित्र नं. 15.4(c) में RM<PM है इसका अर्थ है श्रमिक की औसत आय उत्पादकता उसे दी जाने वाली औसत मजदूरी से कम है अर्थात् फर्म को प्रत्येक श्रमिक पर (PM - RM=)PR ..... के बराबर हानि है व कुल हानि का क्षेत्र PRSW है।

अल्पकाल में फर्मों को उपर्युक्त में से किसी भी एक प्रकार की स्थिति का सामना करना होता है। परन्तु दीर्घकाल में लाभ से आकर्षित होकर उद्योग में नई फर्मों का प्रवेश होता है अथवा हानि के कारण पुरानी फर्मों का उद्योग से बर्हिगमन होता है, इस प्रक्रिया से उद्योग में श्रम की मांग और उसके परिणामस्परूप मजदूरी स्तर में परिवर्तन होता रहता है जब तक प्रत्येक फर्म की स्थिति ARP = AW की नहीं हो जाती। अतः दीर्घकाल में विशेष लाभ और हानि की स्थिति समाप्त होकर फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा, और इस स्थिति में MRP = MW = AW = ARP चारों वक्र सन्तुलन बिन्दु P पर एक दूसरे के बराबर होंगे - यह फर्म के लिये दीर्घकालीन सन्तुलन की आवश्यक शर्त है। यह स्थिति ऊपर चित्र न. 15.4(b) में दिखाई गई स्थिति के समान ही होगी।

इस तरह मजदूरी जो श्रम की कीमत होती है, दूसरी कीमतों की तरह मांग व पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों की आपसी प्रतिक्रिया के द्वारा निर्धारित होती है। मजदूरी दर के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात है कि सन्तुलन की स्थिति में मजदूरी सदैव सीमान्त आय उत्पादकता MRP के बराबर होती है।

बोध प्रश्न - 1

प्रश्न-1 मजदूरी-निर्धारण के आधुनिक सिद्धान्त को मूल्य के सामान्य सिद्धान्त का एक विशिष्ट रूप क्यों कहा है?

प्रश्न-2 श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के प्रचलन का क्या अभिप्राय है?

प्रश्न-3 श्रम की मांग को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों को बताइये।

प्रश्न-4 MPP, MRP और VMP का अर्थ बताइये। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में इनका आपस में क्या सम्बन्ध होता है?

प्रश्न-5 एक फर्म के लिये श्रम का मांग वक्र कैसे प्राप्त किया जाता है MRP से इसका क्या सम्बन्ध है?

प्रश्न-6 फर्म के मांग वक्र से उद्योग की मांग वक्र कैसे निकालेंगे? चित्र की सहायता से समझाइये।

प्रश्न-7 श्रम पूर्ति का तात्पर्य बताइये।

प्रश्न-8 उद्योग के लिये श्रम पूर्ति वक्र की आकृति कैसे होती है? श्रम पूर्ति और मजदूरी में क्या सम्बन्ध है?

प्रश्न-9 श्रमपूर्ति को प्रभावित करने वाले आर्थिक व गैर आर्थिक तत्व कौन-कौन से हैं?

प्रश्न-10 मजदूरी वृद्धि के प्रतिस्थापन प्रभाव व आय प्रभाव क्या है? श्रम पूर्ति पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न-11 सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये श्रमपूर्ति किन बातों पर निर्भर होती है?

प्रश्न-12 पीछे की ओर मुड़ते श्रम पूर्ति वक्र को चित्र सहित समझाइये।

प्रश्न-13 चित्र की सहायता से बताइये कि श्रम की मांग व पूर्ति के संतुलन की प्रक्रिया से मजदूरी का निर्धारण कैसे होता है?

प्रश्न-14 एक फर्म की लिये श्रमपूर्ति वक्र कैसे प्राप्त किया जाता है? इससे सीमान्त मजदूरी (MW) व औसत मजदूरी (AW) कैसे ज्ञात की जाती है?

प्रश्न-15 फर्म के सन्तुलन की आवश्यक शर्त क्या है? फर्म के लाभ व हानि की स्थिति चित्रों के माध्यम से समझाइये।

प्रश्न-16 फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन चित्र सहित समझाइये।

15.3 अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण

वास्तविक जगत में श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति नहीं पाई जाती। औद्योगीकृत देशों में तो बहुत कम श्रम-बाजार ऐसे देखने को मिलते हैं, जिनमें पूर्ण प्रतियोगिता का प्रचलन होता हो। न तो वहाँ स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने वाले अनेक नियोजक होते हैं न ही असंगठित श्रमिक। इन देशों के श्रम बाजारों में पूर्ण नहीं बल्कि अपूर्ण प्रतियोगिता ही देखने को मिलती है। अपूर्ण प्रतियोगिता में श्रम बाजार विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं :—

सर्वप्रथम – श्रम का एक विक्रेता (श्रम-संघ) और अनेक क्रेता पाये जा सकते हैं - इसे एकाधिकार की दशा कह सकते है। **दूसरे** - श्रम का केवल एक क्रेता और अनेक विक्रेता हो सकते हैं - इसे क्रेता-एकाधिकार की दशा कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त श्रम बाजार में एक क्रेता तथा एक विक्रेता की स्थिति भी पाई जा सकती है, जिसे द्विपार्श्वीय-एकाधिकार (Bi-lateral - Monopoly) कहते हैं। इनमें से प्रत्येक स्थिति के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की व्याख्या अलग-अलग करना आवश्यक होगा।

15.3.1 श्रम के विक्रय में एकाधिकार व क्रय में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी निर्धारण

यहाँ एक श्रमसंघ के नियंत्रण में समस्त श्रम पूर्ति होती है लेकिन श्रम की मांग कई फर्मों/सेवायोजकों द्वारा की जाती है। ऐसी स्थिति में श्रम संघ प्रत्यक्ष रूप से ऊँची मजदूरी निश्चित करा सकते हैं, इसे कायम भी रख सकते हैं, लेकिन इससे रोजगार की मात्रा में गिरावट आ जाती है। रेखा चित्र नं. 15.5 से यह स्थिति स्पष्ट है :—

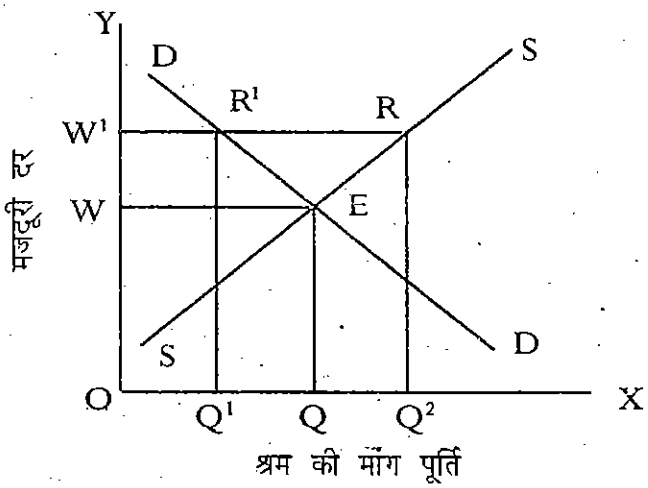

रेखा चित्र 15.5 : श्रम की मांग पूर्ति

रेखा चित्र नं. 15.5 में सन्तुलन बिन्दु E पर मजदूरी दर OW व रोजगार स्तर OQ है। यदि श्रम संघ मजदूरी दर OW से बढ़ा कर OW^1 करा देते हैं तो श्रम

की पूर्ति श्रम की मांग से अधिक होगी (OQ^2–OQ^1) और इस अतिरिक्त पूर्ति $Q^1Q^2 = R^1R^2$ को रोजगार से वंचित होना पड़ेगा। श्रम संघ ऐसे तरीके भी अपना सकते हैं जिससे रोजगार पर विपरीत प्रभाव न्यूनतम हो सके, जैसे श्रमसंघ अपने सदस्यों की संख्या सीमित कर श्रम पूर्ति कम कर सकते हैं अथवा श्रम की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि तथा श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग में वृद्धि के प्रयत्नों द्वारा श्रम मांग वक्र को आगे बढ़ाया जा सकता है, जिससे मजदूरी दर व रोजगार दोनों बढ़ सके। फिर भी यदि श्रम संघ अपनी एकाधिकारात्मक स्थिति का लाभ उठाते हुये फर्मों/सेवायोजकों को ऊँची मजदूरी देने के लिये विवश कर देता है तो उसका सम्भावी प्रभाव यह पड़ेगा कि रोजगार की मात्रा कम हो जायेगी। अतः श्रम संघ को निर्णय लेना ही पड़ता है कि ऊँची मजदूरी और अधिक रोजगार में वह किसको वरीयता दे और कितनी मात्रा में।

15.3.2 श्रम के क्रय में क्रेता-एकाधिकार एवं विक्रय प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी निर्धारण

इस प्रकार की स्थिति में श्रम का एक अकेला क्रेता या एक ही बड़ी फर्म क्रेता होती है। यह भी सम्भव है कि कुछ फर्में आपस में मिलकर क्रेता-एकाधिकारी का रूप धारण कर लें - विशेषता यह है कि क्रेता-एकाधिकारी मजदूरी दरों को काफी सीमा तक प्रभावित करने की शक्ति रखता है। इसके विपरीत श्रम के विक्रेता अर्थात् श्रमिकों की संख्या अधिक होती है और उनका कोई संगठन नहीं होता, अतः वे मजदूरी दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। श्रमिक नियोजक से व्यक्तिगत आधार पर ही सौदा करते हैं। श्रमिकों का असंगठित दशा में होना क्रेता एकाधिकार की स्थिति के लिये एक आवश्यक शर्त है क्योंकि यदि श्रमिकों का संगठन बना तो ये सामूहिक रूप से क्रेता एकाधिकारी से सौदा करेंगे और स्थिति द्विपक्षीय एकाधिकारी की हो जायेगी। दूसरी महत्वपूर्ण शर्त है श्रम बाजार में श्रम अपेक्षाकृत कम गतिशील हो - भौगोलिक और व्यावसायिक दोनों प्रकार की अगतिशीलता क्रेता-एकाधिकारी द्वारा मजदूरी पर अपना प्रभाव बनाये रखने के लिये आवश्यक है, अन्यथा ऊँची मजदूरी मिलने पर श्रमिक दूसरे स्थानों व दूसरे उद्योग में जा सकते हैं। इस प्रकार श्रमिकों का असंगठित होना व उनकी अगतिशीलता क्रेता-एकाधिकार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये आवश्यक शर्त है।

क्रेता-एकाधिकारी अपने श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तु को पूर्ण-प्रतियोगिता वाले वस्तु बाजार में बेचता है अथवा एकाधिकार की स्थिति में इसका प्रभाव भी क्रेता-एकाधिकारी द्वारा मजदूरी निर्धारण पर पड़ता है।

(i) पहले हम उस स्थिति को लेते हैं जहाँ श्रम बाजार का क्रेता-एकाधिकारी वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में अपनी वस्तु बेचता है - यहाँ क्रेता-एकाधिकारी के लिय श्रम का मांग वक्र सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) से ही प्राप्त होता है। चूँकि वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है अतः यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र और सीमान्त उत्पादकता के मूल्य का वक्र एक ही होता है

$$MPP \times Price = MRP = VMP$$

क्रेता एकाधिकारी के लिये श्रमपूर्ति वक्र ऊपर चढ़ते वक्र (rising curve) के रूप में बनाया जाता है। इसके पीछे धारणा यह है कि अधिक श्रमिकों को काम पर लगाने के लिये क्रेता-धिकारी को अपेक्षाकृत ऊँची मजदूरी देनी होगी। अतः श्रमिकों की संख्या बढ़ने के साथ मजदूरी की दर (AW) बढ़ती जायगी इसलिये श्रम की सीमान्त मजदूरी

(MW) औसत मजदूरी (AW) से ऊँची होगी व MW वक्र AW वक्र से ऊपर होगा, जैसा रेखा चित्र 15.6 में दिखाया गया है :—

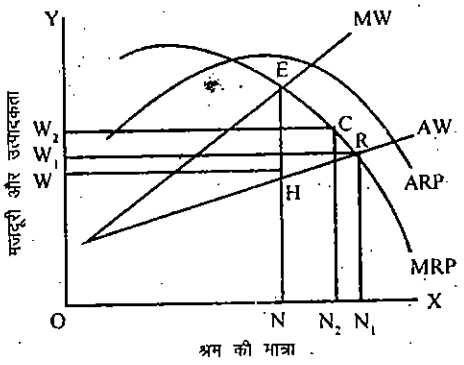

रेखा चित्र 15.6

क्रेता-एकाधिकारी E बिन्दु पर सन्तुलन में होगा जहाँ मांग वक्र (MRP) एवं सीमान्त लागत अथवा MW वक्र एक दूसरे को काटते हैं। चित्र 15.6 से स्पष्ट है कि सन्तुलन बिन्दु E पर क्रेता-एकाधिकारी द्वारा निर्धारित मजदूरी HN(=OW) स्पष्ट रूप से श्रमिक की सीमान्त आगम उत्पादकता EN से काफी कम है। प्रत्येक श्रमिक को अपनी सीमान्त आगम उत्पादकता से EH के बराबर (EN-HN) कम मजदूरी मिल रही है, स्पष्ट रूप से यह श्रमिकों का शोषण है। कुल शोषण का क्षेत्र EH x WH होगा। अर्थशास्त्री इसको क्रय-एकाधिकार जनित शोषण (monopsonistic exploitation) कहते हैं।

यहां यह बात सुगमता से समझ में आ सकती है यदि पूर्ण प्रतियोगिता न हो और निरंकुश क्रय-एकाधिकार की स्थिति में हो स्वाभावतः वह श्रमिकों का शोषण करेगा और मजदूरी कम देगा। यदि पूर्ण प्रतियोगिता होती तो सन्तुलन बिन्दु R होता, जहाँ MRP वक्र AW वक्र श्रम पूर्ति वक्र को काटता है। सन्तुलन बिन्दु R से सम्बन्धित मजदूरी की दर OW^1 और रोजगार की मात्रा ON^1 निश्चित होती - स्पष्ट है कि क्रय एकाधिकार में मजदूरी और रोजगार दोनों कम होते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्रेता-एकाधिकार की स्थिति में श्रम संघ रोजगार में कमी लाये बिना मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं। रेखा चित्र नं. 15.6 में क्रेता-एकाधिकारी से सौदेबाजी द्वारा यदि श्रम संघ मजदूरी की दर OW^2 तक बढ़वा लें तो रोजगार की मात्रा ON से बढ़कर ON^2 हो जायेगी। ऐसा सम्भव इसलिये है कि OW^2 मजदूरी की दर पर दोनों पक्षों का समझौता होने के पश्चात क्रेता-एकाधिकारी के समक्ष औसत मजदूरी वक्र OW^2 स्तर पर एक क्षितिजीय वक्र के रूप में होगा और सीमान्त मजदूरी वक्र इसमें सामाहित होकर दोनों एक हो जायेंगे AW=MW, MRP वक्र इस नये AW=MW श्रमपूर्ति को C बिन्दु पर काटेगा

अतः C नया सन्तुलन बिन्दु होगा जहाँ OW^2 मजदूरी पर ON^2 रोज़गार की मात्रा होगी। स्पष्टतः अब मजदूरी दर व रोजगार स्तर दोनों ही अधिक हैं।

(ii) अब हम दूसरी स्थिति को देखेंगे जहाँ श्रम बाजार का क्रेता-एकाधिकारी वस्तु बाजार में एकाधिकार की स्थिति में अपनी वस्तु बेचता है - वस्तु बाजार में एकाधिकार की स्थिति में सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (MRP) और सीमान्त उत्पाद का मूल्य (VMP) वक्र अलग-अलग होते हैं चूँकि :–

$$MRP = MPP \times MR$$

$$VMP = MPP \times AR \text{ (or Price of the product)}$$

$$MR < AR \text{ (in monopoly)}$$

$$MRP < VMP$$

यही कारण है कि यहाँ MRP वक्र VMP वक्र के नीचे होगा, जैसा रेखा चित्र 15.7 में दिखाया गया है।

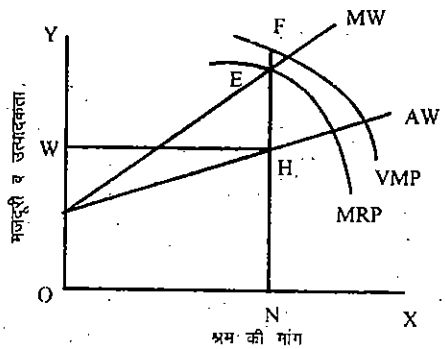

रेखा चित्र 15.7

श्रम पूर्ति वक्र अथवा AW पहले की तरह ऊपर चढ़ता वक्र है, और MW वक्र उसके ऊपर होगा। क्रेता-एकाधिकारी के लिये सन्तुलन बिन्दु E होगा जहाँ MRP वक्र MW वक्र को काटता है। इसके अनुसार OW (-NH) मजदूरी दर है तथा ON रोजगार का स्तर। यहाँ भाग लेने की मजदूरी की दर NH या केवल MRP सीमान्त आय उत्पदकता NE से कम है बल्कि VMP सीमान्त उत्पाद के मूल्य NF से भी कम है। NF - NE = EF का अन्तर वस्तु बाजार में एकाधिकार के कारण है जिसे अर्थशास्त्री एकाधिकार जनित शोषण कहते हैं। इस प्रकार श्रमिक का दोहरा शोषण होता है। एकाधिकार के कारण श्रम को VMP से कम मजदूरी मिलती हैं और क्रेता-एकाधिकार के कारण MRP से कम मजदूरी मिलती है।

श्रम बाजार में क्रय-एकाधिकार के अतिरिक्त यदि अपूर्ण प्रतियोगिता को कोई अन्य रूप पाया जाय, उदाहरणार्थ एक के स्थान पर श्रमिकों के दो अथवा तीन क्रेता हो तो

भी व्यक्तिगत क्रेता मजदूरी की दर को प्रभावित करने की स्थिति में होगा और सन्तुलन की स्थिति में मजदूरी की दर श्रमिक की सीमान्त एवं औसत उत्पादकता से कम होगी और इस प्रकार नियोजक श्रमिकों का शोषण करेंगे।

अतः स्वाभाविक प्रश्न है कि इस शोषण को कैसे समाप्त किया जा सकता है? क्या श्रम संघ अथवा सरकार मजदूरी का स्तर ऊँचा करके यह शोषण समाप्त कर सकती है? जहाँ तक एकाधिकार-जनित शोषण का प्रश्न है ऊँची मजदूरी से वस्तु की लागत ही बढ़ेगी, जो वसतु की कीमत बढ़ा कर MRP व VMP का अन्तर और बढ़ा देगी, अतः यह शोषण इस प्रकार समाप्त नहीं होगा। यह शोषण समाप्त करने के लिये सरकार को ही एकाधिकार पर नियन्त्रण करके वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की दशायें उत्पन्न करने के प्रयत्न करने पड़ेगे। जहाँ तक क्रेता-एकाधिकारी के प्रभाव का शोषण है श्रम संघों द्वारा सामूहिक-सौदाकारी के अन्तर्गत उचित समझौते कर मजदूरी और रोजगार दोनों को बढ़ाया जा सकता है - यह समस्या द्विपक्षीय एकाधिकार (अथवा सामूहिक-सौदाकारी) के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की है। इस समस्या का ही अध्ययन अब हम आगे करेंगे।

बोध प्रश्न - 2

प्रश्न-1 अपूर्ण प्रतियोगिता में श्रम बाजार के विभिन्न प्रकार बताइये।

प्रश्न-2 श्रम बाजार में श्रम के विक्रय में एकाधिकार की स्थिति से क्या अर्थ है? इस स्थिति में एकाधिकारी अपनी शक्ति प्रयोग करने में कहाँ तक सफल होता हैं?

प्रश्न-3 अपने सदस्यों को ऊँची मजदूरी दिलवाने के लिए श्रम संघ क्या उपाय करते हैं?

प्रश्न-4 श्रम बाजार में क्रेता-एकाधिकार की स्थिति कब होती है? इसके लिये आवश्यक शर्त क्या हैं?

प्रश्न-5 क्रेता-एकाधिकारी के लिये श्रम-पूर्ति वक्र कैसा होता है? चित्र सहित समझाइये।

प्रश्न-6 चित्र द्वारा क्रेता-एकाधिकारी के सन्तुलन की स्थिति बताइये। यहाँ श्रम के शोषण की स्थिति क्यों उत्पन्न होती है?

प्रश्न-7 चित्र की सहायता से स्पष्ट कीजिये कि पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में क्रय-एकाधिकार में मजदूरी और रोजगार दोनों कम होते हैं।

प्रश्न-8 क्या क्रेता-एकाधिकार की स्थिति में श्रम संघ रोजगार में कमी लाये बिना मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं? चित्र की सहायता से समझाइये।

प्रश्न-9 MRP और VMP का अर्थ व अन्तर स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न-10 क्रेता एकाधिकार की स्थिति में एकाधिकार-जनित शोषण कब होता है क्यों?

15.4 द्विपक्षीय एकाधिकार मॉडल

"द्विपक्षयी एकाधिकार" बाजार की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें एक विक्रेता एक क्रेता का सामना करता है। एक श्रमिक संघ और एक सेवायोजक अथवा सेवायोजकों के संगठन के बीच सामूहिक सौदाकारी द्विपक्षीय एकाधिकार का एक अनुपम उदाहरण है।

एक फर्म या उद्योग के आधार पर गठित श्रम संघ अपने आधीन सभी श्रमिकों का प्रतिनिधि होता है, उनकी ओर से "एक व्यक्ति" की भांति सौदाकारी करता है, इस तरह श्रम संघ अपने उद्योग में श्रमिकों की सेवाओं का एकमात्र विक्रेता होता है दूसरे पक्ष पर एक बड़ा सेवायोजक या सेवायोजकों का संगठन श्रम सेवाओं का एक मात्र क्रेता होता है। यह स्थिति श्रम बाजार में द्विपक्षीय एकाधिकार की है और इसके अन्तर्गत मज़दूरी का निर्धारण दोनों पक्षों के बीच सामूहिक सौदाकारी द्वारा होता है। अतः सामूहिक सौदेकारी के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की समस्या द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की समस्या का ही एक रूप है।

श्रम बाजार में द्विपक्षीय एकाधिकार में मजदूरी का निर्धारण उसी प्रकार अनिश्चित होता है जैसा कि वस्तु बाजार में द्विपक्षीय-एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु का मूल्य। द्विपक्षीय एकाधिकार (अथवा सामूहिक सौदाकारी) के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण के विश्लेषण से हम केवल दो सीमाओं को ही स्पष्ट कर पाते हैं - मजदूरी-दर की उच्चतम सीमा, जिसको श्रम संघ प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे और मजदूरी-दर की निम्नतम सीमाओं, जो सेवायोजक निश्चित करना चाहेगा। इन दो सीमाओं के बीच अन्तर (Range) में मजदूरी दर कहाँ निश्चित होगी यह दोनों पक्षों की सापेक्ष सौदाकारी शक्ति पर निर्भर करेगा। सैद्धान्तिक रूप से उच्चतम और निम्नतम, सीमाओं के बीच वास्तविक रूप से निर्धारित मजदूरी अनिर्धारणीय होती है।

फिर भी उपर्युक्त दो सीमाओं तथा उनके बीच अन्तर (Range) का जिसमें सामूहिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी का निर्धारण होगा - विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है। इस विश्लेषण में श्रम संघों के उद्देश्य तथा व्यवहार सम्बन्धी विभिन्नता के कारण कठिनाई अवश्य आती है। श्रम संघों के उद्देश्य आर्थिक है तो नीति सम्बन्धी विभिन्नता हो सकती है। श्रम संघ की नीति अपने सदस्यों की आय को अधिकतम करने की हो सकती है अथवा श्रम संघ मजदूरी की उस दर की मांग कर सकते हैं जो उसके सदस्यों की संख्या अधिकतम करें। इसी प्रकार श्रम संघ रोजगार की मात्रा की चिन्ता न करते हुये मजदूरी की दर को अधिकतम सम्भव स्तर तक बढ़ाने की चेष्टा कर सकते हैं अथवा मजदूरी तथा रोजगार की मात्रा के इष्टतम संयोग को प्राप्त करने की। श्रम संघों के ये वैकल्पिक उद्देश्य हैं जिनके कारण नियोजक के साथ सौदेकारी करने में उनका व्यवहार सम्बन्धी ढांचा भिन्न-भिन्न होता है।

16.4.1 फैलनर मॉडल

श्रम संघों के उद्देश्य व व्यवहार सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं पर आधारित द्विपक्षीय एकाधिकार (अथवा सामूहिक सौदाकारी) के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण के लिये अर्थशास्त्रियों ने पिछले कुछ दशकों में कई मॉडल (Models) प्रस्तुत किये हैं। इस सम्बन्ध में पहले हम विलियम फैलनर के दृष्टिकोण (Fellner's Approach) को लेते हैं, जिसकी व्याख्या उन्होंने 1949 में प्रकाशित अपनी पुस्तक Competition Among the Few में की है।

आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में प्रायः माना जाता है कि श्रम संघों का मजदूरी और रोजगार के बीच अधिमान फलन (Preference Function) होता है। ये अधिमान फलन एकाधिकारी श्रम संघ के श्रम-पूर्ति वक्र का स्थान लेते है। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन अधिमान फलनों अथवा इनसे सम्बन्धित तटस्थतवक्रों की आकृति क्या होगी। वास्तव में इन तटस्थता वक्रों की आकृति श्रम संघों के उद्देश्य सम्बन्धी मान्यताओं पर निर्भर

करती है। फैलनर (Fellner) के विचार से यदि यह मान्यता सही है कि श्रम संघ अधिकतम सम्भव मजदूरी दर को प्राप्त करना चाहते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं करते कि इसका प्रभाव रोजगार की मात्रा पर क्या होगा तो मजदूरी दर तथा रोजगार की मात्रा के बीच श्रम संघों के तटस्थता वक्रों की आकृति क्षितिज के समान्तर सरल रेखाओं की होगी, जैसे रेखा चित्र 15.8 में दिखाई है :—

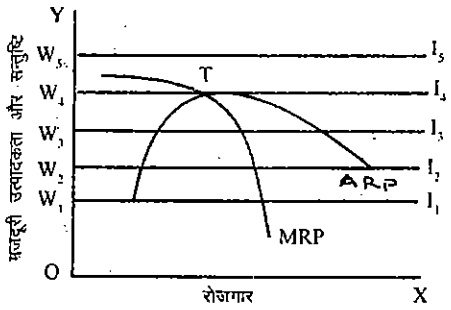

रेखा चित्र 15.8

रेखा चित्र 15.8 में Y अक्ष पर ऊपर बढ़ते तटस्थता वक्र (I_1, I_2, I_3, I_4, I_5) क्रमशः बढ़ती हुई मजदूरी (W_1, W_2, W_3, W_4, W_5) से प्राप्त सन्तुष्टि के स्तर को व्यक्त करते हैं। ऊपर की ओर जाते प्रत्येक दो तटस्थता वक्रों के बीच बढ़ती दूरी यह बताती है कि श्रम संघ की सन्तुष्टि में समान वृद्धि के लिये मजदूरी दर में उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि की आवश्यकता होती है। चित्र 15.8 में ARP औसत आय उत्पादकता व MRP सीमान्त आय उत्पादकता के वक्र हैं। शक्तिशाली श्रम संघ अपने सदस्यों के लिये ऊँची से ऊँची मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। "यदि श्रमिक संघ सामूहिक सौदाकारी की समस्त शक्ति रखता है अर्थात् जब वह स्वयं मजदूरी की दर निर्धारित करने की स्थिति में है तो वह सीधी रेखा के तटस्थत वंक्रों में उस मजदूरी रेखा का चयन करेगा जो औसत उत्पादकता वक्र को स्पर्श करती है" — (फैलनर) उपर्युक्त रेखाचित्र में यह OW^4 मजदूरी की दर है, जो ARP वक्र को T बिन्दु पर स्पर्श करती है। अतः श्रम संघ द्वारा मजदूरी की उच्चतम सीमा OW^4 निश्चित की जायगी। दी हुई स्थिति में यही मजदूरी की अधिकतम सम्भव सीमा है।

मजदूरी की निचली सीमा सेवायोजक द्वारा रखी जायेगी जो नियोजक की एक पक्षीय सौदाकारी शक्ति की मात्रा पर निर्भर करेगी। परन्तु यह निम्नतम दर श्रम संघ को "कम से कम सम्भव" मजदूरी के रूप में स्वीकृत होनी चाहिये अन्यथा श्रम संघ अपने सदस्यों को हड़ताल पर जाने को कहेगा। मजदूरी की ऐसी कोई निम्नतम दर चित्र 15.8 में किसी तटस्थता वक्र पर ही होगी। इसके अतिरिक्त नियोजक द्वारा निश्चित मजदूरी की निम्नतम दर व्यावसायिक दशाओं, वस्तु की मांग की लोच, श्रम व पूंजी में प्रतिस्थापना की सम्भावना, मजदूरी की प्रचलित दर तथा श्रमिकों के जीवन-निर्वाह व्यय आदि से भी प्रभावित होती है। मजदूरी की निम्नतम सीमा की धारणा यहाँ अस्पष्ट हैं।

इन दोनों सीमाओं के बीच मजदूरी दोनों पक्षों की सापेक्षिक सौदा-शक्ति पर निर्भर करेगी। यदि श्रम संघ शक्तिशाली है तो मजदूरी उच्चतम सीमा के निकट और यदि नियोजक के पास अधिक सौदा-शक्ति है तो मजदूरी निम्नतम सीमा के निकट होगी। अतः सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत वास्तविक मजदूरी की दर अनिर्धारणीय है।

15.4.2 फैलनर का वैकल्पिक मॉडल

उपर्युक्त विश्लेषण में यह मान्यता है कि श्रम संघ मजदूरी दर निर्धारण के विषय में निर्णय लेते समय उसके रोजगार की मात्रा पर पड़ने वाला प्रभाव का ध्यान नहीं लाते। परन्तु यह पूर्व धारणा इतनी वास्तविक नहीं है। अकेली फर्म के नियोजक से सौदाकारी करते समय श्रम संघ ऐसा दृष्टिकोण रख सकते हैं परन्तु उन्हें भी ऊँची मजदूरी की मांग के कारण बेरोजगार हुये अपने सदस्यों के विरोध का भय रहता है। सम्पूर्ण उद्योग से सम्बन्धित बड़े तथा केन्द्रीय श्रम संघ उद्योग के सेवा-योजकों के संगठन से सौदाकारी करते समय मजदूरी दर में वृद्धि के साथ रोजगार की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान रखते ही हैं, क्योंकि ऐसा हो सकता है कि श्रम संघ द्वारा निर्धारित ऊँची मजदूरी के कारण उद्योग की कुछ फर्में हानि की स्थिति में आने के कारण बन्द हो जाय और उनके मजदूर बेरोजगार हो जाय। ऐसी फर्मों के श्रम संघ केन्द्रीय संघ से अलग होकर स्वतंत्र समझौते अपनी फर्म के सेवायोजक से कर सकते है इससे श्रम संघ एकता में बाधा पड़ेगी। अतः एकता बनाये रखने की पहली आवश्यकता के कारण श्रम संघ मजदूरी दर तथा उस पर उपलब्ध रोजगार की मात्रा दोनों का ध्यान रखकर ही सामूहिक सौदेकारी करेंगे। वस्तुतः वे मजदूरी की दर तथा रोजगार की मात्रा का सर्वोतम संयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

ऐसी स्थिति में मज़दूरी दर तथा रोजगार की मात्रा में अधिमान फ्लन को प्रदर्शित करने वाले तटस्थत वक्र क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा नह होकर मूल बिन्दु की ओर उन्नत (Convex) होंगे, जैसा रेखा चित्र 15.9 में दिखाया गया है, जिसमें तटस्थत्र वक्र I_1; I_2, I_3, I_4 और I_5 क्रमशः उच्चतर सन्तुष्टि देने वाले मजदूरी और रोजगार की मात्रा के संयोगों को व्यक्त करते है। MRP सीमान्त आय उत्पादकता और ARP औसत आय उत्पादकता के आवश्यक वक्र हैं।

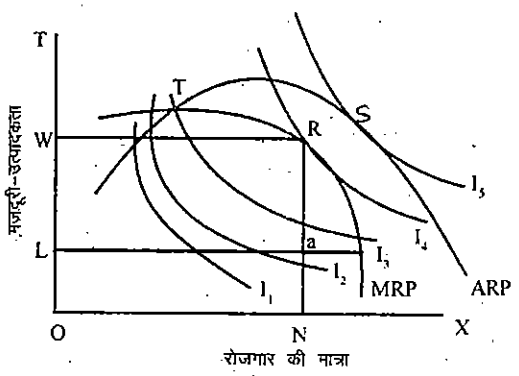

रेखा चित्र 15.9

उपर्युक्त रेखा चित्र से हम मजदूरी दर की उच्चतम व निम्नतम सीमा ज्ञात करेंगे। सामूहिक सौदाकारी में पहले मजदूरी दर का निर्णय होता है और इस प्रकार जो मजदूरी दर निश्चित होती है उस पर नियोजक रोजगार की मात्रा जितनी चाहे उपलब्ध करा सकता है। जैसा हम जानते हैं दी हुई मजदूरी दर पर नियोजक उतने ही श्रमिकों को रोजगार देगा जहाँ श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता उसको दी जाने वाली मजदूरी के बराबर हो जाय ऐसा करने से ही उसके लाभ अधिकतम होंगे। अतः जो भी मजदूरी-रोजगार का संयोग निर्धारित होगा वह श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता वक्र के किसी बिन्दु पर होगा। श्रम संघ को भी सीमान्त आय उत्पादकता वक्र पर स्थिति उस बिन्दु पर अधिकतम

सन्तुष्टि होगी जहाँ वह श्रम संघ के किसी तटस्थ वक्र को स्पर्श करता है। चित्र में यह बिन्दु R है जहाँ श्रम संघ का तटस्थ वक्र I_4 सीमान्त आय उत्पादकता वक्र को स्पर्ष करता है। स्पर्श बिंदु R के अनुसार मजदूरी दर OW है, जिस पर नियोजक रोजगार को ON मात्रा उपलब्ध करायेगा। अतः स्पर्ष बिन्दु R द्वारा व्यक्त मजदूरी उच्चतम सीमा है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि दिये हुए MRP वक्र पर स्थित R बिन्दु पर अधिकतम सन्तुष्टि तब ही सम्भव है, यदि यह बिन्दु ARP वक्र के नीचे स्थित हो। यदि ऐसा स्पर्श बिन्दु ARP वक्र के ऊपर है (जो तटस्थता वक्रों को कुछ भिन्न आकृति देने से सम्भव है) तो श्रम संघ के लिये अधिकतम सन्तुष्टि का बिन्दु ARP वक्र का उच्चतम बिन्दु होगा, जो चित्र में T बिन्दु है, और उस स्थिति में मजदूरी की उच्चतम सीमा T बिन्दु के अनुसार व्यक्त होगी।

यह बता देना भी यहाँ उपयुक्त होगा कि यदि कोई श्रम संघ अत्यधिक शक्तिशाली है और निर्णय करने की एक पक्षीय सौदा शक्ति रखता है तो वह मजदूरी और रोजगार के उस संयोग को प्राप्त करने में भी सफल हो सकता है जो उसके उच्चतर तटस्थता वक्र और औसत आय उतपादकता वक्र स्पर्श बिन्दु से व्यक्त हो - रेखा चित्र 15.9 में ऐसा बिन्दु S है।

अब मजदूरी दर की निम्नतम सीमा को लेते है, जो सेवायोजक द्वारा रखी जायेगी परन्तु श्रम संघ को "कम से कम" सम्भव मजदूरी के रूप में स्वीकृत होनी चाहिये। नियोजक का व्यवहार यहाँ MRP से ही निर्देशित होता है, उसके दृष्टिकोण से MRP वक्र पर स्पर्श बिन्दु R से जैसे-जैसे वह नीचे उतरता है, उसके लाभ की मात्रा बढ़ती जाती है। परन्तु श्रम संघ MRP वक्र पर जैसे-जैसे नीचे आता है वह निचले तटस्थत वक्रों पर आयेगा अर्थात् उसकी सन्तुष्टि का स्तर कम होता जायेगा। परन्तु श्रम संघ की सन्तुष्टि का एक ऐसा स्तर भी होगा जिसके नीचे वह कदापि नहीं जायेगा - मान लें रेखा चित्र 15.9 में I_2 तटस्थत वक्र संघ की निम्नतम सन्तुष्टि का स्तर है रेखा चित्र में I_2 तटस्थत वक्र MRP को Q बिन्दु पर काट रहा है अतः Q बिन्दु OL मजदूरी की दर और ON रोजगार की मात्रा का ऐसा संयोग है जो निम्नतम सीमा व्यक्त करता है।

अतः MRP वक्र का R बिन्दु उच्चतम सीमा और Q बिन्दु निम्नतम सीमा है। सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत इन दो सीमाओं के बीच मजदूरी का निर्धारण दोनों पक्षों की सापेक्षिक सौदाशक्ति पर निर्भर करेगा। अतः यहाँ भी वास्तविक मजदूरी अनिर्धारणीय है।

15.4.3 कार्टर मॉडल

द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण के मॉडल (Model) को प्रो. A.M. Cartter ने और अधिक विकसित तथा परिष्कृत किया है। 1959 में प्रकाशित अपनी पुस्तक Theory of Wages and Employment में उन्होंने अपने इस मॉडल की व्याख्या प्रस्तुत की है।

उपरोक्त वर्णित W. Fellner के मॉडल से इसमें दो महत्वपूर्ण सुधार है :-

1. फैलनर विश्लेषण में मजदूरी और रोजगार को एक दूसरे का स्थानापन्न (Sub-

stitutes) माना है परन्तु वर्तमान में प्रचलित मजदूरी दर और रोजगार के स्तर पर इनकी निर्भरता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जबकि कार्टर के दृष्टिकोण से मजदूरी और रोजगार किसी सीमा तक एक दूसरे के स्थानापन्न हो सकते हैं यह इस बात पर ही निर्भर करता है कि वर्तमान में प्रचिलत मजदूरी-रोजगार का स्तर क्या है। कार्टर की इस धारणा की आगे पूर्ण व्याख्या की गई है।

2. फॅलनर विश्लेषण में सेवायोजक का सारा व्यवहार सीमान्त आय उत्पादकता MRP के आधार पर ही ज्ञात करना होता है जबकि कार्टर ने स्पष्ट रूप से सेवायोजकों के व्यवहार के लिये भी मजदूरी रोजगार के विभिन्न संयोगों से सम्बन्धित "लाभ तटस्थत वक्रों" की रचना की है।

इस प्रकार कार्टर ने मजदूरी निर्धारण के द्विपक्षीय एकाधिकार के मॉडल का अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत विश्लेषण प्रस्तुत किया जो व्यावहारिक स्थिति के भी अधिक निकट है।

कार्टर के मतानुसार श्रम संघ मजदूरी और रोजगार को किसी सीमा तक एक दूसरे का प्रतिस्थापन मानते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि वर्तमान में उसे मजदूरी व रोजगार का क्या संयोग प्राप्त है। दूसरे शब्दों में यह मजदूरी रोजगार के प्रचलित संयोग पर ही निर्भर करेगा कि रोजगार की कुछ कमी के लिये मजदूरी में कितनी वृद्धि की जाय और मजदूरी में कुछ कमी के लिये रोजगार कितना बढ़ाया जाय जिससे श्रम संघ सन्तुष्टि के उसी स्तर पर रह सके। कार्टर के अनुसार "इस बात की ही अधिक सम्भावना है कि एक समय मजदूरी रोजगार का जो संयोग श्रम संघ को पहले से ही प्राप्त है उसमें रोजगार की कुछ कमी कमी क्षतिपूर्ति स्वरूप वह मजदूरी में पर्याप्त वृद्धि की मांग करेगा और मजदूरी में कुछ कमी की क्षतिपूर्ति स्वरूप वह रोजगार में पर्याप्त वृद्धि की मांग करेगा।" श्रम संघ का ऐसा व्यवहार इसलिये होता है क्योंकि अपने अस्तित्व की रक्षा करना ही उसका प्रमुख उद्देश्य है। यदि श्रम संघ वर्तमान में प्राप्त मजदूरी रोजगार स्तर में कमी स्वीकार करता है तो उसे अपने सह-कर्मियों को तीव्र विरोध का सामना करना होगा - इससे उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। इसलिए यह फिर भी सम्भव है कि रोजगार में थोड़ी सी कमी के लिये मजदूरी में बहुत अधिक वृद्धि करके उसे इस बात के लिये तैयार किया जा सके। इसी प्रकार मजदूरी में थोड़ी सी कमी के लिये रोजगार में पर्याप्त वृद्धि देकर ही क्षतिपूर्ति की जा सकती है। यदि ऐसा है तो श्रम संघ के अधिमान फलन अथवा तटस्थत वक्र की आकृति बहुत कुछ ऐसी होगी, जैसी रेखा चित्र 15.10 में दिखाई गई है :—

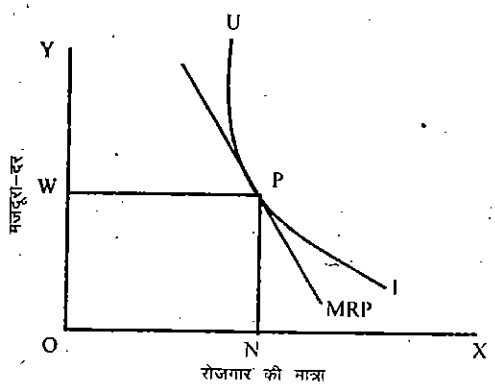

रेखा चित्र 15.10

रेखा चित्र 15.10 में MRP वक्र पर स्थित P बिन्दु संघ को वर्तमान में प्राप्त मजदूरी रोजगार का संयोग प्रदर्शित करता है। श्रम संघ के तटस्थता वक्र की आकृति से स्पष्ट है कि रोजगार की थोड़ी सी कमी के लिये मजदूरी में बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी और मजदूरी में थोड़ी सी कमी के लिये रोजगार में बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी। इस तटस्थता वक्र का आकृति पूरक वस्तुओं के तटस्थतावक्र से मिलती है, परन्तु उनकी तरह सम-कोणीय (right-angled) नहीं है - कारण संघ के लिये मजदूरी व रोजगार पूर्ण रूप से पूरक नहीं है। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि संघ को एक वस्तु की कुछ मात्रा छोड़ने के लिये तैयार किया जा सकता है परन्तु इस त्याग की कीमत के रूप में दूसरी वस्तु की बहुत अधिक मात्रा देनी होगी।

एक युक्तिसंगत प्रश्न अब यह उठता है कि श्रम की मांग में वृद्धि अथवा कमी होने पर श्रम संघ की क्या प्रतिक्रिया होगी। कई श्रम अर्थशास्त्रियों का मानना है कि इस प्रतिक्रिया स्वरूप श्रमसंघों के व्यवहार में सामंजस्य नहीं पाया जाता। श्रम की मांग में वृद्धि होने पर श्रम संघ रोजगार से अधिक मजदूरी वृद्धि को वरीयता देते हैं, अर्थात् श्रम की मांग में वृद्धि से होने वाले लाभ को श्रम संघ अपेक्षाकृत ऊँची मजदूरी के रूप में लेने का प्रयत्न करेंगे न कि रोजगार की वृद्धि के रूप में। इसके विपरीत यदि श्रम की मांग में कमी हो जाय तो श्रम संघ मजदूरी में कमी का कड़ा प्रतिरोध करेंगे, चाहे इसका प्रभाव रोजगार की स्थिति पर विपरीत ही क्यों न हो। श्रम संघ के ऐसे व्यवहार को आगे रेखा चित्र 15.11 से पूर्णतया स्पष्ट किया जा सकता है।

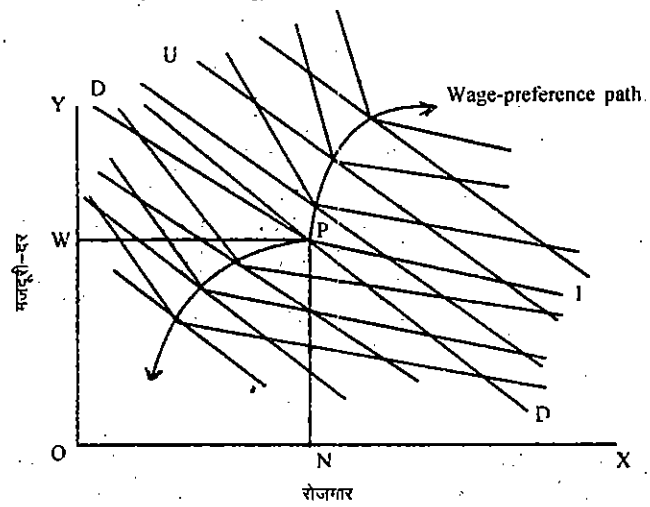

रेखा चित्र 15.11

रेखा चित्र सं. 15.11 में DD श्रम की मांग का वर्तमान स्तर है तथा UI श्रम संघ का तटस्थतावक्र है जो स्पर्ष बिन्दु P पर श्रम संघ को वर्तमान में प्राप्त मजदूरी-रोजगार का संयोग-प्रदर्शित करता है।

UI तटस्थता वक्र की आकृति के अनुरूप सन्तुष्टि के विभिन्न स्तर के अन्य तटस्थतावक्र UI के ऊपर व नीचे बनाकर श्रम संघ का तटस्थता मानचित्र (Indifference Map) तैयार किया गया है। इस तटस्थता मानचित्र के साथ जब हम श्रम की मांग में वृद्धि व कमी के अन्य श्रम मांग वक्र खींच देते हैं तब इन विभिन्न श्रम मांग वक्रों व तटस्थतावक्रों के स्पर्श बिन्दुओं को मिलाकर हमें एक नया वक्र-मजदूरी अधिमान पथ अर्थात् Wage Preference Path प्राप्त होता है। श्रम की मांग में वृद्धि या कमी होने पर श्रम संघ इसी "पथ" (Wage Preference Path) का अनुसरण करेंगे। इस वक्र

की एक महत्वपूर्ण विशेषता दिखाई देती है कि यह वर्तमान में प्राप्त मजदूरी-रोजगार संयोग बिन्दु P पर विंकुचित (Kinked) है जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि श्रम की मांग के वर्तमान स्तर में ऊपर और नीचे मजदूरी व रोजगार की वरीयता (Preference) में तीव्र अन्तर है। कार्टर के अनुसार विकुंचित मजदूरी अधिमान पथ (Kinked Wage Preference Path) जैसा चित्र में दिखागया गया है बताता है कि "श्रम की मांग वृद्धि के अवसर को श्रमसंघ मजदूरी में वृद्धि के लिए प्रमुख रूप से प्रयोग करेंगे, रोजगार वृद्धि तब ही स्वीकार की जायेगी जब श्रम की मांग में पर्याप्त वृद्धि हो। इसी तरह श्रम की मांग में कमी के कारण होने वाली मजदूरी में कटौती का प्रतिरोध किया जायेगा जब तक श्रम की मांग में कमी अत्याधिक ही न हों।

यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिये कि श्रम संघ के इस "मजदूरी अधिमान पथ" का प्रयोग श्रम-पूर्ति वक्र के रूप में किया जाता है।

ऊपर हमने Prof. A.M. Cartter विश्लेषण के अनुसार श्रम संघ के अधिमान फलन की पूर्ण व्यवस्था प्रस्तुत की है। कार्टर का मानना है कि सेवायोजक के अधिमान फलन का अध्ययन भी आवश्यक है जिससे सामूहिक समझौते के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया की सूक्ष्मता को भलीभांति समझा जा सके।

सेवायोजक के अधिमान फ्लन को प्रदर्शित करने वाले तटस्थता वक्रों की परिकल्पना कार्टर ने लाभ तटस्थतावक्रों के रूप में की है। मान्यता यह है कि सेवायोजक का आर्थिक उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है अतः सेवायोजक की सन्तुष्टि प्रत्यक्ष रूप से लाभ की उस मात्रा पर निर्भर है जो विभिन्न मजदूरी सम्बन्धी समझौतों के अन्तर्गत वह अर्जित कर सकता है। मजदूरी रोजगार के विभिन्न संयोगों से सोवायोजक को प्राप्त लाभ की स्थिति दर्शाने के लिये कार्टर ने श्रम की औसत विशुद्ध आगम उत्पादकता (ANRP) की धारणा का प्रयोग किया है।

जैसा हम जानते हैं श्रम की औसत आगत उत्पत्ति अथवा औसत सकल आगम उत्पत्ति (AGRP) में से अन्य साधनों का औसत प्रतिफल निकाल देने से यह श्रम की औसत विशुद्ध आगम उत्पत्ति (ANRP) बन जाती है - मान्यता यह है कि हमें साहसी सहित अन्य सहयोगी साधनों के समग्र प्रतिफल को स्वतन्त्र रूप से जानकारी होती है कार्टर ने (ANRP) की जिस धारणा का प्रयोग लाभ तटस्थतावक्र के लिये किया है, उसे ज्ञात करने के लिये हमें श्रम की औसत आगम उत्पादकता (ANRP) में सह साहसी के अलावा वस्तु के उत्पादन में श्रम के साथ प्रयुक्त अन्य साधनों का ही औसत प्रतिफल घटाना होगा। अब यदि श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी इस ANRP के बराबर है तो सेवायोजक का लाभ शून्य होगा। इस तरह यह ANRP के बराबर है तो सेवायोजक का लाभ शून्य होगा। इस तरह यह ANRP वक्र मजदूरी दर व रोजगार के स्तर के वे सब संयोग प्रदर्शित करता है जिन पर सेवायोजक का लाभ शून्य है। आगे चित्र-15.12 में इसे ANRP वक्र I कहा गया है, यह मजदूरी-रोजगार के वे सब संयोग प्रदर्शित करता है जिनमें सेवायोजक का लाभ शून्य है। अब यदि हम कुल आगम उत्पत्ति (TRP) में से न केवल श्रम के साथ प्रयुक्त अन्य साधनों का प्रतिफल बल्कि सेवायोजक को मिलने वाले लाभ का एक निश्चित दी हुई मात्रा कम कर दें, तब इससे श्रम को जो ANRP प्राप्त होगा वह सेवायोजक के लिये दी हुई लाभ की मात्रा के साथ मजदूरी और रोजगार के विभिन संयोग प्रदर्शित करने वाला दूसरा तटस्थतावक्र होगा, जिसकी स्थिति पहले तटस्थतावक्र से - जो शून्य लाभ की स्थिति दिखाता है - नीचे होगी। यह

दूसरा तटस्थतावक्र सेवायोजक के लिये शून्य से अधिक (धनात्मक) लाभ दिखाता है। तटस्थतावक्र I व II के बीचे दूरी आरम्भ में अधिक होकर धीरे-धीरे कम होती गई है कारण दूसरे तटस्थतावक्र के लिये हमने सेवायोजक के लाभ की एक निश्चित (Fixed) मात्रा ली है जो नियुक्त किये गये श्रमिकों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ प्रति इकाई पर शनैः शनेः कम होती जायेगी।

हम कुल उत्पादित आय (TRP) में से सेवायोजक को मिलने वाले लाभ की विभिन्न निश्चित (Fixed) मात्रायें कम करते हुये विभिन्न स्तर के श्रम के औसत विशुद्ध आगम उत्पति वक्र (ANRP) प्राप्त कर सकते है। सेवायोजक के लाभ की जितनी अधिक मात्रा हम कुल उत्पादित आय में से कम करते जायेंगे श्रम की औसत विशुद्ध आगम उत्पति वक्र (ANRP) उतना ही नीचा होता जायेगा अर्थात लाभ की जितनी मात्रा अधिक होगी ANRP वक्र उतना ही नीचा होता जायेगा। चूंकि एक ANRP वक्र मजदूरी-रोजगार के अनेक सम्भव सोग प्रदर्शित करता है जो लाभ की एक समान मात्रा प्रदान करते हैं उसे सेवायोजक का लाभ तटस्थतावक्र (Profit Indifference Curve) कहा जाता है। ऐसे कई वक्रों को चित्र में एक-साथ दिखाकर तटस्थावक्रों का मानचित्र (Preference Map) बनाया जा सकता है - जैसा रेखा चित्र 15.12 में दिखाया गया है। यहाँ MRP वक्र (श्रम की सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र) जो श्रम का मांग वक्र है, ANRP वक्रों को उनके उच्चतम बिन्दुओं को काटता हुआ निकलता है। सेवायोजक के लिये MRP का विशेष महत्व है क्योंकि दी हुई मजदूरी पर वह अपने निर्णय (रोजगार संबंधी) MRP के आधार पर ही करेगा जिससे उसका लाभ अधिकत्तम हो सके।

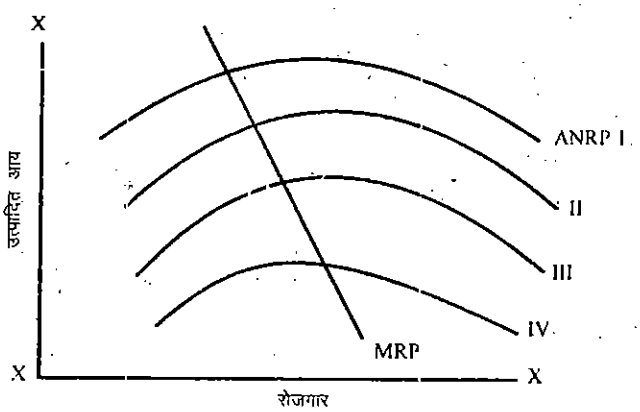

रेखा चित्र 15.12

कार्टर मॉडल के अनुसार सामूहिक समझौते अथवा द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति में मजदूरी निर्धारण :-

अब श्रम संघ व सेवायोजक के तटस्थता वक्रों के मानचित्रों (Prefrence Maps) को मिलाकर मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया स्पष्ट की जा सकती है। इस सम्बन्ध में कार्टर ने दो मान्यताओं का उल्लेख किया है :-

1) दोनों पक्ष एक दूसरे के अधिमान वक्रों के मानचित्र की पूरी जानकारी रखते हैं।

2) दोनों पक्ष समस्या का हल निकाल कर समझौता करने को उत्सुक है।

कार्टर ने इन्हें पूर्ण सौदेकारी की शर्तें 'Perfect Bargaining Conditions' कहा है। आगे मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया का अध्ययन श्रम की मांग की विभिन्न स्थितियों में किया गया है, जैसे जब श्रम की मांग स्थिर है जब श्रम की मांग में वृद्धि अथवा कमी होती है।

स्थिर माग की स्थिति का अर्थ है कि वर्तमान समझोते के समय श्रम की मांग वही है जो पिछले समझोते के समय थी। स्थिर मांग की स्थिति में मजदूरी निर्धारण प्रक्रिया रेखा चित्र 15.13 से स्पष्ट की गई है :-

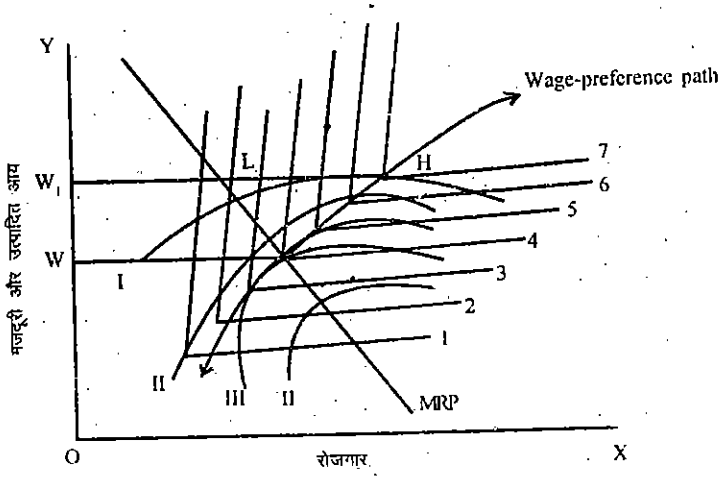

रेखा चित्र 15.13

रेखा चित्र 15.13 में MRP वक्र पर P सन्तुलन बिन्दु है जो वर्तमान में प्रचलित मजदूरी-रोजगार के संयोग को प्रदर्शित करता है। सेवायोजक का 'लाभ-तटस्थतावक्र' III और श्रम संघ का तटस्थतावक्र-4 भी e से गुजरते हैं सेवायोजक अपने लाभ में वृद्धि के लिये MRP वक्र पर नीचे जाना चाहेगा, परन्तु मांग स्थिर है व उसके लाभ में कोइ कमी नहीं हुई है अतः मजदूरी कम करने का जोखम वह नहीं लेगा। दूसरी और श्रमसंघ को P से MRP पर ऊपर अथवा नीचे जाने में कोई लाभ नहीं है क्योंकि इससे वह निचले तटस्थता वक्रों पर होगा जो संघ के लिये कम सन्तुष्टि वाले हैं। अतः दोनों पक्षों की ओर से यथास्थिति रखने पर ही समझौता होगा। श्रम संघ के लिये "मजदूरी अधिमान पथ" पर ऊपर H बिन्दु पर लाभ की स्थिति प्रतीत होती है क्योंकि इस पर मजदूरी (OW^1) हो जायेगी परन्तु रोजगार घट कर W^4 स्तर पर आ जायेगा, कारण L बिन्दु श्रम संघ के निचले तटस्थतावक्र पर है, इससे श्रम संघ की स्थिति P की स्थिति से कम सन्तुष्टि की होगी अतः दोनों पक्ष वर्तमान स्थिति पर ही समझौता करने को अधिक उत्सुक होंगे।

श्रम की मांग बढ़ने की स्थिति में मजदूरी निर्धारण एक जटिल समस्या है - वैसे वास्तविक स्थित इससे मिलती हुई होती है। जब आर्थिक विकास और सम्बन्धित कारणों से श्रम की मांग बढ़ती है तो व्यवसाय में लाभ बढ़ता है। इस बढ़े हुय लाभ में श्रमिक और सेवायोजक अपना-अपना भाग लेना चाहेंगे अतः नये समझौते के लिये सौदेबाजी होगी। इस समझौते की प्रक्रिया रेखा चित्र 15.14 से स्पष्ट की गई है :—

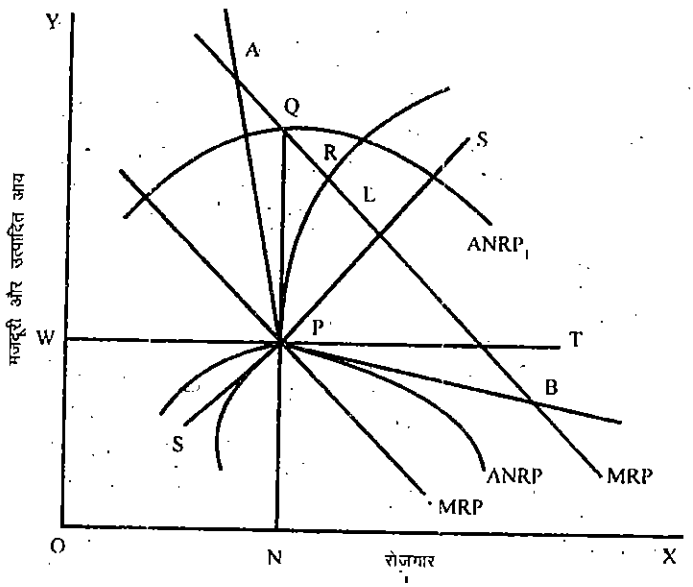

रेखा चित्र 15.14

रेखा चित्र 15.14 में MRP पर P बिन्दु वर्तमान स्थिति दिखाता है, जहाँ से सेवायोजक का लाभ तटस्थतावक्र (ANRP) तथा श्रम संघ का अधिमान वक्र UI गुजरता है। अब यदि श्रम की मांग बढ़ने से नया MRP^1 वक्र ऊपर की ओर बढ़ जाता है जब नया समझौता किन शर्तो पर होगा यह विचार हम इस मान्यता से आरम्भ कर सकते हैं कि जो भी नया समझौता होगा उससे दोनों पक्षों की स्थिति कम से कम उतनी अच्छी तो रहेगी ही जितनी वर्तमान सौदे के अन्तर्गत है। श्रम संघ का अधिमान वक्र UI नये MRP^1 वक्र को ऊपर A बिन्दु व नीचे B बिन्दु पर काट रहा हैं, अतः संघ के दृष्टिकोण से नई मजदूरी दर कम से कम A अथवा B बिन्दु पर अथवा AB के बीच MRP^1 पर कहीं होनी चाहिये। फिर संघ उस ऊँची मजदूरी लेने के लिये प्रयत्नशील होगा जो उसके मजदूरी अधिमान पथ (Wage Preference Path) पर R बिन्दु से व्यक्त होती है, नया MRP^1 वक्र संघ के "मजदूरी अधिमान पथ" को R बिन्दु पर काट रहा है। अतः नई मजदूरी दर R के जितने पास होगी संघ की स्थिति उतनी ही अच्छी होगी। सेवायोजको के दृष्टिकोण से यदि श्रम की मांग उसी लोच के साथ ऊपर बढ़ जाती है तो उतना ही लाभ जो वह P बिन्दु पर प्राप्त कर रहा है नये बिन्दु Q पर प्राप्त करेगा जहाँ उसका नया लाभ तटस्थतावक्र ($ANRP^1$) ऊपर की ओर नये MRP^1 को ठीक P के ऊपर काटता है। अतः सेवायोजका के दृष्टिकोण से मजदूरी दर का नया समझौता या तो Q पर अथवा Q से नीचे नये MRP^1 वक्र पर दांयी ओर होना चाहिये। MRP^1 पर नीचे आने से सेवायोजक अधिक लाभ देने वाले ANRP पर होगा। मजदूरी दर के नये समझौते की सीमायें (Range) निश्चित करते समय एक और बात ध्यान में रखी जानी चाहिये (श्रम की मांग वृद्धि की स्थिति में) कि मजदूरी की नई दर किसी भी स्थिति में प्रचलित मजदूरी दर से कम नहीं होगी। यहाँ प्रचलित मजदूरी दर OW है और इससे सम्बन्धित बिन्दु नये MRP^1 पर T है, अतः नई मजदूरी दर का T बिन्दु से नीचे जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। T बिन्दु पर सेवायोजक का लाभ अधिकतम होगा।

इस प्रकार R और T वे दो बिन्दु है जिनके बीच श्रम संघ व सेवायोजक के अधिमानों में विरोध है, सेवायोजक नीचे T बिन्दु पर उतरना चाहेगा जबकि संघ का प्रयत्न ऊपर R बिन्दु पर जाने का होगा। इस प्रकार नया समझौता R और T बिन्दुओं के बीच कहीं होगा। यदि यह समझौता R से अधिक निकट होता है तो संघ अच्छी स्थिति में होगा और यदि समझौता T के निकट है तो सापेक्ष रूप से सेवायोजक की स्थिति लाभ की होगी। वास्तविक स्थिति दोनों पक्षों की सापेक्षिक सौदाकारी की शक्ति पर निर्भर करेगी। आर्थिक सिद्धान्त नहीं बता सकता कि R और T के बीच में वास्तविक समझौता किस बिन्दु पर होगा। अतः सिद्धान्त के दृष्टिकोण से मजदूरी R और T बिन्दुओं के बीच अनिर्धारणीय (Indeterminate) है।

ऊपर के विश्लेषण में श्रम बाजार में सामान्य श्रमपूर्ति का प्रभाव यदि शामिल किया जाय तो श्रमपूर्ति वक्र SS नये MRP^1 को P के ऊपर L बिन्दु पर काटता है। इसका अर्थ है कि श्रम बाजार की स्थिति के अनुसार सेवायोजक L बिन्दु से व्यक्त मजदूरी रोजगार संयोग से कम किसी मजदूरी रोजगार के संयोग पर समझौता नहीं कर सकता। अतः अब समझौते के लिये दोनों सीमायें RT से कम होकर RL से कम होकर RL हो जायेंगी — इसके प्रभाव से समझौता शीघ्र व शान्तिपूर्ण हो सकेगा।

श्रम की मांग में कमी की स्थिति तुलनात्मक रूप से अधिक सामान्य नहीं है। उद्योगों में मांग की कमी तथा मन्दी की स्थिति के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। श्रम की मांग में कमी के कारण सौदाकारी के लिये सीमायें क्या होगी इसे रेखा चित्र 15.15 से स्पष्ट किया गया है :-

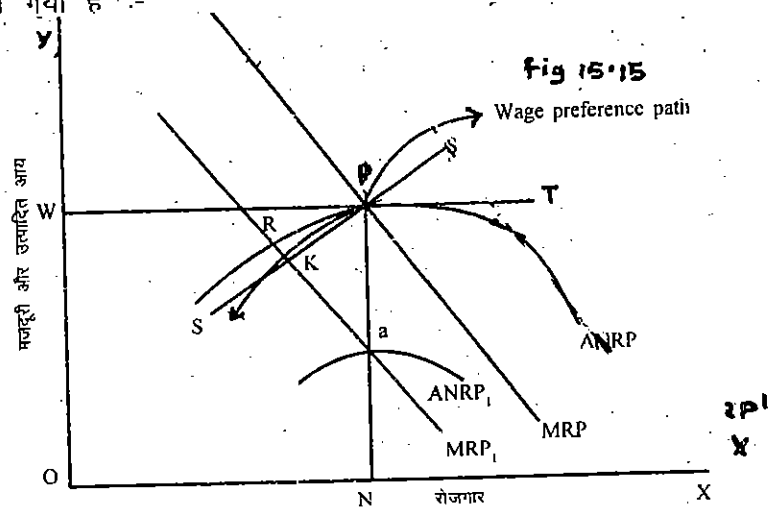

श्रम की मांग कम होने से नया MRP^1 वक्र MRP से नीचे आ जायेगा और सेवायोजक को उतना ही लाभ देने वाला नया $ANRP^1$ ठीक P के नीचे नये MRP^1 को Q पर काटेगा। Q से व्यक्त मजदूरी से अधिक मजदूरी यदि सेवायोजक को देनी पड़े अर्थात् Q से ऊपर बांयी ओर तो उसकी स्थिति अपेक्षाकृत बुरी होगी। संघ के लिये नये MRP^1 पर प्रत्येक बिन्दु उसे नीचे के तटस्थतावक्र पर ले अयेगा, अतः हर स्थिति में उसका सन्तोष का स्तर कम होगा। संघ के लिये कम से कम बुरी स्थिति R पर होगी जहाँ उसका Wage Prefrence Path नये MRP^1 को काटता है। इसका अर्थ यही निकलता है कि R और Q वे सीमायें हैं जिनके बीच नया समझोता होगा। वैसे R और Q के बीच दोनों ही पक्षों की स्थिति पहले से बुरी है परन्तु श्रम की मांग में कमी के कारण जो हानि हुई है, उसे दोनों पक्षों को मिलकर बॉटना होगा।

यदि श्रम बाजार में सामान्य रूप से श्रम की मांग कम हो गई है तो उसका कोई प्रभाव इस समझौते पर हीं होगा। यदि श्रम की मांग में कमी उद्योग विशेष से सम्बन्धित है तो श्रम बाजार की दशायें समझौते की निम्नतम सीमा को प्रभावित करेंगी। चित्र में सामान्य श्रमपूर्ति वक्र SS नये MRP^1 वक्र को K बिन्दु पर काटता है, अतः K से नीचे कोई भी मजदूरी-रोजगार संयोग समझौते की निम्न सीमा नहीं हो सकती। अब निम्न सीमा K बिन्दु पर होगी। अतः यहाँ भी सौदाकारी के लिये सीमायें (Range) RQ से घट कर RK रह गई है। वास्तविक मजदूरी इनके बीच अनिर्धारणीय है।

द्विपक्षीय एकाधिकार के इन सभी Models (मॉडल) में बुनियादी तथ्य यह है कि श्रम संघ व सेवायोजको द्वारा निर्धारित उच्चतम व निम्नतम बिन्दुओं की दो सीमाओं के बीच आर्थिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से मजदूरी अनिर्धारणीय होती है। वास्तविक मजदूरी कहाँ निर्धारित होगी यह दोनों पक्षों की सापेक्षिक सौदाकारी शक्ति पर निर्भर करता हैं। सेवायोजक का उद्देश्य केवल लाभ कमाना है, जबकि श्रम संघ मजदूरी दर में वृद्धि के साथ कुल रोजगार, कार्य की दशायें, सामाजिक सुरक्षा, कार्य के घंटे आदि सभी को उन्नत करने का उद्देश्य रखते हैं। सभी उद्देश्यों को सम्मिलित करने वाले मजदूरी निर्धारण के मॉडल और जटिल होते जायेंगे।

बोध प्रश्न - 3

प्रश्न-1 द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति का क्या अर्थ है? सामूहिक सौदाकारी को द्विपक्षीय एकाधिकार क्यों कहा है?

प्रश्न-2 द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत उच्चतम व निम्नतम सीमा दो सीमाओं का अर्थ व महत्व बताइये।

प्रश्न-3 श्रम संघों के वैकल्पिक उद्देश्य बताइये। द्विपक्षीय एकाधिकार में मजदूरी निर्धारण के मॉडल पर इनका क्या प्रभाव पड़ा है?

प्रश्न-4 मजदूरी रोजगार अभियान फ्लनों के तटस्थता वक्र क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा की आकृति के कब होंगे तथा इनसे श्रम संघ मजदूरी की उच्चतम सीमा कैसे नि र्धारित करेंगे - चित्र की सहायता से समझाइये।

प्रश्न-5 व्यवहार में श्रम संघ ऊँची मजदूरी के साथ रोजगार के स्तर का ध्यान भी रखते हैं — क्यों?

प्रश्न-6 फैलनर के वैकल्पिक दृष्टिकोण में मजदूरी-रोजगार फ्लनों के तटस्थता वक्र किसी आकृति के होंगे? यहाँ मजदूरी की उच्चतम सीमा कैसे निश्चित की जाती है?

प्रश्न-7 फैलनर के वैकल्पिक दृष्टिकोण में मजदूरी की निम्नतम सीमा कैसे निश्चित होगी?

प्रश्न-8 प्रो. कार्टर ने फैलनर मॉडल में क्या सुधार किये हैं?

प्रश्न-9 कार्टर मॉडल में श्रम संघ मजदूरी-रोजगार अधिमान फ्लन के तटस्थता वक्र क्या आकृति लेंगे - कारण सहित समझाइये।

प्रश्न-10 "मजदूरी अधिमान पथ" की आकृति व महत्व बताइये।

प्रश्न-11 कार्टर के मॉडल में सेवायोजक के लिये लाभ तटस्थता वक्र किस आधार पर बनाये गये हैं व कैसे?

प्रश्न-12 कार्टर-मॉडल में श्रम की स्थिर मांग की स्थिति में मजदूरी निर्धारण के लिये समझौते की क्या प्रक्रिया होगी?

प्रश्न-13 श्रम की मांग वृद्धि की स्थिति में नया समझौता करनें की आवश्यकता क्यों होती है? कार्टर मॉडल में यहाँ समझौते के उच्चतम व निम्नतम बिन्दु क्या होंगे - चित्र की सहायता से बताइये।

प्रश्न-14 श्रम की मांग में कमी के कारण - कार्टर मॉडल के अनुसार-सौदाकारी की नई सीमायें क्या होंगी?

15.5 सारांश

मजदूरी निर्धारण आर्थिक विश्लेषण की महत्वपूर्ण समस्या है, मजदूरी श्रम की कीमत के रूप में अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है जैसे समाज में आय का वितरण, उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न क्षेत्रों में आंवटन, कीमत स्तर व रोजगार की मात्रा आदि। श्रमसंघों के दृष्टिकोण से मजदूरी उनके उस श्रम का पुरस्कार है जो वे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिये करते है अतः यह पुरस्कार उन्हें ठीक मात्रा में ठीक ढंग से उनके अधिकार के रूप में दिया जाना चाहिये। मजदूरी की यह ठीक मात्रा क्या है यह ज्ञात करने के लिये हमें श्रम बाजार की विभिन्न स्थितियों - जैसे पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता तथा द्विपक्षीय प्रतियोगिता तथा द्विपक्षीय एकाधिकार - में मजदूरी निर्धारण के सैद्धान्तिक व व्यवहारिक पहलू का अध्ययन करना होगा।

विस्तृत अर्थ में मजदूरी श्रम की सेवा के लिये दिया गया मूल्य है अर्थात उन सभी श्रमिकों का पुरस्कार मजदूरी कहलाता है जो स्वयं नियोजित हो या दूसरे के द्वारा नियोजित हो - इस अर्थ में समाज का बड़ा भाग इस वर्ग में सम्मिलित हो जाता है, अतः मजदूरी निर्धारण की समस्या का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी अपने समय की परिस्थिति के अनुसार मजदूरी निर्धारण की समस्या पर विचार किया। इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो तथा काल-मार्क्स आदि के विचार महत्वपूर्ण रहे, उनसे मजदूरी का रहन-सहन के स्तर का सिद्धान्त विकसित हुआ। 19वीं शताब्दी के अन्त में क्लार्क, जैवन्स, वालरस व हिक्स आदि के प्रयत्नों से विकसित मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त एक क्रान्तिकारी मोड़ सिद्ध हुआ जिसने पहली बार "श्रम की मांग" का पक्ष प्रस्तुत किया। आगे चलकर मार्शल ने श्रम की मांग पक्ष के साथ पूर्ति पक्ष जोड़ कर मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जो वास्तव में कीमत निर्धारण के मांग व पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त का ही एक विशिष्ट रूप है।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में किसी प्रकार का एकाधिकारी तत्व नहीं पाया जाता। अनेक उत्पादक/फर्में व अनेक असंगठित श्रमिक स्वतंत्र रूप से, सौदाकारी करते हैं। ऐसी स्थिति में मजदूरी निर्धारण के लिये पहले हम श्रम की मांग व पूर्ति का विशेष अध्ययन करना होगा चूंकि श्रम एक वस्तु नहीं है — मानवीय तत्व के कारण इसकी मांग व पूर्ति की अपनी जटिलतायें हैं।

श्रम की मांग को निर्धारित करने वाले तत्वों में एक उन वस्तुओं की मांग की लोच है जिन्हें श्रम उत्पादित करता है (इसलिये श्रम की मांग को व्युत्पन्न मांग कहा जाता

है (इसलिये श्रम की मांग को व्युत्पन्न मांग कहा जाता है) दूसरे श्रम के अन्य सहयोगी साधनों जैसे पूंजी की कीमत है जिनसे श्रम की प्रतिस्थापना सम्भव हो। तीसरे तकनीकी तत्व हैं जो उत्पादन कार्य में श्रम की इकाइयों का अन्य साधनों के साथ अनुपात निश्चित करते है। अन्त में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व श्रम की सीमान्त उत्पादकता है। दी हुई मजदूरी दर पर उतने ही श्रमिक नियुक्त किये जाते हैं जहाँ मजदूरी सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) के बराबर हो जाती है। उत्पत्ति ह्रास नियम के प्रभाव से काम पर लगाये श्रमिकों की संख्या बढ़ाने के साथ MRP कम होती जाती है। अतः MRP वक्र ऊपर बाँयें से दाहिने ओर नीचे गिरता है। वास्तव में यही फर्म/उत्पादक के लिये श्रम का मांग वक्र है जो श्रम की मांग व मजदूरी का विपरीत सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। सभी फर्मों के MRP वक्रों के किनारे के योग द्वारा उद्योग के लिये श्रम का मांग वक्र निकाला जाता है, जो मजदूरी निर्धारण के लिये अधिक महत्वपूर्ण है। उद्योग मांग वक्र का ढाल MRP वक्र के समान बांये से दांये नीचे की ओर है, जिसका अर्थ हैं मजदूरी नीचे होने पर ही अधिक श्रमिक नियुक्त किये जाते हैं, ऊँची मजदूरी पर श्रमिकों की मांग कम होती है।

श्रम पूर्ति का अर्थ मजदूरी की विभिन्न दरों पर कार्य के लिये उपलब्ध श्रमिकों की संख्या से है। उद्योग के लिये श्रम पूर्ति वक्र बांये से दांये ऊपर की ओर उठता हुआ होगा अर्थात् ऊँची मजदूरी पर अधिक व नीची मजदूरी पर कम श्रम पूर्ति होगी। फिर भी श्रमपूर्ति का पूर्वानुमान लगाना इतना सरल नहीं हैं, कारण इसे शासित करने वाले तत्व आर्थिक व गैर आर्थिक दोनों होते हैं। ऊँची मजदूरी पर कार्य-अवकाश का अनुपात भी श्रमपूर्ति को प्रभावित करता है जिससे श्रम पूर्ति वक्र पीछे की ओर मुड़ता हो सकता है अर्थात् एक सीमा के पश्चात् मजदूरी बढ़ने पर ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण श्रम कम घण्टे या सप्ताह/मास में कम दिन काम करना पसन्द करेंगे।

विपरीत दिशा में जाने वाले मांग और पूर्ति वक्र जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटते है, मजदूरी की दर वहाँ निर्धारित होती है, जो संतुलन मजदूरी दर है, इससे भिन्न नहीं हो सकती है। उद्योग द्वारा निर्धारित मजदूरी फर्म द्वारा स्वीकार कर ली जाती है, इसलिए फर्म के लिय श्रमपूर्ति इस दर पर पूर्णतया लोचदार होती है। फर्म को यह निर्णय करना होता है कि इस दर पर कितने श्रमिक रखे, इसका निर्णय MRP वक्र से किया जाता है, जहां MRP = MW (सीमान्त मजदूरी) वहीं फर्म का संतुलन होता है। अल्पकाल में इस स्थित में फर्म को लाभ, हानि अथवा सामान्य लाभ प्राप्त हो सकता है, इसकी जानकारी हमें फर्म की औसत आय उत्पादकता व औसत मजदूरी (MRP=MW) की तुलना करके प्राप्त होती है। दीर्घकाल में फर्म केवल सामान्य लाभ कमा सकती है अर्थात ARP-AW ..... होनी चाहिये। अतः फर्म के दीर्घकालीन संतुलन का अर्थ है MRP-MW = ARP-AW

पूर्ण प्रतियोगिता की धारणा व्यवहारिक नहीं है। अधिकार पूर्ण नहीं बिल्क अपूर्ण प्रतियोगिता वाले श्रम बाजार पाये जाते हैं — अपूर्ण श्रम बाजार विभिन्न प्रकार के हो सकते है — (1) एक विक्रेता के साथ अनेक क्रेता की स्थिति में श्रम संघ के नियन्त्रण में समस्त श्रमपूर्ति होती है। अतः श्रम संघ ऊँची मजदूरी निश्चित करा सकते है, परन्तु इससे बहुधा रोजगार की मात्रा कम होने का भय रहता है। (2) श्रम का एक क्रेता और अनेक विक्रेता हो सकते हैं - इस स्थिति में रम का एक अकेला क्रेता एक बड़ी फर्म या कुछ फर्में आपस में मिलकर क्रेता - एकाधिकारी का रूप धारण कर लेती हैं और

काफी सीमा तक मजदूरी को प्रभावित करने की शक्ति रखती हैं। इसके विपरीत श्रमिक असंगठित होते हैं। और मजदूरी पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। साथ ही श्रमिकों में अगतिशीलता पाई जाती है, ऊँची मजदूरी मिलने पर भी वे दूसरे स्थान/उद्योगों में नहीं जाते। श्रमिकों के असंगठित और अगतिशील होने के कारण ही क्रेता-एकाधिकारी मजदूरी को प्रभावित करने की शक्ति रखता है।

क्रेता-एकाधिकारी यदि अपनी वस्तु पूर्ण-प्रतियोगिता वाले बाजार में बेचता है तो उसका MRP और VMP वक्र एक ही होता है। पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म से विपरीत क्रेता एकाधिकारी के लिये श्रम पूर्ति वक्र ऊपर की ओर चढ़ता होता है अर्थात अधिक श्रमिक लगाने के लिये उसे ऊँची मजदूरी देनी पड़ती है - इस कारण सीमान्त मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र से अलग होकर उसके ऊपर होता है। सन्तुलन बिन्दु MRP = MW है। श्रम की मजदूरी (AW) उसकी सीमान्त आय उत्पादकता से कम होती है MRP>AW यह कम मजदूरी ही श्रम का क्रेता एकाधिकार जनित शोषण है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति यहाँ होती तो निश्चित रूप से मजदूरी की दर व रोजगार की मात्रा अधिक होती। क्रेता एकाधिकारी की स्थिति में यदि श्रमिक संगठित हो तब भी उनका श्रम संघ सौदाकारी द्वारा उन्हें ऊँची मजदूरी और अधिक रोजगार दिला सकता है।

क्रेता एकाधिकारी यदि अपनी वस्तु एकाधिकार-बाजार में बेंचता है तो MRP व VMP के अलग-अलग होने से श्रम का शोषण और बढ़ जाता है। VMP का वक्र ऊपर और MRP का वक्र नीचे की ओर होता है। श्रमिक की उत्पादित वस्तु का मूल्य MP है, जबकि श्रमिक की मजदूरी MRP से भी नीचे AW के बराबर होती है, अतः यहाँ श्रमिक का दोहरा शोषण होता है। MRP और AW का अन्तर क्रेता-एकाधिकार जनित शोषण है जबकि VMP और MRP का अन्तर एकाधिकार जनित शोषण है।

इस शोषण से मुक्ति एकाधिकार नियंत्रण के कानून बना कर व बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की दशायें उत्पन्न कर सरकार ही दिला सकती है। क्रेता एकाधिकार के शोषण से मुक्ति पाने के लिये श्रम संगठित होकर द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न कर सकते है और सामूहिक सौदाकारी से उचित मजदूरी श्रमिकों को दिला सकते हैं -

इसी स्थिति का अध्ययन आगे विस्तार से किया गया है।

द्विपक्षीय एकाधिकार में एक विक्रेता व क्रेता का सामना रहा है। सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत जब एक श्रम संघ अपने सदस्यों के प्रतिनिधि की तरह एक विक्रेता के रूप में किसी बड़े सेवायोजक का सेवायोजकों के संगठन का एक क्रेता के रूप में सामना करता है तो यह स्थिति द्विपक्षीय एकाधिकार में कीमत निर्धारण की तरह अनार्धारणीय होता है अधिक सिद्धांत केवल उन दो सीमाओ को उच्चतम और निम्नतम रूप कर पाता है, जिनके बीच मजदूरी का निर्धारण दोनों पक्षों की सापेक्षिक सौदा शक्ति पर निर्भर करता है।

आर्थिक सिद्धांत में इन दो सीमाओं को स्पष्ट करना महत्वपूर्ण माना है। द्विपक्षीय एकाधिकार अथवा सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण के कई मॉडल पिछले दशकों में प्रस्तुत किये गये है, ये विभिन्न मॉडल श्रम संघों के विभिन्न वैकल्पिक उद्देश्यों की मान्यताओं पर आधारित होने के कारण एक दूसरे से भिन्न है।

आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में यह माना जाता है कि श्रम संघों का मजदूरी और

रोजगार के बीच अधिमान फ्लन होता है जिन्हें तटस्थतावक्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया जा सकता है। फैलनर का पहला मॉडल इस मान्यता पर आधारित है कि रम संघ अधिकतम सम्भव मजदूरी प्राप्त करना चाहते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं करते कि इसका प्रभाव रोजगार पर क्या पड़ेगा। ऐसी स्थिति में श्रम संघ के मजदूरी-रोजगार अधिमान फ्लन के तटस्थतावक्र क्षितिज के समानान्तर सरल रेखाओं के रूप में होगे। मजदूरी की उच्चतम सीमा उस सीधी मजदूरी रेखा से निश्चित होगी जो औसत उत्पादकता वक्र (ARP) को स्पर्श करती है। मजदूरी का निम्नतम बिन्दु इस विश्लेषण में अस्पष्ट है। मजदूरी इन दो बिन्दुओं की बीच दोनों पक्षों की सौदा शक्ति पर निर्भर करेगी।

फैलनर ने अपने वैकल्पिक मॉडल में यह माना है कि वास्तव में श्रम संघ मजदूरी की दर में वृद्धि की मांग के साथ रोजगार पर पड़ने वाले प्रभावों का भी ध्यान रखते हैं बल्कि वे दोनों में सर्वोत्तम संयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं - ऐसी स्थिति में श्रम संघ के तटस्थतावक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नत (Convex) होंगे। मजदूरी की उच्चतम सीमा MRP के स्पर्श बिन्दु पर होगी। यदि कोई तटस्थतावक्र ARP को उसके उच्चतम बिन्दु को स्पर्श करता है तो मजदूरी का उच्चतम बिन्दु भी यहीं होगा। सेवायोजक का लाभ MRP वक्र पर नीचे आने पर है अतः MRP वक्र नीचे की ओर संघ के जिस तटस्थतावक्र को काटता है, उस बिन्दु पर सेवायोजक मजदूरी की निम्नतम सीमा निश्चित करना चाहेगा-परन्तु यह मजदूरी संघ को "कम से कम" के रूप में स्वीकृत होनी चाहिये। इन दो बिन्दुओं के बीच वास्तविक मजदूरी दोनों पक्षों की सापेक्षिक सौदा शक्ति पर निर्भर करेगी।

(b) प्रो. ऐ.एम. कार्टर ने अधिक सूक्ष्म, व्यवाहारिक और परिष्कृत मॉडल प्रस्तुत किया है। एक ओर कार्टर ने सेवायोजक के अधिमान फ्लन की परिकल्पना लाभ तटस्थतावक्रों के रूप में की है दूसरी ओर कार्टर ने श्रम संघ के अधिमान फ्लन का सम्बन्ध वर्तमान में संघ को प्राप्त मजदूरी रोजगार के संयोग से करके स्थिति को अधिक व्यवहारिक बना दिया है। दूसरे शब्दों में श्रम संघ मजदूरी और रोजगार को किस सीमा तक एक दूसरे का प्रतिस्थापन मानती है यह वर्तमान में उसे प्राप्त मजदूरी रोजगार संयोग पर निर्भर करेगा। वर्तमान स्थिति में कोई कंभी संघ स्वीकार नहीं करेगा - इससे उसे अपने सदस्यों के विरोध का सामना करना पड़ेगा। मजदूरी की थोड़ी सी कमी के लिये संघ रोजगार में अत्यधिक वृद्धि की मांग करेगा। इस अधिमान के कारण संघ के तटस्थतावक्रों की आकृति कुछ पूरक वस्तु के तटस्थतावक्र के समान होगी परन्तु पूरी तरह समकोणीय नहीं। एक युक्तिसंगत प्रश्न है कि श्रम की मांग में वृद्धि या कमी की क्या प्रतिक्रिया होगी। कार्टर के अनुसार श्रम की मांग वृद्धि से होने वाले लाभ को संघ अपेक्षाकृत ऊँची मजदूरी के रूप में लेने का प्रयत्न करेते हैं। इसके विपरीत श्रम की मांग में कमी होने पर वे मजदूरी की कटौती का कड़ा प्रतिरोध करते हैं। इस प्रकार दोनों स्थितियों में मजदूरी रोजगार की वरीयता में स्पष्ट अन्तर है। संघ के इस व्यवहार के कारण मजदूरी अधिमान पथ (Wage Preference Path) जो श्रम मांग वक्रों व तटस्थतावक्रों के स्पर्श बिन्दुओं को मिलाकर बनाया जाता है, वर्तमान में प्राप्त-मजदूरी-रोजगार संयोग बिन्दु पर विकुंचित (Kinked) होता है। मजदूरी अधिमान पथ श्रम की पूर्ति वक्र का स्थान होता है।

कार्टर ने सेवायोजक के अधिमान फ्लन लाभ-तटस्थतावक्रों के रूप में प्रकट किये हैं और इसके लिये ANRP श्रम की औसत विशुद्ध आय उत्पादकता की धारणा का प्रयोग किया है। कुल उत्पादित आय में से लाभ की विभिन्न मात्रायें घटाते हुये विभिन्न

स्तर के ANRP वक्र प्राप्त कर सकते हैं। लाभ की जितनी मात्रा सेवायोजक के लिये अधिक होगी ANRP वक्र उतना ही नीचा होता जायेगा। समान लाभ के इन तटस्थतावक्रों (ANRP) को MRP वक्र उनके उच्चतम बिन्दुओं पर काटता गुजरता है - MRP महत्वपूर्ण है क्योंकि सेवायाजक अपने निर्णय इसके आधार पर ही लेता है। श्रम संघ व सेवायोजक के तटस्थतावक्रों के मानचित्रों (Preference Maps) को एक साथ लाकर मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है।

श्रम की स्थिर मांग की स्थिति में नया समझौता पुरानी शर्तों पर ही होगा।

श्रम की मांग की वृद्धि की स्थिति में नई मजदूरी दर बढ़े हुये मांग पर नये MRP पर होगी। श्रमसंघ उच्चतम मजदूरी उस बिन्दु के आधार पर मानेंगे जहाँ उनका मजदूरी अधिमान पथ नये बढ़े हुये MRP को काटता है। सेवायोजक प्रचलित मजदूरी दर को निम्नतम सीमा तय करेगा क्योंकि यहीं उसका निचला ANRP वक्र नये MRP को काटेगा। श्रम बाजार में श्रम पूर्ति की स्थिति इन दो सीमाओं का अन्तर (Range) और कम कर सकती है। श्रम की मांग में कमी की स्थिति में घटी हुई मांग का वक्र, नीचे की ओर आयेगा। इससे दोनों ही पक्ष अपेक्षाकृत बुरी स्थिति में होंगे, परन्तु मांग की कमी से होने वाली दोनों पक्ष मिलकर कर बाँट सकते हैं।

15.6 शब्दावली

1. द्विपक्षीय-एकाधिकार : (Bi-Lateral Monopoly)
2. सामूहिक सौदाकारी : (Collective Bargaining)
3. प्रकृतिवादी : (Physiocrats)
4. श्रम का मूल्य सिद्धान्त : (Labour Theory of Value)
5. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री : (Classical Economists)
6. व्युत्पन्न मांग : (Derived Demand)
7. सीमान्त भौतिक उत्पादकता : (Marginal Physical Productivity or MRP)
8. सीमान्त आय उत्पादकता : (Marginal Revenue Productivity of MRP)
9. सीमान्त उत्पादकता का मूल्य : (Value of Marginal Productivity or VMP)
10. कार्य-अवकाश अनुपात : (Work - Leisure Ratio)
11. प्रतिस्थापन प्रभाव : (Substitution Effect)
12. आय प्रभाव : (Income Effect)
13. मजदूरी प्रस्ताव वक्र : (Wage - Offer - Curve)
14. समर्थ-पूर्ति : (Effective Supply)
15. सन्तुलन दर : (Equilibrium Rate)

16. सीमान्त मजदूरी : (Marginal Wage (MW)
17. औसत मजदूरी : (Average Wage (AW)
18. औसत आय उत्पादकता : (Average Revenue Productivity or ARP)
19. एकाधिकार : (Monopoly)
20. क्रेता-एकाधिकार : (Monopsony)
21. श्रम की गतिशीलता : (Mobility of Labour)
22. क्रय एकाधिकार जनित शोषण : (Monopsonistic Exploitation)
23. एकाधिकार जनित शोषण : (Monopolistic Exploitation)
24. अधिमान फलन : (Preference Function)
25. तटस्थता वक्र : (Indifference Curve)
26. मजदूरी अधिमान पथ : (Wage Preference Path)
27. औसत विशुद्ध आगम उत्पादकता : (Average Net Revenue Productivity (ANRP)
28. कुल आगम उत्पादकता : (Total Revenue Productivity (TRP)
29. लाभ तटस्थता वक्र : (Profit Indifference Curve)
30. अनिर्धारणीय : (Indeterminate)

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. एच.एल. आहूजा : उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त
2. टी.एन. भगोलीवाल : मजदूरी नीति और सामाजिक सुरक्षा
3. माइक्रो अर्थशास्त्र : एम.एल. सेठ
4. लक्ष्मी नारायण नाथूरामका : व्यष्टि अर्थशास्त्र
5. सुन्दर लाल यादव : मजदूरी नीति और सामाजिक सुरक्षा
6. H.L. Ahuja – Advanced Economic Theory
7. J.M. Joshi – Theory of Value Distribution and Welfare Economics
8. M.L. Jhingan – Micro Economic Theory
9. William Fellner – Competition Among the Few.
10. A.M. Cartter – Theory of Wages and Employment.

15.8 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1 मजदूरी को परिभाषित कीजिये। मजदूरी किस प्रकार निर्धारित की जाती है।

प्रश्न-2 श्रम की मांग की पूर्ति की विचित्रताओं की व्याख्या कीजिये तथा मजदूरी निर्धारण पर इनके प्रभाव बताइये।

प्रश्न-3 "पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी श्रम का सीमान्त एवं औसत आगम उत्पादकता के बराबर होती है" कथन को रेखाचित्रों सहित समझाइये।

प्रश्न-4 पीछे की ओर मुड़ने वाले श्रम के पूर्ति वक्र पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

प्रश्न-5 अपूर्ण प्रतियोगिता के आधीन मजदूरी कैसे निर्धारित होती है? क्या सामूहिक सौदेबाजी मजदूरी को प्रभावित कर सकती है?

प्रश्न-6 पूर्ण व अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की प्रक्रिया की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

प्रश्न-7 क्रय-एकाधिकार-जनित शोषण को परिभाषित कीजिये। उन परिस्थितियों की व्याख्या कीजिये। जिनके कारण यह उत्पन्न होता है।

प्रश्न-8 द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति से मजदूरी की दर व रोजगार की मात्रा कैसे निश्चित होती है - पूर्णतया समझाइये।

प्रश्न-9 द्विपक्षीय एकाधिकार अथवा सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी की उच्चतम व निम्नतम सीमाओं का क्या महत्व है? इस सम्बन्ध में विलियम पैलनर के दृष्टिकोण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

प्रश्न-10 सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की समस्या के हल के लिये प्रो. ए.एम. कार्टर द्वारा प्रस्तुत मॉडल की पूर्ण व्याख्या कीजिये।

इकाई-16

संस्थागत व सौदाकारी सिद्धान्त

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 मजदूरी के सौदाकारी सिद्धान्त व संस्थागत सिद्धान्त

16.2.1 मजदूरी की ऊपरी सीमा

16.2.2 मजदूरी की निम्नतक सीमा

16.3 सौदाकारी सिद्धान्त के बारे में जे.आर. हिक्स का मत

16.4 सौदाकारी सिद्धान्त के बारे में शैकल के विचार

16.5 सौदाकारी के बारे में पेन के विचार एवं उसका माडल

16.5.1 श्रमिकों की सौदाकारी अभिवृति

16.5.2 नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृति

16.5.3 पेन के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त का मूल्यांकण

16.6 सौदाकारी सिद्धान्त की आलोचनाएं

16.7 सौदाकारी की सफलता की शर्तें

16.8 सारांश

16.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.10 अभ्यासों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

आर्थिक प्रगति के लिए औद्योगिक शान्ति अथवा सौहार्द आवश्यक होता है और औद्योगिक सौहार्द का विचार सेवायोजकों और श्रमिकों के मध्य समझदारी, सहयोग एवं साझेदारी की भवना की विद्यमानता पर आश्रित रहता है। इन दोनों वर्गों के हितों में विरोध होता है, किन्तु इनमें सहयोग के लिए व्यापक क्षेत्र होता है। सहयोग की भावना इस धारणा पर आधारित होती है कि सेवायोजक तथा श्रमिक दोनों यह अनुभव करते हैं कि, यद्यपि दोनों ही अपने अपने अधिकारों एवं हितों को सुरक्षित रखने में पूर्णत न्याय संगत है, उन्हें समाज के हितों को भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। अनावश्यक हड़तालें तथा तालाबन्दियां समाज के हितों के विरोध में होती हैं। श्रम सन्नियमों में कुछ भी निर्धारित क्यों न किया जाए, महत्वपूर्ण बात सेवायोजकों एवं श्रमिक संघ नेताओं का दृष्टिकोण है तथा जब तक ये दोनों ही प्रबुद्ध नहीं होते, औद्योगिक सौहार्द अथवा शान्ति संभव नहीं होती। अतः औद्योगिक सौहार्द को बढ़ाने में सामूहिक सौदाकारी का महत्व बहुत अधिक है। औद्योगिक शान्ति को अधिक अच्छी तरह तब कायम रखा जा सकता है जब सौदा करने वाले पक्ष सबल हों और उनमें नियोजित सामूहिक सौदाकारी की अभ्यस्तता का विकास हो।

16.1 प्रस्तावना

सामूहिक सौदाकारी जो आर्थिक जनतन्त्र का एक अति आवश्यक तत्व है, किसी पारस्परिक निश्चय द्वारा होने वाले समाधान को प्राप्त करने के लिए एक द्विपक्षीय विधि है इस प्रकार सामूहिक सौदाकारी शब्द का प्रयोग उस क्रिया विधि (Procedure) का वर्णन करने के लिए किया जाता है जिनके द्वारा सेवा योजकों को मजदूरी की दरों और श्रमिकों की बुनियादी दशाओं के सम्बन्ध में व्यक्तिगत श्रमिक की बजाय श्रमिक संघों के साथ ही आवश्यक रुप से ठहराव (एग्रीमेन्ट) करना चाहिए। अन्य शब्दों में यह किसी सेवायोजक एवं किसी श्रमिक संघ के मध्य विचार विमर्श और वार्ता की वह विधि है जो अन्त में एक लिखित ठहराव या अनुबन्ध तथा ठहराव के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समायोजन के रुप में पूरी हो जाती है। जैसा कि लुई ई० हावर्ड ने लिखा है, सामूहिक सौदाकारी का अर्थ है एक साथ मिलना (मिलने जुलने का अधिकार), एक सामान्य संगठन में शामिल होना (सहयोग Association का अधिकार), यह निर्धारित करना कि कार्य की जो भी दशायें नियत की जाती हैं वे सभी श्रमिकों के लिए समान रहेंगी और इसकी पूर्ति के लिए सेवायोजकों के साथ सौदा करना संगठन (Combination) बनाने और सौदा करने (Bargaining) का अधिकार और अन्त में, यदि सेवायोजक ऐसे सौदे पर ठहराव करने या ठहराव होने के बाद उस पर अमल करने के लिए सहमत न हो तो संयुक्त रूप से काम पर जाने से मना करके या काम जारी रखने के लिए मना करके उसका सामना करना (हड़ताल करने का अधिकार)। इस प्रकार किसी भी सौदाकारी प्रक्रिया में आर्थिक दबाव या धमकी निहित हो सकती है। रिचर्डसन के शब्दों में सामूहिक सौदाकारी तब उत्पन्न होती है जब अनेक कामगर (Work people) एक सौदाकारी ईकाई के रूप में सेवायोजक या सेवायोजक वर्ग के साथ वार्ता चलाते हैं जिससे कि सम्बद्ध कामगरों की रोजगार सम्बन्धी दशाओं के बारे में कोई ठहराव हो सकें। संक्षेप में सामूहिक सौदेबाजी मजदूरों और सेवायोजकों के संगठित दलों द्वारा कार्य की सम्पूर्ण शर्तों के सम्बन्ध में सौदा करने की क्रिया का नाम है। श्रमिकों और सेवायोजकों की आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति करने की एक तकनीक के रूप में सामूहिक सौदाकारी औद्योगिक समाज का एक अभिन्न अंग है। यह वास्तव में जनतन्त्र के सिद्धान्तों और व्यवहार का विस्तार मात्र है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है और निरन्तर बढ़ रही है।

16.2 मजदूरी के सौदाकारी व संस्थागत सिद्धान्त

मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन अर्थशास्त्री वेन्स ने किया था। यह सिद्धान्त श्रम संघो का आधारभूत सिद्धान्त माना जाता है। मजदूरी निर्धारण के सभी अन्य सिद्धातों में यह मान्यता है कि मजदूरी निर्धारण में श्रम संघ कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि मजदूरी श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है। सौदाकारी सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक मजदूरी का निर्धारण श्रमिकों व नियोक्ताओं की सौदाकारी शक्तियों द्वारा होता है।

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में मजदूरी का निर्धारण तीन विधियों से होता है— व्यक्तिगत सौदाकारी, सामूहिक सौदाकारी तथा सरकार द्वारा मजदूरी का कानूनी नियमन। व्यक्तिगत सौदाकारी के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक अपने नियोक्ता से व्यक्तिगत रूप से मजदूरी का सौदा करता है। व्यक्तिगत सौदाकारी में श्रमिक के शोषण होने की गुंजाइश रहती है। सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत श्रमिकों व नियोक्ता के बीच मजदूरी के निर्धारण के

लिए सामूहिक रूप से सौदोबाजी होती है। जो पक्ष जितना अधिक सुसंगठित, सुदृढ़ एवं सौदा करने में दक्ष होता है उसे अपने कार्य में उतनी ही अधिक सफलता मिलती है तथा जो पक्ष दुर्बल तथा कम दक्ष होता है उसे अपने कार्य में कम सफलता मिलती है। विकासशील देशों में श्रमिकों की सौदाकारी शक्ति कमजोर होती है अतः वहां श्रमिकों का शोषण होता है क्योंकि श्रमिकों को मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य से कम मिलती है।

जब कभी श्रमिक एवं नियोक्ता सामूहिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी निर्धारण में असफल रहते हैं तो सरकार मजदूरी का नियमन कर देती है। सरकार कानून द्वारा मजदूरी की न्यूनतम दर निर्धारित कर देती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतियोगिता को लेकर चलते थे उनके अनुसार श्रमिकों को मजदूरी अपनी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मिलती है। इसलिए वे मजदूरी निर्धारण में श्रम संघों के हस्तक्षेप की आवश्यकता को नहीं मानते थे। इसके विपरीत सामूहिक सौदाकारी सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी निर्धारण में श्रम संघों का हस्तक्षेप बहुत आवश्यक है। क्योंकि वास्तविक जगत में पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा देखने को मिलती है तथा श्रमिकों को मजदूरी उनकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर नहीं मिलती है।

मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त के दोनों पक्ष-श्रमिक व नियोक्ता मिलकर ही मजदूरी का निर्धारण करते हैं। दोनों पक्षों का अपना अपना अस्तित्व होता है। सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त में मजदूरी दरों की दो सीमाएं होती हैं—

(i) मजदूरी दर की ऊपरी सीमा (Upper Limit)

(ii) मजदूरी दर की निम्नतक सीमा (Lower Limit)

मजदूरी दर का निर्धारण इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच होता है।

16.2.1 मजदूरी की ऊपरी सीमा

मजदूरी की ऊपरी सीमा से तात्पर्य उस अधिकतम मजदूरी से है जो नियोक्ता प्रदान कर सकते हैं। यह सीमा निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है—

(i) **व्यवसाय की लाभदायकता** - यदि व्यवसाय लाभ में चल रहा है तो नियोक्ता अधिक मजदूरी दे सकते हैं तथा घाटे की स्थिति में हैं तो सामान्यतः नियोक्ता कम मजदूरी देंगे।

(ii) **श्रम के स्थान पर मशीन के प्रतिस्थापन की संभावना** - यदि श्रम के स्थान पर मशीनों के प्रतिस्थापन की अधिक संभावना है तो नियोक्ता कम मजदूरी देंगे अन्यथा नियोक्ता अधिक मजदूरी देंगे।

(iii) **श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं को मांग की लोच** - श्रमिक जिस वस्तु के उत्पादन में लगे हुए हैं उस वस्तु की मांग अधिक लोचदार है तो नियोक्ता श्रमिकों के कम मजदूरी देंगे और यदि उस वस्तु की मांग बेलोचदार है तो नियोक्ता श्रमिकों के अधिक मजदूरी देंगे।

16.2.2 मजदूरी की निम्नतम सीमा

मजदूरी की निम्नतम सीमा से तात्पर्य उस निम्नतम मजदूरी से है जिस पर श्रमिक काम करना स्वीकार कर लेते हैं। निम्नतम मज़दूरी सीमा का निर्धारण निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है—

(i) श्रमिक का जीवन स्तर — यदि श्रमिकों का जीवन स्तर नीचा है तो वे कम मजदूरी पर भी काम करना स्वीकार कर लेंगे और यदि श्रमिकों का जीवन स्तर ऊंचा है तो वे ऊंची मजदूरी की मांग करेंगे।

(ii) जीवन निर्वाह लागत — यदि श्रमिकों की जीवन निर्वाह लागत कम आती है तो वे नीची मजदूरी लेना स्वीकार कर लेंगे यदि जीवन निर्वाह लागत ऊंची है तो वे ऊंची मजदूरी की मांग करेंगे।

(iii) श्रम की गतिशीलता — यदि श्रमिकों में गतिशीलता का अभाव है तो वे नीची मजदूरी पर काम करना स्वीकार कर लेंगे।

(iv) श्रमिकों की आर्थिक दशा : यदि श्रमिक आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर है तो वे कम मज़दूरी पर काम करना स्वीकार कर लेंगे।

(v) श्रम संघों की स्थिति — यदि श्रम संघों का संगठन शक्तिशाली है तो वे श्रमिक ऊँची मजदूरी की मांग करेंगे अन्यथा नीची मजदूरी पर काम करने को तैयार हो जायेंगे।

मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का निर्धारण इन दोनों सीमाओं निम्नतम व उच्चतम के बीच संलाग बिन्दु (स्टिकिंग पॉइन्ट) पर होता है। संलग्ण या स्टिकिंग पॉइन्ट वह बिन्दु होता है जहां पर मजदूरी का निर्धारण होता है। श्रमिक इस बिन्दु से नीचे मजदूरी लेना स्वीकार नहीं करते तथा नियोक्ता इस बिन्दु से अधिक मजदूरी देना नहीं चाहते।

बोध प्रश्न–1

अपना उत्तर लिखने के लिए छोड़ी गयी खाली जगह का प्रयोग करें

1. आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में मजदूरी का निर्धारण किन विधियों से होता है
2. निम्नतम मजदूरी सीमा का निर्धारण किन बातों पर निर्भर करता है
3. मजदूरी के सौदागारी शक्ति सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का निर्धारण किस बिन्दु पर होता है?

16.3 सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त के बारे में जे.आर हिक्स का मत

अपनी पुस्तक 'The Theory of wages' में जे. आर. किक्स ने औद्योगिक विवादों के सिद्धान्त शीर्षक के अन्तर्गत मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त को बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। जब श्रम संघ मजदूरी वृद्धि की मांग करते हैं अथवा मजदूरी कटोति का विरोध करते हैं तो नियोक्ता के सामने एक ही विकल्प रह जाता है कि या तो वे श्रम संघों की ऊंची मजदूरी की मांग को स्वीकार कर ले अथवा हड़ताल से कार्य दिनों की क्षति (अथवा उत्पादन क्षति) से होने वाली प्रत्यक्ष क्षति को वहन करने को तैयार रहें। यदि श्रमिक संगठित न हो तो हो सकता है कि नियोक्ता को कम हानि उठानी पड़े। यदि नियोक्ता श्रमिकों को रियायत देने की अपेक्षा उनका विरोध करना सस्ता समझते हैं तो नियोक्ता विरोध करेंगे। यदि नियोक्ताओं को श्रमिकों का विरोध करने की अपेक्षा मजदूरी सम्बन्धी रियायत देना सस्ता जान पड़ता है तो वे श्रम संघ के दावे अर्थात ऊँची मजदूरी की मांग को स्वीकार कर लेंगे। यदि नियोक्ता के विरोध करने से श्रमिक काम पर आना बन्द (हड़ताल) कर देते हैं, जिससे कार्य दिनों (अथवा उत्पादन) की

क्षति होती है। नियोक्ता ऊँची मजदूरी देने से होने वाली हानि की तुलना उत्पादन न होने (हड़ताल होने) की हानि से करते हैं। दोनों स्थितियों में जो कम हानिकारक होती है नियोक्ता उसी को स्वीकार कर लेते हैं।

नियोक्ता श्रम संघ की गतिविधियों की सम्भावनाओं (एकस्पेक्टेशन्स) एवं सीमाओं की जानकारी प्राप्त करके इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किस विकल्प को स्वीकार करें। अन्य बातों के समान रहने पर हम केवल दो बातों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं— मांग सारणी (डिमाण्ड शेडयूल) व हड़ताल की अवधि की सारणी। नियोक्ता मांग सारणी (एम्पलायर डिमाण्ड सेडयूल) व हड़ताल की अवधि की सारणी बनाते हैं।

नियोक्ता हड़ताल के कारण कार्यक्षति की लागत तथा श्रमिकों को सम्भावित रियायत (बढ़ी हुई मज़दूरी) देने की लागत की तुलना करते हैं। यह देखा जाता है कि नियोक्ता कार्यक्षति की अपेक्षा उच्चतम मजदूरी देने को तैयार हो जाते हैं। नियोक्ता द्वारा दी जाने वाली उच्चतम मजदूरी पर कार्यक्षति की लागत व सम्भावित रियायत की लागत दोनों बराबर होती हैं। नियोक्ता इस उच्चतम मजदूरी से नीची किसी भी मजदूरी दर को देना स्वीकार कर लेंगे। किन्तु इस उच्चतम मजदूरी से ऊँची मजदूरी देने की अपेक्षा नियोक्ता कार्यक्षति को ही स्वीकार करेंगे। यह उच्चतम मजदूरी दर नियोक्ताओं के लिए मजदूरी की उच्चतम सीमा होती है। जैसा कि संख्या चित्र 16.1 में बताया गया है।

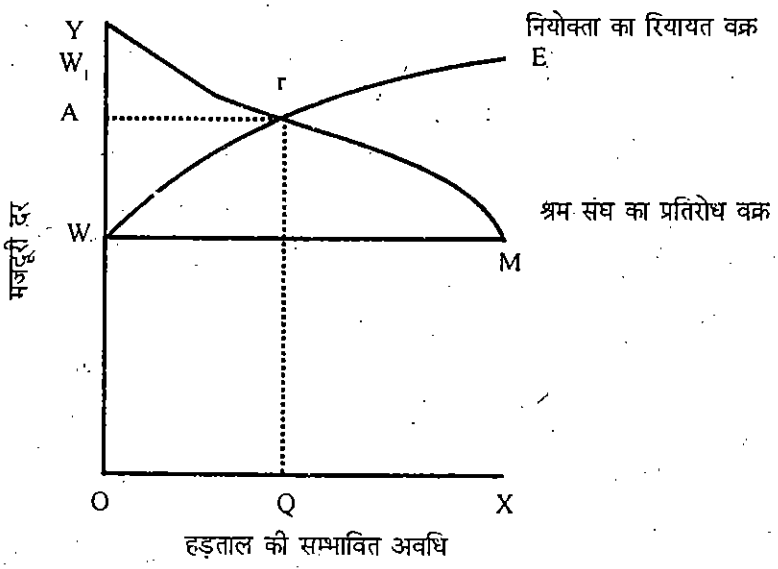

चित्र 16.1

रेखा चित्र 16.1 में क्षितिजीय अक्ष पर हड़ताल की सम्भावित अवधि तथा उदग्र अक्ष पर मजदूरी दर को मापा गया है। OW वह मजदूरी है जो श्रमिक को असन्तोष से पूर्व दी जा रही है। चित्र में W E नियोक्ता का रियायती वक्र तथा W_1 E वक्र श्रम संघ का प्रतिरोध वक्र है। श्रम संघ OW मजदूरी दर से अधिक मजदूरी दर की मांग करते हैं नियोक्ता श्रम संघों द्वारा मांगी गई मजदूरी दर देना नहीं चाहते हैं। श्रम संघ इसके विरोध में हड़ताल का आह्वान करते हैं। हडताल को कई दिन हो जाते हैं जिससे दोनों पक्षों को हानि होती है। श्रमिकों को मजदूरी नहीं मिलती तथा नियोक्ताओं को उत्पादन की हानि होती है। परिणामस्वरूप नियोक्ता मजदूरों को रियायत (बढ़ा हुआ वेतन) देना स्वीकार कर लेते हैं। जैसे जैसे हड़ताल की अवधि बढ़ती है वैसे-वैसे ही

नियोक्ता मजदूरी बढ़ाने की सोचते हैं जिसको नियोक्ता के रियायत वक्र $W_1 M$ द्वारा प्रदर्शित किया गया है रियायत वक्र का ढ़ाल घनात्मक है। दूसरी ओर श्रम संघ भी लम्बी हड़ताल से परेशान हो जाते है। हड़ताल से परेशान होकर नियोक्ता के प्रति अपना प्रतिरोध कम कर देते हैं, अब श्रमसंघ उस मजदूरी दर से कम मजदूरी लेना स्वीकार कर लेते हैं जो प्रारम्भ में मांग कर रहे थे। जैसे जैसे हड़ताल की अवधि बढ़ती जाती है श्रम संघों का प्रतिरोध कम होता जाता है। श्रम संघों के प्रतिरोध को $W_1 M$ द्वारा प्रदर्शित किया गया है यह वक्र ऋणात्मक होता है जो इस बात को बताता है कि श्रमिक धीरे धीरे ऊँची मजदूरी की हठ छोड़कर कम मजदूरी पर काम करना स्वीकार कर लेते हैं।

चित्र रेखा 16.1 में नियोक्ता का रियायत वक्र तथा श्रमसंघ का प्रतिरोध वक्र एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते हैं। इसी P बिन्दु पर मजदूरी दर OA का निर्धारिण हो जाता है। नियोक्ता OW मजदूरी दर देने तथा श्रमिक OW_1 मजदूरी दर लेने की हठ त्याग देते हैं। P बिन्दु पर दोनों पक्ष सन्तुष्ट है। OA मजदूरी अधिकतम मजदूरी है। नियोक्ता OA मजदूरी से अधिक मजदूरी देने की अपेक्षा उत्पादन बन्द कर देना अधिक अच्छा समझेंगे। हिक्स शब्दों में "नियोक्ता का रियायत वक्र और श्रमसंघ का प्रतिरोध वक्र दोनों एक दूसरे को P बिन्दु पर काटेंगे, इस बिन्दु से सम्बन्धित OA मजदूरी अधिकतम मजदूरी है जो श्रमिक नियोक्ता से वार्तालाप प्राप्त कर सके हैं।"

प्रो० पेन व शेकल ने हिक्स के मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त की आलोचना की है। प्रो० पेन का कहना है कि इससे नियोक्ता तथा श्रमिक संघ को यह पूर्व से मालूम है कि हड़ताल की अवधि OQ होगी तब सौदाकारी की समस्या ही नहीं रह जाती है। यदि हड़ताल की अवधि OQ_1 या OQ_2 रहती है तब सन्तुलन कैसे होगा।

प्रो० शेकल का मानना है कि इस सिद्धान्त में हिक्स ने कोई नई बात नहीं कही है तथा मार्शल के कैंची के दो फलनों वाली बात को ही दोहराया है। जब एक वक्र ऋणात्मक तथा द्वारा घनात्मक होगा तो यह स्वाभाविक है कि दोनों वक्र कहीं न कहीं एक दूसरे को अवश्य काटेंगे।

16.4 मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त के बारे में प्रो. शेकल के विचार:-

शेकल के अनुसार श्रम संघ ऊँची मजदूरी की मांग करते हैं तथा नियोक्ता उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं। श्रम संघ हड़ताल पर चले जाते है इससे दोनों पक्षों को नुकसान होता है। श्रमिकों को हड़ताल अवधि का वेतन नहीं मिलता जिससे उनका असन्तोष बढ़ता है तथा दूसरी और नियोक्ता को हड़ताल के दिनों में उत्पादन व लाभ की हानि होती है। इसलिए नियोक्ता हड़ताल को समाप्त करने के लिए मजदूरी दर को बढ़ाना स्वीकार कर लेते हैं। मजदूरी वृद्धि से श्रमिकों की सन्तुष्टि बढ़ती है। इस प्रकार जिस बिन्दु पर सन्तुष्टि व असन्तुष्टि (असन्तोष) बराबर हो जाते हैं वहीं साम्य की स्थिति आ जाती है तथा उसी बिन्दु पर मजदूरी दर का निर्धारण भी हो जाता है। शेकल ने अपने विचारों को रेखा चित्र 17.2 द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है।

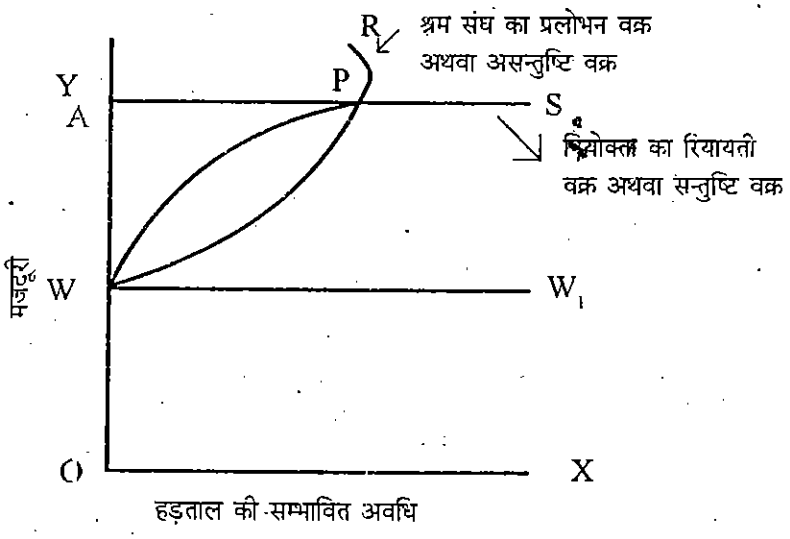

रेखा चित्र 16.2

रेखा चित्र 16.2 में प्रारम्भ में श्रमिकों को OW मजदूरी मिल रही होती है। अब श्रमिक या श्रमसंघ ऊँची मजदूरी की मांग करते हैं। नियोक्ता ऊँची मजदूरी देना नहीं चाहते जिससे श्रमिक संघ हड़ताल पर चले जाते हैं। हड़ताल के लम्बी अवधि तक चलने से श्रमिकों में असन्तोष बढ़ता जाता है क्योंकि उन्हें हड़ताल अवधि की मजदूरी नहीं मिलती है। श्रमिकों के इस असन्तोष को श्रम संघ के प्रलोभन वक्र या अभिप्रेरणा अथवा असंतुष्टी वक्र WR द्वारा दिखाया गया है। असन्तुष्टि वक्र का ढाल-धनात्मक है जिसका अर्थ है कि हड़ताल की अवधि के साथ असन्तोष बढ़ता जाता है। दूसरी ओर हड़ताल के कारण नियोक्ताओं को लाभ का नुकसान होता है। जैसे-जैसे हड़ताल ही अवधि लम्बी खिंचती जाती है नियोक्ता थोड़ी मजदूरी बढ़ाना स्वीकार कर लेते हैं जिससे श्रमिकों की सन्तुष्टि बढ़ती है इसे नियोक्ता की रियायत वक्र WS द्वारा दिखाया गया है। रियायत वक्र धीरे धीरे ऊपर की ओर उठता हुआ है अर्थात इसका ढाल घनात्मक है जिसका तात्पर्य है कि जैसे जैसे नियोक्ता रियायत बढ़ाते हैं वैसे वैसे ही श्रमिकों की सन्तुष्टि भी बढ़ती जाती है।

जैसे हड़ताल की अवधि बढ़ती है वैसे ही दोनों पक्ष समझौता करने का मानस बनाने लगते हैं उपरोक्त चित्र 16.2 में P बिन्दु पर सन्तुष्टि और असन्तुष्टि बराबर है। इसलिए यहां मजदूरी का निर्धारण हो जाता है OQ अवधि तक हड़ताल चलने के बाद OA मजदूरी दर निर्धारित होती है। अतः मजदूरी दर बराबर है—

$$= \frac{\text{ऊंची मजदूरी की सीमान्त उपयोगिकता अर्थात् सन्तुष्टि}}{\text{लम्बी हड़ताल की सीमान्त अनुपयोगिता अर्थात असन्तुष्टि}}$$

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शेकल के विचार अधिक तर्कयुक्त व वैज्ञानिक है। हिक्स के अनुसार जो पक्ष अधिक शक्तिशाली होता है वह पक्ष वार्तालाभ के दौरान अपनी बात को अधिक मनवा सकता है। किन्तु शैकल के अनुसार दोनों पक्षों के बीच शक्तिशाली संघर्ष होता है। संघर्ष में दोनों पक्षों की हानि वहन करनी पड़ती है अतः दोनों पक्ष एक दूसरे पर हावी न होकर अपने अपने हानि लाभ को देखकर समझौता करने की स्थिति में आते हैं और समझौता करने को तैयार हो जाते हैं।

16.5 प्रो. पेन का सौदाकारी निर्धारण माडल

प्रो. पेन ने सौदाकारी सिद्धान्त को खेल का सिद्धान्त (Game Theory) कहा है। सौदाकारी करते समय दोनों पक्ष-नियोक्ता व श्रम संघ खिलाड़ियों की तरह व्यवहार करते हैं। कभी कभी मजदूरी निर्धारण को लेकर नियोक्ताओं व श्रमिकों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। श्रमिक जिस ऊँची मजदूरी की मांग करते हैं वह मजदूरी की अधिकतम दर होती है। नियोक्ता श्रमिकों को जो दर देना चाहते हैं वह मजदूरी की निम्नतम दर होती है। दोनों पक्षों में से कौन-सा पक्ष अपनी बात को अधिक मनवाने में सफल होता है यह दोनों पक्षों की सौदाकारी शक्ति पर निर्भर करता है। यदि श्रमिकों व नियोक्ता के मध्य पूर्ण सौदाकारी करने की दशाएं मोजूद है तो विवाद बिना कार्य दिवसों अथवा उत्पादन की हानि हुवे सुलझ जाता है। यदि पूर्ण सौदाकारी करने की दशाएं मोजूद नहीं हैं तो श्रमिक संघ हड़ताल करते हैं तथा नियोक्ता को सौदाकारी के लिए तैयार करते हैं। हड़ताल से उत्पादन व लाभ की हानि होती है इसलिए नियोक्ता सौदाकारी के लिए तैयार हो जाते हैं। पेन के अनुसार सौदाकारी श्रमिकों व नियोक्ता सौदाकारी अभिवृत्ति पर निर्भर करती है।

16.5.1 श्रमिकों की सौदाकारी अभिवृत्ति:-

श्रमिकों की सौदाकारी अभिवृत्ति का निर्धारण नियोक्ता के साथ असन्तुष्ट होने की लागत तथा नियोक्ता के साथ सन्तुष्ट होने की लागत द्वारा होता है।

श्रमिकों की सौदाकारी अभिकृति — Workers Bargaining aptift. $= \frac{\text{नियोक्ता के साथ असन्तुष्ट होने की लागत}}{\text{नियोक्ता के साथ संतुष्ट होने की लागत}}$

श्रमिकों के असन्तुष्ट होने की लागत हड़ताल के दिनों में उनकी मजदूरी की हानि तथा अन्य कठिनाइयों के बराबर होती है तथा श्रमिकों के सन्तुष्ट होने की लागत हड़ताल से पूर्व मिल रही मजदूरी तथा हड़ताल के पश्चात स्वीकृत करायी गयी मजदूरी के अन्तर के बराबर होती है।

यदि उपर्युक्त सूत्र द्वारा प्राप्त श्रमिकों की सौदाकारी अभिवृत्ति का मूल्य एक से अधिक (WBA>1) आता है तो श्रमिक समझौता करने के पक्ष में होंगे। यदि यह मूल्य एक के बराबर (WBA=1) आता है तो श्रमिक आसानी से समझौता कर लेंगे। लेकिन यह मूल्य एक से कम (WBA >1) आता है तो श्रमिक समझौता करने के पक्ष में नहीं होंगे।

16.5.2 नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति (Employers Bargainings Attitude)

नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति का निर्धारण श्रमिकों के साथ असन्तुष्ट होने की लागत तथा श्रमिकों के साथ सन्तुष्ट होने की लागत द्वारा होता है।

नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति $= \frac{\text{श्रमिकों के साथ असन्तुष्ट होने की लागत}}{\text{श्रमिकों के साथ सन्तुष्ट होने की लागत}}$

नियोक्ता की असन्तुष्टि की लागत, हड़ताल की अवधि में उत्पादन न होने से लाभ का जो नुकसान होता है उसके बराबर होती है। नियोक्ता की सन्तुष्टि की लागत श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी तथा हड़ताल के पश्चात सौदाकारी द्वारा निश्चित की गई ऊँची मजदूरी के अन्तर के बराबर होता है।

उपर्युक्त सूत्र द्वारा निकाला गया नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति (EBA) का मूल्य एक से अधिक (EBA>1) है तो नियोक्ता समझौते के पक्ष में होता है। यदि यह मूल्य एक के बराबर (EBA=1) तो वह आसानी से समझोता कर लेगा। यदि यह मूल्य ईकाई से कम (EBA<1) है तो नियोक्ता समझौता करने के पक्ष में नहीं होगा।

सौदाकारी शक्ति एवं सौदा करने की कुशलता पेन के अनुसार किसी पक्ष के लड़ने की प्रवृत्ति (प्रेपिनसिटी टू फाइट) की माप उस पक्ष की सौदाकारी अभिवृत्ति से की जा सकती है। जो पक्ष लड़ने की क्षमता अधिक रखता है अथवा जिसकी सौदा करने की अभिवृत्ति अधिक है, समझौता उसी के पक्ष में होता है सौदाकारी शक्ति, समझौते को रोके रखने की प्रवृत्ति व विरोधी के लड़ने की प्रवृत्ति को कम करने का फलन है। किसी पक्ष की सौदाकारी शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह पक्ष अपने विरोधी की लड़ने की प्रवृत्ति को कितना कम कर सकता है तथा समझौता होने को कितने समय के लिए रोक सकता है।

पेन ने सौदाकारी कुशलता को पाकर अथवा ताश के खेल के समान माना है। योकर के खेल का खिलाड़ी अपने विचारों को छुपा लेता है किन्तु विरोधी खिलाड़ी के विचारों को जान लेता है। इसी प्रकार सौदाकारी में भी दोनों पक्ष नियोक्ता व श्रम संघ अपने अपने विचारों को तो छिपाना चाहते हैं तथा विरोधी के भावों को जानने का प्रयत्न करते हैं, ताकि विरोधी पक्ष पर विजय प्राप्त की जा सके। दोनों पक्ष यह भी जानने का प्रयत्न करते हैं कि विरोधी पक्ष की सौदाकारी अभिवृति का समझौते पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसी कारण से पेन ने सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त को खेल का सिद्धान्त (Game theory) कहा है।

पेन के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त का मॉडल

पेन के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है—

(i) सन्तुष्टि/असन्तुष्टि की लागत को द्रव्य में मापा जा सकता है।

(ii) प्रत्येक पक्ष इस रूप में काम करता है ताकि वह अधिकृत सन्तुष्टि प्राप्त कर सके।

(iii) एक पक्ष की सन्तुष्टि का बढ़ना दूसरे पक्ष की असन्तुष्टि पर थोपा नहीं जा सकता, अर्थात् एक पक्ष की सन्तुष्टि बढ़ने से दूसरे पक्ष को कोई नुकसान नहीं होता है।

(iv) मोद्रिक लाभ के स्थान पर सन्तुष्टि का प्रतिस्थापन किया जा सकता है।

पैन का सौदाकारी मॉडल निम्न प्रकार है यह माडल समझौते के लिए सौदाकारी के दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करता है।—

$$\phi s\left[\frac{S(Ps)-S(P)}{B(Ps)-S}\right]-Es[B(P)-Bc]=O \ldots\ldots\ldots(i)$$

$$\phi b\left[\frac{B(pb)-B(P)}{B(Pb)-Bc}\right]-Eb[S(P)-Sc]=O \ldots\ldots(ii)$$

माडल में पेन ने निम्न सकेतों का उपयोग किया है:

S = श्रमिकों का सन्तोष

B = नियोक्ता का सन्तोष

Ø = जोखिम मूल्यांकन फलन

E = प्रत्येक पक्ष के लिए संघर्ष की जोखिम का अनुमान

P = विचाराधीन कीमत अर्थात् मजदूरी

Ps = वह कीमत (मजदूरी) जिसके लिए श्रमिक संघर्ष कर रहे हैं

Pb = वह कीमत (मजदूरी) जिसके न देने के लिए नियोक्ता संघर्ष कर रहे हैं।

C = संघर्ष अथवा विवाद के दौरान सन्तुष्टि का स्तर

Sc = वांछित कीमत अथवा मजदूरी तथा वास्तविक संघर्ष द्वारा प्राप्त की गई मजदूरी पर सन्तुष्टि का अन्तर

Bc = वांछित कीमत (मज़दूरी) तथा वास्तविक (श्रमिकों के लिए) संघर्ष द्वारा निश्चित करायी गयी मजूदरी पर सन्तुष्टि का अन्तर (नियोक्ताओं के लिए)

[E{B(P)–Bc}] = विरोधी पक्ष के विरोध करने की इच्छा का अनुमान

S(Ps) = वह मजदूरी दर जिसकी श्रमिक मांग कर रहे हैं

S(P) = वह मजदूरी दर जो नियोक्ताओं के विचाराधीन है।

पेन के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त के मॉडल की सरल व्याख्या इस प्रकार है:– श्रमिक (श्रमसंघ) जिस मजदूरी के लिए संघर्ष कर रहे हैं वह मजदूरी दर S(Ps) के बराबर हैं, किन्तु नियोक्ता के विचाराधीन जो मजदूरी दर है वह मजदूरी दर S(P) के बराबर है। श्रमिक जिस मजदूरी के लिए संघर्ष कर रहे हैं उस मजदूरी तथा नियोक्ता जो मजदूरी देने का विचार कर रहा है उसका अन्तर बराबर है =[S(Ps)-S(P)]। दोनों मजदूरी दरों का अन्तर अर्थात [S(Ps)-S(P)] श्रमिकों की सन्तुष्टि की लागत कहलाता है। श्रमिक जिस मजदूरी के लिए संघर्ष कर रह है वह मजदूरी दर बराबर है [S(Ps)]। नियोक्ता समझोते के बाद जो मजदूरी देते हैं वह मजदूरी दर Sc के बराबर है। इन दोनों मजदूरी दरों का अन्तर अर्थात् [S(Ps)-Sc] श्रमिकों की असन्तुष्टि की लागत कहलाता है।

श्रमिकों की समझौता करने की अभिवृत्ति को इस प्रकार ज्ञात किया जा सकता है– श्रमिकों की सन्तुष्टि की लागत [S(Ps)-S(P)] में श्रमिकों की असन्तुष्टि की लागत [S(Ps)-Sc] का भाग देते हैं तथा जोखिम मूल्यांकन Φ से गुणा करते हैं जो परिणाम आता है उसमें से विरोधी पक्ष के विरोध [B(P)-Bc] को घटाते हैं, घटाने पर जहां परिणाम शून्य आता है वहीं समझौता हो जाता है। इसी प्रकार नियोक्ता के समझौते की अभिवृत्ति को ज्ञात किया जा सकता है।

16.5.3 पेन के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त का मूल्यांकन

पेन का सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त बताता है कि यदि नियोक्ता शक्तिशाली है तो मजदूरी नहीं बढ़ाते हैं और यदि बढ़ाते भी हैं तो अधिक नहीं बढ़ाते हैं। इसके विपरीत यदि श्रम संघ शक्तिशाली है तो नियोक्ताओं पर दबाव डालकर मजदूरी बढ़वाने में सफल हे जाते हैं। पेन का सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि जो पक्ष समझौता

करने के लिए प्रथम प्रस्ताव रखता है वही पक्ष कमजोर होता है। इसके अलावा यह सिद्धान्त इस बात पर भी जोर देता है कि समय स्वयं ही दोनों पक्षों को समझौता करने की अभिवृत्ति में ले आता है। जैसे जैसे हड़ताल की अवधि बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही दोनों पक्षों की समझौता करने की अभिवृत्ति भी बढ़ती जाती है। अन्त में दोनों पक्ष समझौता करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

16.6 मजदूरी के सौदाकारी सिद्धान्त की आलोचनाएं :

मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती है—

(i) मजदूरी निर्धारण में केवल सौदाकारी शक्ति का ही एक मात्र हाथ नहीं रहता, बल्कि उद्योग की भुगतान क्षमता, विभिन्न उद्योगों में प्रचलित मजदूरी दरें तथा श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता का भी महत्व होता है।

(ii) यह आवश्यक नहीं है कि सौदाकारी द्वारा निर्धारित मजदूरी श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर ही हो। यदि सौदाकारी द्वारा निर्धारित मजदूरी श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य से अधिक है तो नियोक्ता उत्पादन बन्द कर सकता है।

(iii) सौदकारी के माध्यम से हुए समझौते की सामाजिक व आर्थिक लगाते बहुत ऊँची होती है। हड़ताल व तालाबन्दी के दौरान उत्पादन की क्षति होती है तथा उपभोक्ता वर्ग को कष्ट उठाना पड़ता है। नियोक्ता को भी लाभ की हानि होती है।

(iv) सौदाकारी सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता इसका अवसरवादी गुण है। यदि समय श्रमिकों के पक्ष में है तो समझोता श्रमिकों के पक्ष में हो जाता है तथा श्रमिक मजदूरी बढ़वाने में सफल हो जाते हैं अन्यथा श्रमिक मजदूरी बढ़वाने में असफल रहते है।

(v) विकसित देशों में जहां श्रमसंघ सुदृढ़ है के लिए यह सिद्धान्त ठीक हो सकता है किन्तु विकासशील देशों में जहां श्रमसंघ दुर्बल होते हैं वहां यह सिद्धान्त सफल नहीं हो सकता।

आलोचनाओं के बाद भी सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त में बहुत कुछ सरलता है। वर्तमान अर्थ-व्यवस्थाओं पर पूंजीवाद का प्रभाव अधिक है। पूंजीवाद में पूंजीपति नियोक्ता श्रमिकों का शोषण करते हैं। श्रमिकों को उनके सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर मजदूरी नहीं दी जाती है। यदि श्रमसंघ सुदृढ़ व सुसंगठित है तो वे सौदाकारी शक्ति द्वारा सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

16.7 सामूहिक सौदाकारी की सफलता की शर्तें

इस बात को स्वीकार करना होगा कि सामूहिक सौदाकारी अनुबन्धो (Contracts) तथा दूसरे पक्ष के लिए सम्मान और व्यवसाय के लाभप्रद ढंग पर जारी रखने, निरन्तर रोजगार एवं आय तथा औद्योगिक जीवन में कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने के सुदृढ़ आधार पर निर्भर करती है। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि हड़तालों या तालाबन्दियों के घटित होने का अर्थ सामूहिक सौदाकारी प्रक्रिया की असफलता नहीं है। राज्य द्वारा निर्धारित उचित आचरण के कुछ नियमों को ध्यान में रखते हुए की गई हड़ताल या तालाबन्दी अथवा इस तरह की कार्यवाही की आशंका को सामूहिक सौदाकारी प्रक्रिया के एक अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया जाता है। हड़ताल करने के अधिकार एवं इसकी सामर्थ्य के बिना एक श्रमिक संघ वास्तव में एक दुर्बल सौदाकार रहेगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में सेवायोजक के लिए कोई समाधान निकालने या समझौता करने के लिए थोड़ी प्रेरणा ही मिलेगी।

यदि कुछ शर्तों की पूर्ति हो जाए तो सामूहिक सौदाकारी संघर्षों को सुलझाने और श्रमिकों के हित को बढ़ाने का एक अत्यन्त प्रभावशाली साधन हो सकती है—

(i) सुसंगठित मान्यता प्राप्त श्रम संघः-

सामुहिक सौदाकारी की सफलता की प्राथमिक शर्त सुसंगठित एवं सुनिश्चित नीतियों वाले पूर्णतया मान्यताप्राप्त श्रम संघ होना आवश्यक है। यदि एक उपक्रम में एक ही श्रम संघ हो तो सामूहिक सौदाकारी अधिक सफल हो सकती है क्योंकि हर एक श्रम संघ अलग अलग राजनीतिक पार्टियों से जुड़े होते हैं ऐसी स्थिति में दो अलग अलग राजनैतिक विचार धारा वाले संघ आपस में एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश में लगे रहते हैं जिसका भरपूर फायदा सेवा योजक उठाने की कोशिश करते हुए श्रम संघों को आपस में लड़ाते रहते हैं।

(ii) श्रमिक संघ एवं सेवायोजक के मध्य लेने देने की भावना

जब सेवायोजक एवं श्रमिकों के मध्य लेने देने (Give and Take) की भावना होती है तब सामूहिक सौदाकारी औद्योगिक संघर्षों को सुलझाने की एक प्रभावशील तकनीक बन जाती है। दोनों में से यदि एक भी पक्ष अड़ियल रूख अपनाता है तब यह विधि अपर्याप्त होती है ऐसी स्थिति में कानूनी प्रक्रिया अपनानी पड़ती है।

(iii) आपसी सुविश्वास

सामूहिक सौदाकारी द्वारा ऐच्छिक आधार पर किये गये ठहराव और दशाओं के पीछे कोई वैधानिक समर्थन नहीं होता, इसलिए सम्बन्धित पक्षों को पारस्परिक ठहराव के आधार पर सुविश्वास के साथ अपनी कार्यविधियां एवं कार्यकलाप करने चाहिए तथा दोनों पक्षों को समझौते का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

(iv) नैतिक बल

श्रमिक नेताओं और सेवायोजकों के नेतिक बल पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। एक दूसरे के दृष्टिकोण को पूर्ण तथा वास्तविक रूप में समझना और उसका आदर करना चाहिए। श्रमिकों और सेवायोजकों के प्रतिनिधियों के मध्य आमने सामने बैठकर होने वाली सभाओं द्वारा किसी लाभप्रद उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जबकि दोनों ही पक्ष अपनी परम्परागत द्वेष भावनाओं को दूर रखें। श्रमिकों एवं सेवायोजकों दोनों को यह भली भांति जान लेना चाहिए कि नैतिकता के बल पर विरोधी को झुकाया जा सकता है।

(v) अन्य बातें:

दोनों पक्षों को यह अनुभव करना चाहिए कि मूल्य स्थिरीकरण आवश्यक है तथा बाजार मूल्य एवं मजदूरी में पर्याप्त तालमेल होना चाहिए।

दोनों पक्षों को राजकीय नियमन का पालन करने के लिए तैयार होना चाहिए।

समझोते हेतु ईमानदार, योग्य तथा उत्तरदायित्व पूर्ण नेतृत्व आवश्यक है तथा यह नेतृत्व अनुबन्ध को लागू करने में सक्षम होना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 01 सामूहिक सौदेकारी की सफलता की शर्तें बताइए?

16.8 सारांश

नियोक्ताओं एवं श्रमिकों के मध्य पारस्परिक हितों में टकराव के कारण समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं। इन समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न प्रकार की विधियों की खोज की जाती रही है। इन्हीं विधियों में से एक सामूहिक सादेबाजी भी है जिसका प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। सामूहिक सौदेबाजी को औद्योगिक सम्बधों का अभिन्न अंग माना गया है।

नियोक्ता एवं श्रमिकों में किसी समस्या के समाधान के लिए किये वार्तालाभ की प्रक्रिया को सामूहिक सौदेबाजी कहते हैं। इसके अर्न्तगत किसी तीसरे पक्षकार की सहायता लिए बिना नियोक्ता व श्रमिक विद्यमान या भावी मत भेदों को बातचीत के द्वारा निपटाने का प्रयास करते हैं। सामूहिक सौदेवाजी वार्ता करने एवं समझौता करने की एक प्रक्रिया है। ऐसी वार्ता या समझौता दो पक्षकारों के मध्य सम्पन्न होता है, जिसमें से एक या दोनों की पक्ष उन व्यक्तियों के समूह का अंग होता है जो कि संयुक्त रूप से सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्यरत हों सामूहिक सौदेबाजी शब्द का प्रयोग अंग्रेज अर्थशास्त्री वेव द्वारा सर्वप्रथम 1891 में किया था।

मजदूरी के सौदाकारी शक्ति सिद्धान्त में मजदूरी दरों की 2 सीमाएं होती हैं। मजदूरी दर की ऊपरी सीमा— यह व्यवसाय की लाभदायकता श्रम के स्थान पर मशीन का प्रतिस्थापन, श्रम द्वारा उपादित वस्तुओं की मांग की लोच पर निर्भर करती है। मजदूरी की निम्नतम सीमा यह श्रमिकों का जीवन स्तर, जीवन निर्वाह लागत, श्रम की आर्थिक दशा, श्रम संघों की स्थिति पर निर्भर करती है।

मजदूरी का निर्धारण इन दोनों सीमाओं के बीच असंलाग बिन्दु (स्टिकिंग पाइन्ट) पर होता है। श्रमिक इस बिन्दु से नीचे मजदूरी लेना स्वीकार नहीं करते तथा नियोक्ता इस बिन्दु से अधिक मजदूरी देना नहीं चाहते।

सौदाकारी सिद्धान्त के बारे में हिक्स का विचार है कि नियोक्ता श्रमिकों की ऊँची मजदूरी की मांग और सम्भावित हड़ताल से क्षति दोनों की तुलना करता है दोनों स्थितियों में जो कम हानिकारक हो नियोक्ता उसे ही चुनता है। नियोक्ता द्वारा दी जाने वाली उच्चतम मजदूरी पर कार्य क्षति की लागत व सम्भावित रियायत की लागत दोनों बराबर होती हैं। मजदूरी दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होती है जहां नियोक्ता का रियायती वक्र तथा श्रम संघ का प्रतिरोध वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

हिक्स के विचारों को अर्धशास्त्री शैकल व पेन ने आलोचना की है। पेन का मानना है कि हिक्स विधि से उस समय की मजदूरी तय हो सकती है जब सम्भावित हड़ताल अवधि को पता हो। शैकल का मानना है कि इस सिद्धान्त में कोई नई बात नहीं है यह मार्शल की कैंची के दो फलनों वाली बात को दोहराना मात्र है।

सौदाकारी सिद्धान्त के बारे में शैकल का विचार है कि सामुहिक सौदाकारी श्रमिकों व नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति पर निर्भर करती है। श्रमिकों की सौदाकारी अभिवृत्ति का निर्धारण नियोक्ता के साथ असन्तुष्ट होने की लागत तथा नियोक्ता के साथ सन्तुष्ट होने की लागत द्वारा होता है। यदि श्रमिकों की सौदाकारी अभिवृत्ति का मूल्य एक से

अधिक आता है तो श्रमिक समझौता करने के पक्ष में होंगे। यदि यह मूल्य एक से कम है तो श्रमिक समझौता करने के पक्ष में नहीं होंगे।

नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति का निर्धारण श्रमिकों के साथ असन्तुष्ट होने की लागत तथा श्रमिकों के साथ सन्तुष्ट होने की लागत द्वारा होता है। यदि नियोक्ता की सौदाकारी अभिवृत्ति का मूल्य 1 से कम है तो नियोक्ता समझोता नहीं करेंगे। इसके विपरीत यह मूल्य यदि 1 से अधिक है तो सेवायोजक आसानी से समझौते के पक्ष में होंगे। पेन ने सौदाकारी को योकर अथवा ताश के खेल के समान करना है जो पक्ष लड़ने की प्रवृत्ति अधिक रखता है समझौता उसी के पक्ष में होगा।

पेन का खेल सिद्धान्त बताता है कि यदि नियोक्ता शक्तिशाली है तो मजदूरी नहीं बढ़ाते हैं और यदि बढ़ाते भी हैं तो बहुत कम बढ़ाते हैं इसके विपरीत यदि श्रम संघ शक्तिशाली है तो मजदूरी बढ़वाने में सफल हो जाते हैं। पेन के अनुसार जो पक्ष समझौता करने के लिए प्रथम प्रस्ताव रखता है वही पक्ष कमजोर होता है। पेन के अनुसार समय स्वयं ही दोनों पक्षों को समझौते की स्थिति में ले आता है जैसे जैसे हड़ताल की अवधि बढ़ती जाती है समझौता करने की अभिवृत्ति बढ़ती जाती है।

मजदूरी के सौदाकारी सिद्धान्त की आलोचनाएं भी की गई हैं। मजदूरी निर्धारित में केवल सोदाकारी शक्ति का ही हाथ नहीं रहता है बल्कि उद्योग की भुगतान क्षमता, श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता का भी हाथ होता है। यह आवश्यक नहीं कि सौदाकारी द्वारा निर्धारित मजदूरी श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता के बराबर ही हो। सौदाकारी के माध्यम से हुए समझौतों की सामाजिक व आर्थिक लागतें बहुत होती हैं। सौदाकारी की दुर्बलता उसका अवसरवादी होना है। यह विधि उन देशों में अधिक सफल है जहां सुदृढ़ श्रम संघ है।

सामूहिक सौदाकारी की सफलता के लिए — ससंगठित मान्यता प्राप्त श्रम संघ, श्रमिक संघ एवं सेवा योजक के मध्य लेने और देने की भावना, आपसी सुविश्वास नैतिक बल आवश्यक है।

16.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें–

1. Richardson J.H. An Introduction to the Study of Industrial Relations.
2. Indian Labour Journal
3. Adolf sturmlthal, Contemporary Collective Bargaining.
4. Harold W. Davery, Contem porany collective Barganing.
5. Report on the National Commission on Labour.
6. आर.सी. अग्रवाल एवं एन.एस कोसरी — श्रम सन्नियम एवं सामाजिक सुरक्षा
7. आर सी अग्रवाल एवं एन एस कोठारी - औद्योगिक सम्बन्ध
8. वी.सी सिन्हा — श्रम अर्थशास्त्र
9. टी. एन. भगोलीवाल - श्रम अर्थशास्त्र

16.10 अभ्यासों के उत्तर:

बोध प्रश्न 1

1. तीन विधियों से होता है
   (i) व्यक्तिगत सौदाकारी
   (ii) सामूहिक सौदाकरी तथा
   (iii) सरकार द्वारा मजदूरी का कानूनी नियमन
2. (i) श्रमिक का जीवन स्तर
   (ii) जीवन निर्वाह लागत
   (iii) श्रम की गतिशीलता
   (iv) श्रमिकों की आर्थिक दशा
   (v) श्रमसंघों की स्थिति
3. मजदूरी का निर्धारण उच्चतम एवं निम्नतम सीमाओं के बीच संलाग बिन्दु (स्टिकिंग प्वाइन्ट) पर होता है।

बोध प्रश्न 2

1. (i) सुसंगठित मान्यता प्राप्त श्रम संघ
   (ii) श्रमिक संघ एवं सेवायोजक के बीच लेन देन की भावना
   (iii) आपसी सुविश्वास
   (iv) नैतिक बल

इकाई 17

मजदूरी ढ़ाँचा और मजदूरी भिन्नता

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 मजदूरी भिन्नता

17.2.1 मजदूरी भिनता के कारण

17.2.2 समकारी अन्तर

17.2.3 असमकारी अन्तर

17.3 मजदूरी भिन्नता के प्रकार

17.4 पुरूषों तथा स्त्रियों की मजदूरियों में अन्तर के कारण

17.5 सारांश

17.6 निबन्धात्मक प्रश्न

17.0 उद्देश्य

व्यवहार में विभिन्न उद्योगों में मजदूरी दरें बहुत विभिन्न देखी जाती है और एक ही उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की मजदूरी में भी अन्तर देखा जाता है। समान कार्य करने वाली महिलाओं को पुरूषों की अपेक्षा सामान्यतया कम वेतन दिया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अभाव के कारण मजदूरियां कम हैं जबकि शहरों में अधिक। हम इस इकाई में मजूदरी भिन्नता का ही अध्ययन करेंगे और जानने का प्रयास करेंगे कि आखिर वे कौन-कौन से प्रमुख कारण हैं, जिनकी वजह से एक ही उद्योग में कार्य करने वाले और अलग उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की मजदूरियां अलग अलग दी जाती हैं? आर्थिक विकास का मजदूरी भिन्नता पर क्या प्रभाव पड़ता है?

17.1 प्रस्तावना

प्रायः देखा गया है कि श्रमिकों की पूर्ति अधिक होने के कारण उत्पादक श्रमिकों को कम से कम मजदूरी देने का प्रयास करता है। इतना ही नहीं एक ही व्यवसाय में विभिन्न श्रमिकों को अलग अलग मजदूरी दी जाती है। कारण श्रमिकों की योग्यता, कुशलता, गतिशीलता में अन्तर हो सकता है श्रमिक यदि अस्थायी है तो स्थायी श्रमिक की तुलना में कम मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। विभिन्न व्यवसायों में भी मजदूरी दरों में भारी अन्तर देखने को मिलता है। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में अलग-अलग समयों पर मजदूरियां अलग-अलग देखी जा सकती हैं प्रश्न उठता है कि आखिर ये मजूदरी भिन्नताएं क्यों उत्पन्न होती हैं, क्षेत्रीय आधार लिंग के आधार पर महिलाओं और पुरूषों को क्यों मजदूरी विभिन्नताओं का सामना करना पड़ता है? समान योग्यता और कुशलता देने पर भी मजदूरियों में भेदभाव एक गम्भीर समस्या है।

17.2 मजदूरी भिन्नता :

विभिन्न क्षेत्रों अथवा उद्योगों या एक ही उद्योग की विभिन्न इकाईयों अथवा एक ही रोजगार एवं श्रेणी के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य मजदूरी की दरों के पाये जाने वाले अन्तर को, ''मजदूरी-भिन्नता'' कहते हैं। मजदूरी की यह भिन्नता अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तरउद्योगीय दोनों ही प्रकार की हो सकती है। कभी-कभी अपूर्ण बाजार की परिस्थितियों के कारण तथा श्रमिकों की कुशलता में अन्तर होने के फलस्वरूप एक ही उद्योग की विभिन्न इकाईयों अथवा विभिन्न श्रेणियों के श्रमिकों के बीच मजदूरी - भिन्नता पायी जाती है। यदि रोजगार के सम्पूर्ण क्षेत्र में श्रमिकों की स्वतन्त्र गतिशीलता पाई जाये तो वास्तविक मजदूरी की प्रकृति प्रत्येक प्रकार के रोजगार में संलग्न श्रमिकों की सापेक्षिक कुशलता के अनुपात में रहने की होगी। इस प्रकार की स्थिति में समान रूप से कुशल श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी भी समान होगी। किन्तु व्यावहारिक जीवन में श्रमिकों की स्वतन्त्र गतिशीलता अनेक सामाजिक एवं आर्थिक कारणों के फलस्वरूप सीमित होती है। इस प्रकार मजदूरी में अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्व्यवसायी अन्तर होना स्वाभाविक है। अधिकांश व्यवसायों में मजदूरी-दरों की भिन्नता श्रमबाजार की दशाओं में अन्तर का कारण होती है, जबकि वास्तव में यह भिन्नता लागत और रहन सहन के स्तर के रूप में तथा उसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास के स्तर के रूप में अधिक प्रकट होती है। श्रम की सापेक्षिक अधिकता वाले क्षेत्र में एक अविकसित क्षेत्र की तथा श्रम की न्यूनता वाले क्षेत्र में एक विकसित क्षेत्र की विशेषताएँ पायी जाती हैं।

17.7.1 मजदूरी भिन्नता के कारण

विभिन्न व्यवसायों, उद्योगों, क्षेत्रों तथा श्रमिकों के बीच पायी जाने वाली मजदूरी भिन्नता के अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं, जो निम्नलिखित हैं:

श्रम बाजार में अप्रतियोगी समूहों की उपस्थिति

सैद्धान्तिक विश्लेषण करते समय श्रमिकों को सजातीय माना जाता है, जबकि वास्तविक स्थिति यह होती है कि शारीरिक एवं मानसिक गुणों, शिक्षा एवं प्रशिक्षण सम्बन्धी योग्यता के आधार पर श्रमिको को अनेक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, जैसे कुशल श्रमिक वर्ग, अकुशल श्रमिक वर्ग, अर्द्धकुशल श्रमिक वर्ग, अध्यापक वर्ग, चिकित्सक वर्ग आदि। एक वर्ग के श्रमिकों मे परस्पर प्रतियोगिता पाई जाती है, किन्तु श्रमिकों के विभिन्न वर्गों के बीच कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती। अतः श्रमिकों के विभिन्न वर्ग अप्रतियगी कहलाते हैं। प्रत्येक वर्ग के श्रमिकों की मजदूरी उनकी मांग और पूर्ति की दशाओं के आधार पर निर्धारित होती है। अतः विभिन्न अप्रतियोगी वर्गों के श्रमिकों की मजदूरियों में अन्तर पाया जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि प्रत्येक वर्ग के श्रमिकों की मांग पूर्ति की दशायें भिन्न होती हैं उदाहरणस्वरूप डाक्टरी की शिक्षा और प्रशिक्षण में अधिक समय और धन व्यय होता है। अतः इनकी पूर्ति सीमति और मजदूरी की दर उच्च होती है। इसके विपरीत कुशल या अर्द्धकुशल श्रमिकों की पूर्ति बहुत अधिक होने के कारण उनकी मजदूरी की दर नीची होती है। कभी-कभी अप्रतियोगी वर्ग के अन्तर्गत भी एक गैर प्रतियोगी वर्ग पाया जाता है, जैसे- चिकित्सकों के अप्रतियोगी वर्ग के अन्तर्गत बाल-रोग विशेषज्ञों-नाक, कान, दांत या आंख विशेषज्ञों के अप्रतियोगी वर्ग। इस प्रकार एक वर्ग के अन्तर्गत जो विभिन्न अप्रतियोगी वर्ग पाये जाते है, उनकी मजदूरियों में भी अन्तर पाया जाता है। अतः अप्रतियोगी वर्ग का विचार उन विभिन्न कार्यों अथवा व्यवसायों में मजदूरी भिन्नता के अभिप्राय को स्पष्ट करने में सहायक होता है, जिनके लिए योग्य एवं उपयुक्त श्रमिकों की उपलब्धता सीमित होती है।

17.2.2 समकारी अन्तर

मजदूरी के वे अन्तर जो कार्यों अथवा व्यवसायों के अमौद्रिक लाभों के अन्तर की क्षतिपूर्ति करते हैं, उनको समकारी अन्तर कहते हैं, कुछ कार्य अथवा व्यवसाय अमौद्रिक लाभों के परिणामस्वरूप अधिक आकर्षक होते हैं, जबकि इसके विपरित कुछ कम आकर्षक अथवा सुखप्रद होते हैं, क्योंकि उनमें अमौद्रिक लाभ न के बराबर या बहुत कम होता है। अथवा उनमें अत्यधिक जोखिम होता है या स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालते हैं। कम सुख प्रद कार्यों अथवा व्यवसायों के लिए यह आवश्यक है कि वह श्रमिक को आकर्षित करने की दृष्टि से उनको अमौद्रिक लाभों की क्षतिपूर्ति के रूप में, अन्य कार्यों या व्यवसायों की अपेक्षाकृत अधिक मौद्रिक मजदूरी प्रदान करें। इस प्रकार, अमौद्रिक कारणों से विभिन्न कार्यों या व्यवसायों की मजदूरियों में पाये जाने वाले अन्तर को ही "समकारी" अन्तर कहते हैं।

मजदूरी - भिन्नता उत्पन्न करने वाले अमौद्रिव तत्व

(1) कार्य का स्थायित्व एवं नियमितता - जिन व्यवसायों में श्रमिकों का कार्य अनियमित अथवा अस्थायी प्रकृति का होता है, उनमें श्रमिकों की नियमित एवं स्थायी कार्य वाले व्यवसायों की तुलना में मजदूरी अधिक देनी पड़ती है। अस्थायी अथवा अनियमित व्यवसायों के श्रमिक बीच बीच में बेरोजगार होते रहते हैं। अतः बेरोजगारी के समय में परिवार का लालन-पालन की दृष्टि से उन्हें अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी प्रदान करनी पड़ती है।

(2) कार्य की प्रगति - जोखिम वाले तथा स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालने वाले व्यवसायों में श्रमिकों की पूर्ति करने की दृष्टि से उनको अन्य व्यवसायों की अपेक्षा उच्च मजदूरी देनी पड़ती है।

(3) कार्य का दायित्व एवं विश्वसनीयता - जिन कार्यों एवं व्यवसाय के लिए अधिक विश्वास एवं उत्तरदायित्व आवश्यक होता है। जैसे- बैंक मैनेजर कोषाध्यक्ष आदि (उन कार्यों के लिए श्रमिकों को अपेक्षाकृत उच्च मजदूरी प्रदान करनी पड़ती है।

(4) कार्य की अरूचिपूर्णता - जिन कार्यों में श्रमिकों की अरूचि होती है तथा जिसे सामाजिक प्रतिष्ठा नीची होती है, उन कार्यों के लिए श्रमिकों को उच्च मजदूरी प्रदान की जाती है। किन्तु जिन कार्यों को अकुशल श्रमिक कर सकते हैं तथा सामाजिक अथवा अन्य कारणों से दूसरा कार्य नहीं कर सकते जैसे - कसाई, भंगी आदि कार्य, उन कार्यों में मजदूरी दर नीची होती है।

(5) कार्याविधि : जिन व्यवसायों में दैनिक कार्य के घण्टे अधिक तथा अवकाश की कम सुविधायें होती हैं उनमें भी श्रमिकों को अपेक्षाकृत उच्च मजदूरी प्रदान करनी पड़ती है।

(6) प्रशिक्षण सम्बन्धी लागत और कठिनाई - जिन कार्यों के लिए प्रशिक्षण पर अधिक व्यय होता है या अधिक परिश्रम करना पड़ता है, उन कार्यों में मजदूरी की दर अपेक्षाकृत उच्च रहती है।

(7) भावी उन्नति की आशा - भविष्य में उन्नति के उत्तम अवसर रखने वाले व्यवसायों में श्रमिकों की मजदूरी प्रायः नीची होती है।

(8) स्थान - विशेष पर मूल्य स्तर छोटे-छोटे कस्बों की तुलना में बड़े नगरों में वस्तुयें तथा सेवायें अत्यधिक महंगी होती हैं। अतएव बड़े नगरों के व्यवसायों में श्रमिकों को अपेक्षाकृत उच्च मजदूरी देनी पड़ती है।

(9) अन्य सुविधायें - जिन व्यवसायों में श्रमिकों को निःशुल्क चिकित्सा सुविधा, निःशुल्क आवास, बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा आदि अनेक सुविधायें प्राप्त होती हैं, उनमें सामान्यतः नकद मजदूरी की दर नीची रहती है।

17.2.3 अ-समकारी अन्तर

वास्तव में संसार में समस्त श्रमिक समान योग्यता एवं गुणों वाले नहीं होते हैं, अतः उनकी मजदूरियों में विद्यमान समस्त भिन्नताओं का विश्लेषण समकारी अन्तरों के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रायः एक ही व्यवसाय या एक समान कार्यों में लगे हुए श्रमिकों को मजदूरियों में भी भिन्नता देखने को मिलती है, उसका विशलेषण अ-समकारी अन्तर के द्वारा सम्भव है।

अ-समकारी अन्तर दो प्रकार के होते हैं (1) बाजार सम्बन्धी अपूर्णतायें तथा (2) श्रमिकों के गुण में अन्तर। भौगोलिक एवं संस्थागत अथवा सामाजिक अगतिशीलतायें, एकाधिकारी प्रवृत्ति तथा सरकारी हस्तक्षेप आदि बाजार सम्बन्धी अपूर्णताओं को उत्पन्न करते हैं। किसी भी व्यवसाय में शक्तिशाली श्रमिक संघ का होना अथवा सरकारी हस्तक्षेप के फलस्वरूप भी मजदूरी की दर उच्च होती है। इसी प्रकार एक व्यवसाय में दो स्थानों या क्षेत्रों के बीच श्रमिकों की भौगोलिक अगतिशीलता के फलस्वरूप भी मजदूरी की दरों में भिन्नता सम्भव हो सकती है। प्रायः श्रमिक पारिवारिक अथवा सामाजिक बन्धनों के कारण अन्य स्थानों पर अच्छे कार्य के अवसरों तथा उच्च मजदूरी के सम्बन्ध में श्रमिकों की अज्ञानता, नई परिस्थितियों के साथ सामन्जस्य करने की अनिच्छा विभिन्न क्षेत्रों के बीच भाषा समस्या, खान पान और रीति रिवाज सम्बन्धी अन्तर आदि अनेकों कारणों से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने को इच्छुक नहीं होते। बाजार सम्बन्धी अपूर्णताओं के अलावा भी श्रमिकों की व्यक्तिगत कुशलता अनुभव शिक्षा एवं प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्तरों के कारण भी मजदूरी में अन्तर होता है।

17.3 मजदूरी भिन्नता के प्रकार

मजदूरी सम्बन्धी भिन्नतायें मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैः

1. रोजगार बाजारों की अपूर्णताओं के कारण उत्पन्न मजदूरी भिन्नताएं
2. सामाजिक मूल्यों तथा पक्षपात के फलस्वरूप उत्पन्न मजदरी भिन्नताएं
3. व्यावसायिक मजदूरी भिन्नतायें

रोजगार बाजार की अपूर्णताओं के कारण उत्पन्न मजदूरी भिन्नतायें विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में होती है। रेयनोन्डस के अनुसार ''अन्तर्द्योगीय व मजदूरी भिन्नता की प्रवृति औद्योगीकरण की पारम्भिक अवस्थाओं में अधिकतम तथा उसके उपरान्त धीरे-धीरे घटने की होती है।'' इसका कारण यह है कि विकसित देशों की तुलना से अल्पविकसित देशों के रोजगार बाजरों में पूर्णतायें अधिक दृष्टिगोचर होती है। प्रतिस्पर्धी परिस्थितियों में अन्तर्उद्यमीय मजदूरी अन्तर प्रायः तीन कारणों से विद्यमान होते हैः

(1) विभिन्न फर्मों द्वारा कार्य पर लगाये गये श्रमिकों की श्रेणी में अन्तर,

(2) श्रम बाजार की अपूर्णतायें, और

(3) साज-सज्जा एवं प्रबन्ध कौशल में अन्तर।

विकसित देशों में छोटे-बड़े सभी व्यावसायिक संस्थान एक ही रोजगार बाजार में श्रमिकं के लिए पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करते हैं। अतः विकसित देशों में रोजगार-बाजार की पूर्णतया से उत्पन्न मजदूरी-अन्तर कम व्यापक होते हैं। इसके विपरीत, अल्पविकसित देशों में बड़े एवं छोटे व्यवसायिक संस्थानों के बीच विद्यमान मजदूरी अन्तर अधिक व्यापक होता है, क्योंकि इन देशों में औद्योगिक संस्थान श्रमिकों के सामान्य आधिक्य के कारण अलग-अलग रोजगार-बाजार निर्मित कर लेते हैं।

सामाजिक मूल्यों तथा पक्षपातों के फलस्वरूप मजदूरी - भिन्नताओं पर आर्थिक शक्तियों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ता है।

मजदूरी में व्यावसायिक अन्तर, कुशलता सम्बन्धी भिन्नताओं पर आधारित होने के कारण असीमित रूप में पाए जाते हैं, जबकि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत इन मजदूरी भिन्नताओं में कमी होने की प्रवृति होती है। एम.डब्ल्यू. रैडर के अनुसार, ''प्रतिस्पर्धा दशाओं के अन्तर्गत, दीर्घकाल में एक निश्चित वर्ग के श्रमिकों को जो मजदूरी एक उद्योग में प्रदान की जायेगी वह मजदूरी उस क्षेत्र के अन्य उद्योगों में लगे वैसे ही श्रमिकों को मिलेगी।'' कुशल एवं अकुशल श्रमिक का मजदूरियों में अन्तर विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में अधिक होता है। शारीरिक तथा गैर शारीरिक श्रम की मजदूरियों में अन्तर विकासशील देशों में बढ़ता जा रहा है।

यहाँ अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या विभिन्न प्रकार की मजदूरी भिन्नतायें अपरिहार्य है? जनशक्ति, राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि तथा आर्थिक संसाधनों के लिए आवंटन से मजदूरी-भिन्नता की समस्या आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रतिवेदन के अनुसार, ''अधिकतम आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण एक सीमा तक इस प्रकार के मजदूरी अन्तरों पर आधारित होता है, जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न उद्योग व्यवसाय एवं भौगोलिक क्षेत्रों के बीच श्रमिकों का विभाजन इस प्रकार से कर सकें कि राष्ट्रीय उत्पादन अधिक्तम हो सके। आर्थिक संसाधनों का सम्पूर्ण शोषण हो सके और आर्थिक विकास की उच्च दर स्थापित करना सुविधाजनक हो सके।'' किसी भी देश में मजदूरी में प्रवृत्ति तथा सीमा, श्रम बाजार की दशाओं संघवाद का विस्तार तथा श्रमिकों एवं सेवायोजकों की सापेक्षिक सौदेबाजी की शक्ति, उत्पादकता वृद्धि की दर अधिकृत नियमन, रीति रिवाजों तथा परम्पराओं का केन्द्रित होना आदि बातों पर निर्भर करती है।

आर्थिक विकास तथा मजदूरी संबंधी विभिन्नताएं

आर्थिक विकास के साथ-साथ मजदूरी सम्बन्धी अन्तर कम होते जोते हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में श्रमिकों के विभिन्न प्रतियोगी वर्गों की मजदूरी दरें श्रम बाजार की दशाओं पर निर्भर करती हैं। साम्यवादी अर्थव्यवस्था से निजी सम्पत्ति के उन्मूलन द्वारा अनार्जित आय से उत्पन्न आय के अन्तरों को समाप्त करने के उपरान्त भी मजदूरी सम्बन्धी भिन्नताएं पायी जाती हैं। अतः मजदूरी सम्बन्धी भिन्नताओं को अपरिहार्य स्वीकार किया जाता है।

17.4 पुरुषों एवं स्त्रियों की मजदूरियों में अन्तर के कारण

औद्योगिक विकास के आधार पर विभिन्न देशों में मजदूरी की भिन्न-भिन्न दरे पाई जाती हैं। औद्योगिक विकास की दृष्टि से उन देशों में मजदूरी की उच्च दरें होती हैं तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों में यह देर कम होती है। उद्योगों में भी इसी प्रकार की स्थिति होती है। जिन उद्योगों की भुगतान क्षमता अधिक होती है, वे प्रायः अपने श्रमिकों को उच्च मजदूरी प्रदान करते हैं, इसे विपरीत जिन उद्योगों की भुगतान क्षमता कम होती है उनमें मजदूरी की दर भी कम होती है। मजदूरी

का यह भेदभाव देशों, उद्योगों के अतिरिक्त लिंग के आधार पर भी किया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को सदैव कम मजदूरी प्रदान की जाती है।

इस प्रकार यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मजदूरी न केवल राज्य-राज्य, उद्योग, वर्ग-वर्ग में भिन्न होती है अपितु यह लिंग-लिंग में भी भिन्नता रखती है। प्रायः स्त्री श्रमिकों को, पुरुष श्रमिकों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती है। ऐसा भारत में नहीं अपितु संसार के दूसरे देशों में भी होता है। स्त्रियों को पुरूषों की अपेक्षा कम मजदूरी देने के अग्रलिखित कारण है-

(1) साधारणतया पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति और कार्यक्षमता कम होती है, उनमें पर्याप्त शिक्षा का अभाव रहता है। वे केवल हल्के, सरल और छोटे कार्य कर सकती हैं। फलतः उनकी उत्पादन शक्ति कम होती है और इसलिए उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होती हैं। यहां यह कहना आवश्यक न होगा कि यह बहुत विवाद ग्रस्त प्रश्न है। यह एक भ्रम मात्र ही है कि स्त्रियों में शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम करने की शक्ति कम होती है, वैज्ञानिक अनुभाव भी इस बात का समर्थन करता है।

(2) अधिकांशतया स्त्रियां किसी भी कार्य को स्थायी रूप से नहीं ग्रहण करती है। वे अल्पकाल के लिए कार्य करना पसन्द करती है। पचास प्रतिशत से भी अधिक स्त्रियां विवाह के पश्चात कार्य करना छोड़ देती है। साथ ही उन्हें परिवार के पालन पोषण की जिम्मेदारी पुरुषों की अपेक्षा कम उठानी पड़ती है। कम मजदूरी से भी उनका कार्य चल जाता है अस्थायी श्रम सदैव ही कम मजदूरी पाता है। नियोजक भी ऐसा अनुभव करते हैं कि उनके प्रशिक्षण आदि पर व्यय करना लाभप्रद नहीं है, क्योंकि प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात यह आवश्यक नहीं है कि स्त्री श्रमिक कार्य ही करें। उनकी अस्थायी प्रवृत्ति के कारण नियोजक उन पर उत्तरदायित्व का कार्य छोडने में डरते हैं। उनकी दृष्टि में स्त्री से पुरूष अधिक विश्वास योग्य होता है।

(3) स्त्री श्रमिकों का कार्य क्षेत्र सीमित है। उनके लिए व्यवसाय गिने-चुने हैं। ये प्रायः अकुशल कार्य के लिए रक्खी जाती है जिनकी कि मजदूरी की दर कम रहती है, व्यवसायों के सीमित होने के कारण श्रम की मांग भी सीमित रहती है।

(4) पुरुषों की भांति स्त्री श्रम का संगठन कम होता है। स्त्री श्रमिक संघ के अभाव में असंगठित रहकर अपनी मजदूरी बढ़ाने में असमर्थ रहती है।

(5) प्रायः स्त्रियां अपनी मजदूरी को परिवार की आय में थोडी सी वृद्धि कर लेना मात्र अथवा अपने शौकों की पूर्ति का साधन समझती है। वे इस विषय में तनिक भी चिन्तित नहीं रहती है कि उन्हें कितनी मजदूरी प्राप्त होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को संगठित करना कठिन होता है। निःसन्देह इसका एक कारण यह है कि बहुत सी अविवाहित लड़कियों को, जो माता पिता के साथ ही उनके घर रहती है, अपने जीवन निर्वाह के पूर्ण उत्तरदायित्व का सामना नहीं करना पड़ता, भले ही वे स्वयं अपना तथा अन्य व्यक्तियों को भी व्यय उठाती है और उन्हें उतने ही धन से सन्तोष हो जाता है जो उनके जेब खर्च तथा अपने निजी वस्त्र खरीदने के लिए पर्याप्त हो। नियोजक इस बात का पूर्ण लाभ उठाते हैं और उन्हें कम मजदूरी प्रदान करते हैं।

(6) स्त्रियों पर अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध है। अनेक रीति रिवाज जैसे- पर्दे की प्रथा, इत्यादि इस मार्ग में रूकावट डालते हैं। अनेक कार्य उनके लिए वर्जित हैं। रात्रि-पालियों में कार्य करना उनके लिए कारखाना अधिनियम के अनुसार वर्जित है।

(7) स्त्री श्रमिक, पुरुष श्रमिक की भांति अपने अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं कर सकती है। अतः पुरुषों की अपेक्षा उन्हें कम मजदूरी प्रदान की जाती है।

(8) स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक अवकाश तथा अन्य सुविधायें प्रदान की जाती हैं। फलतः उन्हें अपेक्षाकृत कम मजदूरी प्रदान की जाती है।

उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती है। परन्तु आजकल स्त्रियों में शिक्षा के प्रचार के कारण यह मांग तीव्र होती जा रही है कि स्त्री पुरुष दोनों ही समान मजदूरी दी जाये। हमारा संविधान भी समान कार्य के लिए समाज मजदूरी की व्यवस्था करता है। चाहे कार्य करने वाला पुरुष हो अथवा स्त्री। वास्तव में स्त्री श्रमिक को दी जाने वाली वास्तविक मजदूरी पुरुष श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी से सदैव अधिक होती है, क्योंकि उन्हें मातृत्व लाभ आदि अनेकों सुविधायें प्रदान करनी पड़ती हैं जिन पर काफी धन व्यय करना पड़ता है। सामाजिक दृष्टि से पुरुष और स्त्री को समान मानना चाहिए परन्तु समान वेतन के सिद्धान्त से स्त्री श्रमिक के रोजगार में कमी हो जायेगी। इस सिद्धान्त को लागू करने पर यह प्रत्यक्ष रूप से हुआ भी है। कुछ नियोजकों ने स्त्री श्रमिकों के स्थान पर पुरूष श्रमिकों की भर्ती कर ली है। इस प्रकार समान वेतन का सिद्धान्त हानिकारक है क्योंकि इससे बेरोजगारी के कारण स्त्री श्रमिक अपनी समस्त मजदूरी से वंचित रह जायेगी।

पाश्चात्य देशों में स्त्री श्रमिक संघ सुदृढ एवं संगठित होते जा रहे हैं। धीरे-धीरे स्त्रियों पर से सामाजिक प्रतिबन्ध भी समाप्त होते जा रहे हैं। जिनका परिणाम यह हो रहा है कि धीरे-धीरे स्त्रियों की मजदूरी में वृद्धि हो रही है। समाजवादी व्यवस्था के देशों में तो स्त्री पुरुष भिन्नता न रख दोनों को समान अधिकार प्राप्त है। इन देशों का अनुभव है कि स्त्रियां पुरुषों से किसी कार्य में पीछे नहीं है। यह विचार भ्रमात्मक है कि सभी व्यवसायों और उद्योगों में स्त्री श्रमिकों को कम मजदूरी प्रदान की जाती है। कुछ व्यवसाय तो प्रकृति में ऐसे होते हैं कि उनके लिए स्त्री श्रमिक ही अधिक उपयुक्त होती है तथा उनमें पुरुषों की अपेक्षा उन्हें अधिक मजदूरी प्राप्त होती है।

समान मूल्य के कार्य के लिए पुरुष और महिला श्रमिकों के लिए समान पारिश्रमिक सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अभिसमय संख्या 100 के कार्यान्वयन के प्रश्न पर 27-28 सितम्बर, 1974 को हुए श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन में विचार विमर्श किया गया था। श्रम मन्त्री सर्व सम्मति के सम्मेलन में इस बात के लिए सहमत थे कि जिन राज्यों से अभी तक इस अभिसमय को अक्षरशः और भावना के अनुकूल पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया है, उन्हें शीघ्र ही ऐसा करना चाहिए, राज्य सरकारों आदि से अनुरोध किया गया है कि वे इस विषय में समुचित कार्यवाही करें।

रोजगार व रोजगार के अवसरों और समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 के अनुसार महिलाओं को बराबर पारिश्रमिक के भुगतान के मामलों में महिलाओं के प्रति भेदभाव को रोकने के विचार से महिला सैल, महिला श्रमिकों के कल्याण की दृष्टि से नीतियां एवं कार्यक्रम तैयार करते हैं।

17.5 सारांश

विभिन्न क्षेत्रों अथवा उद्योगों या एक ही उद्योग की विभिन्न इकाईयों अथवा एक ही रोजगार एवं श्रेणी के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य मजदूरी की दरों में पाये जाने वाले अन्तर को मजदूरी भिन्नता कहते हैं। मजदूरी भिन्नता के उत्तरदायी कारण श्रम बाजार में अप्रतियोगी समूहों की उपस्थिति तथा समकारी अन्तर हैं। कुछ अमौद्रिक तत्व जैसे- कार्यों का स्थायित्व एवं नियमितता कार्य की

प्रकृति कार्य का दायित्व एवं विश्वसनीयता कार्य अवधि, प्रशिक्षण संबंधी लागत और कठिनाइयों भावी उन्नति की आशा स्थान विशेष पर रहन सहन की लागत तथा अतिरिक्त सुविधाएं आदि मजदूरी भिन्नता उत्पन्न करती है। प्रायः एक ही व्यवसाय या एक समान कार्य में लगे हुए श्रमिकों की मजदूरियों में भी भिन्नता देखने को मिलती है। इसका प्रमुख कारण बाजार संबंधी अपूर्णताएं तथा श्रमिकों के गुणों में अन्तर है।

मजदूरी भिन्नता के मुख्यतः तीन प्रकार है :-

(1) रोजगार बाजारों की अपूर्णताओं के कारण उत्पन्न मजदूरी भिन्नताएं,

(2) सामाजिक मूल्यों तथा पक्षपात के फलस्वरूप उत्पन्न मजदूरी भिन्नताएं,

(3) व्यावसायिक मजदूरी भिन्नताएं

आर्थिक विकास साथ साथ मजदूरी संबंधी अन्तर कम होते जाते हैं पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में श्रमिकों के विभिन्न प्रतियोगी वर्गों की मजदूरी दरें श्रम बाजार की दशाओं पर निर्भर करती है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति के उन्मूलन द्वारा अनार्जित आय से उत्पन्न आय के अन्तरों को समाप्त करने के उपरान्त भी मजदूरी संबंधी भिन्नताएं पाई जाती हैं। अतः मजदूरी अन्तर अपरिहार्य माना जाता है।

औद्योगिक विकास के आधार पर विभिन्न देशों में मजदूरी की विभिन्न दरें पाई जाती हैं उन्नत देशों में मजदूरी दरें उच्च होती हैं तथा आर्थिक हानि से पिछड़े देशों में यह दरें कम होती हैं। प्रायः स्त्री श्रमिकों में पुरुष श्रमिकों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती है क्योंकि महिलाएं अशिक्षित होती है वे स्थायी रूप से कार्य ग्रहण नहीं कर पाती। विवाह के पश्चात् या पारिवारिक उत्तरदायित्व के कारण 50 प्रतिशत से अधिक महिलाएं कार्य छोड़ देती हैं। उनमें गतिशीलता कम होती है। अतः अपने घर के आस पास कार्य करने की विवशता के कारण जो मजदूरी मिल जाती है उसे ही स्वीकार करना पड़ता है। महिलाओं पर घर चलाने का पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं होता उनकी आय परिवार की अतिरिक्त आय ही होती है अतः उन्हें जो भी कम अधिक मिलता है उससे ही संतुष्ट हो जाती है। स्त्रियों के श्रम संगठन नहीं होते हैं। और श्रम संघों में भी स्त्रियां के श्रम संगठन नहीं है और श्रम संघों में भी स्त्रियों की भागीदारी केवल कागजी होती है अतः वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं कर पाती और अधिक काम करने के बावजूद कम मजदूरी प्राप्त करती है सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण महिलाओं का कार्य क्षेत्र सीमित रह जाता है जिसका विपरीत प्रभाव उनकी मजदूरी पर पड़ता है।

17.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी की दरों में अन्तर के कारण बताईये?
2. विभिन्न उद्योगों में ओर एक ही उद्योग में विभिन्न मजदूरों की मजदूरी विभिन्न दरें में क्यो दी जाती है?
3. मजदूरी दरों में भिन्नता क्यों होती है? महिलाओं की मजदूरी प्रायः पुरुषों की मजदूरी से कम क्यों होती है?

इकाई 18

मजदूरी भुगतान की पद्धतियाँ

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 मजदूरी बनाम वेतन

18.3 न्यूनतम मजदूरी, आजीविका मजदूरी एवं उचित मजदूरी।

18.4 मजदूरी पद्धतियाँ एवं उनके प्रकार

18.4.1 समयानुसार मजदूरी पद्धति,

18.4.2 कार्यानुसार मजदूरी पद्धति

कार्य के अनुसार बढ़ती हुई मजदूरी,

कार्य के अनुसार घटती हुई मजदूरी,

समयानुसार मजदूरी पद्धति बनाम कार्यानुसार मजदूरी पद्धति,

तुलनात्मक अध्ययन

18.5 विभिन्न प्रेरणात्मक पद्धतियाँ

18.5.1 सामान्य प्रेरणात्मक योजनाएं :

शेष अथवा ऋण योजना

शत-प्रतिशत बोनस योजना,

सर्पी अथवा विषय मूल्य पर आधारित पद्धति,

लाभ-भागिता पद्धति।

18.5.2 विशिष्ट प्रेरणात्मक योजनाएं :

हाल्से प्रीमियम योजना,

रोवन योजना,

टेलर भिन्नक कार्यानुसार योजना,

बहु खण्ड अथवा मैरिक योजना

इमर्सन कार्यक्षमता बोनस योजना,

गैण्ट कार्यभार एवं बोनस योजना,

बेडो की बिन्दु प्रीमियम योजना, तथा

जीवन निर्वाह लागत मजदूरी विधि

18.6 बोनस (Bonus)

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

19.9 निबन्धात्मक प्रश्न

18.0 उद्देश्य

आप इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् इस योग्य हो सकेंगे कि मजदूरी का आशय जान सकें, वेतन तथा मजदूरी में अन्तर समझ सकें, विभिन्न प्रकार की ऐसी मजदूरी पद्धतियों को जान सकें, जो कि दीर्घसमय से चली आ रही है, ऐसी मजदूरी से सम्बन्धित योजनाओं के तथ्यों को ग्रहण कर सकें, जो विभिन्न प्रबन्ध - शास्त्रियों अथवा अभियंताओं ने प्रतिपादित की है। इसी प्रकार, आप बोनस की नवीनतम् प्रवृत्ति (Recent Trends) के बारे में भी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

मजदूरी, नियोक्ता द्वारा श्रमिक को उसके कार्य के प्रतिफल में दिया गया आर्थिक - पारिश्रमिक है। श्रमिकों के लिए मजदूरी, आय का मूल स्रोत तथा अभिप्रेरणा का प्रमुख साधन होती है। प्रबन्धशास्त्रियों का, मजदूरी के बारे में यह कहना है कि यह न केवल मजदूरों के रहन-सहन के स्तर का निर्धारक होती है अपितु यह एक ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर श्रम समस्याएं चक्कर लगाती हैं। इसे प्रबन्धकों द्वारा कर्मचारियों और श्रमिकों को देय मौद्रिक क्षतिपूरण माना जाता है और ऐसा मौद्रिक क्षतिपूरण, उन्हें नियोक्ता के लिए माल तथा सेवाएं प्रदान करने के बदले में प्रदान किया जाता है। इसे दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक आधार पर दिया जाता है।

फर्म के दृष्टिकोण से, मजदूरी उत्पादन लागत का प्रमुख घटक होती है और संगठन के लाभों के निर्धारण में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करती है। मुक्त व्यापार नीति (Laissez faire Policy) के अनुसार भी, मजदूरी को कर्मचारी द्वारा सेवाओं को बेचने के बदले, नियोक्ताओं द्वारा चुकाया गया मूल्य माना गया है। यह एक प्रकार से, अनुबन्धात्मक आय मानी जाती थी और वर्तमान में भी इसका मूल स्वरूप वही है, हाँ, परिस्थितिनुसार कुछ पारिभाषिक परिवर्तन अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

वैसे यह ज्ञात होना आवश्यक है कि मजदूरी में विभिन्न प्रकार के अनुलाभ, यथा "यात्रा भत्ते", "प्रावधायी निधि में नियोक्ता का अंशदान", "आवासीय-सुविधा", "कल्याणकारी वृत्तियाँ", "सेवा-निवृत्ति पर ग्रेच्यूटी", अधि-समय भुगतान तथा अन्य पारिवारिक भत्ते आदि सम्मिलित नहीं किए जाते हैं।

इस प्रकार, उत्पादन के पांच प्रमुख घटकों क्रमशः भूमि श्रम, पूँजी, प्रबन्ध एवं साहस में 'श्रम' अपना विशिष्ट स्थान रखता है और इसके सहयोग पर ही उद्योग की समृद्धि तब निर्भर करती है जबकि श्रमिकों को अन्य सुविधाओं के साथ-साथ पर्याप्त मजदूरी भी दी जाए। वस्तुतः मजदूरी, श्रमिकों और प्रबन्धकों के मध्य सदैव विवाद का विषय रही है।

18.2 मजदूरी बनाम वेतन

(i) मजदूरी से आशय उस भुगतान से होता है जो कारखानों में कार्य करने वाले मजदूरों तथा अपर्यवेक्षकीय कार्य करने वाले कर्मचारियों को कार्य के पुरस्कार के रूप में दिया जाता है।

(ii) वेतन वह भुगतान है जो कि एक निश्चित समय के लिए, निश्चित राशि के रूप में कार्यालय के कर्मचारियों, प्रशासकीय अधिकारियों, प्रबन्धकों तथा अन्य पेशेवर व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है।

18.3 न्यूनतम मजदूरी, आजीविका मजदूरी तथा उचित मजदूरी

न्यूनतम मजदूरी : सामान्य जीवन निर्वाह हेतु आवश्यक धनराशि को न्यूनतम मजदूरी कहा जा सकता है। न्यूनतम मजदूरी मौद्रिक रूप में मिलने वाली वह धनराशि है, जिससे श्रमिक स्वयं का तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके तथा कार्य करने के लिए वांछित क्षमता बनाए रख सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यूनतम मजदूरी के अन्तर्गत शिक्षा तथा चिकित्सा सुविधाएं भी सम्मिलित की जाती हैं।

आजीविका मजदूरी : यह वह मजदूरी है जो श्रमिक की भोजन व्यवस्था, आवास और वस्त्र व्यवस्था तथा बच्चों सम्बन्धी आवश्यकताओं की संतुष्टि करती है।

उचित मजदूरी : किसी उद्योग में प्रचलित मजदूरी की दर, जो उसी प्रकृति के अन्य उद्योगों में प्रचलित मजदूरी की दर से कम नहीं हो, उचित मजदूरी की श्रेणी में आती है।

18.4 मजदूरी पद्धतियाँ और उनके प्रकार

औद्योगिक क्षेत्र में, श्रमिकों को पुरस्कृत (प्रतिफल देने हेतु) करने के लिए विभिन्न संगठनों में, पृथक मजदूरी पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। मजदूरी पद्धतियाँ, संगठन के आंतरिक ढांचे, वित्तीय व्यवस्था तथा बहुत कुछ बाह्य घटकों पर निर्भर करती है। संगठन के लिए, प्रबन्धक वर्ग जैसी भी पद्धति को अनुकूल समझता है, उसी दृष्टिकोण से वह लागू करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। दूसरी ओर, अर्थशास्त्रियों का यह भी मत है कि जिस प्रकार की भुगतान पद्धति से मजदूर संतुष्ट रहता हो और प्रबन्ध का कार्य न्यूनतम लागत पर पूर्ण किया जा सकता हो, उसी पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके लिए, उद्योग की प्रकृति, उत्पादन प्रणाली तथा कर्मचारी की योग्यता का स्तर देखा जाना आवश्यक माना जाना चाहिए।

18.4.1 समयानुसार मजदूरी पद्धति (Time Wage System)

इस मजदूरी पद्धति का आधार 'समय' होता है। इसका श्रमिक द्वारा उत्पादित वस्तु की मात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं होता है और श्रमिक को प्रति घन्टा, प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति पखवाड़ा अथवा प्रति माह के अनुसार मजदूरी प्रदान की जाती है। इस पद्धति में कार्य की मात्रा अथवा उसकी किस्म के सम्बन्ध में कोई शर्त निर्धारित नहीं की जाती है, केवल श्रमिक से यह 'आशा' की जाती है कि वह बताए गए प्रमाप के अनुरूप कार्य करेगा। इस पद्धति में, प्रत्येक श्रमिक को यह विश्वास बना रहता है कि 'कार्य - समय' की समाप्ति के पश्चात्, उसे एक निश्चित राशि अवश्य ही मिलेगी। वर्तमान में, भारत के लगभग 95% से अधिक उद्योगों/कारखानों/संगठनों अथवा कम्पनियों में, इसी पद्धति को, मजदूरी भुगतान के लिए काम में लाया जाता है।

इस विधि के अनुसार देय मजदूरी की गणना करते समय श्रमिक द्वारा संस्था में लगाए गए समय को निश्चित मजदूरी - दर से गुणा कर दिया जाता है। इसे सूत्र रूप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है –

सूत्र : श्रमिक को देय मजदूरी = समय × दर

उदाहरणार्थ एक श्रमिक ने 20 दिन काम किया और उसकी मजदूरी दर, यदि 22 रूपये प्रतिदिन है तो उसे देय मजदूरी होगी अर्थात् 20 × 22 रूपया प्रतिदिन = 440 रुपए।

इस मजदूरी पद्धति को अपनाने से, संगठनों तथा श्रमिकों को कई लाभ प्राप्त होते हैं। इसलिए, यह पद्धति अत्यन्त लोकप्रिय है।

समयानुसार मजदूरी पद्धति के लाभ

1. यह कुशल एवं शिल्पकारी कार्यों के लिए श्रेष्ठ पद्धति है : इस पद्धति में समय-सीमा नहीं होने के कारण, श्रमिक को कार्य समाप्त करने की कोई जल्दी नहीं होती है और उसे अपनी कुशलता को प्रदर्शित करने का पूरा अवसर मिलता है।

2. पूर्ण मजदूरी प्राप्त होने की निश्चितता रहती है : इसमें श्रमिकों को यह विश्वास रहता है कि निर्धारित समय के पश्चात् एक निश्चित मजदूरी अवश्य मिलती रहेगी। इसके फलस्वरूप, वह अपने काम को पूरी लगन और तत्परता से करता है।

3. प्रमापीकरण की आवश्यकता नहीं होना : इस विधि में मजदूरी का भुगतान कार्य के आधार पर नहीं किया जाता है, अतएव कार्य को प्रमापित करने की आवश्यकता नहीं होती है।

4. किसी घटना के घटित हो जाने पर भी मजदूरी की निश्चितता होना : श्रमिक को यह विश्वास रहता है कि चाहे वह अस्वस्थ अथवा दुर्घटनाग्रसत हो जाए तो भी उसे निश्चित पारिश्रमिक अवश्य मिलेगा। मजदूरी की सुरक्षा और निश्चितता की भावना, उसे अपना मासिक बजट संतुलित बनाए रखने में सफलता प्रदान करती है।

5. श्रम-संघों द्वारा स्वीकृति प्राप्त होना : एक वर्ग के श्रमिकों को एक सी मजदूरी दिये जाने के कारण उनमें कुशल-अकुशल का भेद पैदा नहीं होता और संघों में सभी श्रमिकों की स्थिति एक जैसी रहती है। यही कारण है कि श्रम-संघ इसे पसन्द करते हैं।

6. प्रशासनिक व्यय कम होना : श्रमिक निश्चित समय पर काम पर आते हैं और निश्चित समय पर ही स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हुए समय पर संगठन को छोड़कर जाते हैं। फलस्वरूप, प्रशासन व्यय भी कम होते हैं। यदि समयबद्धता नहीं होती तो प्रत्येक कार्य के लिए बार-बार श्रमिकों को ढूंढने और उन्हें बुलाने का प्रशासनिक भार, अत्यधिक बढ़ जाता।

7. साधनों का समुचित प्रयोग होना : इस विधि में श्रमिकों को कार्य समाप्त करने की 'शीघ्रता' नहीं होती। फलस्वरूप, उत्पादन के लब्ध साधनों, तथा कच्चा माल, उपकरणों और मशीनों का अन्धाधुन्ध प्रयोग भी नहीं होता तथा अन्य साधनों की बर्बादी पर रोक लगती है।

8. उत्पादन - नियोजन में सुविधा रहती है : कोई भी संगठन, जहाँ कच्चे माल को पक्के माल में निर्मित करने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, वहाँ आवश्यकता इस बात की रहती है कि सभी विभागों की प्रक्रियाओं में समयबद्ध तालमेल बना रहे। श्रमिक, निश्चत समय में कार्य करता है, अतएव इस उद्देश्य को, समयानुसार मजदूरी पद्धति के द्वारा पूर्ण किया जा सकता है।

9. श्रमिकों के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ना : इस विधि में, कार्य की मात्रा के साथ मजदूरी के न जुड़े होने से श्रमिक को अति - श्रम (Overwork) नहीं करना पड़ता है। इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता बनी रहती है और उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है।

10. निर्देशन एवं नियंत्रण व्ययों में कमी होना : इस पद्धति के सिद्धानतों के अनुसार, श्रमिक समय पर आते हैं और अपना कार्य करके चले जाते हैं। इसलिए, उन्हें अधिक निर्दशन देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है और ना ही उनकी क्रियओं को नियंत्रित करने की आवश्यकता होती है। इससे वस्तु की लागत भी कम हो जाती है।

प्रबन्धशास्त्रियों का कहना है कि प्रत्येक पद्धति में जहां एक ओर कुछ लाभ होते हैं, वहां वह दोष रहित भी नहीं होती। अतएव, इसके दोषों का विवेचन करना भी, यहाँ अनावश्यक नहीं होगा।

समयानुसार मजदूरी पद्धति के दोष

1. कुशलता के लिए प्रेरणा का अभाव पाया जाना : समय के आधार पर मजदूरी दिए जाने के कारण, यह पद्धति कुशल और अकुशल श्रमिकों में कोई भेद नहीं करती है। यह पद्धति ना तो अधिक कुशल श्रमिक को पुरस्कृत करती है और ना ही अकुशल श्रमिक को दंड देती है। परिणाम स्वरूप, कुशल श्रमिक हतोत्साहित हो जाता है और पूर्ण कुशलता के साथ कार्य नहीं कर पाता।

2. श्रमिक पर अनैतिक प्रभाव पड़ता है : इस पद्धति में, श्रमिक में यह प्रवृत्ति आ जाती है कि "कार्य उतना करो, जिससे नौकरी बनी रहे।" इससे श्रमिक का नैतिक पतन प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् वह पूर्ण ईमानदारी से उस कार्य को पूरा नहीं करना चाहता है। एक कुशल श्रमिक काम से जी चुराने लगता है।

3. कार्यों में अनावश्यक विलम्ब होता है : श्रमिकों में कार्य को समय पर समाप्त न करने की प्रवृत्ति पनपने से 'उत्पादन - लक्ष्य' समय पर पूरे नहीं हो पाते हैं। ग्राहकों द्वारा दिए गए आदेशों की पूर्ति भी समय पर नहीं हो पाती है और लालफीताशाही पनपने लगती है।

4. यह एक अनार्थिक विधि है : इस विधि में किसी दिन कार्य कम होने अथवा बिल्कुल नहीं होने पर भी श्रमिकों को पूरी मजदूरी का भुगतान करना पड़ता है। इस प्रकार, उद्योगपतियों को कुल मिलाकर, आनुपतिक तौर पर अधिक मजदूरियों का भुगतान करना पड़ता है। इससे, निरीक्षण लागतें भी, इस विधि में बढ़ जाती हैं। इस विधि से किसी कार्य को पूरा करने का समय एवं मौद्रिक लागतें भी अधिक आती हैं।

5. औद्योगिक संघर्षों में वृद्धि होना : इस पद्धति में श्रम एकता को बढ़ावा मिलता है और श्रम संघ अपने प्रभाव का अनुचित प्रयोग करने लगते हैं। यह स्थिति मालिक और मजदूर (पूंजी और श्रम) के सम्बन्धों को बिगाड़ती है। इसके अतिरिक्त, इस विधि में श्रमिकों को स्थायी-अस्थायी तथा प्रशिक्षु आदि कई भागों में बाँट दिया जाता है, जिससे औद्योगिक संघर्षों में वृद्धि होने लगती है।

6. सापेक्षिक कुशलता निर्धारित करने में कठिनाई होना : इस पद्धति में श्रमिक के व्यक्तिगत उत्पादन का हिसाब नहीं रखा जाता है। अतएव, उत्पादन की प्रति इकाई में श्रम लागत का निर्धारण करना कठिन हो जाता है और इसी कारण, व्यक्तिगत कुशलता के मापदंड का, इस विधि में, कोई औचित्य नहीं रह जाता है।

7. श्रमिकों में स्वाभाविक रुचि का अभाव होना : समयानुसार मजदूरी पद्धति में बहुत से श्रमिक ऐसा कार्य करते हैं जिसमें न तो उनकी रुचि होती है और ना ही वे विशिष्ट योग्यता धारण करते हैं। कई श्रमिक तो मात्र जीवन-यापन के लिए ही ऐसा कार्य करते हैं। इससे, नियोक्ता और श्रमिक एवं अर्थव्यवस्था, तीनों को ही हानि होती है।

8. प्रबन्धकों का पुर्वानुमान सही नहीं होना : जब यह निश्चय करना संभव नहीं हो कि किसी कार्य को पूरा करने में कितना समय लगेगा, तब लागत का सही अनुमान लगाना भी संभव नहीं हो पाता है। इसीलिए, प्रबन्धक वर्ग उत्पादित वस्तु की दर का अग्रिम-निर्धारण करने में, अपने आपको असहाय महसूस करने लगता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर, आपने समयानुसार मजदूरी पद्धति के लाभों एवं दोषों का अध्ययन किया है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस पद्धति की उपयुक्तता, कहाँ पर सिद्ध होती है? इसके लिए निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखना है:

उपयुक्तता की दशाएँ

1. जहाँ कार्य को मापा जाना संभव नहीं हो सकता हो;
2. जहाँ कार्य की प्रकृति ऐसी हो कि समयानुसार मजदूरी देने में ही मालिक को लाभ हो;
3. जहाँ निर्मित होने वाली वस्तुओं को इकाईयों में विभाजित नहीं किया जा सकता हो;
4. जहाँ किस्म पर ध्यान देना आवश्यक हो; तथा,
5. जहाँ उत्पादन छोटे पैमाने पर किया जाना हो तथा कार्य की प्रकृति निरीक्षणात्मक हो।

18.4.2 कार्यानुसार मजदूरी पद्धति (Piece Wage System)

इस पद्धति में श्रमिकों को निष्पादित कार्य के अनुसार मजदूरी का भुगतान किया जाता है। अन्य शब्दों में, जो श्रमिक जितना और जैसा कार्य करता है, उसी के अनुसार, उसे मजदूरी का भुगतान किया जाता है। कार्य को करने में श्रमिक कितना समय लगाता है, इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। इस पद्धति के अनुसार, जो श्रमिक जितना अधिक कार्य करता है, उसको उतना ही अधिक पारिश्रमिक प्राप्त होता है। श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले ऐसे कार्यों पर सेवानियोजक, अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रखता है।

इस मजदूरी को दो उप - पद्धतियों में विभाजित किया जाता है:

(अ) कार्यानुसार बढ़ती हुई मजदूरी पद्धति

यह उप - पद्धति उत्साही श्रमिकों के लिए अत्यन्त लाभप्रद एवं प्रेरणास्पद रहती है। इसमें जो श्रमिक जितनी अधिक इकाईयों का उत्पादन करता है, उसे उतनी ही अधिक मजदूरी प्राप्त होती है। किन्तु एक सीमा के पश्चात् यह मजदूरी सीमित भी रह जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि व्यक्ति की कार्यक्षमता सीमित होती है। प्रायः यह दृष्टिगोचर होता है कि उद्योगपति, इस विधि का विरोध करते हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि उत्पादन विधि में केवल श्रमिकों का ही सहयोग नहीं होता है अपितु मशीनों, उत्पादन विधियों, अवसरों, प्रबन्धकों तथा पूर्तिकर्ताओं का भी सहयोग होता है।

(ब) कार्यानुसार घटती हुई पद्धति

इस उप - पद्धति में, श्रमिकों का काम जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, मजदूरी की राशि को क्रमशः प्रति इकाई कम कर दिया जाता है। यह पद्धति वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है, क्योंकि इसमें सेवा नियोजकों को तो लाभ होता है परन्तु श्रमिकों को, इससे हानि होती है। मजदूरी का निर्धारण भी, सेवानियोजकों, द्वारा ही, विगत अनुभवों के आधार पर किया जाता है। श्रमिकों द्वारा जो उत्पादन किया जाता है, उसे एक कार्ड में लिखा जाता है और अन्त में कुल उत्पादित इकाईयों को जोड़कर, मजदूरी की गणना करके श्रमिकों को प्रदान कर दी जाती है।

गणना की विधि – कार्यानुसार मजदूरी की गणना करते समय, मजदूरों द्वारा बनाई गई इकाईयों को प्रति इकाई मजदूरी दर से गुणा कर दिया जाता है।

इसकी गणना का सूत्र इस प्रकार है –

मजदूरी = संख्या × दर

$E = Nr.$

जहाँ अर्थात्

E = Earning of the labour. (श्रम का प्रतिफल)

N = Number of Units Produced. (उत्पाद इकाइयों की संख्या)

r = Rate (दर)

उदाहरण के लिए, एक श्रमिक 20 इकाई बनाता है और एक इकाई की दर 5 रूपया है तो उसे देय मज़दूरी होगी —

$$20 \times 5 = 100 \text{ रूपया}$$

इस पद्धति का विकास, समयानुसार मजदूरी पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए हुआ है।

कार्यानुसार मजदूरी पद्धति के लाभ

1. यह प्रेरणात्मक है : इस पद्धति में श्रमिक की कार्य - योग्यता का मूल्यांकन होता है, जिससे श्रमिकों को अधिकाधिक श्रेष्ठ कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। यह पद्धति, कुशल और अकुशल श्रमिकों के बीच अन्तर को स्पष्ट करती है।

2. कार्यक्षमता और उत्पादकता को बढ़ावा देती है : श्रमिक को मिलने वाली प्रत्यक्ष प्रेरणा के कारण वह अधिक उत्पादन करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, जिससे उसकी कार्य क्षमता तथा उत्पादकता में वृद्धि होती है।

3. संगठन के कुल उत्पादन में वृद्धि करती है : प्रत्येक श्रमिक अधिक से अधिक उत्पादन की ओर उन्मुख रहता है। जिससे, अल्प समय में अधिक उत्पादन किया जाना संभव हो जाता है, जिससे उत्पादन लागतों में भी कमी आती है।

4. पर्यवेक्षणीय लागतों में कमी आ जाती है : इस पद्धति में, ऐसा इसलिए संभव है कि श्रमिकों से कार्य कराने के लिए, उन्हें मार्गदर्शन या निर्देशन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसका सुपरिणाम, यह होता है कि ऐसी लागतों में कमी होने से संगठन को आर्थिक लाभ प्राप्त होता है।

5. औद्योगिक - सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण बने रहते हैं : यह पद्धति, सेवा नियोजक एवं श्रमिक, दोनों के लिए हितकारी है। दोनों पक्ष, इसलिए प्रसन्न रहते हैं कि एक ओर चाहे गए अनुसार सेवानियोजक को 'वांछित' लक्ष्य अथवा उत्पादन की प्राप्ति होती है, तो दूसरी ओर, कुशल श्रमिक को न्यायोचित मजदूरी की प्राप्ति होती है।

6. श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होती है : जिन श्रमिकों को, न्यायोचित मजदूरी नहीं मिलने की मानसिक - स्थिति बनी रहती हो तो वे श्रमिक समान प्रकृति वाले अन्य ऐसे उद्योगों में, जहाँ कार्यरत संगठन की अपेक्षा अधिक मजदूरी प्रदान की जाती हो, वर्तमान संगठन को छोड़कर अन्य संगठनों में जा सकने में स्वतन्त्र होता है।

7. उपभोक्ताओं को भी लाभ प्राप्त होता है : यह पद्धति न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन को संभव बनाती है। इससे, उपभोक्ताओं को श्रेष्ठ वस्तुएं कम लागत प्राप्त होने लगती है।

8. श्रमिकों को तुलनात्मक कार्यक्षमता का ज्ञान होता है : इस पद्धति में, श्रमिकों द्वारा किए गए कार्य के आधार पर, इस प्रकार पहचाना जा सकता है कि कौन - सा श्रमिक कुशल है, कौन-सा अर्द्धकुशल और कौन-सा अक्षम है? इससे सेवा नियोजक को श्रमिकों की तुलनात्मक कार्यक्षमताओं की जानकारी हो जाती है।

9. यन्त्रों एवं उपकरणों की सुरक्षा बनी रहती है : श्रमिक को यह ज्ञात होता है कि जितने समय तक यंत्र एवं उपकरण खराब रहेंगे, उसे व्यर्थ ही रोजगार के अवसर गवाने पड़ेंगे और मजदूरी पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। अतएव, वह उनकी सुरक्षा हेतु पूरी सावधानी से कार्य करता है।

10. श्रमिकों को उच्च जीवन स्तर प्राप्त होता है : प्रयत्न और परिश्रम के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण श्रमिक अधिक परिश्रम करके, अधिकतम (क्षमतानुसार) मजदूरी कमाते हैं, जिससे उनका जीवन स्तर ऊंचा उठता है और समाज में भी वे एक सम्मानजनक स्थिति प्राप्त करने में सफल रहते हैं।

कार्यानुसार मजदूरी पद्धति में भी कुछ दोष पाए गए हैं। इस पद्धति को प्रायः ऐसे कार्यों के भुगतान हेतु प्रयोग में लाया जाता है जिसमें एक ही प्रकृति का कार्य किया जाता है। इस पद्धति को, उस स्थिति में लागू करने में कठिनाई आती है जब विभिन्न इकाइयों का माप करना सम्भव नहीं हो और एक ही कार्य के लिए विभिन्न योग्यता वाले श्रमिक काम पर लगाए जाते हों।

कार्यानुसार मजदूरी पद्धति के दोष

1. यह कलात्मक कार्यों के लिए अनुपयोगी है : कौशलपूर्ण कार्यों को करने में समय अधिक लगता है और एक श्रमिक को, आनुपातिक रूप से उतनी मजदूरी नहीं मिल पाती, जितना वह परिश्रम करता है। इसलिए, इस पद्धति में कलाकारों का कोई महत्व नहीं है।

2. श्रमिक एकता नहीं रख पाते हैं : इस पद्धति में, मजदूर अधिक मजदूरी प्राप्त करने के लिए कार्य में व्यस्त रहते हैं और श्रम-संघों की कार्यवाहियों में भाग नहीं ले पाते, जिससे श्रमिक-एकता में कमी होने लगती है। इस कारण श्रम - संघ, इस विधि को पसन्द नहीं करते हैं।

3. श्रमिकों को कार्य स्वतंत्रता नहीं मिल पाती है : इसमें सेवा नियोजक निर्धारित किस्म एवं मात्रा प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को बार-बार निर्देश देता है तथा कार्य में हस्तक्षेप करता है। इससे, कार्मिक लगन एवं अपनत्व से कार्य नहीं कर पाते हैं।

4. इसमें यंत्रों और कच्चे माल का दुरूपयोग होता है : श्रमिक, अपने उत्पादन की मात्रा को बढ़ाने के लिए, यंत्रों का अधिकतम प्रयोग करते हैं। इससे यंत्रों की अनुचित घिसावट अथवा उनका ह्रास होता है। इसी प्रकार, किस्म सुधारने की पुनरावृत्ति के कारण कच्चे माल का भी अपव्यय होने लगता है, जो अंततः संगठन और श्रमिक के लिए अहितकर होता है।

5. अकुशल श्रमिकों को निर्वाह - योग्य मजदूरी नहीं मिलती है : यह पद्धति, अकुशल श्रमिकों के प्रतिकूल मानी जाती है। इस विधि में, मजदूरी कार्य पर आधारित होती है तथा न्यूनतम मजदूरी भी निश्चित नहीं होती है। अतएव, अदक्ष श्रमिकों को तो न्यूनतम मजदूरी भी प्राप्त नहीं होती है।

6. उच्च उत्पादन करने पर भी अधिक लाभ नहीं होता है : यदि संगठन में कार्यानुसार घटती हुई मजदूरी पद्धति रखी जाती हो तो उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ मजदूरी की दरें घटती चली जाती हैं। इससे, श्रमिकों को उच्च - उत्पादन के लाभ प्राप्त नहीं हो पाते हैं।

7. स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है : इस पद्धति में, श्रमिकों का ध्येय उत्पादन को बढ़ाकर, अधिक मजदूरी प्राप्त करने का रहता है। इस कारण, श्रमिक अपने स्वास्थ्य और विश्राम पर समुचित ध्यान नहीं दे पाता है। श्रमिक अपने परिवार पर भी कम ध्यान दे पाता है। जिससे, कई सामाजिक बुराइयाँ पैदा होने की संभावना रहती है और फिजूल खर्चों की आदत पड़ जाती है।

8. उत्पादन बनाम निरीक्षण व्यय : श्रमिक, अपने लिए अधिकतम उत्पादन की मात्रा पर ध्यान देते हैं और किस्म - नियन्त्रण (Quality Control) पर कोई ध्यान नहीं देते हैं। जबकि सेवा नियोजक की दृष्टि से मात्रा और किस्म, दोनों ही महत्वपूर्ण होते हैं। फलस्वरूप, निर्धारित

स्तरों को बनाए रखने के लिए निरीक्षण व्यवस्थाओं पर अधिक राशि खर्च करनी पड़ती है।

9. श्रमिक के लिए अवकाश को कोई महत्व नहीं होता है : इस पद्धति में, मजदूरी कार्य पर आधारित होती है और अवकाश के दिनों में मजदूरी का कोई औचित्य नहीं होता है। अतएव, किसी दिन अवकाश होने पर तो श्रमिक का पारिश्रमिक कम ही, हो जाता है।

10. औद्योगिक विवादों का पनपना तथा श्रम संघों द्वारा विरोध होना : श्रमिकों द्वारा सामाजिक तथा नैतिक आधार पर इस पद्धति का विरोध किया जाता है क्योंकि इससे श्रम - संघों के महत्व में कमी आ जाती है। दूसरी ओर, सेवा नियोजकों और श्रमिकों के मध्य, श्रम लागतों, यंत्रों तथा उपकरणों को टूट-फूट की दशा में मजदूरी का भुगतान अथवा वस्तु की मरम्मत और किस्म आदि बातों पर परस्पर औद्योगिक विवाद पनपने लगते हैं जो संगठन के लिए अहितकारी होते हैं।

कार्यानुसार मजदूरी पद्धति की उपयुक्तता की दशाएं

निम्नलिखित स्थितियों में ही कार्यानुसार मजदूरी पद्धति उपयुक्त रहती है —

1. जहाँ एक जैसी वस्तुओं का उत्पादन संभव हो,
2. जहाँ कार्य को मापा जा सकता हो, तथा
3. जहाँ कार्य प्रणाली में बार-बार परिवर्तन नहीं होता है।

समयानुसार मजदूरी पद्धति बनाम कार्यानुसार मजदूरी पद्धति (Time wage system V/s Piece rate System)

औद्योगिक संगठनों की परिस्थितियों के अनुरूप, दोनों ही पद्धतियों का अपना-अपना महत्व है। यह संगठन को निर्धारित करना होता है कि किस मजदूरी भुगतान पद्धति को अपनाया जाए? दोनों ही पद्धतियों के कई लाभ हैं तो दूसरी ओर दोष भी हैं। प्रमुख बात, आपको यह ध्यान में रखनी है कि जहां कार्य का प्रमापीकरण और मापन संभव नहीं हो, वहाँ समयानुसार मजदूरी पद्धति तथा जहां वस्तु की किस्म पर ध्यान नहीं दिया जाता हो, और उसकी मात्रा पर ही अधिक ध्यान दिया जाता हो तो वहाँ कार्यानुसार मजदूरी पद्धति को अपनाना श्रेयस्कर रहता है। व्यवहार में यह देखा गया है कि संस्था के आकार, उत्पादित वस्तु की प्रकृति और भुगतान क्षमता के अनुरूप दोनों ही पद्धतियों को अपनाया जा सकता है।

तुलनात्मक 'अध्ययन एवं विश्लेषण' अथवा 'अन्तर'

उपयुर्क्त दोनों पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन निम्न बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है —

अन्तर का आधार	समयानुसार मजदूरी पद्धति	कार्यानुसार मजदूरी पद्धति
1. शिल्पी एवं कलात्मक कार्यों हेतु	यह विधि (पद्धति), ऐसे कार्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मानी गई है।	शिल्पकारिता के लिए उपयुक्त नहीं मानी गई है। इसका प्रमुख कारण, कार्य में समय का अधिक लगना परन्तु औसत समय के आधार पर मजदूरी का कम मिलना है।

2. क्षतिपूरण राशि (मजदूरी) की निश्चितता	इसमें, श्रमिक को एक निश्चित समय समाप्ति (यथा दैनिक, साप्ताहिक पाक्षिक और मासिक) के पश्चात् एक निश्चित राशि अवश्य प्राप्त होती है।	इस पद्धति में, कार्य समाप्ति के पश्चात्, श्रमिक का कार्य पर होना आवश्यक नहीं होता। अतएव, मजदूरी का प्राप्त होना आवश्यक नहीं होता है।
3. सेवा में स्थायित्वता होना	सेवा पद्धति, श्रमिकों को सेवा स्थायित्वता का आश्वासन प्रदान करती है।	इसमें, श्रमिक को आवश्यक नहीं कि सेवा - नियोजक उसे स्थायी करे ही सही।
4. श्रमिक और लाभप्रदता	यह कुशल और कारीगरी की योग्यता रखने वाले श्रमिकों के लाभप्रद नहीं होती है।	यह कुशल श्रमिकों के लिए लाभप्रद होती है।
5. कार्य हेतु प्रेरणा प्राप्त करना	यह पद्धति, श्रमिकों को अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं करती है।	इसमें कार्य के आधार पर मजदूरी प्राप्त होने के कारण श्रमिकों को अधिक कार्य करने की निरनतर प्रेरणा मिलती रहती है।
6. निरीक्षण की आवश्यकता	इस पद्धति में निरीक्षण की आवश्यकता अधिक होती है। अतएव, निरीक्षण - व्यय बढ़ जाते हैं।	इसमें निरीक्षण की आवश्यकता निरीक्षण - व्यय भी, सेवा नियोजक को कम करने पड़ते है।
7. अवकाश की मजदूरी का आकर्षण	श्रमिकों को इस पद्धति में अवकाश की भी मजदूरी (सवेतन अवकाश) प्राप्त होती है, अतः अवकाश का आकर्षण बना रहता है।	इस पद्धति में, अवकाश होने औसतन उतनी ही मजदूरी काट ली जाती है। यह काम नहीं तो मजदूरी नहीं के सिद्धान्त पर आधारित होती है।
8. माल की किस्म में सुधार पर ध्यान	इस पद्धति में, समय की सीमा नहीं होने के कारण, माल की किस्म में सुधार पर अधिक ध्यान दिया जाता है।	इसमें कार्य - आधारित मजदूरी के कारण माल की किस्म पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है।
9. उत्पादन की मात्रा पर ध्यान	श्रमिक उत्पादन की मात्रा पर अधिक ध्यान नहीं देते हैं। इसका प्रमुख कारण उत्पादन बढ़ाने पर भी मजदूरी समय के आधार पर ही मिलती है।	इस पद्धति में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि पर अधिक ध्यान दिया जाता है क्योंकि अधिक उत्पादन पर मजदूरी अधिक मिलती है।
10 श्रम - संघों का दृष्टिकोण	यह पद्धति श्रमिकों में एकता उत्पन्न करती है। अतएव, श्रमसंघ इस पद्धति का समर्थन करते हैं।	श्रमिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण, श्रम संघों की गतिविधियों में भाग नहीं ले पाते। अतएव, श्रम संघ इसका समर्थन नहीं करते हैं।

18.5 विभिन्न प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियाँ अथवा प्रीमियम पद्धतियां अथवा प्रगतशील पद्धतियां

ये पद्धतियां, समयानुसार मजदूरी पद्धति और कार्यानुसार मजदूरी पद्धति का मिश्रित स्वरूप है। ये विधियाँ अथवा पद्धतियां उत्पादित वस्तु की मात्रा में वृद्धि करने और किस्म नियंत्रण करने पर पूर्ण रूप से ध्यान देती हैं। इन पद्धतियों के द्वारा कुशल और अकुशल श्रमिक में न्यायसंगत विभेद किया जा सकता है। इन पद्धतियों में —

(अ) प्रमापित समय में निर्धारित कार्य करने वाले श्रमिक को सामान्य रूप से मजदूरी प्रदान की जाती है;

(ब) श्रमिक द्वारा सामान्य (निर्धारित) कार्य से अधिक कार्य करने पर प्रेरणास्वरूप अधिलाभांश (Bonus or Premium) प्रदान किया जाता है।

(स) उत्पादन में वृद्धि होने पर अधिक मजदूरी प्रदान की जाती है और उत्पादन में कमी होने पर कम मजदूरी प्रदान की जाती है, तथा

(द) इन मजदूरी पद्धतियों में एक 'कार्य - आधारित दर' (Job base Rate) होती है अर्थात् निर्धारित प्रमाप तक उत्पादन करने पर निश्चित मजदूरी की गारन्टी अवश्य होती है।

इन मजदूरी पद्धतियों का लाभ यह है कि इनके माध्यम से अधिकतम उत्पादन के लिए सामग्री और मानव शक्ति का अधिक से अधिक सदुपयोग किया जाता है। उत्पादन में वृद्धि होने से प्रति इकाई लागत में कमी आती है और इससे सेवा नियोजकों को लाभ प्राप्त होता है। ये पद्धतियां कर्मचारियों में अनुशासन बनाए रखती है तथा वैज्ञानिक ढंग पर आधारित होने के कारण, श्रमिकों के मनोबल में भी वृद्धि करती है।

18.5.1 सामान्य प्रेरणात्मक योजनाएं (पद्धतियां)

1. शेष अथवा ऋण योजना (Balance or Debt Plan)

इस पद्धति को समयानुसार और कार्यानुसार मजदूरी पद्धति का सम्मिश्रण कहना ही उचित होगा। इसमें कार्यानुसार मजदूरी प्रदान की जाती है परन्तु समयानुसार न्यूनतम मजदूरी प्रदान करने की गारन्टी दी जाती है। श्रमिक के द्वारा कार्य करने के पश्चात्, यह देखा जाता है कि यदि कार्यानुसार मजदूरी, समयानुसार मजदूरी से अधिक है तो उसके खाते में, उस बढ़ी हुई अथवा अतिरिक्त अथवा आधिक्य राशि को जमा (Credit) कर दिया जाता है। यदि समयानुसार मजदूरी की दर गणना करने के बाद अधिक आती है तो उसके खाते में उस कम राशि को 'नाम' (Debit) कर दिया जाता है, यद्यपि समयानुसार जो मजदूरी एक श्रमिक को मिलनी चाहिए थी, वह उसे अवश्य प्राप्त हो जाती है और आधिक्य राशि अथवा कम प्राप्य राशि का आगामी तिथियों पर समायोजन कर लिया जाता है। इस पद्धति को, निम्न उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है —

मान लीजिए, महेश और सुरेश को समय के आधार पर प्रतिदिन 10 रूपये और कार्यानुसार 1 रूपया प्रति इकाई मिलते हैं। यदि महेश 8 इकाइयों को और सुरेश 12 इकाईयों को निर्मित करते हैं तो महेश के खाते में 2 रूपये 'नाम' (Debit) लिख दिए जाएंगे तथा 10 रूपए तो उसे उसी समय दे दिए जाएंगे। सुरेश ने 12 इकाइयाँ उत्पादित की हैं अर्थात् 2 इकाइयाँ अधिक उत्पादित की हैं तो उसे 12 रूपए मिलने चाहिए परन्तु उसे 10 रूपए उसी समय दे दिए जाते हैं तथा 2 रूपए उसके खाते में संस्था द्वारा 'जमा' (Credit) कर दिए जाते हैं तथा कभी भी, वह उस राशि को खाते में से निकाल सकता है।

तालिका 18.1

'मजदूरी - गणना'

श्रमिक का नाम	श्रमिक द्वारा उत्पादित इकाइयाँ	प्रति ईकाई मजदूरी (रूपए)	कुल मजदूरी (रूपए)	समयानुसार मजदूरी (रूपए)	श्रमिक की जमा राशि (Credit)	श्रमिक की नाम राशि (Debit)	खाते का शेष (-) (+)
महेश	08	01	08	10	–	02	(–) 02
सुरेश	12	01	12	10	02	–	(+) 02

2. शत प्रतिशत बोनस योजना : (Cent Percent Bonus Plan)

यह पद्धति, 'घन्टे के लिए घन्टा' योजना भी कहलाती है। एक नव स्थापित कम्पनी के कारोबार में वृद्धि करने अथवा विमान कम्पनियों द्वारा प्रतिस्पर्धात्मक - बाजार में सफलता प्राप्त करने क लिए, श्रमिकों को प्रेरणा देने के दृष्टिकोण से, यह पद्धति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इसमें प्रमापित कार्य और प्रमापित समय पहले से ही निश्चित कर लिए जाते हैं। सामान्य मजदूरी का निर्धारण भी प्रारम्भ में हीं कर लिया जाता है।

प्रत्येक उस श्रमिक को, जितने समय वह कार्य करता है, उसे उसकी समयानुसार मजदूरी दे दी जाती है और प्रमापित समय में से जो समय वह बचाता है, उसे शत-प्रतिशत (100%) अधिलाभांश अथवा बोनस दे दिया जाता है।

उदाहरण के रूप में :

(अ) प्रति इकाई प्रमापित समय = 01 घण्टा

(ब) प्रमापित कार्य = 10 इकाई

(स) प्रति घण्टा सामान्य मजदूरी = 01 रूपया

(द) प्रमापित समय (कुल) = 10 घंटे

(य) बोनस (अधिलाभांश) = बचाए हुए प्रमापित समय का 100%

यदि कोई श्रमिक 10 घंटे में 14 इकाइयों का उत्पादन करता है तो उसकी मजदूरी, उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर क्या होगी?

गणना

मजदूरी = (कार्य में लिया गया समय प्रति घन्टा दर)
+
(बचाया हुआ समय × प्रति घंटा दर)

अर्थात् = (10 × 10 रू० (+) (04 × 01) रू०
10 + 04 = 14 रूपए।

3. सर्पी अथवा विक्रय मूल्य पर आधारित पद्धति

इस पद्धति को 'फिसलन पैमाना योजना' अथवा श्रमिक दर योजना (Sliding Scale Plan) भी कहा जाता है। इसे भावनात्मक मजदूरी पद्धति भी कहा जाता है। इस पद्धति में, श्रमिकों

की मजदूरी दर को संस्था द्वारा अर्जित लाभ से जोड़ दिया जाता है अर्थात् श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तु की बिक्री बढ़ती है तो मजदूरी भी, उद्योगपतियों और श्रम - संघों की परस्पर सहमति से निर्धारित दर से बढ़ती जाती है और विक्रय मूल्य कम होने से (लाभ कम हो जाता है) मजदूरी भी घट जाती है। परन्तु, एक निर्धारित और निश्चित दर से कम मजदूरी किसी भी रूप में प्रदान नहीं की जाती है। वस्तुतः ऐसा सामूहिक सौदेबाजी की शर्तों पर निर्भर होता है।

इस पद्धति के प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं:

(अ) सेवा नियोजकों एवं श्रमिकों के मध्य समझौता हो जाने से औद्योगिक - सम्बन्ध सुदृढ़ बन जाते हैं।

(ब) श्रमिक वर्ग अधिक मजदूरी 'प्राप्ति' की आशा में किस्म में पर्याप्त सुधार करता है जिससे विक्रय मूल्य बढ़ते हैं और न केवल संस्थागत पक्षकार लाभान्वित होते हैं अपितु उपभोक्ताओं को भी लाभ मिलता है तथा

(स) एक सीमा से कम मजदूरी नहीं मिलने से श्रमिकों को रोजगार की गारन्टी मिलती है।

4. लाभ - भागिता पद्धति : (Profit Sharing Method)

प्राचीन आर्थिक विचारधारा का अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होता है कि उस समय लाभ पर केवल पूंजीपति का ही अधिकार माना जाता था जो उसके दृष्टिकोण से, जोखिम का पुरस्कार होता था परन्तु, वर्तमान विचारधारा यह कहती है कि 'श्रम' उत्पादन का एक महत्वपूर्ण घटक है और इसकी क्रियाशीलता, प्रयत्न और परिश्रम से ही संगठन को लाभ प्राप्त होता है। अतएव, श्रमिकों को लाभ में हिस्सा (भाग) दना अपरिहार्य है।

अर्थ – सामान्य शब्दों में, लांभ भागिता से आशय किसी संगठन द्वारा समझौते के अधीन अपने श्रमिकों को निश्चित मजदूरी के अतिरिक्त लाभ का एक अंश देने से होता है। इस हेतु श्रमिकों और सेवा नियोजकों के मध्य एक अनुबन्ध हो जाता है कि "उपक्रम के लाभ का एक निश्चित भाग श्रमिकों का, मजदूरी के अतिरिक्त प्रदान किया जाएगा।"

लाभ भागिता के मुख्य लक्षण निम्न हैं:

(अ) श्रमिकों को लाभ में से दिया जाने वाला भाग लाभ होने के पूर्व ही निश्चित कर लिया जाता है।

(ब) लाभ का ऐसा भाग शुद्ध लाभ में से ही वितरित किया जा सकता है।

(स) लाभ का ऐसा भाग संगठन के अंशधारियों को लाभांश देने के पश्चात् ही प्रदान किया जाता है।

(द) श्रमिकों को यह लाभ प्रायः वार्षिक लेखा वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् ही दिया जाता है।

(य) लाभ के ऐसे भाग को नकद के रूप में, अंशपूंजी के रूप में अथवा 'प्रावधायी - निधि' (Provident Fund) में जमा करके दिया जाता है।

(र) लाभ के रूप में दी जाने वाली ऐसी राशि, लाभ में वृद्धि ओर कमी होने के अनुरूप, कम या अधिक होती रहती है। यह ज्ञातव्य है कि संगठन को हानि होने पर, श्रमिक इस हानि को बांटने में सहयोग नहीं देते हैं।

इस पद्धति के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :-

(i) इससे उत्पादकता में वृद्धि एवं उत्पादन लागत में कमी होती है।

(ii) वस्तु की किसम में सुधार होता है तथा औद्योगिक सम्बन्धों में दृढ़ता और सौहार्द्रता उत्पन्न होती है।

(iii) श्रमिकों की सेवा में स्थायित्व आता है तथा उनकी आय में वृद्धि होती है।

(iv) अंशों के रूप में लाभ की राशि प्रदान करने से श्रमिक सह-स्वामी (Co-onenar) के रूप में संगठन के अंतर्गत अपनत्व और लगन से कार्य करते हैं।

(v) साधारण मजदूरी के अतिरिक्त लाभ भी मिलने से श्रमिकों के जीवन स्तर में वृद्धि होती है।

इस पद्धति के विपक्ष में प्रमुख तर्क इस प्रकार माने गए हैं :

(i) पूंजीपतियों द्वारा इस पद्धति का विरोध किया जाता है क्योंकि श्रमिक लाभ में तो भागीदार बन जाते हैं परन्तु संगठन के ऊपर संकट आने और हानि होन पर, किसी भी प्रकार का सहयोग देने से मना भी कर देते हैं।

(ii) श्रमिक - संघ उसे पूंजीपतियों की शोषण करने की एक चाल समझते हैं। इस योजना में भिन्न-भिन्न अनुपात में लाभ मिलने से, परस्पर वैमनस्यता को भी जन्म मिलता है। दूसरा कारण यह है कि कुशल और अकुशल कर्मचारी में कोई स्पष्ट भेद, यह पद्धति नहीं कर पाती है।

(iii) यदि संगठन में लाभ के स्थान पर हानि होती है तो श्रमिक को ऐसी प्रत्याशित आय से वंचित रहना पड़ता है।

(iv) श्रमिकों को लाभ कम प्रदान करने के उद्देश्य से प्रबन्धकों द्वारा वार्षिक लेखों में अनियमितताएं बरतने की संभावना अधिक रहती है।

(v) लाभ में हिस्सा होने का लालच होने के कारण श्रमिक संस्था छोड़कर नहीं जा पाता है। इससे श्रमिक की गतिशीलता प्रभावित होती है।

18.5.2 विशिष्ट प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति

विशिष्ट प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियां निम्नलिखित हैं।

1. हाल्से प्रीमियम योजना

इस मजदूरी पद्धति को विकसित करने का श्रेय, रैण्ड ड्रिल कम्पनी ऑफ़ शेखड, कनाडा सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री एफ़ ए हाल्से (F. A. Halsey) को जाता है। इन्होंने सन् 1890 में उक्त कम्पनी में इस पद्धति का प्रायोगिक - अनुभव लिया था।

इस पद्धति में

(अ) उत्पादन का प्रमाप (अर्थात् कितना उत्पादन श्रमिक को करना है) और उसे पूरा करने का प्रमापित समय (अर्थात् कुल दिए गए उत्पादन में कितना समय लगाना है) पहले से ही पुराने संदर्भों (Records) के आधार पर निश्चित कर दिया जाता है।

(ब) यदि श्रमिक अपना कार्य प्रमापित समय से पहले ही पूरा कर लेता है तो बचे हुए समय को श्रमिक का शेष समय मान लिया जाता है।

(स) बचे हुए समय के लिए, 'प्रीमियम' के रूप में श्रमिक को अतिरिक्त पारिश्रमिक देय होता है।

(द) यह अतिरिक्त पारिश्रमिक मजदूरी दर का से $33\frac{1}{3}$ लेकर 50% तक होता है।

(य) यदि श्रमिक दिए गए कार्य का प्रमापित समय में पूरा नहीं कर पाता है तो भी उसे समयानुसार निर्धारित की गई मजदूरी अवश्य प्रदान की जाती है अर्थात् इस पद्धति में 'न्यूनतम - मजदूरी' का आश्वासन अवश्य रहता है।

(र) 33½ से 50% की प्रीमियम श्रेणी (Range) इसलिए निर्धारित की जाती है कि अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग 'प्रीमियम दर' निर्धारित की जाती है जिससे किसी श्रमिक द्वारा एक कार्य में असफल रहने पर, दूसरे कार्य में भी बाधा नहीं पड़े अथवा उस श्रमिक पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़े। जैसे, श्रमिक को आरा - मशीन पर कार्य करने की दशा में 50% प्रीमियम दिया जा सकता हैं तो एक गड्ढ़ा खोदने वाले श्रमिक को 35% प्रीमियम ही प्रेरणात्पद हो सकेगा।

इस पद्धति में, मजदूरी का निम्न सूत्र के आधार पर आकलन (गणना) कियाजा सकता है—

(कार्य समाप्त करने का वास्तविक समय × मजदूरी की दर प्रति घंटा)
+
(प्रीमियम की दर × बचाया हुआ समय × प्रति घंटा दर)

उदाहरणार्थ

निश्चित प्रमापित कार्य	=	30	इकाई
निश्चित प्रमापित समय	=	15	घन्टे
निश्चित न्यूनतम मजदूरी	=	1	रूपया प्रति घंटा
प्रमापित समय से पूर्व कार्य पूरा करने पर प्रीमियम की दर	=	50%	

यदि एक श्रमिक निर्धारित कार्य को 10 घंटे में पूरा कर लेता है तो उपर्युक्त सूत्र के आधार पर मजदूरी गणना निम्न प्रकार से होगी —

$$10 \times 1 + 50\% \times 5 \times 1$$

$$= 10 + 2.50$$

$$= 12.50 \text{ रूपये}$$

अब आप शेष बचाए गए समय की समयानुसार मजदूरी से अधिक मिलने वाला प्रीतियम निम्न प्रकार से ज्ञात कर सकते हैं —

$$\text{समयानुसार मजदूरी} \times \frac{\text{बचाया गया समय}}{\text{लिया गया कुल समय}}$$

रू० $12.50 \times 5/10 + 6.25$ रू०

अतएव श्रमिक कुल मजदूरी प्राप्त होगी = 12.50 + 6.25 रू०

= 18.75 रू०

इस प्रकार, इस पद्धति के अनुरूप एक श्रमिक को न्यूनतम निश्चित मजदूरी से भी 3.75 रू० (18.75 - 15.00 रू०) अधिक मिला है।

लाभ

(i) यह पद्धति सरल है।

(ii) इससे श्रमिकों का शोषण नहीं होता, तथा

(iii) नियोक्ता लाभान्वित होता है।

दोष

(i) यह वैज्ञानिक पद्धति नहीं कही जा सकती क्योंकि पिछले अनुभवों के आधार पर प्रमापित समय का निर्धारण किया जाता है।

(ii) श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी की गारन्टी रहती है और वास्तविक रूप में 50% मजदूरी पूर्ण वैज्ञानिक रीति से प्रतीत नहीं होती है। अतएव, श्रमिक रूचि नहीं लेते हैं।

2. रोवन प्रीमियम योजना (Rowan Premium Plan)

इस मजदूरी पद्धति के विकास का श्रेय स्कॉटलैंड की एक फर्म 'डेबिट रोबन एण्ड सन्स' ग्लासगो के संस्थापक री जेम्स रोवन को जाता है। इस पद्धति में श्रमिकों को इस समय की सामान्य मजदूरी दी जाती है जिसमें उन्होंने कार्य किया है। इसमें, हाल्से योजना की तरह 50% की प्रीमियम निर्धारित नहीं होती है। निर्धारित समय और प्रमापित कार्य, दोनों का पहले से ही निश्चय कर लिया जाता है। हाल्से योजना के विरीत इस पद्धति में श्रमिक जितना अधिक समय बचाता है, प्रीमियम की राशि उतनी ही कम हो जाती है। जेम्स रोवन का कहना यह है कि बचाए गए घण्टों का प्रीमियम कुल प्रमापित मजदूरी से किसी भी दशा में अधिक नहीं होना चाहिए। श्रमिक को दिए जाने वाले प्रीमियम की गणना उसके द्वारा बचाए गए समय के साथ जोड़ दी जाती है।

गणना का सूत्र

$$\text{प्रीमियम} = \frac{\text{बचाया गया समय}}{\text{निर्धारित समय}} \times \text{कार्य पूरा करने में लिया गया समय} \times \text{घंटा}$$

उदाहरणार्थ :

निश्चित प्रमपित समय	:	10 लाभ
निश्चित प्रमापित कार्य	:	20 इकाई
निश्चित न्यूनतम मजदूरी	:	1 रू० प्रति इकाई

यदि श्रमिक 8 घण्टे में ही कार्य पूरा कर लेता हो तो रोवन प्रीमियम योजना के अनुसार मजदूरी निम्न प्रकार से ज्ञात की जायेगी —

$$\text{मजदूरी} = \text{लिया गया समय} = \text{प्रति घण्टा दर}$$
$$= 8 \times 1 = 8 \text{ रूपए}$$

उपर्युक्त सूत्र को लागू करने पर —

$$2/10 \times 8 \times 1$$

इस प्रकार = 1.60 रूपया

कुल मजदूरी, जो एक श्रमिक को प्राप्त होगी — 8.00 + 1.60 रू० = 9.60 रू०

लाभ - दोष

इस पद्धति में समय की बात की प्राथमिक अवस्था में श्रमिकों को प्रीमियम देकर अधिक प्रेरणा दी जा सकती है परन्तु यह विधि न्यायसंगत नहीं कही जा सकती क्योंकि आनुपातिक रूप से श्रमिक घाटे में ही रहता है।

3. टेलर - भिन्नक कार्यानुसार योजना अथवा टेलर की विभेदात्मक कार्यानुसार योजना (Taylor's Differential piece rate system)

आधुनिक व्यावसायिक जगत को वैज्ञानिक प्रबन्ध से परिचित कराने वाले सुप्रसिद्ध प्रबन्धशास्त्री फेडरिक विन्सलो टेलर ने, इस पद्धति को सन् 1880 में प्रतिपादित किया था तथा अपने निबन्ध "Piece Rate System" में दिए गए तथ्यों के आधार पर सन् 1884 में सबसे पहले मिडवेल स्टील कम्पनी, फिलाडेल्फिया में लागू किया था।

इस पद्धति की तीन बातें प्रमुख हैं :

(i) पद्धति में, मजदूरी देने की दो दरें हैं। प्रथम, ऊंची दर और द्वितीय, नीची दर।

(ii) उन श्रमिकों को, जिनक द्वारा प्रमापित कार्य अथवा इससे अधिक कार्य किया जाता है, उन्हें "ऊंची - दर" से तथा निश्चित प्रमापित कार्य को निर्धारित समय में पूरा नहीं करने पर उन्हें "नीची - दर" से मजदूरी का भुगतान किया जाता है। कार्य का प्रमाप, 'समय और गति अध्ययन' के आधार पर तय किया जाता है।

(iii) मजदूरी की इन दरों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, जिससे यह पद्धति कुशल श्रमिकों के लिए तो प्रेरणादायक है परन्तु अकुशल श्रमिकों को, एक प्रकार से दंड का भागी बनाती है।

उदाहरणार्थ :

1. निश्चित प्रमापित कार्य	:	30 इकाई
2. प्रमापित कार्य करने पर दर	:	1 रूपया प्रति इकाई
3. प्रमापित कार्य न करने पर दर	:	80 पैसा प्रति इकाई

यदि A श्रमिक 30 इकाई बनाता हो और B श्रमिक 25 इकाई बनाता हो तो उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर टेलर पद्धति के अनुसार मजदूरी का आंकलन इस प्रकार होग —

(a) A को मिलेंगे (प्रमापित कार्य × प्रमापित इकाईयाँ × प्रमापित कार्य नहीं करने पर दर)

$= (25 \times .80)$

= 20.00 रूपया मात्र

4. बहु - खंड अथवा मैरिक योजना (Multiple piece Rate System or Merrick Plan)

मैरिक ने मजदूरी की तीन दरें निश्चित की हैं —

प्रथम	—	प्रमापित कार्य के 83% तक के लिए मजदूरी,
द्वितीय	—	प्रमाप बिन्दु 100% पर मजदूरी, तथा
तृतीय	—	प्रमाप बिन्दु से ऊपर के लिए मजदूरी।

इस पद्धति में, जो श्रमिक प्रमापित कार्य का 83% तक उत्पादन करते हैं, उन्हें कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है। 83% से ऊपर कार्य करने पर सामान्य मजदूरी के अलावा 10% बोनस तथा प्रमापित कार्य अथवा उससे अधिक कार्य करने पर सामान्य मजदूरी + 10% बोनस + 10% अतिरिक्त बोनस दिया जाता है।

यह योजना, टेलर की योजना में एक सुधान मानी जा सकती है। इस पद्धति में 'कार्यक्षमता' को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। परन्तु, इस विधि में 'कार्य - प्रमाप' इतने उच्च होते हैं कि कर्मचारियों को 'कार्य - प्रेरणा' नहीं मिल पाती है।

5. इमर्सन कार्यक्षमता मजदूरी पद्धति (योजना) : (Emerson's Efficiency Bonus Plan)

इस पद्धति के आविष्कारक सुप्रसिद्ध प्रबन्ध शास्त्री श्री हैरिंगटन इमर्सन माने गऐ हैं। इस पद्धति में श्रमिकों को एक निश्चित काम सौंपा जाता है, उसे पूरा करने के लिए समय भी निश्चित कर दिया जाता है, श्रमिक को दी जाने वाली साधारण मजदूरी की दर भी निर्धारित कर दी जाती है।

इस पद्धति में

(i) उस श्रमिक को बोनस दिया जाता है जो प्रमापित कार्य का, कम से कम $66\frac{2}{3}$ या 2/3 भाग, प्रमापित समय में पूरा कर लेता है।

(ii) कार्यक्षमता बढ़ने के साथ-साथ बोनस भी 100% तक पहुंच जाता है।

(iii) बोनस मासिक आधार पर देय होता है।

(iv) इस पद्धति के अनुसार —

(अ) $66\frac{2}{3}$ से 90% तक की क्षमता पर 10% बोनस,

(ब) 90% से 100% क्षमता पर 20% बोनस,

(स) 100% से 120% क्षमता पर 40% बोनस तथा

(द) 120% से 40% क्षमता पर 60% बोनस देय होता है तथा इसी क्रमिक दर से वृद्धि होती जाती है।

(v) यदि श्रमिक की क्षमता $66\frac{2}{3}$ से कम होती है तो उसे पूरी सामान्य मजदूरी अवश्य ही प्राप्त होती है।

(vi) जो श्रमिक प्रमापित समय में निश्चित उत्पादन कर लेता है उसकी कार्य - क्षमता 100% मान ली जाती है।

उदाहरणार्थ :

प्रमापित समय	=	10	घंटे
प्रमापित कार्य	=	12	इकाइयाँ
न्यूनतम मजदूरी	=	1	रू० प्रति घंटा (समयाधार)

मजदूरी गणना :

(अ) यदि कोई श्रमिक 5 घंटे में ही प्रमापित कार्य पूरा कर लेता है तो उसे 200% क्षमता पर बोनस प्राप्त करने का अधिकार होगा। उसे राशि प्राप्त होगी :

रू० 10 + 10 = 20.00 रूपए

(ब) यदि कोई श्रमिक 10 घंटे में प्रमापित कार्य (12 इकाईयां) पूरी कर लेता है तो उसे 100% क्षमता पर 20% बोनस मिलेगा अर्थात्

रू० 10 + 02 = 12.00 रूपए

(स) यदि कोई श्रमिक बजाय 10 घंटे के 20 घंटे में कार्य पूरा करता है तो उसे बोनस नहीं मिलगा।

इस पद्धति को प्रेरणादायक माना गया है। ऐसा इसलिए है कि बोनस मासिक आधार पर दिया जाता है। इसलिए श्रमिक कभी भी अपने कार्य की गति को तीव्र करके बोनस कमा सकता है। परन्तु, यह पद्धति खर्चीली अधिक है तथा श्रमिक बोनस कमाने के प्रयास में, कार्य की गति तेज तो कर देते हैं परन्तु 'किस्म पर कोई ध्यान नहीं दे पाते हैं।

6. कार्यभार एवं अधिलाभांश योजना

गैण्ट अथवा अधिलाभांश योजना (Gantt Task and Bonus Plan)

इस पद्धति के प्रतिपादक एफ० डब्ल्यू० टेलर के सहयोगी श्री एच० एल० गैण्ट थे। इन्होंने टेलर की 'कार्यानुसार भिन्नक मजदूरी पद्धति' में कुछ सुधार करके इस पद्धति को निम्न विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया है —

(i) श्रमिक को एक निश्चित कार्य (Task) सौंप दिया जाता है।

(ii) कार्य का पूरा करने का प्रमापित समय भी निर्धारित कर दिया जाता है।

(iii) जो श्रमिक निर्धारित समय में प्रमापित कार्य कर लेता है, तो कार्यानुसार मजदूरी देय होती है। साथ ही उसे बोनस भी प्रदान किया जाता है।

(iv) जिस पद्धति में, प्रमापित समय का 20% से 50% तक बोनस दिया जाता है। अध्ययन और विश्लेषण से ज्ञात होता है कि श्री गैण्ट ने $33\frac{2}{3}$ बोनस देने को सबसे अधिक उचित बताया था अर्थात् वे इसे उचित दर मानते थे।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

(i) कार्य को पूरा करने का प्रमापित समय = 6 घंटे

(ii) प्रति घंटा दर = 1 रूपया

(iii) बोनस = 25%

आकलन :

(अ) यदि K कार्य को पूरा करने में 7 घंटे लगाता है तो उसकी मजदूरी होगी —

सूत्र : प्रति घंटा दर × कार्य पूरा करने का प्रमापित समय

= 1 × 6 = 6 रूपए मिलेंगे।

(ब) यदि R उसी प्रमापित कार्य को पूरा करने में 6 घंटे लगाता है तो उसकी मजदूरी होगी :

सूत्र : (प्रति घंटा दर × कार्य पूरा करने का प्रमापित समय)

(कार्य पूरा करने का प्रमामित समय × बोनस दर)

= (1 × 6) + (6 × 25%) रू०

= (6 + 1.50) रूपया = 7.50 रूपया

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रमिक द्वारा एक घंटा पूर्व अथवा निश्चित समय में काम करते ही, उसे 1.50 रूपये का तुरन्त लाभ प्राप्त होता है।

इस पद्धति में, श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी सदैव सुरक्षित रहती है। श्रमिकों और सेवा नियोजकों के लिए समान रूप से लाभकारी है क्योंकि श्रमिकों को बोनस मिलता है और सेवानियोजकों को मजदूरी में कटौती करने केलिए बार-बार पर्यवेक्षण व्यय नहीं करने पड़ते हैं। इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ जाती है क्योंकि जो श्रमिक प्रमापित कार्य को पूरा नहीं कर पाता है, उसे भी न्यूनतम मजदूरी देनी पड़ती है।

7. बेडो की बिन्दु प्रीमियम योजना (Bedaux Plan)

इस पद्धति का प्रतिपादन प्रोफेसर चार्ल्स बैडॉक्स ने, सन 1911 में किया था। इस मजदूरी योजना को न्यूयॉर्क सिटी के कई वृहत् कारखानों में लागू किया गया था और यह पद्धति उस समय अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी। इसे 'बिन्दु अथवा अंक' योजना भी कहा जाता है : इस योजना में —

(i) पर्याप्त सावधनी के साथ कुछ बिन्दुओं (Points) का निर्धारण कर दिया जाता है, जिन्हें बेडॉक्स ने इकाइयाँ भी माना हैं

(ii) प्रमापित किए गए समय को 'मिनट' में व्यक्त किया जाता है।

(iii) एक मिनट को एक बिन्दु अथवा एक अंक माना जाता है और मजदूरी भी प्रति अंक के अनुसार ही निर्धारित की जाती है।

(iv) यदि किसी श्रमिक द्वारा 60 बिन्दुओं तक ही कार्य किया जाता है तो उसे सामान्य दर से मजदूरी प्रदान की जाती है। जो श्रमिक 60 बिन्दुओं से ऊपर कार्य करता है उसे 100% बोनस (निर्धारित दर से) दिया जाता है।

उदाहरणार्थ :

मजदूरी की दर (देय) है = 10 पैसे प्रति बिन्दु

श्रमिक A ने 59 बिन्दु कार्य किया है।

श्रमिक B ने 90 बिन्दुओं का कार्य किया है।

मजदूरी आकलन :

A को $59 \times .10 = 5.90$ रू०

B को $60 \times .10 + 30 \times .10 = 6.00 + 3.00 = 9.00$ रू० मिलेंगे।

इस पद्धति में मुख्य बात यह याद रखनी है कि अतिरिक्त बिन्दु (इकाईयाँ) उत्पादित करने पर श्रमिक को निर्धारित दर से 100% बोनस मिलता है न कि $66\frac{2}{3}$ या 20 - 50% बोनस।

इस मजदूरी विधि को, अर्थशास्त्रियों ने न्यायोचित माना है परन्तु उनका यह कहना भी है कि 'कार्य - विश्लेषण' के लिए तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है जिससे इसमें जटिलता, अवश्य आ जाती है।

8. जीवन निर्वाह लागत मजदूरी विधि : (Cost of living Wages Method)

इस पद्धति को, प्रायः समयानुसार मजदूरी पद्धति के साथ अपनाया जाता है जिससे —

(i) मुद्रा स्फीति के समय मूल्य वृद्धि का श्रमिकों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े,

(ii) संगठन के प्रयासों से प्राप्त लाभ को न्यायोचित आधार पर मजदूरों और सेवानियोजकों में विभाजित किया जा सके,

(iii) औद्योगिक सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार किया जा सके, तथा

(iv) इस पद्धति में, मजदूरी को "जीवन निर्वाह लागत निर्देशांकों" (Cost of living Index) से जोड़ दिया जात है। इन निर्देशांकों के घटने -बढ़ने के साथ-साथ मजदूरी की दर भी घटती-बढ़ती रहती है।

इस पद्धति का सबसे दोष यह है कि मंदी के समय मजदूरी कम हो जाती है तथा मूल्य परिवर्तनों के अनुरूप संगठन द्वारा मजदूरियों में शीघ्र समायोजन नहीं किया जा सकता है।

18.6 अधिलाभांश (Bonus)

आपको ज्ञात होगा कि एक वृहद् संगठन में, लाभ में से अंशधारियों को जो भाग प्रदान किया जाता है, उसे लाभांश (Dividend) कहा जाता है और लाभ का जो भाग कर्मचारियों को प्रदान किया जाता है, उसे अधिलाभांश (Bonus) कहा जाता है। अधिलाभांश भी आज की आर्थिक परिस्थितियों में, मजदूरी का एक अंग बन चुका है और एक सीमा तक मजदूरी प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को, विधिक रूप से (Legally) इसे देना आवश्यक हो गया है।

इसके लिए सन् 1965 में "अधिलाभांश अधिनियम, 1965" बनाया गया था। यह अधिनियम वित्तीय संस्थओं, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, बीमा कम्पनियों, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इन्डिया तथा अन्य कुछ संस्थाओं के अतिरिक्त सभी संस्थाओं में लागू होता है। इसके लिए, यह आवश्यक है कि उस संस्था में, अधिलाभांश प्राप्त करने के लिए कम से कम 20 श्रमिक अवश्य कार्यरत होने चाहिए। वे श्रमिक जिन्होंने एक वर्ष में कम से कम 30 दिन कार्य किया हो, अधिलाभांश पाने के अधिकारी होते हैं।

अधिलाभांश प्राप्त करने के लिए, किसी भी कर्मचारी/श्रमिक की मजदूरी की सीमा 2500 रूपए प्रतिमाह रखी गई है। परन्तु, श्रमिक को अधिलाभांश इस प्रकार से देय होगा, मानो उसे 1600 रूपए प्रतिमाह ही प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् 2500 रूपए कुल वेतन प्राप्त करने वाले कर्मचारी/श्रमिक को अधिलाभांश तो मिलेगा परन्तु 1600 रूपए पर जितना अधिलाभांश बनता है, उतना ही उसे प्राप्त होगा, उससे अधिक नहीं।

जहाँ तक अधिलाभांश प्रदान करने का प्रश्न है, पृथक-पृथक विभागों में, भिन्न-भिन्न, दरों पर दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रेल्वे एवं डॉकतार कर्मचारियों को अधिलाभांश प्रदान करने की प्रवृत्ति प्रायः 25 दिन से 29 दिन तक के वेतन के बराबर देने की रही है। परन्तु, अधिनियम की व्यवस्था के अनुरूप यह आवश्यक है कि एक कर्मचारी/श्रमिक को मजदूरी का न्यूनतम 8.33% अवश्य ही प्रदान किया जाना चाहिए, चाहे उस संस्था को लाभ हुआ हो, अथवा नहीं। अधिकतम् अधिलाभांश की सीमा 20% रखी गई है अर्थात् 20 प्रतिशत से अधिक अधिलाभांश, किसी भी रूप में नहीं दिया जा सकता है।

मजदूरी पद्धति कैसी हो ?

किसी भी संगठन में एक मजदूरी पद्धति में निम्नलिखित बातें होना आवश्यक है--

(i) श्रमिकों को संतुष्ट करने वाली तथा श्रम-शक्ति का निर्माण एवं विकास करने वाली होनी चाहिए।

(ii) एक समान (प्रकृति) कार्य करने वाले उद्यमों में एक ही प्रकार की मजदूरी निर्धारित की जानी चाहिए जिससे श्रम की गतिशीलता में कमी लाई जा सके।

(iii) यह राष्ट्र की आर्थिक दशाओं को ध्यान में रखकर निर्धारित की जानी चाहिए, जिससे अर्थव्यवस्था में, योगदान प्राप्त हो सके।

(iv) प्रत्येक संगठन में, प्रत्येक कर्मचारी को न्यूनतम - मजदूरी की गारन्टी अवश्य ही होनी चाहिए।

(v) जैसे-जैसे संगठन में उत्पादकता बढ़ती जाए, मजदूरी की दरों में भी परिवर्तन किया जाना चाहिए।

(vi) एक ही श्रेणी के श्रमिकों को पृथक-पृथक दर से मजदूरी नहीं दी जानी चाहिए।

18.7 सारांश

आपने विभिन्न मजदूरी - पद्धतियों का अध्ययन और विश्लेषण किया है। आपने यह भी पाया होगा कि कलात्मक अथवा शिल्पी कार्यों के लिए समयानुसार मजदूरी पद्धति ही सबसे उपयुक्त मानी गई है और जहां 'किस्म' का औचित्य नहीं हो, संगठन का शीघ्र उत्पादन करने का दृष्टिकोण प्रतिपादित होता हो, वहाँ कार्यानुसार मजदूरी पद्धति की महत्ता बढ़ जाती है। जहाँ तक प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियों का प्रश्न है, इसके बारे में सार्वभूत सत्य यही है कि संगठन की प्रकृति, आकार तथा भुगतान करने की क्षमता के आधार पर, इनमें से किसी भी पद्धति को लागू किया जा सकता है। साथ ही प्रथम अवस्था में अपेक्षित परिणाम नहीं मिलने पर पुनः दूसरी पद्धति को संगठन में लागू किया जा सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों में, इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि चाहे मजदूरी - पद्धति, किसी संगठन में, कोई सी भी (समयानुसार, कार्यानुसार अथवा प्रेरणात्मक) लागू की जाए, परन्तु वह

(अ) श्रमिकों की उत्पादकता को बढ़ावा देने वाली होनी चाहिएं।

(ब) सेवा नियोजकों और श्रमिकों में सौहार्द्रपूर्ण श्रम - सम्बन्ध स्थापित करने वाली होनी चाहिए,

(स) श्रमिकों के सम्मान और जीवन-स्तर में वृद्धि करने वाली होनी चाहिए, तथा

(द) राष्ट्रीय मजदूरी नीति के अनुरूप होनी चाहिए।

18.8 शब्दावली

(अ) मजदूरी : शारीरिक श्रम के बदले, किसी श्रमिक को दिया जाने वाला पारिश्रमिक।

(ब) उत्पादन के घटक : श्रम, पूंजी, भूमि, माल, मशीन एवं साहस।

(स) वेतन : मस्तिष्क श्रम के आधार पर, लिपिकीय एवं पेशेवर व्यक्तियों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक।

(द) प्रति इकाई लागत : संगठन में किए गए कुल उत्पादन की एक इकाई पर किया गया व्यय।

(य) श्रम-संघ : श्रमिकों का संगठित समूह जो अपने सदस्यों के हितार्थ कार्य करता है।

(र) निश्चित प्रमाप : लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पूर्व निर्धारित किए गए समंक।

(ल) अधिलाभांश : सामूहिक सौदेबाजी अथवा विधिक आधार पर देय लाभ का कर्मचारियों/श्रमिकों को दिया जाने वाला भाग।

18.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समयानुसार मजदूरी पद्धति से आपका क्या आशय है? समयानुसार मजदूरी पद्धति एवं कार्यानुसार मजदूरी पद्धति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. एफ० डब्ल्यू० टेलर तथा एच० एल० गैण्ट की मजदूरी पद्धतियों में क्या समन्वय है? यह भी बताइए कि इनमें मूल अन्तर क्या है?
3. "कार्यानुसार मजदूरी पद्धति शिल्पकारी कार्यों हेतु, कसौटी पर खरी नहीं उतरती है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं? यह भी बताइए कि समयानुसार मजदूरी पद्धति में कौन से गुण पाए गए हैं?
4. हाल्से और रोवन द्वारा प्रतिपादित मजदूरी पद्धतियों को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हुए उनकी तुलना कीजिए।
5. प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति क्या है? वर्णन कीजिए तथा सामान्य प्रेरणात्मक योजनाओं का विवेचन कीजिए।
6. टिप्पणियां लिखिए —
   (अ) न्यूनतम मजदूरी,
   (ब) इमर्सन कार्यक्षमता मजदूरी पद्धति,
   (स) बैडो की बिन्दु प्रीमियम योजना,
   (द) अधिलाभांश।

इकाई-19

विकासशील देशों में मजदूरी नीति : न्यूनतम मजदूरी, उचित मजदूरी, एवं पर्याप्त मजदूरी

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 मजदूरी नीति से आशय

19.2.1 मजदूरी नीति के प्रमुख उद्देश्य

19.2.2 मजदूरी नीति का महत्व

19.2.3 भारत में राष्ट्रीय मजदूरी नीति की आवश्यकता

19.3 न्यूनतम मजदूरी

19.3.1 न्यूनतम मजदूरी का अर्थ

19.3.2 न्यूनतम मजदूरी के उद्देश्य

19.3.3 न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के आर्थिक प्रभाव

19.3.4 न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 के प्रमुख प्रावधान

19.4 उचित मजदूरी

19.4.1 जीवन निर्वाह, न्यूनतम तथा उचित मजदूरी

21.4.2 उचित मजदूरी की व्यवहारिकता में कठिनाईयां

19.5 पर्याप्त मजदूरी

19.5.1 पर्याप्त मजदूरी का निर्धारण

19.6 सारांश

19.7 प्रश्न

19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य

भारत एक विकासशील देश है। इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समस्त उत्पादन संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग होना अत्यन्त आवश्यक है श्रम उत्पादन का सबसे सक्रिय साधन है यह एक और उत्पादक है तो दूसरी और उपभोक्ता श्रम में अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएं हैं जैसे श्रम को श्रमजीवी से पृथक नहीं किया जा सकता और श्रम नश्वर है आदि। इस कारण श्रमिक से किया जाने वाला व्यवहार उत्पत्ति के अन्य साधनों से भिन्न होता है। श्रमिकों के हितों को संरक्षण देने के उद्देश्य से मजदूरी नीति बनायी जाती है। मजदूरी नीति से हमारा तात्पर्य शासन द्वारा अपनायी गई नीति से है हम इस

इकाई में मजदूरी नीति से आशय, आवश्यकता का अध्ययन करेंगे। न्यूनतम मजदूरी क्या है। न्यूनतम मजदूरी के उद्देश्य, न्यूनतम मजदूरी को निर्धारित करने में आर्थिक प्रयास, तथा न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 के प्रमुख प्रावधानों की जानकारी लेंगे। जीवन निर्वाह मजदूरी तथा उचित मजदूरी के संबंध में भी अध्ययन करेंगे।

19.1 प्रस्तावना

एक विकासशील अर्थ व्यवस्था में श्रमिकों की उत्पादन में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है श्रमिक ही प्राकृतिक साधन पूंजी तथा उत्पत्ति के अन्य साधनों के साथ क्रिया प्रतिक्रिया करते हुए उत्पादन सम्भव बनाते हैं। श्रमिक को अपने कार्य के बदले मजदूरी मिलती है मजदूरी उत्पादन लागत का एक अभिन्न अंग है। सेवायोजक सामान्यतया अपने लाभ को बढ़ाने के लिए उत्पादन लागत के अधिक अंग मजदूरी में कटौती करते है। और साथ ही यदि श्रमिक असंगठित है तो वे उनका शोषण करने में सफल भी हो जाते हैं। इससे श्रमिकों की स्थिति दीन हीन होने लगती है जो आर्थिक विकास के लिए खतरा पैदा करती है। आर्थिक विकास की सफलता के लिए एक आधारभूत शर्त यह है कि हमारा श्रम जीवी सन्तुष्ट एवं सुखी हो। वह सुखी तभी हो सकता है जब उसे मजदूरी उसके योगदान के अनुसार प्राप्त हो इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार मजदूरी नीति घोषित करती है मजदूरी कई प्रकार की होती है न्यूनतम पर्याप्त तथा जीवन निर्वाह मजदूरी।

19.2 मजदूरी नीति से आशय

समान्यतः मजदूरी नीति से अभिप्राय मजदूरी के सम्बन्ध में शासन द्वारा अपनाई गई नीति से है। सैद्धांतिक अर्थ में मजदूरी नीति से आशय उस वैधानिक अथवा सरकारी कार्यवाही से है जो आर्थिक एवं सामाजिक नीति के विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मजदूरी-स्तर अथवा कलेवर अथवा दोनों पर प्रभाव डालती है। प्रत्येक देश तथा समाज में श्रमिकों का जीवन स्तर, उनका नैतिक एवं चारित्रिक स्तर, प्रबन्धकों के प्रति उनका दृष्टिकोण, उद्योग दृष्टिकोण, उद्योग से उनका लगाव एवं उत्पादकता वृद्धि के प्रति उनकी मनोवृत्ति वास्तव में उनका जीवन दर्शन आदि सब कुछ ''मजदूरी नीति'' पर निर्भर करता है।

भारत सरकार द्वारा न्यूनतम भृत्ति अधिनियम, भृति भुगतान अधिनियम बोनस अधिनियम बोनस अधिनियम आदि सन्नियम शासन की मजदूरी नीति के महत्वपूर्ण तत्व हैं जो निश्चित रूप से देश में मजदूरी के स्तर तथा कलेवर को प्रभावित व नियंत्रित करते हैं।

19.1.1 मजदूरी नीति के प्रमुख उद्देश्य

एशिया महादीप के देशों की श्रम नीति के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा प्रकाशित पुस्तक में विकासशील अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरी नीति के निम्नलिखित उद्देश्य बताए गये हैं :

1. श्रम संघों के स्वस्थ विकास के लिए प्रयास करना।
2. आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप मिलने वाले लाभों में श्रमिकों को उचित व पर्याप्त भाग दिलाना।
3. कार्यानुसार भुगतान को प्रोत्साहित करना।
4. अधिक निम्न मजदूरी को समाप्त करना।

5. बढ़ती हुई कीमतों के दुष्प्रभाव से मजदूरी कमाने वाले श्रमिकों के हितों की रक्षा करना।
6. उचित श्रम मानकों की स्थापना करना।
7. मजदूरी के अन्तरों को कम करना।
8. सामूहिक सौदेबाजी के विकास के लिए अलग से प्रयत्न करना।
9. उन श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना जिनकी सौदा करने की शक्ति कम है क्योंकि या तो वे असंगठित है अथवा कुशल रूप से संगठित है।

19.2.2 मजदूरी नीति का महत्व

मजदूरी नीति का महत्व न केवल श्रमिकों के लिए ही है, अपितु प्रबन्धकों एवं सेवायोजकों एवं सरकार के लिए भी इस नीति का अत्यन्त महत्व है।

(1) प्रबन्धकों एवं सेवायोजकों के लिए मजदूरी का महत्व

मजदूरी उत्पादन लागत का एक प्रमुख अंग होती है। अतः प्रबन्धकों एवं सेवायोजकों की दृष्टि से इसका बहुत अधिक महत्व है। अन्य घटकों के समान मजदूरी एक ऐसा तत्व है जिसे एक सवायोजक प्रभावित करता है। प्रबन्धकों के लिए मजदूरी के महत्व का दूसरा कारण यह है कि अधिक मजदूरी और उत्तम कार्य दशाओं के लिए जो मांगें की जाती है वे मूल्य, बाजार एवं उत्पादन सम्बन्धी अनेक समस्यायें उत्पन्न कर देती हैं। औद्योगिक कुशलता के सम्बन्ध में मजदूरी की समस्या आधारभूत महत्व रखती है। यदि मजदूरी पर्याप्त नहीं है तो श्रमिक अपनी कुशलता को कायम नहीं रख सकता।

(2) सरकार के लिए महत्व

मजदूरी के सम्बन्ध में सरकार को भी सर्तक दृष्टि रखती पड़ती है। इसका कारण यह हैं कि सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह समाज के सभी वर्गों को अन्ततः न्याय दिलाये और मजदूरी नीति सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं को सुलझाये। वास्तव में, श्रमिकों को उत्तम कार्य एवं रहन-सहन की दशायें उपलब्ध कराने वाले कल्याण कार्यों की तुलना में उचित पारितोषण की गारण्टी मधुर औद्योगिक सम्बन्धों और इस प्रकार देश की आर्थिक समृद्धि के लिए सबसे सुदृढ़ आधार प्रदान करती है। एक सन्तोषजनक मजदूरी का भुगतान श्रमिक से सहयोग प्राप्त कर सकता है और उसे राष्ट्र के विकास कार्यक्रमों में एक भागीदार के रूप में अपना स्थान ग्रहण करने में समर्थ बनाता है।

19.2.3 भारत में राष्ट्रीय मजदूरी नीति की आवश्यकता

विश्व के प्रायः सभी उन्नतिशील देशों में मजदूरी की समस्या को हल करने के लिए वैधानिक व्यवस्थायें की गई हैं। विश्वविख्यात संस्था अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने भी अपने लक्ष्यों में उचित जीवन यापन मजदूरी तथा समान मूल्य के कार्य के लिए समान मजदूरी को प्रमुखता प्रदान की है। इस प्रकार विश्व के उन्नतिशील देशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने मजदूरी की समस्या का विशेष महत्व है। भारत में आर्थिक एवं सामाजिक दशाओं के अध्ययन के परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय मजदूरी नीति की आवश्यकता को अनुभव किया गया। इसकी आवश्यकता के प्रमुख कारण निम्नलिखित रहे हैं

1 देश में समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य को उचित मजदूरी नीति के क्रियान्वयन के फलस्वरूप ही प्राप्त किया जा सकता है।

2. मजदूरी का वैधानिक, प्रशासकीय एवं अर्द्ध न्यायिक आधार पर नियत किया जाना उसी दशा में सम्भव है जब एक राष्ट्रीय मजदूरी नीति हों।

3. आर्थिक नियोजन तथा इसके लक्ष्यों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि एक राष्ट्रीय मजदूरी नीति का निर्माण किया जाये तथा निष्ठा के साथ उसका परिपालन भी किया जाये।

4. आर्थिक नियोजन तथा इसके लक्ष्यों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि एक राष्ट्रीय मजदूरी नीति का निर्माण किया जाये तथा निष्ठा के साथ उसका परिपालन भी किया जाये।

5. एक निश्चित राष्ट्रीय नीति होने पर ही उसे राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार सुविधा से संशोधित किया जा सकता है।

6. एक दृढ एवं स्वस्थ श्रम संघ आन्दोलन तथा श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से भी उचित मजदूरी नीति का होना बहुत आवश्यक है।

एक न्यायसंगत राष्ट्रीय मजदूरी नीति के निर्धारण हेतु निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए-

(क) मजदूरी नीति के निर्धारण में सार्वजनिक व निजी दोनों की क्षेत्रों के उद्योगों का ध्यान रखना चाहिए तथा इस दृष्टि से राष्ट्रीय नीति समन्वित होनी चाहिए।

(ख) न्यूनतम व अधिकतम मजदूरी में कम से कम अन्तर होना चाहिए।

(ग) अनावश्यक एवं अत्यधिक वेतन मान न रखे जायें।

(घ) मजदूरी नीति के निर्धारण में सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्रों के उद्योगों का ध्यान रखना चाहिए तथा इस दृष्टि से राष्ट्रीय नीति समन्वित होनी चाहिए।

19.3 न्यूनतम मजदूरी

प्रारम्भिक

न्यूनतम मजदूरी का आशय उस न्यूनतम पारितोषण से है, जो कि श्रमिकों को एक न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रखने के लिए आवश्यक है। और जो उन्हें एसे सामान्य आराम प्रदान कर सकें, जिनसे उनमें अच्छी आादतें विकसित हों, आत्मसम्मान की भावना पैदा हो और वे एक सम्मानित नागरिक की भांति समाज में रह सकें।

19.3.1 न्यूनतम मजदूरी का अर्थ

भारत सरकार द्वारा नियुक्त उचित मजदूरी समिति ने न्यूनतम मजदूरी को निम्न प्रकार परिभाषित किया - "न्यूनतम मजदूरी इतनी होनी चाहिए कि न केवल वह श्रमिक के जीवन - निर्वाह के लिए व्यवस्था करें वरन उनकी कुशलता को सुरक्षित रखने में भी सहायता करें। इस आशय के लिए न्यूनतम मजदूरी को थोड़ी शिक्षा, चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं अन्य सुविधाओं की भी पूर्ति करनी चाहिए।

उल्लेखनीय है कि न्यूनतम मजदूरी की दर सदैव के लिए निश्चित नहीं होती, वरन् रहन-सहन की लागतों में (कीमत स्तर में वृद्धि के परिणाम स्वरूप) परिवर्तन होने

पर न्यूनतम मजदूरी की दर में भी परिवर्तन किया जाता है। यह किसी एक या कुछ उद्योगों के लिए निर्धारित की जा सकती है या देश के सभी उद्योगों के लिए। जब वह देश के सभी उद्योगों के लिए निर्धारित की जाती है, तब उसे राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी कहा जाता है।

19.3.2 न्यूनतम मजदूरी के उद्देश्य

न्यूनतम मजदूरी के उद्देश्य दो हैं - प्रथम, श्रमिकों में शोषण रोकना और अत्यन्त नीची मजदूरी वाले उद्योगों में मजदूरी बढ़वाना। दूसरे, श्रमिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति करना ताकि वे सन्तुष्ट रहें और औद्योगिक शान्ति बढ़े। न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी अधिनियम या तो उस मजदूरी-दर को स्पष्ट रूप से बता देते हैं जिसे न्यूनतम समझा जाना चाहिए या न्यूनतम मजदूरी दर के निर्धारण एक प्रशासकीय आयोग पर छोड देते हैं प्रशासकीय आयोग को न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण का कार्य सौंपना अधिक अच्छा है क्योंकि वह परिवर्तन की आर्थिक दशाओं पर ध्यान रख सकता है और आवश्यकता अनुसार न्यूनतम मजदूरी की दर में संशोधन करता रह सकता है।

19.3.3 न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के आर्थिक प्रभाव

न्यूनतम मजदूरी या तो एक या कुछ उद्योगों के लिए निर्धारित की जा सकती है या सभी उद्योगों के लिए। दोनों दशाओं में आर्थिक परिणाम अलग-अलग होते हैं। आइये उद्योग विशेष पर पड़ने वाले आर्थिक परिणामों की विवेचना करें। चाहे मजदूरी संघ न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था करें चाहे, सरकार, दोनों दशाओं में कुछ उद्योगों के लिए इसे लागू करने के परिणाम समान होंगे। ये परिणाम अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। उद्योग विशेष या कुछ उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी लागू करने के प्रमुख हानि कारक परिणाम निम्न प्रकार होंगे :

(1) बेकारी फैलने की सम्भावना

प्रायः न्यूनतम मजदूरी प्रतिस्पर्धात्मक मजदूरी से कुछ ऊँची निर्धारित की जाती है। इससे उद्योग में बेकारी फैलने की सम्भावनाएं हैं। ये सम्भावनाएं निम्न प्रकार हैं:

(i) मजदूरी ऊँची होने से लागत एवं परिणाम स्वरूप वस्तु की कीमत बढ़ना

मजदूरी ऊँची निर्धारित होने से वस्तु की लागत बढ़ जायेगी और परिणाम स्वरूप वस्तु विशेष की कीमत भी बढ़ेगी। यदि उस वस्तु की मांग लोचदार है तो कीमत बढ़ाने पर उसकी मांग कम हो सकती है। अतः उत्पादक बढ़ी हुई लागत के बोझ को (ऊँची कीमत के रूप में) उपभोक्ताओं पर नहीं डाल सकता। वस्तु की ऊँची कीमत पर उपभोक्ता अपनी मांग घटा देंगे। जिससे उत्पादकों को उत्पादन घटाना पड़ जायेगा और वे पहले की अपेक्षा कम मजदूर लगायेंगे, जिससे उद्योग विशेष में बेकारी फैलेगी। निःसन्देह कुछ बेकार हुए श्रमिकों को अन्य उद्योगों में जिनमें कि न्यूनतम मजदूरी लागू नहीं है, काम मिल जायेगा पर वहाँ उन्हें कम मजदूरी ही मिलेगी। इस प्रकार बेरोजगार होने या नीची मजदूरी पर अन्य उद्योगों कम काम करने, दोनों ही दशाओं में श्रमिक घाटे में रहेंगे।

(ii) अधिक श्रम-बचत मशीनों का प्रयोग किया जाना

मजदूरी ऊँची निर्धारित होने पर जब लागत बढ़ने लगती है तब सेवा योजक श्रम बचत मशीनी का प्रयोग बढ़ाने के लिए प्रेरित होते हैं इससे भी श्रमिकों में बेकारी फैलेगी।

(iii) लाभ घटने से उत्पादन में कमी करना

यदि न्यूनतम मजदूरी स्पर्द्धात्मक मजदूरी से ऊँची निर्धारित की गई है तो सम्बन्धित उद्योग के लाभ कम हो जायेंगे और कुछ कम कुशल उत्पादक तो दिवालिया हो जायेंगे तथा कार्य बन्द कर देंगे। इन उद्योगों में नई पूंजी लगाना भी रूक जायेगा जब तक कि उत्पादन की कमी वस्तु की कीमत को इतना ऊँचा न उठा दे कि उद्योग विशेष में भी अन्य उद्योगों जैसे अच्छे लाभ के अवसर हो जायें। इस बीच उत्पादन में ही होने के कारण अनेक श्रमिक बेकार हो जायेंगे।

(2) श्रमिकों का उद्योगों में पुनर्वितरण होना

यदि निर्धारित की गई न्यूनतम मजदूरी इतनी उँची है कि अन्य उद्योगों से अधिक कुशल श्रमिक उद्योग विशेष में मौजूदा कम कुशल श्रमिकों के स्थान पर काम करने को तत्पर हो जायेंगे, तो सेवायोजक मौजूदा श्रमिकों के स्थान पर अन्य उद्योगों से आये श्रमिकों को रखने लगेंगे, जिससे विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों को पुनर्वितरण हो जायेंगे।

इस प्रकार उद्योग विशेष में न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण से वहां रोजगार घटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। परन्तु बेकारी के प्रगट होने में कुछ समय लगेगा। कारण, स्थिर प्लाण्ट वाले साहसी उस प्लाण्ट से कार्य लेते रहेंगे और लगभग पहले जितने श्रमिकों को रोजगार देते रहेंगे चाहे उनकी अब कम लाभ होगा। परन्तु प्लाण्ट के घिसने पर वे उसे प्रतिस्थापित नहीं करेंगे। या कोई अन्य बेहतर प्लाण्ट लगायेंगे जिसमें कम श्रमिकों से ही काम चल जाए। अत, मजदूरी बढ़ने के काफी समय बाद श्रमिकों को नौकरी से हटाया जायेगा, परन्तु इसे सामान्यतया साहसी की अकुशलता या श्रम बचत उपायों के प्रयोग का फल समझना चाहिए। न्यूनतम मजदूरी का नहीं।

अच्छे अथवा लाभदायक परिणाम

उद्योग विशेष या कुछ उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण से सदैव हानिप्रद या बुरे परिणाम नहीं होते, वरन् अच्छे या लाभप्रद परिणाम भी हो सकते हैं जो निम्नलिखित रूप मे प्रदर्शित हैं:

(1) कुछ दशाओं में बेकारी न फैलना

निम्नांकित दशाओं में न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण से बेरोजगारी फैलने की सम्भावना नहीं है:

(i) विशिष्ट या स्थिर प्लाण्ट वाले उद्योगों में रोजगार कम न होना

जिस उद्योग या उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी लागू की गई है, वह यदि स्थिर या विशिष्ट प्लाण्ट का प्रयोग कर रहा है, तो उत्पादन रीतियों में सहज ही और शीघ्र ही परिवर्तन करना सम्भव नहीं होगा। इससे इन उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी के फलस्वरूप उत्पादन लगने बढ़ने से साहसियों अथवा सेवायोजकों का लाभ कुछ कम तो अवश्य हो जायेगा। परन्तु श्रमिकों के रोजगार में कमी नहीं होगी। अर्थात अधिक लाभ घटकर सामान्य स्तर पर आ जायेंगे और रोजगार में घटने की संभावना कम रहेगी।

(ii) अधिक बेलोचदार मांग वाली वस्तु के उद्योग में बेकारी बहुत कम होना

यदि न्यूनतम मजदूरी वाला उद्योग ऐसी वस्तु से सम्बन्धित हो जिसकी माँग बहुत

लोचदार है, तो बढ़ी हुई मजदूरी के बोझ को साहसीगण ऊँची कीमत के रूप में उपभोक्ता पर डाल सकेंगे, जिससे उद्योग विशेष में श्रमिकों की बेरोजगारी बहुत कम होगी।

(iii) न्यूनतम मजदूरी प्रतियोगी मजदूरी से कम होने की दशा में

श्रमिकों की मांग बढ़ेगी रोजगार बढ़ेगा और फिर प्रतियोगी मजदूरी में भी वृद्धि की सम्भावना बढ़ जायेगी।

(iv) मजदूरी का कुल लागत में मामूली भाग होना

ऐसी दशा में सेवायोजक वस्तु की कीमत में मामूली वृद्धि करके ही अपनी क्षति को पूरा कर लेगा, जिससे रोजगार में कमी होने का अवसर नहीं आयेगा।

(2) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि होना

जब किसी उद्योग में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जाती है तब मजदूरियों का स्तर ऊँचा हो जाता है। इससे श्रमिकों की आय बढ़ जाती है और वह पहले की अपेक्षा पौष्टिक एवं कार्यक्षमता वर्धक आवश्यक वस्तुएं प्रयोग करने लगते हैं। इससे उनकी कुशलता बढ जाती है द्रव्य की चिन्ता घटने से भी वे अधिक लगन के साथ काम करने में समर्थ होते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अधिक मात्रा में उत्पादन करते हैं, जिससे प्रति इकाई श्रम लागत कम हो जाती है। तथा वस्तु की कीमत भी घटती है। वस्तु की कीमत घटने से मांग बढ़ती है और फलस्वरूप रोजगार भी बढ़ता है। (सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह विश्लेषण ठीक है किन्तु व्यवहार में मजदूरी बढ़ने के फलस्वरूप श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि होने के कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।

(3) श्रमिकों का शोषण रूकना

यदि उद्योग या कुछ उद्योगों में श्रमिकों का शोषण किया जा रहा है तो वहां न्यूनतम मजदूरी लागू कर देने से श्रमिकों का शोषण नियन्त्रित किया जा सकेगा और श्रमिकों को लाभ होगा, क्योंकि श्रमिकों की मजदूरी सहज ही बढ़ जायेगी।

(4) निर्धन व्यक्तियों के पक्ष में धन का हस्तान्तरण

सरकारें धनी व्यक्तियों पर कर लगाकर बेरोजगारी लाभ फण्ड की व्यवस्था करती हैं और न्यूनतम मजदूरी लागू करने से उद्योग विशेष में यदि कुछ श्रमिक बेकार हो जाते हैं तो उन्हें फण्ड में से पुरानी मजदूरी के बरोबर राशि आर्थिक सहायता के रूप में दे दी जाती है। इस प्रकार, न्यूनतम मजदूरी धनिकों से निर्धनों के पक्ष में धन के हस्तातारण का साधन होती है।

19.3.4 न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के प्रमुख प्रावधान

श्रमिकों की मजदूरी एवं उत्पादकता में प्रत्यक्ष एवं सीधा सम्बन्ध होता है। जिस देश में श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी दी जाती है उस देश के श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा होता है, उनकी कार्यक्षमता अधिक होती है और उनकी उत्पादकता भी अधिक होती है। भारत में नियोक्ताओं की प्रवृत्ति सदैव श्रमिकों का शोषण करने की ही है। श्रमिकों को नियोक्ताओं के शोषण से छुटकारा दिलाने के लिए न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 पारित किया गया। इस अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं- (1) श्रमिकों

के शोषण पर प्रतिबन्ध लगाना (2) औद्योगिक अशान्ति जैसे - हड़ताल, तालाबन्दी आदि को हतोत्साहित करना (3) श्रमिकों की कार्य क्षमता में वृद्धि करना (4) असंगठित श्रमिकों के हितों की रक्षा करना, (5) श्रमिकों के जीवन स्तर का विकास करना (6) श्रम संघों को सुदृढ़ बनाना (7) सेवायोजकों के बीच प्रतिस्पर्धा को रोकना (8) श्रमिकों के बीच प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना (9) श्रम प्रबन्ध सम्बन्धों को मधुर बनाना (10) श्रमिकों को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय प्रदान करना। (11) श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाकर राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना आदि। इस अधिनियम के कुछ मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं-

(1) **क्षेत्र** - जिस उद्योगों में यह अधिनियम लागू होता है उनके नाम अधिनियम की अनूसची में वर्णित है। अनुसूची में व्यवसाय एवं उद्योगों को दो भागों में विभाजित किया गया है-

(अ) अनुसूचित रोजगार - प्रथम भाग (1) ऊनी गलीचे बनाने अथवा शाल बुनने सम्बन्धी रोजगार (2) चावल आटा या दाल मिल में रोजगार (3) तम्बाकू से सम्बन्धित (बीड़ी सहित) रोजगार (4) बागान में रोजगार (5) स्थानीय सत्ता के आधीन रोजगार (6) सड़कों और इमारतों के निर्माण या देख रेख सम्बन्धी रोजगार (7) तेल मिल में रोजगार (8) लाख के कारखानों में रोजगार (9) पत्थर तोड़ने या पत्थर फोड़ने के रोजगार (10) अभ्रक के कारखानों में रोजगार (11) सार्वजनिक मोटर यातायात में रोजगार (12) चमड़े या खाले साफ करने के कारखानों में रोजगार (13) मैगनीज की खानों में रोजगार (14) मिट्टी की खानों में रोजगार (15) बाक्साइट की खानों में रोजगार (16) तांबे की खानों में रोजगार (17) कायनाइट की खानों में रोजगार (18) चीनी मिट्टी के कारखानों में रोजगार (19) चमकीले पत्थर या सुफेद पत्थर की खानों में रोजगार (20) हवाई पट्टी की निर्माण व देख रेख तथा भवन की देख रेख सम्बन्धी रोजगार

(ब) अनुसूचित रोजगार - द्वितीय भाग - (1) भूमि को जोतना एवं खेती करना (2) डेरी व्यवसाय (3) कृषि उद्यान की वस्तुओं को उगाना (4) फ़सल तैयार करना (5) पशुपालन (6) मुर्गी या मधुमक्खी पालन (7) वन उद्योग (8) लकड़ी काटने सम्बन्धी उद्योग (9) खेत पर उत्पन्न की गई वस्तुओं के बाजार या गोदामों में ले जाने से सम्बन्धित कार्य : सरकार इस सूची में अन्य रोजगार को भी सम्मिलित कर सकती है।

(2) न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण

इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकारों सभी प्रकार के श्रमिकों (चाहे वे शारीरिक कार्य करते हों या मानसिक) के लिए विभिन्न प्रकार की न्यूनतम मजदूरी की दरों का निर्धारण कर सकती है। जैसे (1) न्यूनतम समय दर - समयानुसार भुगतान के लिए मजदूरी की न्यूनतम दर (2) न्यूनतम कार्य दर - कार्यानुसार मजदूरी के लिए न्यूनतम दर (3) संरक्षित समय दर - कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पर लगाये गये श्रमिकों के लिए परिश्रमिक की न्यूनतम संरक्षित समय देर। (4) अधिसमय दर - निर्धारित समय से अधिक कार्य करने के लिए अधि समय दर।

न्यूनतम मजदूरी की दरों का निर्धारण निम्नलिखित वर्गों के लिए किया जा सकता है- (1) विभिन्न अनुसूचित रोजगारों के लिए (2) एक अनुसूचित रोजगार की विभिन्न

क्रियाओं के लिए (3) प्रौढ़ किशोरों, बालकों, स्त्रियों तथा काम सीखने वाले श्रमिकों के लिए (4) विभिन्न स्थानों के लिए भिन्न भिन्न मजदूरी की न्यूनतम दरें।

न्यूनतम मजदूरी की दरों का निर्धारण निम्नलिखित किसी एक या अधिक मजदूरी अवधियों के आधार पर किया जा सकता है- (1) घण्टों के आधार पर (2) प्रतिदिन के आधार (3) प्रतिमाह के आधार पर (4) अन्य लम्बी अवधि के आधार पर जो इस अधिनियम में निर्देशित की जाये।

(3) न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय ध्यान में रखने योग्य बातें

इस अधिनियम के अनुसार न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है (1) श्रमिक की न्यूनतम आवश्यकतायें (2) श्रमिक के परिवार के सदस्यों की औसत संख्या (3) श्रमिकों की कार्य कुशलता एवं (4) उद्योग की भुगतान क्षमता।

(4) मजदूरी के भुगतान का स्वरूप

इस अधिनियम के अनसुार श्रमिकों को मजदूरी नकदी में दी जायेगी परन्तु इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों को यह भी निर्देश दिया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर वे सम्पूर्ण या आंशिक मजदूरी का भुगतान वस्तुओं के रूप में करने का अधिकार सेवा योजकों को दे सकती है।

(5) न्यूनतम मजदूरी की दरों में सेशोधन

एक बार अनुसूचित रोजगारों में न्यूनतम मजदूरी की दर निर्धारित कर देने के बाद जब भी सरकार उचित समझे न्यूनतम मजदूरी की दर में संशोधन कर सकती है। साधारणतया यह संशोधन 5 वर्ष पूर्ण होने से पूर्व ही किया जावेगा जुलाई 1980 में हुए श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया है कि न्यूनतम मजदूरी की दर में संशोधन 2 वर्ष के अन्दर अथवा उपभोक्ता मूल्य सूचकांक के 50 अंक तक बढ़ जाने पर (जो भी दोनों में पहले हो) किया जाना चाहिए।

(6) जाँच समितियों तथा सलाहकार समितियों की नियुक्ति

इस अधिनियम के अनुसार सरकार न्यूनतम मजदूरी की दर के निर्धारण के सम्बन्ध में जांच समितियों की नियुक्ति कर सकती है और न्यूनतम मजदूरी की दर के निर्धारण के सम्बन्ध दशाओं में संशोधन करने के लिए सरकार सलाहकार समितियों की भी नियुक्ति कर सकती है।

(7) केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना

इस अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार एक केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना करेगी जिसका कार्य केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों की सलाह देना एवं राज्य के सलाहकार बोर्डों का समन्वय करना होगा।

(8) जाँच निरीक्षकों की नियुक्ति

इस अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की दरों का सम्बन्धित उद्योगों में क्रियान्वयन हो रहा है या नहीं, इस तथ्य की जाँच करने के लिए सरकार जाँच निरीक्षकों की नियुक्ति कर सकती है। और दोषी सेवा योजकों की दण्डित कर सकती है।

(9) अवकाश का निर्धारण

इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को उद्योग में साप्ताहिक अवकाश निश्चित करने का अधिकार भी दिया गया है।

''उचित मजदूरी'' की समस्या महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है जिसने कि प्रत्येक देश में अर्थशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। भारत में श्रम की केन्द्रीय परामर्श समिति ने उचित मजदूरी समिति नियुक्त की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट अप्रैल, 1947 में प्रस्तुत की थी। रिपोर्ट के आधार पर एक प्रस्ताव तैयार कर जून, 1950 में प्रस्तुत किया गया था, जो कि स्वीकृत न हो सका था।

19.4 उचित मजदूरी से तात्पर्य

न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर देने मात्र से वर्तमान युग में मजदूरी की समस्या समाप्त नहीं हो जाती है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी, उचित मजदूरी भी हो, वह इससे कम भी हो सकती है। उचित मजदूरी क्या है? उचित मजदूरी को सरल तथा स्पष्ट रूप में परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है फिर भी विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर थोड़ा बहुत ज्ञान इस दृष्टि से प्राप्त किया जा सकता है। उचित मजदूरी किसी भी देश की विशेष परिस्थितियों तथा उद्योग या क्षेत्र की विशेषताओं को ध्यान में रखकर निश्चित की जानी चाहिए।

सामाजिक विज्ञानों के विश्लेषण के अनुसार, उचित मजदूरी वह है जो समान कुशलता, कठिनाई या अरूचिपूर्ण कार्य के करने वाले श्रमिकों को दी जाती है। प्रो. पीगू के मतानुसार, ''मजदूरी की दर संकुचित के व्यवसाय में ऐसे ही श्रमिकों के लिए प्रचलित दर के समान हो।'' सामान्य दृष्टि से मजदूरी तब उचित होती है, जबकि समूचे देश तथा विभिन्न व्यवसायों में उसी प्रकार के कार्यों के लिए, प्रचलित दर के समान हो।'' मार्शल के अनुसार ''कुछ व्यवसायों में जो कार्य करने पड़ते हैं, वे एक समान ही अरूचि वाले और समान कठिनाइयों वाले होते हैं तथा उनको प्रतिपादित करने के लिए सम लागत के प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे व्यवसायों में औसत रूप में मजदूरी प्रदान की जाती है उसी मजदूरी के स्तर पर ही जो मजदूरी निश्चित ही जायेगी, वह उचित मजदूरी कहलायेगी।''

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सुझावों के अनुसार, ''न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के लिए उस उद्योग को आदर्श मानकर चलना चाहिए जिसमें श्रमिक उचित रूप से संगठित हो तथा जिन्होंने सामाजिक सौदे की प्रणाली को प्रभावशाली बना लिया है। यद्यपि इस प्रकार का आदर्श नहीं है, तो देश में प्रचलित मजदूरी की दरों को अथवा विशेष स्थान की दरों को उपयोग में लाया जाना चाहिए।''

उचित मजदूरी समिति के अनुसार उचित मजदूरी के लिए न्यूनतम मजदूरी सीमा तक जीवनयापन मजदूरी, उच्चतम सीमा पर स्वीकार की जानी चाहिए। जहाँ तक उच्चतम सीमा का प्रश्न है, इसका निर्णय ''उद्योगों की भुगतान-क्षमता के आधार पर निश्चित करना चाहिए। यह निम्न तत्वों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए:

(1) श्रम की उत्पादकता

(2) उसी उद्योग अथवा निकट के उद्योग में प्रचलित मजदूरी की दर,

(3) राष्ट्रीय आय का स्तर एवं उसका वितरण तथा

(4) देश की अर्थ व्यवस्था में उद्योगों का स्थान।

वास्तविकता तो यह कि उचित मजदूरी की वैज्ञानिक परिभाषा चाहे जो हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उचित मजदूरी वह है जिससे श्रमिक, जीवन की कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति करे सामाजिक स्तर के अनुसार सुन्दर जीवन व्यतीत कर सकें।

19.4.1 जीवन-निर्वाह, न्यूनतम और उचित मजदूरी

उचित मजदूरी के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए जीवन-निर्वाह, न्यूनतम और उचित मजदूरी के अन्तर को स्पष्ट करना आवश्यक है। न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी है जो कि न केवल जीवन-यापन के लिए आवश्यक है अपितु उससे कुछ अधिक होती है, श्रम की केन्द्रीय परामर्श समिति के अनुसार, न्यूनतम मजदूरी न केवल जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करें अपितु वह श्रमिकों को कार्य क्षमता की सुरक्षा करें। इसके लिए न्यूतनतम मजदूरी, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधायें प्रदान करके।

जीवन निर्वाह मजदूरी क्या है? यह न्यूनतम मजदूरी के स्तर से ऊँची होती है। न्यूनतम मजदूरी इतनी प्रर्याप्त होनी चाहिए कि वह पुरुष श्रमिक को अपने तथा अपने परिवार की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त कुछ आराम सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जैसे-जैसे बच्चों की शिक्षा, अस्वास्थ्य से संरक्षण, वृद्धावस्था आदि में बीमा आदि में समर्थ बनाये। यही जीवन निर्वाह मजदूरी बन जाती है।

नियोजकों के अनुसार न्यूनतम मजदूरी, मजदूरी की वह दर है जिससे न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। परन्तु उचित मजदूरी समिति के विचार से, ''न्यूनतम मजदूरी से श्रमिकों की केवल न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं होती है, अपितु उसको अपनी कार्य क्षमता के स्थिर रखने का भी अवसर प्राप्त होता है।''

उपर्युक्त विवरण के पश्चात यहां पर पुनः उचित मजदूरी के प्रशन पर विचार करेंगे। समिति के अधिकांश सदस्यों के विचारानुसार उचित मजदूरी, न्यूनतम तथा जीवन-निर्वाह मजदूरी के बीच कहीं पर निश्चित होनी चाहिए। परन्तु जिस समय जीवन-निर्वाह और न्यूनतम मजदूरी एक समान हो तो वह मजदूरी के स्तर के बराबर होनी चाहिए।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उचित मजदूरी को किस प्रकार से तथा कहां पर निश्चित करना चाहिए। उचित मजदूरी समिति के अनुसार तो यह न्यूनतम और जीवन-निर्वाह मजदूरी के मध्य में किसी बिन्दु पर निश्चित की जानी चाहिए। यदि यह दोनों दर समाज है तो उचित मजदूरी की दर भी इकसे अनुरूप ही होनी चाहिए। समिति के अनुसार उचित मजदूरी की न्यूनतम सीमा, न्यूनतम मजदूरी के द्वारा निर्धारित होनी चाहिए, लेकन उसकी उच्चतम सीमा उद्योग की भुगतान क्षमता के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। इस दृष्टि से उचित मजदूरी समिति का मत था कि उचित मजदूरी निश्चित करते समय हमें केवल उत्पादन की मात्रा पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, अपितु यह भी देख लेना चाहिए कि उत्पादन में से कौन-कौन से व्यय घटा दिये जायें, यद्यपि सैद्धन्तिक एवं व्यावहारिक रूप से प्रत्येक व्यय का भुगतान लगाना कठिन कार्य है। इसी कठिनाई को अनुभव करके समिति ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से लिखा है कि, ''हमारा उद्देश्य यह नहीं होना चाहिए कि हम अमूर्त रूप से उचित मजदूरी निश्चित करने का प्रयत्न करें। हमको ये देखना है कि वर्तमान स्तर पर ही रोजगार न बना रहे

अपितु इसमें लगातार वृद्धि होती रहे। इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मजदूरी का स्तर इस प्रकार होना चाहिए जिससे कि विभिन्न उद्योगों कुशलता के साथ अपने उत्पादन को बनाए रख सकें। अतः इस मूलभूत आधार को लेकर ही उद्योगों की देय क्षमता का निर्धारित मजदूरी के प्रमण्डल द्वारा किया जाना चाहिए।''

19.4.2 मजदूरी की व्यावहारिकता में कठिनाइयाँ

उचित मजदूरी के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की दृष्टि से भारत में अनेकों कठिनाइयां हैं। भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा देश है और इस प्रकार यहां के उद्योगों की भुगतान क्षमता कम होने के फलस्वरूप वे श्रमिकों को उचित मजदूरी प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं। इसके साथ-साथ भारतीय श्रमिकों में अधिकांश अशिक्षित है, जो अधिकारों की प्राप्ति के लिए बोलते तक नहीं। दूसरे भारत में श्रमिकों की संख्यामय की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस प्रकार बेरोजगारी की स्थिति चारों ओर दृष्टिगोचर होती है। प्रायः नियोजक श्रमिक का शोषण करने में सफल हो जाते हैं। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि बेरोजगारी तथा उचित मजदूरी का निकट का सम्बन्ध है। जब तक बेरोजगारी समस्या का भारत से निराकरण नहीं होगा उचित मजदूरी की व्यवस्था लागू करने में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होगी।

भारत के भिन्न क्षेत्रों में न केवल वस्तुओं के भावों में अन्तर है, अपितु उनके मूल्य स्तरों में निरन्तर परिवर्तन होता जा रहा है, जो उचित मजदूरी के निर्धारण में बाधा डालते हैं। एक निर्धारित समय में प्रचलित मूल्यों में वृद्धि हो जाने पर वही दर उचित मजदूरी की दृष्टि से कम हो जाती है। इस प्रकार उचित मजदूरी की दर में समय-समय पर परिवर्तन करते रहने की नितान्त आवश्यकता है। मूल्य स्तरों की निरन्तर परिवर्तन प्रवृत्ति से मजदूरी निश्चित करने की दृष्टि से आधार वर्ष के चुनावों में भी कठिनाई होती है।

उचित मजदूरी की दृष्टि से सबसे कठिन एवं जटिल समस्या देय क्षमता निश्चित करने की है। कुछ व्यक्तियों के विचार हैं कि एक क्षेत्र विशेष में उद्योग विशेष की क्षमता ही को देय क्षमता का आधार स्वीकार कर उसको समस्त देश में उस उद्योग विशेष का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाये। परन्तु इस प्रकार आधार स्वीकार करना पूर्णतः भ्रामक एवं असत्य है। इस दृष्टि से उचित मजदूरी समिति ने कहा है कि, ''हमारे विचार में किसी उद्योग की मजदूरी प्रदान करने की क्षमता का निर्धारण करने में उद्योग की किसी एक इकाई पर समस्त देश के सभी उद्योगों को शक्ति के आधार पर स्वीकार करना त्रुटिपूर्ण होगा। अतः उत्तम तो यही होगा कि किसी विशेष उद्योग को इस क्षेत्र में सभी इकाईयों का आधार स्वीकार किया जाये। स्पष्टतया मजदूरी निश्चित करने वाले प्रमण्डल के लिए किसी उद्योग की प्रत्येक इकाई की देय क्षमता का अनुमान लगाना सम्भव होगा''। समिति के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि उचित मजदूरी को प्रचलित मजदूरी की दरों से सम्बन्धित रखना ठीक होगा।

''उचित मजदूरी'' को निर्धारित करने की दृष्टि से समिति ने प्रत्येक राज्य के लिए अलग-अलग प्रमण्डलों की स्थापना करने का सुझाव दिया है। इन प्रमण्डलों में समान संख्या में नियोजकों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों के साथ-साथ कुछ स्वतन्त्र सदस्य भी होंगे। इसके साथ-साथ जिन उद्योगों में मजदूरी निश्चित की जाती है। उनमें क्षेत्रीय प्रमण्डल की व्यवस्था का सुझाव भी समिति ने दिया है।

19.5 पर्याप्त मजदूरी

"पर्याप्त मजदूरी से हमारा आशय कम से कम इतनी मजदूरी से है जो कि किसी श्रमिक की अनिवार्यताओं आरामदायक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो। इसके अन्तर्गत प्रायः मजदूरी के उस स्तर का समावेश किया जाता है जिससे श्रमिक केवल स्वयं की तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों की मूलभूत आवश्यकताओं को ही सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं होता, वरन् वह उन आरामदायक आवश्यकताओं को पूरा करने में भी समर्थ होता है, जिससे वह सभ्य नागरिक की भांति समाज में आराम से जीवन व्यतीत कर सकें।

पर्याप्त मजदूरी के अर्थ को भली प्रकार समझने के लिए निम्नांकित परिभाषाओं पर मनन करना नितान्त आवश्यक है:

(1) दक्षिण आस्ट्रेलिया की औद्योगिक संहिता–1920

(पर्याप्त मजदूरी से तात्पर्य **यह है कि श्रमिक को कम से कम इतना पारितोषण** अवश्य दिया जाये कि जिस क्षेत्र में वह **नियुक्त हो, वहां की सामान्य दशाओं के अनुसार** वह अपनी उचित व आधारभूत आवश्यकताओं **को पूरी करने में समर्थ हो सके।"।**

(2) कामनवेल्स माध्यस्थ न्यायालय

"पर्याप्त मजदूरी से आशय यह है कि श्रमिक को दिया जाने वाला **पारितोषण** समाज के सभ्य नागरिक के रूप में सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए।"

(3) उत्तर प्रदेशीय श्रम जाँच समिति–1946

"श्रमिक का पारितोषण उतना पर्याप्त होना चाहिए कि वह जीवन-निर्वाह पर व्यय करने के उपरान्त इतना धन बचा ले कि अन्य सामाजिक आवश्यकताओं (जैसे- मनोरजंन, दवा, पत्र व्यवहार आदि) की सन्तुष्टि कर सकें।"

उत्तर प्रदेशीय श्रम जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट में चार प्रकार के जीवन स्तरों की व्याख्या की है- (1) गरीबी का स्तर, (2) न्यूनतम निर्वाह स्तर (2) उचित-निर्वाह स्तर तथा (4) आरामदायक स्तर। "गरीबी का स्तर से तात्पर्य यह है कि श्रमिक की मजदूरी इतनी अपर्याप्त है कि वह रोटी कपड़ा व मकान सम्बन्धी मूलभत आवश्यकताओं की भी सन्तुष्टि नहीं कर सकता। "न्यूनतम निर्वाह-स्तर का आशय यह है कि श्रमिक को केवल इतना पारितोषण मिलता है कि वह अपनी शारीरिक कार्य कुशलता को कायम रख सके। न्यूनतम निर्वाह के अतिरिक्त आराम, मनोरंजन अथवा विलसिता के लिए उसके पास कुछ भी शेष नहीं रहता। एक दिन के लिए भी कार्य से अनुपस्थित रहने पर जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है। उचित निर्वाह स्तर का आशय यह है कि श्रमिक का वेतन इतना होता है कि वह जीवन-निर्वाह पर व्यय करने के उपरान्त इतना धन बचा लेता है कि अन्य सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो सके। सामाजिक आवश्यकताओं के अन्तर्गत निम्न का समावेश किया जा सकता है। मनोरंजन, बीमा, दवा-दारू, अच्छे वस्त्र, सामान्य शिक्षा व यात्रा। इन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे न तो अपना पेट की काटना पड़ता है और न ही ऋण ही लेना पड़ता है। "आरामदायक-स्तर" से आशय यह है कि श्रमिक प्रत्येक प्रकार की अनिवार्यता (अर्थात जीवन-रक्षक, कार्यक्षमता-रक्षक

तथा सामाजिक) की सन्तुष्टि करने के उपरान्त इतना धन शेष बचा लेता है जिससे कि वह अरामदायक आवश्यकताओं की भी सन्तुष्टि कर सके। बीमारी के समय वह अच्छे इलाज की व्यवस्था कर सकता है। उच्च शिक्षा पर खर्च कर सकता है अच्छे फर्नीचरयुक्त मकान में रह सकता है तथा यात्रा एवं मनोरंजन पर भी व्यय कर सकता है।

19.5.1 पर्याप्त मजदूरी का निर्धारण

उत्तर प्रदेशीय श्रम जांच समिति के विवेचन के आधार पर पर्याप्त मजदूरी का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है। गरीबी तथा न्यूनतम निर्वाह-स्तरों की विचारधारा तो महत्वहीन है। भारत की वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए आरामदायक-स्तर अधिक ऊँचा प्रतीत होता है। अतः समिति के मतानुसार उचित-निर्वाह स्तर ही ''पर्याप्त मजदूरी'' के निर्धारण का आधार कहा जा सकता है। श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी इस स्तर के अनुकूल होनी चाहिए जिससे कि वे अपनी अनिवार्यताओं की पूर्ति कर सकें तथा स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता को बनाये रखने में भी समर्थ हो सकें।

यहाँ यह लिखना अनावश्यक न होगा कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त उचित मजदूरी समिति, 1948 के अनुसार ''पर्याप्त मजदूरी का स्तर आरामदायक-स्तर है। इस समिति के शब्दों में, ''पर्याप्त मजदूरी एं अभीष्ट या अन्तिम लक्ष्य है, जिसको प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

19.6 सारांश

श्रम उत्पत्ति का अनिवार्य तथा सक्रिय साधन है (श्रम नश्वर है) श्रम को श्रमिक से पृथक नहीं किया जा सकता। विकासशील देशों में श्रम से संबंधित अपनी समस्याएं हैं जैसे - जनसंख्या का आधिक्य बेकारी अशिक्षा, संगठन का अभाव, निर्धनता आदि। इन समस्याओं के कारण श्रमिकों की सौदाशक्ति कम होती है।

सेवायोजक कम से कम मजदूरी तथा विपरीत परिस्थितियों में अधिक से अधिक काम श्रमिकों से करवाना चाहते हैं जिससे उसका लाभ अधिकतम हो सके। श्रमिकों को शोषण से बचाने के लिए सरकार मजदूरी नीति बनाती है सैद्धान्तिक अर्थ में मजदूरी नीति से आशय उस वैद्यानिक अथवा सरकारी कार्यवाही से है जो आर्थिक एवं सामाजिक नीति के विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मजदूरी स्तर अथवा कलेवर अथवा दोनों पर प्रभाव डालती है। मजदूरी नीति का महत्व प्रबन्धकों एवं सेवायोजकों तथा सरकार दोनों के लिए है।

मजदूरी के कई प्रकार हैं जो निम्नलिखित रुप में वर्णित हैं

(1) न्यूनतम मजदूरी का आशय उस न्यूनतम पारितोषण से है जो कि श्रमिकों को एक न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रखने के लिए आवश्यक है। न्यूनतम मजदूरी का उद्देश्य श्रमिकों का शोषण रोकना तथा अत्यन्त नीची मजदूरी वाले उद्योगों में मजदूरी बढ़वाना है। न्यूनतम मजदूरी निर्धारण का प्रभाव उद्योग विशेष तथा सभी उद्योगों पर अच्छे तथा बुरे दोनों हैं। क्योंकि मालिक अधिक श्रम रचत मशीनों का प्रयोग करने लगते हैं। वस्तुत की मांग यदि बेलोचदार है तो बेकारी कम उत्पन्न होगी क्योंकि बढ़ी हुई मजदूरी के बोझ को साहसीगण ऊँची कीमत के रूप में उपभोक्ता पर डाल सकेंगे। वास्तव में जब किसी उद्योग में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जाती है। तब मजदूरियों का स्तर ऊँचा हो जाता है इससे श्रमिकों की आय बढ़ जाती है और वह पहले की

अपेक्षा पौष्टिक एवं कार्यक्षमता वर्धक आवश्यक वस्तुएं प्रयोग करने लगता है जिससे उनकी कार्य कुशलता बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि वे अधिक मात्रा में उत्पादन करते हैं जिससे प्रति इकाई श्रम लागत कम हो जाती है। भारत सरकार ने 1948 में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम बनाया है इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य श्रमिकों के शोषण पर प्रतिबन्ध, औद्योगिक अशान्ति को हतोत्साहित करना, श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि करना, श्रमिकों को आर्थिक तथा सामाजिक ज्ञान प्रदान करना है। इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें सभी प्रकार के श्रमिकों चाहे वे शारीरिक कार्य करते हों या मानसिक के लिए विभिन्न प्रकार की न्यूनतम मजदूरी दरों का निर्धारण किया है।

(ii) उचित मजदूरी किसी भी देश की विशेष परिस्थितियों तथा उपयोग या क्षेत्र की विशेषताओं को ध्यान में रखकर निश्चित की जानी चाहिए। उचित मजदूरी का निर्धारण कठिन कार्य है।

(iii) पर्याप्त मजदूरी से तात्पर्य यह है कि श्रमिक को कम से कम इतना पारितोषण अवश्य दिया जाए कि जिस क्षेत्र में वह नियुक्त हो। वहां की सामान्य दशाओं के अनुसार वह अपनी उचित व आधारभूत आवश्यकताओं को पूरी करने में समर्थ हो सकें।

19.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय उद्योगों में राष्ट्रीय ''न्यूनतम मजदूरी के महत्व का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. उचित मजदूरी के अर्थ को स्पष्ट करो। सिद्धान्त को व्यवहारिकता प्रदान करने में भारत में कौन-कौन सी कठिनाइयां अनुभव की जा रही है?
3. क्या मजदूरी का वर्तमान कलेवर सन्तोषजनक है? सब पक्षों के सहयोग से एक राष्ट्रीय मजदूरी नीति का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है।

इकाई-20

भारत में न्यूनतम मजदूरी

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 न्यूनतम मजदूरी निर्धारण

20.2.1 दूसरे उद्योगों के चसमान मजदूरी

20.2.2 जीवत रहने लायक मजदूरी

20.2.3 उद्योग की भुगतान क्षमता के अनुसार

20.3 उच्च मजदूरी की अर्थव्यवस्था के निहितार्थ

20.4 विभिन्न उद्योगों तथा राज्यों में श्रमिकों की मजदूरी

20.5 राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी

20.6 भारत में न्यूनतम मजदूरी की आवश्यकता

20.7 न्यूनतम मजदूरी कानून के उद्देश्य

20.8 न्यूनतम मजदूरी अधिनियम

20.8.1 अधिनियम की कमियां

20.8.2 न्यूनतम मजदूरी की क्रियान्वयन

20.9 भारत में बोनस की समस्या

20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.0 उद्देश्य –

किसी भी देश की लोक कल्याणकारी सरकार का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य वहां के श्रमिकों को देश की परम्पराओं एवं आय के अनुरूप न्यूनतम जीवनस्तर उपलब्ध कराना है। इसके लिए प्रत्येक देश में न्यूनतम मजदूरी तय की जाती है। इसी संदर्भ में इस इकाई में आपको यह जानकारी दी जायेगी कि न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण किन तत्वों को ध्यान में रखकर किया जाता है? भारत में न्यूनतत मजदूरी की क्या आवश्यकता है? इसके साथ ही न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों एवं इस अधिनियम की कमजोरियों से भी आपको अवगत कराया जाएगा।

20.1 प्रस्तावना

प्रारम्भ में हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय आय तथा सामान्य आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुये ही मजदूरी तय करने के सिद्धान्तों का विकसित किया जा

सकता हैं। राष्ट्रीय आय के किसी भी स्तर पर ऐसा न्यूनतम मजदूरी का एक निश्चित स्तर अवश्य होना चाहियें, जिसे कि समाज बर्दाश्त कर सके। यदि समाज इस न्यूनतम स्तर को स्वीकार नहीं कर पाता है तो रोजगार के अवसरों में कमी होती है। फलस्वरूप राष्ट्रीय आय अस्तव्यस्त हो जाती है। किसी भी मजदूरी नीति का तब तक अर्थशास्त्रीय रूप से सबल नहीं माना जा सकता है जब तक कि वह राष्ट्रीय आय में बढ़ोतरी न करे, तथा इस हुयी बढोतरी में मजदूरी के उचित स्तर को प्राप्त न कर ले।

न्यूनतम मजदूरी के नियमों में इस संदर्भ में काफी अन्तर है कि उन्हें तय करने में किन-निर्धारकों अथवा आधारों को स्वीकार किया गया है। जिन आधारों पर यह दरें तय की गयी है वह प्राथमिक महत्व के होते हैं। तथा इसका द्वितीयक उद्देश्य मजदूरों को शोषण से बचाना है, जिससे संगठन में उन्नति हो सके। शोषण से बचाने के लिए विभिन्न नियम, कई प्रकार के प्रावधान बनाते है, जैसे रहने का उचित स्तर, दूसरे समूह की मजदूरी के बराबर मजदूरी आदि। जबकि कुछ नियम इन मजदूरी दरों के बारें में कोई सीधा दिशा निर्देश नहीं देते है अपितु वह एक ऐसी मशीनरी के गठन की बात करते हैं जोकि न्यूनतम मजदूरी तय कर सकें। इस प्रकार इसमें समस्त अधिकार अधिकारियों की समिति में निहित होते है तथा वे वही तय करते हैं, जिन्हें वे उद्योग की तत्कालीन परिस्थितियों में सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं। क्योंकि इस समय उद्देश्य औद्योगिक शान्ति का बनाये रखना है, इसलिए जीवित रहने लायक मजदूरी का सिद्धान्त तथा उद्योग की क्षमता के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है।

20.2 न्यूनतम मजदूरी निर्धारण

इस समय न्यूनतम मजदूरी तय करने में निम्न पक्षों को ध्यान में रखा जाता है -

1. दूसरे उद्योगों के समान मजदूरी
2. जीवित रहने लायक मजदूरी
3. उद्योग की भुगतान क्षमता के अनुसार मजदूरी

20.2.1 दूसरे उद्योगों के समान मजदूरी :-

ऐसे देशों में जहाँ पर श्रम शक्ति मजबूत है तथा उसमें सौदेबाजी (Bargaining) करने की क्षमता है, और वहाँ के कुछ उद्योगों में मजदूरी का स्तर काफी अच्छा है तो वहाँ पर यह सिद्धान्त काफी प्रभाव है। लेकिन भारत जैसे देश में जहाँ पर मजदूर अभी काफी कमजोर है। मजदूरी की दरें बहुत कम है वहाँ पर यह सिद्धांत तो एक असंतोषजनक स्थिति से दूसरी असंतोषजनक स्थिति से तुलना करना जैसा होगा। यद्यपि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में यह सिद्धान्त काफी उपयोगी हो सकता है। इस प्रकार अधिक परिश्रम वाले उद्योगों अथवा ग्रह उद्योगों में मजदूरी तय करते समय इन उद्योगों से तुलना करने वले समस्वभाव उद्योगों को ही आधार के रूप में लेना चाहिए। यदि दो उद्योग एक जैसे हैं तथा एक ही स्थान पर स्थित हैं तो मजदूरी की दरें तय करने में वहाँ के लोगों को ही काफी प्रभाव रहता है। दूसरे शब्दों में एक दिये गये वर्ग के लोगों की न्यूनतम मजदूरी उन जैसे अन्य लोगों की मजदूरी के आधार पर या विभिन्न उद्योगों मे दी जा रही मजदूरी के औसत के आधार पर तय की जा सकती है।

20.2.2 जीवित रहने लायक मजदूरी -

मजदूरी तय करने का प्रमुख व सबसे पुराना सिद्धांत यही है इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगों की राय अलग-अलग है -

1. आस्ट्रेलियन कॉमनवैल्थ कोर्ट के अनुसार यह मजदूरी ऐसी हो जिसमें मजदूर अपनी पत्नी व तीन बच्चों के साथ समुदाय में सभ्य तरीक से रह सके।

2. दक्षिण आस्ट्रेलिया के नियमानुसार यह मजदूरी ऐसी हो जिसमें व्यक्ति उस क्षेत्र में संतोषजनक ढंग से रह कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके जहाँ पर वह कार्य कर रहा है।

3. अमेरिका की दृष्टि में यह मजदूरी ऐसी हो जिसमें श्रमिक जीवित रहने, स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा कल्याण की अन्य योजनाओं हेतु उसे उचित धन मिल सकें।

4. यह मजदूरी ऐसी हो जिससे वह उचित प्रकार से तथा तर्क संगत ढंग से जीवित रहने के लिए आवश्यक सुविधाऐं जुटा सकें।

उपर्युक्त संदर्भ में उचित तथा तर्कसंगत शब्द बहुत ही सापेक्षिक हैं। संक्षेप में यहाँ पर मजदूरी की दर व्यक्ति के रहने के स्तर के साथ जुडी हुयी है।

जीवित रहने लायक मजदूरी एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग में अलग-अलग होगी। "फेयर वेज कमेटी" के अनुसार "एक व्यक्ति की न्यूनतम मजदूरी इतनी अवश्य होनी चाहिए जिससे न केवल भोजन, कपड़ा और घर की व्यवस्था हो सके बल्कि उसे आवश्यक सुविधायें जैसे बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा, जरूरी सामाजिक दायित्वों की पूर्ति तथा वृद्धावस्था सहित किसी अनहोनी घटना का सामना करने हेतु बीमा आदि की सुविधा हो।"

न्यूनतम मजदूरी तय करने की इकाई मुख्यतः परिवार का माना जाता है। बंगाल, मध्यप्रदेश में परिवार का आकार उत्तर प्रदेश तथा बिहार की तुलना में बड़ा होता है। उपभोग की इकाई एक सामान्य परिवार में, मजदूरी प्राप्त करने वाले के हिसाब से अलग-अलग होती है यह यदि झरिया में 1.46 है तो जमशेदपुर में 2.69 भोजन (Phiological Diet) है। किसी भी आहार का न्यूट्रीशियन मूल्य, कैलोरेफिक कन्टेनट के आधार पर तय किया जा सकता है जो कि एक व्यक्ति के कार्य करने में खर्च की गयी ऊर्जा की पूर्ति से सम्बन्धित है। हल्के व्यवसायों में काम करने में व्यक्ति की उतनी ऊर्जा खत्म नहीं होती जितनी कि कठिन परिश्रम वाले व्यवसायों में होती है। डा. डब्लू.आर. आर्कवायड के अनुसार मध्यम श्रेणी के काम में 2600 केलोरी ऊर्जा खत्म होती है। इसलिए डा. मुखर्जी ने एक व्यक्ति के लिए 3000 केलोरी की आपूर्ति को उचित माना है। इसके अतिरिक्त कार्य के स्वभाव के अनुसार अतिरिक्त कैलोरी की भी व्यवस्था निम्न तालिका के अनुसार ही जानी चाहिए।

तालिका 20.1

कार्य के स्वभाव के अनुसार अतिरिक्त कैलोरी की आवश्यकता

कार्य का स्वभाव	अतिरिक्त कैलोरी प्रति धण्टा
हल्का कार्य	75 कैलोरी
मध्यम स्तर का कार्य	75 से 150 कैलोरी
कठिन कार्य (परिश्रम वाला)	150 से 300 कैलोरी
अत्यधिक परिश्रम वाला उकार्य	300 से या इससे अधिक कैलोरी

20.2.3 उद्योग की भुगतान क्षमंता के अनुसार मजदूरी -

मजदूरी की दरों का निर्धारण उद्योगों की भुगतान करने की क्षमता के आधार पर होना चाहिए। इससे अधिकांश मजदूर, नियोक्ता, औद्योगिक संगठन, वतेन निर्धारण करने वाली समितियाँ आदि राजी हैं। इस सम्बन्ध में फेयर वेज कमेटी के विचारों को उद्धृत करना आवश्यक है, उसके अनुसार "किसी उद्योग की भुगतान करने की क्षमता की व्याख्याऐं कई तरीके से हो सकती है। जहाँ तक मजदूरी की दरों का निर्धारण संगठित व्यकित्यों द्वारा सौदेबाजी प्रक्रिया पर निर्भर करता, है तो इसमें उस उद्योग की भुगतान करने की क्षमता मजदूरी निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह बहुत अधिक व्यवहारिक नहीं होगा यदि मजदूरी को औसत के आधार पर तय कर दिया जाये, क्योंकि बहुत से औद्योगिक संगठन इस स्तर पर भुगतान करने में सक्षम नहीं होंगे जिसका कि राष्ट्र की आर्थिक दशा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा अतः इसकी रक्षा की जानी चाहिये। यह अधिक अच्छा तथा संभव होगा यदि मजदूरी का भुगतान उद्योग की क्षमता के हिसाब से किया जाये, इससे उद्योगों पर भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा परन्तु न्यून मजदुरी की समस्या आ सकती हैं। परिणाम स्वरूप बहुत से कम कुशल श्रमिक अपनी नौकरी खो सकते हैं। कुछ अकुशल श्रमिकों को व्यवसाय से बाहर किया जा सकता है। विभिन्न पद्धतियों में न्यूनतम मजदूरी तय करने में निम्न निर्धारिक तत्व हो सकते हैं :-

(i) फर्मों की मजदूरी भुगतान क्षमता -

सभी फर्मों की उत्पादन क्षमता तथा लाभ की दर एक जैसी नहीं होती। यह फर्म की संगठन क्षमता, उत्पादन का स्तर, बाजार में पहुंच तथा अन्य कारकों पर निर्भर करती है। अब प्रश्न यह उठता है कि किस फर्म के भुगतान करने की क्षमता को आदर्श मानकर अन्य पर भी उसे लागू किया जा सकें। इसके लिए हमें ऐसी फर्म का चुनाव करना चाहिए जिसकी कि न तो अत्यधिक उन्नति हो रही हो तथा उसमें सामान्य कुशल श्रमिक हों।

(ii) रोजगार (श्रमिक) की मात्रा के अनुसार, मजदूरी की भुगतान क्षमता -

कभी-कभी यह भी सुझाव दिया जाता है कि मजदूरी की दर इस आधार पर तय की जानी चाहिये कि नियोक्ता नियुक्ति के समय उसे उद्योग से जुडे सभी व्यक्तियों को कितना भुगतान करने में सक्षम है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि किसी उद्योग में बेरोजगारी की स्थिति है तो उस उद्योग को अपनी क्षमता से अधिक भुगतान करना होगा, जबकि जिस उद्योग में खाली जगह हैं वहां पर भुगतान की दरें कम होगी। एक उद्योग जो तकनीकी बेराजगारी की समस्या से ग्रसित है, वह अपने सभी बेरोजगार श्रमिकों को पुनः व्यवसाय में स्वीकार नही कर सकता। यदि किसी उद्योग के उत्पादनों की मांग अत्यधिक अनमनीय है तथा इसके लिए आवश्यक श्रम शक्ति कम है तो मजदूरी दरों में काफी कमी हो सकती हैं।

यदि मजदूरी की दरों में लगातार सामंजस्य स्थापित इस आधार पर किया जाता रहा कि उद्योग से जुड़े सभी लोगों को पूरा रोजगार मिलता रहें तो मजदूरी धीरे-धीरे बढ़ेगी तथा उसके उत्पादों की मांग में भी बढ़ोतरी होगी। वहाँ पर नौकरी के लिए कोई खाली जगह नहीं होगी तथा यह संभव नहीं होगा कि ऐसे किसी श्रमिक को वहाँ पर रखा जा सकें जो कि कहीं पर नौकरी से निकाला जा चुका है या कम विकसित उद्योग में कार्यरत है तथा उन्हें वहाँ कम वेतन मिल रहा है।

(iii) मजदूरी दरों पर तकनीकी का प्रभाव -

किसी भी उद्योग की मजदूरों की क्षमता इस तथ्य से भी काफी प्रभावित होती है कि वहाँ

पर उत्पादन की नयी तकनीकों का कितना प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में युद्ध के पश्चात् कोयला खान के मालिकों ने कहा कि यदि खानों में नयी तकनीकी का प्रयोग किया जाये तो मजदूरों को अधिक मजदूरी दी जा सकती हैं। अतः हमें इस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिये कि उद्योग वर्तमान में मजदूरी की क्या दरें देने में सक्षम हैं तथा यदि उचित तकनीकी का प्रयोग कर लिया जाये तो वह कितना भुगतान करने में सक्षम होगा।

20.3 उच्च मजदूरी की अर्थव्यवस्था के निहितार्थ (Implications of an economy of high wages)

उद्योग की भुगतान करने की क्षमता के अनुसार मजदूरी की दरें तय की जायें इस सिद्धान्त का नियोक्ताओं द्वारा काफी स्वीकार किया गया है जब कि दूसरी तरफ श्रमिकों के प्रतिनिधि इस बात की मांग करते हैं कि मजदूरी की दरें उच्च मजदूरी की अर्थव्यवस्था के द्वारा निर्धारित होनी चाहिये। यह सिद्धान्त दो विश्व युद्धों के बीच के समय में काफी प्रचलित रहा है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि भुगतान करने की क्षमता पर वर्तमान की मजदूरी दरों का काफी प्रभाव होता है। तथा यह भी माना जाता है कि उद्योगों की भुगतान करने की क्षमता का निर्धारण उस उद्योग में वर्तमान में दिये जा रहे मजदुरी के भुगतान के स्तर पर भी निर्भर करता है।

उच्च मजदूरी के सिद्धान्त का अर्थ यही है कि जब उद्योग में सम्पन्नता बढ़ेगी तो मजदूरी अधिक होगी तथा यदि उत्पादन में कमी होती है तो मजदूरी भी कम होगी। क्योंकि -

1. उच्च मजदूरी के कारण श्रमिकों की कार्यशीलता में इतना सुधार हो जाता है कि उत्पादन की प्रति इकाई का अन्तिम मूल्य कम हो जाता है।

2. उच्च मजदूरी नियोक्ता को नये-नये तरीकों तथा तकनीकों का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित करती है, जिससे मजदूरी की कीमत अपने आप ही कम हो जाती है। तथा नियोक्ता पर अधिक मजदूरी का भार नहीं पडता है।

3. सामान्य जन की क्रय शक्ति को बढ़ाकर श्रमिकों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बाजार में मांग को बढाया जा सकता है। तथा उच्च मजदूरी की समस्या से निपटा जा सकता है।

यदि श्रमिकों की उत्पादन करने क्षमता बढा दी जाये तथा अन्य चीजे सामान्य रहे तो, भी उत्पादित वस्तु की प्रति इकाइ लागत कम हो जाती है। मजदूरी में की गई बढ़ोतरी यदि कुल उत्पादित वस्तुओं की बढ़ोतरी के अनुरूप नहीं है तो वस्तु की सामान्य कीमत में बढ़ोतरी हो जायेगी। यदि मजदूरी बढायी गयी तथा वस्तुओं की कीमत में तदनुसार परिवर्तन न हुआ तो उद्योगकर्ता के लाभ पर इसका असर पडेगा। अतः मजदूरी बढाने के लिए उत्पादन बढाना सबसे उपयुक्त आधार है। न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण का नौकरी के साथ भी बड़ा महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। क्योंकि भारत जैसे देश में निश्चित वेतन के बजाय नौकरी में रहना ज्यादा महत्वपूर्ण है।

मजदूरी नीति को समझने के लिए श्रम शक्ति तथा वेतन की संरचना और विभिन्न प्रभागों द्वारा प्राप्त किये जा रहे वेतन के बारे में जानना आवश्यक है। संक्षेप में मजदूरी नीति भारत के संगठित, सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के 22.9 मिलियन श्रमिकों से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त 33 प्रतिशत श्रमिक अपने जीवनयापन हेतु असंगठित क्षेत्र से सम्बन्धित है। जिसमें 25 प्रतिशत कृषि श्रमिक तथा 8 प्रतिशत कृषि के अलावा अन्य कार्यों में लगे श्रमिक हैं।

लगभग 57 प्रतिशत श्रमिक अपने-अपने कार्यों में लगे हैं, इसलिए ये सही मायने में श्रमिकों की श्रेणी में नहीं आते हैं। यदि श्रमिक शब्द को वृहद रूप में देखा जाये तो इसमें काम करने वाले वे सभी व्यक्ति आ जाते है जो कि अपने जीविकोपार्जन के लिए किसी सम्पत्ति की आय पर निर्भर नहीं हैं। राष्ट्रीय मजदूरी नीति इतनी व्यापक होनी चाहिए जिससे संगठित क्षेत्र के साथ-साथ असंगठित क्षेत्रों तथा स्वकार्य में लगे मजदूरों की स्थिति तथा मजदूरी से सुधार आ सकें।

तालिका 20.2

प्रति व्यक्ति श्रमिक कार्य शक्ति की संरचना तथा आय 1981

	कार्य शक्ति लाख	%	कुल आय करोड	%	प्रति श्रमिक औसत वार्षिक 3/1 आय	सभी श्रमिकों की औसत वार्षिक आय (-100) का सूचकांक
I. वेतन + वेतन कमाने वाले	965	43.4	43,121	49.1	4,468	113.2
A. संगठित क्षेत्र	229	10.3	24,850	28.3	10,851	274.8
(i) सार्वजनिक क्षेत्र	155	7.0	16,496	18.8	10,643	269.6
(ii) निजी क्षेत्र	74	3.3	8,354	9.5	11,289	285.9
B. असंगठित क्षेत्र	736	33.1	18,271	20.8	2,482	62.9
(iii) कृषि श्रमिक	555	25.0	9,454	10.8	1,703	43.1
(iv) अकृषक श्रमिक	181	8.1	8,817	10.0	4,871	123.4
II स्व रोजगार	1,264	56.6	44,719	50.9	3,549	89.9
(c) खेति हर	925	41.6	27,748	31.6	3,000	76.0
(d) अखेति हर	335	15.0	16,971	19.3	5,066	128.3
कुल I + II	2,225	100.0	87,840	100.0	3,948	100.0

स्रोत - बेस्ट स्टेटिस्टक्स रिलेटिंग टू द इण्डियन इकोनॉमी, खण्ड, 1 आल इण्डिया, अगस्त 1988

तालिका 20.2 से पता चलता है कि कृषि श्रमिकों की हालत अन्य वर्गों के श्रमिकों की तुलना में अत्यधिक खराब है। इनकी वार्षिक आय 1703 रुपये है जबकि जो लोग स्वयं अपना कोई काम करते है वह 3000 रुपये तक कमा लेते है। इन दोनों वर्गों में सम्पूर्ण श्रम शक्ति का लगभग 66.6 प्रतिशत (148 मिलियन) श्रमिक आते है। परन्तु संगठित क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों की दशाएं काफी बेहतर हैं, तथा उनकी वार्षिक आय लगभग 10851 रुपये है, जोकि सामान्य श्रमिकों की तुलना में 2.75 प्रतिशत अधिक है।

तालिका 20.3

निर्माण उद्योगों में कार्यरत (1962-82) कर्मचारियों की वास्तविकता आय का सूचकांक, जिनकी आय रु. 400 तथा 1000 से कम है।

वर्ष	धानार्जन का सूचकांक	अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (आधार 1961=100)	वास्तविक आय का सूचकांक COL.2/3–2
उन श्रमिकों के लिए जिनकी आय 400 रु. से कम हैं। सन 1961=100			
1962	106	103	103
1972	199	194	103
1973	210	228	92
1974	207	293	71
1975	207	310	67
वह श्रमिक जिनकी आय 1000 रु. से कम है (आधार सन् 1976=100)			
1977	112	108	104
1980	137	132	104
1982	153	160	96

स्रोत - इण्डियन लेबर इयर बुक - 1987, पेज 38.

तालिका 20.3 धन प्राप्ति इनडैक्स तथा वास्तविक आय की इन्डैक्स (उपभोक्ता मूल्य इनडैक्स में हुये परिवर्तनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए) को सन् 1961 से 1975 के बीच के समय को दर्शाती है। इससे पता चलता है कि श्रमिक अपनी केवल 1961 की वास्तविक आय को बनाये रखे हुये हैं। 1972 के बाद स्थिति में काफी गिरावट आयी और वास्तविक मज़दूरी इनडैक्स में सन् 1975 में 1961 की तुलना में 67 बिन्दुओं की गिरावट आयी। चूंकि सन् 1976 में श्रमिकों की परिभाषा में काफी परिवर्तन हुआ, तथा उसमें 1000 रुपये से कम अर्जित करने वाले व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया गया। 1976 के बाद भी ऐसे प्रमाण कम मिलते हैं जिससे पता चले कि वास्तविक मजदूरी में बहुत बढ़ोतरी हुयी है। इस सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि देश के मजदूरों के आय आज भी 1961 के स्तर की है, और यह हमारे देश के लिए एक दुखद बात है जिसकी संविधान की प्रस्तावना में ही समाजवाद शब्द पर बडा जोर दिया गया है।

मजदूरी तथा प्रतिव्यक्ति आय -

वास्तविक मजदूरी के सूचकांक तथा प्रतिव्यक्ति के सूचकांक के सम्बन्ध में जो सूचनाएं उपलब्ध है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वास्तविक मजदूरी सूचकांक में 1960 से 1983 के मध्य, यदि बिन्दुवार तुलना की जाये तो 51 प्रतिशत की बढोतरी हुयी है। जबकि इसी अवधि के लिए तीन वर्षीय बदलता औसत निकाला जाये तो यह बढ़ोतरी 43.4 प्रतिशत

होती है। जबकि 1960 से 1983 के मध्य बिन्दुवार तुलना करने पर प्रति व्यक्ति आय में 36.5 प्रतिशत प्रगति हुयी है। यदि इसे तीन वर्षीय बदलते औसत के आधार पर देखा जाये तो यह प्रगति 28.9 प्रतिशत दिखाई पडती है। दुसरे शब्दों में जो वास्तविक मजदूरी है वह प्रतिव्यक्ति आय की तुलना में अधिक बढी है। यह इसलिए संभव हो सकता क्योंकि असंगठित क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरी प्रतिव्यक्ति आय की तुलना में उचित अनुपात में नहीं बढ सकी। परिणामतः संगठित क्षेत्र, असंगठित क्षेत्रों की कीमत पर अपनी वास्तविक मजदूरी बढाने में सफल हुये।

20.4 विभिन्न उद्योगों तथा राज्यों में श्रमिकों की मजदूरी -

नीचे दी गयी तालिका 20.4 से स्पष्ट है कि 1980 में विभिन्न उद्योगों में प्रतिव्यक्ति के कार्य दिवस के बदले प्राप्त आय में काफी विभिन्नता है -

तालिका 20.4

निर्माण क्षेत्र में कार्यरत मजदूरों की प्रति दिन औसत आय (कटौतियों से पूर्व) सन् 1980 में

क्र.सं.	उद्योग	श्रमिक	पर्यवेक्षक तथा प्रबन्धन स्टाफ	कुल कर्मचारी
1	2	3	4	5
1.	नशीले पेय पदार्थ तथा तम्बाकू	12.5	57.17	15.12
2.	तम्बाकू उत्पादन	22.68	59.15	24.34
3.	सूती कपडा मिल, ऊनी , रेशमी तथा सैन्थेटिक धागा मिल	20.76	56.40	23.05
4.	जूट, भांग, और मेस्टा मिल	21.67	57.49	22.85
5.	टैक्टाइल उत्पादन	15.24	47.64	17.94
6.	लकडी, लकडी उत्पाद, फर्नीचर	12.74	35.62	15.15
7.	कागज और कागज उत्पाद	24.23	57.16	27.26
8.	चमडा और चमडा उत्पाद	20.79	60.66	23.47
9.	रबड, प्लास्टिक, पैट्रोलियम व कोयला उत्पाद	28.50	75.24	34.65
10.	कैमीकल एवं कैमीकल उत्पाद	29.30	85.41	38.18
11.	बिजली की मशीन तथा उपकरण	29.97	68.02	36.47
12.	परिवहन उपकरण एवं पुर्जे	30.80	65.21	34.90
13.	भण्डारण तथा भण्डारागार	10.30	33.86	11.79
14.	समस्त उद्योग	33.61	64.03	27.44

स्रोत - इण्डियन लेबर ईयर बुक (1987)

प्रतिदिन की उच्चतम आय उद्योगों में कैमीकल्स वर्ग में पायी गयी, जो कि 38.18 रुपया है। इसके पश्चात दूसरा स्थान बिजली मशीनरी के क्षेत्र को मिला जहाँ यह आय 36.47 रुपया है। तीसरे स्थान पर परिवहन उपकरण क्षेत्र आया जहाँ पर यह आय 34.90 पायी गयी तथा कम आय 11.79 रुपया भण्डारण के क्षेत्र में पायी गयी।

इस प्रकार इस तालिका में स्पष्ट दिखाई पडता है कि अधिकतम तथा न्यूनतम मजदूरी में काफी ज्यादा अन्तर है। आनुपातिक रूप में इसे 3.24:1 के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। स्वाभाविक रूप से जो श्रमिक बेरोजगार हैं वह कम मजदूरी स्वीकार कर लेते हैं। मजदूरी देने में कुछ अन्य कारण जैसे फर्म की भुगतान करने की क्षमता, यूनियनों की भूमिका आदि का भी प्रभाव पडता है। परन्तु प्रतिव्यक्ति कार्य दिवस की औसत आय में अन्तर निश्चित रूप से यह सूचित करता है कि राष्ट्र की मजदूरी नीति में सुधार की कमी है।

विभिन्न राज्यों में भी आपस में मजदूरी दरों में अन्तर दिखाई पडता है। महाराष्ट्र में सर्वाधिक प्रतिव्यकित आय 34.37 रुपया जबकि त्रिपुरा में न्यूनतम आय 12.47 रुपया है।

20.5 राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी (A National Minimum Time Wage)

राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी का कानूनी स्थिरीकरण अपने प्राथमिक उद्देश्य, कठिन परिश्रम करने वाले मजदूरों के हितों की रक्षा करने के साथ देश के हित में लाभांश पर भी ध्यान देता है। जितना अधिक राष्ट्रीय लाभांश को बढाया जायेगा उसी अनुपात में राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी पर ध्यान देना होगा। यदि सभी उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों की गणना की जाये तो अकुशल श्रमिक इतनी कम मजदूरी पाते हैं कि यह जनता के लिए चिन्ता का विषय हो सकता है। इसीलिए राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी प्रथा की शुरूआत की, ताकि असहाय मजदूरों के हितों की रक्षा की जा सकें। इसी कारण से अब यह तय हो गया है कि कोई भी श्रमिक उसकी कार्यक्षमता कुछ भी हो उसे कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी नहीं दी जा सकती।

कानूनी न्यूनतम मजदूरी से बचाव -

यदि इस न्यूनतम समय मजदूरी प्रथा लागू होन का क्षेत्र छोटा होगा तो हो सकता है कि नियोक्ता अपने श्रमिकों को कानून द्वारा निर्धारित मजदूरी से कम राशि देगा। परन्तु यदि इसका क्षेत्र सम्पूर्ण राष्ट्र या बडा भाग होगा तो कोई भी ऐसा मजदूर नहीं होगा जिसे यह न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल सके।

न्यूनतम मजदूरी तथा बेरोजगारी -

राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी प्रथा के लागू होने का एक परिणाम यह हो सकता है कि निजी उद्योगों में कम वेतन पाने वाले श्रमिकों की छटनी हो जाये। इन मजदूरों की संख्या और भी अधिक हो सकती है यदि न्यूनतम मजदूरी का स्तर अधिक रहा हो। यदि ऐसा हो कि कम वेतन पाने वाले श्रमिक भविष्य में इतना कम वेतन नहीं पायेंगे जितना कि वे अभी पा रहें हैं तो हो सकता है कि इनमें से कुछ श्रमिक अधिक समय तक रोजगार में न रह पायें। वे सभी श्रमिक जो अब काम करने के योग्य नहीं रह गये हैं उन पर भी हो सकता है कि नयी मजदूरी व्यवस्था लागू नहीं की जाये क्योंकि मांग और पूर्ति का सिद्धान्त उद्योगों में बचे हुये श्रमिकों से यह अपेक्षा करता है कि वह अधिक कार्य कर अनवरतता बनाये रखें। यदि किसी उद्योग में श्रमिकों की मांग अधिक अनमनीय है तो उस उद्योग में निकाले जाने वाले श्रमिकों की संख्या भी कम होगी। इन निजी उद्योगों से जितने श्रमिक निकाले जायेंगे, राष्ट्रीय लाभांश पर उतना ही बुरा प्रभाव पडेगा।

राष्ट्रीय लाभांश में न्यूनतम घाटे की विधियाँ -

इसके लिए कई तरीके अपनाकर घाटे को कम किया जा सकता है। कम वेतन पाने वाले निकाले गये कुछ श्रमिकों को राज्य द्वारा नियंत्रित संस्थाओं में काम पर लगाया जा सकता है। परन्तु लोगों की सहायता के लिए दबाव से नौकरी में लगाये गये श्रमिकों की समस्या सबसे अधिक असन्तोषजनक होती है। ऐसी स्थिति में सरकार कभी-कभी तटस्थ रह जाती है। ऐसे में सरकार को चाहिए कि वह इन बेरोजगार श्रमिकों के लिए किसी प्रशिक्षण की व्यवस्था करें ताकि वह अपनी आय को पुनः प्राप्त कर सकें। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि राष्ट्रीय न्यूनतम समय मजदूरी को संगठित राज्य नीति के साथ लागू किया जाये तो वह लम्बी अवधि में राष्ट्रीय हितों के विरूद्ध नहीं होगी।

20.6 भारत में न्यूनतम मजदूरी की आवश्यकता -

भारत में कम मजदूरी की दरों को देखते हुये आवश्यकता है की मजदूरी का न्यूनतम स्तर निर्धारित किया जाये। अपने देश में अधिकतर मजदूर असंगठित है तथा नियोक्ताओं द्वारा अत्यधिक कम वेतन देकर इनका शोषण किया जा रहा है। औद्योगिक झगडों की समस्या, मजदूरों का खराब जीवन स्तर, अकुशलता तथा उनका ऋण में डूबे रहना आदि सभी समस्याएं मजदूरों को कम वेतन मिलने के कारण ही उत्पन्न होती है। अतः यह अत्यधिक आवश्यक है कि सुगठित सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए श्रमिकों को सन्तोषजनक मजदूरी मिले। भारत में कम्युनिस्टों का उदय इसी काम करने वाले वर्ग की गरीबी के कारण ही हुआ। यदि हमें इन क्रांतिकारी विचारधाराओं की चपेट में आने से पूरे समाज को बचाना है तो न्यूनतम मजदूरी की ओर ध्यान देना ही होगा। नियोक्ता तथा कर्मचारियों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उत्पादन की क्षमता का उच्चतर स्तर पर लिये जाने के लिए भी संतोषजनक न्यूनतम मजदूरी आवश्यक है।

श्रमिक तथा उसके परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के आधार पर न्यूनतम मजदूरी तय की जाये, यह समस्या सभी देशों में रही है। क्योंकि श्रमिक अपनी क्षमता के अनुसार न्यूनतम मजदूरी नहीं तय करना चाहते। न्यूनतम मजदूरी तय करने में नियोक्ताओं की भी कुछ अपनी राय है जैसे,

1. मजदूरी में बढोतरी से श्रमिक अधिक शराब पीने लगते हैं।
2. आय में वृद्धि से उनके अन्य वस्तुओं की आपूर्ति में वृद्धी होती हैं।
3. आय में वृद्धी के साथ महगाई में भी वृद्धी होती हैं।

20.7 न्यूनतम मजदूरी कानून के उद्देश्य -

(1) कठोर परिश्रम से बचाव - न्यूनतम मजदूरी हेतु कानून बनाने का उद्देश्य विभिन्न उद्योगों में कार्यरत कम वेतन पाने वाले मजदूरों के वेतन में बढोतरी करना है। यदि किसी उद्योग या फैक्ट्री में लगातार गिरावट आ रही है या वहाँ पर कर्मचारियों की अधिक संख्या होने से भुगतान की समस्याऐं हो तो दूसरे उद्योगों में कार्यरत मजदूरों के वेतन के अनुपात में इस फैक्ट्री के मजदूरों का वेतन तय करना उचित रहेगा। इससे यह भी हो सकता है कि श्रमिक दूसरे उद्योगों में अपने लिये कोई रोजगार खोजने का प्रयास करें, जिससे विभिन्न उद्योगों में मजदूरों का उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरण हो सके। श्रमिकों की उत्पादन क्षमता असन्तोषजनक मजदूरी से काफी प्रभावित होती है। यदि वेतन में कमी होती है, तथा श्रमिक का शोषण होता है, तो भी श्रमिकों की उत्पादन क्षमता में कमी आती है। न्यूनतम मजदूरी व्यवस्था का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी होता है कि वह मजदूरों को शोषण से बचाये तथा उनकी उत्पादन क्षमता का बनाये रखे।

उत्तर प्रदेश लेबर इन्वायरी कमेटी ने अपने अनुमानों के आधार पर बताया है कि न्यूनतम मजदूरी तय करने से उत्पादन बढता है तथा कम वेतन पाने वाले श्रमिकों में आपस में जो मजदूरी का अन्तर होता है वह भी कम होता है।

(2) जिन उद्योगों में श्रमिक असंगठित होते हैं वहाँ पर उनका शोषण अधिक होता है तथा मजदूरी भी कम मिलती है इन असंगठित मजदूरों के हितों की रक्षा हेतु ही कई देशों में न्यूनतम मज़दूरी के सिद्धान्त को लागू किया गया है। सरकार का हस्तक्षेप इस संदर्भ में तभी होता है जब कि मजदूरों के सामूहिक प्रयासों से भी न्यूनतम मजदूरी कानून को वहाँ मान्यता नहीं मिल पाती। जीविकापार्जन हेतु न्युनतम वेतन व्यवस्था का प्रयोग संगठन को विकास हेतु प्रेरित करने के लिए भी किया जा सकता है।

(3) उद्योगों में हर समय शांति बनी रहे, ऐसा नहीं होता है। कभी-कभी आन्तरिक तनावों के कारण फैक्ट्री की कार्य प्रणाली काफी होती है, जिससे उस समुदाय के आर्थिक जीवन पर प्रभाव पडता है। जिन उद्योगों में मजदूरी की न्यूनतम दरों से सम्बन्धित विवादों का तय करने के लिए मध्यस्थता करने वाली मशीनरी (Arbitration Machinery) होती है, वहाँ पर इनका निस्तारण इस मध्यस्थता करने वाले कोर्ट के द्वारा सुलझा लिये जाते हैं।

20.8 न्यूनतम मजदूरी अधिनियम

1928 में सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने न्यूनतम वेतन की समस्या की तरफ ध्यान दिया था। इस संस्था ने न्यूनतम वेतन हेतु एक ड्राफ्ट तैयार किया तथा अपने सदस्य देशों से कहा कि जिन उद्योगों में मजदूरों को कम वेतन मिल रहा है वहाँ पर न्यूनतम मजदूरी लागू करवाने हेतु किसी मशीनरी का विकास करें।

भारत में इस सम्बन्ध में विचार विमर्श "स्टैन्डिंग लेबर कमेटी" की तीसरी-चौथी मीटिंग में हुआ। उसके पश्चात् 1943, 1944 तथा 1945 में हुयी श्रम संघों की कान्फ्रेंस में भी बातचीत हुयी, जिसके फलस्वरूप 11 अप्रेल 1946 को न्यूनतम मजदूरी बिल अस्तित्व में आया। इस बीच में देश में संवैधानिक परिवर्तन होने से इन बिल को पारित होने में काफी समय लगा तथा मार्च 1948 में यह बिल पास हो सका।

1948 में पारित यह बिल जम्मू-कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत पर प्रभावी था। यह विभिन्न प्रकार के उद्योगों जिनकी सूची एक्ट के साथ लगायी गयी थी, पर लागू होता था। इसके साथ ही केन्द्र तथा राज्य सरकारों को यह हक भी दिया गया कि वह जिन अन्य उद्योगों में इन न्यूनतम मजदूरी कानून को लागू करना चाहें, उनमें लागू कर सकती है। इस एक्ट में भाग एक साथ विभिन्न व्यवसायों की सूची संलग्न की गयी थी। भाग द्वितीय में कृषि तथा उससे सम्बन्धित रोजगारों की सूची थी। यह एक्ट केवल नियमित कर्मचारियों पर ही लागू नहीं होता था, बल्कि अनियमित कर्मचारी, ऐस कर्मचारी जिन्हें किसी दूसरे के द्वारा कोई सामान तैयार करने या बेचने के लिए सामग्री दी गयी है, आदि भी इसके अन्तर्ग आते थे।

परन्तु यदि राज्य में किसी उद्योग में मजदूरों की संख्या 1000 से कम है, तो आवश्यक नहीं था, कि न्यूनतम मजदूरी दरें तय ही की जायें।

यह एक्ट मजदूरी दर निर्धारण में निम्न बातों पर ध्यान देता था -

(अ) मजदूरी की न्यूनतम समय दर (ब) न्यूनतम पीस (Piece) दर (स) एक निश्चित समय की मजदूरी दर (द) विभिन्न व्यवसायों में ओवर टाइम की दरें।

मजदूरी की न्यूनतम दरों में निम्न पक्ष भी समाहित थे,

(अ) मजदूरी हेतु बेसिक दरें तथा जीवित रहने हेतु आवश्यक भत्ते।

(ब) मजदूरी हेतु बेसिक दरें, बिना जीवित रहने हेतु आवश्यक भत्तों के साथ, तथा मजदूरों को कन्शेशनल दरों पर दिये जाने वालें सामान का मूल्य।

(स) इनक्लूजिव दरें (Inclusive Rate) एक्ट में यह भी कहा गया था कि मजदूरी का भुगतान नकद राशि में किया जाये।

20.8.1 अधिनियम की कमियां

इस एक्ट के प्रथम भाग में जो उद्योगों के सूची लगायी गयी है वह संकीर्ण है तथा उसमें ऐसे बहुत से उद्योगों को छोड़ दिया गया है, जिनमें लोगों के बहुत कम वेतन मिल रहा है। इसलिए यह एक्ट अपने उद्देश्यों की पूर्ति उचित तरीके से ही नहीं करता है।

इसमें राज्यों को यह अधिकार दिया गया है कि वह जिन उन्य उद्योगों का इस सूची में सम्मिलित करना चाहें, सम्मिलित कर सकते हैं। जिसके कारण मजदूरों में काफी असंतोष उभरा क्योंकि कुछ राज्यों में कुछ उद्योगों को इस सूची में सम्मिलित कर लिया गया जबकि कुछ राज्यों में इन्हीं उद्योगों को इस सूची में सम्मिलित नहीं किया गया।

इस एक्ट के अनुसार न्यूनतम मजदूरी दरें तो तय की जानी है परन्तु कभी-कभी ये न्यूनतम दरें अधिकतम दरें बनकर रह जाती हैं क्योंकि इनमें नियमित सुधार की व्यवस्था नहीं है।

इस कानून में मूल मजदूरी का तय करने के सिद्धान्त दिये गये है, परन्तु कभी-कभी विभिन्न राज्यों के महंगाई भत्तों तथा समय मजदूरी में अन्तर होता है। इसक अलावा सरकार इस मजदूरी से प्रभावित होने मजदूरों से सलाह लिये बिना उनकी मजदूरी तय कर देती है।

20.8.2 न्यूनतम मजदूरी का क्रियान्वयन -

एक या दो राज्यों के कुछ उद्योगों को छोडकर बाकी सभी सरकारों ने इस एक्ट के "पार्ट एफ" के अनुसार मजदूरी की दरें निर्धारित कर दीं। कुछ राज्यों में इस मजदूरी में मंहगाई भत्ते की दरें सम्मिलित हैं, कुछ में नहीं। एक राज्य से दूसरे राज्य में, तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग की मजदूरी दरों में जो विभिन्नता है उसे समय-समय पर दुर करने का प्रयास किया गया है। 1957 के बाद विभिन्न उद्योगों हेतु "वेज बोर्ड" भी गठित किये गये हैं। यही बोर्ड श्रमिकों के लिए मजदूरी की दरें तथा महंगाई भत्ते तय करते हैं।

20.9 भारत में बोनस की समस्या -

भारत सरकार ने श्री एम.आर. माहेर की अध्यक्षता में बोनस कमीशन नियुक्त किया था। इस कमीशन की मुख्य संस्तुति यह थी, कि बोनस प्रतिष्ठान में कार्यरत कर्मचारी का यह लाभांश है, जो प्रतिष्ठान ने कमाया है। दूसरे शब्दों में यह कम्पनी की प्रयोजना में मजदूरों की हिस्सेदारी है। बोनस रिव्यू कमेटी ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट सितम्बर 1974 में दी थी, जिसमें न्यूनतम बोनस 8.33 प्रतिशत तथा अधिकतम बोनस 20 प्रतिशत देने की अनुशंसा की। परन्तु इसमें उन्हीं कर्मचारियों को सम्मिलित किया गया जिनका वेतन 2500 रुपया है। जबकि पूर्व में ये 1600 रुपये वेतन पाने तक ही सीमित था। जो लोग 1600 रु. के मध्य वेतन पाते हैं उनके बोनस की गणना यह मानकर की जायेगी की उनका वेतन 1600 रुपये प्रतिमाह है।

मंहगाई हेतु क्षतिपूर्ती -

आंकड़े बताते है कि वर्तमान मूल्यों के आधार पर सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों को कुल

मिलने वाले वेतन का इनडैक्स नम्बर 1971-72 के 100 पॉइण्ट से बढकर 1987-88 में 544.6 पॉइण्ट हो गया। जबकि इसी अवधि में उपभोक्ता मूल्य इनडैक्स केवल 38.2 पॉइण्ट बढा। दूसरे शब्दों में कर्मचारी को मिलने वाले वेतन में इस अवधि में प्रतिवर्ष 2.26 प्रतिशत की बढोतरी हुयी। यह दर 1971-72 की प्रतिव्यक्ति एन.एन.पी. से भी ज्यादा थी, जो कि उस समय लगभग 1.7 प्रतिशत थी। इस प्रकार के उतार चढाव से जीवन स्तर महंगा हो गया तथा सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों को काफी घाटा हुआ। जिसकी पूर्ति या ता अप्रत्यक्ष करों को बढाकर की जा सकती है या सार्वजनिक उधारी से हो सकती है। ये सभी उन्नति के तरीके महंगाई को भी बढायेंगे।

रोजगार में वृद्धि तथा मजदूरी नीतियाँ -

सार्वजनिक तथा नीति क्षेत्र, शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र ओर संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों के बीच प्रचलित मजदूरी दरों की विभिन्नता को कम करने के लिए उठाये गये सभी प्रशासकीय व कानूनी कदम बहुत प्रभावी नहीं होंगे, यदि रोजगार की इतनी वृद्धी दर नहीं होती कि वह पीछे के बेरोजगार लोगों को काम दे सके तथा अन्य श्रम शक्ति को भी अपने में समाहित करे सके। अतः मजदूरी नीति को रोजगार नीति के साथ चलना होगा। क्योंकि निगमित क्षेत्र में अधिक लोगों को रोजगार नहीं मिलता है, इसलिए आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का विकास किया जाये। इस दिशा में कृषि क्षेत्र बडा महत्वपूर्ण क्षेत्र हो सकता है। कृषि के क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी दरें अभी तक उन राज्यों में भी देय नहीं है जहाँ पर हरित क्रांति हो चुकी है। कृषि क्षेत्र में हुयी उच्च उन्नति ने ने केवल कृषि क्षेत्र के लोगों में अधिक क्रय शक्ति को बढाया बल्कि कृषि से जुडे हुये अन्य क्षेत्रों में भी रोजगार के अवसर बढाये है। इसके कारण इस क्षेत्र में मजदूरों की आवश्यकता बढी है तथा बाजारोन्मुखी शक्तियों के दबाव में न्यूनतम मजदूरी दरें भी लागू की जा रही है।

अतः आवश्यक है कि हम कृषि क्षेत्र के छोटे उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति तथा तकनीकों के क्षेत्र में सुधार करें। जिससे कृषि आधारित उद्योगों की बाजार में हिस्सेदारी बढ सकें।

20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. मार्शल, एफ, आर., कार्टर एण्ड किंग, ए.एम., लेबर इकोनॉमिक्स वेजेज एम्पलायमेंट एण्ड ट्रेड यूनियनिज्म, इरविन ओरेजे लिमिटेड, जॉर्ज टाउन, ओन्टेरियों, 1976.
2. सिंह, आर.आर., लेबर इकोनॉमिक्स, श्री राम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा, 1971.
3. इण्डियन लेबर इयर बुक 1987.
4. दत्त, आर, एण्ड सुन्दरम, के.पी.एम. इण्डियन इकोनॉमी, एस. चान्द एण्ड कम्पनी लि, नई दिल्ली, 1991.
5. मिनिस्ट्री ऑफ लेबर, इम्पलायमेंट एण्ड रिहेविलिटेशन, गवर्नमेंट ऑफ इण्डियन, रिपोर्ट ऑफ द नेशनल कमीशन ऑन लेबर, 1969.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

श्रम अर्थशास्त्र

MAEC-04 (N)

श्रम सम्बन्ध एवं श्रम संघवाद 4

खण्ड परिचय

श्रम अर्थव्यवस्था के इस चतुर्थ खण्ड में कुल आठ इकाईयां हैं। इस खण्ड में श्रम सम्बन्ध एवं श्रमसंघवाद से सम्बन्धित इकाइयाँ सम्मिलित की गई हैं।

श्रम सम्बन्ध का अर्थ एवं क्षेत्र तथा समय के साथ-साथ श्रम सम्बन्धों के बदलते प्रतिमानों की चर्चा इकाई संख्या 21 में की गई है। किसी भी देश के लिए औद्यौगिक शान्ति एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है एवं औद्योगिक शान्ति के लिए औद्योगिक सम्बन्धों का सौहार्दपूर्ण होना आवश्यक है।

इकाई संख्या 22 में भारत में कृषि श्रमिक के बारे में चर्चा की गई है। हमारे देश की दो तिहाई आबादी कृषि से अपनी जीविका चलाती है। कृषि क्षेत्र देश का सबसे बड़ा क्षेत्र है इस क्षेत्र में मजदूर असंगठित है इसलिए इनके शोषण की सम्भावना अधिक है इसलिए इन श्रमिकों को संगठित करने के प्रयास किए जाने चाहिए।

इकाई संख्या 23 में श्रम संघों के कार्यों एवं उनकी आवश्यकता की चर्चा की गई है। इसके बाद भारत में श्रमसंघों के उदय एवं इनके राह में आरही रूकावटों की चर्चा इकाई संख्या 24 में की गई हैं। इस इकाई में श्रम संघों की वर्तमान स्थिति एवं श्रमसंघों की संरचना पर भी प्रकाश डाला गया है।

इकाई संख्या 25 में भारत में औद्योगिक अशान्ति दूर करने के लिए एवं औद्योगिक शान्ति सुनिश्चित करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया एवं संस्थाओं की चर्चा की गई है। इसमें प्रमुख रूप से समझौता सलाहकारी व्यवस्था, मध्यस्थता एवं सांत्वना, पंच फैसला आदि उपायों की विस्तार से व्याख्या की गई है।

इकाई संख्या 26 में औद्योगिक सम्बन्ध तंत्र की व्याख्या की गई है। इसमें औद्योगिक श्रम आयोग, श्रम न्यायालय, कार्य समितियों एवं संयुक्त व्यवस्था परिषदों की भूमिका की चर्चा की गई है। औद्योगिक सम्बन्धों में श्रमिकों की प्रबन्ध में भागीदारी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है इसके बिना औद्योगिक शान्ति सुनिश्चित नहीं की जा सकती।

इकाई संख्या 27 में सामूहिक सौदेबाजी के अर्थ आवश्यकता एवं महत्व की विवेचना प्रस्तुत की गई है। इसमें भारत में इस व्यवस्था की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

इस खण्ड की अन्तिम इकाई संख्या 28 में विश्व में श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए कटिबद्ध संस्था अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) के उद्देश्य कार्यों एवं उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड-4

श्रम सम्बन्ध एवं श्रम संघवाद

इकाई 21
श्रम सम्बन्ध, अर्थ एवं क्षेत्र, श्रम सम्बन्धों का बदलता प्रतिमान, औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था 7–12

इकाई 22
भारत में कृषि श्रम 13–26

इकाई 23
श्रम संघवाद 27–40

इकाई 24
भारत में श्रमिकसंघों का उदय, संरचना एवं समस्याएं 41–59

इकाई 25
औद्योगिक शान्ति, बचाव एवं समझौते, औद्योगिक अशान्ति दूर करने के उपाय 60–89

इकाई 26
औद्योगिक सम्बन्ध तंत्र, औद्योगिक सम्बन्ध आयोग, श्रम-न्यायालय, कार्य समितियां, संयुक्त व्यवस्था परिषदें, प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी 90–109

इकाई 27
सामूहिक सौदेबाजी, अर्थ, आवश्यकता एवं महत्व भारत में सामूहिक सौदेबाजी 110–128

इकाई 28
अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, उद्देश्य, कार्य एवं उपलब्धियां 129–146

इकाई 21

श्रम सम्बन्ध : अर्थ एवं क्षेत्र : श्रम सम्बन्धों का बदलता प्रतिमान, औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 श्रम सम्बन्धों का बदलता प्रतिमान

23.3 औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था

23.3.1 औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था की संरचना

23.4 भारत में श्रम सम्बन्धों की आधुनिक प्रवृतियाँ

23.5 सारांश

23.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.7 निबन्धात्मक प्रश्न

23.0 उद्देश्य

विश्व के औद्योगिक दृष्टि से विकसित लगभग सभी राष्ट्रों में औद्योगिक शान्ति की समस्या विद्यमान है। जबसे औद्योगीकीरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है, तब से प्रत्येक देश में इस समस्या के समाधान के हेतु कार्य किया जाने लगा है। इस समस्या के समाधान हेतु विभिन्न तरीके एवं रीतियों को प्रयोग में लिया गया। किन्तु फिर भी विभिन्न देशों में उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिदृश्यता के अनुरूप यह समस्या आज भी किसी ने किसी रूप में पायी जाती है। इस समस्या का समाधान पूरी तरह से नहीं हो पाया। औद्यौगिक विवाद आज भी पैदा हो रहे है तथा भविष्य में भी पैदा होते रहेंगे। प्रत्येक सभ्य राष्ट्र की औद्यौगिक नीति में यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु होता है कि सन्तोषजनक औद्यौगिक सम्बन्धों को बनाये रखा जाये। यह देश के विकास के लिए एक आवश्यक शर्त होती है। किसी भी देश के सफल औद्यौगीकीरण के लिए अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध होना वांछनीय है, अतः इस प्रकार की व्यवस्था को विकसित करना आवश्यक है, जिसके अन्तर्गत औद्यौगिक विवादों का समाधान किया जा सके तथा उन्हें आगे बढ़ने से रोका जा सके। इस प्रकार औद्यौगिक विकास के लिए औद्यौगिक शान्ति-होना औद्यौगिक विकास के लिए उपयुक्त पर्यावरण का होना-एक आवश्यक पूर्व शर्त होती है।

23.1 प्रस्तावना

आज लगभग सभी देशों में औद्योगिक विवादों को कम करने के लिए श्रम संघ को स्वीकृति प्रदान की गयी है। इसके फलस्वरूप इन विवादों में कमी अवश्य आयी फिर भी, कर्मचारियों का विरोध श्रम संगठनों के प्रति रूका नहीं है। श्रम संघ मुख्यतः श्रमिकों के हितों के लिए बनाए जाते हैं। जब कभी नियोक्ता एंव श्रमिकों के मध्य, मतभेद एवं तनाव हों तो श्रम संघ श्रमिकों के हितों की रक्षा करकते हैं।

उत्पादन एवं अर्थव्यवस्था की आधुनिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस तरह के मतभेद होना स्वाभाविक है। क्योंकि श्रम और पूंजी अलग-अलग व्यक्तियों के हाथों में होती है, तथा नियोक्ता अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहता है। आधुनिक वर्षो में नियोक्ता एवं श्रमिकों के मध्य एक नयी प्रवृति देखने को मिल रही है। इन नये सम्बन्धों का आग्रह तनाव की अपेक्षा दोनों के सामान्य कल्याण एवं सहयोग पर है। आज श्रम समस्या को एक मानवीय दृष्टिकोण से देखा जा रहा है, तथा श्रमिक को केवल एक उपभोक्ता की अपेक्षा एक मानव के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। फिलाडेलिफिया घोषणा एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठनों की गतिविधियों के कारण इस समस्या के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित हुआ है। इस दृष्टिकोण ने एक नया श्रमिक परिदृश्य प्रदान किया है। प्रबन्ध के सहयोग के फलस्वरूप आज यह संभव बन पाया है कि रोजगार अनुबन्ध होने लगे है, तथा सहभागी अनुबन्ध के अन्तर्गत एक दूसरे के कल्याण के प्रति भी सोचा जाने लगा है।

श्रम प्रबन्ध सहयोग का सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि कर्मचारी अपनी जीविका के लिए चूंकि कारखानों पर निर्भर करते हैं, अतः उन्हें इसके कार्य के प्रति भी रूचि लेनी चाहिए। इसलिए स्वाभाविक हो जाता है कि, कारखानों की गतिविधियों में श्रमिकों की आवाज भी सुनी जाए। श्रम प्रबन्ध सहयोग पारस्परिक विचार विमर्श पर निर्भर करता है, अतः प्रबन्ध को योजनाओं के सन्दर्भ में सभी स्तर के कर्मचारियों को जानकारी प्रदान करनी चाहिए तथा नीतियों एवं समस्याओं के बारे में निरन्तर रूप से श्रमिकों के मतों को भी सुना जाना चाहिए। इस तरह का विचार विमर्श कार्यपरिषदों या श्रम प्रबन्ध समितियों द्वारा औपचारिक रूप से भी हो सकता है, तथा प्रशासकीय अधिकारियों, पयर्वक्षकों एवं श्रमिकों के मध्य बातचीत के द्वारा अनौपचारिक रूप से भी हो सकता है। इस तरह के सहयोग के फलस्वरूप मानवीय तत्व के महत्व को स्वीकारा जाता है। अतः कारखानों के संचालन के प्रति श्रमिकों में रूचि जाग्रत होती है। इस तरह के सहयोग द्वारा श्रमिकों में उपजी निराशा एवं अलगाव की भावना को दूर किया जा सकता है एवं उनकी समस्या को अच्छी तरह से समझकर दूर किया जा सकता है। इन सभी के परिणाम स्वरूप औद्योगिक शान्ति, व्यापक दक्षता, रद्दी सामग्री में कमी, श्रम टर्न ओवर में कमी एवं अधिकतम उत्पादन संभव बन पाता है। श्रमिक प्रबन्ध सहयोग उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि दोनों तरफ से सहयोग हेतु ईमानदारी से इच्छा नहीं हो, तथा दोनों में एक दूसरे के प्रति आस्था एवं विश्वास नहीं हो। प्रबन्ध को चाहिए कि वह सभी विषयों पर श्रमिकों से विचार करे तथा कारखाने से सम्बन्धित सभी विषयों की आवश्यक सूचनाएँ उन्हें प्रदान करे। प्रशिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध हों तथा उच्च उत्पादन में उनकी भागीदारी को निश्चय किया जाना चाहिए। सामूहिक सौदेबाजी के मुद्दे श्रम संघो हेतु छोड़ देने चाहिए।

श्रमिक प्रबन्ध सहयोग के विभिन्न रूप हो सकते हैं। इस तरह के सभी प्रयास जिसमें कि प्रबन्ध द्वारा श्रमिकों से विचार विमश किये जाते हैं, श्रमिक प्रबन्ध सहयोग के अन्तर्गत आते हैं। "कार्य समितियां", "संयुक्त सलाहकार समितियां", "प्रबन्ध की संयुक्त समितियां" आदि इस सहयोग के विभिन्न रूप है। यद्यपि आजकल श्रमिक प्रबन्ध सहयोग को प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी के रूप में भी समझा जाने लगा है।

23-2 श्रम सम्बन्धों का बदलता प्रतिमान

आधुनिक समाजों में औद्योगिक तनाव, हितों की असहमति एवं संघर्ष की सबसे मूर्त अभिव्यक्ति रहे है। उपयुक्त वेतन की दर, कार्यदशाएँ, रोजगार अनुबन्ध की व्याख्या, श्रम संघ विशेषाधिकार आदि कुछ मुद्दे नियोक्ताओं एवं श्रमिकों के मध्य निरंतर तनाव के बिन्दु रहे हैं। यद्यपि ये विवाद उतने ही पुराने हैं जितनी कि मानव जाति, किन्तु आज इनका रूप काफी बदल गया है, तथा समाज के विकास में स्पष्टतः अभिव्यक्त होने लगे हैं।

मोटे रूप में श्रम संघर्षों का उदय प्राचीनकाल दास प्रथा के समय से ही दिखाई देता है, किन्तु आधुनिक विवाद उनसे किसी भी प्रकार से समान नहीं है। आज का समाज एक ऐसा सुगम समाज नहीं रहा है, जिसमें कि नियोक्ता एवं श्रमिकों के मध्य व्यवस्थित सम्बन्ध पाये जाते हों, आज अविश्वास, तनाव तथा विभिन्न पक्षों के मध्य विश्वास का अभाव पाया जाता है। जिसके फलस्वरूप औद्योगिक विवाद उत्पन्न हो रहे हैं। श्रम सम्बन्धों के इतिहास में इस प्रकार के सम्बन्ध काफी ऊंचाई पर दिखाई देते हैं। प्राचीनकाल में चूंकि औद्योगिक सम्बन्धों की व्यवस्था सरल थी, अतः श्रम सम्बन्धों की समस्या जो आज पायी जाती है, उस काल में नहीं पायी जाती थी। वर्तमान औद्योगिक युग से पूर्व का युग अर्थात् उत्पादन की परम्परागत व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तुओं का उत्पादन सीमित मात्रा में होता था, तथा वे मुख्यतः स्थानीय बाजारों के लिए होती थी। दस्तकार स्वयं ही उद्यमी, पूँजी लगाने वाला, प्रबन्धक एवं श्रमिक स्वयं होता था। दस्तकार के घर पर ही कार्य संचालित किया जाता था, जिसमें सहायता केवल उसके पारिवारिक सदस्य एवं कुछ मिलने वाले व्यक्ति ही देते थे। प्रशिक्षणार्थी को अपने परिवार के सदस्यों के रूप में ही लिया जाता था। इस प्रकार से दस्तकार अपने उद्देश्यों के प्रति प्रत्यक्षतः एवं निकटता से जुड़ा हुआ होता था। अपनी आवश्यकताओं एवं समस्याओं से परिचित होता था, फलतः श्रम सम्बन्धों की समस्या नहीं पायी जाती थी। आधुनिक औद्योगिक विकास के फलस्वरूप उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया बदल गयी है। इसके कारण आधुनिक औधोगिक समाजों एवं श्रम सम्बन्धों की समस्या का उद्भव हुआ है। आधुनिक युग एक यांत्रिक युग है जिसमें कि श्रमिक का उत्पादन सामग्री से एवं उसके स्वामित्व से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। उद्योग आज जटिल बन गये हैं जिनमें कि बहुत वृहदस्तर पर उत्पादन होने लगा है, बहुत बड़ी लागत पूंजी की आवश्यकता होती है, श्रमिकों की बड़ी संख्या चाहिए, कच्चे माल की व्यापक जरूरत एवं जटिल उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इन कारकों के फलस्वरूप उद्योग में विभिन्न हितों के साथ जैसे शेयर होल्डर, प्रबन्ध एवं श्रमिक आदि पृथक-पृथक समूह विकसित हुये हैं। निसन्देह रूप से उद्योगों का अंतिम उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है, किन्तु इन समूहों के हित इतने संघर्षरत रहे है कि आज उद्योग में संघर्ष ही प्रभावी हो गये हैं। फलतः अंश धारकों की रूचि समुदाय की सेवा में नहीं बल्कि लाभांश में होती है। प्रबन्धकों की अधिक से अधिक रूचि लाभ में, एवं श्रमिकों की रूचि अपने वेतन एवं अन्य लाभों मौद्रिक एवं गैरमौद्रिक - में होती है। उद्योगों मे इस भिन्न दृष्टिकोण के फलस्वरूप श्रम सम्बन्धों की समस्या व्यापक रूप से सतह पर आ गयी है। श्रम सम्बन्धों की समस्या मुख्यतः वृहद स्तरीय उत्पादन का परिणाम रही है जसने मानव को मशीन के अधीनस्थ बना दिया है। मशीन के संचालन में काम आने वाले गुणों एवं क्षमताओं को नियोक्तओं एवं प्रबन्धकों द्वारा महत्व नहीं दिया जाता, यह नहीं स्वीकारा जाता कि श्रमिक समाज के हित के लिए उपयोगी कार्य कर रहे हैं। परिणामतः आधुनिक उद्योगों में श्रमिकों की स्थिति यांत्रिक हो गयी है, तथा उनका मुख्य कार्य मशीन संचालन तक सीमित हो गया है। साथ ही बढ़ते हुए विशिष्टीकरण के फलस्वरूप व्यापक उत्पादन प्रक्रिया में एक श्रमिक, उत्पादन के एक अंश से ही जुड़ा हुआ अपने को पाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि भूतकाल में श्रमिक जहां अपने कार्य संचालन के साथ जो गर्व एवं संतोष महसूस करता था, वह आज समाप्त हो गया है। इसकी अभिव्यक्ति कार्य में उसकी रूचि का अभाव एवं लगनशीलता के अभाव में दिखाई पड़ती है। कर्मचारियों में जो असन्तोष की स्थिति पैदा होती है उसके फलस्वरूप कार्य, प्रबन्धन, एवं उसकी नीतियों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। जिसकी अभिव्यक्ति औद्योगिक तनावों में होती है।

अतः औद्योगिक समाजों में औद्योगिक तनावों की समस्या अन्तर्निहित होती है, इसके

समाधान का प्रयास किया जाना चाहिए। चूंकि, इन समस्याओं का समाधान औद्योगिकरण के ऐतिहासिक विकास तथा उस समाज की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक विशेषताओं पर निर्भर करता है, अतः प्रत्येक औद्योगिक समुदाय को इन सब समस्याओं को दूर करने के अपने निजी समाधान खोजने चाहिये। औद्योगिक सम्बन्धों के क्षेत्र में समस्याओं के समाधान का कोई पहले से निश्चित तरीका नहीं हो सकता।

एक उद्योग के समाधान दूसरे उद्योग में लागू नहीं किये जा सकते हैं समाधानों को बाहर से लाकर लागू नहीं किया जा सकता प्रत्येक समुदाय को अपनी परिस्थिति के अनुरूप समाधान खोजने चाहिए और उन्हें लागू करना चाहिए। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप ही उद्योगों के संचालन में एक सहयोग की भावना विकसित होगी तथा सकारात्मक दृष्टि से कार्य होने लगेगा।

23.3 औधोगिक सम्बन्ध - व्यवस्था

व्यवस्था एक संगठित एवं जटिल कोण होती है जो कि विभिन्न चीजों एवं भागों के संयुक्तिकरण द्वारा बनकर ऐ एक जटिल इकाई के रूप में कार्य संचालित करती है। व्यवस्था उपागम हमें यह बताता है कि कोई भी एक तत्व का विवेचन अन्य तत्वों के साथ उसकी अन्तर्क्रिया को देखे बिना नहीं किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि हमेशा चार तत्वों जैसे आगत, रूपान्तरण, निर्गम एवं फीड बेक के मध्य अन्तर्क्रिया होती है। औद्योगिक सम्बन्धों के क्षेत्र में डनलप (DUNLOP) ने व्यवस्था उपागम को अपनाया है। इनके मॉडल में चार मुख्य पक्ष है। ये निम्नलिखित है -

1. अभिनेता - श्रमिक प्रबन्ध एवं सरकार। ये व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से कार्य करते हैं।

2. संदर्भ - आर्थिक तकनीकि, शक्ति - सम्बन्ध आदि।

3. निर्गत (OUT PUT) - नियमों के प्रशासन का स्वरूपण।

4. विचारधारा - सभी सम्बंधित व्यक्तियों के सहभागी मूल्य।

अभिनेता एक संदर्भ में कार्य करते हैं जिसका लक्ष्य नियमों को निर्धारित करना उनका प्रशासन करना होता है। इसमें वे सम्बंधित व्यक्तियों की विचारधारा द्वारा संचालित होते है।

23.3.1 औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था की संरचना - प्रो. डनलप के अनुसार एक औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था में निम्न चीजें होती है -

1. निश्चित समूह - इस व्यवस्था में मुख्य समूह श्रमिक, उनके संगठन, प्रतिनिधि, नियोक्ता तथा प्रबन्धक एवं इनके संगठन और विशिष्टीकृत सरकार/ऐजेन्सीयां।

2. निश्चित संदर्भ - समूह द्वारा स्थापित किये गये नियमों के प्रशासन में संदर्भ या क्रियात्मक शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इनका निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन किया जा सकता है -

(अ) तकनीकी संदर्भ - इसका सम्बन्ध निम्न से होता है -

(i) स्थिति (कार्य स्थान)

(ii) तकनीकि

(ब) बाजार संदर्भ - (आर्थिक कारक) - इसका सम्बन्ध निम्न से होता है -

(i) बाजार का क्षेत्र - उद्योग का आकार।

(ii) बाजार में उद्योग की प्रतियोगी स्थिति।

(iii) श्रमिक मूल्य (वेतन) - उद्योग द्वारा वेतन देने की क्षमता।

(स) शक्ति संदर्भ - यह भी औद्योगिक सम्बन्धों को प्रभावित करता हैं - इसका सम्बन्ध निम्न से होता है -

(i) सरकार की शक्ति (सरकार की नीतियॉ)

(ii) नियोक्ता का दृष्टिकोण (प्रबन्ध शैली)

(iii) औद्योगिक श्रमिकों की स्थिति।

(iv) ट्रेड यूनियनों की स्वीकृति का प्रश्न।

3. सरकार द्वारा बनाये गये नियमों का ढांचा - इसमें सरकार द्वारा बनायी गयी विभिन्न नीतियों, नियमों, प्रक्रियाओं एवं अधिनियमों को लिखा जाता है। यद्यपि "डनलप" के उपागम की उसकी अस्पष्टता के कारण आलोचना की जाती है। किन्तु साथ ही यह उपागम ऐसा कोई मॉडल भी प्रस्तुत नहीं कर जिससे कि सही अर्थ निकाला जा सके।

23.4 भारत में श्रम सम्बन्धों की आधुनिक प्रवृतियॉ -

श्रम सम्बन्धों के क्षेत्र में आधुनिक प्रवृतियों का निम्नलिखित के संदर्भ में विवेचन किया जा सकता है -

1. नियोक्ता - श्रमिक एवं केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बढ़ते हुये दबावों के फलस्वरूप नियोक्ता आज अपने श्रमिकों के प्रति बहुत ही सहिष्णु हो गये हैं तथा उनमें समाजवादी दृष्टिकोण भी विकसित हुआ है। उनका उत्तरदायित्व आज बहुत बढ़ गया है।

2. कर्मचारी - ये आज बहुत संगठित हो गये हैं तथा अपने अधिकारों के प्रति बहुत सचेत हो गये है। राजनैतिक दलों के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप कर्मचारी अधिक से अधिक वेतन प्राप्त करने लगे हैं। ट्रेड यूनियनों की बहुलता पायी जाती है। विभिन्न यूनियनों में एवं एक ही यूनियन में आपसी कटुता भी बढ़ रही है। कर्मचारी आज अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हैं।

3. सरकार- सरकार का समाजवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ है। इसका प्रयास रहता है कि श्रमिकों को अधिकतम लाभ मिले, साथ ही सरकार नियोक्ताओं के बढ़ते उत्तरदायित्व में भी अपना सम्बन्ध बनाय रखती है।

इस प्रकार से औद्योगिक सम्बन्ध बहुत ही जटिल बन गये हैं, तथा इनके समाधान के लिए बहुत ही सचेत प्रयास की आवश्यकता होती है।

23.5 सारांश

औद्योगिक शान्ति, औद्योगिक प्रगति के लिए एक महत्वपूर्ण पूर्व आवश्यकता होती है। औद्योगिक शान्ति का तात्पर्य उद्योग के विभिन्न पक्षों अर्थात नियोक्ता एवं कर्मचारियों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के आस्तित्व से होता है। सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का पाया जाना ही नियोक्ता एवं कर्मचारी, दोनों ही समस्याओं के समाधान का दृष्टिकोण लेकर चलता है। अगर सौहार्दपूर्ण

सम्बन्धों का अभाव पाया जाता है तो औद्योगिक शान्ति धूमिल हो जायेगी तथा उसकी अभिव्यक्ति औद्योगिक असन्तोष में होगी।

औद्योगिक विवादों के फलस्वरूप उत्पादन प्रक्रिया बाधित होगी, हड़तालें, घेराव तथा तालाबन्दी, संगठित प्रदर्शन धरने आद होगी। इस तरह अच्छे औद्योगिक संम्बन्ध, औद्योगिक शान्ति, औद्योगिक अनुशासन एवं औद्योगिक लोक तंत्र की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करतें हैं। देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए ये तीनों कारक बहुत ही आवश्यक माने गये हैं। इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्धों का मुख्य लक्ष्य अच्छे एवं सौहार्दपूर्ण श्रमिक - प्रबन्ध सम्बन्धों की स्थापना करना होता है। जिसके फलस्वरूप पारस्परिक समझ, पारस्परिक विश्वास पैदा होता है तथा पारस्परिक मतभेदो को आसानी से दूर किया जा सकता है।

23.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सक्सैंना, आर.सी., लेबर प्रोबलमस एण्ड सोशियल वेलफेयर, मेरठः के नाथ एण्ड कम्पनी, 1981

2 भागीलावाल, टी.एन., इकानोमिक्स आफ लेबर एण्ड इण्डस्ट्रीयल रिलेशन्स, आगरा, साहित्य भवन, 1985

3. शर्मा, डी.सी. एण्ड शर्मा, आर.सी., पर्सोनेल मैनेजमैंट एण्ड इण्डस्ट्रीयल रिलेशन्स मेरठ, एस.जे. पब्लीकेशन्स

4. मामोरिया, सी.बी. पर्सोनेल मैनेजमेंट, बम्बई : हिमालया पब्लीशिंग हाऊस, 1997

5. जूसियस, एम.जे., पर्सोनल मैनेजमेंट, रिचार्ड डी, इरविन, इंक होमवुड इलीनोडस, 1975

6. फिलिपो, ई.बी. प्रिंसीपल्स ऑफ पर्सोनेल मेनेजमेन्ट, मेग्रोहिल कोजक उषा लि. टोक्यों, 1976

23.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रम सम्बन्धों से आपका क्या अभिप्राय है? वर्तमान समय में श्रम सम्बन्धों के बदलते प्रतिमान पर एक टिप्पणी लिखिए।

2. औद्योगिक सम्बन्धों की व्यवस्था के उपागम क्या है? इसकी संरचना में प्रो. डनलप ने किन मुख्य तलों का उल्लेख किया है?

इकाई 22

भारत में कृषि श्रम

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 कृषि श्रम के प्रकार
22.3 ग्रामीण श्रम जॉच (Rural Labour Enguiry)
22.4 कृषि श्रमिकों की मुख्य विशेषताएं
22.4.1 आधुनिक प्रवृतियां
22.5 ग्रामीण श्रमिकों को संगठित करने की योजनाएं
22.6 सारांश
22.7 शब्दावली
22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.9 निबन्धात्मक प्रश्न

22.0 उद्देश्य

कृषि श्रमिक अपनी जीविकोपार्जन के लिए दूसरों के खतों पर अपना श्रम बेचता है। यह वर्ग असंगठित होता है इसलिए अपनी मजदूरी बढ़ाने एवं कार्य की दशाओं में सुधार के लिए संगठित होकर संघर्ष नहीं कर सकता। इस इकाई में आपका परिचय कृषि श्रमिकों एवं ग्रामीण श्रमिकों की मुख्य विशेषताओं से कराया जाएगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस वर्ग की समस्याओं को ठीक से समझने के योग्य हो जाएंगें।

22.1 प्रस्तावना

कृषि श्रमिकों की समस्याएं बहुमुखी हैं और निम्न आय, उत्पादकता और सतत रोजगार का अभाव ग्रामीण अर्थव्यवस्था की बुनियादी समस्याएं है। कृषि श्रमिक की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए विकास के गहन कार्यक्रम द्वारा इन समस्याओं के सफलतापूर्वक समाधान की अब भी आवश्यकता है। कृषि श्रमिक जाँच समिति के अनुसार कृषि श्रमिक किये गये कुल कार्य दिवसो में से अधिक से अधिक दिनों में कृषि श्रमिक के रूप में कार्य करता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक कृषि श्रमिक भूमि के कुछ हिस्से का स्वामी या एक दस्तकार भी हो सकता है किन्तु उसका मुख्य व्यवसाय न तो कृषि और न ही लघु और कुटीर उद्योग होता है। इस प्रकार वह जो कुछ कृषि कार्य करते हुए अपनी मुख्य आय अर्जित करता है, कृषि श्रमिक कहलाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि (अ) कृषि श्रमिकों के परिवार (ब) अंश कालीन कृषकों के परिवार और (स) ग्राम के अंश कालीन दस्तकारों के परिवार, में सद कृषि श्रमिक माने जाते हैं। अतः कृषि श्रमिक कटाई और जुताई करने वाले लोगों की तरह खेतों में काम करने वाले हो सकते है या कुँआ खोदने या विभिन्न प्रकार के अन्य कार्य करने वाले साधारण श्रमिक हो सकते है या कारीगर और बढ़ई जैसे कुशल श्रमिक हो सकते हैं।

22.2 कृषि श्रम के प्रकार

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने बताया कि कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों को निम्न मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (i) कृषक (ii) कृषि श्रमिक तथा (iii) सहायक क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त श्रमिक जैसे - वन, मत्स्य पालन आदि। कृषि श्रमिक बुनियादी रूप से अकुशल और असंगठित होते है और इसके पास जीविकोपार्जन के लिए व्यक्तिगत परिश्रम के अतिरिक्त अन्यसाधन बहुत कम होते है। वे व्यक्ति जिनकी आय का मुख्य स्रोत मेहनत मजदूरी है वे इस श्रेणी में आते है। इनक निम्न दो उप वर्ग हो सकते है।

(i) भूमिहीन कृषि श्रमिक और (ii) बहुत छोटे किसान जिनके पास छोटी और सीमांत जोते होने के कारण जिनकी आय का मुख्य स्रोत मजदूरी पर रोजगार होता है।

तालिका 22.1

1991 के जनगणना के अनुसार लिंग और राज्य /केन्द्र शाति प्रदेशों के आधार पर कार्यशील शक्ति और कृषि श्रमिकों की संख्या

राज्य/ केन्द्र शासित प्रदेश	जनसंख्या (1991)	कार्यशील शक्ति मुख्य श्रमिक 1981	कृषि कार्य में लगे व्यक्ति	पुरूष	स्त्री	योग	कृषि श्रमिक	
							मुख्य श्रमिकों का प्रतिशत कालम3	कृषि कार्य में संलगन व्यक्तियों का प्रति. कालम 4
1	2	3	4	5	6	7	8	9
आन्ध्र प्रदेश	66.51	22.63	15.73	4.11	4.22	8.33	36.81	52.06
आसाम	22.41	-	-	-	-	-	-	-
बिहार	86.73	20.75	16.41	5.42	1.95	7.37	35.52	44.51
गुजरात	44.31	10.98	6.60	1.61	0.88	2.49	22.68	37.73
हरियाणा	16.46	3.66	2.23	0.53	0.06	0.59	16.12	26.46
हिमाचल प्रदेश	5.17	1.47	1.04	0.03	0.01	0.04	2.72	3.85
जम्मू एवं कश्मीर	7.71	1.82	1.10	0.06	*	0.06	3.30	5.45
कर्नाटक	44.98	13.65	8.88	1.94	1.72	3.66	26.81	41.22
मध्य प्रदेश	66.18	20.04	15.27	2.56	2.30	4.86	24.25	31.83
महाराष्ट्र	78.94	24.30	15.01	3.15	3.32	6.47	26.63	43.10
मणिपुर	1.84	0.57	0.39	0.01	0.02	0.03	5.26	7.69
नागालैंड	1.21	0.37	0.27	*	*	*	0.81	1.11
उड़ीसा	31.66	8.64	6.43	1.64	0.76	2.40	27.78	37.33
पंजाब	20.28	4.93	2.86	1.05	0.05	1.09	22.11	38.11
राजस्थान	44.00	10.44	7.20	0.52	0.24	0.76	7.28	10.56
सिक्किम	0.40	0.15	0.09	*	*	*	3.33	5.56
तमिलनाडु	55.86	10.03	11.60	3.18	2.86	6.04	31.74	52.07
त्रिपूरा	2.75	0.61	0.41	0.12	0.03	0.15	21.59	36.59
उत्तर प्रदेश	138.11	32.40	24.14	4.19	0.99	5.18	15.99	21.46
पश्चिमी बंगाल	68.08	15.42	8.48	3.30	0.60	3.89	25.23	45.87
अंडमान नीकोबार	0.28	0.06	0.01	*	*	*	3.33	20.00
अरूणाचल प्रदेश	0.87	0.31	0.23	0.01	*	0.01	3.23	4035
चंडीगढ़	0.64	0.15	*	*	*	*	0.67	33.34
दादर/नगर हवेली	0.14	0.04	0.03	*	*	*	12.50	16.67
दिल्ली	9.42	1.99	0.07	0.01	*	0.02	10.1	28.57
गोवा, डमन, डयू	1.10	0.33	0.09	0.02	0.01	0.03	0.09	33.33
लक्षद्वीप	0.05	0.01	-	-	-	-	-	-
मिजोरम	0.69	0.21	0.15	-	-	0.01	4.76	6.67
मेघालय	1.77	0.58	0.02	0.03	0.02	0.06	10.34	14.29
पांडिचेरी	0.80	0.17	0.07	0.04	0.02	0.06	29.41	71.43
सम्पूर्ण भारत	846.30	22.52	148.03	4.73	20.75	5.50	24.94	37.49

* 0.05 से कम

नोट : (1) अशांत दशाओं के कारण 1981 में असम में जन गणना नहीं हुई थी।

(2) दशमलव की अंतिम संख्याओं को 'राउडिंग आफ' करने के कारण योगों में अंतर आ सकता है।

स्रोत :- भारत की जनगणना, 1981 और 1991

भूमिहीन मजदूर को भी दो बडी श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। ये हैं :-

(अ) कृषक परिवार के साथ स्थायी श्रमिक (ब) आकस्मिक श्रमिक

द्वितीय समूह को पुनः निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है; वे हैं कृषक, बटाईदार और लीज होल्डर्स।

यह एक तथ्य है कि भारत में जनसंख्या क अधिकांश भाग की जीविका का मुख्य स्त्रोत अब भी कृषि ही बना हुआ है। जनसंख्या, कार्यशील जनसंख्या का विस्तृत विवरण सरिणी 22. 1 में दिया हुआ है। 1981 की जनगणना के अनुसार 22.0 करोड कार्यशील व्यक्तियों में से लगभग 14.68 करोड़ व्यक्ति जो कुल के 66.7 प्रतिशत होते हैं कृषि कार्य में संलग्न थे। सारिणी 22.1 जनगणना वर्ष 1981 और 1991 के बारे में कुल जनसंख्या, कुल कार्यशील व्यक्तियों एवं कृषि मजदूरों का सम्मिलित करते हुए कृषि कार्य में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या को व्यक्त करती है।

तालिका 22.2

कुल जनसंख्या, कुल कार्यशील व्यक्ति और कृषि कार्य में संलग्न व्यक्ति
जनगणना वर्ष 1901 से 1981 तक

जनगणना वर्ष	कुल जनसंख्या	कुल कार्यशील व्यक्ति सब व्यवसाय	कृषि कार्य में लगे व्यक्ति			कुल कार्यशील व्यक्तियों से प्रतिशत कालम (3)	प्रतिशत के रूप में कृषि श्रमिक	
			कृषि श्रमिक	कृषक	योग		कुल कार्यशील व्यक्तियों से	कृषि में संलग्न व्यक्तियों से
1901	236.28	110.71	17.26	51.95	69.21 (29.3)	62.52	15.59	24.94
1911	252.12	121.30	24.06	58.47	82.53 (32.7)	68.04	19.84	29.15
1921	251.35	117.75	19.65	61.60	81.25 (32.3)	69.00	16.69	24.18
1931	279.02	120.67	22.11	57.67	79.78 (28.6)	66.12	18.33	27.72
951	356.86	139.42	27.50	69.74	97.24 (27.3)	96.75	19.72	28.28
1961	439.23	188.68	31.52	90.62	131.14 (29.9)	69.50	16.71	24.04
1971	584.16	180.48	47.49	78.27	125.27 (22.9)	69.68	26.31	37.76
1981	665.29	222.52	55.50	92.52	148.02 (22.2)	66.52	24.94	37 49
1991	846.30	-	-	-	-	-	-	

नोट : 1991 की जनगणना से संबन्धित आँकडे विश्लेषण नहीं किये जाने के कारण उपलब्ध नहीं है।

22.3 कृषि/ग्रामीण श्रमिक जांच

भारत सरकार ने अब तक इस प्रकार की चार जाँच करवाई है। प्रथम दो जाँजें जो कृषि श्रमिक जाँचें के नाम से जाना जाती है 1950-51 एवं 1956-57 में कराई गई थी। तीसरी जाँच जो कि ग्रामीण श्रमिक जाँच के नाम से जानी जाती थी, 1963-65 में की गई थी और इसी प्रकार की एक जाँच 1974-75 में की गई थी। अंतिम दो जाँच उन समस्त श्रमिक परिवारों तक बढ़ा दिया गया था (जिसमें कृषि श्रमिक भी शामिल थे) जो देश के ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते थे। तीसरी और चौथी ग्रामीण श्रम जाँच ग्रामीण क्षेत्रों के श्रमिक परिवारों के बारे में अद्यतन सूचना उपलब्ध कराती है। कुल श्रमिकों में कृषि श्रमिकों का स्थान सारिणी 22.2 में दिखाया गया है।

ग्रामीण/कृषि श्रम से संबन्धित इन जाँचो का मुख्य उद्देश्य नीति निर्धारिण के लिए आवश्यक सूचना के रूप में प्रयुक्त करने क लिए कृषि/ग्रामीण श्रमिकों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के बारे में सूचनाये एकत्रित करना और आर्थिक विकास के कार्यक्रम के परिणाम स्वरूप जनसंख्या के इस भाग के सामाजिक और आर्थिक जीवन में आये परिवर्तनों को मापना है।

तालिका 22.3

ग्रामीण श्रमिक परिवारों की अनुमानित संख्या तथा उनका, भूमि सहित और भूमि रहित में वितरण अखिल भारतीय

	कृषि श्रमिक परिवार		समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवार	
	1964-65	1974-75	1964-65	1974-75
1. श्रमिक परिवारों की अनुमानित संख्या (दस लाख में)	15.5	20.7	17.8	24.8
2. ग्रामीण श्रमिक परिवारों का कुल श्रमिक परिवारों से प्रतिशत	21.8	25.3	25.4	30.3
3. कुल ग्रामीण परिवारों से परिवारों का प्रतिशत				
(i) भूमि सहित परिवारों का	37.6	41.1	43.5	48 8
(ii) भूमि रहित परिवारों का	48.1	42.4	56.5	51 2
4. परिवारों को औसत आकार	4.5	4.8	4.5	4.8
5. प्रति श्रमिक परिवार में औसत कमाने वाले	2.1	2.3	2.1	2.3

तालिका 22.3 प्रकट करती है कि 1964-65 वर्ष की तुलना में वर्ष 1974-75 में कृषि श्रमिक परिवारों की संख्या 5.4 मिलियन बढ़ गई। समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवारों में कृषि श्रमिक परिवारों का भाग 80% से अधिक है। तालिका 22.3 से यह भी ज्ञात होता है कि कृषि परिवारों और ग्रामीण श्रमिक परिवारों के संबन्ध में भूमियुक्त परिवारों का अनुपात क्रमशः 3.5 प्रतिशत और 5.3 प्रतिशत बढ़ गया है। दूसरी ओर भूमि रहित कृषक परिवारों और समस्त ग्रामीण

श्रमिक परिवारों का भाग 5% कम हो गया है। सारिणी से यह भी ज्ञात होता है कि पुरानी जाँचों की तुलना में परिवार के औसत आकार में वृद्धि के साथ साथ प्रति श्रम परिवार, कमाने वाले व्यक्तियों की संख्या में ऊपर की ओर बढ़ने की प्रवृति दिखाई देती है।

22.4 कृषि श्रमिकों की मुख्य विशेषताएं

कृषि श्रमिकों की मुख्य विशेषताओं का वर्णन नीचे किया गया है।

1. रोजगार की प्रकृति : सारिणी 22.4 से यह ज्ञात होता है कि 1974-75 के दौरान मजदूरी से रोजगार दिवसों की अनुमानित संख्या में निरंतर गिरावट आई है। जबकि गैर-कृषि कार्यों से श्रमिक द्वारा मजदूरी कमाने के कम अवसर होते हुए भी ग्रामीण श्रमिक परिवारों में अधिकाधिक स्व-रोजगार को अपनाने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह भी ज्ञात होता है कि महिलाओं और बच्चों की तुलना में पुरुषों ने अधिक दिनों कार्य किया है। सारिणी से यह भी ज्ञात होता है कि स्त्री श्रमिकों की तुलना में बालक मजदूरी और भुगतान वाले रोजगार से अधिक दिन लगे रहे।

तालिका 22.4

भारत में/वर्ष में पूर्ण दिवसों के आधार पर कृषि (समस्त ग्रामीण श्रमिक) परिवारों के रोजगार की प्रकृति

	कृषि श्रमिक परिवार				समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवार			
	1964 -65	1974 -75	1977 -78	1983 -P	1964 -65	1974 -75	1977 -78	1983 -P
पुरुष								
(अ) मजदूरी पर रोजगार	242	215	242	167	245	214	242	167
(1) कृषि	217	193	229	159	219	192	229	150
(2) गौर-कृषि	25	22	13	8	26	22	13	8
(ब) स्व-रोजगार	25	28	42	26	25	28	41	26
स्त्री								
(अ) मजदूर पर रोजगार	160	149	194	141	172	147	199	139
(1) कृषि	149	138	186	136	161	136	186	134
(2) गैर कृषि	11	11	8	5	11	11	7	5
(ब) स्व-रोजगार	18	24	27	19	18	25	27	18
बालक								
(अ) मजदूरी पर रोजगार	224	194	252	185	223	193	258	184
(1) कृषि	207	178	243	280	207	177	243	179
(2) गैर-कृषि	17	16	9	5	16	16	10	5
(ब) स्व-रोजगार	22	39	25	16	22	39	25	17

स्रोत : ग्रामीण श्रमिक परिवारों के रोजगार और बेरोजगारी पर ग्रामीण श्रम जाँच के प्रतिवेदन

तालिका 22.5

भारत में कृषि और गैर कृषि कार्यों में [illegible] दैनिक आय (रुपयों में)

कार्य	कृषि श्रमिक परिवार		समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवार	
	1964-65	1974-75	1964-65	1974-75
I समस्त कृषि कार्य				
(i) पुरुष	1.43	3.34	1.41	3.26
(ii) स्त्रियाँ	0.95	2.27	0.80	2.27
(iii) बच्चे	0.72	1.82	0.76	1.82
II गौर-कृषि कार्य				
(i) पुरुष	1.54	3.27	1.88	4.00
(ii) स्त्रियाँ	0.92	2.12	1.18	2.34
(iii) बच्चे	6.74	1.84	0.81	1.84

तालिका 22.5 बताती है कि पूर्व की जाँच की तुलना में 1974-75 के दौरान कृषि और गैर-कृषि कार्यों में लगे समस्त श्रमिकों (पुरुष, महिलायें, बच्चे) का दनिक मौद्रिक आय में तेज वृद्धि हुई है। गत जाँच की तुलना में समस्त कृषि कार्यों में पुरुषों की दैनिक औसत दैनिक आय में 127 प्रतिशत और बच्चों की आय में 153 प्रतिशत वृद्धि हुई है। किन्तु कृषि और गैर-कृषि कार्यों से प्राप्त आय तथा कृषि श्रमिक परिवारों तथा समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवारों की आय में इस अवधि में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। लिंग के आधार पर कृषि श्रमिकों में प्रतिशत परिवर्तन के बारे में सारिणी 22.6 को देखा जा सकता है।

2. परिवारों की ऋण ग्रस्तता : सारिणी 22.7 से यह स्पष्ट है कि ऋण ग्रस्त परिवारों का प्रतिशत 1964-65 में 60.6 से बढ़कर 1974-75 में 66.5 हो गया। समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवारों के लिए यह प्रतिशत 1964-65 के 59.2 की तुलना में 1974-75 में 65.4 था। प्रति ऋणग्रस्त परिवारों में औसत ऋण की दृष्टि से इस अवधि में स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से गंभीर हुई है क्योंकि इस अवधि में कृषि श्रमिकों और समस्त ग्रामीण श्रमिकों के औसत ऋणों में क्रमशः 139 और 141 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि परंपरागत ऋण दाता ही उधार के प्रमुख स्रोत बने हुए थे। ऋण के अन्य महत्वपूर्ण स्रोत नियोजक और दुकानदार है। अधिकांश ऋण उपभोग उद्देश्यों से लिए गये है और ऋणग्रसत परिवारों में उत्पादन के उद्देश्यों से लिये गये ऋणों में वृद्धि न्यूनतम हुई है।

श्रमिक परिवारों में ऋणग्रस्तता (अखिल भारतीय) सारिणी 22.8 में दिखाई गई है।

तालिका 22.6

1971-1981 के दशक में कृषि श्रमिकों की संख्या में लिंग और राज्यों की आधार पर प्रतिशत परिवर्तन

राज्य/केन्द्रशासित प्रदेश	1971 की तुलना में 1981 में कृषि श्रमिकों की संख्या में प्रतिशत परिवर्तन		
	व्यक्ति	पुरुष	स्त्रियाँ
1	2	3	4
आन्ध्र प्रदेश	21.91	15.56	28.70
बिहार	8.24	8.17	8.46
गुजरात	31.78	20.00	37.08
हरियाणा	37.21	31.07	113.70
हिमाचल प्रदेश	(-) 124.51	(-) 115.38	(-) 150.00
कर्नाटक	34.47	12.67	72.12
केरल	0.47	0.25	0.84
जम्मू और कश्मीर	52.38	50.00	100.00
मध्य प्रदेश	19.60	15.04	25.14
महाराष्ट्र	19.97	7.66	34.54
मणिपुर	123.08	22.22	350.00
मेघालय	31.82	30.77	33.33
नागालैंड	(-) 25.00	-	(-) 100.00
उड़ीसा	23.68	5.95	93.86
पंजाब	38.75	34.40	462.50
राजस्थान	2.14	(-) 2.05	12.68
सिक्किम	-	-	-
तमिलनाडु	34.45	12.85	70.83
त्रिपुरा	69.77	51.28	250.00
उत्तर प्रदेश	(-) 5.08	(-) 0.78	(-) 19.79
पश्चिमी बंगाल	18.95	15.24	44.66
अरूणाचल प्रदेश	60.00	100.00	-
चंडीगढ़	-	-	-
दादरा एवं नगर हवेली	(-) 16.67	-	38.33
दिल्ली	6.67	7.69	-
गोआ, डमन और ड्यू	(-) 21.95	(-) 19.05	(-) 25.00
पांडिचेरी	19.37	20.00	18.75
सम्पूर्ण भारत	161.86	9.57	31.48

स्त्रोत : भारत की जनगणना 1981

तालिका 22.7

कृषि ग्रामीण श्रमिक परिवारों में श्रण ग्रस्तता

सूचना का मद	कृषि श्रमिक परिवार				समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवार			
	1964 - 65	1974 - 75	1977 - 78	1983	1964 - 65	1974 - 75	1977 - 78	1983
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1 ऋण ग्रस्त परिवारों का प्रतिशत	60.5	66.4	52.3	51.1	59.2	65.4	50.5	50.4
2 प्रति परिवार औसत ऋण (रुपयों में)	148	387	345	774	148	395	348	806
3 ऋणग्रस्त परिवारों की औसत ऋण (रुपयों में)	244	584	660	1516	251	605	690	1598
(अ) ऋण के स्रोत के अनुसार प्रति ऋण ग्रस्त परिवार औसत ऋण (रुपयों में)								
(i) नियोजक	48	59	46	211	45	58	46	195
(ii) दूकानदार	18	39	44	70	21	44	47	84
(iii) ऋणदाता	75	279	246	282	80	281	253	340
(iv) सहकारी समितियाँ	12	31	57	119	14	34	65	63
(v) बैंक	N.A	21	40	505	N.A	24	25	448
(vi) अन्य	91	155	227	329	91	163	234	368
(ब) उधार के उद्देश्य के अनुसार ग्रस्त परिवारों को औसत ऋण (रुपयों में)								
(i) उत्पादन	29	74	138	628	30	77	141	610
(ii) उपभोग	130	281	293	461	130	284	296	512
(iii) विवाह एवं अन्य उत्सव	59	110	147	222	62	117	158	248
(iv) भूमि क्रय और भवन निर्माण	-	-	-	96	-	-	-	121
(v) अन्य	26	118	82	109	29	127	95	107

स्रोत : ग्रामीण श्रमिक जाँच : ग्रामीण श्रमिक परिवारों की ऋण ग्रस्तता संबन्धी रिपोर्ट

तालिका 22.8

श्रमिक परिवारों में ऋण ग्रस्तता

	कृषि श्रमिक परिवार		समस्त ग्रामीण श्रमिक परिवार	
	1964-65	1975-75	1964-65	1974-75
1	2	3	4	5
1 ऋणग्रस्त परिवारों का प्रतिशत	60.6	66.4	59.2	65.4
2 प्रतिशत श्रमिक परिवार देनदारियाँ (रुपये)	148	387	142	395
3 प्रति ऋणग्रस्त परिवार का औसत ऋण (रुपये)	244	584	251	605

3 रोजगार में मौसमी परिवर्तन

श्रम पर राष्ट्रीय आयोग ने यह भी बताया है कि रोजगार की गहनता मौसम के अनुसार बदलती रहती है। वास्तव में व्यस्त कृषि मौसम में बड़े क्षेत्रों में श्रम की कमी महसूस की जाती है जबकि सुस्त मौसम में श्रम का एक बड़ा अनुपात बेरोजगार या अल्प रोजगार प्राप्त रहता है। फिर भी 1961 से अल्प रोजगार में कमी की प्रवृत्ति बदलती हुई है। किन्तु स्थिति में सुधार की मात्रा समान नहीं रही है। जिन क्षेत्रो में कसानों को नवीन कृषि पद्धतियों का लाभ मिला है वहाँ श्रमिकों कम या ज्यादा मात्रा में पूरे वर्ष काम मिला है। इस संबंन्ध में यह एक स्वागत योग्य संकेत है।

4 अतिरिक्त श्रमशक्ति का कार्य क्षेत्र के अनुसार वितरण

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने यह बताया है कि 1961 और 1976 के बीच के 15 वर्ष की अवधि में गैर-कृषि कार्य शक्ति की वृद्धि की दर 102 प्रतिशत होगी जबकि 1951 और 1961 के बीच की अवधि में यह वृद्धि 36 प्रतिशत रही है। इसका तात्पर्य यह है कि 1961-76 की अवधि में 1951-61 की अवधि की तुलना में गैर कृषि कार्यो में श्रम की प्रयुक्ति की दर लगभग दुगुनी रही है। आयोग ने आगे संकेत दिया है कि अपनी अजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों कीसंख्या 1961 में 116.5 मिलियन से बढ़कर 1976 में 138.6 मिलियन हो जायेगी। इस प्रकार यह वृद्धि 22 मिलियन होगी जो कि बहुत अधिक है। अतः आय के बढ़ते हुए स्तर पर कृषि क्षेत्र में रोजगार देने की समस्या के समाधान के लिए कृषि करने की तकनीक में सुधार के द्वारा गहन कृषि के माध्यम से प्रति एकड और प्रति व्यक्ति उच्चतर उत्पादकता एक पूर्व शर्त होगी।

5 **कार्य के घंटे** :- कृषि श्रमिकों के काम के घन्टो को किसी विधान के द्वारा नियमित नहीं किया गया है। फसल, फसल स्थान, स्थान और मौसम, मौसम के अनुसार काम्र के घंटो में भी परिवर्तन होता है। अन्य शब्दों में भिन्न-भिन्न स्थानों फसलों और मासमों में काम के घन्टे भिन्न-भिन्न होते है। सामान्य रूप से काम का समय सूर्योदय से सूर्यास्त तक रहता है। फिर भी यह बात ध्यान योग्य है कि कृषि श्रमिको के काम का समय अधिक लम्बा नहीं होता है। सामान्य रूप से कृषि श्रमिक प्रतिदिन 2 घन्टो के अवकाश सहित लगभग 8 घन्टे कार्य करते हैं। ऐसे अवसर कम होते है जब कृषि श्रमिक को लंबे समय तक कार्य करना होता है जैसे कटाई के मौसम में। किन्तु इस अवधि में उसे भुगतान भी अच्छा किया जाता है।

6 कृषि श्रमिकों की आवास स्थिति :- कृषि कार्य में संलग्न व्यक्तियों की आवास की दशाये कष्टदायक है और इस संबन्ध में उच्चश्रेणी के गन्दगी की दशाये पाई जाती है। इनके मकान अच्छे बने हुए नहीं होते है और अपने प्रकार के सबसे बुरे होते है। अधिकांश स्थितियों में मनुष्य और पशु एक ही छत के नीचे सोते है। इस प्रकार गन्दगी पूर्ण दशाऐ आवास गृहो की कमी और निम्न जीवन स्तर के कारण कृषि श्रमिक कई रोगों से ग्रस्त हो जाते है जो कि प्रकृति से छूत जन्य होती है।

7 कृषि कार्य में संलग्न व्यक्तियों में संगठन : औद्योगिक श्रमिक श्रम संगठनों में संगठित होकर अपने हितों की रक्षा कर लेते है; किन्तु कृषि श्रमिक अपने आपको संगठित नही कर सकते है क्योंकि वे दूर स्थानों पर रहते है और किसी एक स्थान पर बड़ी संख्या में कार्य नहीं करते है। अतः संगठन के अभाव में औद्योगिक श्रमिकों की तुलना में कृषि श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है। श्री जगजीवन राम ने सुझाव दिया था कि इन श्रमिकों को सहकारी समितियों के माध्यम से संगठित होना चाहिए। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने ठीक ही बताया है कि कृषि के विकास, शिक्षा के विस्तार और राजनैतिक चेतना में वृद्धि के साथ कृषि श्रमिक आने वाले समय में अधिक संगठित होगें। राज्य सरकारों को विशेष उपाय के रूप में ऐसी सुविधायों उपलब्ध करानी चाहिए जो कृषि श्रमिकों के संगठित होने के लिए आवश्यक है।

22.4.1 आधुनिक प्रवृतियां :-

(1) आकस्मिक श्रमिकों का बढ़ता प्रतिशत :- ग्रामीण श्रम शक्ति की संरचना में होने वाले परिवर्तन यह बताते हैं कि भूमिहीनों को अनुपात 1971 में 9.6 प्रतिशत से बढ़कर 1982 में 11.3 प्रतिशत हो गया है। आकस्मिक श्रम की तुना में स्वरोजगार के स्तर में कमी हुई है तथा नियमित मजदूरी पर कार्यरत व्यक्त्यिों का अनुपात लगभग स्थिर रहा है।

तालिका 22.9

रोजगार और लिंग के आधार पर समस्त कार्यरत व्यकित्यों का प्रतिशत वितरण

विवरण	पुरुष			स्त्रियॉं		
	1972 - 73	1977 - 78	1983	1972 - 73	1977 - 78	1983
स्व रोजगार	65.90	62.77	60.40	64.48	62.10	62 21
नियमित वेतन/ मजदूरी पर कार्यरत	12.06	10.57	10.77	4.08	2.84	3.10
आकस्मिक श्रमिक	22.04	26.66	28.83	31.44	35.06	34.69

स्त्रोत : सर्वेक्षण, Vol. IX No. 4, अप्रैल, 1986

आकस्मिक मजदूरी पर कार्यरत श्रम के अनुपात में यह वृद्धि अधिकांश राज्यों 16 में से 11 राज्यों में हुई है। ये प्रवृत्तियॉं प्रति परिवार के जोतों के औसत आकार में गिरावट, ग्रामीण अर्थव्यवस्था के वाणिज्यीकरण और परंमरागत अर्द्ध सामंतवादी प्रणाली के पतन के अपरिहार्य प्रतिमान (Phenomenon) को परिलक्षित करती है। कृषि में समस्त कार्यरत व्यक्तियों का रोजगार और लिंग के आधार पर वितरण सारिणी 22.9 में दर्शाया गया है। जबकि स्वामित्व वाली भमिजोतों के वितरण में कोई महत्वपूण्र परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता है किन्तु तकनीकी

और संगठनात्मक घटकों के कारण छोटे और बड़े जोत धारियों के संबंध में कृषित भूमि में वृद्धि और सीमांत किसानों के संबन्ध में भमि को लीज पर देने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है। इस प्रकार सीमांत जोत वाले बड़ी संख्या में प्रमुख रूप से मजदूरी पर श्रम करने के लिए उपलब्ध होने लगे है।

इस प्रकार समग्र रोजगार संरचना में स्वरोजगार के अनुपात में गिरावट और आकस्मिक श्रम के अनुपात में वृद्धि परिलक्षित होती है। इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादक रोजगार के अवसरो के सृजन पर जोर दिया जा रहा है।

(2) **कार्यशील जनसंख्या की संरचना में परिवर्तन** :- इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य प्रवृत्ति कार्यशक्ति की संरचना में परिवर्तन हुआ है अपितु ग्रामीण क्षेत्रों में भी आश्चर्यमय ढंग से कृषि कार्यो से गैर कृषि कार्यो की ओर स्थानान्तरित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यह तथ्य 1972-73, 1977-78 एवं 1983 में कृषि और गैर-कृषि कार्यों में कार्यरत व्यक्तियों के निम्न प्रतिशत् आंकडो से देखी जा सकती है।

तालिका 22.10

कार्य संरचना में परिवर्तन

विवरण	कृषि		गैर कृषि	
	पुरुष	स्त्रियाँ	पुरुष	स्त्रियाँ
सामान्य हैसियत				
1972 - 73	83.23	89.67	16.77	10.33
1977 - 78	80.6	88.10	19.4	11.9
1983	76.80	86.73	23.20	13.27
प्रचलित दैनिक हैसियत				
1972 - 73	-	-	-	-
1977 - 78	78.15	83.23	21.85	16.77
1983	73.29	79.29	26.71	29.93

स्त्रोत : सर्वेक्षण, वैद्यनाथन एवं अन्य

वाणिज्यीकरण के विस्तार, और अधिक कृषिजन्य समृद्धि ने गैर-कृषि कलापों में वृद्धि का सृजन किया है। जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विविधिकरण हुआ है।

कुछ हालही के अध्ययन यह संकेत देते हैं कि कृषि में प्रविधिक परिवर्तनों ने क्षेत्र और फसलों की गहनता में वृद्धि की है किन्तु साथ ही साथ यह श्रम को विस्थापित करने वाली भी रही है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, राजस्थान और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में परिलक्षित हुई है जहाँ हाल ही के वर्षो में कृषि के रोजगार में बढ़ रहा किन्तु यह तुलनात्मक दृष्टि से धीमी गति से बढ़ रहा है। अतः बढी हुई अतिरिक्त श्रम शक्ति को गैर-कृषि कार्यो में रोजगार की तलाश करनी होगी। कृषि कार्यों की संरचना में हुए परिवर्तन सारिणी 22.10 में दिखाये गये है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान योग्य है कि हाल ही के वर्षो में गैर कृषि रोजगार में महत्वपूर्ण

वृद्धि हुई है जिससे ग्रामीण रोजगार में उल्लेखनीय विविधिकरण हुआ है। उपलब्ध साक्षिया यह तथ्य उजागर करती है कि ग्रामीण निर्माणी उपक्रम अधिक विकसित हो रहे है और इनका झुकाव पारिवारिक से गैर-पारिवारिक की ओ हुआ है जिससे मजदूरी पर श्रमिको के लिए कुछ सीमा तक अवसरों का सृजन किया है।

साथ ही साथ यह भी दृष्टिगत हुआ है कि उच्च कृषि विकास दर वाले क्षेत्रों में ही गैर कृषि क्षेत्र में भी उत्पादकता और आय के सर्वोच्च स्तर रहे है।

अतः यह स्पष्ट है कि तीव्र कृषि विकास की सुविस्तृत प्रक्रिया ग्रामीण अर्थव्यवस्थ में बढ़ती हुई बेकारी की समस्या का मुकाबला करने के लिए प्रमुख उपकरण है।

22.5 ग्रामीण श्रमिकों को संगठित करने की योजनाएं

ग्रामीण श्रमिको की विभिन्न जाँचों और अध्ययनों से यह तथ्य प्रकट होता है कि विभिन्न कानूनी और अन्य सामान्य योजनाओं का लाभ ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिकों तक इसलिए नहीं पहुँचे क्योंकि वे संगठित नहीं होते है इस तथ्य को महसूस करते हुए कि ग्रामीण श्रमिकों द्वारा आर्थिक विकास के सामाजिक लाभ उनके शिक्षित और संगठित होने पर ही उनके लिए सुरक्षित किये जा सकते हैं, ग्रामीण श्रमिकों को संगठित करने के एक योजना को अंतिम रूप दिया गया। यह योजना राज्य सरकारों द्वारा क्रियान्वित की जा रही है और प्रत्येक संगठन को 200 रुपये और 50 रुपये वाहन भत्ता प्रतिमाह दिया जाता है। इन संगठको का कार्य श्रमिकों और काम करने वालों को उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे, में शिक्षित करना, उन्हें संगठन के महत्व का समझना तथा उन्हे अपने आपकी सहकारिताओं, श्रम संगठनों या वांछित अन्य प्रकार के संगठनों के रूप में संगठित होने मे सहायता देना है।

इन ग्रामीण संगठको के कार्य व्यापक है जो निम्न है :-

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने भी यह कहा है कि कृषि श्रमिको को राहत दिलाने में निम्न उपाय कुछ सहायक होंगे।

यह ध्यान देने योग्य है कि सरकार ने भी इन उपायों को अपना लिया है और कृषि श्रमिकों की बेहतरी के लिए अपनाये जाने के लिए योजना प्रस्तावों से घोषित किया है। वे निम्नलिखित है :-

(i) कृषि संरचना में परिवर्तन, जिसमें सहकारी कृषि का विकास और पुर्नस्थापना कार्यक्रम सम्मिलित है।

(ii) औद्योगिक विकास, और विशेष रूप से उद्योगों का छोटे कस्बो और ग्रामीण क्षेत्रों में छितराव।

(iii) न्यूनतम मजदूरी विधान का प्रभावशील क्रियान्वयन

(iv) अनुसूचित जातियों के लिए आवास - स्थानों की व्यवस्था।

(v) कृषि श्रमिक के कल्याण और विकास से विशेष रूप से सम्बन्धित विकास कर्यक्रमों पर नजदीक से निगरानी रखने के लिए सरकार में एक प्रकोष्ठ की स्थापना करना।

(vi) विभिन्न भागों में श्रमिकों के सामने आने वाली विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन

यह सत्य है कि ग्रामीण विद्युतीकरण, उद्योगों का विविधिकरण और छितराव, कृषि आधारित उद्योग का विकास, ग्रामीण और सहायक उद्योगों को प्रोत्साहन, ग्रामीण क्षेत्रों में आधार

भूत संरचना और निर्माण कार्यों पर बढ़ा हुआ परिव्यय, वैज्ञानिक कृषि के साथ साथ लोचशील उत्पादक क्षेत्रों में श्रम गहन तकनीकों का उपयोग ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और गैर कृषि जन्म रोजगार के अवसरों की बढ़ायेंगे और उत्पादकता और आय में वृद्धि करेंगे। इतना सब होते हुए भी कृषि श्रमिकों में बेरोजगारी और निम्न आय स्तर एक गंभीर समस्या बनी रहेगी। इस संदर्भ में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने यह विचार प्रकट किया है कि अंतिम समाधान औद्योगिकरण है जो कृषि विकास के लिए भी आवश्यक है। फिर भी हमारा विश्वास है कि इस दशा के सुधार के लिए कृषि विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए और वर्णित उपायों को कृषि की दशाओं में सुधार के लिए अपनाया जाना चाहिए तथा उन्हे प्रभावशील तरीके से क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

अन्तराष्ट्रीय श्रम संगठन ग्रामीण समुदायों के आय के स्तर और रहने की दशाओं में सधार के लिए बहुत समय से रूचि ले रहा है, विशेष रूप से उन देशों के लिए जो विकास की प्रक्रिया में हैं। भारत जैसे कम विकसित देशों के ग्रामीण क्षेत्रों की महत्वपूर्ण सामाजिक और श्रम संबंधी समस्याओं को हाल ही की समीक्षा में अन्तराष्ट्रीय श्रम संगठन इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि ये समस्याये मुख्य रूप से भूमि और श्रम की उत्पादकता के निम्न स्तर तथा बेरोजगारी और न्यून रोजगार के इर्द गिर्द केन्द्रित है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य, पोषाहार, आवास, शिक्षा आदि संबन्धी रहने की दशायें अपरिहार्य स्तर पर है। अतः यह आवश्यक है कि कृषि तकनीक, व्यवसायिक प्रशिक्षण, सहकारिताओं के विकास, दस्तकारियों और लघुउद्योगों के विकास, मजदूरी प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिए श्रमिक कानून और सामाजिक संरक्षण, सामाजिक सुधार और कृषि तथा भूमि सुधार कार्यक्रमों सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में सुधार जितनी जल्दी हो उतनी जल्दी सुधार के लिए आवयक कदम उठाये जाने चाहिए।

22.6 सारांश

कृषि श्रमिक कृषि के साथ-साथ गांवों में उपलब्ध कोई भी मजदूरी कार्य करता है। ये लोग छोटे किसान हो सकते हैं परन्तु इनके पास इतनी भूमि नहीं होती कि इन्हें वर्ष भर रोजगार उपलब्ध करवा सके। अतः ऐसे लोग खेती के साथ-साथ अपना श्रम बेचते है। इसके आलावा कुछ व्यक्ति ऐसे हो सकते है जिनके पास स्वयं की कृषि भूमि नहीं होती। ऐसे व्यक्ति दूसरों की कृषि भूमि बटाई पर प्राप्त करते हैं एवं पूर्व निश्चित दरों पर उपज का भाग प्राप्त करते हैं। कुछ व्यक्ति कृषि श्रमिक एकरूप संगठित श्रमिक नहीं है इनके आर्थिक स्तर, सामाजिक स्तर भिन्न-भिन्न है। यही कारण है कई वर्षो तक यह वर्ग असंगठित व शोषित रहा है। भारत में इन श्रमिकों की सही तस्वीर जानने के लिए कृषि श्रमिक जॉच व ग्रामीण श्रमिक जाँच आयोग स्थापित किए गए है। इन आयोगों ने जो आँकड़े एकत्रित किए उनके आधार पर कृषि श्रम की जो विभिन्न समस्याए एवं विशेषताएं उभर के सामने आयी है उनमें अस्थिर रोजगार, ऋणग्रस्तता, अधिक कार्य के घण्टे, गन्दे आवास आदि प्रमुख है। ग्रामीण श्रमिकों में वर्तमान में आकस्मिक कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या बढ़ रही है। इन श्रमिकों की संरचना में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आ रहे हैं। कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए संगठित ठोस प्रयास करने की जरूरत है।

22.7 शब्दावली

कृषि श्रमिक - Agricultural Labour

ग्रामीण श्रमिक - Rural Labour

ऋणग्रस्तता - Indebtedness

आकस्मिक रोजगार - Casual Labour

स्थायी रोजगार - Permanent Labour

बंधुआ श्रमिक - Bonded Labour

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

. Govt. of India - Rural labour Enguiry Reports.

. जे.पी. सिन्हा - श्रम अर्थशास्त्र

. C.B. Memoria - Labour Problems and Social welfare in India.

22.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में कृषि श्रमिकों की दशा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए गठित विभिन्न जाँच आयोगों द्वारा उजागर इनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. कृषि श्रमिक कौन होता है? क्या यह एक समरूप संगठित समूह है? हाल के वर्षों में इनकी दशाओं में क्या परिवर्तन हुए हैं?

इकाई 23

श्रम संघवाद
(Trade Unionism)

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 श्रम संघ की परिभाषा

23.3 श्रम संघ के प्रकार

23.4 श्रम के उद्देश्य

23.5 श्रम संघ के कार्य

23.6 भारत में श्रम संघ का उद्गम एवं विकास

23.6.1 सुदृढ़ व सफल श्रमिक संघ की विशेषताएं

23.7 श्रम संघ की वित्त व्यवस्था

23.8 श्रम संघ के लाभ

23.9 श्रम संघ से हानि

23.10 भारत में श्रम संघ आन्दोलन की कमियां

23.11 भारत में श्रम संघों को सुदृढ़ करने के उपाय

23.12 उचित पारितोषण निर्धारणतायें एवं संघों का महत्व

23.13 सारांश

23.14 निबन्धात्मक प्रश्न

23.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.0 उद्देश्य

श्रम उत्पादन का एक आवश्यक परन्तु निर्बल साधन है। व्यक्तिगत रूप से श्रमिक अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकता है परन्तु सामूहिक रूप से वह उद्योगपति से सौदेबाजी कर सकता है। अतः श्रम संघों का उद्देश्य श्रमिकों में एकता स्थापित करना हैं। हम यहां पर श्रम संघ का अर्थ, प्रकार, कार्य, महत्व, लाभ हानि, भारत में श्रमिक संघों का उद्भव व विकास, श्रमिक संघ आन्दोलन की कमिया और उसे सुदृढ़ करने के उपाय तथा श्रमिक संघों के कार्यों का मूल्यांकन करेंगे जिससे श्रम संघ के बारे में विस्तृत जानकारी मिल सकें।

23.1 प्रस्तावना

श्रम संघ श्रमिकों का एक ऐसा ऐच्छिक संगठन है जो उद्योगपतियों के शोषण से बचने तथा श्रमिकों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा के उद्देश्य से संगठित किया जाता है। इसकी कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :—

23.2 श्रम संघ की परिभाषा

(क) वी० वी० गिरि के अनुसार – "श्रमिक संघ श्रमिकों के ऐच्छिक रूप से निर्मित संगठन हैं, जो अपने हितों की उन्नति एवं रक्षा सामूहिक शक्ति के आधार पर करने के लिए बने हैं।"

(ख) सिडनी एवं वैट्रिस बैब के मतानुसार – "श्रमिक संघ मजदूरी वर्जित करने वाले श्रमिकों का एक निरन्तर संघ है। जिसका उद्देश्य कार्यदशाओं के स्तर को सुधारना एवं उसमें उन्नति करना है।"

(ग) आर० लेस्टर के शब्दों में – *श्रमिक संघ कर्मचारियों का एक ऐसा संगठन है जिसके निर्माण का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के रोजगार की दशाओं को बनाये रखना या उसमें सुधार करना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि श्रम संघ श्रमिकों का एक संगठन है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है तथा जिसके बनाने का उद्देश्य अपने हितों की रक्षा करना और कर्मचारियों के स्तर एवं रोजगार की दशाओं में सुधार लाना है।

कुछ लोगों का मत है कि श्रमिक संघ एक "लड़ाक़ा संगठन" है जो कि सदैव औद्योगिक लड़ाई के लिए तैयार रहता है परन्तु उनकी यह धारणा असत्य है। वास्तव में श्रमिक संघ औद्योगिक अशान्ति के नहीं अपितु सामाजिक प्रगति के प्रतीक हैं। श्रमिक संघ तो जनता और सदस्यों की सेवार्थ व उनके सामान्य कल्याण के लिए एक भ्रातृत्व संगठन है।

23.3 श्रम संघ के प्रकार

श्रम संघ के निम्न प्रकार हैं :—

(क) दस्तकार संघ – दस्तकार संघ श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जिसमें एक विशिष्ट पेशे में या किसी एक प्रकार के ट्रेड में या मिलते जुलते संबंधित ट्रेड में व्यक्ति अपना संगठन बना लें जैसे — किसी विशिष्ट स्थान पर बुनकरों का संघ।

(ख) उद्योग संघ – एक उद्योग की विभिन्न इकाईयों में श्रमिक जब एक संघ में संगठित हो जाते हैं तो वह उद्योग संघ बन जाता है जैसे - कपड़ा उद्योग श्रमिको का संघ।

(ग) फेडरेशन – विभिन्न श्रम संघों का संगठित रूप है वे अपने कार्यकलापों के अनुसार स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय हो सकते हैं जैसे - अखिल भारतीय रेल कर्मचारी संघ, भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस आदि।

23.4 श्रमिक संघ के उद्देश्य

श्रमिक संघ के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य है —

1. श्रमिकों में परस्पर बन्धुत्व की भावना में वृद्धि करना एवं उनको संगठित करके उनमें मित्रता और सहयोग की भावना का विकास करना है।
2. श्रमिकों के कार्य, मजदूरी एवं क्षमता पर विचार करना तथा उनमें उत्पन्न कठिनाइयों को वैधानिक रूप से दूर करने का प्रयत्न करना।
3. श्रमिकों और सेवायोजनकों में सहयोग की भावना उत्पन्न करके उनमें सुदृढ़ संबंध स्थापित करना।
4. अपने सदस्यों की बीमारी तथा अन्य मुसीबत के लिए कोष रखना।

5. रोजगार बीमा. प्रेवीडेन्ट फण्ड, सहकारी साख, डाक्टरी मदद आदि लाभदायक योजनाओं की व्यवस्था करना।

6. उद्योग के प्रबन्ध में श्रमिकों को भागीदार बनाने का प्रयास करना तथा लाभांश में भागीदार बनाना।

7. हड़ताल की घोषणा, उसको संगठित करना तथा उसको चलाना और सेवायोजकों से सम्पर्क स्थापित करके संघर्ष शान्तिपूर्वक सुलझाने का प्रयास करना।

8. आवश्यकता पड़ने पर कानूनी सहायता देना।

9. अन्य ऐसे कार्य करना जो श्रमिकों तथा उसके आश्रितों के सामाजिक, आर्थिक एवं शिक्षा संबंधी दशाओं में सुधार के लिए हो।

सारांश यह है कि श्रमिक संघ का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति करना है और अनत तक उसी के लिए प्रयत्न करते रहना है।

राष्ट्रीय श्रम आयोग 1969 की रिपोर्ट के अनुसार — श्रम संघ के उद्देश्य निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

1. समाज के प्रति सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना जागृत करना।

2. राष्ट्रीय एकीकरण को प्रोत्साहित करना।

3. श्रमिकों हेतु सांस्कृतिक मनोरंजन एवं शैक्षणिक सुविधाओं की व्यवस्था करना।

4. पदोन्नति एवं प्रशिक्षण के अवसरों का विस्तार करना।

5. सेवा करने की दशाओं में सुधार करना।

6. सेवा अवधि को सुरक्षित रखना तथा सेवा दशाओं में सुधार करना।

7. श्रमिकों में सामान्य ज्ञान बढ़ाकर तकनीकी विकास संबंधी सुविधाएं देना।

8. श्रमिकों को उचित मजदूरी उपलब्ध कराना।

9. उत्पादन, उत्पादकता एवं अनुशासन की वृद्धि हेतु सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

10. नीति निर्धारण में सक्रिय भाग लेकर सामाजिक व आर्थिक नीतियों को प्रभावित करना।

23.5 श्रम संघों के कार्य

श्रम संघ के कार्यों को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। जो निम्नलिखित है :—

(क) रोजगार से संबंधित गतिविधियां

श्रमिकों के रोजगार को उत्तम बनाने की दृष्टि से संबंधित गतिविधिया इस शीर्षक के अर्न्तगत आती है। इन गतिविधियों का उद्देश्य श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी दिलाना, उनके लिए उत्तम कार्य की दशाएं एवं रोजगार प्राप्त करना, कार्य में घण्टों में कमी करना, सेवायोजकों से उचित एवं सुन्दर व्यवहार प्राप्त करना तथा लाभ में से कुछ भाग प्राप्त करना आदि सम्मिलित है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए श्रमिक संघ सामूहिक रूप से सौदेबाजी करते हैं और अस्वीकृति की दशा में हड़ताल एवं असहयोग करते हैं।

(ख) सामान्य जीवन से संबंधित गतिविधियां

इसके अन्तर्गत श्रमिक की वे गतिविधियां सम्मिलित हैं जो उसकी आवश्यकताओं के समय

उनको सहायता प्रदान करती है और उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि करती है। श्रमिक संघ अपने सदस्यों में परस्पर सहयोग एवं मित्रता की भावना का विकास और शिक्षा और सहायता प्रदान करते हैं। बेरोजगारी हड़ताल आदि के समय उनकी सहायता प्रदान करते है। यदि आवश्यकता पड़ती है तो उनको वैधानिक परामर्श भी प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त वे श्रमिकों के लिए कल्याण कार्य जैसे - शिक्षा के लिए स्कूलों का प्रबन्ध पुस्तकालय वाचनालय तथा मनोरंजन आदि का प्रबंधन किया जाता है। ये श्रमिक संघ श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था की योजनाएं भी चलाते हैं। सस्ते ऋण एवं सस्ती दरों पर आनाज प्राप्ति की भी सुविधा प्रदान करते हैं। श्रमिकों के लिए पत्रिका व समाचार पत्र का प्रकाशन भी करते हैं। इस प्रकार से श्रमिक संघ वे समान कार्य करते हैं जिनसे कि श्रमिकों का जीवन स्तर उच्च बनाकर उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि की जा सकें।

(ग) राजनीतिक कार्य

जैसे सदस्यों को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति जाग्रत करना, स्वतन्त्रता व समानता की भावना का विकास करना, आम चुनावों में भाग लेकर अपने प्रतिनिधि असेम्बली में भेजना, राजनीति में प्रत्यक्ष भाग लेकर श्रमिकों के लिए आवश्यक कानून बनवाना और यदि अवसर मिल जाये तो श्रमिकों की सरकार बनाना।

23.6 भारत में श्रमिक संघों का उद्गम एवं विकास

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन का इतिहास एक शताब्दी से भी अधिक पुराना है। भारत में भी अन्य देशों की ही भाति श्रम संघों का प्रारम्भ औद्योगिकीकरण के कारण हुआ। कारखाना प्रणाली ने कई प्रकार की बुराईयों को जन्म दिया खराब कार्य दशाओं में बच्चों और स्त्रियों के कम मजदूरी देकर ज्यादा घण्टे काम लेना आम बात हो गयी; 1875 में बम्बई में कुछ परोपकारी एवं समाज सुधारक व्यक्तियों ने श्री शोराब जी शापुर जी के नेतृत्व में एक आन्दोलन बम्बई के कारखानों की खराब कार्य दशाओं को सुधारने आवश्यक कानून बनाने एवं सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप 1875 में एक कारखाना आयोग बनाया गया तथा बाद में 1881 में पहला कारखाना अधिनियम बनाया गया।

भारत में श्रमिकों के वास्तविक संगठन की प्रथम नीव 1884 में पड़ी जब श्री एन० एस० लोखण्डे ने बम्बई के श्रमिकों की एक सभा बुलाई और अपनी मांगों के अनेक प्रस्ताव पास किये जैसे साप्ताहिक अवकाश का होना कार्य के बीच आधा घंटे का अवकाश, मासिक मजदूरी का नियमित रूप से भुगतान, दुर्घटना की दशा में क्षतिपूर्ति करना आदि। इन भागों से संबंधित एक स्मरण पत्र कारखाना आयोग के पास भी भेजा गया। आयोग ने श्रमिकों की उचित मांगों को स्वीकार भी कर लिया परन्तु तत्कालीन भारत सरकार उसे क्रियान्वित नहीं कर सकी। 1890 में बम्बई मिल मजदूर संघ की स्थापना हुई यह देश के श्रमिकों का पहला संगठन था इसके बाद श्रमिकों के संगठन बनने प्रारम्भ हुए जैसे 1897 में यूनियन, कलकत्ता, 1005 में पोस्टल यूनियन आदि। प्रथम महायुद्ध काल तक श्रम संघ आन्दोलन अत्यन्त धीमी गति से बढ़ा।

प्रथम महायुद्ध के बाद के समय में औद्योगिक श्रमिकों में जागृति आ गई। युद्ध से लौटे हुए सैनिकों ने अन्य देशों के श्रमिकों की अच्छी दशाओं का वर्णन किया। रूसी क्रांति से भी अन्य देशों में एक क्रांति की लहर पैदा हो गयी जिसका प्रभाव भारतीय श्रमिकों पर भी पड़ा इसी समय हमारे कुछ राजनैतिक नेताओं ने भी श्रमिकों के संगठन में रूचि दिखायी। लोक मान्य तिलक, ऐनीवेसेंट और महात्मा गांधी ने जो आन्दोलन चलाये उनसे भारतीय श्रमिक संघ आन्दोलन को प्रेरणा व बल मिला। 1920 में एक अखिल भारतीय संस्था आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस गठन किया गया।

भारत में पहला श्रमिक संघ अधिनियम 1926 में पास हुआ जिसे 1 जून 1927 से लागू किया। इससे श्रमिक संघों की स्थिति वैधानिक हो गयी। 1929 में आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का विघटन हो गया और नया संघ आल इण्डिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन के नाम से बनाया गया जिसका नाम बाद में नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन कर दिया गया लेकिन आगे चलकर 1938 में इसको भंग करके आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में मिला दिया गया मई 1947 में भारतीय राष्ट्रीय श्रम संघ कांग्रेस की स्थापना की गई।

15 अगस्त 1947 को हमारा देश आज़ाद हुआ देश में नवीन राजनीतिक पार्टिया बनने लगी। देश में समाजवादी पार्टी के गठन के बाद दिसम्बर 1948 में एक तीसरा श्रमिक संगठन हिन्दू मजदूर सभा के नाम से बनाया गया। 1947 में यूनाईटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। इन चारों केन्द्रीय संगठनों के अतिरिक्त 1955 में जनसंघ पार्टी के भारतीय मजदूर संघ की स्थापना की। 1959 में हिन्दू मजदूर पंचायत, 1962 में दी फेडरेशन आफ फ्री ट्रेड यूनियन्स की स्थापना हुई। कुछ विशिष्ट श्रम संगठन जैसे - अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ, नेशलन फेडरेशन आफ रेलवे मैन अखिल भारतीय बन्दरगाह कर्मचारी संघ डाक व तार विभाग के कर्मचारियों का राष्ट्रीय फेडरेशन आदि आदि।

भारत में श्रम संघ आन्दोलन की प्रगति श्रम संघों की सदस्यता से लगायी जा सकती है। 1927-28 में पंजीकृत श्रम संघ 29 व सदस्यों की संख्या। लाख थी जो क्रमशः 195-336 में 236 व 2.7 लाख 1951-52 में 4620 व 20 लाख जो वर्तमान में 55000 व सदस्य संख्या 70 लाख है।

23.6.1 सुदृढ़ व सफल श्रम संघ की विशेषताएं – सफल श्रमसंघों की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं –

1. शिक्षित सदस्य

एक सफल व दृढ़ श्रम संघ के लिए सबसे आवश्यक तत्व यह है कि उसके सदस्य सुशिक्षित हो तथा अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो। शिक्षा से हमारा तात्पर्य अक्षर ज्ञान से नहीं वरन् तात्पर्य है श्रमिकों में चेतना होनी चाहिए। यदि जागरूकता के साथ शिक्षा भी है तो सोने में सुहागे की बात होगी।

2. सदस्यता

श्रमिकसंघ की सफलता के लिए आवश्यक है कि उसमें अधिक से अधिक सदस्य श्रम संघ से जुड़े हो और स्वतन्त्र रूप से विचारों का आदान प्रदान करें।

3. प्रजातांत्रिक आधार

श्रमिक संघ प्रजातांत्रिक आधारों पर संगठित किये जाने चाहिए। संघ का प्रति वर्ष चुनाव होना चाहिए। चुनाव गुप्त रूप से होना चाहिए। तथा प्रत्येक सदस्य को इसमें मत देने का अधिकार होना चाहिए।

4. नियमित चन्दा

श्रमिक संघ के प्रत्येक सदस्य को नियमित रूप से समय पर अपना निर्धारित चन्दा अवश्य जमा करना चाहिए। इससे एक ओर श्रम संघ आर्थिक रूप से मजबूत बनेगा तथा दूसरी ओर श्रमिकों में भी जागृति आयेगी।

5. श्रम नेता श्रमिकों का ही हो

श्रमिक संघ का नेता श्रमिक वर्ग में से ही कोई व्यक्ति होना चाहिए। क्योंकि ऐसा व्यक्ति

ही श्रमिकों की समस्याओं को अच्छी तरह समझ सकता है। तथा उसके समाधान के लिए सहृदय से कार्य करता है। बाहरी व्यक्ति न तो श्रमिकें की वास्तविक समस्याओं से परिचित होते है और न ही श्रमिकों के वास्तविक मित्र होते हैं। वे कभी-कभी किसी दबाव या किसी स्वार्थवश ऐसे समझौते कर बैठते हैं जिनसे श्रमिकों में और असन्तोष होता है और श्रम संघ के प्रति उनके विश्वास को ठेस पहुंचाती है।

6. बाहरी राजनीतिज्ञों के प्रभाव से परे होना

सामान्यतया पेशेवर राजनीतिज्ञ श्रम संघ के नेताओं को कुछ लालच देकर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उनका उपयोग करते हैं जिससे श्रम संघ में भी दलगत राजनीति प्रवेश कर जाती है। फुट डालो और राज करो की नीति का अनुपालन करके प्रबन्धक भी अपनी मनमानी करने लगते हैं। एक शक्तिशाली श्रम संघ के लिए बाहरी राजनीतिज्ञों के प्रभाव से बचकर रहना आवश्यक है।

7. रचनात्मक नीति

श्रम संघों की नीति विध्वंसात्मक न होकर निर्माणात्मक तथा रचनात्मक होनी चाहिए। समस्याओं का निदान मिल बैठकर किया जाये। उचित मांगो को मंगवाने के लिए सकारात्मक उपाय अपनाये जाएं तथा हड़ताल और काम बन्दी का तरीका अन्तिम हथियार के रूप में ही अपनाया जाए।

8. सामूहिक कल्याण की भावना

श्रम संघ के पदाधिकारियों में सामूहिक कल्याण की भावना होना बहुत जरूरी है। सदस्यों के हित में सर्वोपरि मानते हुए ही उन्हें मालिकों से समझौते करने चाहिए और सामूहिक हित संबंधी मांगों को मनवाने में भी बढ़ चढ़कर काम करना चाहिए। इससे श्रमिकों का श्रम संघ में उसके पदाधिकारियों में विश्वास बढ़ेगा और श्रम संघ के सदस्यों में एकता बनी रहेगी।

9. नियोजकों से संबन्ध

एक अच्छे श्रमिक संघ की विशेषता यह भी है कि उसे नियोजकों एवं राज्य से मान्यता प्राप्त होनी तथा किसी भी श्रमिक और नियोजकों एवं राज्य संघर्ष को इसके द्वारा सुलझाया जाना चाहिए एक शक्तिशाली श्रमिक संघ के लिए आवश्यक है कि नियोजकों का उसके पत्र व्यवहार सुन्दर होना चाहिए तथा सरकार को भी उदारता के साथ श्रमिक संघ की मांगों को सुनना चाहिए और मध्यस्थ समस्याओं का निराकरण करने में सहयोग देना चाहिए।

23.7 वित्त व्यवस्था

कोई संस्था बिना वित्त व्यवस्था के अधिक समय तक नहीं चल सकती है। अतः, श्रम संघों को सुदृढ़ बनाने के लिए आन्तरिक व बाहरी साधनों से इनकी वित्त की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। श्रम संघ के प्रत्येक सदस्य से नियमित रूप से चन्दा जमा होने से एक कोष बन जायेगा इसके अतिरिक्त आकस्मिक परिस्थितियों में विशेष कोष बनाया जाता है। जिसमें नियमित चन्दे के अतिरिक्त धन जमा किया जाता है। श्रम संघ के सदस्य प्रदर्शनी, दीवाली मेला, दुर्गा पूजा आदि विशेष आयोजन की धनराशि को भी श्रमसंघ की आय को बढ़ाने के लिए कार्य करते है श्रम संघ के नेता जहां कहीं से भी धन दान स्वरूप मिल पाता है एकत्रित करते हैं। इसके अतिरिक्त मजदूर संघों के लिए हड़ताल बिधि कायम करना अत्यन्त आवश्यक है। निर्धन होने के कारण श्रमिक काफी दिनों तक काम न करने के लिए तैयार नहीं होते। इसलिए जो हड़ताल लम्बी हो जाती है वह साधारणतया असफल हो जाती है इस कारण यह आवश्यक है कि मजदूर संघ हड़ताल विधि में से श्रमिकों को हड़ताल वेतन के रूप में निर्वाह के लिए राशि दें। इससे

मजदूर संघों की शक्ति बहुत बढ़ जायेगी और दूसरी ओर वे अपने सदस्यों से अधिक वफादारी की आशा कर सकते हैं।

23.8 श्रम संघ के लाभ

श्रमिक संघ के बहुआयामी कार्यकलापों के माध्यम से श्रमिकों को बहुत से लाभ मिलते हैं।

1. परस्पर बन्धुत्व की भावना में वृद्धि

श्रमिक संघों से श्रमिकों में परस्पर बन्धुत्व की भावना में वृद्धि एवं मित्रता और सहयोग की भावना का विकास होता है। फलतः श्रमिकों की नियोजकों से सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है और इस प्रकार वे शक्तिशाली होते हुए भी श्रमिकों का शोषण नहीं कर पाते।

2. जीवन स्तर एवं कार्य क्षमता में वृद्धि

श्रमिक संगठन श्रमिकों की शारीरिक, मानसिक सामाजिक एवं आर्थिक दशा को सुधारने का सदैव प्रयत्न करते हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप श्रमिकों के रहन सहन का स्तर ऊँचा होता है एवं उनकी कार्य क्षमता बढ़ती है।

3. उचित पारितोषिक

श्रमिक संघ श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए संघर्ष करता है। श्रमिकों को उचित मजदूरी दिलाने का प्रयत्न करता है और जब श्रमिकों को उचित पुरस्कार प्राप्त होता है तो वे मन लगाकर कार्य करते हैं जिससे उत्पादन भी अधिक होता है।

4. आत्म सम्मान की भावना

श्रमिक संघ श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं, रोजगार व मजदूरी की दशाओं में सुधार करते हैं जिसके फलस्वरूप श्रमिकों की कार्य क्षमता में वृद्धि हो जाती है उनमें आत्म विश्वास और आत्म सम्मान की भावना जागृत हो जाती है।

5. शिक्षा और अनुशासन

श्रमिक संघ श्रमिकों में शिक्षा प्रचार के साथ साथ उन्हें अनुशासन में रहने की प्रेरणा भी देते हैं जिससे केवल श्रमिकों को ही नहीं अपितु समस्त देश को लाभ प्राप्त होता है।

6. औद्योगिक शान्ति

यदि श्रमिक संघ शक्तिशाली होते है तो औद्योगिक शान्ति भी प्राप्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है और देश में उन्नति होती है।

7. कल्याण कार्य की व्यवस्था

श्रमिक संगठन श्रमिकों के लिए कल्याण कार्य की व्यवस्था भी करते है जिससे उनका मानसिक दृष्टिकोण विकसित होता है।

8. आदर्श श्रम सन्नियम के निर्माण में सहयोग

राजनीतिक क्षेत्र में श्रम संघ लोक सभा में अपने प्रतिनिधि भेजकर सरकार तक श्रमिकों की आवाज पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। परिणामस्वरूप सरकार भी सन्नियम बनाकर श्रमिकों को सुविधाएं देने का प्रयत्न करती है जिससे उनका जीवन उन्नत हो और वे देश के आदर्श नागरिक बन सकें।

23.9 श्रमिक संघ से हानि

इतने लाभ होते हुए भी श्रमिक संगठन से कुछ हानियां भी है जो इस प्रकार है :—

1. औद्योगिक अशांति की आशंका

प्रायः श्रमिक संघों के नेता अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए श्रमिकों को भड़का कर उनको हड़ताल के लिए प्रेरित करते हैं। फलतः औद्योगिक अशान्ति उत्पन्न होती है और इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादन को भी क्षति पहुंचती है। श्रम और पूंजी में वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है और उनके बीच दूरी अधिक होती जाती है।

2. आधुनिकीकरण का विरोध

श्रमिक संघ मजदूरों की छटनी के भय से नवीनतम टैक्नोलोजी व आधुनिक मशीनों का विरोध करते हैं जिससे औद्योगिक प्रगति में बाधा उपस्थित होती है और राष्ट्रीय लाभांश कम हो जाता है।

3. स्वार्थी नेता

श्रम संघ के नेता अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर सरकार से और मालिकों से ऐसे समझौते कर लेते है जो उनके अपने को हित में होते है परन्तु उनसे श्रमिकों को विशेष लाभ नहीं होता इस कारण श्रम आन्दोलन की जड़े कमजोर होने लगती हैं।

4. साम्यवाद की प्रेरणा

श्रम संघ से साम्यवाद एवं समाजवाद को अधिक बढ़ावा प्राप्त होता है।

वास्तव में श्रमिक संघों के अन्दर जो भी कमिया या दोष उत्पन्न हो जाते है वे उनके स्वयं में न होकर उनके नेताओं की स्वार्थता के कारण उत्पन्न होते हैं अतः श्रमिक समाज और देश कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि श्रमिक संघ स्वास्थ आधारों पर विकसित हो तथा उसके नेता श्रमिकों में से ही हो, जो कि श्रमिकों के कल्याण को अपना कल्याण समझे।

23.10 भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन की कमियां

वी० वी० गिरी के अनुसार भारतीय मजदूरी संघ आन्दोलन के तीन मुख्य दोष हैं — (क) छोटे-छोटे मजदूरों संघों की प्रेधानता लगभग तीन चौथाई मजदूर संघों की सदस्यता 500 से भी कम है, (ख) मजदूर संघों क्र आकार छेद छोटा होने तथा बहुत थोड़ा चन्दा होने के कारण उनके पास वित्त का अभाव, (ग) पूर्ण रूप से वैतनिक अधिकारियों की कमी।

भारत में श्रमिक संघों के विकास में कुछ और भी बाधक तत्व है।

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन की कमियां या कठिनाइयां

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन का काफी विकास हुआ है लेकिन भारत की श्रमिक संख्या को देखते हुए यह कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर पाये है। श्रमिक संघों के विकास में कुछ बाते बाधाएं उत्पन्न करती है। इन्हीं बाधाओं को इनकी कमिया या कठिनाईयां भी कहते हैं, जो कि निम्नलिखित हैं —

1. वित्तीय साधनों का अभाव

भारतीय श्रम-संघों के विकास में प्रमुख कठिनाईयां या बाधा वित्तीय साधनों का अभाव है। इस संघों की सदस्यता सीमित होने तथा मजदूरी की दरें निम्न होने के कारण इनके वित्तीय साधन सीमित होते हैं। अतः यह अपने सदस्यों को उचित सुविधाएं देने में असमर्थ रहते हैं तथा इनका संगठनात्मक कार्य भी वित्तीय कठिनायों के कारण अधिक विकसित नहीं हो पाता है।

2. सीमित सदस्यता

श्रम संघों की दूसरी कमी इनके सदस्यों की संख्या सीमित होना है। श्रमिक संघों की सदस्यता के बारे में अनुमान लगाया गया है कि लगभग 50 प्रतिशत श्रमिक ही इनके सदस्य होते हैं। श्रमिक संघ बहुत से सदस्यों का नाम सदस्य रजिस्टर से चन्दा न देने पर भी नहीं काटते हैं। इस प्रकार इनके अधिकांश सदस्य नाम मात्र के ही होते हैं। हां, लोहा एवं इस्पात उद्योग में श्रमिक संघों की सदस्यता सन्तोषजनक है। वहाँ 72 प्रतिशत श्रमिक इनमें सम्मिलित हैं।

3. एकता का अभाव

श्रमिक वर्ग में विभिन्न जाति, धर्म, भाषा विचारधारा एवं रीति रिवाज के व्यक्ति होते हैं जो सामान्यतया अपने ही वर्ग में घुल-मिल कर रहने की प्रवृत्ति के आदी होते हैं। उन्हें अन्य वर्गों के साथ मिलकर कार्य करने में अच्छा नहीं लगात है। साथ ही उद्योगपति भी इस प्रवृत्ति का लाभ उठाकर उनमें फूट डालने का प्रयास करते हैं। इस सभी सामूहिक प्रभाव यह होता है कि श्रमिक संघ अपनी क्रियाओं का विकास नहीं कर पाते हैं और उन्हें इसमें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

4. प्रवासी प्रवृत्ति

श्रमिक संघों के विकास में एक बाधा श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति भी है। श्रमिक कुछ समय कार्य करने के पश्चात् अपने गांव चले जाते हैं और जब गांव में उनके लिए कोई कार्य नहीं होता है तो फिर वे लौटकर मजदूरी के लिए शहर में आ जाते हैं। इस प्रकार वे कभी भी अपने संघ के वफादार एवं सक्रिय सदस्य नहीं हो पाते हैं साथ ही जब हड़ताल या तालाबन्दी हो जाती है तो वे फिर गांव चले जाते है। इससे श्रमिक आन्दोलन विफल हो जाते हैं।

5. एक ही उद्योग में अनेक संघ

भारत में यह सामान्य बात पायी जाती है कि एक ही उद्योग में अनेक श्रमिक संघ बन जाते हैं (स्टील अथारिटी आफ इण्डिया में 124 यूनियन व हैवी इन्जीनियरिग कारपोरेशन में 79, आदि) जिसका परिणाम यह होता है कि संघों की शक्ति बंट जाती है और वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह पाते हैं। इनकी सौदेबाजी की क्षमता कम हो जाती है तथा वे पारस्परिक लाभ की योजनाओं को चलाने में भी असमर्थ रहते हैं। इन संघों में सदस्यता के लिए भी आपस में खींचातानी बनी रहती है। इन सब बातों के कारण श्रमिकों में एकता नहीं रहती है। उनकी शक्ति, समय तथा धन का अपव्यय होता है।

6. बाहरी नेतृत्व

भारतीय श्रमिक आन्दोलन की एक कमी यह है कि कभी-कभी यह लोग अपने व्यक्ति राजनीतिक लाभ के लिए हड़तालें करा देते हैं। जबकि उन हड़तालों का कोई औचित्य नहीं होता है। यह श्रमिक संघ के लिए पर्याप्त समय भी नहीं दे पाते हैं। इसमें श्रमिकों को लाभ के स्थान पर हानि हो जाती है तथा श्रम-संघों में आन्तरिक नेतृत्व का विकास नहीं हो पाता है।

7. उद्योगपतियों में प्रभावित

प्रायः यह देखा जाता है कि श्रमिक संघों के पदाधिकारी उद्योगपतियों या मालिकों से मिल जाते हैं और श्रमिक संघों की लागत पर व्यक्तिगत लाभ कमाते हैं। मालिकों को तो सदा ही श्रमिक संघों से खतरा बना रहता है। अतः वे इनके पदाधिकारियों को प्रलोभन देकर तोड़ लेते हैं। इस बात की प्रामाणिकता को श्रमिक संघों के इतिहास द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

8. राजनीतिक प्रतिस्पर्धा

श्रमिक संघों के विकास में एक कठिनाई राजनीतिक प्रभाव या प्रतिस्पर्धा है। भारत में चार प्रमुख श्रमिक संघ — ए० आई० टी० यू० सी०, वाई० एन० टी० यू० सी०, बी० एस० एस० और सी० आई० टी० यू० पाये जाते हैं। ए० आई० यू० सी कम्युनिस्ट आई० एन० टी० यू० सी० कांग्रेस, बी० एस० एस० भारतीय जनता पार्टी, सी० आई० टी० यू० कम्यनिस्ट (मार्क्सी) यह सभी आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं और अपना-अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास करते हैं। इससे श्रमिक आन्दोलन में एकता एवं स्थिरता नहीं आती है।

9. सरकारी दृष्टिकोण

सरकार का दृष्टिकोण सदा ही उन श्रमिकों संघों को प्रमुखता देना रहा है जो शासन करने वाली पार्टी से सम्बद्ध होते हैं। इससे सत्ताधारी राजनीतिक दल से सम्बन्धित श्रमिक संघों को अपने विकास का अवसर मिल जाता है जबकि शेष संघों के दमन की क्रिया अपनायी जाती है। इससे उनका विकास रुक जाता है। इस प्रकार सरकारी दृष्टिकोण भी श्रमिक संघों के एक रूप में बाधक रहता है।

10. कल्याणकारी कार्यों के प्रतिदासीनता

भारत में श्रमिक संघों का कार्य केवल हड़ताल कराने तक ही सीमित दिखायी देता है और वे इसी कार्य को करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझते हैं। वे श्रमिकों के कल्याणकारी कार्यों के प्रति उदासीन रहते हैं और श्रमिकों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक हितों के लिए कुछ भी कार्य नहीं करते हैं। इस प्रकार भारतीय श्रमिक संघों की यह भी एक कमी है।

11. लेखों में अनियमितताएं

श्रमिक संघो द्वारा आय-व्यय का लेखा उचित प्रकार से नहीं रखा जाता है तथा इसमें अनेक अनियमितताएं पायी जाती है।

12. सदस्यों का अधूरा रजिस्टर

प्रायः यह देखा जाता है कि यह संघ अपने सदस्यों का रजिस्टर उचित प्रकार से नहीं रखते हैं तथा उसमें प्रविष्टियां अधूरी होती है। श्रमिकों के नाम व पते पूरे नहीं होते हैं। इसमें वित्तीय अनियमितता को प्रोत्साहन मिलता है।

23.11 भारत में श्रमिक संघों के आन्दोलन को सुदृढ़ करने के उपाय

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन को मजबूत करने के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं —

1. सर्वोच्च संस्था की स्थापना

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन को बढ़ाने एवं उसको मजबूत करने के लिए यह आवश्यक है कि संयुक्त संघ बनाया जाये जो कि सभी श्रमिक संघों के लिए सर्वोच्च संस्था का कार्य कर सकें। जिससे देश भर के श्रमिक आन्दोलनों में एक नीति, एक कार्यक्रम व एक ढंग को अपनाया जा सके। सरकार के समक्ष भी श्रमिकों की समस्याओं को प्रभावी ढंग से रखा जा सकें।

2. एक उद्योग एक श्रमिक संघ

एक उद्योग के लिए एक श्रमिक संघ बनाया जाना चाहिए। यदि एक से अधिक श्रमिक संघ है तो उनको मिलाकर एक कर दिया जाना चाहिए। सरकार व मालिकों को केवल एक ही संघ को मान्यता देनी चाहिए। इससे श्रमिकों में संघों के प्रति विश्वास बढ़ेगा तथा आन्दोलन प्रभावी सिद्ध होंगे।

3. उचित नेतृत्व

श्रमिक संघों के आन्दोलन को मजबूत करने के लिए इन संघों का नेतृत्व श्रमिकों के हाथों में ही होना चाहिए। भारत में नेतृत्व राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं के हाथों में होने के कारण उनका हित इन व्यक्तियों के हाथों में होने के कारण उनका हित इन व्यक्तियों के हाथों में सुरक्षित नहीं है। यह व्यक्ति राजनीतिक भेद भाव पैदा करते हैं जो उचित नहीं है।

4. कार्यकताओं के प्रशिक्षण की सुविधा

श्रमिक संघ आन्दोलन को सफल बनाने के लिए इनके कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की सुविधा होनी चाहिए जिससे कि वे प्रशिक्षण प्राप्त कर उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसके साथ-साथ व्यय भी सोच विचार कर किये जाने चाहिए।

5. समुचित वित्त व्यवस्था

श्रमिक संघों को सफल बनाने के लिए उनेक पास उचित वित्त व्यवस्था होनी चाहिए। इसके लिए संघों की अपनी आय बढ़ानी चाहिए श्रमिकों से प्राप्त होने वाले चन्दों की दरों में वृद्धि की जानी चहिए तथा उनको नियमित रूप् से प्राप्त करने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसके साथ-साथ व्यय भी सोच विचार कर किये जाने चाहिए।

6. वेतन भोगी कर्मचारियों की नियुक्ति

श्रमिक संघों को अपना कार्य नियमित ढंग से चलाने, चन्दा वसूल करने व पत्र व्यवहार करने आदि के लिए वेतन भोगी कर्मचारी की नियुक्ति करनी चाहिए। इससे कार्यों में निरनतरता एकरूपता व नियमिता आयेगी जिससे श्रमिक संघों की स्थिति मजबूत होगी।

7. कल्याणकारी कार्यों में वृद्धि

श्रमिक संघों को कल्याणकारी कार्यों की और भी उचित ध्यान देना देना चाहिए। इसके लिए प्रौढ़ शिक्षा के रात्रिकालीन स्कूल, वाचनालय, सस्ते मुल्य की दुकानें, श्रमिकों के बच्चों के लिए स्कूल, गृह निर्माण, मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जा सकती है। इस सम्बन्ध में सरकार मालिक व जनता से भी वित्तीय सहायता प्राप्त की जा सकती है।

8. श्रमिकों में सहयोग की भावना का विकास

श्रमिक भिन्न-भिन्न जाति, धर्म समुदाय व स्थानों के होते हैं। अतः उनमें सहयोग की भावना की कमी होती है। अतः उनमें सहयोग की भावना जागृत करने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम व खेलकूद प्रतियोगिताएं आयोजित की जानी चाहिए तथा शिक्षा का प्रचार किया जाना चाहिए।

9. नवीन अधिनियम बनाया जाए

श्रमिक संघों के सम्बन्ध में श्रमिक संघ अधिनियम, 1926 लागू है जिसमें समय-समय पर कुछ संशोधन होते रहते है। अन्तिम संशोधन 1926 में हुआ है। यह अधिनियम अब पुराना पड़ गया है। श्रमिकों का दृष्टिकोण बदल गया है। ऐसी स्थिति में यह उचित है कि नवीन अधिनियम बनाया जाए जिससे कि श्रमिक संघों की स्थिति सुदृढ़ हो सके तथा औद्योगिक विकास में भी कोई प्रतिरोध पैदा न हो सकें।

23.12 उचित पारितोषण के निर्धारण में श्रम संघों का महत्व

श्रम संघों के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य श्रमिकों को उचित मजदूरी दिलाना है जिससे वे एक निश्चित जीवन स्तर को बनाये रखकर अपनी कार्य क्षमता में वृद्धि करते हुए अत्यधिक उत्पादन

में अधिक से अधिक सहयोग दे सकें। आधुनिक अर्थशास्त्री यह विश्वास करते हैं कि श्रम संघ मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं और करवा भी रहे हैं इसकी अनेक विधिया हैं :—

1. श्रम संघ श्रमिकों का संगठन बनाकर उनमें सौदा करने की शक्ति पैदा कर सकते हैं जिससे वे अपनी सीमान्त उत्पादकता का पूरा पूरा मूल्य पा सकें।

2. श्रम संघ, श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता को भी कई प्रकार से बढ़ा सकते हैं और ऐसी प्रत्येक विधि के साथ साथ मजदूरी में भी वृद्धि हो सकती है। श्रम संघ, मालिकों को श्रमिकों के लिए काम करने की अच्छी दशा, सुरक्षा की सुविधाएं, चिकित्सा की सुविधाएं, बोनस की सुविधाएं देने के लिए प्रेरित करके भी श्रमिकों की असल मजदूरी में वृद्धि करवा सकते हैं। श्रम संघ यदि शक्तिशाली है तो वह अपनी उचित मांगों का नियोजकों और सरकार दोनों से मनवा लेता है।

23.13 सारांश

श्रम संघ श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। जिसके बनाने के उद्देश्य श्रमिकों को अपने हितों की रक्षा करना और कार्य दशाओं के स्तर एवं रोजगार की दशाओं में सुधार करना है। श्रम संघ के तीन मुख्य कार्य हैं — रोजगार से संबंधित गतिविधियां, सामान्य जीवन से संबंधित गतिविधियां और राजनीतिक गतिविधियां, भारत में श्रम संघों का उद्गम व विकास कारखाना प्रणाली के दोषें के कारण हुआ। 1926 में प्रथम श्रमिक संघ अधिनियम पास हुआ स्वतन्त्रता के बाद श्रम संघों का काफी विकास हुआ परन्तु श्रम संघ आन्दोलन में कुछ ऐसी कमियां है जो इसकी शक्ति को क्षीण करती है। इन कमियों को दूर कर श्रम संघों को सुदृढ़ अनाथा जा सकता है। सुदृढ़ श्रम संघ योग्य नेताओं द्वारा रचनात्मक नीति अपनाते हुए सामुहिक कल्याण की भावना से कार्य करते हैं जिससे देश, समाज श्रमिक सभी का कल्याण होता है किसी श्रमिक संघ की सफलता या विफलता काफी कुछ उसकी वित्तीय स्थिति पर निर्भर है। आर्थिक रूप से सुदृढ़ श्रमिक संघ अपनी मांगो को मनवाने में सफल हो जाते हैं क्योंकि वे हड़ताल आदि को चला ले जाते हैं और अपने सदस्यों को हड़ताल में समय वित्तीय सहायता देते रहते हैं। जिससे सदस्यों का पूर्ण सहयोग बना रहता है। श्रमिक संघ से बहुत लाभ हैं जैसे — उचित पारितोषण परस्पर बन्धुत्व की भावना में वृद्धि, जीवन स्तर, व कार्य क्षमता में वृद्धि, श्रमिकों के हित में श्रम नियमों का निर्माण आदि। स्वार्थी नेतागण कभी कभी श्रम संघों की शक्ति का दुरुपयोग करते है जिसके कारण श्रम संघों से हानि भी हो सकती है। परन्तु यह दोष श्रम संघ का नहीं उनके अयोग्य व स्वार्थी नेताओं का है। वास्तव में सुदृढ़ श्रम संघ देश की औद्योगिक उन्नति में सहायक है। निरन्तर उत्पादन राष्ट्र विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि करवाकर श्रम संघ उचित पारितोषण निर्धारण में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है।

23.14 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1 श्रम संघ की परिभाषा दीजिए तथा संक्षेप में इसके उद्देश्य व कार्य बतलायें?

प्रश्न 2 श्रम संघ के प्रमुख गुण-दोषों की विवेचना कीजिए?

प्रश्न 3 श्रम संघ संगठन झगड़ालू संस्थाए होती है आलोचना कीजिए तथा श्रम संघ के उद्देश्य व कार्य बतलाइये।

प्रश्न 4 श्रमिकों के हितों की सुरक्षा तथा उत्पादन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह एक शक्तिशाली श्रम संघ आन्दोलन की आवश्यकता है। इस कथन को समझाइये।

प्रश्न 5 भारत में श्रमिक संघों की दुर्बलता के कारण बताईये। इसको दूर करने के सुझाव दीजिए।

23.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिन्हा, जे० पी०	श्रम अर्थशास्त्र, एस० चांद एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली
सक्सेना	श्रम समस्याएं एण्ड सामाजिक सुरक्षा, रस्तौगी एण्ड कम्पनी मेरठ।
Agarwal A.N.	Indian, Labour Problems : Wiley Eastern Limited New Delhi.
Giri V.V.	Labour Problems in Indian Indu Asia publishing House Bombay
Memoria C.B.	Labour Problems and Social Welfare in India.
Mehrotra, S.N.	Labour Problems in India S. Chand & Co. Delhi.

इकाई 24

भारत में श्रमिकसंघों का उदय, संरचना एवं समस्याएं

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 श्रमिक संघ का अर्थ

24.3 श्रमिक संघों का उदय

24.4 भारत में श्रमिक संघो का इतिहास

24.5 श्रमिक संघो की वर्तमान स्थिति

24.6 श्रमिक संघों के कार्य एवं उद्देश्य

- 24.6.1 मुख्य कार्य
- 24.6.2 संघर्षपूर्ण कार्य
- 24.6.3 सौहार्दपूर्ण कार्य
- 24.6.4 राजनीतिक कार्य
- 24.6.5 कानूनी कार्य
- 24.6.6 अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाएं

24.7 उद्देश्यों को प्राप्त करने की विधियां

24.8 भारतीय श्रमिक संघो की संरचना

24.9 भारत में श्रमिक संघो की समस्याएं

24.10 सारांश

24.11 निबन्धात्मक प्रश्न

24.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.0 उद्देश्य

औद्योगिक क्रान्ति ने सेवायोजकों एवं श्रमिकों को दो अलग अलग वर्गो में विभाजित कर दिया है। दोनों के हित भी भिन्न - भिन्न थे। श्रमिको ने अपनी स्थिति में सुधार के उद्देश्य से अपने अपने संघ बनाए। भारत में यह प्रक्रिया बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शुरू हुई। इस इकाई में आपका परिचय भारत में श्रमिक संघो के उद्भव संरचना एवं इनकी विभिन्न समस्याओं से कराया जाएगा।

24.1 प्रस्तावना

श्रमिक संघों का उदय निश्चित रूप से नियंत्रण वादी फैक्ट्री व्यवस्था के कारण हुआ। जब

नियोक्ता तथा श्रमिक के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क रहते थे तो इन दोनों के मध्य सम्बन्धों को तय करने के लिए मध्यस्थ संगठनों की आवश्यकता नहीं थी। कारखाना प्रणाली के तहत नियोक्ता तथा श्रमिक के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध लगभग समाप्त हो गये। तथा अब कर्मचारियों की सौदेबाजी की सामर्थ्य पहले से कम हो गयी, उसे या तो अब काम करना है या भूखों मरना है। इसके अतिरिक्त अब उसे बाज़ार में अपने मूल्य और महत्व को पता नहीं रह गया है। फलस्वरूप वह नियोक्ता से सौदेबाजी करते समय अपनी स्थिति का उचित फायदा नहीं उठा पाता। अतः जब तक श्रमिक वर्ग, श्रमिक संघों के निर्माण के द्वारा अपनी सौदेबाजी की स्थिति को मज़बूत नहीं बनाता है तब तक नियोक्ता द्वारा उसका शोषण होने की संभावना बनी रहेगी। इन्हीं कारणों से श्रमिक संघों का उदय हुआ जो कि एक तरफ सामाजिक असंतोष को इंगित करता है तो दूसरी तरफ यह सामाजिक प्रगति का भी सूचक है।

24.2 श्रमिक संघ का अर्थ

कार्लमार्क्स के अनुसार श्रमिक संघ मूलतः "एक संगठन केन्द्र है। यह श्रमिक संघों की शक्ति को एकत्रित करने हेतु स्थलि के रूप में कार्य करते है। श्रमिक संघ यह तत्काल प्रयास करते है कि श्रमिकों का ऐसी स्थिति से बाहर जाये, जिसमें उनकी संभावना गुलामों जैसे स्तर की होने की है।" इस प्रकार कार्लमार्क्स श्रमिक संघों को वर्तमान सामाजिक प्रक्रिया में मूलस्वरूप क्रांतिकारी परिवर्तन लाने हेतु आवश्यक संगठन मानते हैं।

सिडनी और बीट्रिसवेव ने कहा है कि "श्रमिक संघ मजदूरी करने वालों का वह अनवरत सहयोग है। जिससे वह अपनी कार्य करने की दशाओं को बनाये रखते है। या उनमें सुधार करते है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रबन्धों के एकाधिकार से श्रमिक संघ मजदूरों को मुक्त करवाकर उनकी शक्ति द्वारा उन्हें अच्छी कार्य करने की दशाएं प्रदान करते हैं।

रिचर्डसन ने ट्रेड यूनियन को परिभाषित करते हुए कहा कि "श्रमिक संघ मूलतः हाथ से काम करने वाले या हाथ से काम न करने वाले श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जो कि अपनी कार्य करने की दशाओं की रक्षा करते है, उनमें सुधार करते है तथा उनके व्यावसायिक हितों व स्तर के उन्नयन का प्रयास करते है।"

मैरी विरार्ड के अनुसार "श्रमिक आन्दोलन एक संगठित तथा अनवरत" उन मजदूरों का प्रयास है जो अपने जीवन स्तर को सुधारना चाहते है। श्रमिक आन्दोलनों को सभी वर्ग ट्रेड, क्राफ्ट के कर्मचारियों की सहानूभूति मिली है, जिसका मुख्य कारण उनका यह मानना है कि इन आन्दोलनों के कारण उनकी स्थिति में या तो तुरन्त या निकट भविष्य में सुधार होगा।"

रिचर्डसन तथा वीरार्ड दोनों ने अपनी परिभाषाओं में इस बात पर जोर दिया कि श्रमिक संघों में शामिल होने से मजदूरों की स्थिति में सुधार होता है।

24.3 श्रमिक संघों का उदय

औद्योगीकरण के निम्न लक्षणों ने श्रमिक संघो के उदय को आवश्यक बना दिया।

1. श्रमिकों के समझौता करने की शक्ति में कमी (Bargaining) व्यक्तिगत रूप से कोई भी श्रमिक अपने नियोक्ता की तुलना में करार करने के कौशल में तथा बाजार व व्यापार की स्थितियों को जानने में कम ज्ञान रहता है। यह नियोक्ता ही होता है जो मजदूरी की दरें, काम के घण्टे तथा नौकरी की अन्य स्थितियों को तय करता है। श्रमिक को इन काम करने की शर्तों को भूख से बचने के लिए मानना पडता है अकेला श्रमिक अपने मालिक पर पूर्णतः निर्भर करता है। और वह बेरोजगारी से बचने के लिए उसी की शर्तो पर काम करना शुरू कर देता है।

2. पूंजी तथा श्रम की बीच में अन्तर - आधुनिक फैक्ट्री व्यवस्था में पूंजीपति तथा श्रमिकों के बीच में स्पष्टतः अलगाव देखा जा सकता है। पूंजीपति अपने धन का प्रयोग लाभ के लिए करते है। इस समय बाज़ार में एक ऐसा वर्ग उपलब्ध है जो अपना श्रम बेचने के लिए आतुर है क्योंकि यही उसके जिन्दा रहने का स्रोत है। बाजार में इस समय श्रम खरीदने के लिए पूंजीपति भी उपलब्ध है जो कि इसका प्रयोग उत्पादन कार्यों में करते है। इस बाजार में बचने वाला अपनी शक्ति की अधिक से अधिक कीमत चाहता है जबकि खरीदने वाला कम से कम मूल्य देना चाहता है। इस प्रकार समाज में ऐसे दो वर्गों का उदय होता है जिनके हितों में तालमेल के स्थान पर संघर्ष रहता है। जहां कहीं पर काम के घण्टे उद्योग में अधिक होते हैं वहां पर स्वास्थ्य हेतु अनुपयुक्त दशायें भीड़भाड बाल श्रम आदि की समस्याएँ मौजूद रहती है। इनसे बचने के लिए तथा अपनी स्थिति को सुधारने के लिए श्रमिकों ने कई बार पिटीशनें दायरे की परन्तु उपयुक्त परिणाम आज तक नहीं निकल पाये।

3. व्यक्तिगत निर्भरता परन्तु सामुहिक अपरिहार्यता :- काम करने वाले लोगों के लिए सबसे प्रमुख आशा की किरण यह है कि यह श्रमिक तो नियोक्ता के लिए आवश्यक नहीं हो सकता है परन्तु जब सभी श्रमिक मिल जाते है तो वे नियोक्ता के लिए अपरिहार्य हो जाते है। नियोक्ता के लिए ये सम्भव होता है कि वह एक या कुछ श्रमिकों को निकालकर छुट्टी पाले परन्तु यह लगभग असंभव है कि वह सभी मजदूरों को निकालकर दूसरों की भर्ती कर ले। यद्यपि यह जागरूकता भारत के मजदूरों में काफी देर से आयी परन्तु श्रमिक आन्दोलन के इतिहास में एक टर्निंग पाइण्ट रहा।

4. अहस्तक्षेप की नीति - अहस्तक्षेप के सिद्धान्त के कारण गरीब मजदूरों की रक्षा के लिए राज्य स्वयं बढ़कर आगे नहीं आया। कानून की निगाह में श्रमिक तथा नियोक्ता दोनों बराबर है, तथा उनका आपसी सम्बन्ध उनके द्वारा किये गये समझौते पर निर्भर करता है। क्योंकि श्रमिक ने अपनी इच्छा से इस रोजगार का स्वीकार किय है। यद्यपि श्रमिक तथा नियोक्ता के बीच में हुए करार के बाद ही श्रमिक रोजगार में आता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए राज्य ने अहस्तक्षेपवादी नीति अपनायी। अतः श्रमिकों को अपना रास्ता स्वयं तलाशना पड़ा।

24.4 भारत में श्रमिक सघों का इतिहास -

सन् 1875 में कुछ परोपकारी व्यक्तियों के समूह ने सरकार का श्रमिकों की दयनीय दशा की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए आन्दोलन किया। इसके नेता सोरबजी सापुरजी बंगाली थे, और उन्होंने इन मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए कानूनी सुरक्षा की मांग की। पहला फैक्ट्री अधिनियम 1881 में पास हुआ, जो कि काफी असंतोष जनक था तथा जिसने श्रमिकों को और अधिक आन्दोलित किया। सन 1884 में श्री नारायण लोखाण्डे जो कि प्रथम भारतीय मजदूर नेता थे, ने बम्बई में फैक्ट्री के लिए एक कान्फ्रेन्स का आयोजन किया। इन्होंने मजदूरों की दशा को सुधारने के लिए "इण्डिनय फैक्ट्री कमीशन" के पास एक मेमोरेण्डम दिया। यद्यपि उनके इस प्रयास का कोई परिणाम नहीं निकला परन्तु इससे आन्दोलन की शक्ति अवश्य बढ़ी। 1890 में बम्बई मिल मालिक संघ को एक ज्ञापन दिया गय जिसमें उनसे सप्ताह में एक छुट्टी देने का निवेदन किया गया। उनकी यह मांग मान ली गई, श्री लोखाण्डे ने भारत में पहले श्रमिक संघ का गठन किया, तथा उसे बोम्बे मिल हैंडस एसोसियेशन नाम दिया उन्होंने दीनबन्धु नामक श्रमिक पत्रिका का भी प्रकाशन किया। बाद में भी लोखाण्डे को 1890 के फैक्ट्री कमीशन हेतु प्रमाण जुटाने के लिए बम्बई का प्रतिनिधि चुना गया।

1890 के फैक्ट्री अधिनियम बनने के साथ भारत में श्रमिक आन्दोलन के प्रथम चरण का समापन हो गया। इसके पश्चात प्लेग आकाल तथा बंगाली और लोखाण्डे की मृत्यु के कारण

इस आन्दोलन को उचित नेतृत्व नहीं मिल पाया। 1905 में श्रम आन्दोलन का स्वरूप पुनः उभरा। इसी समय बंगाल में कुछ नेताओं ने श्रमिकों के पक्ष में आवाज उठायी तथा उसी समय स्वदेशी आन्दोलन की भी शुरूआत हुई। उच्च मजदूरी की मांग अच्छी कार्य दशाओं आदि को लेकर 1905 से 1909 के बीच कई इड़ताले हुई। इस अवधि में कई श्रमिक संगठनों को उदय हुआ जिनमें प्रिन्टर्स यूनियन कलकत्ता 1905, से बोम्बे पोस्टल यूनियन - 1907 तथा कामगार हितवर्धक सभा - 1910 आदि प्रमुख थे। इस सभा ने साप्ताहिक पत्र कामगार समाचार भी निकाला। 1911 के फैक्ट्री अधिनियम के साथ ही श्रमिक आन्दोलन के इस द्वितीय चरण का समापन हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध 1914 - 18 के दौरान औद्योगिक श्रमिकों में काफी जागरूकता आयी। रूस की क्रांति की पश्चात श्रमिकों में असंतोष तथा असुरक्षा की भावना स्पष्टतः दिखाई पडी। सरकार द्वारा चलाये गये, दमनकारी तरीके जैसे रोलेट एक्ट तथा टैक्सों में बढ़ोतरी के कारण भी बुरा प्रभाव पड़ा। इसी अवधि में अर्न्तराष्ट्रीय श्रम संघ तथा लीग ऑफ नेशन्स् (राष्ट्र संघ) की स्थापना से श्रमशक्ति को कुछ गौरव हासिल हुआ। श्रमिक संगठनों को यह अधिकार दिया गया कि वह अर्न्तराष्ट्रीय श्रम संघ के वार्षिक अधिवेशनों में भाग लेने हेतु अपने प्रतिनिधि भेजे। सन 1918 में ही बम्बई की सूती मिलों में विशाल हड़ताल हुयी जो 1919 तथा 1920 में अपने प्रचण्ड वेग से सम्पूर्ण देश में फैल गयी।

1918 में वी.पी. वाडिया ने वकिंधम तथा कर्नेटिक मिल के मजदूरों की सहायता से मद्रास लेबर यूनियन का गठन किया। ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन 1920 में हुआ। श्री एन.एम. जोशी जिन्हें इण्डियन ट्रेड यूनियन का पिता कहा जाता है, 1926 में ट्रेड यूनियन एक्ट को पास करवाने में सफल हुये। ट्रेड यूनियन के इतिहास में यह घटना मील का पत्थर साबित हुयी, क्योंकि इसी के कारण ट्रेड यूनियनों को रजिस्टर्ड होने के लिए कानूनी मान्यता मिली।

1926 के पश्चात ट्रेड यूनिक्नों का नेतृत्व कम्युनस्टों के हाथ में आ गया। 1927 में कम्युनस्टों ने श्रमिकों तथा किसानों के दलों को संगठित किया ताकि नये संघों का गठन हो सकें, तथा प्रचलित संघों में उचित सुधार हो सके। 1927 में श्री सकलतवाला के नेतृत्व में 54000 सदस्यों वाली "गिरनी कामगार यूनियन" का गठन हुआ। इन संघों में कम्युनिस्ट विचारधारा वाले लोगों ने अपनी विचारधारा तथा कार्यक्रमों के आधार पर अपना विशेष स्थान बनाया। 1928 में बहुत सारी हड़तालें हुयीं तथा कम्युनिस्टों ने आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कब्जा करने का प्रयास किया। इसको दबाने के लिए सरकार द्वारा कम्युनिस्टों तथा रायल कमीशन ऑन लेबर के खिलाफ काफी कड़े कदम उठाये। 1928 में ही व्हिटले कमीशन ऑन लेबर का गठन किया गया तथा 1929 में प्रथम ट्रेड डिसप्यूट एक्ट पास किया गया।

ऑल इण्डिया ट्रेड यूनिय्रन कांग्रेस पर सुधारवादियों तथा कम्युनिस्टों दोनों ने ही कब्जा करने का प्रयास किया। कांग्रेस के दसवें सत्र में पंडित जवाहर लाल नेहरु की अध्यक्षता के अन्तर्गत अतिवादी दल कुछ प्रस्ताव पास करवाने में सफल हो गया, जिसके कारण मध्यम मार्गियों ने एन.एम. जोशी के नेतृत्व में एक अलग संगठन ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन फैडरेशन का गठन किया। कम्युनिष्ट इस प्रकार के अलग दल बनाने के लिए तैयार नहीं थे। उनको ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ काम करना बहुत आसान नहीं लगा तथा उनके विचार भी इस संख्या से कम मिलते थे। अतः ट्रेड यूनियन कांग्रेस का पुनः दो भागों में विभाजन हुआ। अलग हुये गुट का नेतृत्व देशपाण्डेय व रानादीव ने ऑल इण्डिया रैड ट्रेड यूनियन के नाम से किया। 1931 में इन दोनों संघों में समझौते का प्रयास किया गया "प्लेटफार्म ऑफ यूनिटी" की

शुरूआत की गई। 1934 के ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन में दोनों गुटों के बीच समझौता हो गया तथा रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस समाप्त कर दी गयी। 1938 में श्री वी.वी. गिरी के प्रयासों से ट्रेड यूनियन फैडरेशन का भी इस कांग्रेस मे विलय हो गया। परन्तु इसी समय कलकत्ता में बंगाल श्रमिक संघ, पटना में समाजवादी पार्टी तथा हिन्दुस्तान मजदूर सेवक संघ का उदय हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा इण्डियन फैडरेशन ऑफ लेबर अस्तित्व में थे। सरकार ने 1944 में फैडरेशन से तथा 1945 में आई.एन.टी.यू.सी. (INTUC) से सलाह का घोषित किया कि ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ही सर्वाधिक श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करती है। विश्व युद्ध के पश्चात के समय में औद्योगिक अशान्ति और बढ़ी इस समय राज्यों में सरकार कांग्रेसियों की थी तथा उन्होंने पाया कि काम करने वाले वर्ग का नेतृत्व मुख्यतः कम्युनिस्टों के हाथ में है। अतः उन्होंने ए.टी.आई.यू.सी. पर अपनी पकड़ मजबूत करने की कोशिश की। मई 1947 में नई दिल्ली में इस सम्बन्ध में एक उच्च स्तरीय कान्फ्रेंस हुयी, जिसके फलस्वरूप एक और अलग श्रमिक दल "इण्डियन नेशनल ट्रेड युनियन कांग्रेस" का गठन हुआ। 1948 में एक सरकारी इनक्वायरी के दौरान पता चला कि ए.आई.टी.यू.सी. की सदस्य संख्या 8,15,011 है, तथा आई.एन.टी.यू.सी. की सदस्य संख्या 9,73,179 है। अतः सरकार ने आई.एन.टी.यू.सी. को श्रम संघों का उचित प्रतिनिधि-माना।

1948 में समाजवादियों ने हिन्दू मजदूर सभा के नाम से एक नया संगठन बनाया। जिसमें इण्डियन फैडरेशन ऑफ लेबर का विलय हो गया। सन 1949 में प्रो. के.टी. शाह तथा श्री मृणाल कॉन्टी द्वारा यूनाईटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया गया। 1949 तक ये ट्रेड यूनियनें चार हिस्सों में (1) आई.एन.टी.यू.सी. (2) ए.आई.टी.यू.सी. (3) एच.एम.एस. (4) यू.टी.यू.सी. में बंट गयीं। ए.आई.टी.यू.सी. का झुकाव कम्युनिष्ट पार्टी की ओर था तो आई. एन.टी.यू.सी. कांग्रेस पार्टी से सम्बन्धित थी। हिन्दु मजदूर सभा समाजवादी पार्टी से जुड़ी थी, तो यू.टी.यू.सी. का राजनैतिक झुकाव क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी की तरफ था। सन् 1952 के पश्चात इन संघों में समझौते के लिए कई प्रयास किये गये। ए.आई.टी.यू.सी. ने एक नौ सूत्री कार्यक्रम सुझाया, जिससे सभी संघ मिलकर काम कर सकें परन्तु यह संभव नहीं हो सका। 1958 में हिन्दु मजदूर सभा तथा यू.टी.यू.सी.आई.टी.यू.सी. के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाया।

1959 के कुछ संघ जिनका नेतृत्व सोशलिस्ट पार्टी के हाथ में था, उन्होंने हिन्दू मजदूर सभा से अलग होकर, हिन्दू पंचायत बनायी। 1962 में इन्टरनेशनल कॉन्फेडेरेशन ऑफ फ्री ट्रेड यूनियन का गठन हुआ। आई.एन.टी.यू.सी. तथा हिन्दू मजदूर सभा ने ए.आई.टी.यू.सी. के कम्युनिष्ट नेतृत्व तथा उसकी असमाजिक क्रियाओं के लिए प्रहार किया। तथा आई.एन.टी.यू. सी. ने अपने को सबसे बड़ी यूनियन बताया। 1970 में ए.आई.टी.यू.सी. में कम्यूनिष्ट पार्टी में विभाजन होने के कारण पुनः विभाजन हो गया। ए.आई.टी.यू.सी. का नियंत्रण कम्युनिष्ट पार्टी ऑफ इण्डिया (CPI) के पास रहा जबकि कम्युनिष्ट पार्टी मार्क्सवादी (CPM) ने सेन्टर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन की शुरूआत की।

1972 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में विभाजन के साथ आई.एन.टी.यू.सी. पर पुरानी कांग्रेस का नियंत्रण रहा जबकि सत्ताधारी कांग्रेस ने नेशनल लेबर आर्गेनाईजेशन (NLO) का गठन किया। आपातकाल की घोषणा के साथ आई.एन.टी.यू.सी., ए.आई.टी.यू.सी. तथा हिन्द मजदूर सभा ने मिलकर के नेशनल अपैक्स बॉडी बनायी। जनता पार्टी की सरकार के समय भी यह अपैक्स बॉडी काम करती रही।

24.5 श्रमिक संघों की वर्तमान स्थिति

श्रमिक संघ भारत में काफी लम्बे समय तक रहेगें। इनका संवैधानिक स्तर है तथा ये श्रमिकों को प्रतिनिधित्व करते है। इन संघों ने सैन्ट्रल यूनियन फैडरेशन का गठन किया है जो इन संघों के लिये सिद्धान्त, दर्शन, विचारधारा तथा उद्धेश्यों का निर्धारण करता है। इन संघों के अपने प्लेटफार्म है, जहाँ से ये राष्ट्रीय स्तर व राज्य स्तर की स्टेन्डिंग लेबर कमेटीज तथा लेबर कान्फ्रेस हेतु अपनी नीतियों, विचारों को व्यक्त करते है। इन संघों की आवाज सरकार द्वारा सुनी जाती है तथा मजदूरी, कार्य दशाओं के निर्धारण आदि में सरकार उनसे बात करती है। इन संघों ने विभिन्न राजनैतिक पार्टियों से अपना गठबन्धन कर रखा है, परन्तु यह गठबन्धन किसी हिस्सेदारी का नहीं है अपितु पार्टियों की तरफ एक झुकाव है, तथा ये इन दलों के लिए कार्य करते हैं।

इन श्रमिक संघों में आपसी टकराव काफी अधिक है। इसका देश की पब्लिक पॉलिसी, श्रम तथा औद्योगिक नीतियों पर काफी प्रभाव रहता है। ऐसा देखने में आता है कि राजनेताओं की श्रमिक संघों में कम रूचि रहती है, श्रमिक नेताओं की भी राजनैतिक हितों के बजाय श्रमिकों के हितों पर प्रथम दृष्टया रूचि रहती है। नेशनल फैडरेशन श्रमिक संघों के कर्मचारियों तथा संगठनिक ढांचों के क्रिया कलापों के आकल्पन में ज्यादा रूचि लेता है। यह मजदूरों हेतु श्रम-शिक्षा तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। अब जनमानष की यह भावना है कि यह श्रमिक संघ विभिन्न राजनैतिक पार्टियों की चापलूसी करने के बजाय स्वतंत्र होकर कार्य करें।

24.6 श्रमिक संघों के कार्य एवं उद्देश्य -

श्रमिक संघों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों तथा श्रमिकों के हितों की रक्षा करना है। इसी मुख्य उद्देश्य से अन्य सभी उद्देश्य जैसे (काम के घण्ट कम करना, आर्थिक स्थिति में सुधार, आय सुरक्षा, प्रोवीडेन्ट फण्ड, पैन्शन, दुर्घटना बीमा, कार्यकारी तथा रहने की दशाओं में सुधार अच्छा स्वास्थ्य एवं सुरक्षा, राजनैतिक स्तर में सुधार, श्रमिकों के प्रति आदर तथा औद्योगिक प्रबन्धन में औद्योगिक लोकतंत्र लाने हेतु अधिक प्रयास, आदि) जुड़े हुये हैं।

यह उद्देश्य किसी प्राथमिकता या सापेक्षिक महत्व के आधार पर नहीं लिखे गये हैं। इनकी प्राथमिकता, यूनियन के कार्य, समय और स्थान पर निर्भर करती है। सैलिंग पर्लमैन के अनुसार "ट्रेड युनियन का दर्शन श्रमिकों के अनुभव तथा मनोविज्ञान पर निर्भर करता है।" श्रमिक संघ मुख्यतः श्रमिकों की रोजमर्रा की जिन्दगी को सुधारने में लगे रहते हैं। उनका राजनैतिक व्यवस्था, अर्थतंत्रीय प्रणाली, तथा विचारधाराओं से इतना सम्बन्ध नहीं रहा है। पर्लमैन के अनुसार इनकी राजनैतिक विचारधाराओं व आन्दोलनों पर बाहर के विद्वानों जैसे मार्क्स या अन्य घटनाओं आदि का प्रभाव रहता है। यदि श्रमिक संघों को स्वयं काम करने की छूट दी जाये तो हो सकता है कि दीर्घकालीन आर्थिक पुर्नसंरचना हेतु बहुत ठोस प्रयास न करे पायें। ये संघ तो केवल अपने सदस्यों की तुरन्त की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अधिकांश प्रयास करते हैं। परन्तु अब राजनैतिक चेतना बढ़ी है तथा अर्थतंत्रीय व्यवस्था की प्रकृति और कार्यों के सम्बन्ध में बहुत कुद कहा जा रहा है। जिससे कुछ श्रमिक संघ भी प्रभावित हुये है। श्रमिक संघों द्वारा अर्थव्यवस्था में जो परिवर्तन चाहे गये या विद्वानों द्वारा जो सुझाये गये हैं, वे इन संघों के लिए कार्य करने वाले वर्ग के हितों की रक्षा करने के साधन हैं, कोई अन्तिम लक्ष्य नहीं है। एक कोइ विशिष्ट संघ हो सकता है कि काम करने वाले वर्ग के साथ उतना सम्बन्धित न हो परन्तु ट्रेड यूनियन आन्दोलन अवश्य ही इनसे सम्बन्धित होता है।

यह माना जाता है कि अर्थ व्यवस्था में बदलाव की जिम्मेदारी राजनैतिक पार्टियों की है।

ट्रेड यूनियन को इसमें ज्यादा दखल नहीं देना चाहिये बल्कि उन्हें अपने सदस्यों के हितों की चिन्ता करनी चाहिये। परन्तु समाजवादी तथा मार्क्सवादियों का यह मानना है कि समाजवाद के संघर्ष में इन संघों को चुप नहीं बैठना चाहिये तथा उन्हें सदस्यों में समाजवाद के पक्ष में राजनैतिक शिक्षा देकर माहौल तैयार करना चाहिये।

24.6.1 मुख्य कार्य

ट्रेड यूनियन का मुख्य कार्य अपनी सांगठनिक व्यवस्था को मजबूत करना है, ताकि उनके सामूहिक प्रयास परिणामोंन्मुखी हो सकें। तथा अपने नियोक्ताओं के साथ सौदेबाजी कर सकें। "नेशनल कमीशन ऑन लेबर" ने इन संघों के निम्नलिखित मुख्य कार्य बताते है -

1. अपने श्रमिकों हेतु उचित वेतन प्राप्त करना।
2. निश्चित समय तथा आयु तक श्रमिक कार्य कर सकें इसकी सुरक्षा करना।
3. श्रमिकों को उन्नति तथा प्रशिक्षण के अवसर उपलब्ध करवाना।
4. श्रमिकों की रहने की तथा काम करने की दशाओं में सुधार के लिए प्रयास करना।
5. श्रमिकों को शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध करवाना।
6. श्रमिकों को उनके कार्य के स्वभाव के अनुसार तकनीकी सहयोग प्रदान करवाना।
7. उद्योग के साथ श्रमिकों के हितों को जोड़ना और उनमें उन्नति करना।
8. उत्पादन तथा उत्पादकता को बढ़ाने हेतु उत्तरदायी प्रदान करना।
9. वैयत्तिक तथा सामूहिक कल्याणकारी योजनाओं को बढावा देना।

24.6.2 संघर्षपूर्ण कार्य (MILITANT FUNCTIONS)

ट्रेड यूनियन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अपने श्रमिकों के आर्थिक हितों तथा आर्थिक स्तर पर का विकास करना है। इसके लिए उन्हें नियोक्ताओं से सौदेबाजी करनी होती है तथा कभी-कभी हड़ताल अथवा बहिष्कार भी करना होता है। इसलिए इस प्रकार के कार्यों को संघ के संघर्ष वाले कार्य कहा जाता है। यह संघर्ष निम्न कारणों से हो सकता है -

1. उपयुक्त वेतन पाने के लिये
2. नियोक्ता से उचित व्यवहार के लिए
3. काम के घण्टे कम करने के लिए
4. प्रशासन में उचित स्थान के लिए
5. लाभांश में उिचत हिस्सेदारी के लिए
6. इनसैन्टिव भुगतान, ग्रेच्युयेटी बोनस आदि के लिए
7. यद्यपि रोजगार की दशायें कानून द्वारा नियंत्रित होती हैं परन्तु ट्रेड यूनियन उसरो भी अधिक पाने के लिए अक्सर सौदेबाजी करते हैं।

उन कार्यों को आर्थिक कार्य भी कहा जाता है। बीमा एक ऐसा कार्य है जो आर्थिक कार्यों का ही पूरक माना जाता है जिसमें बीमारी दुर्घटना आदि के संदर्भ में सहायता पाने के लिए सरकार द्वारा चलित योजनाएं आती है। संसाधनों की कमी के कारण भारत में ट्रेड यूनियनें अभी ऐसी कोई व्यवस्था नहीं कर पायी हैं कि वह श्रमिकों की व्यक्तिगत दुर्घटना को अपने स्तर पर संरक्षण प्रदान करे सकें।

24.6.3 सौहार्दपूर्ण कार्य

इसका सम्बन्ध उन कार्यों से है जो श्रमिकों की कार्य क्षमता को बढाते हैं। संघ अपने सदस्यों से चन्दा लेकर फण्ड बना सकते हैं जिससे श्रमिकों को बेरोजगारी, बीमारी या तालाबन्दी के समय उनकी सहायाता की जा सके। वह श्रमिकों के लिए आवश्यक होने पर कानूनी सहायता की भी व्यवस्था करते हैं। संघ यह प्रयास करते हैं कि संघ के सदस्यों की बीच सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण रहें। इकसे अलावा वह अपने सदस्यों हेतु कई कल्याणकारी योजनाऐं जैसे विद्यालय चलाना, इनडोर-आउटडोर खेलों की व्यवस्था तथा दूसरे अन्य प्रकार की मनोरंजन सुविधाओं की भी व्यवस्था करतके है। श्रमिक संघों के इस प्रकार के कार्यों को सामाजिक कार्य भी कहा जाता है, जिसमें सहकारी संस्थाओं को चलाना, गृह निर्माण हेतु सुविधा प्रदान करना, सामुदायिक क्रियाओं में हिस्सेदारी बढाना, परिवहन सुविधा बढाना तथा अपने श्रमिकों हेतु शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, आदि सम्मिलित है।

24.6.4 राजनीतिक कार्य

कई श्रमिक संघ चुनावों के द्वारा राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं ताकि वह श्रमिकों पक्ष में अपने देश की नीतियों व कार्यक्रमों को प्रभावित कर सकें। राजनैतिक कार्यों के अर्न्तगत निम्न बातें आती हैं -

1. चुनाव के द्वारा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करना।
2. उन राजनैतिक पार्टियों के उम्मीदवारों को सहायता देना जो मजदूरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया रखते हैं।
3. श्रमिकों की सुरक्षा हेतु उचित श्रम कानून बनाने हेतु दबाव डालना।
4. राज्य के नियमों के तहत अधिक से अधिक कल्याणकारी योजनाओं हेतु धन प्राप्त करना।
5. स्वतंत्र रूप से लेबर पार्टीयों का निर्माण करना या अपने संगठन में राजनैतिक विंग का विकास करना। और अपने से मिलते जुलते विचारों पाली पार्टीयों के साथ सम्बन्ध बढाना आदि।
6. श्रमिकों से सम्बन्धित राष्ट्रीय, अर्न्तराष्ट्रीय संगठनों तथा विभिन्न सलाहकारी परिषदों में भाग लेना, तथा श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करना।
7. अपने श्रमिकों के मध्य क्रांतिकारी तथा सैनिक भावना का विकास करना।
8. अपने श्रमिकों हेतु राजनैतिक शिक्षा की व्यवस्था करना आदि।

भारत में राजनैतिक तत्वों तथा श्रमिक संघों के बीच अन्तर्सम्बन्धों का बडा पुराना इतिहास रहा है। स्वतंत्रता के समय भी कई राजनैतिक नेता इन ट्रेड यूनियनों के पदाधिकारी रहे हैं। यह सम्बन्ध कानूनी व्यवस्था द्वारा परिवर्तन लाने में अत्यधिक सहायक रहे हैं। श्रमिक संघों को तब नुकसान उठाना पडता है जब राजनैतिक पार्टियॉ इसके कर्मचारियों पर अपनी पकड बनाकर राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इनका प्रयोग करते हैं। भारत में ट्रेड यूनियनों में बार-बार बिखराव आने का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि उनका सम्बन्ध अलग-अलग प्रकार की राजनैतिक पार्टियों के साथ रहा है। ट्रेड यूनियनों को अपनी राजनैतिक पार्टी बनानी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये कि राजनैतिक कार्यों के कारण उनके श्रमिकों से सम्बन्धित कार्यों पर दुष्प्रभाव पड़े।

24.6.5 कानूनी कार्य

क्योंकि श्रम के सम्बन्ध में कानूनी पुस्तकों में बहुत अधिक बढ़ोत्तरी हुयी है अतः श्रमिक संघों के नेतृत्व को काफी समय इन नियमों की व्यख्या करने तथा उनको अपने सदस्यों के फायदे क लिए समझाने में देना होता है। श्रमिकों के मुकदमों को लेबर कोर्ट तथा ट्रव्यूनल में लडने के लिए भी नेताओं को कानूनी प्रावधानों तथा बुद्धिमत्तापूर्ण तर्कों के लिए काफी अध्ययन करना होता है।

इन नियमों की व्यख्या के अलावा भारत जैसे लोकतंत्रीय देश में श्रमिक नेताओं को कानून बनाने की प्रक्रिया में भी काफी नजदीकी सम्बन्ध रहता है। श्रम सम्बन्धी कानून बनाने में इन नेताओं से या तो कान्फ्रेंस द्वारा सलाह ली जाती है या इनके प्रतिनिधियों को विधायी परिषदों में स्थान दिया जाता है। इन प्रतिनिधयों को अपने श्रमिकों के पक्ष में कानून की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए परोक्ष या अपरोक्ष रूप से विभिन्न कमेटियों तथा कमीशनों की रिपोर्ट के आधार पर प्रमाण व अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने होते हैं।

24.6.6 अन्तर्राष्ट्रीय क्रियायें

श्रमिक संघों ने श्रमिकों की सुरक्षा हेतु कई नियम लागू करवाये हैं। तथा उनके कार्य के घण्टों, अवकाश का समय, साप्ताहिक अवकाश, महिलाओं तथा बच्चों को रोजगार आदि के सम्बन्ध में नियम बनवाने में काफी सफलता प्राप्त की है। यह सब श्रमिकों के राष्ट्रीय तथा अर्न्तराष्ट्रीय स्तर के श्रमिक संघों के सामूहिक प्रयासों का फल है। ट्रेड यूनियन के राष्ट्रीय केन्द्रों ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर अपने को संगठित किया है। इन्हीं कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघों तथा संस्थाओं की स्थापना हो सकी है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ट्रेड यूनियनों से निम्न कार्यों की अपेक्षा की जाती है -

1. वह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघों के संगठनों तथा क्रियाकलापों में भाग लेंगे।
2. उन्हें "इन्टरनेशनल फैडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स" जैसे वर्ल्ड फैडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन, इन्टरनेशलन ट्रेड यूनियन की क्रियाओं में उन्हें भाग लेना चाहिये, ताकि काम करने वाले वर्ग में एकता तथा सहयोग बना रहे।
3. हड़ताल तथा प्राकृतिक विपदाओं के समय दूसरे देश के श्रमिकों को वित्तीय सहायता प्रदान "नेशनल कमीशन ऑन लेबर" के अनुसार उन संघों पर निम्न उत्तरदायित्व होने चाहिये।

राष्ट्रीय एकता का विकास करना दूसरा अपने सक्रिय सहायोग द्वारा समुदाय की सामाजिक, आर्थिक नीतियों को प्रभावित करना। तीसरा, अपने सदस्यों में उद्योग तथा समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में ट्रेड यूनियामों में उनकी भूमिका के संदर्भ में निम्न अपेक्षा की गयी है -

1 अपने श्रमिकों के लिए योजनाऐं बनाना तथा उन योजनाओं की सफलता हेतु उत्साह उत्पन्न करना।

2 कार्य रूकने न पाये, इसके लिए प्रयास करना।

3 वेतन के सम्बन्ध में इस प्रकार की मांगे रखना, जो कि आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय की दृष्टि से उपयोगी हो।

4. उत्पादन की सफलता के लिए अधिक उत्तरदायित्व का निर्वन्हन करना।

इनके अलावा ट्रेड यूनियनों का यह कर्तव्य होता है कि वह उद्योगों में शान्ति बनाये रखें वह तकनीकी परिवर्तन में सहयोग दें तथा उन्नति उन्मुख वेतन व्यवस्था को स्वीकार करें।

24.7 उद्देश्य को प्राप्त करने की विधियॉ

सामूहिक बीमा, सामूहिक सौदेबाजी तथा कानूनी अधिनियम यह तीनों नियम एक दूसरे से अन्तर्सम्बिन्धित तथा उनके पूरक है। इसके अलावा हडताल, तालाबन्दी आदि अन्य भी कुछ दबाव बनाने की विधियॉ हैं।

1. सामूहिक बीमा की विधि -

इसके द्वारा उन सदस्यों को बीमा या सहायता उपलब्ध करायी जाती है जो कि संघ को सदस्यता, शुल्क देते हैं। श्रमिकों की कुछ ऐसी सामान्य आवश्यकताऐं होती हैं जो कि सहकारी समितियों के द्वारा पूरी की जा सकती हैं। कुछ व्यक्तिगत खतरे जैसे बीमारी, वृद्धावस्था, या मृत्यु होने पर संघों के द्वारा अपनी योजनाओं के माध्यम से सदस्यों को सहायता पहुंचायी जा सकती है। वह अपने सदस्यों को चिकित्सा शैक्षिक तथा मनोरंजन सम्बन्धी क्रियाओं के लिए ऋण भी देते हैं। इस प्रकार यह सामूहिक बीमा योजना मुख्यतः कल्याणकारी योजनाओं से सम्बन्धित है जिससे उनके सदस्यों का जीवन स्तर सुधर सके तथा संगठन में साख और एकता बनी रहे। इसके लिए आवश्यक है कि एक सामूहिक फण्ड बनाया जाये जिसमें प्रत्येक सदस्य सहयोग करे। इस धन का प्रयोग हड़तालों के समय, कल्याणकारी योजनाओं को चालू करने में तथा अन्य लाभकारी योजनाओं में किया जा सकता है।

इस तरीके की सफलता श्रमिक संघों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। जहां पर संघों की आर्थिक स्थिति मजबूत है वहां पर वह अपने सदस्यों को बीमा आदि की सुविधा उपलब्ध करवाती है तथा जहां पर इनकी आर्थिक स्थति अच्छी नहीं है वहां पर इस प्रकार की क्रियाऐं बहुत प्रभावी नहीं होती हैं, क्योंकि वे हमेशा धन की समस्या से चिन्तित रहते हैं।

भारत में बहुत कम श्रमिक संघ कल्याणकारी क्रियाओं के संचालन में भाग लेते हैं क्योंकि इनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती है। वेव के अनुसार "यह वह विधि है जिसके द्वारा संघ अपने सदस्यों को लाभ वाली स्थितियों का स्वीकार करने से बचाते हैं।" उनके अनुसार सामूहिक बीमा के चार प्रमुख लाभ हैं :- (1) यह श्रमिकों की संघ की सदस्यता को लेने में होने वाली हिचक को कम करता है। (2) यह संघ के कोष को बढाने में मदद करता है, क्योंकि यदि श्रमिकों का उचित समय पर सहायता मिल जाती है तो वे आगे बढ़कर कोष मेंअपना योगदान देते हैं। (3) यह संघ में अनुशासन बनाये रखना तथा संघ के निर्णयों को सभी सदस्यों पर लागू करने में मदद करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि यदि नियमों को नहीं माना गया तो संघ की योजनाओं के होने वाले लाभ से वे वंचित हो जायेंगे। (4) हडताल के समय इस कोष के द्वारा अपने सदस्यों में शान्ति बनाये रखने में मदद मिलती है, क्योंकि उनका स्वयं का पैसा हड़ताल के समय में वेतन ने मिलने के कारण समाप्त हो चुका होता हैं।

2. सामूहिक सौदेबाजी की विधियॉ

यह विधि ट्रेड यूनियन के प्रतिनिधियों को ऐसी स्थितियों से बचाने में सहायता करती है जब किन्ही विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कोई श्रमिक व्यक्तिगत रूप से नियोक्ता से सौदेबाजी करना चाहता है। क्योंकि व्यक्तिगत सौदेबाजी अधिक प्रभावी नहीं होती है अतः सामूहिक सौदेबाजी पर अधिक जोर दिया जाता है। इसमें नियोक्ता तथा श्रमिक "कॉमन एग्रीमेंट" के

आधार पर अपनी सेवाओं की शर्तों को तय करते हैं। इस विधि में संघ के प्रतिनिधि अपने श्रमिकों की तरफ से नियोक्ता से समझौता करते है इसीलिए इसे सामूहिक समझौता कहा जाता है।

क्योंकि श्रमिक संघों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं होती है अतः वह अपने सदस्यों को बहुत लाभ नहीं दे पाते हैं परन्तु सामूहिक सौदेबाजी द्वारा वे सभी सदस्यों के लिए काम अर्जित करते हैं। इसके लिए समझौते स्थानीय स्तर, क्षेत्रीय स्तर पर राष्ट्रीय स्तर पर हो सकते है। यह समझौते वेतन, बोनस, महंगाई, भत्ते, चिकित्सा सुविधा आदि किसी पक्ष को लेकर किये जा सकते हैं। सामूहिक सौदेबाजी मुख्यतः निम्न चीज़ों के लिए भी उपयोगी होती है -

1. श्रमिकों की प्रबन्धकीय कार्यों में भागीदारी की कोशिश में उपयोगी होती है।
2. वेतन और कार्यदशाओं के निर्धारण में एक साधन के रूप में कार्य करती है।
3. औद्योगिक शान्ति बनाये रखने में प्रभावशाली विधि के रूप में कार्य करती है।
4. जहाँ तक श्रमिक तथा प्रबन्धकों के सम्बन्ध हैं बाहरी शक्तियों तथा राजनैतिक दखलअन्दाजी के प्रभाव को कम करती है।

श्रमिक संघों के गठन के साथ ही उद्योगों में सौदेबाजी की प्रवृत्ति में वृद्धि हुयी है। जिससे हड़तालों व तालाबन्दी आदि की समस्याएं उत्पन्न होती हैं। टेलर ने कहा है कि "इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं होना चाहिये कि हड़ताल और तालाबन्दी के अधिकार के बिना सामूहिक सौदेबाजी नहीं हो सकती है।"

भारत में श्रमिक संघों की यह सौदेबाजी की ताकत कमजोर है क्योंकि ये श्रमिकों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। श्रमिक संघों को या सौदेबाजी करने का अधिकार वैधानिक रूप से प्राप्त है, अतः वे अधिकांश सौदेबाजी न्यायालय में हीं करते हैं। इस प्रकार कहा जाता है कि अब सामूहिक सौदेबाजी के बजाय न्यायालय नियंत्रित सौदेबाजी हो रही है। इसके लिए श्रमिक संघों में अपेक्षित शक्ति तथा दृढ इच्छा शक्ति दोनों होनी चाहियें। जबकि संघों में इनकी नजर आती है। सामूहिक सौदेबाजी के लिए यह भी आवश्यक है कि औद्योगिक सम्बन्धों में सरकार की दखलन्दाजी कम की जाये।

3. राजनैतिक कार्यवाही/कानूनी अधिनियम

श्रमिक संघ यह प्रयास करते हैं कि उन्नतिशील श्रमिक कानून विधायी संस्थाओं द्वारा पारित किये जायें तथा उचित ढंग से उनका क्रियान्वयन हो इसके लिए विधायी संस्थाओं में सक्षम प्रतिनिधियों को भेजा जाये ताकि वह नियमों, कानूनों में श्रमिकों हेतु अच्छी कार्यकारी व आवासीय दशाओं का समावेश करवा सकें। किसी विधायी प्रक्रिया द्वारा ही अधिकांश श्रमिक संघ अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयास करते हैं। यह विधि श्रमिक संघों को विश्वव्यापकता तथा स्थिरता की आकांक्षा की भी पूर्ति करते हैं, क्योंकि सरकार द्वारा लागू किये गये संवैधानिक कानून मजदूरों को उनकी बुरी स्थिति से काफी हद तक बचाते है। राजनैतिक कार्यवाही सम्बन्धी, श्रमिक संघों के कार्य निम्न है -

I. यह राज्य सरकार पर श्रमिकों क कल्याण व उनके लाभ हेतु विधायी कानून बनाने हेतु दबाव डालते हैं।

II. किसी राजनैतिक दल के साथ अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समझौता करते हैं अथवा श्रमिक दल बनाते हैं।

III. उद्योगों पर सुरक्षा नियंत्रण रखते हैं।

आवश्यकता इस बात की भी है कि सभी कर्मचारियों के कल्याण के लिए राजनैतिक कदम उठायें जायें, क्योंकि सामूहिक सौदेबाजी तथा परस्पर बीमा केवल अपने संघ के सदस्यों के ही लाभ के लिए कार्य करते हैं। श्रमिकों के हितों तथा उनके कल्याण के लिए दबाव बनाकर राजनीतिज्ञों से काफी कदम उठवाये भी गये। श्रम कानून जैसे फैक्ट्री एक्ट, मजदूरी भुगतान-अधिनियम, आदि का प्रारम्भ मजदूरी को नियोक्ताओं से शोषण के बचाने के लिए किया गया। मजदूरों को दुर्घटना, कार्य के समय में लगने वाली चोट तथा मृत्यु के पश्चात सहायता करने के लिए कुछ श्रम नियम बनाये गये। श्रमिकों के कल्याण हेतु शुरू किये जाने वाले ये नियम श्रमिक संघों के दबाव के कारण ही पारित किये जा सके।

सम्पूर्ण विश्व में श्रमिक संघ अपनी राजनैतिक शाखाओं का विकास कर रहे हैं ताकि वह पूंजीवादी अर्थशास्त्रीय संरचना के अन्तर्गत अपने पक्ष में कुछ परिवर्तन कर सकें और सम्भव हो तो शान्तिपूर्ण तरीकों से अर्थतंत्रीय व्यवस्था में मौलिक सुधार कर सकें। इसलिए यदि आवश्यक हुआ तो वे कभी-कभी हिंसा का भी सहारा लेते हैं।

4. सीधी कार्यवाही की विधियाँ

श्रमिक संघों के हाथों में सबसे महत्वपूर्ण हथियार हडताल को मानते हैं। हड़ताल मजदूरों के हाथ में अपनी सामान्य व कुछ विशिष्ट मांगों का मनवाने का एक विशिष्ट अस्त्र है। जिसमें वह कुछ समय के लिए अपने श्रमिकों के माध्यम से उद्योग में काम रूकवा देते हैं। हड़ताल का मुख्य कारण अधिकांशतः किसी सिद्धान्त का संघर्ष नहीं है अपितु इसमें व्यक्तित्व, भावनाओं, प्रतिष्ठा का मुद्दा आदि प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

हड़ताल के मुख्य लक्षण निम्न है - (1) हड़ताल के द्वारा सामूहिक रूप से अपने श्रमिकों का अस्थायी रूप से सेवा से हटा लिया जाता है। (2) हड़ताल तब समाप्त की जा सकती है जब हड़ताली तथा नियोक्ता का आपस में समझौता हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें श्रमिक नौकरी से निकाल दिये जाते हैं, या नियोक्ता तथा श्रमिकों के सम्बन्ध हर समय के लिए खराब हो जाते हैं। (3) हड़ताल के समय कार्य को रोका जाना एक निश्चित समय के अन्तर्गत कुछ उद्देश्यों को पूरा किया जाना होता है।

हड़ताल से उत्पादन का नुकसान होता है, इससे नियोक्ता तथा मजदूर के सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ता हैं। जो कि न केवल उद्योग के लिए बल्कि देश के लिए भी नुकसान देह होता है। अतः हड़ताल तभी की जानी चाहिए जबकि कोई अन्य रास्ता बाकी नहीं बचा हो।

भारत में सामान्य हड़ताल का एक प्रमुख रूप बन्द का आयोजन है। बन्द का कारण मुख्यतः राजनैतिक होता है जिसके कारण स्थानीय लोगों का काफी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। घेराव ट्रेड यूनियन की एक गैर कानूनी गतिविधि है, इससे प्रबन्ध तथा मजदूरों के बीच के सम्बन्धों में कटुता आती है। घेराव को प्रायः सत्याग्रह का एक अंग माना जाता है परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। एक सही सत्याग्रह लोग स्वयं कष्ट उठाते हैं जबकि घेराव में दूसरों को कष्ट दिया जाता है। अतः घेराव की तुलना सत्याग्रह से करना उचित नहीं है।

सीधी कार्यवाही तभी की जानी चाहिए जबकि अन्य सभी विधियाँ असफल हो गयी हों, क्योंकि इससे श्रमिक तथा नियोक्ता दोनों का नुकसान होता है।

24.8 भारतीय श्रमिक संघों की संरचना

भारत में संघों का गठन विभिन्न कारणों से हुआ है जिससे उनकी संरचना में भी भिन्नता पायी जाती है। नेशनल कमीशन ऑन लेबर के अनुसार श्रमिक संघों को अब यह एक सामान्य प्रारूप उभर रहा है कि वह बिना किसी क्राफ्ट या वर्ग का अन्तर किये, सभी श्रमिकों को समाहित करने का प्रयास करते हैं। कुछ क्षेत्रों जैसे हवाई यातायात, पोर्ट और डोक्स तथा आधुनिकतम तकनीकी युक्त कुछ उद्योगों में क्राफ्ट आधारित संघों का भी उदय हुआ है।

चार्ट 24.1

भारत में श्रमिक संघों की संरचना

STRUCTURE OF TRADE UNIONS IN INDIA

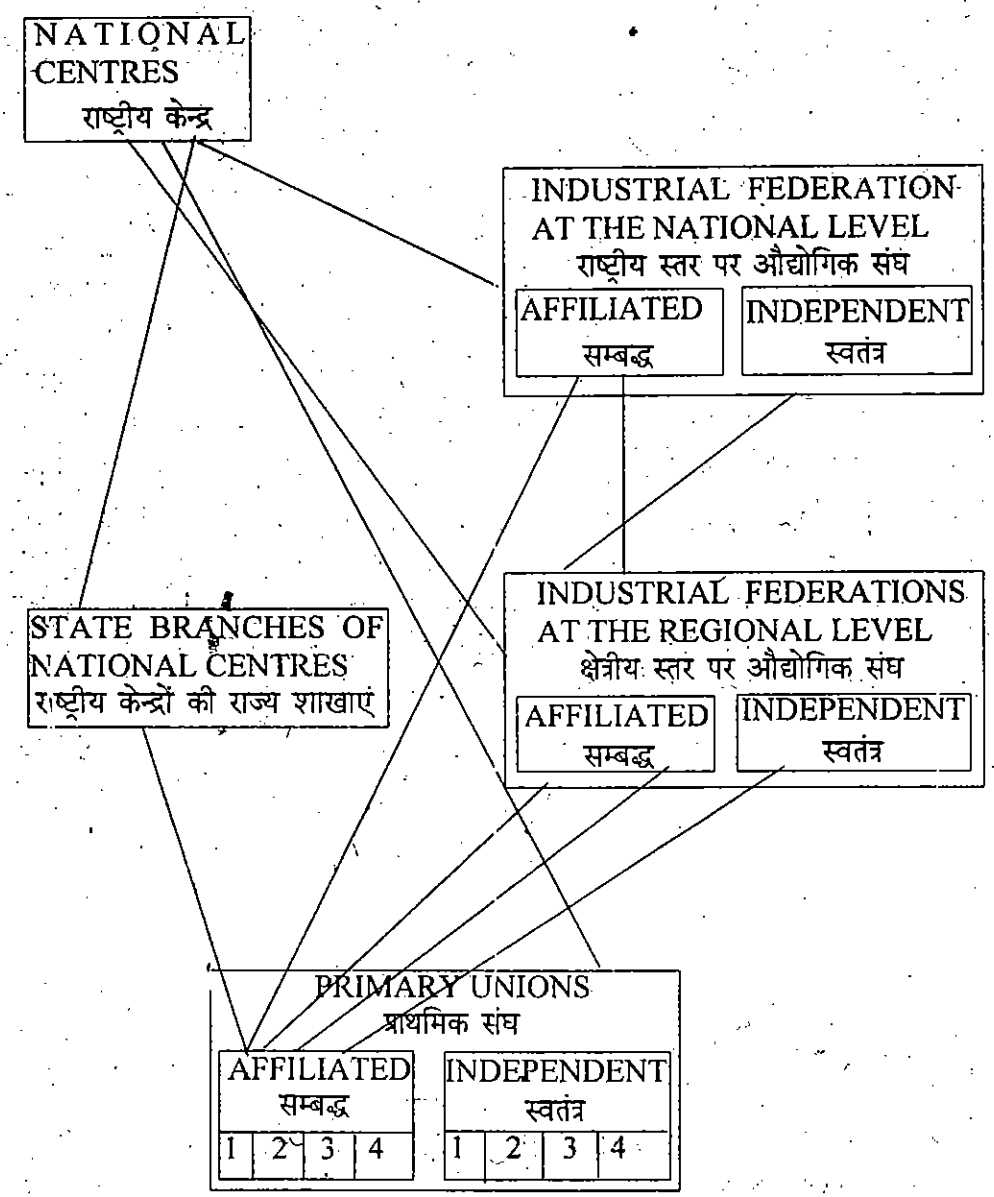

1. PLANT LEVEL INDUSTRIAL UNIONS
2. REGION CUM INDUSTRY LEVEL INDUSTRIAL UNIONS
3. EMPLOYER CUM LOCAL LEVEL GENERAL UNIONS
4. LOCAL CUM INDUSTRY LEVEL CRAFT UNIONS.

1. प्लांट स्तरीय औद्योगिक संघ
2. क्षेत्र तथा उद्योग आधारित औद्योगिक संघ
3. स्थानीय स्तर तथा नियोक्ता स्तरीय सामान्य संघ
4. स्थानीय उद्योग स्तरीय शिल्प (Craft) संघ

भारत में संघों को निम्न वर्गों में रखा गया है - प्राथमिक संघ, औद्योगिक संघ, राष्ट्रीय केन्द्र।

(i) **प्राथमिक संघ** - यह भारतीय ट्रेड यूनियन की संरचना की मूल इकाई है। यह अपने श्रमिकों की सदस्यता बढ़ाते हैं, स्थानीय कार्यालय चलाते हैं तथा औद्योगिक झगड़ों में मध्यस्थता करते हैं। यह संघ के सदस्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखते हैं यह श्रमिकों की नाराजगियों तथा औद्योगिक समस्याओं का सीधा सामना करते हैं। इनका गठन बहुत सारी स्थानीय स्थितियों तथा समस्याओं पर निर्भर करता है। अतः इनको तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है - औद्योगिक संघ, सामान्य संघ तथा क्राफ्ट संघ।

(अ) उद्योगों से सम्बन्धित प्राथमिक संघ -

भारत में ट्रेड यूनियनों की शुरूआत औद्योगिक संघों से ही हुयी है। प्रारम्भिक वर्षों में भारत के श्रमिक मुख्यतः अकुशल अथवा अर्द्धकुशल थे। क्राफ्ट के संदर्भ में उन्हें अधिक जानकारी नहीं थी। एक उद्योग से दूसरे उद्योग में बार-बार जाना, अथवा औद्योगिक क्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्र या औद्योगिक क्षेत्र में बार-बार आवजन आदि कुछ ऐसे कारण थे जिससे कोई ऐसी आवश्यकता नहीं पडी कि श्रमिकों की किन्हीं विशिष्ट आवश्यकताओं को उद्योगों द्वारा कुछ विशेष सुरक्षा दी जाये। इस सम्बन्ध में जागरूकता बाहर के व्यक्तियों द्वारा लायी गयी जो कि सभी श्रमिकों के बजाय कुछ श्रमिकों के कल्याण में अधिक रूचि रखती थी। प्रारंभ में इन औद्योगिक संघों के दरवाजे सभी लोगों के लिए खुले रहते थे, कोइ भी इनकी सदस्यता ग्रहण कर सकता था। खून उबालने वाले भाषण वहॉ पर श्रमिकों द्वारा अक्सर सुना जा सकता था, तथा ये भाषण श्रमिकों का आकर्षित भी करते थे। इन्हीं कारणों से इन श्रमिकों का राष्ट्रीय आन्दोलन से भी जुड़ाव हो सका। इन प्राथमिक संघों को पुनः दो भागों में बॉटा जा सकता है -

I. **प्लान्ट स्तर के औद्योगिक संघ** - इसमें एक फैक्ट्री या प्लान्ट के सभी सदस्य ऐसी यूनियनों के सदस्य होते है, चाहे वह उस उद्योग के अन्दर किसी भी शाख से सम्बन्धित हों, लेकिन इसमें प्रशासकीय और पर्यवेक्षकीय कार्यों वले लोगों को सम्मिलित नहीं किया जाता हैं।

II. **क्षेत्र तथा उद्योग आधारित औद्योगिक संघ** - इसमें एक शहर या एक निश्चित स्थान के एक जैसे उद्योगों के सभी श्रमिकों को मिलाकर ऐसे संघों का गठन किया जाता है। इस संघ का भी आधार विशिष्ट उद्योगों को सामाहित करने का प्रयास किया जाता है। तथा इसमें उद्योगों की संख्या व मजदूरों की संख्या सीमित नहीं होती। राष्ट्रीय मिल मजदूर संघ, गिरनी कामगार यूनियन इसी प्रकार के संघ हैं।

(ब) सामान्य स्वभाव के प्राथमिक संघ - इसके अन्तर्गत एक स्थान के सभी उद्योगों के श्रमिकों को आपस में मिलाने का प्रयास किया जाता है क्योंकि उस स्थान के सभी श्रमिक लगभग एक जैसी समस्याओं का सामना करते हैं। इस प्रकार के संघों की हड़ताल करने की शक्ति काफी अधिक होती हैं, क्योंकि सभी क्षेत्रों में एक ही स्थान पर एकत्रित हो सकते हैं। समान स्थान तथा समान नियोक्ता इस प्रकार के संघों के आधार हैं। ये संघ केवल स्थानीय स्तर पर कार्य करते हैं तथा ये क्षेत्रीय या प्रदेशिक स्तर पर कार्य नहीं कर पाते हैं। इसीलिए इन्हें श्रमिकों के स्थानीय स्तर का संघ कहा जाता है। इस सामान्य संघों का स्थान तो समान होता है और वहीं इनका मुख्य

आधार होता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इनका नियोक्ता भी समान हो। इसमें इस विशिष्ट स्थान के किसी भी उद्योगों का सदस्य बन सकता है।

(स) क्राफ्ट आधारित प्राथमिक संघ - इसके अर्न्तगत वे संघ आते हैं जिनके सदस्य उसी शिल्प या व्यवसाय से जुड़े होते हैं। इस प्रकार के संघ स्थानीय स्तर पर ही बहुत कम होते है, तो औद्योगिक तथा अर्न्तऔद्योगिक राष्ट्रीय स्तर के लिए क्या कहा जाये। रेलवे तथा हवाई यातायात में कुछ क्राफ्ट संघों का उदय हुआ हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कर्मचारियों में भी सेवा-वेतन श्रृंखला के आधार पर भी कुद इस प्रकार के संघ बनाये गये हैं। यदि ये वेतन श्रृंखला क्राफ्ट मजदूरों के साथ तुलनीय हैं तो इन्हें राज्य या राष्ट्रीय स्तर के क्राफ्ट संघ कहा जा सकता हैं। राष्ट्रीय स्तर पर औद्योगिक रोजगार के क्षेत्र में भी अब क्राफ्ट संघों का उदय हो रहा है।

(ii) औद्योगिक संघ - भारतीय ट्रेड यूनियन मूवमेंट की संरचना की अगली उच्चतर इकाई औद्योगिक संघ है। किसी विशेष उद्योग के कर्मचारियों की कुछ समस्यायें एक जैसी होती हैं जिनसे औद्योगिक स्तर पर निपटा जा सकता है। प्लान्ट स्तर के अथवा स्थान स्तर के संघों ने अपने विशिष्ट उद्योग के अनुसार राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय स्तर पर संघ बनाये हैं। जैसे इण्डियन नेशनल माईन्स वर्क्स फैडरेशन, इण्डियन आयरन एण्ड स्टील वर्क्स फैडरेशन, इण्डियन नेशनल डिफेंस वर्क्स फैडरेशन आदि। वेज बोर्डों का गठन, विभिन्न औद्योगिक समतियों का निर्माण तथा श्रम नीतियों के निर्माण में मजदूरों के प्रतिनिधियों से सलाह मशविरे की अधिक आवश्यकता आदि के कारण इन संघों का गठन तेजी से हो रहा हैं। नेशनल कमीशन ऑन लेबर ने कहा है कि "ऐसे संघों का निर्माण प्रोत्साहित किया जाना चाहिये क्योंकि यह सामूहिक सौदेबाजी में अधिक प्रभावी होते हैं तथा अपने उद्योगों के कर्मचारियों के कल्याण के हेतु शैक्षिक तथा शोध सम्बन्धी क्रियाऐं भी चलाते हैं।"

इस प्रकार के संघ जो कि क्षेत्रीय स्तर पर काम कर रहे हैं वे राष्ट्रीय स्तर पर इन औद्योगिक संघों के साथ अपने कों सम्बद्ध कर सकते हैं तथा राष्ट्रीय केन्द्रों के साथ भी अपनी सम्बद्धता बढा सकते हैं। यद्यपि कई औद्योगिक संघों ने स्वयं अपने को किसी राष्ट्रीय केन्द्र से सम्बद्ध कर रखा है परन्तु कुछ अपना स्वतंत्र आस्तित्व बनाये हुये हैं। इनमें प्रमुख ऑल इण्डिया रेलवे मैन्स फैडरेशन तथा ऑल इण्डिया डिफेन्स एम्पलाइ फैडरेशन हैं।

हो सकता है कि एक उद्योग में आपस में राजनैतिक आधार पर एक दूसरे के विरोधी संघ भी काम करते हों जैसे कोल माइनिंग एण्ड इंजीनियरिंग इण्डस्ट्रीज में ए.आई.टी.यू.सी. तथा आई. अन.टी.यू.सी. दोनों के अपने-अपने संघ हैं। बहुत से राष्ट्रीय औद्योगिक संघों ने अपने को इण्डियन ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 के अन्तर्गत पंजीकृत करवा रखा है। अतः जब कभी राष्ट्रीय स्तर के संगठनों हेतु सरकार को श्रमिक प्रतिनिधियों की आवश्यकता होती है तो मुख्यतः सरकार राष्ट्रीय केन्द्रों से अपने प्रतिनिधि भेजने का आग्रह करती है। क्षेत्रीय स्तर पर भी कुछ औद्योगिक संघों का गटन हुआ है, जैसे उत्तर प्रदेश चीनी मजदूर फैडरेशन तथा बिहार शुगर वर्क्स फैडरेशन आदि।

(iii) राष्ट्रीय केन्द्र -

भारतीय श्रमिक संघों की संरचना में सबसे उच्चतम बिन्दु पर राष्ट्रीय केन्द्र होते हैं प्राथमिक, क्षेत्रीय तथा औद्योगिक संघ सभी अपनी सुविधा के अनुसार इन राष्ट्रीय केन्द्रों से सम्बन्धित होते हैं। भारत में इन राष्ट्रीय केन्द्रों की संख्या चार, आई.एन.टी.यू.सी., ए.आई.टी.यू.सी., हिन्द मजदूर सभा तथा यू.टी.यू.सी. हैं। इनमें से आई.एन.टी.यू.सी. सबसे अधिक प्रभावी है, तथा इसकी सदस्य संख्या भी सर्वाधिक हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ कान्फ्रेंस में भाग लेने हेतु अपना प्रतिनिधित्व मण्डल भी भेजती है।

यह राष्ट्रीय केन्द्र अपने से सम्बन्धित संघों में सहयोग तथा निर्देशन हेतु मुख्य - मुख्य नीतियों बनाते हैं, परन्तु ट्रेड यूनयन गतिविधियों के मुख्य केन्द्र तो सम्बन्धित संघ ही होते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्राथमिक श्रमिक संघ ही भारत में संघीय गतिविधियों को संचालित करने की असली ताकत हैं। राष्ट्रीय केन्द्र तो अपने से सम्बन्धित पक्षों के बचाव में कभी-कभी ही आते हैं जैसे औद्योगिक विवादों के समय वे प्रचार कार्य करते हैं, धन राशि की व्यवस्था करते हैं तथा राजनैतिक सहयोग जुटाते हैं। परन्तु श्रमिक तथा नियोक्ता के बीच के वास्तविक समझौते में इनकी हिस्सेदारी कम ही होती है।

ये राष्ट्रीय केन्द्र अपनी प्रान्तीय शाखाएं भी रखते हैं। ये प्रान्तीय शाखाऐं राष्ट्रीय केन्द्रों के दिशा निर्देशों को ध्यान में रखते हुये अपने कार्य को करने के लिए स्वतंत्र होती हैं।

24.9 भारत में श्रमिक संघों की समस्याएं - भारत के श्रमिक संघों की कई समस्याएं हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं -

1. कई संघ तथा आपस में इनका विरोधाभास -

इसका अर्थ यह है कि एक ही उद्योग में कई संघ जो कि उसी वर्ग के श्रमिकों से अधिक से अधिक सदस्यता पाने हेतु आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते हैं एक ही उद्योग में कई संघों के गठित होने का प्रमुख कारण विचारधारा तथा राजनैतिक हितों की टकराहट है। यह भारतीय श्रमिक संघों की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसमें बाहर के राजनीति अपना रजनैतिक प्रभाव बढ़ाने हेतु नये-नये संघों के गठन को प्रोत्साहन देते हैं।

सिद्धांततः ट्रेड यूनियनिस्ट मानते हैं कि मिल-जुलकर आन्दोलन चलाना अधिक प्रभावी रहता है इसलिए मिलकर ही आन्दोलन चलाने चाहिए क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे श्रमिक एक जैसी समस्याओं का ही सामना करते हैं। अलग-अलग होने से संघ का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। परन्तु व्यवहार में राजनैतिक मुद्धे तथा पार्टी के फायदे अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। जो इनकी एकता को विखण्डित करते हैं। इनमें एकता न होने का मुख्य कारण श्रमिक संघों को राजनैतिक स्वरूप हैं। केन्द्रीय संगठन भी इनमें कोई सहयोग करवा पाने में आपने को असमर्थ पाते हैं क्योंकि इसमें कुछ सरकार विरोधी कुछ कम्यूनिस्ट विरोधी हैं।

श्रमिक संघों की आपसी प्रतिद्वन्दता कई तरीकों से अनकी एकता को कमजोर करती है जैसे (1) प्रत्येक संघ के पास उसकी स्थापना के समय लगभग आवश्यक सदस्यों की ही संख्या होती है तथा उन्हें अधिकांश सदस्यों का विश्वास प्राप्त नहीं होता। (2) ये अलग हुये संघ कुछ सीमित प्रकार की क्रियाओं से ही अपने को सम्बन्धित रखते है। अतः ये अवज्ञा, असहयोग, हडताल आदि को अधिक प्रोत्साहित करते हैं। (3) अधिकांश संघों ने कल्याणकारी योजनाओं तथा सामूहिक सहायता की योजनाओं के महत्व को नहीं समझा है।

इसके अलावा एक बड़ी समस्या तो किसी संघ के सदस्यों की आन्तरिक प्रतिद्वन्दता है। लोकतंत्रीय संस्थाओं की मजबूती हेतु यद्यपि स्वस्थ प्रितद्वन्दता एवं विपक्ष आवश्यक है परन्तु इसका बडा बुरा प्रभाव पड़ता है जब यह प्रतिद्वन्दता व्यक्तिगत कारणों से जुड़ी हुयी होती हैं।

2. राजनैतिक दलों का प्रभुत्व -

श्रमिक संघों की एक बहुत बड़ी समस्या-उन पर विभिन्न राजनैतिक दलों का प्रभाव हैं। श्रमिक संघों के अधिकांश निर्णय तो उन राजनैतिक दलों द्वारा किये जाते हैं जिनसे यह संघ सम्बधित होते हैं राजनैतिक परिस्थितियॉ बदलती हैं तो निर्णय भी बदल जाते हैं। राजनैतिक विचारधारा में टकराव होती हैं तो एक ही राजनैतिक विचारधारा से जुडे हुये संघों में भी टूटन आ जाती है तथा

वे अलग-अलग हो जाते हैं जिसका कि श्रमिक आन्दोलनों पर बुरा प्रभाव पड़ता हैं। इसी सम्बन्ध में रमन ने कहा हैं कि "श्रमिक संघों द्वारा राजनैतिक विधाओं का प्रयोग यद्यपि संघों को काफी लाभ पहुंचाता हैं परन्तु यह इनके लिए जब काफी खतरनाक हो जाता है जब राजनैतिक लड़ाई में श्रमिक संघ अपने को इनके पंजों के रूप में इस्तेमाल होने देते हैं। राजनैतिक दल किसी ऐसे श्रमिक संघ के बढ़ने या फलने-फूलने में बहुत मदद नहीं करते हैं, या दूसरे शब्दों में कहें तो कुछ हद उन्हें रोकते भी है जिससे श्रमिकोन्मुखी तथा श्रमिकों के विकास हेतु समर्पित ऐसे संघों की नींव मजबूत न हो सकें, जिनका कि नेतृत्व भी श्रमिकों के हाथ में हो।"

3. नेतृत्व की समस्या -

श्रमिक संघों की एक बहुत बड़ी समस्या, नेतृत्व की समस्या हैं, जैसे नेतृत्व किसके द्वारा किया जाये, जो राजनैतिक व्यक्ति है, या जो वकील है, या जो डॉक्टर हैं, या जिन्होंने फैक्ट्री में शारीरिक रूप से कोई काम किया हीं नहीं। हमारे यहाँ राष्ट्रीय तथा स्थानीय दोनों स्तर पर नेतृत्व श्रमिकों के स्थान पर बुद्धीजीवी वर्ग के लोगों के हाथ में रहा हैं। इनमें से कुछ राजनीतिक इच्छाओं को रखते हुये भी राजनैतिक दलों से अपने काल अलग रखते हैं। कुछ श्रमिकों के कल्याण में अपनी रूचि रखते हैं तथा उनकी कोई राजनैतिक प्रतिबद्धता नहीं होती है, तथा कुछ न तों राजनैतिक रूप से जागरूक होते हैं, और न ही श्रमिकों के कल्याण में उनकी रूचि होती है बल्कि वे अपने फायदे के लिए इन संघों का प्रयोग करते हैं।

श्रमिक संघों की कार्यकारिणी में बाहरी नेता हर समय अल्पसंख्यक में होते हैं। ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 में कहा गया है कि पंजीकृत संघ की कार्यकारिणी में कम से कम आधे सदस्य ऐसे अवश्य होंगे जो कि उस श्रमिक संघ से सम्बन्धित उद्योगों में वास्तव में काम कर रहे हैं। संघ की कार्यकारिणी में बाहरी व्यक्तियों का प्रतिशता औसतन 10 होता है, जो कि कानून द्वारा स्वीकृत प्रतिशत से भी कम होता है। फिर भी निर्णय की प्रक्रिया में ये लोग बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राजनैतिक नेता मुख्यतः अपने स्वार्थ के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अधिक प्रयासरत रहते हैं तथा श्रमिकों की वेतन, भुगतान सम्बन्धी समस्याओं पर कम ध्यान देते हैं। क्योंकि इन नेताओं की पकड बहुत सारे संघों पर होती हैं अतः वे किसी एक विशिष्ठ संघ पर ठीक से ध्यान नहीं दे पाते हैं। बाहरी नेतृत्व संघ में राजनैतिक दखलन्दाजी को बढ़ाता है जिससे संघ के अन्दर ही विवाद बढते हैं तथा कई गुट जन्म लेते हैं। परिणामस्वरूप इनके सदस्यों की संख्या काफी कम रहती है तथा वित्तीय स्थिति कमजोर रहती है। इस प्रकार ये संघ सामूहिक सौदेबाजी के लिए बाहरी नेताओं पर निर्भर करते हैं तथा उनके चंगुल से मुक्त हो पाना कठिन होता है।

4. वित्तीय कमजोरी -

श्रमिक संघों की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर रहती है तथा उनकी वार्षिक आय काफी कम और अपर्याप्त होती है। इन संघों की आय का मुख्य श्रोत सदस्यों द्वारा दिया गया सदस्यता शुल्क हैं। इस शुल्क की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि संघ द्वारा किस प्रकार के कार्य किये जा रहे हैं तथा उनसे लोगों की क्या अपेक्षाऐं हैं। इसके अलावा संघ की आय के अन्य श्रोत दान, संघ के द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं की बिक्री तथा विशेष चन्दा एकत्रित करना, आदि हैं। 1951 में इन संघों की आय 50.84 लाख रुपये तथा खर्च 45.32 लाख रुपयें था, जबकि 1976 में इनकी आय 664.20 लाख तथा खर्च 597.10 लाख रुपये था। आगे के दिनों में भी आय और व्यय की ऐसी ही प्रवृत्ती दिखाई पड़ती रही। परन्तु जैसी इन संघों की आवश्यकताऐं हैं तथा सदस्यों की जितनी इनसे अपेक्षाऐं हैं, और जिस प्रकार के इनके कार्य होने चाहिये, उसके हिसाब से इन संघों की आय काफी अपर्याप्त हैं। कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण इन संघों की कार्यवाहियाँ चाहे वा हड़ताल हो या विवादों के निपटारे हेतु सामूहिक सौदेबाजी हो, अथवा

कल्याणकारी योजनाएं हों, प्रभावित होती है। इसकी वजह से न तो श्रमिक संघ कोई साहसिक गतिविधियों को कर पाते हैं और न ही औद्योगिक विवादों के समय लम्बे समय तक विरोध में खडे रह सकते हैं। ऐसी स्थितियों में बाहरी नेतृत्व जो कि अपने जीवन यापन के लिए संघों के साधनों पर पूर्णतः निर्भर नहीं रहता हैं, तथा संघ के आन्दोलनों के लिए समर्पित भी होता है वह काफी प्रभावी सिद्ध होता है।

5. श्रमिक संघों का छोटा आकार

यद्यपि ट्रेड यूनियनों का आकार छोटे से लेकर बड़े तक विभिन्न स्वरूपों का हैं, परन्तु अधिकांश संघों का आकार काफी छोटा व सदस्य संख्या कम है। कुछ बडे श्रमिक संघ जैसे लेबर टेक्सटाइल एसोसिएशन ऑफ अहमदाबाद आदि, जिनकी सदस्य संख्या काफी है। विभिन्न श्रमिक संघों की आपस की प्रतिद्वद्विता के कारण, इनमें बार बार बंटवारा हुआ तथा सदस्य संख्या और घटती रही। एक श्रमिक संघ की औसतन सदस्य संख्या सन 1948 में 1026 थी, जो कि 1973 में 696 तथा सन् 1977 में 660, सन् 1981 में 841 व सन् 1982 में यह संख्या पुनः घट गई। इन छोटे श्रमिक संघों के कारण मुख्यतः दो प्रमुख बाते उभरती है (1) यह संघ प्रभावशाली सामूहिक सौदेबाजी (Bargaining) नहीं कर पाते है (2) इन संघों की आर्थिक स्थिति अत्यधिक कमजोर हो गई है।

6. मान्यता की समस्या -

इण्डियन ट्रेन यूनियन एक्ट 1916 मान्यता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता है। नियोक्ता एक या एक से अधिक यूनियन को अपनी रूचि से मान्यता देने के लिए विधायी रूप से स्वतंत्र था। कभी कभी वह किसी भी यूनियन को मान्यता नहीं देता था। कभी कभी नियोक्ता यदि संघ के मान्यता देना भी चाहे, तो उसे यह पता लगाना कठिन था कि किस संघ को मान्यता दी जाए। प्रायः श्रमिक संघ, श्रमिकों के उचित प्रतिनिधि होने के बजाए अपने राजनैतिक विश्वासों व स्वार्थों से अधिक प्रभावित होते हैं। कई देशों में सरकार ने यह कानून व्यवस्था बना रखी हैं कि उद्योग श्रमिकों के हितों की रक्षा हेतु "श्रमिक संघों" को मान्यता अवश्य प्रदान करें। भारत में अभी तक मान्यता है कि श्रमिक संघों व नियोक्ताओं के मध्य अच्छे सम्बन्ध आपसी सदभाव तथा एक दूसरें के प्रति सम्मान के भाव द्वारा ही हो सकता है। अतः "मान्यता" का यह प्रश्न संघ तथा कर्मचारियों के नियोक्ताओं पर छोड़ देना अधिक उचित रहेगा ताकि आपसी समझ से यह दोनों संतोषजनक सम्बन्ध विकसित कर सकें।

एन.सी.एल. की यह राय हैं कि उन श्रमिक संघों को मान्यता मिलनी चाहिए जो कि सदस्यों के वास्तविक प्रतिनिधि हो। यदि वह संघ अपनी संख्या के 30% से अधिक सदस्यों का प्रतिनिधत्व करते हैं तो उन्हें नियोक्ताओं से मोलभाव करने का अभिकर्ता माना जा सकता है। एक ही उद्योग में श्रमिक संघो की अधिकता के कारण यह जानना कठिन हो जाता है कि किसे सोल (Sole) प्रतिनिधि माना जाए। इसके लिए समस्त कर्मचारियों से मतदान कराकर "उचित प्रतिनिधि संघ" का चुनाव किया जा सकता हैं एन.सी.एल. मानता है कि "मान्यता प्राप्त यूनियन" को विशिष्ट अधिकार दिए जाने चाहिए, जबकि छोटी यूनियनों को केवल यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह अपने सदस्यों के निलम्बित या नौकरी से निकाले जाने पर श्रय न्यायालयों में रिप्रेजेन्ट कर सकें।

7. विषम या असमान उन्नति (Unevengrowth) -

श्रमिक संघों की बहुत से क्षेत्रों जैसे कोयला खान, खाद्य प्रसंकरण, प्रिंटिंग प्रेस, कपड़ा उद्योग, रसायनिक परिवहन, संचार आदि क्षेत्रों में तो काफी प्रगति की है, परन्तु बहुत से क्षेत्रों

में अभी भी इनकी पहुंच नहीं बन पाई हैं। इन संघों का प्रमुख क्षेत्र वृहद औद्योगिक संस्थान (Large Scale Industry) रहे हैं तथा इनमें भी हस्त कार्य करने वाले श्रमिकों पर ज्यादा ध्यान दिया गया है। श्रमिक संघों का सर्वाधिक कार्यशील क्षेत्र "सूतीवस्त्र उद्योग" की मिलें रही है - क्योंकि यहीं से श्रमिक आन्दोलनों की शुरूआत हुई थी तथा यही श्रमिकों की मुख्य समस्याओं तथा कार्यवाहियों का केन्द्र भी रही हैं।

कुछ राज्यों में ही अधिक औद्योगिकरण होने से श्रमिक संघो का इन्ही राज्यों में ज्यादा प्रभाव रहा जैसे सूती वस्त्र श्रमिक मुख्यतः बम्बई, अहमदाबाद तथा बडौदा में ही केन्द्रित रहे हैं। ऐसे उद्योग जिनमें कार्यालयी कार्य (Write Coelor Job) तथा प्रबन्धन कैडर के लोग काफी मात्रा में है, वहाँ भी इस स्तर के लोगों के लिए ट्रेड यूनियनें काफी अप्रभावी हैं लघु उद्योगों, घरेलू नौकरी तथा कृषि श्रमिकों में तो बहुत ही कम लोग किसी भी संघ के सदस्य हैं। इन्हीं कारणों से राष्ट्रीय स्तर के लिए चुनौती पूर्ण कार्यों को पूरा करने में श्रमिक अपने को असमर्थ पाते हैं।

24.10 सारांश

देश के विकास तथा उसकी योजनाओं की सफलता में ट्रेड यूनियनें (श्रमिक संघ) काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिकों को उचित शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्रदान किया जाए ताकि वे मजबूत व स्वस्थ संघों के लाभों से परिचित हो सकें। विभिन्न श्रमिक संघों में एकता बनाए रखने के भी प्रयासों को गति देनी चाहिए ताकि एक उद्योग ही में एक ही श्रमिक संघ हो।

आज इस बात की अति आवश्यकता है कि श्रमिक संघ अपने से राजनीतिक दलों को दूर रखें। इन संघों को राजनीति से दूर होकर मजदूर वर्ग तथा राष्ट्रीय हितों के कल्याण के परिप्रेक्ष्य में अपनी गविधियॉ संचालित करनी चाहिए। श्रमिक संघों को अब परम्परागत झगड़ा तथा अक्रामक प्रवृत्तियों से दूर रहकर श्रमिकों हेतु कल्याणोन्मुखी योजनाओं की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए। श्रमिक आन्दोलनों को और अधिक गतिशील बनाया जा सकता है, यदि यह संघ अधिक मजबूत हो तथा अधिसंख्य श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हों। इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए इन संघों को उचित प्रयास करना चाहिए ताकि उद्योगों में शांति बनी रहे तथा श्रमिकों की क्षमता में भी विकास हो।

24.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आधुनिक श्रमिक संघो का मूल्यांकन कीजिये।
2. भारतीय श्रमिक संघों द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्यों का विस्तृत वर्णन कीजिये।
3. भारतीय श्रमिक संघों की संरचना का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
4. भारतीय श्रमिक संघ कौन-कौन सी प्रमुख समस्याओं का सामना कर रहे है? विस्तार से वर्णन कीजिये।
5. भारत में श्रमिक संघों के गठन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

24.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सक्सेना, बी.सी., लेबर प्रोबलम्स एण्ड सोशियल वेलफेयर, के. नाथ एण्ड कम्पनी मेरट
2. मामोरिया, सी.बी. एण्ड सतीश, डायनामिक्स ऑफ इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स, तृतीय संशोधित संस्करण, 1991

3. त्यागी, बी.पी., लेबर इकोनॉमिक्स एण्ड सोशियल वेलफेयर, पाँचवा संस्करण, 1990
4. क्रॉउच, हरोल्ड, ट्रेड यूनियन्स एण्ड पोलिटिक्स इन इण्डिया, 1966
5. मेयर्स, सी.ए., इन्डस्ट्रियल रिलेशन्स इन इण्डिया, 1958
6. केटलिन, डब्ल्यू. बी., दी लेबर प्रॉबल्म पेज 398

इकाई 25

औद्योगिक शान्ति - बचाव और समझौते

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 औद्योगिक विवादों से बचाव के उपाय

- 25.2.1 संयुक्त विचार विमर्श
- 25.2.2 अनुशासन
- 25.2.3 शिकायतों के निपटाने की पद्धति
- 25.2.4 अनुशासनात्मक पद्धति
- 25.2.5 श्रमिकों की आर्थिक परिस्थितियों में सुधार

25.3 औद्योगिक विवादों का निपटारा

- 25.3.1 समझौता
- 25.3.2 मध्यस्थता और सांत्वना
- 25.3.3 पंच फैसला

25.4 सारांश

25.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.6 निबन्धात्मक प्रश्न

25.0 उद्देश्य

औद्योगिक प्रगति एवं तेजी से आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक शान्ति आवश्यक है। इसकी दो विधियां है पहली, जिसमें विवादों से बचा जाता है एवं दूसरी जिसमें विवाद होने पर समझौते के प्रयास किए जाते हैं। इस इकाई का उद्देश्य दोनों प्रकार की विधियों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करना है।

25.1 प्रस्तावना

औद्योगिक अशांति के नाम से ही यह ध्वनि निकलती है कि मजदूरों की हड़ताल या मालिकों द्वारा तालाबंदी। आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक शांति रहना मूलभूत आधार है। औद्योगिक अशांति के कारण शांति भंग होती है, उत्पादन गिरता है, उत्पादन का मूल्य बढ़ता है। इसके साथ ही आर्थिक अभावों से मजदूरों की कठिनाईयाँ बढ़ती है, बाजार में माल की आपूर्ति में बाधा पहुँचने के कारण उपभोक्ता परेशानी महसूस करता है। सरकार को भी राजस्व की हानि होती है। औद्योगिक अशांति त्रिकोणीय हथियार है - चाहे मजदूरों की ओर से हड़ताल की जाय या मालिक तालाबंदी करें। जैसी भी स्थिति हो लाभ किसी को भी नहीं पहुँचता। इससे शाति भंग होती है।

अतः औद्योगिक विवाद से बचने के लिए हर सम्भव प्रयास किए जाने चाहिए। इस प्रकार की स्थिति से उबरने के लिए या बचने के लिए दो प्रमुख तरीके हैं :—

(1) विवादों से बचने के लिए कार्यवाही करना तथा

(2) विवादों के सम्बन्ध में समझौते करना या उनका निवारण करना।

25.2 औद्योगिक विवादों से बचाव के उपाय

बचाव हमेशा इलाज से ज्यादा अच्छा होता है। अतः सर्व प्रथम हम उन उपयों पर विचार करेंगे जिनके आधार से विवादों को दूर रखा जा सके - प्रबन्धकों और मजदूरों के मध्य अच्छे सम्बन्धों को विकसित किया जा सके। इन उपयों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(1) संयुक्त विचार विमर्श

अ. श्रम समितियाँ

ब. प्रबन्धकों के साथ संयुक्त परिषदें

(2) अनुशासन संहिता

(3) शिकायतों को निपटाने की पद्धति

(4) अनुशासनात्मक पद्धति

(5) श्रमिकों की आर्थिक परिस्थितियों में सुधार।

25.2.1 संयुक्त विचार-विमर्श

इसके लिए दो मार्ग हमारे यहाँ हैं —

(1) श्रम समितियाँ

(2) प्रबन्धन के साथ संयुक्त परिषद

(1) श्रम समितियाँ – मजदूरों के सम्बन्ध में रायल कमीशन बनाया गया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि मजदूरों के साथ आने वाली बाधाओं को दूर करने या समझौते करने के लिए श्रम समितियों को स्थापित किया जाना चाहिए। इस प्रकार की समितियां उद्योग में आन्तरिक यंत्र के रूप में कार्य करती हुई उपयोगी सिद्ध होती है।

ऐसी समितियों से जहाँ दिशा मिलती है वहीं नये मार्ग खुलते हैं। आयोग द्वारा दिए गए इस सुझाव का स्पष्ट प्रभाव आगे चलकर बनाई गई श्रम नीतियों तथा बनाये गए कानूनों से ज्ञात होता है।

औद्योगिक विवाद कानून सन् 1947 की धारा 3,1 व 2 के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि जिस उद्योग में 100 या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हों वहाँ ऐसी श्रम समितियां स्थापित की जाय जिनमें श्रमिक और मालिक दोनों का ही प्रतिनिधित्व हो। इन समितियों का मुख्य कार्य यह रहेगा कि उद्योग में दिन प्रतिदिन कार्य संचालन में आने वाली समस्यायों पर मित्रतापूर्वक और आत्मीयता पूर्ण वातावरण के बीच विचार विमर्श किया जाय। ऐसा होने पर आपसी विवादों को शीघ्रतापूर्वक निपटाया जा सकता है। इससे उद्योग में शांतिपूर्वक आगे बढ़ते हुए प्रगति की जा सकती है।

इस प्रकार की समिति का गठन करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए

कि दोनों ओर से बराबर सदस्य संख्या हो। यह भी स्पष्ट किया गया है कि जो प्रतिनिधि बने वह श्रमिक उसी उद्योग में कार्यरत होना चाहिए। यदि पंजीकृत श्रमिक संगठन हो तो उसमें से भी प्रतिनिधि लिए जा सकते हैं।

कार्य – भारतीय मजदूर सम्मेलन सन् 1959 में श्रम समितियों के कार्यों को निम्न प्रकार से निर्धारित किया गया है —

(i) उद्योग में रोशनी, तापमान, वातायन, स्वास्थ्य, सुरक्षा, मूत्रालय, शौचालय आदि की व्यवस्था देखना।

(ii) पीने का पानी, जलपान गृह, भोजन व विश्राम के लिए कमरे, स्वास्थ्य एवंम् चिकित्सा सेवाएं।

(iii) सुरक्षा और दुर्घटना से बचाव, व्यवसायिक बिमारियां और उनसे बचने के उपाय।

(iv) राष्ट्रीय दिवस और त्यौहारों के लिए अवकाशों का निर्धारण।

(v) श्रम कल्याणकारी और दण्ड कोष का संचालन।

(vi) शैक्षणिक और मनोरंजक गतिविधियां।

(vii) मितव्ययता और अल्प बचत के लिए प्रोत्साहित करना।

(viii) श्रम समितियों में लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करना।

प्रभावी न हो पाने के कारण – इस संदर्भ में राज्य सरकार, मालिकों और संगठनों ने अपने अपने ढंग से बात कही है। राज्य सरकार ने यह व्यक्त किया कि सलाहकारी सुझावों का वास्तविक क्षेत्र और कार्य क्या है? इस प्रकार से स्पष्ट चिन्हित नहीं होने के कारण संदिग्धता बनी रहती है। इसके साथ ही संगठनों में आपसी विरोध, संगठनों द्वारा किए जाने वाले विरोध के कारण मालिक इस माध्यम को अपनाने के लिए इच्छुक नहीं रहते। ऐसी स्थितियों में श्रम समितियों का प्रभाव नहीं बन पाता।

मालिकों की परिषदें श्रम समितियों की असफलता के लिए एक प्रमुख कारण हैं। इसके अतिरिक्त संगठनों की आपसी द्वैषता, संगठनों के प्रति अनिच्छा और स्वंय सदस्यों द्वारा अन्य मुद्दों को बैठकों में उठाकर श्रम समितियों के मूल उद्देश्य को कमजोर कर देते हैं।

संगठनों का मत है कि संगठन और श्रम समिति के कानूनी अधिकार के सम्बन्ध में विवाद रहना तथा मालिकों का संगठनों के प्रति असहयोग का परिणाम ही असफलता का सामान्य कारण होता है।

वास्तविक स्थिति यह है कि श्रम समितियों के पास किसी भी प्रकार के प्रशासनिक अधिकार नहीं होने के कारण ये समितियाँ अपने द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने में असफल रहती है। इनका कार्य मात्र विभागीय समाचारों की चर्चा करना और उनपर सुझाव देना ही होता है। उद्योग सम्बन्धी कार्य संयुक्त परिषद के अन्तर्गत रहता है। इस कारण उन मामलों में भी किसी प्रकार का दखल नहीं रहती। अनेक बार तो श्रम समितियां संयुक्त परिषदों की उप समितियां बनकर रहती हैं। श्रम समितियों का मूल्यांकन करने से स्पष्ट होता है कि ये समितियां आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे की ओर चली गई हैं। इन समितियों का प्रारम्भ उद्योगी समस्यायों पर विचार-विमर्श से हुआ था। परन्तु बाद में श्रमिकों और प्रबन्धकों के बीच मात्र हाँसिए की समस्याओं तक ही सिमट कर रह गया।[1]

(1) दी नेशनल कमीशन आफ लेबर - पृ. 343

सफलता के लिए शर्तें – मजदूरों के लिए गठित राष्ट्रीय आयोग के अनुसार इस प्रकार की समितियों की सफलता के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं :–

(i) प्रबन्धकों का रुख अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण हो।

(ii) संगठनों की ओर से प्रर्याप्त सहयोग मिले।

(iii) श्रम समितियों के कार्यों और उनमें क्षेत्रों को भली प्रकार चिन्हित किया जाय।

(iv) श्रम समितियों के सुझावों को हृदय से क्रियान्वित किया जाये।

(v) संस्थान में अन्य बिन्दुओं पर गठित अन्य समितियों में आपसी ताल मेल प्रारम्भिक स्तर से ही रहना चाहिए तथा प्रबन्धकों के साथ उचित ताल मेल रहे।

कमीशन ने यह मत भी प्रकट किया कि जहाँ पर 100 या 100 से अधिक श्रमिक कार्य करते हों वहाँ पर श्रम संगठन की मान्यता अनिवार्य हो तथा श्रम समिति के लिए श्रमिक प्रतिनिधि का चयन करने का अधिकार उन्हें हो।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी कठिनाईयाँ हैं –

(i) प्रबन्धकों की उदासीनता।

(ii) श्रम समिति के लिए कार्य क्षेत्र की अस्थिरता।

(iii) निर्विवाद निर्णयों का भी क्रियान्वयन नहीं होना।[2]

2. संयुक्त समितियाँ या संयुक्त प्रबन्धन परिषदें – अप्रैल सन् 1956 में केन्द्रीय सरकार द्वारा घोषित उद्योग नीति के एक प्रस्ताव के अनुसार इस प्रकार की परिषदों या समितियों के निर्माण के विचार को जन्म मिला। इस वैचारिक निर्णय की मंशा यह है कि समाजवादी गणतंत्र में उद्योग के विकास में श्रमिक की भूमिका एक सामान्य हिस्सेदार के रूप में रहनी चाहिए। श्रमिक को इसमें अपनी भागीदारी पूर्ण उत्साह के साथ निभानी चाहिए..... इसके लिए संयुक्त विचार विमर्श तथा श्रमिकों व तकनीशियनों की जहाँ तक सम्भव हो सके विकास करने मेंउनकी भागीदारी बन सके और वे सहभागी सिद्ध हों। सार्वजनिक उद्यमों में विशेष रूप से इस प्रकार के उदाहरण होने चाहिए।[3] आपसी विचार विमर्श को अधिक से अधिक बढ़ावा देने के लिए संयुक्त प्रबन्ध परिषदों की स्थापना की जानी चाहिए।

उद्देश्य - संयुक्त प्रबन्ध परिषदों की स्थापना के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार से हैं –

(i) प्रबन्धकों और श्रमिकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहित करना।

(ii) उत्पादन में गुणात्मक और मात्रात्मक वृद्धि करने हेतु।

(iii) श्रमिकों के कल्याण के लिए अच्छी सुविधाएँ उपलब्ध करवाना। श्रमिक-प्रबन्ध में अपनी भागीदारी जिम्मेदारी के साथ निर्वाह कर सकें। इस दृष्टि से उसे प्रशिक्षित करना।

सफलता के लिए शर्तें – सन् 1958 में सम्पन्न हुए त्रिमुखी सम्मेलन जो कि राष्ट्रीय स्तर का था उसमें यह अंकित किया गया कि संयुक्त परिषदों का विकास तभी सम्भव है जब उद्योग में सभी पक्षों में आपसी विश्वास और आत्मीयता हो। यह भी महसूस किया गया कि प्रबन्धकों और श्रम संगठनो तथा श्रमिकों के बीच इस प्रकार के सम्बन्धों को विकसित करने के लिए निरन्तर शिक्षण और प्रयत्नों की आवश्यकता है।

---

(2) जीवन तानिक वरकर्स पारटीसिपेसन्स इन मेनेजमेंट पृ. 106 इण्डियाज इण्डस्ट्रियल इकोनॉमी में विश्वनाथ द्वारा उद्धरित।

(3) दूसरी पंचवर्षीय योजना - पृ. 49

अत: इसके लिए आपसी विश्वास, शिक्षण, और उपयुक्त वातावरण मूल तत्व है।

कार्य - संयुक्त परिषदों के निम्न आवश्यक लक्षण हैं -

(i) संयुक्त परिषद विशेष मुद्दों पर विचार करने के लिए अधिकृत होनी चाहिए।

(ii) कुछ अन्य मानसों में प्रबन्धकों से यह अपेक्षा की जाती है कि परिषद को समय समय पर आवश्यक जानकारियां उपलब्ध करावें।

(iii) निर्धारित कार्यक्रमों के अनुरूप इस परिषद को अनुरूप प्रशासनिक उत्तरदायित्व दिए जावें।

आई.आई.सी. के पन्द्रहवें अधिवेशन में संयुक्त परिषदों के लिए निम्न प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य तय किए गए थे —

(i) कर्मचारियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने का कार्य।

(ii) उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास।

(iii) कर्मचारियों से सुझाव प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना।

(iv) प्रशासन के अन्तर्गत - कानूनों और समझौते को क्रियान्वित करवाने में सहयोग करना।

(v) प्रबन्ध और कर्मचारियों के बीच अधिकृत संवादवाहक, या शृंखला (चैनल) के रूप में कार्य करना।

(vi) कर्मचारियों में उद्योग में भागीदारी लेने की भावना पैदा करना।

2. प्रबन्धक को परिषद से निम्न बिन्दुओं पर विचार करना होगा —

(i) सामान्य प्रशासन के अन्तर्गत स्थाई आदेश में किसी भी प्रकार के संशोधन करने की आवश्यकता पड़ने पर।

(ii) मशीनों को बदलने या उद्योग को पुनर्गठित करने के लिए श्रमिकों की कमी करने पर।

(iii) उद्योग के किसी अनुभाग में कार्य को बंद करने या कम करने की स्थिति में।

3. परिषद- प्रबन्धक से निम्न बिन्दुओं पर जानकारी लेगी - विवेचन करेगी और सलाह देगी —

(i) कर्मचारियों की दशा और उनकी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में।

(ii) उत्पादन, बाजार और बिक्री पर निगाह रखना।

(iii) संगठन को ठीक प्रकार से चलाने के लिए ली गई जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में।

(v) उत्पादन और कार्यों के तरीकों की जानकारी।

(vi) वार्षिक आय-व्यय, लाभ हानि तथा इससे सम्बन्धित सभी प्रकार के अभिलेखों की जानकारी।

(vii) पुनर्गठित करने या लम्बे समय के लिए किए जाने वाले विस्तार कार्यक्रमों की जानकारी।

(viii) इसी प्रकार अन्य ऐसे बिन्दुओं पर जिन पर आपसी सहमति हो सके।

4. परिषद को निम्न जिम्मेदारियां सौंपी जानी चाहिए —

(i) जन कल्याण से सम्बन्धित प्रशासनिक कार्य।

(ii) सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था।

(iii) उद्योग सम्बन्धी प्रशिक्षण देने तथा प्रशिक्षुओं के लिए बनाई गई योजनाओं का संचालन करना।

(iv) कर्मचारियों के सम्बन्ध में कर्मचारियों से ही प्राप्त सुझावों का मूल्यांकन कर जिनके सुझाव अच्छे हो उन्हें पुरूस्कृत करना।

(v) संयुक्त परिषद के साथ आपसी सहमति से अन्य किसी भी मुद्दे पर विचार करना।

यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि कर्मचारियों के वेतन, बोनस, इकरार आदि के सम्बन्ध में संयुक्त उत्तरदायित्व होता है। परन्तु ऐसी परिषदों के कार्य क्षेत्रसे इन विषयों को बाहर रखा गया है। कर्मचारी की व्यक्तिगत शिकायतों को भी इस परिषद से बाहर रखा गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मालिकों और श्रमिकों के बीच में आवश्यकतानुसार आने वाले नये अधिकारों को इन परिषदों के कार्य क्षेत्र से अलग रखा गया है।

कार्यक्रमों का मूल्यांकन करना - परिषदों का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उससे बाहर से ऐसा लगता है कि आपस में एक दूसरे का सहयोग है परन्तु आन्तरिक स्थिति यह है कि इनका कार्य सन्तोषजनक नहीं है। आपसी उचित तालमेल के अभाव में लगभग निष्क्रिय सी रहती है। राष्ट्रीय मंचों पर तो जो प्रतिनिधि जाते हैं वे बड़े जोर खरोश से अपने विचार व्यक्त करते हैं परन्तु वापिस लौटने के बाद शांत नजर आते हैं। जहाँ मालिक प्रगतिशील होता है वहाँ तो वह पहले से ही ऐसी व्यवस्था कर देता है। जहां मान्यता प्राप्त श्रमिक संगठन होते हैं वहां मालिक उनके माध्यम से श्रमिकों के बीच अपनी पद्धति बना लेता है इसका कारण वहां ऐसी परिषदों का कोई उपयोग हो नहीं पाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ की परिषदें भी लगभग अर्थहीन रहती है। मालिक ऐसी परिषद को रखने में रुचि नहीं रखते और ऐसी परिषदों को वे मात्र संख्या बढ़ाना ही मानते हैं। इसके साथ ही एक विचित्र तथ्य यह भी है कि एक ओर मालिक इनको सहयोग नहीं करते और दूसरी ओर मान्यता प्राप्त श्रमिक संगठन भी इन परिषदों के अस्तित्व को बर्दाश्त नहीं करते।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त परिषदों को न तो मालिक सहयोग करता है और न ही मान्यता प्राप्त श्रमिक संगठन ही समर्थन करते हैं - ऐसी स्थिति में इनकी कर्यवाही दो पाटों के बीच में ही रह जाती है। इन परिषदों की सफलता तभी हो सकती है जब इनको दृढ़ बनाने के लिए सर्वमान्य प्रयास किए जावें।

इसके लिए अतिरिक्त यह भी प्रकट हुआ है कि जिन उद्योगों में अशांति रहती है, मालिक और श्रमिक के बीच मधुर सम्बन्ध हो, किसी भी प्रकार की समिति का अस्तित्व नहीं हो, मान्यता प्राप्त श्रमिक संगठन भी न हो वहाँ पर भी संयुक्त परिषदें किसी प्रकार के सुखद परिणाम प्राप्त नहीं कर पाई है।

संयुक्त परिषदों के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आयोग श्रम ने यह महसूस किया कि उद्योगों में जब मान्यता प्राप्त संगठनों को स्वीकार कर लिया गया है, और उस पद्धति को क्रियान्वित किया जा चुका है, तो उस स्थिति में मालिक श्रमिक संगठन को ही प्रमुखता देगा और वह ऐसी परिषद को हमेशा नजर अन्दाज ही करता रहेगा। आयोग ने भी यह पाया कि द्विपक्षीय स्थितियों का अधिक विस्तार भी फलदाई नहीं हो पाया है।[5]

25.2.2 अनुशासनात्मक संहिता

सिद्धान्तों और नियमों को क्रियान्वित करने के लिए अनुशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती

(4) दी नेशलन कमीशन आन लेबर - पृ. 345
(5) दी नेशलन कमीशन आन लेबर - पृ. 345

है। अपने मस्तिष्क की उपज और नियमों से दूर रहते हुए भी नैतिकता के आधार पर स्वअनुशासन से अनेक हितकारी कार्य हो जाते हैं। अनुशासन हीनता के पनपने के कारण अधिकार और उत्तरदायित्वों का अध्ययन कर उस पर आधारित एक संहिता बनाई गई। जून 1958 ई. में सर्व प्रथम अनुशासनात्मक संहिता को लागू किया गया।

उद्योगों में अनुशासन संहिता - परिस्थितियों को देखते हुए प्रबन्धकों और श्रमिकों के बीच नियमानुसार सम्बन्ध रह सके इस दृष्टि से अनुशासन संहिता निम्न तत्वों पर आधारित रखी गई। इसके बिना अनुशासन सम्भव नहीं है।

(अ) उद्योग में अनुशासन कायम करना - (सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में) –

(i) समय-समय पर होने वाले द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय समझौतों को लागू कर कानूनों के आधार पर मजदूरों और मलिकों के बीच अधिकार और उत्तरदायित्व का निर्धारण कर कार्यवाही करना।

(ii) दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किए गए परिणाम मूलक तथ्यों पर प्रामाणिकता के साथ कर्त्तव्यों का निर्वाह करना।

केन्द्रीय और राज्य सरकारों को चाहिए कि समय समय पर बनाए गए श्रम कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासनिक दृष्टि से किसी भी प्रकार की आने वाली बाधाओं को दूर करे।

(ब) प्रबन्धक मण्डल और श्रम संगठनों के बीच सहमति - (उद्योग में अच्छे अनुशासन के लिए निश्चयात्मक रुख रखना) –

(i) किसी भी प्रकार के औद्योगिक विवाद के उपस्थित हो जाने पर अनपढ़ की भाँति कार्य न कर उचित स्तर पर निवारण करना चाहिए।

(ii) आवश्यकता पड़ने पर उपलब्ध साधनों का उपयोग करते हुए चरम बिन्दु तक जाकर निवारण किया जाय।

(iii) बिना किसी सूचना के हड़ताल या तालाबंदी नहीं हो।

(iv) प्रजातांत्रिक मूल्यों में दृढ़ता से विश्वास रखते हुए भविष्य में आने वाले मतभेदों, विवाद और असन्तोष को आपसी मेल मिलाप से स्वेच्छा पूर्वक या पंच बना कर निपटाना।

(v) दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष - (अ) बल प्रयोग (ब) धमकी (स) एक दूसरे को ठगने या षडयंत्र पूर्वक फंसाने (द्र) धीरे काम करो जैसे तरीकों का उपयोग नहीं करेंगे।

(vi) (अ) मुकदमे बाजी (ब) धरने पर बैठना या हड़ताल करना (स) तालाबंदी जैसी परिस्थितियों से बचा जाय।

(vii) जिस भावना से आपसी समझौता किया जाय उसी भावना से किए गए समझौते को बनाये रखने तथा उसके अनुसार क्रियान्वित करने के लिए रचनात्मक सहयोग प्रदान करना।

(viii) आपसी समझौते से जिस धरातल का निर्माण किया जाय उसी भावना से कष्टों के निवारण, उनकी जाँच पड़ताल करने में तत्परता पूर्वक कार्य करने की पद्धति को विकसित करना।

(ix) हर सम्भव माध्यम से दोनों पक्ष एक दूसरे को हर स्तर पर आपसी सहयोग की भावना से कार्य करते हुए निरकुंशतापूर्वक कार्यवाही से बचना।

(x) प्रबन्धक मण्डल और श्रमिक अपने अपने व्यक्तियों को निर्धारित किए गए बिन्दुओं पर समय समय पर प्रशिक्षित करें।

(स) प्रबन्धक की सहमति - (उद्योग में अच्छे अनुशासन को बनाए रखने को निश्चित करना)

(i) बिना किसी सहमति या बिना निर्णय लिए श्रमिक के कार्यों को अनावश्यक रूप से नहीं बढ़ाया जाय।

(ii) किसी भी प्रकार के कपटपूर्ण कार्य को प्रोत्साहित नहीं किया जाय - (अ) किसी श्रमिक संगठन का सदस्य बनने पर नियंत्रण नहीं लगाया जाय (ब) स्वीकार किए गए किसी संगठन की गतिविधियों के कारण किसी भी श्रमिक के साथ भेदभाव नहीं किया जाय। (स) किसी भी श्रमिक के साथ गाली गलौच नहीं की जाय - सद् व्यवहार करें - कपटपूर्ण आचरण का सहारा नहीं लिया जाय।

(iii) तत्परता पूर्वक कार्य किया जाय - (अ) कष्टों के निवारण के लिए (ब) किए गए समझौते से जो निर्धारित किया जाय - उसके लिए प्रावधानों की व्यवस्था करना तथा लिए गए निर्णयों की क्रियान्वित के लिए उचित आदेश जारी करना।

(iv) निर्धारित उत्तरदायित्वों को स्थानीय बोल चाल की भाषा में लिख कर किसी खुले स्थान पर प्रदर्शित करना।

(v) जिन कार्यों को तुरन्त सम्पादित करना है तथा जो कार्य किए जा चुके हैं उनकी विशिष्टता या उसके भेद को स्पष्ट रखा जाय। चेतावनी, झिड़कना, निलम्बन या और अन्य किसी भी प्रकार की कार्यवाही को प्रक्रिया के रूप में किया जाय तथा अपील की भांति निवारण किया जाय।

(vi) श्रमिक द्वारा की गई अनुशासन हीनता के पीछे किसी अधिकारी का अन्य किसी व्यक्ति का हाथ तो नहीं है? ऐसी स्थिति की जांच करते हुए आवश्यकतानुसार ऐसे तत्व के विरुद्ध भी कार्यवाही करना।

(vii) निर्धारित नियमों के आधार पर श्रमिक संगठनों को मान्यता देना।

(द) संगठनों की सहमति –

(i) किसी भी प्रकार की शारीरिक कार्यवाही नहीं करना।

(ii) किसी भी प्रकार से ऐसे प्रदर्शन का आयोजन नहीं किया जायेगा जिसमें गुंडई तत्त्व हो- या तत्त्व उभर सकते हैं - अशांति की सम्भावना हो - उपद्रव हो जाने की स्थिति बन जाय - प्रदर्शन शांतिपूर्वक किया जायेगा।

(iii) किसी भी कार्य के लिए भाड़े के व्यक्तियों का सहयोग नहीं लिया जायेगा। कार्य समय में किसी भी ऐसे व्यक्ति को अपने साथ नहीं जोड़ेंगे जो कानून या समझौते के अनुसार अवान्छनीय हो। व्यवहार करते हुए इस बात का विशेष ध्यान दिया जायेगा। उद्योग में शांति बनाये रखने के लिए इस प्रकार का ध्यान रखना अधिक हितकर रहता है।

(iv) सदस्यों को निम्न कार्यों के लिए हतोत्साहित किया जायेगा - (अ) कर्त्तव्यों के प्रति लापरवाही करना (ब) उद्योग स्थल पर किसी भी प्रकार की लापरवाही रखना (स) सम्पत्ति को क्षति पहुँचाना (द) सामान्य कार्यों में हस्तक्षेप करना या बाधा पहुँचाना (य) आदेशों की अवहेलना।

(v) निर्धारित संहिता को स्थानीय भाषा में लिखकर श्रमिक संगठन के कार्यालय में प्रदर्शित करना।

(vi) श्रमिक संगठन के किसी सदस्य या पदाधिकारी द्वारा इस संहिता के विपरीत कार्य करने वाले के विरूद्ध संगठन द्वारा कार्यवाही करना।

असफलता के लिए उत्तरदाईत्व

राष्ट्रीय श्रम आयोग के अनुसार असफलता के लिए निम्न तत्व हैं –

(i) स्वेच्छा से जिन जिम्मेदारियों को मालिक और श्रमिक स्वीकार करते हैं - उन्हीं के प्रति दोनों पक्षों में इच्छा शक्ति का अभाव।

(ii) श्रमिकों को मिलने वाला वास्तविक वेतन और उनका बदतर हालात।

(iii) कुछ मालिकों की उत्तरदायित्व निर्वाह करने में अयोग्यता।

(iv) श्रमिक प्रतिनिधियों के बीच आपसी रंजिश के कारण उटक पटक का रहना।

(v) संहिता और कानून के बीच आने वाले झगड़े।

(vi) समुदाय की आन्तरिक राजनीति।

इस प्रकार उद्देश्य की प्राप्ति में असफलता के ये प्रमुख कारण है। इन कारणों के साथ फिर छोटे-छोटे कारण और भी जुड़े हैं।

राष्ट्रीय श्रम आयोग की सिफारिशे -

राष्ट्रीय श्रम आयोग का मानना है कि श्रम संगठनों को मान्यता देना, शिकायते, उचित मजदूरी, पद्धति, आदि के सम्बन्ध में जो भी तय किया ज़ाय उसको वैधानिक स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए। इसके लिए आयोग के निम्न सुझाव हैं -

1. श्रम संगठन को सौदेबाजी कार्यकर्ता के रूप में स्वीकार करना।

2. शिकायतों के लिए कार्य पद्धत्ति का निर्धारण करना।

3. बिना सूचना दिए तालाबंदी और हड़ताल का निषेध।

4. अस्वस्थ श्रमिक कार्यो के लिए दण्ड लगाना।

5. स्वेच्छा से पंच तय करने का प्रावधान।

उपरोक्त तथ्यों का संहिता में रखने का तब तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि उसे कानूनी ज़ामा नहीं पहनाया जाता। अतः प्रयोग का यह मत है कि ऐसे नियमों को श्रम कानूनों में सम्मलित किया जाए तथा प्रशासनिक तंत्र के द्वारा क्रियान्विति की बहालता होनी चाहिए।

इन स्थितियों में कमियों को देखते हुए राष्ट्रीय श्रम आयोग ने अपने जुलाई 1957 ई. के भारतीय श्रम सम्मेलन में इस विषय को सम्मिलित किया था। सम्मेलन न विचार विमर्श के बाद इस मसले को उप समिति को सौंप दिया। मार्च सन् 1958 में उपसमिति की बैठक हुई जिसमें त्रिपक्षीय विचार विमर्श के अन्तर्गत एक आदर्श नमूना कष्टों को दूर करने के लिए तैयार किया गया -

कष्ट निवारण हेतु आदर्श नमूना -

त्रिपक्षीय कमेटी ने (समिति) असन्तोष के निवारण के लिए समय बद्ध कार्यो का नमूना तैयार किया - इसके अनुसार

1. इस पद्धति के अन्तर्गत असन्तुष्ट श्रमिक सर्व प्रथम अपने अधिकारी के समक्ष अपनी तकलीफों को प्रस्तुत करेगा। इस अधिकारी को 24 घण्टों में उत्तर देना होगा।

2. यदि श्रमिक को निर्धारित समय में उत्तर न मिले या वह उत्तर से सन्तुष्ट न हो तो स्वयं

या अपने विभाग के प्रतिनिधि के साथ विभागाध्यक्ष के समक्ष अपनी बात को रखेगा।

3. विभागाध्यक्ष यदि तीन दिनों में किसी प्रकार का उत्तर देने में असफल रहे या उसके उत्तर से सन्तोष नहीं मिले तो अपनी तकलीफों को श्रमिक कष्ट निवारण समिति के समक्ष अपनी बात को प्रस्तुत करेगा। यह समिति सात दिनों की सीमा में अपनी रिपोर्ट सुझावों के साथ मैनेजर को प्रस्तुत करेगी।

4. समिति निर्धारित समय में यदि अपने सुझाव नहीं दे पाये या समिति के सदस्य आपस में एकमत न हो पाये तो सारे कागजों को मैनेजर को सौंप दिए जायें। मैनेजर से यह अपेक्षा रहेगी कि वह तीन दिनों में अपना निर्णय श्रमिक को बतादे।

5. मैनेजर के निर्णय के विरूद्ध श्रमिक अपनी अपील उससे उच्च अधिकारी के पास कर सकेगा। इस अपील को प्रस्तुत करते समय श्रमिक अपने साथ में श्रम संगठन के प्रतिनिधियों को भी साथ ले जा सकेगा। इस प्रकार की अपील का निर्णय सात दिनों में हो जाना चाहिए।

6. इस स्तर पर भी श्रमिक को सन्तोष नहीं मिले तो वह ऐसे निर्णय के प्राप्त होने के बाद सात दिनों के अन्दर श्रमिक अपने मामले को पंच फैसले के लिए सौंप सकता है।

सुझाव -

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने पाया कि कष्ट निवारण समिति के पीछे कानूनी स्थिति मजबूत होनी चाहिए। इसकी प्रक्रिया सरल और लचीली हो। बाधा डालने वाली न हो तथा कमोबेश प्रस्तुत किए आदर्श नमूने पर आधारित होनी चाहिए। प्रयोग की दृष्टि में कष्ट निवारण पद्धति चाहे औपचारिक हो या अनौपचारिक हो, वैधानिक हो या स्वेच्छिक उसके पीछे निम्न भावना होनी चाहिए -

(1) मजदूर को स्वयं को सन्तोष होना चाहिए।

(2) मैनेजर और अन्य पदाधिकारीयों द्वारा उचित कार्यवाही

(3) श्रमिक संगठनों की भागीदारी।

ऐसे मामलों में श्रम संगठन की भागीदारी होना आवश्यक है क्योंकि अन्त में श्रमिक संगठन (यूनियन) ही श्रमिको के प्रति उत्तरदाई होती है। इस पद्धति का प्रभावी परिणाम हो इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि इसकी प्रक्रिया का प्रभावी परिणाम हो इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि इसकी प्रक्रिया सरल हो और इस प्रक्रिया में अपील करने का प्रावधान होना चाहिए। इस कार्यवाही के लिए सीमित चरण हो तथा समय बद्धता हो। आयोग न सामान्यतया तीन चरणों की कार्यवाही के लिए सुझाव दिए हैं :-

(अ) अधिकारी से तत्काल सम्पर्क करना।

(ब) विभागीय अध्यक्ष या मैनेजर को अपील करना।

(स) दो पक्षीय समिति - प्रबन्धन और श्रमिक संगठन के प्रतिनिधियों की हो तथा इस समिति के समक्ष अपील प्रस्तुत की जाय।

वैधानिक दृष्टि से इस बात का भी निर्धारण रहना चाहिए कि यह समिति एकमत होकर निर्णय करने में असफल रहे तो मामला पंच फैसले के लिए सौंपा जा सके। ऐसी स्थिति में प्रारम्भिक स्तर पर श्रमिक उसके सहयोगी को प्रस्तुत होने की छूट रहे तथा आगे चलकर यदि श्रमिक चाहे तो युनियन के पदाधिकारी को भी प्रस्तुत कर सके।

उद्योग के स्वरूप अलग अलग होते है। कोई उद्योग छोटा होता है तो कोई बड़ा। ऐसी स्थिति में सभी उद्योगों में एक सी पद्धति लागू करना उचित नहीं रहता। अतः आयोग का मानना है कि जहाँ श्रमिकों की संख्या एक सौ से कम हो वहाँ तो मालिक और मजदूर के बीच सीधा सम्बन्ध रह सकता है लेकिन जहाँ 100 से अधिक श्रमिक हो वहां पर एक उचित कार्य पद्धति का निर्धारण होना चाहिए।

25.2.4 अनुशासनात्मक पद्धति

औद्योगिक शांति को बनाये रखने के लिए मालिक यह मानते हैं कि उन्हें - "भाड़े पर लेना और आग लगा देने का" अधिकार है (राइट टू हायर एण्ड फायर)। भाड़े पर लेने का अधिकार तो आज भी उनके पास है लेकिन आग लगा देने का अधिकार अब नहीं रहा। मालिकों की राय है कि जिन मजदूरों की वे छंटनी करे उन्हें वापिस नौकरी में लेने के लिए बाध्य नहीं किया जाय। नौकरी में श्रमिक को लेने के स्थान पर वे उसको आर्थिक क्षतिपूर्ति देने के लिए तैयार हैं। परन्तु दूसरी ओर श्रमिकों का यह कहना है कि उद्योग में अतिरिक्त (सरप्लस) आर्थिक स्थिति होने पर मजदूरों को ऐसी स्थिति में नहीं डाला जाना चाहिए जिससे मजदूरों का काम करने का अधिकार बाधित हो सकता हो। क्षतिपूर्ति देने के विचार को नकारते हुए यह बताया गया कि यदि क्षतिपूर्ति देकर निकाल देने का अधिकार रहने की स्थिति में मालिक ऐसे मजदूरों को जब चाहें निकाल बाहर करेंगे जो श्रमिक संगठनों में सक्रिय हो।

वर्तमान स्थिति -

सन् 1946 में औद्योगिक नियोजन के लिए स्थाई आदेश बनाये गए थे। सन् 1947 में जो औद्योगिक कानून बनाया गया उसके अन्तर्गत - (i) श्रमिक के विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए जाँच की एक पद्धति को अपनाना होगा। (ii) इसमें मालिकों द्वारा श्रमिक नेताओं को नौकरी से निकालने की कार्यवाही को रोकने की व्यवस्था की गई थी।

सन् 1947 के औद्योगिक विवाद कानून के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि यदि एक श्रमिक किसी समझौता वार्ता से जुड़ा हुआ हो या औद्योगिक विवाद में निर्णय करवाने या निर्णय करने की स्थिति में हो तो ऐसी परिस्थिति में मालिक उस श्रमिक के विरूद्ध किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं कर सकेगा - उसे दण्डित भी नहीं किया जा सकता और न ही नौकरी से पृथक किया जा सकता है। लेकिन यदि एक श्रमिक किसी भी ऐसे कार्य से जुड़ा हुआ नहीं हो तो मालिक उसे नौकरी से हटा सकता है। लेकिन ऐसा करने के पूर्व उसके सम्बन्धित विभाग के अधिकारियों की संस्तुति को आवश्यक रखा गया है। नौकरी से पृथक करने के पूर्व मालिक के द्वारा श्रमिक को एक माह का वेतन देने की व्यवस्था रखी गई है।

वर्तमान में अनुशासनात्मक कार्यवाही की पद्धति

किसी भी श्रमिक को नौकरी से हटाने या पदच्युत करने के लिए निम्न पद्धति अपनानी होगी—

1. श्रमिक पर लगाये गए आरोपों का उत्तर देने का अवसर उसे दिया जाय।

2. श्रमिक को जो आरोप पत्र दिया जाय - उसमें आरोप स्पष्ट होने चाहिए।

3. श्रमिक के विरुद्ध की जाने वाली जाँच के दौरान श्रमिक को अपनी बात कहने और आवरण को बताने का पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिए।

4. अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए जाँच अधिकारी फैक्ट्री का अनुभवी अधिनस्थ हो सकता है या आवश्यकतानुसार बाहर का व्यक्ति भी हो सकता है।

5. मैनेजर या प्रबन्धक को अन्तिम निर्णय करने के पूर्व कर्मचारी के पिछले कार्यों के रिकार्ड का भली प्रकार से मूल्यांकन कर लेना चाहिए।

6. आरोप सिद्ध हो जाने पर श्रमिक को निलम्बन काल की राशि नहीं मिलेगी।

श्रमिक के हितों को सुरक्षित रखने की ओर पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। कई बार देखा गया कि श्रमिक मालिक का शिकार हो जाता है। प्रबन्धक के इस प्रकार के आचरण को नियंत्रित करने हेतु प्रभावी कदम उठाये गए हैं।

सन् 1947 के औद्योगिक विवाद कानून में श्रमिक को श्रम न्यायालय या न्यायाधिकरण में जाने का अधिकार नहीं था। इस कमी को दूर करने के लिए राज्य सभा द्वारा स्वीकृति मिल जाने के बाद सन् 1966 में इस कानून में संशोधन कर दिया गया। इस संशोधन के पूर्व सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार श्रम न्यायालय या ट्रिब्यूनल को इस प्रकार की सुनवाई का अधिकार नहीं था।

इस संशोधन के हो जाने से श्रमिक श्रम न्यायालय या ट्रिब्यूनल में अपनी अपील कर सकता है। इसके अतिरिक्त एक महत्वूपर्ण बात यह भी रही कि आन्तरिक जाँच के दौरान ही यदि श्रमिक ऐसा महसूस करे कि वह प्रबन्धक का शिकार हो रहा है या हो सकता है तो वह प्रबन्धकों के विरुद्ध इस व्यवस्था में जा सकात है।

संशोधन के बाद ट्रिब्यूनल अब सीधा हस्तक्षेप कर सकता है। वह किए गए निर्णय को बदल सकता है - श्रमिक को नौकरी से हटाने पर पुनः बहाली का आदेश दे सकता है - दण्ड को हल्का कर सकता है।

ट्रिब्यूनल को इस अधिकार के मिल जाने से प्रबन्धकों द्वारा उगली जाने वाली - आग को नियंत्रित कर दिया गया है।

राष्ट्रीय श्रम आयोग के सुझाव

आयोग ने सुझाव दिया है कि बिल को कानून के रूप में व्यवस्थित करने में किसी भी प्रकार की देरी नहीं की जानी चाहिए। इसे और अधिक प्रभावी करने के लिए निम्न प्रावधान किए जायं —

(i) आन्तरिक जाँच के समय पीड़ित श्रमिक अपनी पैरबी किसी अपने विश्वस्त श्रमिक से करवा सके या श्रमिक संगठन के किसी पदाधिकारी से करवा सके।

(ii) पीड़ित श्रमिक या उसकी यूनियन को जो पत्रावली दी जाय वह ऐसी भाषा में होनी चाहिए जिसे वह पढ़ सके।

(iii) आन्तरिक जांच निर्धारित समय में समाप्त हो जानी चाहिए - अनावश्यक विलम्ब नहीं किया जाना चाहिए।

(iv) प्रबन्ध द्वारा श्रमिक को नौकरी से हटाये जाने के आदेश के विरुद्ध श्रमिक को अपनी अपील निर्धारित समय में करना चाहिए।

(v) त्रिपक्षीय निर्णय के अनुसार निलम्बन-काल में निर्धारित निर्वाह भत्ता दिया जाय।

देश भर में यदि श्रमिकों में व्यापक असन्तोष फैला हुआ हो तो उन परिस्थितियों में प्रबन्धको द्वारा अपनाई जाने वाली "हायर एण्ड फायर" (भाड़े पर लो और आग बरसाओ) नीति को उचित नहीं माना गया है। श्रमिक की पुनः बहाली या श्रमिक को आर्थिक क्षतिपूर्ति की स्थिति प्रबन्धको के समूह को रास नहीं आई।

औद्योगिक नियोजन (भारत में स्थाई आदेश)

अनुशासनात्मक कार्यवाही के सम्बन्ध में हम अभी विचार कर रहे थे अब हम औद्योगिक विवाद से बचाव हेतु औद्योगिक नियोजन के संदर्भ में भारत में स्थाई प्रादेशिक की व्यवस्था क्या है? को देखते हैं। हमारे देश में इन आदेशों ने श्रमिक जगत में एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

औद्योगिक नियोजन - स्थाई आदेश सन् 1946

भारत सरकार ने सन् 1946 में मजदूरों के सम्बन्ध में उनका नियोजन, उन्हें निकालने, अनुशासन, के दिनों का निर्धारिण आदि के सम्बन्ध का कानून बनाया था। इस कानून को जहाँ 100 या उससे अधिक मजदूर कार्य करते हों वहाँ के लिए इसे स्थाई आदेश के रूप में माना गया।

इन आदेशों को क्रियान्वित करने के लिए कानून के लागू होने के बाद छः माह की अवधि में कारखानों के मालिक इसमें अन्तर्गत अपने यहाँ प्रमाणीकरण अधिकारी (सर्टीफाइंग आफ़िसर) की नियुक्ति करें।

स्थाई आदेशों के अर्न्तगत - श्रमिकों के कार्यों का वर्गीकरण, उन्हें जानकारी देने का तरीका, कार्य करने के घंटे, वेतन भुगतान का दिवस, श्रमिक का वेतन, मजदूरी की दर, अवकाश के दिन, श्रमिक के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही, नौकरी से निकालने आदि के सम्बन्ध में व्यवस्था है। किसी भी प्रकार की परेशानी आने पर मालिक और श्रमिक दोनों पक्षों को सुनकर प्रमाणीकरण अधिकारी अपना निर्णय करेगा। प्रमाणीकरण अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध औद्योगिक अदालत में अपील करने की व्यवस्था रखी गई। प्रयोग ने यह भी स्पष्ट कहा कि पीड़ित पक्ष को अपनी बात को कहने का पूरा अधिकार है। उसको सुनने का प्रावधान रहना चाहिए।[6]

कल्याणकारी अधिकार

जहाँ पर 300 या इससे अधिक श्रमिक स्थाई रूप से कार्य करते हों या स्थाई और अस्थाई कुल मिलाकर 500 या इससे अधिक श्रमिक कर्य करते हों वहाँ अनिवार्य रूप से कल्याणकारी अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान रखा गया।

सन् 1948 के फैक्ट्री एक्ट के अन्तर्गत कल्याणकारी के अधिकार और कर्त्तव्यों को निश्चित किया गया है। जहाँ खाने (माइन्स) है वहाँ पर सन् 1955 में माइन्स रूल्स के अर्न्तगत कल्याणकारी अधिकारी को नियुक्त करने का प्रावधान रखा गया।

खान के अन्दर और बाहर कार्य करने वाले मजदूरों के प्रति इस अधिकारी को उत्तरदाई रखा गया। वस्तुतः इन अधिकारियों को श्रमिकों के मानवीय पक्षों की देखभाल करना होता था। अनेक स्थानों पर ऐसे अधिकारियों को मजदूरों की व्यक्तिगत शिकायतें, प्रबन्धन मण्डल द्वारा की गई व्यवस्था और उनकी दशाओं, सेवा शर्तों तथा आन्तरिक अनुशासन के सम्बन्ध में भी कार्य करना होता है। इस प्रकार वास्तविकता यह थी कि व्यवहारिक दृष्टि से व्यवस्था (पर्सनल मैनेजमेंट), व्यक्तिगत शिकायतों, या कल्याणकारी उत्तरदाईत्वों के बीच के कार्यों में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं हर पाता।

इन अधिकारियों को अपने कार्यों को निपटाने में सबसे बड़ी परेशानी यह रहती है कि मालिक उन अधिकारियों से जिन कार्यों को करवाना चाहिए उन्हें करवाने का इच्छुक नहीं रहता। वे तो सिर्फ इस प्रकार के अधिकारी की नियुक्ति कर मात्र कानून की पूर्ति करने तक ही सीमित रहना

(6) राष्ट्रीय श्रम आयोग पृ. 346

चाहते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों में न तो वे अपने उत्तरदायित्वों को निभा पाते हैं और न ही अधिकारों का ही प्रयोग कर पाते हैं। फलतः न तो श्रमिकों के लिए वे कल्याणकारी कार्य ही कर पाते हैं और न ही किसी भी प्रकार के विवाद के समय वे श्रमिकों के हितों की रक्षा कर पाते हैं। इन अधिकारियों की स्थिति जो बन गई हैं उससे वे स्वंय अपने कार्यों से सन्तुष्ट नहीं है। मात्र नौकरी करनी है ऐसा ही व्यवहार में हो पाता है।

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने यह पाया कि राज्य सरकारों ने भी अपने यहाँ सन् 1948 के फैक्ट्री एक्ट के अनुसार नियत तो बना दिये हैं परन्तु अधिकारियों की दोहरी भूमिका के कारण अधिक कार्य नहीं हो पाया। कानून बनाने की जो मानसिकता थी उसके अनुरूप जो परिणाम उसे चाहिए थे वे नहीं आ पाये।

25.2.5 श्रमिकों की आर्थिक दशा में सुधार

परिस्थितियों को देखते हुए, यह स्पष्ट है कि श्रमिकों में वेतन, भत्ते कार्य करने की दशा, छँटनी, नौकरी से निकालना, मालिकों द्वारा किए जाने वाला शोषण, सरकारी कानूनों में रखे गए प्रावधानों को भी उपलब्ध नहीं करवाना आदि औद्योगिक विवाद के मूल कारण हैं। ऐसी स्थिति से ही श्रमिकों की आर्थिक दशा खराब हो जाती है। इन कारणों को ध्यान में रखते हुए ही श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने पर गम्भीरता से विचार किया गया है। इस दृष्टि से मूल्यों की वृद्धि के साथ ही साथ मजदूरों की मजदूरी बढ़ाई जाय; समय समय पर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय की जाती रहे - लाभ में से मजदूरों को भी हिस्सा दिया जाय। सेवा शर्तों में सुधार, कार्य करने के घंटे, बेरोजगारी, बिमारी, वृद्धावस्था, दुर्घटना और जीवन की अन्य आवश्यकताओं को देखते हुए सामाजिक सुरक्षा व बीमा आवश्यक है। श्रमिकों के बच्चों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ, शिक्षा व्यवस्था, अच्छे मकानों का प्रबन्ध आदि समस्याओं का उचित समाधान कर दिया जाय तो औद्योगिक विवादों में स्वतः ही कमी आ सकती है।

25.3 औद्योगिक विवादों का निपटारा के तरीके

सन 1819 में ब्रिटेन के प्रसिद्ध इतिहास कार सिडनी और बैटरिक वैब ने उन दिनों चल रहे श्रमिक आन्दोलनों तथा विवादों को निपटाने हेतु सामुहिक सौदेबाजी (कलेक्टिव बारगेंनिग) का विचार प्रसारित किया। तभी से उनके द्वारा दिए गए इस नाम का उपयोग आगे बढ़ता गया। दिन प्रतिदिन आने वाली समस्याओं, के सम्बन्ध में निरन्तर मालिक और श्रमिक के बीच सीधी वार्ता होती रहे तो दोनों पक्षों के बीच सम्बन्धों की कटुता में कमी रहेगी - समाधान सरल रहेगा अतः सामुहिक सौदेबाजी (कलेक्टिव बारगेंनिग) का विचार प्रसारित किया। तभी से उनके द्वारा दिए गए इस नाम का उपयोग आगे बढ़ता गया। दिन प्रतिदिन आनेवाली समस्याओं, के सम्बन्ध में निरन्तर मालिक और श्रमिक के बीच सीधी वार्ता होती रहे तो दोनों पक्षों के बीच सम्बन्धों की कटुता में कमी रहेगी - समाधान सरल रहेगा - अतः सामुहिक सौदेबाजी एक चमत्कारिक मार्ग है।

सामुहिक सौदेबाजी एक प्रकार से संस्थागत प्रतिनिधित्व की पद्धति है। इन प्रतिनिधियों द्वारा जो निर्णय लिया जाता है उससे उन दोनों के तो लाभ होता ही है परन्तु इसके साथ ही यह लाभ पूरे समय को व्यापक रूप से मिलता है।

सामुहिक सौदेबाजी में मालिक और श्रमिक को आपस में मिलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इनके स्थान पर श्रमिक संगठनों के प्रतिनिधियों के साथ जो बातचीत होती है उसी से समाझौता हो जाता है। इससे एक प्रकार से संगठन और प्रबन्धक के बीच ठेका हो जाता है। सामुहिक सौदेबाजी की कार्यवाही में विवादों का समझौता, मध्यस्थता और पंचाट आदि अन्तर्निहित रहती है।

25.3.1 समझौता

औद्योगिक विवाद को निपटाने के लिए चार मार्ग बताए गए हैं - समझौता, सान्त्वना, मध्यस्थता और पंचाट। इन तरीकों में से समझौते में दो पक्ष ही होते हैं परन्तु शेष तीनों तरीके में तीसरे पक्ष की भूमिका रहती है। समझौते में मालिक और श्रमिक के प्रतिनिधि रहते हैं। सामुहिक सौदेबाजी में एक प्रकार से संधि की जाती है। यह एक प्रकार से ठेका कहा जा सकता है - जिसका उद्देश्य विवाद को कम करना होता है। इसमें कार्य के लिए प्रस्ताव किया जाता है और स्वीकार किया जाता है। जब तय हो जाता है तो कार्य की क्रियान्विति के लिए विस्तार से आदेश जारी कर दिया जाता है। लेकिन इस प्रकार की सौदेबाजी में कठिनाई उस समय उपस्थित हो जाती है जब कार्य करने की पद्धति का तंत्र टूट जावे। कार्य पद्धति में जब तक सुचारूता बनी रहती है तब तक सारी प्रक्रिया ठीक चलती रहती है तथा उद्योग में शांति बनी रहने से कार्यों का उत्पादन भी बढ़ता है। इसका लाभ सभी लोगों को मिलता है।

स्वभाव और उद्देश्य

करार ठेके के स्थान पर ज्यादा लचीला होता है। एग्रीमेंट में किसी प्रकार का अहसास नहीं होता। कार्य देने वाला और स्वीकार करने वाले दोनों ही पक्षों में से कोई भी एक दूसरे पर अहसान नहीं जता सकता। कार्य सिर्फ एक ही स्थान पर हो जाता है तथा श्रमिकों को उपयोग करने में सुविधा रहती है। एग्रीमेंट पूरे उद्योग के हजारो श्रमिकों को सीधा प्रभावित करता है। यह जिस प्रकार का स्वरूप ग्रहण करता है उससे किस भी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। सामुहिक सौदेबाजी द्वारा वेतन निर्धारण, कार्य करने के घंटे, कार्य करने की दशा आदि जिस कार्य को करने के लिए स्वीकार किया जाता है वहीं तक सीमित रहता है।

करार सामान्यतया वेतन निर्धारण, कार्य करने के घंटे, कार्य करने की दशा, सेवा शर्तों आदि को स्थापित करता है। इसके द्वारा असन्तोष दूर करने की पद्धति निर्धारित की जाती है। इसके साथ ही किसी भी प्रकार के विवाद के उत्पन्न होने पर पंच फैसले की व्यवस्था रहती है। इसके द्वारा समझौते का विशेष रूप से समय निर्धारण रहता है तथा पुनः समझौते के लिए भी मार्ग बना रहता है। करार का क्षेत्र जितना व्यापक बनाया जाय उतना व्यापक हो जाता है और जितना सीमित रखना हो उतना सीमित हो जाता है। इसमें लचीलापन रहता है। कुछ करार तो ऐसे सम्पन्न हुए हैं कि उनका पूरे विश्व पर प्रभाव पड़ा है। विश्व व्यापी करार समान कार्य, समान कार्य करने की परिस्थितियों, कार्य करने की दशाओं की समानता आदि के आधार पर किया जाता है और उसका प्रभाव विश्व के समान स्वभाव वाले सभी कारखानों पर लागू किया जा सकता है। लेकिन सामान्यतया अधिकांश करार व्यक्तिगत और सीमित होते हैं। प्रत्येक करार में कुछ न कुछ भिन्नता रहती है। एक व्यक्ति की उंगलियों के निशानों में जिस प्रकार की भिन्नता होती है उसी प्रकार करारों में भी भिन्नता रहती है। तय किया जाने वाला हर बिन्दु लेने और देने की भावना, श्रमिक संगठन (युनियन) के दबाव तथा मालिक की बर्दाश्त करने की क्षमता पर आधारित रहता है।

भारत में समझौते और सामुहिक करार

सन् 1956 से 60 के बीच की अवधि में मालिकों के संघ (एम्पलोयरस फेडरेशन) ने किए गए सामुहिक समझौते के परिणामों का सर्वेक्षण करवाया। इस सर्वेक्षण दल ने विभिन्न प्रश्नों के आधार पर 32 से 49 प्रतिशत कारखानों में जाकर अध्ययन किया। किए गए अध्ययन के द्वारा समझौतों को तीन भागों में बांटा जा सकता है –

1. सम्बन्धित पक्षों द्वारा किए गए सीधे समझौते-आपसी वार्ता के आधार पर। ऐसी बातचीत से जो करार हुए उनकी क्रियान्विति पूर्णतया स्वैच्छिक आचरण पर आधारित थे।

2. ऐसे करार जो स्वैच्छिक और बन्धन दोनों ही तरीके से आधारित थे। ये समझौते आपसी प्रयासों से हुए लेकिन जो निर्णय लिए गए उनका पंजीकरण कान्सीलेटर (सान्त्वनादेने वाले) के समक्ष करवाये गए।

3. तीसरे प्रकार के समझौते वे समझौते हैं जिनमें यह व्यवस्था रखी गई कि बाद में यदि किसी प्रकार का विवाद उठा खड़ा हो तो श्रम न्यायालय या न्यायाधिकरण का सहारा लिया जा सके। इन समझौतों को वैधानिक तरीके से पंजीबद्ध करवाया गए।

इस प्रकार के समझौते स्वागत योग्य हैं। इससे औद्योगिक शांति के लिए स्वस्थ वातावरण बनता है। मालिको और मजदूरों के बदलते रुख तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए करार उपयोगी रहते हैं। यद्यपि इन करारों में सीमित वैधानिक सहयोग भी लिया गया. परन्तु इसके बावजूद दो पक्षीय और त्रिपक्षीय वार्ताओं और करारों से मालिकों और मजदूरों के बीच आपसी समझ बढ़ी और सहयोग पनपा।

अधिकांश सामुहिक समझौते कारखानों के अन्दर प्लान्ट (फैक्ट्री में जहाँ मशीने लगी रहती हैं) में किए गए हैं। अहमदाबाद और बम्बई जैसे औद्योगिक नगरों में सामुहिक करार करना अब सामान्य बात है। यहाँ की सरकारों ने इस प्रकार से किए जाने वाले करारों के लिए कानूनों में भी व्यवस्था कर दी है। परन्तु अभी तक ऐसी अनेक सरकारे हैं जिन्होंने अपने यहाँ इस ओर कदम नहीं बढ़ाया है। समझौते की सफलता को देखते हुए इस प्रकार के समझौते कोयले की खानों और वन एवं पौधों पर आधारित उद्योगों में भी किए गए हैं।

इन वर्षों में रासायनिक, पैट्रोलियम, शोधक, मोटर गाड़ी, एल्युमीनियम और बिजली उत्पादक जैसे नवोदित उद्योगों में भी स्वेच्छा से इस प्रकार के समझौते हुए हैं। बन्दरगाहों और डौक (जहाज ठहरने का स्थान) में कार्यरत श्रमिकों और मालिकों के बीच में तो इस प्रकार के समझौते करने के लिए नियम ही बन गए हैं। कुछ मुद्दों पर तो पूरे देश में ही इस प्रकार के समझौते बढ़ते जा रहे हैं।

सलाहकारी व्यवस्था

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ई. सन् 1911 में एक संगठन स्थापित किया गया। इस संगठन द्वारा मजदूरों और मालिकों के बीच आपसी विश्वास, विचार विमर्श, सहयोग बढ़ाने हेतु प्रोत्साहित किया गया। इन कर्यों में सरकारी अधिकारियों ने अपना नैतिक योगदान किया। भारत में द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में इस प्रकार के प्रयास किए गए। श्रमिकों और मालिकों के बीच आपसी में सलाह मशविरा का माध्यम तैयार किया गया। इससे उनका स्तर तथा उनमें विश्वास बढ़ा।

द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने के कारण कारखानों में उत्पादन की बढ़ोत्तरी करना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। अब तक का जैसा व्यवहार मालिकों ने मजदूरों के साथ किया था उसमें बदलाव की आवश्यकता ही नहीं, बल्कि अनिवार्यता हो गई। अतः सन् 1942 में पहली बार भारतीय श्रम सम्मेलन में मजदूरें को प्रतिनिधित्व दिया गया। इसके बाद तो यह विचार दिनों दिन बढ़ता ही गया। देश की स्वतंत्रता के बाद तो भारत सरकार ने यह नीति ही घोषित कर दी कि जहाँ श्रमिकों का सम्बन्ध हो वहाँ पर मालिकों और मजदूरों दोनों के ही प्रतिनिधित्व होना अनिवार्य है।

अतः राज्य और केन्द्रीय सरकारों के अर्न्तगत उपक्रमों में सभी स्तरों पर आपसी मतभेदों को दूर करने तथा सामंजस्य पूर्ण सहयोग बनाये रखने के लिए बातचीत द्वारा आपस में ही समझौता करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया। कार्य समितियों तथा संयुक्त समितियों का गठन किया गया। राज्य स्तर पर वेतन बोर्ड और औद्योगिक कमेटियां तथा श्रमिक सलाहकार बोर्ड बनाये गए।

राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय श्रमिक सम्मेलन तथा स्थाई श्रमिक समिति का गठन किया गया। विवादों को निपटाने के लिए ऐसे प्रयास गम्भीरता से किए गए।

इन प्रयासों से मालिकों और मजदूरों के बीच जो सामुहिक समझौते हुए उनके परिणाम सुखद रहे हैं। इस ओर आगे बढ़ने के लिए यह भी आवश्यक है कि ट्रेड यूनियनों की स्थिति मजबूत रहे। श्रमिकों की संयुक्त शक्ति बढ़े। श्रमिकों को स्वंय ही अपने संगठनों के निर्माण और उसे विकसित करने के लिए प्रयास करने होते हैं। उनमें भी आपस में सद्भाव रहना जरूरी है।

2. मध्यस्थता और सांत्वना - आवश्यक

आज तक औद्योगिक विश्व में ऐसी व्यवस्था सामने नहीं पाई है कि जो समझौता एक बार हो जाय वह स्थाई बन कर सामने आये। ऐसी स्थिति में मालिक और मजदूरों के बीच के सम्बन्धों में ज्यों ही शिथिलता आती है अपसी तालमेल, और दोनों की आपस की भागीदारी में न केवल कमजोरी ही आती है बल्कि भय और आशंका के बीच कारखाने का वातावरण दूषित हो जाता है। जब भी कोई विवाद सामने आता है तो सामान्यतया उसका प्रभावी समाधान न होकर सिर्फ उत्तेजना को कमी करने के लिए सौदेबाजी हो पाती है। इस बीच दोनों ही पक्षों में अनेक प्रकार से कटुताएँ पैदा हो जाती है। इस कटुता के दौरान एक दूसरे को सदमें भी लगते हैं। इन सदमों और बाधाओं को दूर करने के लिए बाहरी सहायता लेना दोनों पक्षों के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इसके लिए सान्त्वना और मध्यस्थता का मार्ग ज्यादा अच्छें सिद्ध हुए हैं।

सांत्वना और मध्यस्थता का अर्थ (कान्सिलियसन एण्ड मीडियसन)

विवाद के कारण पैदा हुए अशांत हालात में शांति प्राप्त करने के लिए किसी तीसरे पक्ष से सांत्वना और मध्यस्थता का सहारा लिया जाता है। इस सहारे से दोनों पक्ष किसी न किसी तरह करार तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। मध्यस्थ या मध्यस्थता के लिए व्यक्तियों के समूह के द्वारा मालिक और मजदूरों के बीच करार के लिए हालात पैदा किए जाते हैं। आपसी बातचीत के लिए आई हुई बाधाओं को दूर किया जाता है।

कार्यों और आपसी बातचीत के बीच गतिरोध उत्पन्न होने पर दोनों ही पक्ष सांत्वना दिलाने वाले की ओर आशावान रहते हैं। सांत्वना व्यवस्था के अर्न्तगत आई हुई कठिनाईयों को दूर करने के लिए सुझाव और सलाह दी जाती है। एक बार दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार कर लेने के बाद किए गए करार को कानून स्वरूप दे दिया जाता है। कानूनी रूप आ जाने से दोनों ही पक्ष मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

सांत्वना के लिए किए जाने वाले प्रयासों के दौरान दोनों ही पक्ष इस बात के लिए स्वतंत्र रहते हैं कि वे सांत्वना देने वाले की बात को स्वीकार करे या नहीं करे।

प्रारम्भिक स्तर पर सामुहिक सौदेबाजी का मार्ग अपनाया जाता है। सौदा करना ही इसका मूल आधार होता है।

मध्यस्थता में दोनों ही पक्ष मिलकर तीसरे पक्ष को आमंत्रित करते हैं परन्तु सांत्वना के लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं है। तीसरे पक्ष के बीच में आने पर दोनों ही पक्षों के लिए धैर्यता रखना बहुत जरूरी होता है। इस प्रक्रिया की गति धीमी रहती है। मध्यस्थ अपनी इच्छा या निर्णय को दोनों पक्षों पर थोपने के स्थान पर उन्हें किसी करार तक पहुँचने में मदद करता है। इस प्रकार निर्णय तक पहुँचने में मध्यस्थ रचनात्मक भूमिका तैयार करता है। मध्यस्थ दोनों के हितो को ध्यान में रखते हुए उन्हें समझौते की ओर आगे बढ़ाना है।[7]

---

(7) Pigou :- Economics of Welfare p. 420

सांत्वना या मध्यस्थता न तो बाध्यता है और न ही वैधानिकता। इसे औद्योगिक राजदूत के रूप में गोपनीय सलाहकार की संज्ञा दी गई है। दोनों ही पक्षों को अपने-अपने तरीके से आगे बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त किया जाता है। सांत्वना या मध्यस्थता - दोनों ही इस बात के लिए प्रयत्न करते हैं कि मामला सुलझ जाये और विवाद पंचाट के लिए जाने से रुक जाय।

यह ध्यान देने की बात है कि सांत्वना आपसी समझौते पर आधारित होती है जबकि मध्यस्थता के लिए तीसरा व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह बाहर से आता है। यद्यपि सांत्वना और मध्यस्थता के तीसरे पक्ष का सहारा लिया जाता है परन्तु सांत्वना का तरीका ज्यादा गतिशील और प्रभावी हस्तक्षेप कर पाने में अधिक सफल सिद्ध हुआ है।

आवश्यक सांत्वना

सांत्वना और मध्यस्थता स्वेच्छा से भी हो सकती है। और आवश्यक रूप में भी हो सकती और आवश्यक रूप में भी हो सकती है। श्रमिक संगठनों द्वारा हड़ताल की घोषणा या मालिकों द्वारा तालेबंदी की घोषणा के पूर्व दोनों ही पक्षों को अपने विवाद के निपटारे के लिए सांत्वना मध्यस्थता के लिए बोर्ड का सहारा लेना आवश्यक है। आवश्यक व्यवस्था होने के बावजूद दोनों ही पक्ष इस बात के लिए स्वतंत्र हैं कि वे इस व्यवस्था के अन्तर्गत दी गई सलाह को स्वीकार करें या अस्वीकार करें।

अत: दोनों ही पक्षों का यह उत्तरदायित्व है कि वे अपने विवाद को सुलझाने के लिए मध्यस्थता या सांत्वना बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करें। बोर्ड का यह परम कर्त्तव्य है कि वह विवाद को शांत करने के लिए अपने प्रयास करें। यह प्रक्रिया जिस अवधि में चल रही होती है उन दिनों में हड़ताल या तालाबंदी का कदम नहीं उठाया जा सकता। सांत्वना के लिए सामान्यताया समय निर्धारित रहता है।

कार्य किसी प्रकार चलता रहे इस दृष्टि से दोनों ही पक्षों को, कार्य बंद करने की स्थिति से बचाना है। इसके लिए जो आधार है उसके पीछे तीन कारण हैं :—

(i) सांत्वना की प्रक्रिया के दौरान वातावरण में उत्तेजना की कमी रहने से समझौते की ओर कदम बढ़ाने में मदद मिलती है।

(ii) दोनों ही पक्ष अपने विवाद को हल करने के लिए इस व्यवस्था से वंचित नहीं रहे।

(iii) यह अनुभव में आया है कि सांत्वना की प्रक्रिया में प्रारम्भिक अवस्था में यदि समझौते के लिए सफलता नहीं मिलती है तो आगे चल कर अनेक प्रकार की जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती है और शांतिपूर्वक मामला निपट जाने के आसार कम हो जाते हैं।

इस माध्यम से असफल हो जाने पर दोनों ही पक्ष हड़ताल पर जाने या तालाबंदी करने के लिए स्वतंत्र हैं। ऐसा कदम उठा लेने के बाद भी किसी न किसी रूप में शांतिपूर्वक निपटारे के लिए प्रयास तो करना ही पड़ता है।

स्वेच्छिक सांत्वना

सांत्वना के कार्य में राज्य सरकार की भूमिका रहती है। इसके अर्न्तगत विवाद के निपटारे के लिए सरकारी व्यवस्था सदैव उपलब्ध रहती है। स्वेच्छिक सांत्वना का आधार यह है कि दोनों ही पक्ष स्वतंत्र रूप से अपने अपने तरीकों का उपयोग कर एक निष्कर्ष पर पहुँचें। इस व्यवस्था के गठन का उद्देश्य यह है कि दोनों पक्षों को एक दूसरे के नजदीक लाने का प्रयास किया जाय। दोनों ही पक्षों में आपसी ऊँच नीच के स्थान पर समान स्तर से बातचीत करने के लिए आधार बनायें। समान स्तर पर बात करने से वार्ता के परिणाम ज्यादा अच्छे आते हैं। इसके साथ ही यह

आवश्यक भी नहीं है कि दोनों पक्ष विवाद को निपटारे के लिए इस प्रकार की व्यवस्था को ही सौंपे। वे इस व्यवस्था के अन्तर्गत विवाद को बिना सौंपे हुए भी अपनी व्यवस्था कर या इस व्यवस्था का नैतिक सहारा लेकर अपना विवाद निपटा सकते हैं। दोनों ही पक्ष किसी भी प्रकार के बंधन से मुक्त रहते हैं।

सामाजिक दृष्टि से अभी तक ऐसा विश्वास किया जा रहा है कि सांत्वना या मध्यस्थता के तीसरे पक्ष द्वारा की गई कर्यवाही निष्पक्ष रहती और निष्पक्ष निर्णय या प्रयास के कारण विवाद को हल करने में सफलता मिल जाती है। इस व्यवस्था के फलस्वरूप प्रबन्धक और श्रमिक संगठन (युनियन और मैनेजमेंट) के बीच सम्बन्ध अच्छे रहते हैं। इस व्यवस्था से दोनों ही समूहों में आशा की चेतना का संचार बना रहना है। लेकिन यह भी साथ ही साथ महसूस किया गया है कि इस व्यवस्था का निरन्तर प्रयोग करते रहने से संरक्षणता की भावना बन जाती है तथा ऐसी स्थिति में अनेक बार इस संरक्षणवाद के कारण जानबूझ कर विवाद पैदा कर लिए जाते हैं। परन्तु इस व्यवस्था ने निर्बल पक्ष को सदैव मजबूती प्रदान की है। निर्बल पक्ष को भी सौदेबाजी करने का साहस मिलता है। विश्व के अधिकांश देशों में यह प्रयास किया जाता है कि विवाद को पंच फैसले के लिए भेजना नही पड़े अतः सांत्वना और मध्यस्थता के मार्ग को अधिक से अधिक अपनाते हैं।

अनिवार्य बनाम स्वेच्छिक सांत्वना

विश्व प्रसिद्ध अधिकांश अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि विवाद को सांत्वना या मध्यस्थता के माध्यम से निपटाना चाहिए। अर्थशास्त्री जी.डी.एच. कोले के अनुसार — "सांत्वना के पीछे हड़ताल की धमकी रहती है। इस भय से भी अच्छे परिणाम निकलते हैं। सांत्वना श्रमिकों के लिए एक छिपा हुआ पंच फैसला है। यह स्थिति श्रमिकों के लिए एक प्रकार की पूंजी है। यह एक ऐसी पद्धति है जिससे कुछ समय के लिए दोनों ही पक्षों के बीच संधि हो जाती है। अनुभव में यह आया है कि अनिवार्य सांत्वना के स्थान पर स्वेच्छिक सांत्वना के परिणाम ज्यादा दूरगामी सिद्ध हुए हैं। स्वेच्छिक सांत्वना पंच फैसले की भांति होता है क्योंकि इसके पीछे नैतिकता की एक बहुत शक्ति होती है। ऐसे समझौते भावना के आधार पर होते हैं इस कारण शेष रहे मामले, दर्द और कष्ट भी मिट जाते हैं।[8]

शाही श्रम आयोग (रायल लेबर कमीशन) का भी यह कहना है कि न्यायालय में की जाने वाली जाँच पड़ताल, और उसके बाद जो निर्णय मिलता है - उसके स्थान पर सांत्वना का मार्ग अधिक सुखद है किसी विवाद को निपटाने के लिए यदि दोनों ही पक्ष आपस में मिल बैठ कर किसी नतीजे पर पहुँच जाते हैं तो वह नतीजा ज्यादा लाभप्रद होता है। आपस में शंका भी नहीं रहती। जब दोनों पक्षों की नियत साफ होती है तो इस प्रक्रिया में अनेक बार अनुभवी और योग्य अधिकारियों का महत्वपूर्ण सहयोग नहीं मिल जाता है। कई बार ऐसे बिन्दुओं पर भी महत्वपूर्ण सलाह मिल जाती है जिन्हें प्रारम्भ में अनदेखा कर दिया गया हो।[9]

औद्योगिक विवाद कानून 1947 सांत्वना व्यवस्था

सन् 1947 में जो औद्योगिक कानून बना उसमें विवाद को निपटाने के लिए तीसरे पक्ष का सहयोग लेने का प्रावधान रखा गया। इसी भावना के अन्तर्गत राज्य सरकारों ने भी अपने यहाँ कानून बनाये। इस कानून के अन्तर्गत सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं और औद्योगिक संस्थानों में सांत्वना व्यवस्था को अनिवार्य कर दिया गया। सभी पक्षों को सोच विचार कर इस प्रकार का कानून

(8) रायल कमीशन आन लेबर - पृ- 347-48

(9) कोले - जी.डी.एच. - दी वर्ल्ड आफ लेबर - पृ- 287

बनाया गया।[10] लेकिन इतना प्रयास करने के बावजूद अनुभव में यह पाया गया कि गत वर्षों में अनेक मामले धीरे-धीरे अनिवार्यता के घेरे में आते जा रहे हैं।

सांत्वना सम्बन्धी मामलों को निपटाने की प्रक्रिया को समय में बाँध दिया गया है। सांत्वना अधिकारी के लिए 14 दिन और सांत्वना बोर्ड के लिए दो माह का समय रखा गया है। अनेक बार कार्य की प्रक्रिया में अधिक समय लग जाता है ऐसी स्थिति में छः माह तक का या एक पक्ष द्वारा विवाद को वापिस ले लेने तक कार्यवाही चल सकती है। सांत्वना की कार्यवाही के दौरान न तो तालाबंदी की जा सकती है और न ही हड़ताल। इसके साथ ही इस कार्यवाही की समाप्ति के सात दिनों में भी दोनों पक्ष ऐसी कार्यवाही की घोषणा नहीं कर सकते।

सन् 1908 के प्रोसिजर लोड के अन्तर्गत प्रलेखों को प्रस्तुत करवाने की जो व्यवस्था है उसी के अनुसार इसी प्रकार का विशेष अधिकार सांत्वना अधिकारी को भी दिया गया है। इसके अतिरिक्त श्रम न्यायालय की भाँति ही औद्योगिक न्यायाधिकरण (इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल) को व्यक्ति के उपस्थित होने, शपथ पूर्वक जाँच करने और गवाह प्रस्तुत करवाने का विशेष अधिकार दिया हुआ है।

जिन अधिकारियों को निर्णय करने या समिति गठन करने का अधकार नहीं है। वे सम्बन्धित अधिकारियों को सिर्फ सुझाव ही दे सकते हैं। कुछ लोगों का मत है कि ऐसा हो जाने से सांत्वना प्रक्रिया की भावना को क्षति पहुँची है।

कार्यों का सम्पादन

सांत्वना व्यवस्था में जिस ढंग से कार्यवाही हुई है उसे आंकड़ों को देखने से उत्साह बढ़ता है। सन् 1959 से 1966 के बीच की अवधि में केन्द्रीय औद्योगिक सम्बन्ध व्यवस्था (सैन्ट्रल रिलेशन मशीनरी) के अन्तर्गत जो विवाद सामने आये उनमें से 57 से 83 प्रतिशत विवाद निपटाये गए थे। शेष विवादों में भी या तो दोनों पक्षों ने आपस में मिल बैठ कर निपटारा कर लिया - या स्वेच्छकि पंच फैसले से निर्णय प्राप्त कर लिया तथा कुछ विवादों का हल आई.डी. एक्ट के अन्तर्गत निकल आया। इसके साथ एक तथ्य यह भी सामने आया कि अनेक विवाद ऐसे भी रहे कि प्रारम्भ में तो वे विवाद के बिन्दु बन गए परन्तु बाद में उस पर दोनों ही पक्षों ने किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं की। ऐसे विवाद स्वतः ही मृत प्रायः हो गए।

इसी प्रकार राज्यों में भी जो विवाद उठे उनको हल करने के परिणाम अच्छे रहे हैं। विवादों पर निगाह डालने से ऐसा महसूस हुआ कि कुछ विवाद तो वास्तव में ऐसे थे जो महत्वपूर्ण थे। उनके अच्छे विवादों की श्रेणी में रखा जा सकता है परन्तु कुछ विवादों को देखने पर दोनों पक्षों के आचरणों से निराशा होती है। कुछ प्रमुख राज्यों के परिणाम इस प्रकार रहे —

सन् 1978 से 85 की अवधि में विहार में 53.5 से 82 प्रतिशत, उड़ीसा में 30.5 से 42.5 प्रतिशत, आसाम में 64.5 से 91.5 तक, उत्तर प्रदेश, पंजाब और दिल्ली में सन् 1984 में 65.0 प्रतिशत, राजस्थान में 41.5 प्रतिशत विवादों का निपटारा हुआ। भारत के दक्षिण क्षेत्र में भी सांत्वना कार्यवाही बहुत ही सफल रही। अकेले केरल में 80 प्रतिशत विवादों का निपटारा हो गया। यद्यपि महाराष्ट्र और गुजरात के आंकड़े उपलब्ध नहीं हो पाए परन्तु वहाँ की परिस्थितियों को देखते हुए स्थिति ठीक रही।[11]

---

(10) औद्योगिक विवाद सन् 1947 के अन्तर्गत सरकार के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि सार्वजनिक उपयोग के हर मामले को सांत्वना के लिए भेजना होगा। इसके अलावा जो अन्य मुद्दे है उनके सम्बन्ध में सरकार केवल निर्देश ही दे सकेगी।

(11) रिपोर्टर आफ दी स्टडी ग्रुप फार इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स - रिसर्च, नर्दन, एण्ड सर्दन रिजनल।

इस व्यवस्था का मूल्यांकन करने से यह प्रकट हुआ कि मालिक और मजदूर के बीच हर क्षण किसी न किसी बात पर असन्तोष बना रहना बहुत ही स्वाभाविक बात है। अच्छे परिणामों के आने के बावजूद कुछ कमियां निम्न प्रकार हैं —

(अ) देरी लगना (ब) प्रक्रिया के दौरान दोनों ही पक्षों का सक्रिय नहीं रहना, (स) स्वयं अधिकारी की पृष्ठ भूमिका कमजोर होना।

(अ) सांत्वना में देरी - इस कार्यवाही में देरी होने की सामान्य शिकायत रहती है। वास्तविकता यह है कि अनेक बार अधिकारियों के पास कार्य की अधिकता होने के कारण देरी लग जाती है। इसे साथ ही एक और कठिनाई यह है कि प्रारम्भिक स्तर पर दोनों ही पक्ष अधूरे दस्तावेज पेश करते हैं। एक ओर तो दस्तावेज पेश नहीं करते और दूसरी ओर इसके अभाव में दोनों ही पक्ष अपनी तारीखों को बदलवाते रहते हैं। इतना ही नहीं इसके साथ ही एक और महत्वपूर्ण स्थिति यह है कि दोनों ही पक्ष वास्तविक तथ्यों को छिपाने का प्रयास करते हैं। इससे अनावश्यक विलम्ब होता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आयोग श्रम का मानना है कि व्यवस्था पर दोषारोपण करना उचित नहीं हैं।

(ब) पक्षों का रुख - अध्ययन करने पर यह भी पाया गया कि दोनों ही पक्षों के अपने अन्तर्निहित उद्देश्य होते हैं। ऐसे अदृश्य उद्देश्यों में दोनों ही पक्ष सांत्वना व्यवस्था को बाधक समझते हैं। जब दोनों ही पक्ष अपना आचरण संदिग्ध बना लेते हैं तो सामान्य प्रक्रिया में बाधा पहुँचना स्वाभाविक है। एक और कठिनाई यह है कि दोनों ही पक्ष स्वंय न आकर अपने अपने प्रतिनिधियों को भेजते हैं। ऐसा करने से भी प्रक्रिया की गति धीमी रहती है। अतः इस कमी को तो स्वंय दोनों को ही दूर करना है। कार्य के निपटारे के लिए दोनों ही पक्षों का सक्रिय रहना आवश्यक है।

(स) कार्य की अधिकता - अधिकारियों के कार्यों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का पैमाना तो होता नहीं है। इनके लिए किसी प्रकार का नमूना या नियम भी तय करना सरल नहीं है। कार्यों की अधिकता विवादों के स्वरूप पर निर्भर करता है। अधिकारी के कार्यों को बढ़ाने में दोनों ही पक्षों की निष्क्रियता भी एक महत्वपूर्ण कारण है। इसके अतिरिक्त एक और तथ्य यह भी है कि अधिकारी की पृष्ठभूमि कैसी है। इस पर भी कार्यों का बोझा आधारित रहता है। अधिकारी स्वंय उसके सम्बन्ध कितना दक्ष है - कितना अनुभव रखता है इस पर भी निर्भर करता है। अनेक बार यह भी देखा गया है कि अधिकारी कार्यों में रुचि नहीं लेता। इन तथ्यों को देखते हुए आयोग का कहना है कि सम्बन्धित अधिकारियों को समय समय पर प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। अधिकारी को स्वंय को भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति सतर्कता तथा रुचि रखना आवश्यक है।

25.3.3 उद्देश्य

पंच फैसले का अर्थ यह है कि विवाद को तीसरे पक्ष को सौंप का उससे एक निश्चित निर्णय प्राप्त किया जाय। विवादों के निपटारे के लिए समय समय पर औद्योगिक नियम बनते रहते हैं। इसके लिए अनेक कानून हैं इसके बावजूद जब दोनों ही पक्ष आपसी विचार विमर्श से विवाद को निपटाने में असफल रहते हैं तो उन विवादों को निपटाने के लिए श्रम न्यायालय में या न्यायाधिकरण के लिए मामला सौंपने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं बचता। ऐसी स्थिति में सरकार की भी यह बाध्यता हो जाती है कि मामले को पंच फैसले के लिए सौंप दे। ऐसे मामले अनिवार्य पंच फैसले की कार्यवाही कहलाते हैं।

न्यायिक क्षेत्र में मामले को देने के बाद वहाँ पर सारी परिस्थितियाँ की विस्तृत जाँच की

जाती है। तथ्यों के आधार पर विवादों को छान बीन कर अपना निर्णय देना उनका परम कर्त्तव्य है।

पंच फैसले में भी कार्यवाही श्रृंखला में सांत्वना और मध्यस्थता के तत्व निहित होते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान भी यदि दोनों पक्ष आपसी बातचीत कर सहमति तक पहुँचना चाहें तो पहुँच सकते हैं। आपस में सहमत होने का मार्ग सदैव खुला हुआ रहता है। सांत्वना या मध्यस्थता की कार्यवाही को मानना या नहीं मानना दोनों पक्षों पर निर्भर करता है - बाहयता नहीं है। परन्तु पंच फैसले की कार्यवाही न्यायिक है इसका निर्णय अदालती निर्णय है। न्यायायिक निर्णय की सुनवाई की प्रक्रिया के दौरान दोनों पक्षों को सुनना उनका कर्त्तव्य है परन्तु उनमें से किसी तर्क को स्वीकार करना या नहीं करना उनका अपना कार्य है। लेकिन सुनवाई के बाद जो निर्णय होता है उसको मानने के लिए दोनों पक्षों के लिए बाध्यता है। सांत्वना या मध्यस्थता की कार्यवाही का स्वभाव न्यायिक नहीं है। इस कारण व्यक्तिगत निर्णय को थोपा जाना सम्भव नहीं होता।

पंच फैसले के तरीके -

(अ) स्वेच्छिक पंच फैसले - स्वेच्छिक पंच फैसले का अर्थ यह है कि दोनों ही पक्ष मिल कर अपना विवाद पंच फैसले के लिए सौंपते हैं। इसकी पद्धति यह है कि जिसे यह मामला सौंपा जाता है वह उन हस्तक्षेपों के आधार पर मौखिक बातचीत के आधार पर अपने विवेक के आधार पर निर्णय देता है। इसमें न तो किसी भी प्रकार की जाँच प्रक्रिया है और न ही गवाह आदि को बुलाया जाता है। इस प्रकार के निर्णय को मानना या न मानना दोनों पक्षों पर आधारित रहता है। किसी भी प्रकार की बाध्यता नहीं रहती। इस प्रकार के निर्णय को पंच करार (आरबीट्रेशन एग्रीमेंट) या पंच धारा (आरबीट्रेशन क्लाज़) कहा जाता है।

इसके विपरीत अनिवार्य पंच फैसले का निर्णय सरकार करती है। इस कार्यवाही का जो निर्णय होता है उसे मानना दोनों पक्षों के लिए बाध्यता होती है। यह कार्यवाही न्यायिक होती है। इस कार्यवाही के दौरान हड़ताल या तालाबंदी नहीं की जा सकती। विवाद के दौरान उद्योग में किसी भी प्रकार की अप्रिय घटना नहीं घटे ता। औद्योगिक शांति बनी रहे। यही इस कार्यवाही का मुख्य उद्देश्य होता है।

(ब) अनिवार्य पंच फैसला - दोनों पक्ष जब अपने प्रयासों में असफल हो जाते हैं तो उस स्थिति में सरकार के समक्ष भी अनिवार्य पंच फैसले के अतिरिक्त और कोई रास्त शेष नहीं रहता। इन परिस्थितियों में किसी बोर्ड, या अदालत अदि के द्वारा ऐसी कार्यवाही करवाई जाती है। इसकी प्रक्रिया न्यायिक होने के कारण उसका (पंच फैसले का) निर्णय मानना दोनों पक्षों के लिए बैधानिक बाध्यता रहती है। अदालतों में जिस प्रकार की कार्यवाही होती है उसी प्रकार की पद्धति इसमें अपनाई जाती है। इससे दोनों पक्षों की उपस्थिति, गवाहों को बुलाना, सारे तथ्यों की जाँच करने कीक अनिवार्यता होती है। इसके बाद जो निर्णय होता है उसका आधार न्यायिक होने के कारण सभी पक्षों के लिए मानना भी अनिवार्य है। यदि कोई पक्ष दिए गए निर्णय को क्षति पहुँचाने या भंग करने की कार्यवाही करता है - तो ऐसी कार्यवाही को दण्डनीय अपराध की श्रेणी में माना गया है।

- क्या पंच फैसला स्वेच्छिक रहना चाहिए या अनिवार्य?

अनिवार्य पंच फैसले के विरूद्ध तर्क - जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अनिवार्य पंच फैसले की कार्यवाही न्यायिक होती है। सारे तथ्यों की भली भाँति जाँच की जाती है। दोनों पक्षों को अपने तथ्य तथा गवाह को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। इस दौरान

हड़ताल या तालाबंदी भी नहीं की जा सकती। विवाद के लिए न्यायपूर्वक मार्ग निकाला जाना है। ऐसी कार्यवाही से सार्वजनिक जीवन में शांति भंग होने से रूक जाती है तथा उद्योग के अन्दर भी शांति बनी रहती है।

अनिवार्य पंच फैसले के विरूद्ध यह कहा जाता है कि - इसमें फैसला जिस पक्ष के विरूद्ध जाता है वह निर्णय की पालना में निष्क्रिय रहता है, उसमें रूचि नहीं लेता। हड़ताल या तालाबंदी पर रोक लग जाने से दोनों पक्ष खुल कर सौदेबाजी नहीं कर सकते। इसके कारण सामुहिक सौदेबाजी करने का भी मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। हड़ताल या तालाबंदी की कार्यवाही के कारण दोनों पक्षों पर सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के खराब होने का भय रहता है। इस भय और दबाव के कारण ही सौदेबाजी का मार्ग बनता है - उस स्थिति में कानूनी कार्यवाही भी बीच में नहीं आती।[12]

अमेरिकन मजदूर आन्दोलकारियों ने अनिवार्य पंच फैसले के विरूद्ध निम्न तर्क दिए हैं

1. पंच फैसले की प्रक्रिया लम्बी होने के कारण औद्योगिक विवाद की प्रक्रिया बढ़ जाती है।

2. अनिवार्य पंच फैसले से औद्योग की आन्तरिक स्वायत बाधित हो जाती है।

3. इस कार्यवाही से प्रबन्ध को और संगठनों के हाथों से अधिकर हट कर सरकार द्वारा स्थापित न्यायाधिकरण के पास चले जाते हैं।

4. इससे सामुहिक सौदेबाजी की हत्या हो जाती है और इसके स्थान पर एक कानूनी बाहकारी निर्णय थोप दिया जाता है।

5. ऐसी कार्यवाही के बाद श्रमिक स्वेच्छा से कार्यवाही नहीं करता। एक घंटे के श्रम के लिए भी उसे आवश्यक मानकर उसी के अनुरूप आचरण करता है। इससे स्वेच्छा से कार्यवाही करने की भावना को क्षति पहुँचती है।

6. इससे जाँच प्रक्रिया तथा दण्डित करने के अपले आपसी पंचाट पर रोक लग जाती है।

7. इससे श्रमिक द्वारा दी जाने वाली माँगो पर रोक लग जाती है। इसके साथ ही उद्योग की आन्तरिक खराब स्थिति में सुधार लाने में भी विलम्ब हो जाता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अनिवार्य पंच फैसले से व्यवसायिक स्वतंत्रता को हानी होती है, गतिशीलता नहीं रह पाती, उसे क्षति पहुँचती है, स्वेच्छा से कार्यकरने की प्रेरक शक्ति निरूत्साहित होती है, स्वयं के विश्वास और इच्छाओं का दमन होता है।[13]

आलोचको का यह कहना है कि जब ऐसी व्यवस्था से व्यक्तिगत स्वतंत्रता बाधित होती हो, स्वप्रेरणा को हानि होती है, आशाओं और कामनाओं पर तुषारापात हो तो ऐसी व्यवस्था को बनाये रखने का उपयोग क्या है? अतः अनिवार्य पंच फैसले की व्यवस्था को तुरन्त समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

इस व्यवस्था के कारण स्वेच्छिक समझौते और स्वेच्छिक पंच फैसले की कार्यवाही सफल नहीं हो पाती क्योंकि दोनों ही पक्ष अपने अपने तथ्यों को, अपनी बात को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं करते। उसके स्थान पर जिस प्रकार ताश के खेल में रंग की पत्तियों को खिलाड़ी बचा

12. काहन फ्रयूड ओ. इन फ्लेण्डरस - ए एण्ड क्लेग - पृ. 101.
13. आचार्य टी.एल. - इवनिंग फार लेवर - पृ. 191-92

बचाकर अपने पास रखते हैं उसके उपयोग के लिए प्रतीक्षा में रहते हैं। जब कोई भी पक्ष साफ मन से बात ही नहीं करना चाहता तो आपसी समझौते या स्वेच्छिक पंच फैसले की कार्यवाही सफल कैसे हो सकती है? यदि वार्ता हो भी जाय तो फलदाई नहीं बन पाती।[14]

श्री.वी.वी. गिरी सदैव अनिवार्य पंच फैसलें के विरूद्ध रहे हैं। उनका नारा था - "पंच फैसला मेरा शत्रु है - मैं पहले भी मजदूर संगठक (ट्रेड युनियनिष्ट) हूँ और बाद में भी ट्रेड युनियनिष्ट रहूँगा।[15]

श्रम मंत्री के पद पर रहते हुए सन् 1952 के भारतीय श्रम कांफ्रेस के उद्घाटन भाषण में बोलते हुए उन्होंने कहा कि अनिवार्य पंच फ़ैसला न्यायिक होता है अतः इस प्रावधान के रहते हुए सामुहिक सौदेबाजी की भावना निरूत्साहित हो जाती है - बाधित हो जाती है।

वी.वी. गिरी ने तो यहाँ तक कहा है कि अनिवार्य न्यायाधिकरण के कारण पंच फैसले की जड़े ही काट दी गई है। श्रमिक यह मानता है कि उसके हित आपसी एकता और श्रमिक संगठन से ही सुरक्षित रह सकते हैं।

ऐसी स्थिति में अनिवार्य न्यायाधिकरण के विरोध में निरन्तर आवाज उठती रहती है। लेकिन इस पक्ष के साथ ही तस्वीर के दूसरे पक्ष को भी देखना आवश्यक है। इस व्यवस्था के पक्ष में भी अनेक महत्वपूर्ण तथ्य मौजूद हैं।

अनिवार्य न्यायाधिकरण के पक्ष में तर्क

इसके पक्ष में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हमारे देश में ऐसे उद्योगों की संख्या बहुत बड़ी है जहाँ श्रमिक संगठनों का किसी भी प्रकार का अस्तित्व ही नहीं है। जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ श्रमिकों की रक्षा के लिए यही एक ऐसी व्यवस्था है जो पूर्णतया प्रभावशाली है। ऐसे उद्योगों के श्रमिकों के दावों को निपटाने की यह व्यवस्था आवश्यक ही नहीं बल्कि इसकी अनिवार्यता है। मजदूर संगठनों और मजदूर भावनावाओं के प्रति सहानुभति होना स्वाभाविक है परन्तु हम ऐसे मजदूरों की अनदेखी भी नहीं कर सकते जहाँ उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाय। जो परिणाम हमारे सामने हैं वे बहुत स्पष्ट हैं - इससे विवादों का निपटारा अच्छे ढंग से हुआ है। विवादों के हल सफल रहे हैं।

इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि जहाँ विवाद के तथ्य स्पष्ट हो परन्तु उसके हल की सम्भावना नजर नहीं आती हो - हल दूर हो - उस स्थिति में ही इस व्यवस्थता के माध्यम से विवादों को हल करने का सहारा लिया जाता है।

इस व्यवस्था से औद्योगिक शांति को बनाये रखने के लिए सहायता मिली है। यह तरीका शांति को बनाये रखने में अधिक कारगर सिद्ध हुआ है।

श्रमिकों की दशा को सुधारने में सामूहिक सौदेबाजी के स्थान पर अनिवार्य न्यायाधिकरण का मार्ग अधिक सफल हुआ है।

देश के औद्योगिक विकास को योजना बद्ध ढंग से आगे बढ़ाने में इस व्यवस्था की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

योजनापूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए यह तरीका उपयोगी सिद्ध हुआ है।

जहाँ पर उत्पादन के लक्ष्यों को निर्धारित किया जाता है वहाँ पर इस बात का अत्यन्त

---

14. गिरी वी.वी. इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स - एन एप्रोच लेबर गजर अक्टु. 1957 पृ. 336।
15. गिरी वी.वी. भारतीय श्रमिक कांफ्रेस - बारहवां अधिवेशन।

आवश्यकता होती है कि दोनों ही पक्ष एक दूसरे के सहयोगी बने रहे। इस विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयासों के समय यदि कोई एक पक्ष अनावश्यक रोड़े अटकाने का कार्य शुरू करदें तो सफलता प्राप्त करना मुश्किल हो जाता है। अतः अनावश्यक रोड़ो को रोकने के लिए यह व्यवस्था उपयोगी है। इससे औद्योगिक वातावरण में शांति बनी रहती है और स्वस्थता रहती है।

दी इण्डियन नेशलन ट्रैड युनियन का यह मानना है कि न्याय को प्राप्त करने तथा उसे सुरक्षित रखने के लिए हड़ताल से दूर रहना अत्यधिक आवश्यक है। इन्टक के कार्यकारिणी सदस्य रामपुजय ने लिखा है कि - ''औद्योगिक सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए हड़ताल या तालाबंदी नहीं की जानी चाहिए। केवल वैधानिक तरीके से की गई हड़ताल या ताला बंदी ही उचित है।''

हड़ताल की विचार धारा भी अब धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही है। औद्योगिक सम्बन्धों में सन्तुलन बनाये रखने, शांति उत्पादन से भी बढ़कर हमारी आजादी को बनाये रखने के लिए हड़ताल और तालाबंदी के विचारों में बदलाव की आवश्यकता है। हड़ताल केवल अन्तिम शस्त्र के रूप में ही होना चाहिए।

भारत की जो सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि और परिस्थियाँ रही हैं उस दृष्टि से अनिवार्य न्यायाधिकारण के पक्षधर इसे सामूहिक सौदेबाजी से अधिक अच्छा मानते हैं। इस मत के लोगों का दृढ़ शब्दों में कहना है कि औद्योगिक जगत में आज जो न्याय दिखाई देता है - कानूनों का आधार बना है वह अनिवार्य न्यायाधिकरण के प्रयासों का ही परिणाम है।

इसके साथ ही यह भी देखने में आया है कि सामुहिक सौदेबाजी, हड़ताल और तालाबंदी के कारण योजनाबद्ध किए जाने वाले विकास में बाधक सिद्ध हुए हैं। अनेक बार तो ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गई कि जहाँ विकास कार्यक्रम ही शंकित हो गये। ऐसी स्थिति में इस रास्ते के अलावा और कोई रास्ता हो भी क्या सकता है?

सन् 1954-55 में मेयरस ने सरकारी कर्मचारियों, अधिकारियों, श्रमिकों श्रमिक नेताओं तथा मालिकों से साक्षात्कार किया था। इस साक्षात्कारों के आधार पर उन्होंने निम्न आधारों पर अनिवार्य न्यायाधिकरण का समर्थन किया है -

1. भारत ने अपने विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का रास्ता अपनाया है। किसी भी विकास को करने में अनेक प्रकार की बाधाएँ आना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार की बाधा को उपस्थित होना या अवैध हड़ताल और तालाबंदी को बर्दाशत नहीं किया जा सकता।

2. महत्वपूर्ण उद्योगों में यदि हड़ताल की अनुमति दे दी जाय तो वहाँ होने वाली हड़तालें साम्यवादी संगठनों के हाथों में चली जायेगी। साम्यवादी संगठनों का मूल उद्देश्य श्रमिकों के असन्तोष को बढ़ा चढ़ा कर बताना होता है। इसके साथ ही वे निरन्तर पूंजीपतियों के विरूद्ध असन्तोष पैदा करने का कार्य करते हैं। इससे तटस्थ वातावरण नहीं रह पाता।

3. सामान्यतया श्रम संगठन कमजोर होते हैं। लम्बी हड़ताल चलने पर मजदूरों का अस्तित्व तब खतरे में पड़ जाता है। उनके पास इसके लिए साधन नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि अनिवार्य न्यायाधिकरण को समाप्त कर दिया जाए तो श्रमिक और उनके संगठन पूर्णतया मालिकों की दया पर ही आधारित हो जायेंगे। इस स्थिति में मालिक स्वेच्छा से श्रमिक को सुविधा देने के लिए कभी भी तैयार नहीं होंगे।

4. अनेक राज्यों के श्रम मंत्रालय अपने राज्यों में श्रमिक अशांति से बचने के लिए अपना नियंत्रण रखना चाहते हैं। अनिवार्य न्यायाधिकरण के द्वारा सरकार को अवैध कार्य को रोकने तथा बाधा पहुँचाने वाले तत्वों के विरूद्ध कार्यवाही करने का अधिकार मिल जाता है।

5. जब दोनों ही पक्ष किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पावें उसे स्थिति में सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि दोनों ही पक्षों को इस संकट से मुक्त करावे। श्रमिक और मालिक आपस में किसी शक्ति परीक्षण के द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचे उसके स्थान पर किसी तीसरे पक्ष से निष्पक्ष निर्णय करवाना ज्यादा अच्छा रहता है कोई एक पक्ष अपना निर्णय पाश्विक शक्ति से थोपे यह भी न तो व्यावहारिक होता है और न ही नैतिक।[16] अतः इन परिस्थितियों के कारण बनने वाले हालात को अनिवार्य न्यायाधिकरण के द्वारा ही ठीक किया जा सकता है।

मार्ग -

दी रायल कमीशन (शाही आयोग) का यह मानना है कि यदि औद्योगिक विवाद को सामान्यतया हल करने के अनिवार्य न्यायाधिकरण का ही मार्ग अपनाया जाता रहे तो उससे दोनों पक्ष तीसरे पक्ष की ओर निहारते रहने के लिए विवश हो जाते हैं। ऐसी मानसिकता में आपस में समझौता करने के लिए निरूत्साहित हो जाते हैं। इससे उद्योग पर प्रतिकुल असर पड़ता है। अतः हर मामले को अनिवार्य न्यायाधिकरण के लिए नहीं सौंपा जाना चाहिए। इसके लिए किसी ने किसी प्रकार का भेद रखना आवश्यक है। अतः किसी न किसी को तो यह निर्णय करना ही पड़ेगा कि अनिवार्य न्यायाधिकरण के लिए मामला भी बनता है या नहीं। इस प्रकार के निर्णय को लेने के लिए सरकार के अतिरिक्त और कोई अच्छा पक्ष हो ही नहीं सकता। यद्यपि रायल कमीशन ने भी इस व्यवस्था का विरोध किया है परन्तु इसके बावजूद रायल कमीशन ने स्वयं ने भी यह स्वीकार किया है कि जहाँ दोनों पक्ष स्वेच्छा से किसी करार पर नहीं पहुँच पावें उस स्थिति में अनिवार्य न्यायाधिकरण से निर्णय करवाना उचित है। रायल कमीशन ने यह भी माना है कि इन परिस्थितियों को देखते हुए सामुहिक सौदेबाजी के साथ ही अनिवार्य न्यायाधिकरण की व्यवस्था रखना बुद्धिमता होगी। भारत सरकार ने इसी भावना से इन सभी मार्गों का खुला रखते हुए मार्ग को कानूनी प्रावधान से सुरक्षित किया है।

श्रममंत्री के रूप में वी.वी. गिरी ने अपने कार्यकाल में यह भरसक प्रयास किया कि विवाद उत्पन्न हो जाने की स्थिति में दोनों पक्ष स्वेच्छा से समझौता करने में सफल हों। उन्होंने सरकार के माध्यम से इस प्रकार का वातावरण बनाया कि दोनों पक्ष अधिक से अधिक सूझबूझ दिखावें दोनों ही पक्षों को पूरा पूरा प्रोत्साहन भी दिया। उन्होंने व्यवहार में यहाँ तक ऐसा रूख अपनाया कि उद्योग में किसी प्रकार की घटना के घट जाने के बाद ही श्रम न्यायालय या न्यायाधिकरण पुलिस या मिलट्री की ही तरह दोनों पक्षों को देखें। हस्तक्षेप भी तभी किया जाना चाहिए जब कोई मार्ग शेष नहीं रहा हो - ऐसी विवशता में ही उसको अपनाया जाय।

राष्ट्रीय श्रम आयोग का मत भी वी.वी. गिरी के विचारों के अनुकूल बना रहा। नेशनल कमीशन ने बराबर यह प्रयास किया है कि अधिक से अधिक मामले आपस में ही निपटायें जायें। एक दूसरे पर विश्वास करते हुए सामूहिक सौदेबाजी को बढ़ावा देने के लिए मार्ग प्रशसा किया गया। इतना प्रयास करने के बावजूद भी यह अनुभव में आया है कि सामुहिक सौदेबाजी या आपसी समझौते में दोनों पक्षों में आपसी समझबूझ जितनी बढ़नी चाहिए थी नहीं बढ़ पाई। जो परिणाम सरकार ने चाहे तथा राष्ट्रीय आयोग-श्रम ने जिस ढंग से प्रयास किए उस प्रकार का फल प्राप्त नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त एक और कठिनाई सामने आई कि जब दोनों पक्षों में

16. मेयरस - सी.ए. - इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स एन इण्डिया पृ. 28

अचानक बदलाव आया तो अनिवार्य न्यायाधिकरण की ओर जाना उनके लिए न तो सम्भव ही हो पाया और न ही व्यावहारिक रह सका। सामुहिक सौदेबाजी या अनिवार्य न्यायाधिकरण दोनों की ओर जाने के लिए प्रारम्भिक प्रयास करने होते हैं। औद्योगिक विवाद के लिए सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायधिकरण को अपना कार्य करना होता है - इस कारण कार्य करने की उसकी एक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया से उसे गुजरना होता है। ऐसी स्थिति में जब सामुहिक सौदेबाजी या समझौते के लिए प्रयास चल रहे हो उस बीच किसी भी एक पक्ष की ओर से आचरण में बदलाव आने पर स्थिति सुधरने के स्थान पर और अधिक जटिल हो जाती है।

पंच फैसले के लिए विधि व्यवस्था -

इस कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों दोनों ही की ओर से व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था के लिए तीन आधार रखे गए हैं। श्रम न्यायालय और औद्योगिक न्यायाधिकरण तो राज्य सरकारों के अन्तर्गत हैं तथा राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (नेशनल ट्रिब्यूनल) केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत कार्य करता है। इन सभी के निर्ण वैधानिक माने गए हैं।

श्रम न्यायालय और औद्योगिक न्यायाधिकरण को मामले सौंपने का निर्णय तो राज्य सरकार करती है परन्तु राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को मामले को सौंपने का निर्णय राज्य सरकार नहीं कर सकती। केन्द्रीय सरकार ही निर्णय करती है कि विवाद को राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंपा जाय या नहीं।

श्रम न्यायालयों को दैनान्दिनी कार्यों को देखना होता है। मालिक द्वारा जारी किए गए आदेश की वैधता, स्थाई आदेश की अवहेलना, स्थाई आदेश का मनमाने ढंग से लगाये जाने वाले अर्थ, श्रमिक को मिलने वाले अवकाश, अनेक प्रकार की स्वीकृत सुविधाएँ, श्रमिक के विरूद्ध की गई अनुसानात्मक कार्यवाही, सेवामुक्ति, पुनः नियुक्ति, हड़ताल या तालाबंदी आदि की वैधानिकता को देखने का कार्यश्रम न्यायालय करता है। इस प्रकार के कार्यो को सम्पादित करने के लिए कानून के द्वितीय सूचीपत्र में ऐसी व्यवस्था की गई है। श्रम न्यायालय राज्य सरकार द्वारा स्थापित किए हुए हैं।

श्रमिको के लिए कार्य घंटों का निर्धारण, वेतन भत्ते बोनस, अवकाश आदि जैसे गम्भीर मुद्दों सम्बन्धी कार्यवाही करने के लिए औद्योगिक न्यायाधिकरण की स्थापना भी राज्य सरकार द्वारा हुई है।

विषयों के महत्व को देखते हुए ही इन्हे ट्रिब्यूनल के अधीन रखा गया है। इनके द्वारा किए गए फैसलों का प्रभाव इस प्रकार के राज्य के सभी उद्योगों पर व्यापक रूप से पड़ता है। जैसे उत्तर प्रदेश के किसी चीनी कारखाने के सम्बन्ध में निर्णय होता है तो उसकी पालना न केवल सम्बन्धित कारखाना ही करेगा बल्कि उस राज्य में कार्यरत सभी चीनी उद्योगों को भी मानना होगा।

विवाद के गुण दोष को देख कर- तथा उसका प्रभाव किसी राज्य तक ही सीमित रहेगा या उसका प्रभाव व्यापक रूप से पूरे देश पर पड़ सकता है - इसका मूल्यांकन करने के बाद ही केन्द्रीय सरकार किसी विवाद को राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंपती है। इस वैधिक व्यवस्था को करने के बाद भी यदि दोनों पक्ष चाहें तो अपनी स्वेच्छा से या मध्यस्थता से विवाद को करार करके निपटा सकते हैं। ऐसी स्थिति में न्यायाधिकरण कहीं भी बाधक नहीं बनता। राष्ट्रीय न्यायाधिकरण द्वारा किए गए निर्णय को मानने के लिए देश भर के सभी उद्योग बाध्य है। यह बाध्यता वैधानिक है।

लाभ -

हम बहुत अधिक पीछे नहीं जाकर सिर्फ गत दो दशकों का ही अध्ययन करें तो हम देखेंगे

कि केन्द्रीय न्यायाधिकरण ने जिस उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से अपनी भूमिका निभाई है उससे मजदूर और मालिकों के बीच के सम्बन्धों, श्रमिकों की परिस्थितियों, आदि में बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

राष्ट्रीय न्यायाधिकरण ने अपने श्रमिकों के वेतन और उसे निर्धारित करने के लिए सिद्धान्तों और तरीको, उनके कार्य करने की दशाओं, बोनस, भत्ते आदि मिलने वाली सुविधाओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय किए हैं। इसके निर्णयों से देश के मजदूरों की स्थिति में एकरूपता लाने में बड़ी मदद मिली है। नेशनल ट्रिब्यूनल ने ऐसे कमजोर मजदूरों को सुरक्षा का छाता प्रदान किया जहाँ श्रमिक संगठन का नामोनिशान ही नहीं था। उन मजदूरों को भी बल दिया जहाँ श्रमिक संगठन तो है परन्तु उनकी स्थितियाँ बड़ी कमजोर रहती है और वे लड़खड़ाते रहते हैं। इसके निर्णयों के आधार पर श्रमिक और मजदूर एक स्तर पर आकर विचार विमर्श करने के लिए समर्थ हो पाये। स्वीकार करने योग्य विकल्प उपलब्ध हो जाने से उद्योगों में शांति बनी रही - बंद होने की स्थितियाँ नहीं आई - उत्पादन सुचारू रूप से चलता रहा।

हानियाँ -

राष्ट्रीय न्यायाधिकरण की जहाँ अनेक उपलब्धियाँ गिनाई जाती है वहीं इसके आलोचकों का कहना है कि श्रमिकों और मालिकों के लिए जो मूलभूत सिद्धान्त हैं जैसे स्वेच्छिक समझौते, सामुहिक सौदेबाजी, करार आदि करने की क्षमता और उत्साह पर दुष्परिणाम पड़ा है। ऐसे न्यायाधिकरण में कार्यो का फैलाव हो जाता है, समय अधिक लगता है, अधिक खर्चीला होता है, भेदभाव पनप जाता है और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सारी शक्तियाँ सरकार में निहित हो जाती है।

कानूनी बाध्यता के कारण सांत्वना और समझौते के लिए निरूत्साहित हो जाने के कारण इस व्यवस्था की कटुआलोचना की जाती है।

राष्ट्रीय श्रमिक आयोग का यह कहना है कि इस व्यवस्था में यद्यपि कुछ कमियाँ हैं परन्तु वे ऐसी नहीं हैं जिन्हें कि दूर नहीं किया जा सके। इसके अतिरिक्त जो महत्वपूर्ण तथ्य है वह यह है कि केन्द्रीय सरकार हर विवाद को न्यायाधिकरण को नहीं सौंपती। विवाद के गुण दोष का भलीभाँती अध्ययन करने के बाद ही विवाद को न्यायाधिकरण को सौंपा जाता है। इससे स्पष्ट है कि सरकार स्वयं यह चाहती है कि दोनों पक्ष अपने स्तर पर ही समझौता कर सहअस्तित्व को भावना से कार्यो का सम्पादन करें। लेकिन जब सारे मार्ग अवरूद्ध हो जाते हैं तभी सरकार इस निर्णय को लेती है अतः केन्द्रीय सरकार पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता है। आलोचकों की आलोचना व्यर्थ है।[17]

राष्ट्रीय श्रम आयोग का तो यहाँ तक कहना है कि सामुहिक सौदेबाजी का विकास तो गत दो दशकों में ही पाया है - इसके अतिरिक्त मजदूर संगठन या तो थे ही नहीं या बहुत ही निर्बल थे - स्थिति में ट्रिब्यूनल ने ही श्रमिकों को सुरक्षित रखा है। इसके साथ ही मजदूर संगठनों तथा मालिकों के बीच सामूहिक सौदेबाजी की भावना को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त किया है। अतः आलोचकों को स्वयं को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ट्रिब्यूनल की स्थापना उस समय हुई थी जब न तो मजदूर संगठन थे और न ही सामुहिक सौदेबाजी की भावना। ऐसी स्थिति में आलोचना करना निरर्थक है।[18]

---

17. दी नेशनल कमीशन आन लेबर पृ. 325
18. दी नेशनल कमीशन आन लेबर - पृ. 325

25.4 सारांश

यहाँ एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या न्यायाधिकरण सामुहिक सौदेबाजी की भावना के विरूद्ध है? इससे किसी भी प्रकार का दो मत नहीं है कि इस व्यवस्था के अनुसार विवाद के निपटारे के लिए तीसरा पक्ष उपस्थित हो जाता है। लेकिन यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान रखने की आवश्यकता है कि इस व्यवस्था में यह भी है कि किसी भी स्तर पर किसी भी क्षण दोनों पक्ष अपना समझौता कर सकते हैं। ट्रिब्यूनल आपसी समझौते के लिए किसी भी प्रकार से बाधक नहीं है।

सामूहिक सौदेबाजी को अच्छा समझा जाता रहा है - इसी कारण तो आज नहीं बल्कि एक लम्बी अवधि से ऐसे वातावरण के लिए प्रयास किया जा रहा है। शाही आयोग (रायल कमीशन) के दिनों से ही इस प्रकार की व्यवस्था के लिए बाद विवाद प्रारम्भ हो चुका था। मालिक और श्रमिक के बीच में सामुहिक सौदेबाजी के द्वारा विवाद के निपटारे के मार्ग को ज्यादा अच्छा माना गया है।

राष्ट्रीय श्रम आयोग का यह कहना है कि सामुहिक सौदेबाजी दो पक्षों के बीच में होती है और इसी के आधार पर दो पक्षीय करकार हो जाता है। लेकिन हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम सामुहिक सौदेबाजी के लिए बातें तो बहुत बड़ी बड़ी करते हैं - सिद्धान्त में हम इसे श्रेष्ठ मानते हैं परन्तु व्यवहार में आने पर इसे क्रियान्वित नहीं कर पाते हैं और चाहते हुए या नहीं चाहते हुए भी आगे चलकर हम न्यायाधिकरण को वारियता दे देते हैं।[19]

वास्तविकता तो यह है कि सामुहिक सौदेबाजी का विचार एक लम्बी अवधि से चला आ रहा है। आज इसके लिए हम काफी प्रयत्नशील है। सामुहिक सौदेबाजी को हम वारीयता दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में एक मत यह भी है कि श्रम कानून में ऐसी व्यवस्था कर दी जाए कि सामुहिक सौदेबाजी के असफल हो जाने पर ही विवाद को अनिवार्य न्यायाधिकरण के लिए सौंपा जाय।

सामुहिक सौदेबाजी का समर्थन का पक्ष बढ़ता जा रहा है। परन्तु एक बड़ा मत सारे पक्षों को देखते हुए यह है कि ऐसे विवाद जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों से जुडा हुआ हो - हल का प्रभाव व्यापक रूप से श्रमिकों पर पड़ने वाला हो - उप परिस्थितियों में विवाद को अनिवार्य न्यायाधिकरण को ही सौंपा जाना चाहिए।

इसके साथ ही यह मत भी प्रबल है कि ऐसे उद्योग जहाँ श्रमिक संगठित नहीं हो, कमजोर हो, मजदूर संगठन नहीं हो - वहाँ पर अनिवार्य न्यायाधिकरण से ही उनके हितों की रक्षा की जा सकती है। अतः इस व्यवस्था को बनाये रखना आवश्यक है - मजदूरो के हित में है।

25.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. जीवन तारिक - वरकर्स पारटीसीपेशन इन मैनेजमेंट
2. आचार्य टी.एल - आर्निंग फार लेबर
3. कोले जी.डी. एच - दी वर्ल्ड आफ लेबर
4. राष्ट्रीय आयोग श्रम की अनेक रिर्पोटस

25.6 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. संयुक्त विचार विमर्श के लिए भारत में किन किन तरीकों का उपयोग किया जाता है? ऐसे तरीके कहाँ तक सफल हो पाये हैं?

19. राष्ट्रीय श्रम आयोग - पृ. 325

प्रश्न 2. अनुशासनात्मक संहिता क्या है? इसे बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसके अन्तर्गत क्या क्या प्रावधान किए गए हैं?

प्रश्न 3. भारत में सांत्वना व्यवस्था की गई है - इसे महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न 4. सांत्वना व्यवस्था और पंच फैसले की व्यवस्था में क्या अन्तर है? हमारे देश की परिस्थितियों को देखते हुए इन दोनों में से कौन सी व्यवस्था अधिक उपयोगी है?

प्रश्न 5. अनिवार्य न्यायाधिकरण (कम्पलसरी आर्बीट्रेशन) क्या है? इसको बनाये रखना चाहिए या नहीं? विवेचन करें।

इकाई-26

औद्योगिक सम्बन्ध तंत्र

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 औद्योगिक सम्बन्धों की कुशलता

- 26.2.1 औद्योगिक संम्बन्ध आयोग
- 26.2.2 श्रम न्यायालय
- 26.2.3 कार्य समिति
- 26.2.4 संयुक्त व्यवस्था परिषदें

26.3 श्रमिकों की भागीदारी वाला व्यवस्थापक मण्डल

- 26.3.1 संयुक्त समितियां
- 26.3.2 इकाई समितियां
- 26.3.3 प्रान्त परिषदें
- 26.3.4 शॉप समितियां
- 26.3.5 प्रबन्ध मण्डल में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व

26.4 सारांश

26.5 शब्दावली

26.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.7 निबन्धात्मक प्रश्न

26.0 उद्देश्य

औद्योगिक सम्बन्ध श्रम एवं पूँजी के आपसी सम्बन्धों पर निर्भर होते हैं। इस इकाई में आपका परिचय शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए भारत में विकसित तंत्र से कराया जाएगा। इस इकाई में आप समझ सकेंगे कि विभिन्न समितियां, परिषदें किस प्रकार औद्योगिक शान्ति सुनिश्चित करने के लिए प्रयास करती है।

26.1 प्रस्तावना

उद्योग और उससे सम्बन्धों से ही ओद्योगिक कुशलता की पहचान बनती है। श्रमिक जिन दशाओं में कार्य करते हैं और उनके साथ मानवीय सम्बन्ध तथा दृष्टि रखना ही इसका प्रमुख आधार है। ये वे परिस्थितियां हैं जिनमें व्यक्तियों के श्रम को आर्थिक दृष्टि से आंका जाता है। उसे बेचा और खरीदा जाता है। एक उद्योग में जो व्यक्ति अपनी सेवाऐं देते हैं वे श्रमिक तथा जो सेवाओं का उपयोग करता है वह मालिक के रूप में माने जाते हैं। इन दोनों के बीच व्यक्तिगत और निजी सम्बन्ध रहना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार इन दोनों पक्षों के बीच का आधार आर्थिक है अतः आगे चलकर इन दोनों के बीच मानवीय सम्बधों का जुड़ना भी आवश्यक है।

मानवीय दृष्टि और सम्बन्ध ही इन दोनों पक्षों की दूरियों को कम करते हैं। इनकी मधुरता और कटुता पर उद्योग का वातावरण निर्भर करता है।

लेबर डिक्सनरी के अनुसार उद्योग में श्रमिको और मालिकों के बीच जो सम्बन्ध बनते हैं उन्हें ही औद्योगिक सम्बन्धों के रूप में परिभाषित किया गया है।[1] एलन फ्लैन्डर्स के अनुसार - "उद्योग में संस्थागत सम्बन्धों को नियमित या व्यवस्थित करने का नाम ही औद्योगक सम्बन्ध है।"[2] संस्थागत सम्बन्धों को ही ध्यान में रखते हुऐ एंच. ए. क्लेग ने व्याख्या करते हुए कहा है - "औद्योगिक सम्बन्धों की परिधि में श्रमिकों और श्रमिक संगठनों का अध्ययन, मालिक, व्यवस्था और सेवा नियमों आदि के सम्बन्ध में राज्य की सम्बन्धित सरकारी संस्थाओं के साथ सारे कार्यों को जोड़ते हुए कार्य करना आता है।[3]

आर. ए. लेस्टर के अनुसार - श्रमिकों और मालिको के बीच कार्य करने की परिस्थितियों में आने वाली बाधाओं के लिए समाधान ढूढ़ने का ही दूसरा नाम औद्योगिक सम्बन्ध है। उद्देश्यों और मूल्यों के बीच आने वाली कठिनाईयों, प्रेरित राशि, आर्थिक सुरक्षा, अनुशासन और प्रजातन्त्र, अधिकार और स्वतंत्रता, सौदेवाजी तथा सहयोग आदि के बीच आने वाले टकराव के बीच उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समधान ढूढ़ने का निरन्तर प्रयास करना सम्बन्धों का व्यावहारिक पक्ष है।[4]

ब्रिटेनिका शब्द कोष के अनुसार -राज्य के साथ मालिकों, श्रमिकों और उनमें संगठनों के सम्बन्धों को औद्योगिक सम्बधों के अन्तर्गत माना गया है। अतः इसके अन्तर्गत उद्योगों में ही मालिकों और श्रमिकों के बीच संयुक्त विचार विमर्श करना, श्रमिकों के संगठनों के साथ बात चीत करना तथा शासन द्वारा बनाये गये नियमों को लागू करना तथा सरकारी तंत्र के साथ ताल मेल बिठा कर कार्य करना दूसरा क्रियात्मक रूप है।[5]

इन परिभाषाओं से निम्न बिन्दु उभर कर आये हैं :–

(i) श्रमिकों और मालिकों के दोनों पक्षों पर औद्योगिक सम्बन्ध आधारित रहते हैं। इन सम्बन्धों को बनाने के लिए उद्योग सबसे बड़ा बिन्दु है - मूल आधार है।

(ii) कार्यों में आपसी सहयोग और कुशलता लाना ही औद्योगिक सम्बधों को मजबूत बनाते हैं।

(iii) श्रमिकों और प्रबन्ध के बीच, सौहार्द पूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए तथा दिन प्रतिदिन के कार्यों को भली प्रकार से संचालित करने की दृष्टि से समय समय पर नियम बनाये जाते हैं - तथा नियमों को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया की जाती है। इससे एक पद्धति का निर्माण होते है।

(iv) सरकारी कानूनों, नियमों, इकरारनामों, अदालती निर्णयों को क्रियान्वित तथा सरकारी प्रभाव से औद्योगिक सम्बन्धों का स्वरूप बनता है। इस स्वरूप से आगे बढ़ने में सुविधा रहती है - और इससे मार्ग प्रशस्त होता है।

26.2 औद्योगिक सम्बन्धों की कुशलता - (औद्योगिक सम्बधों का तंत्र)

राष्ट्रीय श्रम आयोग का सुझाव है कि श्रम अदालतों के साथ ही औद्योगिक सम्बन्धों का

---

1. डी. एच. कैसलमेन - लेबर डिक्सनरी पेज 197
2. फ्लेन्डर्स एलन्स - मैनेजमेंट ऑफ यूनियन्स 1970
3. क्लेग एच. ए. - इण्डस्ट्रियल डेमोक्रेसी एण्ड नेशनलाइजेशन 1957
4. लेस्टर - आर. ए. लेबर एण्ड इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स पृ. 398
5. एन्साईक्लोपीडिया - ब्रिटेनिका 1961 वोल्यूम 12 पृ. 297

एक आयोग गठित किया जाये जो न्यायिक कार्यों की व्याख्या कर सके तथा सभी प्रकार के श्रमिक कानूनों और उनमें सम्बन्ध में किए गए निर्णयों और इकरारनामों को प्रभावी बना सके।

26.2.1 औद्योगिक सम्बन्ध आयोग (आई. आर. सी.)

ढॉचा - केन्द्रीय सरकार उद्योगों (इण्डस्ट्रीज) के लिए एक आयोग स्थपित करे। श्रमिकों और मलिकों के बीच आने वाले ऐसे विवाद जिनका प्रभाव पूरे देश पर पड़ता हो - या एक से अधिक राज्य प्रभावित होते हों - उन्हें इस आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। वर्तमान में राष्ट्रीय न्यायालय (नेशनल ट्रिब्यूनल) द्वारा यह कार्य किया जा रहा है।

2. राष्ट्रीय आयोग की भांति ही राज्य की समस्याओं को भली प्रकार और समय पर ही निपटाया जा सके इस दृष्टि से राज्य आयोग की स्थापना की जाय।

3. राष्ट्रीय या राज्य आयोग के तीन प्रमुख कार्य होंगे -

   (अ) न्यायाधीश की भांति कर्य करना।

   (आ) आपसी मेल मिलाप

   (ई) श्रमिक प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने वाले श्रमिक संगठनों का प्रमाणीकरण करना।

4. ऐसे आयोग के अध्यक्ष को कानूनों की भली भांति जानकारी होनी चाहिए। वैधानिक प्रक्रियाओं का वह अनुभवी हो। आयोग के सदस्य न्यायिक और उद्योग क्षेत्र के श्रमिक और प्रबन्ध आदि सम्बन्ध के अनुभवी व्यक्तियों को रखा जाय। दोनो ही प्रकार के सदस्यों की संख्या बराबर बराबर रखी जाय।

5. श्रमिक संगठनों का प्रमाणीकरण करने के लिए राष्ट्रीय या राज्य स्तरीय आयोग दोनो में ही एक एक अलग से खण्ड रखा जाय।

कार्य पद्धति

जहाँ आपसी समझौता असफल हो जाय - हड़ताल या तालाबन्दी की स्थिति से बचने के लिए दोनो पक्ष स्वेच्छा से पंच निर्णय का सहारा ले सकते हैं। दोनों ही पक्ष पंच निर्णय के लिए निवेदन कर मार्ग को प्रशस्त करने में सहायता ले सकते हैं।

2. समझौते के असफल हो जाने पर जहाँ हड़ताल या तालाबंदी का नोटिस दिया जा चुका हो - वहाँ दोनों पक्षों में से कोई भी एक पक्ष आयोग के समक्ष सलाहकार नियुक्त करने का निवेदन कर सकता है तथा नोटिस अवधि में ही किसी समझौते तक पहुचने के लिए प्रयास कर सकता है।

3. ऐसे उद्योग या सेवाओं को जिन्हें आवश्यक सेवाओं के अन्तर्गत माना गया हो - वहाँ यदि किसी प्रकार का विवाद खड़ा हो जाय तथा सामूहिक सौदेबाजी से समझौता नहीं हो पाया हो तथा पंचात द्वारा फैसला करवाने को स्वीकार नहीं किया गया हो तो दोनों पक्षों में से कोई भी एक पक्ष आयोग को हस्तक्षेप करने तथा आयोग से निर्णय करवाने के लिए निवेदन कर सकेगा। आयोग को निवेदन करते समय आवेदन कर्ता को निवेदन की एक प्रति सम्बन्धित सरकार के समक्ष भी प्रस्तुत करना होगा। आयोग द्वारा जो निर्णय किया जायेगा वह दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी रहेगा।

4. ऐसी स्थिति जहाँ उद्योग या सेवाऐं आवश्यक सेवाओं के अन्तर्गत नहीं आती हों - वहाँ विवाद को समझौतों द्वारा नहीं निपटाया जा सका हो - दोनों ही पक्ष स्वेच्छिक पंच निर्णय करवाने के लिए तैयार न हों - तथा सीधी कार्यवाही करने की सूचना दे दी गयी हो - उस

स्थिति में दोनों में से कोई एक पक्ष नोटिस की एक प्रति आयोग को दे सकता है। नोटिस की अवधि के समाप्ति के बाद यदि सीधी कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है और तीस दिनों तक चलती रहे तो उस परिस्थिति में तीस दिनों के बाद विवाद को समाप्त करवाने के लिए हस्तक्षेप कर सकेगा।

5. अनेक बार हड़ताल या तालाबंदी चलते रहने से ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि सरकार यह समझने लगती है कि ऐसी परिस्थिति राज्य की सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया है या राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है - या सार्वजनिक जीवन में बाधा पहुँच रही है - ऐसा महसूस करने पर सरकार आयोग को निवेदन कर सकती है। यदि आयोग भी उन परिस्थितियों को उचित मान ले तो वह हड़ताल या तालाबंदी समाप्त करवाने के लिए दोनों ही पक्षों से कारण मांग कर सकता है। उन कारणों तथा सम्बन्ध में की गई कार्यवाही को देखकर आयोग अपना निर्णय दे सकेगा।

6. ऐसी भी व्यवस्था रहेगी कि आवश्यकतानुसार राज्य आयोग मामले को राष्ट्रीय आयोग को भेज सके तथा राष्ट्रीय आयोग भी किसी भी कार्यवाही को राज्य आयोग को दे सकेगा।

7. परिस्थितियों का अध्ययन करने के बाद आयोग को यह अधिकार होगा कि तालेबंदी या हड़ताल की अवधि का वेतन देने को स्वीकार करे या अस्वीकार कर दें।

8. हड़ताल के दौरान या हड़ताल के बाद मालिक किसी श्रमिक को हटा दे तथा जांच करने पर यह प्रमाणित हो जाय कि हटाने के पीछे हड़ताल में भाग लेना कारण रहा है तो उस स्थिति में मालिक को उस श्रमिक को सवेतन वापस लेना होगा।

9. जो भी सामूहिक समझौता किया जाय उसे आई. आर. सी. में पंजीकृत करवाना आवश्यक समझा जाय।

10. किसी भी मान्यता प्राप्त श्रमिक संगठन द्वारा आयोग को विवाद निपटाने के लिए यदि आवेदन किया जाता है तो उस स्थिति में आई. आर. सी. का जो भी निर्णय होगा वह दौनों पक्षों के लिए बाध्यकारी होगा।

गठन का स्वरूप –

आयोग में कितने सदस्य रखे जायें इसका निर्णय कार्य के अनुसार ही किया जायेगा। कितने विवाद आयोग के समक्ष आते है तथा उनको निपटाने हेतु क्या व्यवस्था की जाय-? उन परिस्थितियों को देखकर ही निर्णय लिया जायेगा। लेकिन आयोग में अध्यक्ष सहित सदस्यों की संख्या अधिकतम सात तक रह सकेगी। इसमें अध्यक्ष न्यायिक क्षेत्र का होगा तथा शेष तीन तीन न्यायिक और गैर न्यायिक क्षेत्र के होंगे। न्यायिक क्षेत्र से जिसे भी रखा जाय वह व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो हाईकोर्ट का न्यायधीश होने की पात्रता रखता हो गैर न्यायिक सदस्य श्रमिक और प्रबन्ध की दृष्टि से अनुभवी हो। केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष के पद पर नियुक्ति करते समय एक कमेटी का निर्माण करे जिसमें भारत का मुख्य न्यायधीश, संघीय लोक सेवा का अध्यक्ष, तथा सभी राज्यों के हाई कोर्टों में से जो वरिष्ठतम मुख्य न्यायधीश हों उसे रखा जाय। राष्ट्रीय आयोग के अन्य सदस्यों की नियुक्ति भी भारत के मुख्य न्यायधीश की सलाह से ही किया जाय।

राज्य आई. आर. सी. के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायधीश, राज्य के मुख्य न्यायधीश, तथा राज्य लोक सेवा के अध्यक्ष की सलाह से की जाय। आयोग के शेष सदस्यों की नियुक्ति राज्य के मुख्य न्यायधीश राज्य आयोग के अध्यक्ष और राज्य लोक सेवा आयोग

के अध्यक्ष की सलाह से की जाय। जिन व्यक्तियों को सदस्य बनाया जाय वे कानून और प्रौद्योगिक विवादों के क्षेत्र में प्रशिक्षित होने चाहिए। मेल मिलाप खण्ड का अधिकारी ऐसा व्यक्ति हो जो निर्धारित योग्यता रखता हो तथा ऐसे कार्यों के लिए उसकी प्रतिष्ठा हो भले ही वह न्यायिक क्षेत्र का अनुभव नहीं रखता हो। इसी प्रकार श्रमिक संगठनों की मान्यता देने के लिए भी एक अलग खण्ड हो। वह कार्य ऐसे व्यक्ति को सौंपा जाय जिसे श्रमिक संगठनों के बारे में अच्छी समझ और जानकारी हो।

26.2.2 श्रम न्यायालय –

सन् 1947 के औद्योगिक विवाद कानून के अन्तर्गत श्रम न्यायलयों की स्थापना की गई है। लेकिन सन् 1956 में किये गये संसोधन के अनुसार श्रम न्यायालय की स्थापना करना या न करना राज्य सरकारों पर ही छोड़ दिया गया।

श्रम न्यायालय में एक ही न्यायाधीश होता है। इस पद पर नियुक्ति के लिए व्यक्ति को अखिल भारतीय स्तर का सात वर्षों का न्यायिक अनुभव हो या किसी भी राज्य सरकार द्वारा स्थापित श्रम न्यायालय में पाँच वर्षों तक प्रिसाइडिंग ऑफीशर (अध्यक्षीय प्राधिकारी) के रूप में कार्य करने का अनुभव हो। श्रम न्यायालयों में ऐसे विवादों को ही भेजा जाता है जिन्हें भेजना राज्य सरकार उचित समझे। कानूनों के परिशिष्ट द्वितीय के अनुसार निम्न प्रकार के विवादों को श्रम न्यायालय में भेजा जा सकता है :–

(i) मालिक द्वारा दिया गया आदेश स्थाई आदेश के अन्तर्गत वैध है कि नहीं?

(ii) स्थाई आदेशों को लागू करवाना और उनकी व्याख्या करना।

(iii) मालिक द्वारा निकाले गये श्रमिक को वापिस रखने सम्बन्धी कार्यवाही करना। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि श्रमिक को निकालना गलत था तो ऐसी स्थिति में पीड़ित व्यक्ति को सहायता राशि दिलवाना।

(iv) ऐसी छूट या सुविधा को वापिस लेना जो परम्परागत हो।

(v) हड़ताल या ताला बंदी की वैधता और अवैधता का निर्णय करना।

(vi) कानून परिशिष्ट तीसरे के अन्तर्गत आने वाले सभी मामले।

राष्ट्रीय आयोग ने निम्न सुझाव दिए हैं :-

1. (अ) देश के प्रत्येक राज्य में श्रम न्यायालय में श्रम न्यायालय हो। स्थान का निश्चय राज्य सरकार करे।

   (ब) श्रम न्यायालयों के सदस्यों की नियुक्ति राज्स के उच्च न्यायालय की सलाह से की जाय। उच्च न्यायालय द्वारा सुझाये गए नामों की सूची में से ही नियुक्ति की जाय।

2. (अ) श्रम न्यायालय के प्राधिकार और उत्तरदायित्वों, श्रम न्यायालय द्वारा किये गये निर्णयों के सम्बन्ध में व्याख्या करना तथा उन्हें लागू करना। कानून और इकरारनामों के अन्तर्गत आने वाले बिन्दुओं पर श्रमिकों के साथ मालिकों द्वारा किए जाने वाला अनुचित आचरण तथा अनुचित साधन आदि। मालिकों द्वारा की गई ऐसी कार्यवाही करना।

   (ब) श्रम न्यायालय को इतना सक्षम रखा जाय कि श्रमिक और मालिक के बीच होने वाले किसी भी प्रकार के विवाद को निपटा सकें। श्रमिक और मालिक के अधिकार और कर्त्तव्यों पर निर्णय कर सकें।

3. श्रम न्यायालय की अपील उसी राज्य के न्यायालय में की जाय।

4. मालिक और श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले अनुचित कार्यों को विस्तृत रूप से अंकित किया जाय। दोनों पक्षों मे से जो गलत सिद्ध हों उसको दण्डित किया जाय। अनुचित कार्यों के सम्बन्ध में सुनवाई के लिए श्रम न्यायालय ही सबसे अधिक उपयुक्त स्थान सिद्ध होगा।

श्रम कानूनों के अन्तर्गत आने वाले सभी विवाद, कानून तथा इकरारनामों की व्याख्या करना, श्रमिकों और मालिकों के अधिकार और उत्तरदायित्वों के सम्बन्धों में किए जाने वाले दावों, तथा उससे सम्बन्धित विवादों के लिए हर राज्य में श्रम न्यायालय स्थापित किया जाय। श्रम न्यायालयों द्वारा विवादों को निष्पादित करने की अवधि आई. आर. सी. की भांति रखी जाय।

26.2.3. कार्य समिति

जिस उद्योग में एक सौ या उससे अधिक श्रमिक कार्य करते हों वहाँ कार्य समिति (वर्क कमेटी) बनाई जावे। ऐसी समितियों का कार्य क्षेत्र और अस्तित्व उद्योग की चार दीवारों तक ही सीमित रहता है। इन्हें सामाजिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इनका सम्मान किया जाता है। इन्हें वैधानिक स्वरूप भी मिला हुआ है। उद्योग में औद्योगिक प्रजातंत्र के रूप में इनकी पहिचान है। इसमें मालिक और श्रमिक दोनों के ही प्रतिनिधि रहते हैं। यह समिति पूर्ण रूप से सलाह मशविरा देने तक ही सीमित है। समझौता करने का अधिकार इस समिति को नहीं है। प्रबन्ध मण्डल और श्रमिकों के बीच आने वाली दिन प्रतिदिन छोटी मोटी समस्याओं का समाधान इस समिति द्वारा हो जाता है। इकाई स्तर तक के मामलों को निपटाने में ऐसी समितियां अत्यधिक प्रभारी रहती हैं।

इस समिति में प्रबन्धक और श्रमिकों की ओर से बराबर प्रतिनिधि रहते हैं। इसमें अधिकतम संख्या बीस तक रह सकती है। यह कार्य क्षेत्र सिर्फ प्रान्त तक ही सीमित रहता है।

कार्य

1. किसी भी प्रकार के विवाद के समय आपसी विचार विमर्श की प्रक्रिया को निरन्तर बनाये रखने में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण रहती है।
2. दिन प्रतिदिन की नोंक झोंक को निपटा देने के कारण तंत्र को सुचारू रूप से चलाने में मदद मिलती है।
3. आपसी मेल मिलाप के कारण मालिकों और श्रमिकों के बीच अच्छा वातावरण बनता है।
4. प्रान्त या इकाई में मित्रता पूर्ण मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में मदद मिलती है।
5. समस्याओं के समाधान में मेल मिलाप-मध्यस्थता-पंच निर्णय या न्यायिक निर्णय तक की प्रक्रिया में इस प्रकार की समितियों की भूमिका बहुत ही सुखद रहती है। आपस में सम्मान बनाये रखना तथा आगे चलकर उलझ जाने वाले बिन्दुओं को यहीं पर सुलझा लेने में मदद मिलती है।

विधान

इस प्रकार की समिति को गठित करने की पूर्ण जिम्मेदारी मालिक की है। विभाग, अनुभाग, या शाप में कार्यरत श्रमिकों की संख्या के अनुपात से सदस्यों की संख्या निर्धारित करनी चाहिए। प्रबन्ध की ओर से जो प्रतिनिधि रखें जायें वे मैनेजर श्रेणी या सुपरवाइजर वर्ग में से लिये जाने चाहिए। श्रमिकों की ओर से जो प्रतिनिधि रखे जायें उनमें से यदि पंजीकृत श्रमिक संगठन का

सदस्य हो तो इसकी लिखित सूचना मालिक को दी जानी चाहिए। इस समिति में अधिकतम बीस सदस्य रह सकते हैं। यदि कोई श्रमिक श्रमिक संगठन में से हो तो वह सदस्य उस संगठन की ओर से चुना हुआ होना चाहिए। श्रमिक सदस्यों की जो संख्या इस समिति में रहे उनमें आधे से अधिक श्रमिक-संगठन से नहीं रह सकते। अर्थात कम से कम आधे श्रमिक सदस्य ऐसे होने चाहिए जो किसी भी संगठन से जुड़े हुए नहीं हों।

मालिक द्वारा वाछिंत जानकारी यदि श्रमिक संगठन एक माह में उपलब्ध नहीं करवाता है तो ऐसी स्थिति में उन सदस्यों की ओर जो संगठन से जुड़े हुए हों उन पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। यदि उद्योग में एक से अधिक पंजीकृत श्रमिक संगठन हों तो केन्द्रीय नियमों के अनुसार गोपनीय मतदान द्वारा प्रतिनिधि लिए जायेंगे।

चुनाव

(अ) पात्रता – समिति के सदस्य के लिए श्रमिक कम से कम एक वर्ष से उस उद्योग में कार्यरत हो, तथा उसकी आयु 19 वर्ष से कम न हो। ऐसे सदस्य चुनाव लड़ सकते हैं। ऐसे श्रमिक जिन्होंने नियमित रूप से छः माह की सेवा पूरी कर ली हो – उन्हें मतदान करने का अधिकार रहता है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि यदि एक मालिक के पास एक से अधिक उद्योग हो तो उस स्थिति मे कोई भी श्रमिक जिसने इन उद्योगों में यदि एक वर्ष पूरा कर लिया हो तो वह चुनाव लड़ सकेगा तथा छः माह पूरा करने पर मतदान कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि वह एक ही उद्योग में इस अवधि को पूरा करे।

(ब) पद्धति – समिति के चुनाव के लिए प्रबन्धक द्वारा कम से कम तीन दिनों पूर्व या पन्द्रह दिनों पूर्व सूचना जारी करना आवश्यक है। मनोनयन लेने की अवधि एक सप्ताह की रखी जाय। जिस अनुभाग या विभाग का वह प्रतिनिधि बनने के लिए रूचि रखता है वह वहाँ का कार्यरत हो तथा वहीं से मनोनयन फार्म प्रस्तुत करेगा। मनोनयन पत्र पर श्रमिक जो चुनाव लड़ना चाहता है उसके हस्ताक्षर होंगे तथ उसके साथ दो मतदाता श्रमिकों के हस्ताक्षर होंने भी आवश्यक हैं। तीनों श्रमिक सम्बन्धित विभाग या अनुभाग के होने चाहिएं जिनसे श्रमिक चुनाव लड़ना चाहता हो। मनोनयन पत्र भरने की तिथि के बाद प्रस्तुत पत्रों की जांच की जायेगी। जांच हो जाने के बाद वैध रहे मनोनयन पत्र भरने वाला अपना नाम 48 घंटों में वापिस भी ले सकता है। निर्धारित संख्या से यदि मनोनयन पत्र भरे जाते हैं तो मतदान करवाना होगा। एक मतदाता अपना एक मत दे सकेगा। मतदान के लिए उचित व्यवस्था प्रबन्धक करता है।

(स) पदाधिकारी – पदाधिकारियों में अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष, एक मंत्री और एक संयुक्त मंत्री रहते हैं। इनमें अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का मनोनयन तो प्रबन्धक द्वारा किया जायेगा और मंत्री और संयुक्त मंत्री श्रमिक सदस्यों में से होंगे। इस समिति का कार्यकाल दो वर्षों के लिए होता है।

बैठक (मीटिंग) – इस समिति की बैठक कम से कम तीन माह में एक बार होनी ही चाहिए। आवश्यकतानुसार इस समिति की बैठक कभी भी बुलाई जा सकती है। बैठक में भाग लेने वाले श्रमिक सदस्यों को ऑन ड्यूटी माना जाता है। बैठक कार्य दिवस में ही की जायेगी।

समिति द्वारा की जाने वाली कार्यवाही की रिपोर्ट हर छः माह बाद उसके अगले माह की 20 तारीख तक प्रबन्धक समझौता अधिकारी के पास भेजता है।

समिति को भंग करना

समिति को निम्न कारणों से भंग किया जा सकता है :–

1. समिति का गठन करने में नियमों का पालन नहीं किया गया हो।

2. समिति के प्रतिनिधि से यदि 2/3 सदस्य लगातार तीन बैठकों में भाग नहीं लें।

3. किन्ही अन्य कारणों से समिति कार्य करने में असफल रहे।

मूल्यांकन

इस प्रकार की समिति द्वारा आपसी सहयोग बढ़ता है - दोनों ही पक्ष पूर्णतया दबाब मुक्त होते हैं। इनमें पूर्वाग्रहों का भी अभाव रहता है। यह समिति व्यवस्था और श्रमिकों के बीच में एक कड़ी के रूप में होती है। ऐसी समितियों से श्रमिक संगठनों के विकास में सहयोग मिलता है। श्रमिकों उद्योग की वस्तुओं स्थिति को समझने में सरलता रहती है। इससे श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना बढ़ती है तथा उनमें अनुशासन बढ़ता है। अनुशासन और उत्तरदायित्व की भावना से उत्पादन बढ़ता है।

व्यवस्था में अपनी प्रभावी भूमिका बनाने के लिए श्रमिकों को प्रोत्साहन मिलता है। उद्योग के प्रति अपनेपन का लगाव महसूस होता है। व्यवस्था और संचालन में श्रमिक अपनी भागीदारी महसूस करता है। इससे राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा और आर्थिक विकास होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ऐसी समितियों से औद्योगिक साख में वृद्धि होती है। व्यवस्था और श्रमिकों के बीच समझ बढ़ती है और आपसी समझ बढ़ने से मालिक और श्रमिकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनते हैं।

इतना सबकुछ होने के बाबजूद इन समितियों का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। इस स्थिति के लिए कुछ निम्न महत्वपूर्ण कारण है। :

1. औद्योगिक विवाद कानून 1947 के अन्तर्गत इन समितियों का क्षेत्र स्पष्ट नहीं है। योरोप के देशों में इस प्रकार की समितियों के लिए कार्यों का निर्धारण किया गया है। जैसे उद्योग की सुरक्षा, सुरक्षा, स्वास्थ्य, जन कल्याण तथा तकनीकी मामले आदि। इससे वहाँ श्रमिकों में आत्म संतुष्टि बढ़ी है। लेकिन हमारे यहाँ इस प्रकार के किसी प्रकार के विषय निर्धारित नही किए गए हैं। अतः इस दृष्टि से बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।
2. कुछ मालिक इन समितियों को श्रमिक संगठनों के स्थान पर मान कर कार्य करते हैं। इससे श्रमिक संगठनों और इस प्रकार की समितियों के बीच टकराव की स्थिति बन जाती है।
3. इस समिति को अधिक गतिशील बनाने के लिए श्रमिक सदस्यों को अलग से समय नहीं मिल पाता। ऐसे कार्यों के लिए श्रमिक सदस्यों के लिए अलग से किसी प्रकार का भुगतान भी नहीं किया जाता है। ऐसी स्थिति मे शिथिलता बनी रहती है।
4. समिति के लिए सदस्यों की संख्या विभिन्न प्रकार के समूहों के आधार पर तय किये जाने के कारण भी श्रमिकों में आपसी मतभेद बढ़ जाते हैं।
5. गोपनीय मतदान के लिए किसी प्रकार की निश्चित प्रक्रिया नहीं है और नहीं निष्क्रिय सदस्यों को वापिस बुलाने का प्रावधान है।
6. अनेक प्रकार की वर्क्स कमेंटियां तो निष्क्रिय ही पड़ी रहती हैं। उनका अस्तित्व कागजों में पड़ा रहता है। ऐसी समितियों की न तो समय पर बैठक ही होती है और यदि बैठक होती भी है तो किसी महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा तक नहीं हो पाती मात्र औपचारिकता बनकर रह जाती है।
7. दोनों ही पक्षों में सदैव अविश्वास की भावना बनी रहती है। श्रमिक संगठनों का कहना है कि व्यवस्था की ओर से समितियों को सहयोग नहीं मिल पाता। मालिक और श्रमिक

संगठन आपस में सदैव एक दूसरे पर आरोप लगाते रहते हैं कि वे उन्हें सहयोग नहीं करते।

8. उद्योग में निरन्तर बने रहने वाले असन्तोष वातावरण के कारण भी ये समितियां प्रभावी ढंग से कार्य करने में असमर्थ रहती हैं।

वी. वी. गिरी का मत है कि वास्तविकता तो यही है कि समितियों को जो यह रस्सा दिया गया उससे वे मार्ग में बढ़ने में असफल रहें हैं। इस रस्से के माध्यम से उद्योग मे क़लह, आपसी मतभेद, कम करने में असमर्थ रहे हैं। इस स्थिति में आपसी समझ भी नहीं बढ़ पाई है। ऐसी स्थिति में ये समितियां निष्क्रिय बन जाती हैं और जिन उद्देश्यों को लेकर इनकी स्थापना की गई है - उनकी पूर्ति नहीं हो पाई हैं।[6]

सुझाव –

1. कार्य समितियों को ओर ध्यान दिया जाय।
2. कार्य समितियों द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों का आदर किया जाय। निर्णयों की क्रियान्विति आवश्यक रखी जाय।
3. आपसी सहयोग और विश्वास के साथ समिति में कार्य किए जायँ।
4. सभी उद्योंगों में कार्य समितियों का गठन किया जाय।
5. समय समय पर इन समितियों द्वारा किए जाने वाले कार्यों का मूल्यांकन किया जाय।
6. समितियों को ऐसी शक्ति दी जाय जिससे वे अपने द्वारा लिए गए निर्णयों को लागू करवा सकें।
7. व्यवस्था और श्रमिक दोनों को ही अपने विचारों में बदलाव लाने की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय आयोग श्रम ने कार्य समितियों की सफलता के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :–

1. मालिको को अधिक जिम्मेदारी के साथ इस कार्य को करना चाहिए।
2. श्रमिक संगठनों को अपना उचित योगदान करना चाहिए।
3. कार्य समितियों के लिए उनके कार्यों और क्षेत्र का स्पष्ट निर्धारण करना चहिए।
4. कार्य समितियों के द्वारा लिए गए निर्णयों को लागू करने की इच्छा शक्ति होनी चाहिए और हृदय से क्रियान्वित करने की भावना रखी जाय।
5. प्लान्ट में कार्यरत् विभिन्न विभागों में आपस में सामंजस्य रखा जाय।

26.2.4 संयुक्त व्यवस्था परिषदें

दिनांक 19 अप्रेल के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में यह कहा गया है कि समाजवादी प्रजातंत्र में सामान्य विकास की प्रक्रिया में श्रमिक हिस्सेदारी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है अत श्रमिकों को पूर्ण उत्साह के साथ अपनी भागीदारी निभानी चाहिए। श्रमिकों और तकनीशियनों को समय समय पर बैठ कर आपस में विचार विमर्श कर उद्योग को विकसित करने के लिए उत्साह के साथ अपना योगदान निष्ठापूर्वक करना चाहिए।[7]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सर्वप्रथम यह सुझाव दिया गया है कि ऐसी परिषदें बनाई जावें

6. गिरी वी. वी. लेबर प्रोबलेम्स इन इण्डियन इण्डस्ट्री - 1958 पृ. 231.

जिसमें तकनीशियनों और श्रमिकों की भागीदारी हो। ऐसी संयुक्त समिति दौनो प्रकार के सदस्य हों।

इस प्रकार की परिषदों का कार्य क्षेत्र विस्तृत रखा जाय तथा इकाई उत्पादन कमेंटियों से भी ज्यादा शक्तिशाली ऐसी परिषदों को बनाया जाये।

सन् 1957 में भरतीय श्रमिक कांफ्रेंस के पन्द्रहवें अधिवेशन में इस कार्य की दिशा तय करने के लिए एक उप समिति का गठन किया गया था।

इस उप समिति ने निम्न सुझाव दिए हैं :—

1. उद्योग में शक्तिशाली और सुस्थापित श्रमिक संगठन हो।
2. सभी पक्ष प्रयोग के तौर पर आपसी सहयोग करें।
3. ऐसे उद्योग में श्रमिकों की संख्या कम से कम 500 होनी चाहिए।
4. मालिक स्वयं ऐसा हो जो एक या अनेक प्रमुख संगठनों का सदस्य हो।
5. औद्योगिक सम्बन्धों के क्षेत्र में मालिक की अच्छी साख हो।

इन बिन्दुओं पर विस्तृत चर्चा के लिए श्रमिक और मालिक के बीच आपसी सहयोग विषय पर माह जनवरी-फरवरी 1958 में एक सेमिनार नई दिल्ली में हुई। यह सेमिनार बहुत ही उपयोगी रही। इसमें संयुक्त परिषदों के गठन, तथा श्रमिक संगठनों सम्बन्ध में विचार हुआ। इस दिशा में नीति निर्धारित करते हुए निम्न निर्देश दिए गए :—

उद्देश्य –

1. श्रमिकों और मालिकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।
2. उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रभावी ढ़ंग से कार्य करना।
3. श्रमिकों के लिए जन कल्याणकारी चालु करना तथा उनके लिए सुविधाओं को बढ़ाना। इसके साथ ही मालिकों के साथ उत्तरदायित्व के साथ श्रमिक किस प्रकार से कार्य करें - इस दृष्टि से उन्हें प्रशिक्षित करना।

सफलता के लिए शर्त –

आपसी विश्वास और समझ से ही सफलता प्राप्त की जा सकती है अतः श्रमिकों और मालिकों के बीच सौहार्द पूर्ण वातावरण बनाये रखने के लिए समय समय पर प्रशिक्षित किया जाय।

रचना –

संयुक्त व्यवस्था परिषद में प्रबन्धक और श्रमिकों के प्रतिनिधियों की संख्या बराबर बराबर रखी जाय। छोटे उद्योगों में अधिकतम कुल सदस्य संख्या छः और बड़े उद्योगों में बारह रखी जाय। जहाँ एक ही श्रमिक संगठन हो वहाँ श्रमिक संगठन को अपना प्रतिनिधि भेजना चाहिए। जहाँ पर एक से अधिक श्रमिक संगठन कार्यरत हो वहाँ पर उन संगठनों को अपने स्तर पर मिलकर यह तय करना चाहिए कि प्रतिनिधि किस प्रकार मनोनित किया जाय। यदि श्रमिक अपनी कार्य शैली में अत्यधिक स्वतंत्र हों तो श्रमिक सदस्य संख्या में से 25% सदस्य ऐसे भी प्रतिनिधि भेज सकेंगे जो किसी और उद्योगों में कार्यरत हों। लेकिन ऐसे सदस्यों के लिए मालिकों

7. सैकण्ड फाइफ इयर प्लान (द्वितीय पंचवर्षीय योजना) पृ. 49.

की सहमति होना जरूरी होगा। ऐसे सदस्य दो से अधिक नहीं रखे जा सकेंगे।

कार्य –

परिषद के कार्यों के लिए आदर्श प्रारूप तैयार किया गया। इसमें कार्य-सलाहकारी विचार विमर्श, सूचनाओ तथा व्यवस्था में हिस्सेदारी लेने का रखा गया।

1. **सलाहकारी कार्य** – व्यवस्था मण्डल इस परिषद से निम्न बिन्दुओं पर विचार विमर्श कर सकेगा।

   (अ) सामान्य प्रशासन सम्बन्धी स्थाई आदेश - और समय समय पर आवश्यकतानुसार उनमें संसोधन करना।

   (ब) उत्पादन बढ़ाने के लिए तथा नवनिर्माण के लिए तरीके ढूढ़ना। जो मशीनें बेकार पड़ी हुई हों उन्हें किस प्रकार उपयोग में लिया जाय तथा जिन श्रमिकों के पास कार्य न हो उन्हें किं प्रकार व्यस्त किया जाय।

   (स) मशीनों में रूकावट आने पर तथा बंद के दौरान जब मशीनें बंद हो जाती हैं और उन्हें जब पुनः प्रारम्भ किया जाता है उस समय आने वाली बाधाओ को किस प्रकार दूर किया जाय।

2. **सूचनाएँ प्राप्त करना और सुझाव देना –**

परिषद को सूचना प्राप्त करने का अधिकार होगा - तथा उन पर विचार कर अपने सुझाव दे सकती है।

(i) उद्योग की सामान्य स्थिति पर।

(ii) बाजार की स्थिति, उत्पादन और बिक्री कार्यक्रम।

(iii) संस्थान पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभाव।

(iv) संस्थान के अन्तर्गत आने वाले सभी प्रकार के कार्यों का संचालन।

(v) विस्तार के लिए लम्बी अवधि के कार्यक्रम या उनमें किसी प्रकार के सुधार करने सम्बन्धी।

(vi) लाभ-हांनि सम्बन्धी वार्षिक तलपट और और उससे सम्बन्धित सभी प्रकार के कागज और उस सम्बन्ध की व्याख्या।

(vii) ऐसे मुद्दों जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो।

3. **प्रशासनिक कार्य –**

(i) जन कल्याणकारी प्रशासन।

(ii) सुरक्षात्मक व्यवस्थाएं।

(iii) व्यवस्था सम्बन्धी कार्यक्रम बनाना और उसके लिए प्रशिक्षिण देना।

(iv) कार्य करने के घंटे, बीच का विश्राम और अवकाश सम्बन्धी तालिकाए बनाना।

(v) ऐसे मुद्दे जो दोनों को स्वीकार्य हों।

सामान्य कार्य –

परिषदें निम्न बिन्दुओं पर कार्य करेंगी :–

(i) श्रमिकों की कार्य करने की दशा तथा उनमें रहन सहन की स्थिति में सुधार लाने के लिए कार्य करना।

(ii) उत्पादन बढ़ाना।

(iii) श्रमिकों को सुझाव देने के लिए प्रोत्साहित करना।

(iv) कानूनों और इकरारनामों को क्रियान्वित करने में सहयोग करना।

(v) श्रमिकों और मालिकों के बीच सूचनाओं का आदान प्रदान करने के अधिकृत कार्य करना।

(vi) कार्यों को सुचारू रूप से गतिशील रखने के लिए श्रमिकों की हिस्सेदारी के लिए उन्हें प्रोत्साहित करना।

वेतन और बोनस जैसे मामले जो सामूहिक सौदेबाजी के क्षेत्र में आते हैं उन पर ये परिषदें विचार विमर्श नहीं करेंगी। श्रमिकों की व्यक्तिगत शिकायतें भी इन परिषदों के अन्तर्गत नहीं रखी गई हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिकों और मालिकों के बीच नये अधिकारों के सम्बन्ध में भी होने वाले कार्यों को भी इन परिषदों के दायरों से बाहर रखा गया है।

मूल्यांकन –

परिषदों की स्थापना के विचार को जिन्होंने आगे बढ़ाया उन्हीं का यह मानना है कि उनसे श्रमिकों को अपेक्षित लाभ नहीं मिला। सन् 1969 की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि - सत्य तो यह है कि इन परिषदों से न तो मालिकों में ही किसी प्रकार का बदलाव आया और न श्रमिकों ने इससे किसी प्रकार का उत्साह दिखाया। दौनों ही पक्षों ने इन परिषदों को आगे बढ़ने का उचित प्रयास नहीं किया।

इन परिषदों को आगे बढ़ानें में जो बाधाएं आई उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :–

निजी क्षेत्र –

1. श्रमिकों में इनके प्रति रूचि का न होना।
2. इन परिषदों में श्रमिक संगठनों श्रमिको को व्यक्तिगत मामले तथा अन्य ऐसे मुद्दे उठाये जो इनके क्षेत्र में न आकर सामूहिक सौदेबाजी के क्षेत्र के थे।
3. प्रबन्धकों की ओर से सहयोग नहीं मिलना।
4. मालिकों और श्रमिकों के बीच कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं था जो वह स्पष्ट दिशा दे सकें कि उनके क्या अधिकार हैं और क्या उत्तरदायित्व? उन्हें किन मुद्दों पर विचार करना है? ऐसा भी स्पष्ट अंकन नहीं रहा।
5. प्रबन्धकों और श्रमिकों के बीच उचित सूचनाओं का आदान प्रदान का न होना।

सार्वजनिक क्षेत्र में –

1. श्रमिक संगठनों में आपसी टकराव।
2. सरकारी लाल फीताशाही के कारण परिषदों के द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने मे देरी होना।
3. प्रबन्ध मण्डल और श्रमिकों - दोनों को ही इस सम्बन्ध में प्रशिक्षण नहीं दिया गया।

बूड़े उद्योगों ने तो इस प्रकार की परिषदों के गठन में किसी भी प्रकार की रूचि ही नहीं ली। इन्हीं कारणों से इन परिषदों की गति बहुत ही धीमी और पीड़ादायक रही।

परिषदों का भविष्य –

यह कहना बहुत ही मुश्किल है कि संयुक्त परिषदों का भविष्य क्या होगा? राष्ट्रीय श्रम आयोग (NCL) ने इस सम्बन्ध में यह कहा कि जब श्रमिक संगठनो को मानयता देने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है तो यह स्वाभाविक है मालिक और श्रमिक संगठन - दोनों ही पक्ष अपने सम्बन्धों को आपस में बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। ऐसी स्थिति में इन दोनों ही पक्षों के सहयोग से ही संयुक्त परिषदों का ठीक प्रकार से संचालन हो सकता है। उनकी स्थापना और सफलता इन दौनों ही पक्षों पर निर्भर करेगा।[9] कुछ शक्तियां इस प्रयास में लगी हुई हैं कि सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया अधिक सक अधिक विकसित हो। वे इसमें दोनों ही पक्षों के आपस के सम्बन्धों को बढ़ते हुए देखते हैं। इसमें श्रमिक संगठनों और मालिकों के बीच मार्ग सदैव खुला रहता है।

उद्योग में इस प्रकार की परिषदों को आन्तिरक प्रजातंत्र के विकास के लिए उपयोगी माना जाता है। इसकी सफलता के लिए निम्न तत्वों का होना आवश्यक है :–

1. दोनों ही पक्षों में आपसी विश्वास होना चाहिए।
2. दोनों ही पक्षों के अधिकार और उत्तरदायित्व निर्धारित किए जायँ।
3. शक्तिशाली श्रमिक संगठनों की आवश्यकता है जो सामूहिक सौदेबाजी सफलतापूर्वक कर सकें।
4. इसके लिए इच्छा शक्ति होनी चाहिए।
5. इस दृष्टि से समय पूर्व ही श्रमिकों को प्रशिक्षित किया जाय।

26.3 श्रमिकों की भागीदारी वाला व्यवस्थापक मण्डल –

उद्योग में श्रमिकों की भागीदारी का अनुभव सामने आया उससे यह स्पष्ट हुआ है कि उद्योग के विभिन्न विभागों में प्रबन्ध मण्डल और श्रमिकों के बीच समन्वय रखते हुए जो निर्णय लिए गए और जिन्हें स्वस्थ्य मन से क्रियान्वित किया गया उनके परिणाम बहुत ही फलदायी सिद्ध हुऐ हैं। इन्हीं अनुभवों से श्रमिकों के व्यवस्थापक मण्डल में भागीदारी देने की कल्पना बनी।[10]

जुलाई 1975 में श्रमिकों को एक दो शॉप स्तर पर तथा दूसरे पूरे उद्योगके स्तर पर भागीदारी देकर एक आदर्श प्रस्तुत किया गया। सन 1977 में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में श्रमिकों की भागीदारी की योजना क्रियान्वित की गई। वहाँ इकाई समितियां (यूनिट कौंसिलें) बनाई गई। सन् 1983 में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में शाप, प्रान्त, और बोर्ड स्तर तक श्रमिकों को भागीदारी दे दी गई। इन सभी स्तरों पर समितियां बना दो गई।

26.3.1 संयुक्त समितियाँ –

पूरे उद्योग स्तर पर संयुक्त समिति बनाई गई। उद्योग के मुख्य प्रबन्धक (चीफ एक्जीक्युटिव) को उसका अध्यक्ष रखा गया। समिति के लिए एक मंत्री रखा गया। यह भी तय किया गया कि यदि विशेष कारणों से किसी निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए समय निर्धारित किया हो तो उसके अनुसार क्रियान्वित की जाय। सामान्य तथा किसी भी निर्णय को एक माह के अन्दर अन्दर क्रियान्वित कर दिया जाय। समिति में श्रमिकों की ओर से कम से कम 100 श्रमिक प्रतिनिधि

9. एन. सी. एल. पर भारत सरकार की रिपोर्ट 1969 पृ. 345
10. दी इन्टरनेशनल इन्सटीट्यूट फॉर लेबर स्टडीज बुलेटिन - 5

रखे जायें।

लक्षण –

1. उद्योग के विभिन्न विभागों की परिस्थितियों के अनुसार पंजीकृत श्रमिक संगठनों की सलाह से समितियों की संख्या तय की जाय। जहां पंजीकृत संगठन नहीं हो वहां श्रमिकों की सलाह से कार्य किया जाय।
2. केवल उन्हीं श्रमिकों को सदस्य बनाया जाय जो वास्तव में पंजीकृत संगठन में हों या सेवा में हो। प्रत्येक सेवा या संगठन में से कितने सदस्य लिए जायं इसका निर्णय आपसी विचार विमर्श से किया जाना चाहिए। लेकिन इतनी संख्या भी नहीं होनी चाहिए कि अनियंत्रित हो जाय।
3. संयुक्त समिति समिति की कार्य अवधि दो वर्ष की रखी गई है। इसमें यदि किसी सदस्य का मनोनयन बीच में हुआ हो तो भी उसका समय उतना ही रहेगा जितना कार्यकाल समिति का रहेगा।
4. उद्योग का मुख्य प्रबन्धक संयुक्त समिति का अध्यक्ष होगा। एक उपाध्यक्ष होगा जो श्रमिकों द्वारा चुना हुआ होगा।
5. समिति के सदस्यों में से ही किसी एक को सचिव बनाया जायेगा। इसके द्वारा विचारणीय विषय तय किए जायेंगे, बैठकों को बुलायेगा - उनकी कार्यवाही अंकित करेगा। बैठक में लिए गए निर्णयों में से कितने क्रियान्वित किए गए है या उनकी क्या स्थिति बनी आदि की रिपोर्ट वह अगली बैठक में प्रस्तुत करेगा।
6. समिति की बैठक तीन माह में एक बार बुलाई जायेगी। हर बैठक में पिछली बैठक में लिए गए निर्णयों के बारे में विचार किया जायेगा। जो निर्णय लागू नहीं हो सके उन पर विचार कर गति देने के लिए कार्यवाही तय की जायेगी। ताकि निर्णयों को प्रभावी ढ़ंग से लागू किया जा सके।
7. जो भी निर्णय लिया जाय वह आपसी विचार विमर्श, समझ और सहमति से लिया जाय। मतदान नही मंतदान नहीं करवाया जायेगा।

कार्य –

संयुक्त समिति के निम्न कार्य होंगे :–

1. उत्पादन में वृद्धि, कार्य कुशलता, यूनिट के अनुसार मशीन और व्यक्ति के लिए कार्य का माप दण्ड निधारित करना।
2. व्यापार के लिए उचित व्यवस्था करना - तथा श्रमिकों में कुशलता बढ़ाना।
3. इकाई के ऐसे बिन्दुओं पर विचार करना जिनका अन्य इकाईयों पर या पूरे उद्योग पर पड़ता हो।
4. कार्य करने की दशा में सुधार करना।
5. कार्य करने के लिए घण्टों का निर्धारण करना तथा कार्य को सम्पादित करने के लिए तालिका बनाना।
6. अच्छे सुझाव देने वाले श्रमिक को पुरुष्कृत करना।
7. कच्ची सामग्री का अधिकतम उपयोग किया जा सके तथा उत्पादन का सार अच्छा बनाया

जा सकने के उपाय खोजे जायँ।

8. ऐसे मामले जिन्हें इकाई स्तर पर नहीं निपटाया जा सका हो।

9. सामान्य, स्वास्थ्य, कल्याण और सुरक्षा सम्बन्धी मुद्दों पर विचार कर क्रियान्वित करना।

26.3.2 इकाई समितियाँ – (यूनिट कौंसिलें)

ऐसे जहां एक सौ या एक सौ से अधिक श्रमिक कार्य करते हों वहां दैनिक कार्यों को करवाना तथा इस सम्बन्ध में आने वाली समस्याओं का समाधान करना। ऐसे मुद्दे जो एक इकाई से अधिक, इकाईयों से सम्बन्धित हों - उनके लिए विशेष समति गठित की जा सकती है।

लक्षण –

1. इस समति में प्रबन्धक और श्रमिकों की ओर से बारबर बराबर सदस्य रहेंगे। समिति के लिए सदस्यों की संख्या पंजीकृत श्रमिक संगठन या श्रमिकों की सलाह से किया जाय - जैसी भी स्थिति हो। लेकिन सदस्यों की संख्या 12 से अधिक नहीं हो सकती।

2. इकाई के श्रमिकों में से श्रमिक सदस्य लिए जायेगे तथा प्रबन्धक अपनी ओर से अपने सदस्य मनोनित किए जायेंगे।

3. प्रबन्धक - श्रमिक संगठन या श्रमिकों की सलाह से यह तय करेगा कि उद्योग में कितनी इकाई समितियां रहेंगी - तथा एक इकाई समिति के अन्तर्गत कितने विभाग रहेंगे।

4. निर्णय आपसी सहमति से लिया जायेगा - मतदान नहीं किया जायेगा। जिस बिन्दु पर निर्णय नहीं लिया जा सके उसे संयुक्त समिति को सोंपने की व्यवस्था की गई है।

5. निर्णय को एक माह के अन्दर क्रियान्वित करना होगा।

6. सचिव का चयन सदस्यों में से ही किया जायेगा। बैठकों को आयोजित करना, कार्यवाही लिखना, निर्णयों को क्रियान्वित करवाने का कार्य सचिव का रखा गया है।

7. ऐसे मुद्दे जो इकाई के अतिरिक्त जो अन्य इकाईयों को भी प्रभावित करते हों उन्हें संयुक्त समिति के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

8. इकाई समिति की कार्य अवधि तीन वर्षों की रखी गई है।

9. माह में कम से कम एक बैठक आयोजित की जायेगी।

10. समिति का अध्यक्ष प्रबन्धक द्वारा मनोनित किया जायेगा तथा उपाध्यक्ष श्रमिकों में से होगा।

कार्य –

1. अधिकतम कार्यकुशलता रखते हुए अच्छी ग्राहक सेवा करना।

2. ऐसे स्थानों को चिन्हित करना जहां कार्य करने की परिस्थितियाँ अच्छी नहीं हों। वहां सुधार करने के लिए क्या किया जा सकता है? रिपोर्ट बनाकर प्रस्तुत करना।

3. श्रमिकों की उपस्थिति पर नजर रखना तथा उपस्थिति कैसे बढ़ाई जा सकती है इस पर विचार करना। उपस्थिति बढ़ाने के लिए प्रयास करना तथा अनुपस्थिति के कारण ढूंढ़ना।

4. इकाई में अनुशासन बनाये रखना।

5. चोरी या भ्रष्टाचार की स्थिति को देखना।

6. श्रमिकों की कार्य करने की दशा में सुधार करना।

7. श्रमिकों और मालिकों के बीच सूचनाओं का आदान प्रदान करना। दौनों के बीच संवाद को बनाये रखना।

8. स्वास्थ्य, कल्याण और सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में सुझाव देना।

9. इकाई में सुधार और कार्य की कुशलता के लिए सुझाव देना।

26.3.3 प्रान्त परिषदें – (प्रान्त कोंसिल)

सामाजिक क्षेत्र के सभी उपक्रमों में प्रान्त परिषदें स्थापित की गई हैं। केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आये उन उपक्रमों में जिन्हें इससे मुक्त रखा गया है - शेष सभी में इनका गठन किया गया है।

लक्षण –

1. पूरे उद्योग के लिए एक ही प्रान्त कोंसिल होगी।

2. ऐसी परिषद में कम से कम 6 व अधिकतम संख्या 18 सदस्यों की होगी।

3. इस परिषद के सदस्य वे ही हो सकेगें जो उस उद्योग में कार्य करते हों।

4. इसकी कार्य अवधि तीन वर्षों की होगी।

5. इस परिषद का अध्यक्ष इकाई का मुख्य प्रबन्धक होगा और उपाध्यक्ष श्रमिकों की ओर से चुना हुआ होगा।

6. परिषद अपने सदस्यों में से ही एक को सचिव बनायेगी।

7. परिषद की बैठक तीन माह में कम से कम एक बार होगी।

8. प्रत्येक निर्णय आपसी सहमति से होगा - मतदान से नहीं।

9. एक माह के अन्दर अन्दर निर्णयों को लागे करना होगा।

10. कार्य अवधि के बीच यदि आकस्मिक रूप से कोई स्थान रिक्त होता है और यदि किसी अन्य सदस्य का चयन किया जामा है उसका कार्यकाल परिषद के शेष रहे अवधि तक ही सीमित रहेगा।

कार्य –

(अ) कार्य क्षेत्र –

1. उत्पादन सम्बन्धी योजनाओं का निर्धारण करना।

2. निर्धारित योजना की क्रियान्विति, उपलब्धियों और तय किए गए मासिक मापदण्ड का समय समय पर पुर्न निरीक्षण करना।

3. उत्पादन के लिए नियमित सामग्री उपलब्ध करवाना।

4. उद्योग को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए आवश्यक कार्य करना।

5. उत्पादन में सुधार करने के लिए उपाय खोजना।

6. तकनीकी और गुणात्मक सुधार करना।

7. नई जानकारियों को प्राप्त करना तथा उनके अनुसार उत्पादन करने के लिए मशीनों को तैयार करना।

8. उपलब्धियों के आंकड़े तय करना।

9. ऐसे मामलों को देखना जिनका प्रभाव एक से अधिक शॉपों पा पड़ता हो।

10. सुझाव देने के लिए श्रमिकों को प्रेरित करना।

11. शॉप स्तर की समिति का पुर्ननिरिक्षण करना।

(ब) अर्थ सम्बन्धी - और आर्थिक क्षेत्र –

1. लाभ-हांनि का तलपट

2. कार्यों पर हाने वाले व्यय, आथिक परिणाम, और विक्री के लिए मूल्य का पुनर्निरीक्षण करना।

3. श्रम, व्यवस्था आदि पर आने वाले खर्चों तथा बाजार पर निगाह रखना।

(स) व्यक्तिगत मामले –

1. श्रमिकों की अनुपस्थिति सम्बन्धी मामले।

2. महिला श्रमिकों के सम्बन्ध की समस्याएं।

3. प्रशासन और श्रमिकों के लिए कार्यक्रमों की रूपरेखा तय करना।

(द) कल्याणकारी क्षेत्र –

1. कल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित करना

2. सुरक्षा सम्बन्धी

3. प्रशासनिक टाऊनशिप

4. श्रमिकों की अनुचित गतिविधियों पर नियंत्रण रखना।

(ई) पर्यावरण क्षेत्र –

1. पर्यावरण सुरक्षा

2. सामुदायिक योजनाओं को विस्तार से क्रियान्वित करना।

26.3.4 शॉप समितियाँ –

इन समितियों के प्रमुख लक्षण निम्न रूप से वर्णित हैं :

लक्षण –

1. ऐसे उद्योग जहां 800 या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हों वहां प्रबन्ध मण्डल को प्रत्येक शॉप के लिए अलग अलग समिति का गठन करना होगा। एक शॉप समिति में एक या एक से अधिक बिभाग भी रह सकते हैं। समितियों की संख्या शॉप या विभागों में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या के अनुसार रखी जाय।

2. (अ) प्रबन्धक की ओर से रहने वाले सदस्यों और श्रमिकों की ओर से प्रतिनिधियों की संख्या बराबर बराबर रहेगी।

   (ब) मालिकों की ओर से जो सदस्य रखे जायेगें उनके लिए यह आवश्यक है कि वे उसी उद्योग में कार्यरत हों।

   (स) श्रमिक सदस्य भी वे ही हो सकते हैं जो वास्तव में विभाग में कार्यरत हों।

3. समिति की सदस्य संख्या श्रमिकों की सलाह के अनुसार रखी जायेगी। इस समिति के सदस्यों की अधिकतम संख्या 12 रह सकेगी।
4. शॉप समिति के अन्तर्गत कितनी शॉप रखी जाय इसका निर्णय प्रबन्धक, श्रमिक संगठन और श्रमिक मिलकर तय करेंगे।
5. सभी निर्णय आपसी सहमति से लिए जायेंगे - मतदान द्वारा नहीं। जिन बिन्दुओं पर निर्णय नहीं हो पायेगा उन्हें संयुक्त परिषद के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जायेगा।
6. प्रत्येक निर्णय की क्रियान्विति एक माह में की जाय।
7. ऐसे मामले जिनका प्रभाव अन्य विभागें पर भी पड़ता हो या पूरे उद्योग पर पड़ने की संभावना हो - उन्हें संयुक्त परिषद के समक्ष ही प्रस्तुत किया जायेगा।
8. शॉप समिति का कार्यकाल तीन वर्षों का होगा।
9. कार्य अवधि के बीच रिक्त होने वाले स्थान पर जो नया चयन किया जायेगा उसका कार्यकाल शेष रहे समय तक का ही होगा।
10. इस समति के अध्यक्ष का मनोनयन प्रबन्ध मण्डल की ओर से किया जायेगा। उपाध्यक्ष का मनोनयन श्रमिकों की ओर से किया जायेगा।

कार्य –

1. मासिक और वार्षिक उत्पादन लक्ष्यों को पूरा करने में सहयोग करना।
2. उत्पादन में सुधार लाना, क्षमता बढ़ाना, कुशलता लाना, तथा मानव श्रम शक्ति का पूरा पूरा उपयोग करना।
3. जहां उत्पादन कम हो रहा हो उन्हें चिन्हित कर उनमें सुधार करना।
4. शॉप या श्रमिकों की अनुपस्थिति में सुधार लाना।
5. सुरक्षा व्यवस्था।
6. शॉप या विभाग में अनुशासन बनाए रखना।
7. कार्य करने की दशाओं में सुधार करना। श्रमिकों में थकान कम आवे ऐसे प्रयास करना।
8. शॉप को सुचारू रूप से चलाने के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी स्थितियों में सुधार करना।
9. श्रमिकों और प्रबन्ध मण्डल के बीच संवाद बनाये रखते हुए दौनों पक्षों के बीच सुचनाओं का आदान प्रदान करना।

26.3.5 प्रबन्ध मण्डल में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व –

भारत सरकार द्वारा लिए गए निर्णयों में यह तय किया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में जो निदेशक मण्डल (बार्ड ऑफ डायरेक्टर्स) बनाया जाय - उसमें श्रमिकों की भी भागीदारी होनी चाहिए। श्रमिक सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि उसी उद्योग में कार्य करता है। ऐसे उद्योग में जहाँ एक हजार या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हों वहां बार्ड ऑफ डायरेक्टर्स में श्रमिक प्रतिनिधि रहेगा। श्रमिक गुप्त मतदान द्वारा अपने प्रतिनिधि का चुनाव करेंगे। जो श्रमिक निदेशक के रूप में चुना जायेगा उसे व्यापारिक प्रशिक्षण देने की जिम्मेदारी सरकार की होगी। श्रमिक निदेशक को निदेशक मण्डल की सभी बैठकों तथा उनके कार्यों में भाग लेने का अधिकार होगा। शॉप का प्रान्त समितियों का पुनर्निरीक्षण कर सकेगा। जिस मामले का निपटारा कोंसिल में नहीं हो पाया है उसे बोर्ड में निपटाने का प्रयास करें।

मूल्यांकन –

इस योजना का मूल उद्देश्य है कि श्रमिक उद्योग के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानकारी प्राप्त कर सकें। इससे वास्तविक परिस्थितियों के वे नजदीक रह लें। ऐसी स्थिति में मालिक और श्रमिकों के बीच आपसी समझ ओर सहयोग बढ़ता है। कमियों को दूर करने में सहायता रहती है।

सामान्यता दोनों ही पक्षों में आपस में मिल जुलकर कार्य करने की भावना में कमी देखी जाती है। इससे दोनों ही एक दूसरे के मार्ग में बाधक नजर आते हैं।

अधिकांश श्रमिक प्रतिनिधि उचित शिक्षा योग्यता नहीं रखते। इस कारण अनेक महत्वपूर्ण बिन्दु बैठकों में अनछुए रह जाते हैं।

श्रमिक संगठन के स्वयं के आन्तिरक झगड़े और अन्य श्रमिक संगठनो के प्रति द्वेषता की भावना के कारण इस योजना को सफलता नहीं मिल पा रही है।

इन परिषदों के द्वारा जो निर्णय लिए जाते हैं उनका समय पर क्रियान्वित नहीं हो पाना तथा कुछ तो ठन्डे बस्ते में ही चले जाते हैं। ऐसी स्थिति इनकी बैठकों के प्रति अरुचि बन जाती है।

इन सब के बावजूद इस योजना का रचनात्मक पक्ष भी रहा है। अनेक प्रकार के विचारों के आदान प्रदान तथा सूचनाओं के कारण श्रमिकों में जागरूकता पैदा हुई है तथा भागीदारी के लिए आगे बढ़ने के लिए प्रेरित होते हैं।

इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया है कि इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए इस प्रकार के कदम उठाये जाये कि यह कार्य अधिक से अधिक लोकप्रिय हो सके। यह योजना जितनी लोकप्रिय होगी उतना ही लाभ दोनों ही पक्षों को मिलेगा। अतः दोनों ओर से सक्रिय होने की आवश्यकता है। इस प्रकार के कदमों से श्रमिकों में उद्योग में भागीदारी लेने की भावना और अधिक विकसित होगी।

26.4 सारांश

श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने के लिए सुदृढ़ औद्योगिक सम्बन्ध तंत्र का होना आवश्यक है। इसके लिए सरकार ने विभिन्न प्रावधान किए है जिनमें औद्योगिक सम्बन्ध आयोग, श्रम न्यायालय कार्य समितियाँ एवं संयुक्त व्यवस्था परिषदें प्रमुख है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्तरों पर श्रमिकों की भागीदारी सुनिश्चित की गई है जिससे औद्योगिक शान्ति कायम रह सके एवं देश उत्पादक दिवसों की हानि उठाए बिना तेजी से विकास कर सके।

26.5 शब्दावली

1. औधोगिक सम्बन्ध आयोग - Industrial Relations Commission
2. श्रम न्यायालय - Labour Courts
3. कार्य समिति - Works Committee
4. संयुक्त व्यवस्था परिषदें - Joint Management Councils
5. संयुक्त समितियां - Joint Committees
6. प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी - Workers Porticipation in Management.

26.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. टनिक जीवान — Workers' Participation in Mamagement
   आईडियल एण्ड रिअलिटी इन इण्डिया, 1969
2. मेक ग्रेगर डगलस — ह्युमन साइड ऑफ एन्टरप्राइज, 1960
3. क्लेक जान — इण्डस्ट्रियल डेमोक्रेसी, 1969
4. डेविस कैथ — ह्युमन रिलेशन्स इन बिजीनेस, 1957

26.7 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न-1. ओद्योगिक सम्बन्धों के विचार को समझाते हुए यह बतायें कि उद्योग में औद्योगिक सम्बन्धों को विकसित करने में औद्योगिक सम्बन्ध आयोग (आई. आर. सी) की क्या भूमिका रही है? विश्लेषण कीजिए।

प्रश्न-2. कार्य समिति (वर्क्स कमेंटियों) के लक्षणों पर प्रभाव डालिए। ये समितियां कहां तक सफल हों पाई हैं? स्पष्ट करें।

प्रश्न-3. उद्योग को सुचारू रूप से चलाने के लिए श्रमिकों की भागीदारी के विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाऐं की गई हैं - ये क्या क्या हैं तथा किस प्रकार कार्य करती हैं? सभी का संक्षेप में वर्णन करें।

इकाई-27

सामूहिक सौदेबाजी

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 मुख्य लक्षण

27.3 सामूहिक सौदेबाजी की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

27.4 आवश्यकता और महत्व

27.5 सामूहिक सौदेबाजी के प्रकार

27.6 सामूहिक सौदेबाजी की विधियाँ

27.7 सामूहिक सौदेबाजी में आने वाली बाधाएँ,

27.8 भारत में सामूहिक सौदेबाजी

27.8.1 विभिन्न स्तरों पर सामूहिक सौदेबाजी

27.9 भारत में सामूहिक सौदेबाजी के विरूद्ध तर्क

27.10 भारत में सामूहिक सौदेबाजी के लिए तत्व

27.11 सारांश

27.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.13 निबन्धात्मक प्रश्न

27.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि :

- सामूहिक सौदेबाजी किसे कहते हैं एवं इसकी आवश्यकता अथवा महत्व क्या है?
- भारत में सामूहिक सौदेबाजी के लिए क्या प्रक्रिया अपनाई गयी है?
- सामूहिक सौदेबाजी के मार्ग में क्या रूकावटें हैं? एवं इसे कैसे सफल बनाया जा सकता है?

27.1 प्रस्तावना

औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए सेवा शर्तों को तय करने, उनकी कार्य करने की परिस्थितियों में सुधार लाने, तथा समय-समय पर मालिकों और श्रमिकों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों को आपसी मेल मिलाप कर किसी प्रकार

का समझौता आपस में ही कर लेना सामूहिक सौदेबाजी के नाम से जाना जाता है। प्रारम्भ में इस प्रकार के समझौते मालिकों और श्रमिकों के बीच में सीधे हुआ करते थे परन्तु बाद में ज्यों-ज्यों श्रमिक संगठनों का विकास हुआ— ऐसे समझौते मालिकों और श्रमिक संगठनों के बीच होने लग गए। सामूहिक सौदेबाजी या कलेक्टिव बारगेनिंग शब्द को प्रतिष्ठित करने का प्रथम श्रेय ब्रिटेन के सिडनी और वैटरिक बैक तथा अमेरिका क गोमपर्स को जाता है।

श्रमिकों के बीच एक ऐसा विचार बना कि क्षेत्रिय और राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के समझौते उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। 19वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन के श्रमिकों ने इस प्रकार के समझोते कर इस विचार को आगे बढ़ाया। ऐसे समझौते मालिकों और श्रमिकों के बीच हुए और मालिकों तथा सामान्य संगठनों के बीच सम्पन्न हुए। जहां जैसी परिस्थिति बनी वैसा ही समझौता हो गया।

सामूहिक सौदेबाजी एक ऐसी विद्या है जिसके द्वारा प्रबन्धक मण्डल और मजदूर संगठन आपस में बैठकर विचार कर पैदा हुए विवादों को निपटा लेते हैं। समस्याओं को हल कर किसी निर्णय पर पहुँच जाते हैं। श्रमिक इस कार्य के लिए अपने कुछ प्रतिनिधि चुन लेते हैं— दूसरी ओर मालिकों के भी मनोनीत किए हुए सदस्य होते हैं। दोनों ओर के प्रतिनिधि बैठकर जो निर्णय लेते हैं उसे सामूहिक सौदेबाजी के रूप में जाना जाता है। इस कारण सामूहिक सौदेबाजी उस सौदे से पूर्णतया भिन्न है जो एक श्रमिक स्वयं अपने स्तर पर अपने मालिक से सौदा करता है। सामूहिक सौदेबाजी का स्वभाव ही द्विपक्षीय है।

आई.एल.ओ. वरकर्स मैन्युल के अनुसार श्रमिकों के सम्बन्ध में कार्य की दशा, काम करने की शर्तों के सम्बन्ध में मालिक का मालिकों का समूह किसी श्रमिक संगठन या संगठनों के बीच जो समझौता हो तथा इकरारनामें तक पहुंच जावे उसे सामूहिक सौदेबाजी के रूप में जाना जायेगा![1]

ऐण्डले का यह मानना है कि[2] सामूहिक सौदेबाजी का स्वरूप हर समूह के साथ उसकी परिस्थितियों के साथ अलग अलग रूप लेता है अतः सभी समूहों के साथ एक सा न होकर भिन्न भिन्न प्रकार से रहता है। उसका प्रभाव भी श्रमिकों और सामान्य लोगों पर अलग अलग ढंग से पड़ता है। समय और परिस्थितियों को देखकर समझकर जो समझौता किया जाता है वह सदैव एक सा न होकर हर बार उसमें नवीनता होती है- इस कारण ऐसे समझौतें चमत्कारिक बन जाते हैं। इस विचार के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह विचार अभी नया है— यह अभी तक पूर्ण रुप से प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है- इसकी अभी व्याख्या होनी है- इसका विस्तार होना है। यह विचार अभी विकास की प्रक्रिया में है। इस प्रक्रिया के बीच अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं- उससे अनेक प्रकार की जटिलताएँ बन जाती हैं- इस कारण यह प्रक्रिया संदेह के घेरे में घिर जाती है। ऐसी स्थिति में अभी तक इसका निश्चित अर्थ नहीं बन पाया है। सामूहिक सौदेबाजी का कार्य एक ऐसा कार्य है जिसमें तर्क पूर्ण चर्चाएं होती हैं, इसमें दर्शन होता है, मनोविज्ञान है तथा मानवीय सम्बन्ध जैसे महत्वपूर्ण पक्ष जुड़े हुए रहते हैं। इस कार्य में इतनी अनिश्चिता रहती है कि किसी भी बात को कहना बहुत सी

---

1. आइ.एल.ओ. बारगेनिंग - ए वरकर्स एज्यूकेशनल मैन्युल जिनेवा - नाइन्थ इम्प्रेसन 1973 पेज 3
2. रेन्डले - सी.डब्लू - कलेक्टिव बारगेनिंग - प्रिन्सीपल्स एण्ड प्रेक्टिसेज - पेज 83

कठिन रहता है। इसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है यह एक ऐसी टूटी-फूटी सड़क है- जिसकी मरम्मत करने इच्छुक व्यक्तियों को यह पता ही नहीं होता कि उन्हें मरम्मत के लिए क्या-क्या सामग्री चाहिए? उनके समक्ष यह भी स्पष्ट नहीं रहता कि इसे किस प्रकार ठीक किया जाय? अतः यह प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सभी कुछ अस्पष्ट होता है। किसी प्रकार का पूर्व ने निर्धारण करना सम्भव नहीं हो पाता।

हैडरसन का मानना है कि– सामूहिक सौदेबाजी एक ऐसी दिशा है या एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा श्रमिक को दशा और उसके कार्य करने के तरीकों को तय किया जाता है।

जे.एन. हैनरी रिचार्डसन का कहना है कि सामूहिक सौदेबाजी का रुप उस समय सामने आता है जब एक बड़ी संख्या में श्रमिक तथा मालिक या मालिकों को समूह एक साथ जुट कर कार्य करने की परिस्थितियों के लिए किसी प्रकार के निर्णय तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।[3]

कोक्स के मतानुसार - सामूहिक सौदेबाजी - औद्योगिक समस्याओं के सम्बन्ध में एक ऐसा प्रस्ताव है जिस पर मालिकों और श्रमिकों के प्रतिनिधि आपस में बैठ कर स्वतंत्रतापूर्वक विचार विमर्श करते हैं। इस प्रक्रिया में सरकार की भूमिका नगण्य सी होती है।[4]

डेवी के शब्दों में सामूहिक सौदेबाजी एक ऐसी जटिल प्रक्रिया है जिसमें मनोविज्ञान, राजनीति और श्रमिकों की शक्ति जुड़ी हुई होती है। सौदेबाजी करने वाले व्यक्तियों में एक ओर जहां सहनशीलता रखने वाले व्यक्ति होते हैं वहीं दूसरी ओर समस्याओं को उलझाने वाले कठोर मस्तिष्क वाले भी होते हैं। यह एक ऐसा कार्य है जैसे घोड़ों का व्यवसाय हो। इसमें शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए सामूहिक रुप से प्रयास किया जाता है। प्रक्रिया में कभी तो ऐसा लगता है कि दोनों ही पक्ष नजदीक आ रहे हैं - और कभी दूर होते हुए दिखाई देते हैं। व्यवहार में यह दिखाई देता है कि दोनों एक दूसरे से विवाद के घेरे में हैं।[5]

27.2 मुख्य लक्षण -

सामूहिक सौदेबाजी के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :

(1) यह स्वभाव से ही द्विपक्षी है- मूल रूप में ही मालिक और श्रमिकः इसके दो पक्ष हैं। इस प्रक्रिया में कहीं भी तीसरा पक्ष होता ही नहीं है। दोनों मिलकर ही अपने लिए शर्तें तय करते हैं और दोनों इसे समझौते के रुप में घोषित करते हैं।

(2) समूह की कार्यवाही : इसकी कार्यवाही में दो समूह होते हैं- एक मलिक का और दूसरा श्रमिकों का। इसमें व्यक्तिगत न मालिक होता है और न ही श्रमिक।

(3) यह स्थिर या दृढ़ न होकर लचीला और गतिमान होता है- इसमें ऐसी द्रवता रहती है कि आपस में ले देकर किसी न किसी प्रकार से अन्तिम निर्णय तक

3. रिचार्डसन - जे.एच. - एवं इन्ट्रौडक्शन टू दी स्टडी आफ इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स 1954 पेज 229

4. कोक्स ए. - लेवर एडमिनिस्ट्रेशन - प्रोसपेक्टस एण्ड प्रोब्लेम्स - पेज 253

5. रिचार्डसन- जे.एच - एवं इन्ट्रौडक्सन टू'दी स्टडी आफ इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स 1954 - पेज 229

पहुंचने के लिए बहुत ही खुला और विस्तृत क्षेत्र बना लिया जाता है।

(4) नियमित पद्धति- इस प्रक्रिया अनेक सीढ़ियां होती हैं। पहली सीढ़ी पर मांग पत्र दिया जाता है तो अन्तिम सीढ़ी निर्णय की होती है। ग्लीन गार्डनर इसे इस रुप में प्रस्तुत करते हैं कि - यह एक समझौता है जिसका प्रारम्भ और अन्त दोनों ही लिखित में होता है। वास्तव में सामुहिक सौदेबाजी की यह शुरूआत है जिसकी प्रक्रिया हर दिन वर्ष के 365 दिनों में ही बराबर होती रहती है। सामूहिक सौदेबाजी का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि समझौता हो जाने के बाद उसकी गति बन जाती है और यही गति उसको क्रियान्विति है जो प्रतिदिन कार्य के रुप में चलती रहती है।[6]

(5) स्वभाव : यह एक ऐसी कला है जो मानवीय सम्बन्धों के विकसित रुप को प्रस्तुत करता है। इसे वाम् देने में वकृत्व कला ही बहुत बड़ी भूमिका रहती है। जहां डींग मारना इसका अंग है वही जज्जावान रहते हुए व्याख्या करने की क्षमतावाला सौदेबाजी में अपनी नॉव किनारे पर लगाने में सफल हो जाता है?

(6) चमत्कारिक - एक समय था जब सामूहिक सौदेबाजी में भावनात्मक पक्ष की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। भावनाओं के जुड़ाव हो जाने के कारण अनेक बार कहलकारी और उपद्रव की वातावरण बन जाता था। परन्तु वर्तमान में वार्ता का आधार तथ्यों पर आधारित रहता है तथा तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक पद्धति से आगे बढ़ा जाता है?

(7) औद्योगिक जनत्रांतिक - इसमें होने वाली कार्यवाही मात्र श्रमिकों की वरियता, पदोन्नति, अवकाश का वेतन वृद्धि तक ही सीमित नहीं होती बल्कि जिस टैबिल पर दोनों पक्ष बैठकर निर्णय करते हैं उससे उद्योग की नीति निर्धारित होती है। उद्योग के संचालन में मार्ग प्रशस्त होता है। श्रमिकों से जुड़े सभी प्रकार के बिन्दु इसमें समाहित रहते हैं। दोनों ही पक्षों के हित इससे जुड़े रहते हैं। क्रियान्विति में इसका तरीका स्वायतशासी रुप में रहता है।[7]

(8) कमियों को दूर करने की पद्धति - उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जहाँ श्रमिक उत्पादन बढ़ाने में सहयोग करता है वहीं प्रबन्धक का मालिक उसे संचालित करने के लिए साधनों को जुटाता, क्षमताएँ बढ़ाता है, मार्ग बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। अतः दोनों ही उद्योग की कमियों को दूर करते हुए निरन्तर आगे बढ़ने का मार्ग ढूढंते रहते हैं।

27.3 सामूहिक सौदेबाजी की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

सामूहिक सौदेबाजी द्वारा किया गया समझौता अधिक समय तक चल सके तथा इससे जीवन योग्य रुप विकसित हो सके इस दृष्टि से निम्न तत्वों का होना आवश्यक है –

(1) श्रमिक संगठन की क्षमता अच्छी होनी चाहिए। संगठन आर्थिक स्थिति की अच्छी नहीं है तो वह मालिकों के साथ प्रभावी समझौता करने में असफल रहता है। इसी प्रकार आर्थिक स्थिति तो अच्छी हो परन्तु आन्तरिक अनुशासन अच्छा नहीं तो

---

6. रे डले - सी.डब्ल्यू - कलेक्टिव बारगेनिंग - प्रिन्सीपल एण्ड प्रेक्टिसेज पेज 89.

7. चे फ्रिट्ज ई.टी - कन्स्ट्रक्टिव कलेक्टिव बारगेनिंग - पेज 35.

तो भी समझौते का रुप कमजोर बना रहेगा। अतः जैसी संगठन की क्षमता होगी उसी प्रकार के परिणाम वह प्राप्त कर सकेगा।

(2) दूसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि दोनों ही पक्ष एक दूसरे को स्वीकार करें। इसके अतिरिक्त दोनों ही किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए तत्पर हों। कर्मचारियों, श्रमिकों संगठनों को यह बात भली भांति समझ लेना चाहिए कि एक दूसरे का सम्मान करने, अच्छे सम्बन्ध रखना, एक दूसरे के प्रति सहयोगी रहने, तथा आपसी समझ से ही अनुकूलता रखते हुए प्रभावी लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है।

(3) श्रमिक संगठन जिनके समक्ष अपनी मांगें रखता है उसे इस बात के लिए सदैव सतर्क रहना चाहिए। दूसरा पक्ष समझौता हो जाने पर उसका सम्मान करे तो तथा क्रियान्वित की निश्चितता तय करें। जो शर्तें तय ही जायं - जो नियम बनाये जावें उनकी पालना किसी भी मूल्य पर होनी चाहिए।

(4) कार्यवाही के दौरान खुला मस्तिष्क रखना आवश्यक है। एक दूसरे की बात को भली भांति सुनें - उसे समझें और उस पर भली प्रकार से सोंचें। जिन मांगों को रखा जाय उसके सम्बन्ध में लचीलापन रहने से अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं।

(5) जिन मांगों को रखा जाए - उन्हें रखने के पूर्व उस पर भलि प्रकार विचार और मनन किया जाय। रखते समय हर प्रकार की तैयारी कर ही आगे कदम रखना चाहिए।

(6) श्रमिक संगठनों को इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि समझौते के अर्न्तगत उत्पादन के लिए जो मापदण्ड तय किए जाएँ उन्हें जहाँ पूरा किया जाना चाहिए उन्हीं उत्पादन की गुणात्मकता बनाई रखी जानी चाहिए। इससे उत्पादन की उपयोगिता के साथ ही उसका अस्तित्व भी बना रहता है। बाजार में बने रहने में भी सरलता रहती है।

(7) हड़ताल और तालेबंदी जैसी परिस्थितियों से जहां तक हो सके बचा जाए। इसके लिए स्वस्थ वातावरण बनाये रखते के लिए प्रयासरत् रहना आवश्यक है।

(8) श्रमिक संगठन में आन्तरिक लोकतांत्रिक पद्धति रहनी चाहिए। इस प्रकार की भावना पैदा की जाय कि श्रमिक और उसके नेता निरन्तर आपस में बैठकर विचार विमर्श करें।

(9) श्रमिक संगठन और मालिकों - दोनों को चाहिए कि लेने देने की दृष्टि से समझौता करते समय अच्छे से अच्छा मार्ग ढूंढे।

(10) केन्द्रीय और राज्य सरकार द्वारा जो नियम बने हुए हैं उन्हें समझौता करते समय ध्यान में रखा जाय।

(11) श्रमिक संगठन के नेताओं में सामूहिक सौदेबाजी करते समय पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना होनी चाहिए, निष्ठा होनी चाहिए और वे ईमानदार बने रहें।

(12) मांग पत्र बनाते समय इस तथ्य को श्रमिक नेता ध्यान रखें कि मांग पत्र में ऐसा नहीं झलके कि उसमें अधिक से अधिक वेतन और कम से कम काम की मांग की गई है। यह भी उसमें दिखाई दे कि मांगे श्रमिकों की दशा में सुधार करने के लिए रखी जा रही हैं।

(13) समझौता करते समय यह भी ध्यान रखा जाय कि जो मांगे मानी जा रही हैं उसमें आर्थिक क्षमता कितनी रहेगी? मांग पत्र प्रस्तुत करते समय ही इस ओर ध्यान देने की अधिक आवश्यकता है कि उद्योग की आर्थिक क्षमता और भविष्य में बनने वाले स्रोतों की स्थिति क्या रहेगी? व्यवहारिक और संतुलित मांग पत्र हो।

27.4 आवश्यकता और महत्त्व

सामूहिक सौदेबाजी की आवश्यकता उस समय महसूस की गई जब उद्योगों में अनेक प्रकार की गम्भीर समस्याएँ खड़ी हुई। उनके लिए हल को ढूढ़ते हुए ही यह मार्ग नजर आया। श्रमिक कानून बनाते समय क्रियान्विति के लिए भी नियम बनाये जाते हैं लेकिन उन्हें सम्पन्न करते समय जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं तथा दैनिक कार्यों के करते हुए नित नई दिक्कतें दिखाई पड़ती हैं उनको हल करने के लिए सम्बधित श्रमिकों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर कठिनाईयों को दूर करने के लिए जो परिणाम सामने आये वे अधिक लाभ प्रद सिद्ध हुए। अनुभवों के आधार पर मालिकों ने श्रमिकों को इस तथ्य के लिए भी आश्वस्त किया गया कि वे एक पक्षीय निर्णय नहीं लेंगे। मालिक अपनी स्वतंत्रता को सीमित रखेंगे व मर्यादा को बनाया रखेंगे। इसके साथ ही श्रमिकों को दी जाने वाली सुविधाएँ और उनकी स्वतंत्रता पर किसी भी प्रकार नियंत्रण लगाने का प्रयास नहीं किया जायेगा। इसके अन्तर्गत यह भी सुरक्षा रहती है कि श्रमिकों का वेतन नहीं घटाया जायेगा। इस प्रकार के प्रयास किए जायें कि श्रमिकों का आत्म सम्मान बढ़े - उनमें उत्तरदायित्व भावना बढ़े। ऐसे मुद्दे जिन पर आर्थिक प्रभाव नहीं होता - दोनों ही प्रकार के मुद्दों पर श्रमिक संगठनों का सहयोग आवश्यक रहता है। आर्थिक मुद्दों के अर्न्तगत वेतन, लाभ और कार्य करने की दशा में सुधार माना जाता है। इसी प्रकार श्रमिक के अन्दर कार्य की सन्तुष्टी बन सके - और विकसित होते हुए श्रमिक संगठनों की सुरक्षा हो ऐसे मुद्दे गैर आर्थिक मान गए हैं।

श्रमिक संगठन को अपने लिए अनेक प्रकार के उद्देश्यों को प्राप्त करने का लक्ष्य तय करना होता है। उद्देश्यों में किस उद्देश्य को पहले प्राप्त किया जाए - इसका क्रम तय करना बहुत ही कठिन कार्य है। इस प्राथमिकता को तय करते समय उद्योग की आर्थिक स्थिति को भी मद्दे नजर रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि निकट के दिनों में हुए समझौतों और उनकी क्रियान्विति का भी ध्यान में रखते हुए कार्य किया जाय। एक और समस्याएं रहती हैं कि अनेक बार श्रमिक नेताओं और स्वयं के संगठन के श्रमिकों के बीच विवाद रहता है- इससे बचना ज़रूरी है। सौदेबाजी करते समय मुख्यतः असहयोग, धरना और हड़ताल का सहारा लिया जाता है।

सामूहिक सौदेबाजी को करते समय मालिकों के समक्ष जो बिन्दु रहते हैं उनमें प्रमुख हैं - उद्योग का नियंत्रण, संचालन में कुशलता, दक्षता और लचीलेपन को बनाये रखना, किए जाने वाले समझौते के अर्न्तगत ढाँचे पर आने वाला व्यय निकटतम अवधि में किए गए समझौते, उद्योग की तुलनात्मक परिस्थितियाँ आदि कार्यों के स्वरूप पर आधारित रहती हैं। इसके साथ ही इसके अन्तर्गत आगे किए जाने वाले कार्यों को नियंत्रित

करना, आने वाले उत्तरदायित्वों का निर्वाह, विकास कार्यक्रम, श्रमिकों के लिए प्रोत्साहन राशि व पदोन्नति देने के पद्धति तय करना तथा ले आफ जैसी स्थिति को भी ध्यान में रखना होता है।

सामूहिक सौदेबाज़ी - मालिकों और श्रमिकों दोनों के लिए ही लाभप्रद सिद्ध रहती है। ऐसे समझौते बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं:-

1. शिकायतों को स्वस्थ मन से तुरन्त निपटा लिया जाता है।
2. उनकी आर्थिक क्षमता बढ़ती है।
3. उद्योग में लगे श्रमिकों के लिए एक सी परिस्थितियां बनती हैं।
4. कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं हो पाता।
5. कार्य करने की दशा और मजदूरी के दरों में सुधार होता है।
6. उद्योग को चलाने में दक्षता बढ़ती है।
7. उद्योग में स्थिरता के साथ खुशहाली आती है।

सामूहिक सौदेबाजी के निम्न लाभ हैं:

1. इससे उद्योग में कार्य करने की एक पद्धति का निर्माण होता है।
2. नित नई आने वाली समस्याओं के हल के लिए मार्ग ढूंढ लिया जाता है।
3. उद्योग को बीमार होने से बचाने के लिए समाधान सामने आते हैं।
4. इससे श्रमिकों के लिए वेतन और अन्य दशाओं के लिए लचीनापन आता है।
5. उद्योग में शांति बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण मार्ग खुलता है।
6. उद्योग में नागरिक अधिकारों का विकास होने से वहां पर कानून और व्यवस्था को सुचारू रुप से चलाने में मदद मिलती है।

प्रो. डनलप के अनुसार - सामूहिक सौदेबाजी एक ऐसी पद्धति है - जो श्रमिकों के काम करने की दशा और वहाँ के स्थान के सम्बन्ध विचार कर नियम बनाती है, उनमें संशोधन करती है। इससे श्रमिकों के विवादों का निपटारा किया जाता है तथा उनके क्षतिपूर्ति आदि के लिए देर तय ही जाती है।[8]

प्रो. बटलर ने इस सम्बन्ध के कार्यों को निम्न भागों में विभाजित किया है-[9] :

1. लम्बी अवधि के लिए सामाजिक बदलाव -

सेलिंग पर्लमेन के अनुसार - यह एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा एक पिछड़ा हुआ वर्ग या समूह - सामाजिक सार्वभौमिकता में अधिक भागीदारी प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके साथ ही अपने सदस्यों के लिए व्यक्तिगत कल्याण, सुरक्षा और स्वतंत्रता के लिए कभी भी शिथिल नहीं होने वाले निरन्तर दबाव की प्रक्रिया बनाये रखता है।[10]

---

8. डनलप जोहन जे - चैलेन्जेज टू कलेक्टिव बारगेनिंग 1958 पेज 170-174.
9. बटलर आर्थर डी. - लेबर इकामोमिक्स एण्ड इन्स्टीच्यूशन्स 1961- पेज 154-157.
10. सेलिंग पर्लमेन - दो प्रिन्सीपल आफ आयु कलेक्टिव बारगेनिंग वोल्यूम CLXXXIV- मार 1936 पेज 54.

सामूहिक सौदेबाजी के कारण सामाजिक, आर्थिक और वैद्यानिक वातावरण में स्वतः ही बदलाव आता है। यह बदलाव कोई निश्चित न होकर बहुत ही लचीला होता है। इसका रूवरूप भी कभी भी एक नहीं हो सकता। एक संगठन से दूसरे संगठन में तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग में उनकी अपनी परिस्थितियों के अनुसार बदल जाता है। कुछ-उद्योग तो ऐसे होते हैं जहां सदैव हड़ताल होती रहती है, तो दूसरी ओर कुछ ऐसे उद्योग होते जहाँ हड़ताल कभी होती ही नहीं है। अतः दोनों प्रकार में उद्योगों की स्थितियाँ अलग अलग होने से वहाँ का स्वरूप अलग अलग बनता है।

इसके द्वारा श्रमिकों का सामाजिक और आर्थिक स्तर ऊँचा उठता है वहीं दूसरी ओर मालिक भी अपनी मर्यादा में रहते हुए अपनी शक्ति और स्तर को बनाये रखने में सफल रहता है। दैनिक समस्याओं का निरन्तर निपटारा होते रहने के कारण इन समझौतों से दीर्घकालीन शांति बनी रहती है।

2. शाँति समझौता

सामान्यतया सामूहिक सौदेबाजी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह दो विरोधियों का संघर्ष है। संघर्ष में सदैव यही होता है कि जिसकी जितनी शक्ति होती है उसके अनुसार हो वह प्राप्त कर सकेगा। दोनों ही पक्ष यह चाहते हैं कि वे अपने पक्ष को मजबूत बनाये रखें। श्रमिक संगठन में जितनी क्षमता होगी और क्षमता के अतिरिक्त जैसा विवेक उनके प्रतिनिधियों में होगा उसी के अनुसार सौदा कर सकेंगे।

समझौता सदैव एक अस्थाई युद्ध विराम के रूप में हुआ करता है। इसमें जो निर्णय लिए जाते हैं उनसे दोनों ही पक्ष कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाते। इस कारण श्रमिक संगठन समझोते में हो जाने के बावजूद कुछ समय बाद ही नये मांग पत्र को तैयार करने में जुट जाते हैं। नये मांग पत्र में उन मांगों को भी पुनः रख दी जाती हैं जिन्हें पूर्व में स्वीकार नहीं किया गया। स्वीकार किए गए समझौते में भी येन केन संशोधन करवाने के लिए प्रयत्न किए जाते हैं। श्रमिक संगठन नई रणनीति के लिए नई शक्ति को संगठित करने में लग जाते हैं। छनाई कर पुनः नया रूप बनाने का प्रयास किया जाता है।[11]

3. औद्योगिक वैद्यानिकता

सामूहिक सौदेबाजी से उद्योग में श्रमिकों को नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं। इससे प्रबन्धकों की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगती है। कार्य करने के लिए नियम बन जाते हैं। प्रबन्धक अब अपना परम्परागत तरीका त्याग कर किए गए समझौते के अनुसार अपने आपको ढ़ालता है। दोनों पक्ष मिलकर कार्य करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार सामूहिक सौदेबाजी एक विधायिका प्रक्रिया के रुप में मानी गई है। इसी के आधार पर नियम बनते हैं। नियमों को किस प्रकार लागू किए जायेंगे यह भी समझौते में तय किया जाता है। ऐसी स्थिति में यह प्रक्रिया विधायिका और कार्यपालिका दोनों ही का स्वरूप धारण करती है। तय की गई शर्तों की व्याख्या भी इसमें रहती है - यह भी तय किया जाता है मालिकों को क्या-करना है? और श्रमिकों को क्या करना है?

उस सामूहिक सौदेबाजी को सफल माना जाता है जिसमें तीनों बिन्दु समाहित होंगे।

11. समर एच.स्लीचेटर - यूनियन पालिसीज एण्ड इण्डस्ट्रियल मैनेजमेंट 1941 पेज 1.

समझौते को करते समय यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि उसे अमल में लाया जा सके। यह भी कटु सत्य है कि अनेक बार कुछ शर्तें ऐसी होती हैं कि उन्हें एक पक्ष बहुत की अनिच्छा से स्वीकार करता है। समझौता वही सफल रहेगा - अधिक दिनों तक चलेगा प्रभावी रहेगा — जो विवेक के आधार पर किया गया हो। इसके अतिरिक्त वह किसी भी पक्ष के लिए पीड़ा दायक न हो - या दोनों में से किसी भी एक पक्ष को डंक मारने जैसा न लगे।

27.5 सामूहिक सौदेबाजी के प्रकार -

सामूहिक सौदेबाजी के पीछे मूल भावना यह है कि प्रबन्धकों और श्रमिकों के बीच लेने देने की भावना बनी रहे। एक अनुबन्ध समाप्त होने के पूर्व ही दूसरा अनुबन्ध कर लिया जाय। सौहार्द पूर्ण वातावरण बनाय जा सकें। परन्तु व्यवहार में ऐसा हो नहीं पाता है। मांग पत्र को प्रस्तुत करते ही श्रमिक संगठन दवाबपूर्ण वातावरण बनाने का प्रयास करता है। समझौते के दौरान ऐसा लगता है कि दोनों ही पक्ष तनावपूर्ण वातावरण में हैं। इससे मालिकों और श्रमिकों के सम्बन्धों के बीच कठिन स्थिति बन जाती है।

सामूहिक सौदेबाजी के निम्न स्वरूप हो सकते हैं–

1. एक ही प्लांट के लिए सौदेबाजी

अनेक बार ऐसा होता है कि उद्योग के किसी एक प्लान्ट के लिए ही सामूहिक सौदेबाजी की जाती है। इसके अर्न्तगत किया गया समझौता उसी प्लान्ट तक सीमित रहता है जिसके लिए उसे किया गया है।

2. अनेक प्लान्टों के लिए सौदेबाजी

उद्योग में कार्यरत अनेक प्लान्टों के लिए सामूहिक सौदेबाजी की जाती हैं। इसके द्वारा किये गए समझौता का क्षेत्र विस्तृत होता है। अनेक प्लान्ट उससे प्रभावित होते हैं।

3. अनेक मालिकों द्वारा किए जाने वाली सौदेबाजी

कई बार अनेक मालिक - अनेक श्रमिक के संगठनों के साथ बैठकर आपस में समझौता करते हैं। इस प्रकार के किए गए समझौते एक उद्योग के लिए भी हो सकता है और अनेक उद्योगों के लिए भी हो सकता है। सामान्यतया ऐसे समझौते एक ही प्रकार के कार्य करने वाले उद्योग आपस में बैठकर समझौता किया करते हैं। इस सम्बन्ध में टैक्स्टाइल मिलों द्वारा किए गए समझौते बहुत ही सफल सिद्ध हुए है।

27.6 सामूहिक सौदेबाजी की विधियाँ

साधारणतया सामूहिक सौदेबाजी के लिए चार तरीके काम में लिए जाते हैं— मध्यस्था, समझौता, मेल मिलाप, या फैसला आदि।

हाक्जो का कहना है कि अनेक बार ऐसी स्थिति बन जाती है कि आकस्मिक परिस्थिति के पैदा हो जाने या किसी निश्चित उद्देश्य के लिए किया जाने वाला समझौता किसी निर्णायक बिन्दु पर पहुँच नहीं पाता है। ऐसी परिस्थिति में एक मात्र मार्ग पंच फैसला ही तय कर पाता है। इसमें शर्तें तय ही जाती हैं - उनके लिए व्याख्या भी साथ रहती है।

मेल मिलाप सबसे अच्छी और सरल प्रक्रिया है। मेल मिलाप से निर्णय करना

भी एक बहुत बड़ी कला है। ऐसे समझौते ज्यादा स्थिर रहते हैं- क्रियान्विति भी उनकी आसानी से हो जाती है।

मध्यस्थता एक ऐसा तरीका है जो प्रारम्भ में दिखाई नहीं पड़ता और न ही उसकी आवश्यकता महसूस की जाती है। परन्तु अनेक बार ऐसी परिस्थिति बन जाती है कि किसी प्रकार का निपटारा नहीं हो पाता है - उस समय मध्यस्थता भी एक मार्ग है। मध्यस्थ जितना अच्छा होगा - समझौता भी उतना ही अच्छा होगा। प्रारम्भ में इसकी आवश्यकता नहीं होती है और बाद में सहयोग लिया जाता है - इस कारण इसे बिना निमंत्रण के बाहरी हस्तक्षेप भी कहा जाता है?

समझौते में अनेक पहलु जुड़े हुए हैं - कभी ये समझौते बड़ी ही सरलता से हो जाते हैं - कभी बहुत तर्क युक्त और वाद विवाद के बाद और वैज्ञानिक ढंग पर होते हैं। इसमें सरलता और जटिलता रहते हुए भी दोनों पक्ष किसी न किसी निर्णय को कर ही लेते हैं।

पंच फैसला जटिल परिस्थितियों में ही करवाया जाता है। इसी कारण इसे अनिवार्य पंच फैसले के नाम से पुकारा जाता है। इसे मानने के लिए दोनों ही पक्षों के लिए बाध्यता है। ऐसा फैसला अनेक प्रकार की कटुताओं के बाद हो पाता है।

सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया

सामूहिक सौदेबाजी के लिए दोनों ही पक्षों को एक ऐसी पद्धत्ति को विकसित करना होता है - जिससे नियमितता बनी रहे। इसके लिए तीन आधारभूत बिन्दु हैं-

1. सौदेबाजी के लिए कौन सा श्रमिक संगठन बातचीत करेगा - यह तय करना और उसे मान्यता देना।

2. सौदेबाजी के लिए किए जाने वाले का स्तर क्या है? उद्योग की स्थिति कैसी है? क्या वह स्थानीय हैं? या क्षेत्रीय हैं या राष्ट्रीय स्तर का है। उद्योग का जैसा स्वरूप हो उसी के अनुरूप तैयारी की जाय और उसी के अनुरूप कार्यवाही की जाय।

3. माँगो का उद्देश्य क्या है? उसके लिए सम्भावनाएँ कैसी हैं? और विस्तार कहाँ तक रहेगा? यह विचार करना आवश्यक है।

सौदेबाजी की टेबिल पर -

सौदेबाजी के लिए बैठते ही सर्वप्रथम श्रमिक संगठन द्वारा प्रस्तुत किया गया मांग पत्र टेबिल पर आता है। इसके बाद दोनों की पक्ष अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हैं। श्रमिक संगठन बाजार में बढ़े हुए भाव, जीवन यापन के लिए आने वाली कठिनाईयाँ, तथा अपनी अपेक्षाओं को प्रस्तुत करते हैं। अनेक बार यह संगठन अन्य उद्योगों में होने वाले समझौते के बारे में भी बता कर अपनी बात को पुष्ट करने का प्रयास करता है। दूसरी ओर प्रबन्धक उद्योग की स्थिति, बाजार की परिस्थितिगाँ, आर्थिक स्थिति आदि को बताकर अपनी कठिनाइयों को दिखते हैं। इन्हीं सभी प्रकार के तथ्यों में से मार्ग निकाला जाता है।

वार्ता के प्रारम्भिक दौर में निम्न स्थितियां बना करती है :

1. अनेक बार श्रमिक संगठन द्वारा प्रस्तुत की गई सभी मांगों को प्रबन्धक अस्वीकार कर देता है। ऐसी स्थिति में गतिरोध पैदा हो जाता है।

2. श्रमिक संगठन द्वारा प्रस्तुत मांगों में से कुछ मांगों को स्वीकार कर लिया जाता है और कुछ के बारे में अन्य सुझाव रखे जाते हैं।

3. प्रस्तुत माँगों को स्वीकार कर लिया जाता है - परन्तु साथ ही उद्योग की आर्थिक क्षमता को स्पष्ट करते हुए पुनः उसके अनुरूप बातचीत करने के लिए कहा जाता है।

4. मांगों को स्वीकार करते हुए प्रबन्धक अपनी अपेक्षाओं को भी प्रस्तुत करता है।

मांगों के सम्बन्ध में जब गतिरोध बन जाता है तो उस स्थिति में समझौते की ओर बढ़ने के लिए औद्योगिक कार्यवाही का सहारा लिया जाना चाहिए। दोनों ही पक्षों पर इस बात का दबाव डाला जाय कि वे दूसरे सुझाव प्रस्तुत करें ताकि समझौते की ओर बढ़ा जा सके। एक तरीका यह भी अपनाया जा सकता है कि यदि प्रमुख मांगें स्वीकार नहीं भी की जा रही है तो भी कुछ सरल मांगों को स्वीकार कर गतिरोध को दूर किया जा सकता है। इससे आगे का रास्ता सरल हो जाता है।

समझौते के लिए कौशल या पद्धति

समझौते के लिए दोनों पक्षों की ओर से अपने अपने प्रतिनिधि रहते हैं। सामान्यतया 3 से 6 प्रतिनिधि प्रबन्धक मण्डल में से रहते हैं - इनके ये सदस्य उद्योग के ही अमले में से होते हैं। लेकिन जो प्रमुख वक्ता रहता है या समझौता करने के लिए जिसे अधिकृत किया जाता है उसका मनोनयन मालिक ही करता है। यह कमेटी समझौते के लिए एक रूप ऐसा तय कर दिशा देती है।

यदि दोनों की पक्ष टेबिल पर बैठने के पहले सभी बिन्दुओं पर घर से पूरी तैयार कर आवें - पूरी जानकारी साथ रखें - पूरा अध्ययन कर तैयार रहे तो समझौता करने में सरलता रहती है और समय भी कम लगता है।

प्रबन्धक पक्ष को भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह मात्र सुरक्षात्मक या नकारात्मक मार्ग न अपना कर व्यवहारिक और रचनात्मक दृष्टि रखते हुए मार्ग प्रशस्त करें। इसके साथ एक के स्थान पर दूसरा सुझाव रखने की तैयारी रखनी चाहिए! जैसे श्रमिक संगठन वेतन बढ़ाने की बात करता है तो प्रबन्धक की ओर से उत्पादन बढ़ाने, श्रमिकों की संख्या कम करने, या श्रमिकों में अनुपस्थित रहने की प्रवृत्ति में सुधार लाने के लिए कहा जा सकता है। दोनों पक्षों को चाहिए कि वे एक ऐसा गद्दा तैयार करें जिस पर बैठकर समझौता किया जा सके। दोनों ही ओर से ऐसा गणित हो कि नतीजे तक पहुँचा जा सके। अड़यल रुख से बचना चाहिए!

कैम्पों के अनुसार[12] दोनों ही पक्षों को वार्ता के दौरान मित्रता का भाव रखना चाहिए। मित्र भाव से ही तनाव को दूर किया जाना चाहिए। किसी भी प्रस्ताव पर ना करने के पहले उसको प्रस्तुत करने वाले की बात को पूरी तरह सुन लेना चाहिए। हर सदस्य को अपनी बात को रखने के लिए पूरा अवसर दिया जाना चाहिए। किसी भी सदस्य को ऐसा महसूस नहीं होना चाहिए कि उसे बोलने नहीं दिया गया। दोनों ही पक्ष पूरी तैयार कर, समझ बूझ कर, विवेकपूर्ण तरीके से अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए! सदा स्वस्थ तरीके से आगे बढ़ा जाय। शिकायतों और समस्याओं को दूर करने के लिए उद्देश्यात्मक दृष्टि रखनी चाहिए। समस्या को सुलझाने में जल्दबाजी

12. केम्पो ए.एफ. - आउटलाइन फोर कलेक्टिव बारगेनिंग - ए युनियन मैन्स चैक लिस्ट पेपर नं. 2 स्टेण्डफोर्ड युनिवरसीटी 1949 पेंज 2.3.

न कर धैर्यता से कार्य करना चाहिए। दोनों को एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। किसी भी तथ्य को प्रस्तुत करने के बाद किसी भी प्रकार का लुभाव छिपाव रखने के स्थान पर उसमें पारदर्शता रखी जाए। विचार विमर्श के लिए बैठक का समय इतना ही रखा जाना चाहिए जिससे सदस्यों में किसी भी प्रकार की थकान नहीं आवे। जो भी शर्तें तय हों उन्हें लिखित में रखा जाए। लिखित इकरारनामें पर दोनों ही पक्षों के हस्ताक्षर किए जाने चाहिए।

समझौता वार्ता के टेबिल पर बैठने के पूर्व प्रबन्धक को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए-

1. जिन श्रमिक प्रतिनिधियों के साथ वे बात करने के लिए बैठने वाले हैं वे प्रतिनिधि सही हैं।

2. श्रमिक प्रतिनिधियों में कोई वकील न हो तथा उनमें औद्योगिक समझ होनी चाहिए।

3. प्रबन्धक को सदैव यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह जो वार्ता करने जा रहा है उसके परिणाम दोनों के लिए हितकर हैं।

सामूहिक समझौता जिस चरम बिन्दु पर पहुँचता है वह श्रमिक इकरारनामा, या श्रमिक संगठन इकरारनामा या श्रमिक मालिक समझौता कहलाता है। समझौते ही सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसे कितने स्वस्थ मन से स्वीकार किया गया है। उसके पीछे किसी का पीठ थपथपाना तो नहीं है या किसी का दबाव तो नहीं रहा।

तीन प्रकार के इकरारनामें -

1. स्वेच्छा से किया हुआ - ऐसा इकरारनामों जिसे दोनों पक्षों ने आपसी विश्वास के साथ किया हो - इस प्रकार के किए समझौते की क्रियान्विति भी दोनों ही पक्षों के कंधों पर रहती है।

2. निपटारा - जिस समझौते को करने में सरकारी हस्तक्षेप रहा हो उसे निपटारा या सैटलमैंट कहा जाता है।

3. अनुमति वाले पंच निर्णय - (कन्सेंट अर्वाडस) - जब दोनों ही पक्ष समझौता करने में सफल नहीं होवें - तथा आपसी वातावरण बहुत ही तनाव पूर्ण हो जाए तो उस स्थिति में औद्योगिक, ट्रिब्यूनल या न्यायालय का सहारा लिया जाता है। इसके द्वारा जो अन्तिम निर्णय होता है तो उसको मानने के लिए दोनों ही पक्ष बाध्य रहते हैं। ऐसे निर्णय अनुमति वाले पंच निर्णय कहलाते हैं।

जो भी निर्णय किया जाय वह लिखित में होना चाहिए — स्पष्ट हो। सभी श्रमिकों तक इस समझौते को पहुंचाना जरूरी है ताकि सारे श्रमिक इस बात को जान सके कि जो निर्णय हुआ है उसमें क्या तय हुआ है?

अनुबन्धित प्रशासन -

प्रो. विलियमसन और टैरिस के अनुसार औद्योगिक सम्बन्धों में जिसकी भूमिका महत्वपूर्ण रहती है वह है अनुबंध। अनुबंध स्वयं अपने आप में अनुबंध का प्रशासन है। सामुहिक सौदेबाजी का मूल्यांकन मात्र समझौते पर हस्ताक्षर हो जाने से नहीं किया जाता - बल्कि इसमें यह देखा जाता है कि ऐसे इकरारनामें में मानवीय सम्बन्धों की

स्थिति क्या है? अनेक बार यह समझौता आश्चर्यजनक भी लगता है। सार्वजनिक रूप से सभी के सामने इकरारनामा ही आता है। लेकिन इसमें एक ऐसा अप्रत्यक्ष तथ्य है जिस पर ही सारा आधार रहता है और वह अदृश्य तथ्य यह है कि यह इकरारनामा श्रमिकों और मालिक को सार्वजनिक विवाद से कितना दूर रखने में सफल रहता है।[13]

हस्ताक्षर हो जाने के बाद उस हस्ताक्षरित समझौते को लागू करने में कितनी उत्सुकता रहती है? उसका सम्मान हो पाता है या नहीं? दोनों ही पक्ष किस भावना से आगे बढ़ते हैं यह सर्वाधिक महत्व का बिन्दु होता है?

श्रमिक संगठन के पदाधिकारियों, प्रबन्धक द्वारा सेवा में रखे गए निरीक्षकों का यह उत्तरदायित्व है कि वे समय समय पर श्रमिकों को यह अगाह कराते रहें कि इकरारनामा कितना लागू हो गया है? उसकी क्रियान्विति कितनी और किस प्रकार हुई है? उसकी गति क्या है? दोनों ही पक्षों के लिए यह आवश्यक है कि वे इस बात पर निगाह रखें कि समझौते की क्रियान्विति ठीक दिशा में हो रही है। प्रबन्धक को उद्योग के सुपरवाइजरों और फोरमेनों को इस बात को स्पष्ट रूप से समझाएं कि समझौते में क्या है और उसकी क्रियान्विति कैसे होती है?

उद्योग में कार्यरत् उच्च अधिकारियों को किए गए समझौतों के बारे में भली प्रकार जानकारी रहनी चाहिए क्योंकि श्रमिक अपनी समस्या लेकर सर्वप्रथम उन्हीं के पास पहुंचते हैं। समस्याओं का समाधान भी इन्हीं पदाधिकारियों के माध्यम से होता है अतः इनके कंधो पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी रहती है। इसकी ओर श्रमिक संगठन के पदाधिकारियों का भी यह उत्तरदायत्व है कि वे निरन्तर श्रमिकों को समझौते के प्रत्येक बिन्दु को समझावे तथा उसकी क्रियान्विति की स्थिति बतावें। छोटी मोटी बाधाएँ बीच में आवें भी तो उन्हें दूर करें। इसके साथ ही उनकी यह भी जिम्मेदारी है कि आवश्यकता पड़ने पर कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए वे समय पर उपलब्ध रहें। श्रमिक संगठन के पदाधिकारियों की अनुपस्थिति भी अनेक बार जटिलता पैदा कर देती है।

सामूहिक समझौता का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि समय पर लागू हो जाए। यदि इसको क्रियान्विति में देरी होती है उसकी भावना को ठेस पहुँचती है और उतनी ही सफलता प्राप्त करने में दिक्कतें पैदा हो जाती हैं। इस प्रकार की होने वाली देरी से नये विवाद भी खड़े हो सकते हैं। क्रियान्विति करते समय यह तथ्य विशेष रुप में ध्यान में रहना चाहिए कि उसकी किसी भी प्रकार की शर्त टूट न पावे। क्रियान्विति में आने वाली बाधा को तुरन्त दूर किया जाना चाहिए। अतः किया गया समझौता ऐसा न हो कि उसे ठंडे बस्ते में डाल दिया जाय। जब तक कोई नया समझौता सामने नहीं आवें तब तक विद्यमान समझौते को ठीक प्रकार से लागू रखना चाहिए। ऐसा करने से दैनिक सम्बन्ध ठीक प्रकार से बने रहते हैं तथा आगे के लिए नये आयामों हेतु प्रशस्त होता है।

27.7 सामूहिक सौदेबाजी में आने वाली बाधाएँ

समझौत को लागू करने में कुछ ऐसे तत्व बाधक बन जाते हैं जिनमें कारण अनेक प्रकार की बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। ऐसे तत्व निम्न हैं :

1. कुछ मालिक ऐसे होते हैं कि वे श्रमिक संगठन को मन से स्वीकार नहीं कर

13. कारपेन्टर - केश स्टडी इन कलेक्टिव बारगेनिंग पेज 5.

पाते। उन्हें यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि श्रमिक और मालिक के बीच श्रमिक संगठन एक स्थाई कड़ी है। राष्ट्र के आर्थिक विकास में इन संगठनों का महल है।

3. दोनों ही पक्ष अपनी शक्ति का उपयोग समझौते की क्रियान्विति में नहीं करते। इसके लिए वे अपनी क्षमताओं के अनुसार कार्य भी नहीं करते।

4. वास्तविक तथ्यों का उपलब्ध नहीं हो पाना।

5. अस्वस्थ तरीकों का अपनाना।

6. समझौते के कारण जो उत्तरदायित्व आता है उसे निभाने के स्थान पर उसमें टालम टोल की जाती है। उससे बचने का प्रयास किया जाता है?

7. दोनों ही पक्षों पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए उचित शक्ति का न होना। अतः दोनों के बीच शक्ति सन्तुलन नहीं रह पाता।

ये ऐसे तत्व हैं जिनके कारण समझौते को सफलता जितनी मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिल पाती।

27.8 भारत में सामुहिक सौदेबाजी -

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत के उद्योग जगत में अनेक प्रकार की समस्याएं खड़ी हो गईं। उद्योगों में नवीनीकरण की भी अति आवश्यकता महसूस की गई। इन परिस्थितियों में औद्योगिक सम्बन्धों की ओर भी विशेष प्रकार का ध्यान दिया गया। सन् 1950 में सर्वप्रथम इंजीनियरिंग और केमीमल्स जैसे उद्योगों में श्रमिक के साथ सम्बन्धों में स्थिरता लाने के लिए सामुहिक सौदेबाजी द्वारा समझौता किया गया। यद्यपि यह समझौता बहुत ही सीमित क्षेत्र में ही रहा परन्तु इसके द्वारा श्रमिकों की दशा सुधारने तथा वेतन निर्धारण जैसे महत्वपूर्ण निर्णय किए गए। इसके बाद धीरे धीरे इस विचार का दायरा बढ़ता गया। इनके जो परिणाम सामने आये वे उत्साहजनक रहे।

किए गए समझौतो का अध्ययन करने पर मालिकों और श्रमिकों के सम्बन्ध में निम्न रूख सामने आया -

(i) बम्बई और अहमदाबाद की टैक्स्टाइल मिलों में कुछ में अलग अलग ईकाई के लिए अलग अलग समझौता किया गया तो कई मिलों में पूरे उद्योग के लिए ही एक साथ एक ही समझौता किया गया।

(ii) इससे उत्पादन बढ़ाने, बोनस, नवीनीकरण, इन्सेटिव योजना तथा स्वेच्छिक पंच फैसले जैसे महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर समझौते करने का दायरा बढ़ गया। कार्य क्षेत्र में विस्तार हुआ।

(iii) अनेक समझौतों के द्वारा संयुक्त विचार विमर्श करके निर्णय करने का मार्ग तय किया गया।

(iv) 2 से 5 वर्षों तक की लम्बी अवधि वाले समझौते भी हुए।

(v) हर वर्ष किए जाने वाले समझौतों की संख्या बढ़ी।

(vi) सामुहिक सौदेबाजी द्वारा किए गए समझौते अधिक प्रभावी और व्यवहारिक सिद्ध हुए।

27.8.1 विभिन्न स्तरों पर सामूहिक सौदेबाजी

भारत में सामूहिक सौदेबाजी द्वारा किए गए समझौते प्लांट उद्योग, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर तक के सफल और प्रभावी सिद्ध हुए।

(1) **प्लांट स्तर के** - कुछ समझौते ऐसे हुए जिनका क्षेत्र सिर्फ एक प्लांट तक ही सीमित था। इन समझौतों के द्वारा प्लांट में श्रमिक और मालिकों के बीच आने वाली कठिनाईयों का समाधान होने में सरलता बन गई। इससे कार्य का न केवल ढाँचा ही बना बल्कि भविष्य के लिए मार्ग भी खुलते गए। ऐसे समझौतों में प्रमुख हैं— वाटा शू कम्पनी के समझौते 1956 1955, 1558 और 1962; टाटा आइरन और स्टील कम्पनी के समझौते 1956, 1959; मैटल कार्पोरेशन आफ इण्डिया-1960, 1961; कालरेक्स इण्डिया 1959; हिन्द मर्केन्टाइल कार्पोरेशन और चिकनगयाकम की धातु खानों में सन् 1968 में श्रमिकों के साथ किए गए समझौते आदि!

सन् 1956 में टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी ने निम्न बिन्दुओं पर श्रमिकों के साथ समझौता किया गया -

1. जमशेदपुर में श्रमिक संगठन को सभी प्रकार की वार्ताएं करने तथा समझौता करने के लिए मान्यता प्रदान कर दी गई।

2. श्रमिक संगठन ने मालिकों के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया कि वे संगठन से सलाह कर उपलब्ध मशीनों में सुधार कर सकेंगे, नवीनीकरण कर सकेंगे, नई पद्धत्ति लागू कर सकेंगे, प्लान्ट का स्थान तथा आवश्यकताओं के अनुसार नई तकनीक की मशीनें लगा सकेंगे।

3. संगठन ने कम्पनी के इस अधिकार को भी मान लिया कि वे संगठन से सलाह कर किराये पर लेने की कार्यवाही, स्थानान्तरण, श्रमिकों के अनुशासन एकीकृत कार्य, अनुभागों में बदलाव या उन्हें बंद करना, कार्य के अनुपात से श्रमिकों की संख्या तय करना आदि कार्य कर सकेंगे।

4. कम्पनी ने श्रमिकों को इस बात के लिए आश्वस्त किया कि वर्तमान में जितने भी श्रमिक हैं उनमें कमी नहीं की जायेगी।

5. दोनों ही पक्षों ने कार्यों का मूल्यांकन कर, सरलीकृत तथा तर्क संगत-वेतन ढाँचे को आधार बनायेंगे!

6. सेवानिवृत्ति के समय दी जाने वाली ग्रेज्युटी के लिए वेतन के साथ ही मँहगाई भत्ते को भी सम्मलित करना स्वीकार कर लिया गया।

7. निरक्षणीय (सुपरवाइजरी) या बिना निरक्षणीय पदों पर जहाँ तक सम्भव होगा आन्तरिक ही हुआ करेगी। उच्चस्तरीय प्रबन्धक का हस्तक्षेप किसी मामले में अपवाद स्वरूप ही हो सकेगा!

8. दोनों ही पक्षों ने प्लांट के अन्दर और बाहर कार्य करने वाले श्रमिकों, तथा सुपरवाइजरी स्टाफ के लिए अलग अलग वेतन निर्धारण करने की बात को स्वीकार कर लिया गया।

(2) उद्योग के स्तर पर -

सन् 1952 में अहमदाबोद की मिल मालिकों और अहमदाबाद टेक्स्टाइल मजदूर यूनियन के बीच प्रारम्भिक स्तर पर दो वर्षों के लिए एक समझौता हुआ। इससे स्वेच्छिक पंच फैसले की पद्धत्ति पुर्नजीवित हुई। सामुहिक सौदेबाजी द्वारा किया गया यह समझौता बहुत ही महत्वपूर्ण था। इसके द्वारा यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में मिल मालिकों और श्रमिकों के बीच जो विवाद उत्पन्न होंगे उन्हें अदालत के बाहर ही निपटाया जायेगा। यह भी निश्चय किया गया कि विवाद को 15 दिनों में निपटा लिया जायेगा। 15 दिनों में यदि नहीं निपटता है तो 8 व्यक्तियों के मेल मिलाप (कन्सीलियेसन) बोर्ड के समक्ष रखा जायेगा। यहां भी निपटारा न होने पर दोनों ही पक्षों द्वारा मनोनीत किए गए सदस्यों को पंच फैसले के लिए सौंप देंगे। इस स्तर पर भी यदि हल नहीं निकल पाता है तो उस स्थिति पंच फैसला करने वाले सदस्यों की समिति के सभी सदस्य मिल एक निर्णायक मध्यस्थ को तय करेंगे। इस निर्णायक मध्यस्थ (एम्पायर) के द्वारा किए गए निर्णय को मानने के लिए दोनों ही पक्ष बाध्य रहेंगे। यह समझौता तीन वर्षों तक लागू रहा। बाद में इसमें सिर्फ इतना सा बदलाव आया कि निर्णायक मध्यस्थ एक के स्थान पर दो बना दिए गए। एक श्रमिक संगठन द्वारा मनोनीत होगा और एक प्रबन्धक मण्डल द्वारा तय किया जायेगा। इनके समक्ष लाये गए मामलों का जो निर्णय होगा वह अन्तिम होगा!

सन् 1955 में किया गया यह समझौता सभी मिलों पर सन् 1953 से 1957 तक लागू रहा। सन् 1957 में एक और महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया। इसके अर्न्तगत उत्पादन के लिए एक संयुक्त उत्पादकता कौंसिल (जोइन्ट प्राडक्टीविटी कौंसिल) का गठन किया गया। अतः ऐसे सुखद परिणामों के बाद तो अहमदाबाद की टैक्स्टाइल मिलों में सामुहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया निरन्तर विकसित होती रही।

(3) राष्ट्रीय स्तर पर -

राष्ट्रीय स्तर पर समझौता सामान्यतया केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों और श्रमिकों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन में जो निर्णय किए जाते हैं वे पूरे राष्ट्रीय औद्योगिक क्षेत्र पर लागू कि जाते हैं। जैसे सन् 1951 में दिल्ली में सम्मेलन जो निर्णय लिए गए वे देश के सभी श्रमिकों पर लागू हूए। इसी प्रकार सन् 1956 के सम्मेलन में उद्यानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के सम्बन्ध मं जो निर्णय लिए गए वे सम्पूर्ण देश के उद्योगों में कार्यरत् श्रमिकों पर लागू हुए। अतः ऐसे सम्मेलन जिनमें केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि और श्रमिक संगठनों के प्रतिनिधि एक साथ बैठ कर निर्णय करते- वे निर्णय राष्ट्रीय स्तर के माने जाते हैं।

सन 1951 में दिल्ली में जो सम्मेलन हुआ उसके निर्णय निम्न प्रकार से थे -

(अ) तकनीकी अध्ययन करने के बाद उन श्रमिकों के लिए कार्य के अनुसार मापदण्ड तय किया जायेगा।

(आ) सेवानिवृत्ति के अवसर पर ग्रेज्युटी (सेवापहार) दी जाए। इससे श्रमिकों में स्वेच्छ से सेवा निवृत्ति लेने की प्रवत्ति विकसित होगी।

(इ) जहाँ की परिस्थितियां नई भर्ती के अनुकूल नहीं हों - वहां भली प्रकार से तार्किक दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। यदि रोक लगाना आवश्यक हो जाय तो

रोक लगा दी जाए और उन परिस्थितियों में श्रमिक की मृत्यु के बाद भी उस रिक्त पर नई भर्ती नहीं की जाय।

(ई) विभिन्न सरकारी योजनाओं में नियुक्त किए गए श्रमिकों का पूरा पूरा उपयोग किया जाय।

(उ) उत्पादन के आधार पर तर्क पूर्वक विचार कर श्रमिकों को प्रेरक राशि (इन्सेंटिव) दिया जाय।

27.9 भारत में सामूहिक सौदेबाजी के विरूद्ध तर्क –

1. बहुमत और पूर्ण अधिकार युक्त श्रमिक संगठनों की मान्यता के लिए उचित व्यवस्था की कमी।

2. श्रमिक संगठनों द्वारा निरन्तर संघर्ष और कार्यबंद करने को मिलने वाली धमकियाँ।

3. दो पक्षों के बीच में समझौता करने की प्रक्रिया में तीसरे पक्ष के रूप में सरकार की भूमिका का बाधक बनना।

4. श्रमिक संगठनों को मान्यता देने के मार्ग में आने वाली नैतिक और व्यवस्था सम्बन्धी बाधाएँ। (अ) बहुमत वाली श्रमिक संगठन को उचित सम्मान देने के लिए तरीका क्या अपनाया जाय। (ब) बहुमत का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन को समझौते आदि के लिए एक मात्र संगठन मानने की समस्या।

सामूहिक सौदेबाजी के द्वारा किए जाने वाले समझौतों के लिए मालिकों, प्रबन्ध मण्डलों और श्रमिक संगठनों को जिस ढंग की भूमिका निभानी चाहिए वैसे अभी तक निभा नहीं पाये। इस कारण अभी तक उसके अनुकूल वातावरण नहीं बन सका है। समस्याओं के हल के लिए स्वेच्छा से दोनों पक्षों को जो पहल करनी चाहिए वैसा नहीं करने से दोनों ही पक्ष सदैव एक दूसरे को संदेह ही निगाह से देखते हैं। ऐसे संदेह पूर्ण वातावरण जब श्रमिक संगठन की ओर से संघर्ष की धमकियां मिलती हैं - तो वातावरण सुधरने के स्थान पर जटिल हो जाता है। इस स्थिति में तीसरे पक्ष द्वारा हस्तक्षेप करवाने के लिए मार्ग खुल जाता है। इसी मार्ग को उचित समझा जाने लगता है। इस प्रकार प्रयास करने के बावजूद भी हमारे देश में ऐसा वातावरण नहीं बन पाया है जिससे दो पक्षों के बीच सरल से समझौता हो जाए।

27.10 भारत में सामूहिक सौदेबाजी के लिए तत्व -

1. सामूहिक सौदेबाजी के द्वारा समझौता करने वाले दोनों पक्षों में एक विचार बनता है। समझौते के द्वारा नियम बनाये जाते हैं तथा इससे एक पद्धति बनी है। इसके साथ ही सरकारी कानूनों के प्रावधानों से औद्योगिक जगत में आगे बढ़ने में मदद मिली है। ऐसी स्थिति में सामूहिक सौदेबाजी करने की प्रवृत्ति को भी बल मिला है।

1. समय समय पर होने वाले त्रिपक्षीय समझौतों और औद्योगिक कमेटियों के निर्माण से सामूहिक सौदबाजी की भावना को विकसित करने में मदद मिली है।

3. भारत सरकार द्वारा अनुशासन, श्रमिक संगठनों का बनना, तथा आपसी विचार विमर्श के लिए बनाई जाने वाली परिषदों आदि के सम्बन्ध में बनाये गए कानूनों से सामुहिक सौदेबाजी के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ है।

4. औद्योगिक विवादों के लिए अस्थाई विराम संधि में प्रस्ताव जैसा सन् 1962 में बनाया गया कानून बहु उपयोगी सिद्ध हुआ है। इससे श्रमिकों में रचनात्मक सहयोग की भावना बढ़ी, आपसी विचार विमर्श से हर समस्या का समाधान ढूंढ़ने तथा किसी न किसी निर्णय पर पहुँच जाने से इस की गति बढ़ी है, उद्योगों में शांति बनाये रखने में मदद मिली है। पंच फैसले के द्वारा समझौता करने की प्रवृत्ति की दिशा में भी अच्छी प्रगति हुई है।

5. औद्योगिक विवाद कानून में संशोधन कर यह निश्चित कर दिया गया है कि पंच फैसले द्वारा किए गए निर्णय को तब तक नहीं तोड़ा जा सकता जब तक कि अधिक श्रमिक स्वयं इस बात के लिए नहीं कहें। इसके लिए श्रमिकों को एक ज्ञापन देना होगा तथा इसके लिए निर्धारित प्रक्रिया को अपनाया होगा। किसी भी श्रमिक संगठन को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने को अधिकांश श्रमिकों का प्रतिनिधि संगठन बता कर अपने स्तर पर कार्य कर सके। इससे सारे श्रमिक इस बात के लिए आश्वस्त रहते हैं कि आपसी विचार विमर्श से किए गए समझौते का इकरारनामें को श्रमिकों का एक वर्ग जब चाहे तब नहीं तोड़ सकता। इस प्रकार के समय समय पर किए गए संशोधनों से सामुहिक सौदेबाजी की पद्धति और अधिक पुष्ट हुई है।

27.11 सुझाव -

सामूहिक सौदेबाजी द्वारा किए गए समझौतों को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए भारतीय व्यक्तिगत प्रबन्ध संस्थान (इंण्डियन इन्स्टीच्यूट आफ पर्सनल मैनेजमेंट) ने निम्न सुझाव दिए हैं -

1. ऐसे श्रमिक संगठनों की आवश्यकता है जो जागरूक हो, शक्तिशाली हो तथा वास्तव में अधिकांश श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता हो। इसके साथ ही वह संगठन दृढ़ता के साथ संवैधानिक ढंग से कार्य करने वाला हो।

2. मालिकों को भी अपने विचारों में प्रगतिशील बने और व्यवहार में उदारता का आचरण करें। इन्हें अपने व्यवसाय, मजदूरों के हितों, तथा देश के उपभोक्ताओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व का भली प्रकार निर्वाह करें।

3. श्रमिक और मालिकों के बीच मूलभूत उद्देश्यों तथा संगठन के लिए सामन्जस्य हो। इसके लिए दोनों पक्ष एक दूसरे के अधिकार का सम्मान करें तथा अपनी जिम्मेदारियों को निष्ठापूर्वक निभावें।

4. उद्योग की विभिन्न इकाईयों में कार्यरत् श्रमिकों की समस्याओं को निपटाने के लिए प्रबन्धक को अपने अधिकारों का विकेन्द्रीकरण करना चाहिए।

5. समय समय पर बदलती हुई परिस्थितियों में नित नई पैदा होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए निरन्तर नए मार्गों की तलाश में रहना चाहिए!

इन सुझावों के द्वारा सामूहिक सौदेबाजी से किए जाने वाले समझौतों की गुणवत्ता बढ़ेगी।

राष्ट्रीय आयोग श्रमिक (नेशनल कमीशन आन लेबर) ने इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिए हैं-

1. अभी तक श्रमिक संगठनों के सम्बन्ध में किसी प्रकार कानून नहीं बन पाया है। सामूहिक सौदेबाजी के द्वारा किए जाने वाले इकरारनामों की प्रगति के लिए ऐसे कानून के न होने से बाधा मानी जा रही है। परन्तु इसके बावजूद जितना कार्य हुआ

है वह असन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। इस ओर अभी बहुत कुछ करना है। सतत् प्रयत्न आवश्यक है।

2. सामूहिक समझौते की प्रक्रिया में अचानक न्यायाधिकरण के निर्णय की भाँति बदलाव नहीं लाया जा सकता। इसके लिए स्वतः ही की जाने वाली प्रक्रिया अधिक लाभप्रद रहती है। इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है कि औद्योगिक विवादों के हल के लिए इस मार्ग को प्रमुखता से अपनाया जाय।

3. सामूहिक सौदेबाजी के लिए ऐसा वातावरण बनाया जाए कि श्रमिक प्रतिनिधि के रूप में श्रमिक संगठन को एक मात्र प्रतिनिधि स्वीकार किया जा सके। इसके लिए कानून बनना भी आवश्यक है।

27.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. डेवी एच. डब्ल्यू — कान्टेम्पोरटी कलेक्टिव बारगेनिंग, 1959
2. कोक्स आर्चीबाल्ड — लेबर एडमिनिस्ट्रैशन - प्रास्पेक्टस एण्ड आबलेम्स
3. डनलप जोहन जे. — चैलेन्जेज टू कलेक्टिव बारगेनिंग, 1958
4. इण्डियन इन्स्टीट्यूट — आफ पर्सनलं मैनेजमेंट - पर्सनल मैनेजमेंट इन इण्डिया - 1973
5. रिचार्डसन जे. एच. — एन इन्ट्रोडक्सन टू दी स्टडी आफ इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स 1954.

27.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामूहिक सौदेबाजी के विचार का विवेचन कीजिए।
2. सामूहिक सौदेबाजी के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया को
3. भारत में सामूहिक सौदेबाज़ी की व्यवस्था कहाँ तक सफल हो पाई है? समझाइये।

इकाई-28

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के मूलभूत सिद्धान्त

28.3 सदस्यता प्राप्त करने की प्रक्रिया

28.4 वित्त व्यवस्था

28.5 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की संरचना

28.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन

28.5.2 संचालक मण्डल

28.5.3 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय

28.6 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के कार्य एवं गतिविधियां

28.6.1 विधायी कार्य

28.6.2 संक्रियात्मक गतिविधियां

28.6.3 शैक्षणिक गतिविधियां

28.6.4 गतिविधियों के लिए आदर्श मापदण्ड

28.7 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एवं भारत

28.7.1 श्रम कानूनों पर आई.एल.ओ. का प्रभाव

28.7.2 श्रमिक आन्दोलन पर प्रभाव

28.7.3 आइ.एल.ओ. के कार्य में भारत की हिस्सेदारी

28.8 आई.एल.ओ. के कार्य का आंकलन

28.9 सारांश

28.10 शब्दावली

28.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

28.12 निबन्धात्मक प्रश्न

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के उद्देश्यों, कार्यों एवं उपलब्धियों से आपका परिचय कराना है।

28.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन सामाजिक न्याय, शाश्वत शान्ति एवं मानव गरिमा का प्रतीक है। इसकी स्थापना 19 अप्रेल 1919 को हुयी थी। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना के बहुत पहले ही एक अन्तर्राष्ट्रीय संधि द्वारा श्रमिकों की दशाओं को नियंत्रित करने का विचार बहुत से लोगों के मानस को प्रभावित करता रहा था। नेपोलिया के युद्धों के तुरन्त बाद ही रोबार्ट ओवन ने शान्ति स्थापित करने में श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय नियमन की आवश्यकता पर जोर दिया था। 1839 में फ्रेंच अर्थशास्त्री बलांकी ने लिखा था कि संधियों का मुख्य उद्देश्य मानव जीवन के संरक्षण का एवं मानव जीवन को खुशहाल बनाने का होना चाहिये। 1847 में एक निर्माता, डेनियल ला ग्रांड ने फ्रांस, इंग्लैंड, रूस एवं स्वीट्जरलैण्ड की सरकारों से कार्यकारी वर्ग के संरक्षण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानून पारित करने की अपील की थी।

यह उल्लेख किया जा सकता है कि 1890 में, जर्मन सरकार ने प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कांग्रेसों के प्रयासों के फलस्वरूप 1900 में श्रम कानून हेतु अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना हुयी। 1905 तक इस अभिकरण की गतिविधियां या श्रम दशाओं के नियामक सम्बन्धित गतिविधियां धीमी रहीं। 1905 एवं 1906 में बर्ने में दो अधिकारिक श्रम सम्मेलन आयोजित किये गये। इनमें दो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हुये। प्रथम, औरतों के रात्रि में काम पर प्रतिबन्ध, एवं द्वितीय, माचिस निर्माण में सफेद फास्फोरस के प्रयोग पर प्रतिबन्ध।

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने से बहुत सी महत्वपूर्ण श्रम समस्याओं पर प्रकाश पड़ा। यह अनुभव किया गया कि इनका समाधान केवल एक स्थायी एवं सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण द्वारा ही हो सकता है। श्रमिक संघों के असहयोगात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। 1916 में श्रमिक संघों की सामान्य फेडरेशन ने विभिन्न श्रम समस्याओं पर विचार विमर्श किया एवं श्रम कानून से सम्बन्धित सामग्री एकत्र करते हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की स्थापना का सुझाव दिया गया। पेरिस शान्ति सम्मेलन ने 31 जनवरी 1919 को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कानून हेतु एक आयोग की स्थापना की गयी। इसी आयोग द्वारा ही आई.एल.ओ. की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। इसके संविधान का पारूप बनाया गया। इस तरह आइ.एल.ओ., अप्रेल 1919 में, अस्तित्व में आया। 28 जून 1919 को राष्ट्र संघ के एक अंग के रूप में आइ.एल.ओ. की स्थापना करने हेतु सभी पक्ष सहमत हो गये। 1946 में अशक्त राष्ट्र संघ की जगह जब संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय राजनितिक संगठन अस्तित्व में आया तो आइ. एल.ओ. ने इससे सम्बन्ध स्थापित किया एवं इसकी एक विशिष्ट एजेंसी बन गया।

आइ.एल.ओ. का लक्ष्य एवं उद्देश्य इसके संविधान की प्रस्तावना में, 1944 में अपनाये गयी फिलाडेलफिया घोषणा तथा संविधान से औपचारिक रूप से जोड़े गये अनुबन्ध 1946 में अभिव्यक्त किया गया है। प्रस्तावना में कहा गया है कि शाश्वत शान्ति की स्थापना केवल तभी हो सकती है, जबकि वह सामाजिक न्याय पर आधारित हो। इसमें बहुत से लोगों की तंगी, अभाव एवं अन्याय से सम्बन्धित श्रम दशाओं की उपस्थिति पर ध्यान आकर्षित किया गया है तथा यह घोषणा की गयी कि कार्य घंटों के निर्धारण, बेरोजगारी पर रोक, पर्याप्त जीवन योग्य जीविका का प्रावधान, रोजगार के फलस्वरूप उत्पन्न बिमारियों, रोगों, चोटों आदि के विरूद्ध श्रमिकों को संरक्षण, बच्चों, युवा व्यक्तियों एवं महिलाओं का संरक्षण, निर्वासित श्रमिकों के हितों का संरक्षण व्यावसायिक

एवं तकनीकी शिक्षा के संगठन तथा संघ की स्वतंत्रता के सिद्धान्तों की स्वीकृति जैसे कदमों द्वारा श्रमिकों की दशाओं में सुधार की तीव्र आवश्यकता है। प्रस्तावना में साथ ही यह भी कहा गया है कि श्रम की मानवीय दशाओं को अपनाने में एक देश की असफलता अन्य देशों में अपने यहाँ श्रम दशाओं में सुधार की आकांक्षा के मार्ग में एक बाधा होती है।

28.2 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के मूलभूत सिद्धांत

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अपनी स्थापना के समय ही कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार किया था। ये सिद्धान्त श्रम-स्वतंत्रता के चार्टर के रूप में सामने आये। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त निम्न है:-

1. श्रमिक एक उपभोक्ता वस्तु नहीं है।
2. सतत विकास के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं संघ आवश्यक है।
3. गरीबी कहीं भी हो, वह किसी भी जगह की समृद्धता के लिए खतरा है।
4. गरीबी के विरूद्ध युद्ध स्तर पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनवरत तथा मूर्त प्रयास करने होंगे, जिसमें श्रमिकों तथा कर्मचारियों की भागीदार हो तथा कल्याण हेतु चलाये जाने बातें कार्यक्रमों के सम्बन्ध में निर्णय लेने की प्रक्रिया में उचित भागीदारी निभा सके।

आई. एल. ओ. का समान्य अधिवेशन का 26वाँ सत्र फिलाडेलफिया में 1944 में हुआ था। इसमें सिद्धान्तों में विश्वास को पुनः दोहराया गया एवं सदस्य देशों की नीतियों को प्रभावित करने वाले सिद्धान्तों एवं संगठन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों से सम्बन्धित एक घोषणा को स्वीकार किया गया। फिलाडेलफिया चार्टर में निम्न बातों पर बल दिया गया:

1. जाति, प्रजाति एवं लिंग के भेदभाव बिना सभी मानवीय प्राणियों को स्वतंत्रता एवं गरिमा की स्थिति में अपने भौतिक सुख एवं आध्यात्मिक विकास को बढ़ाने का अधिकार होगा।
2. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीति का मुख्य उद्देश्य उन दशाओं की उपस्थिति होना चाहिए जिनमें कि उक्त बातें संभव हो सकें।
3. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी नीतियों, विशेषकर जिनकी प्रकृति आर्थिक एवं विभिन्न है, को इस दिशा में जाँचा जाये तथा हमें उन्हें स्वीकार करना चाहिये जो कि इस भौतिक उद्देश्य के विकास में सहायक बनती हो, न कि उसे रोकती हो।
4. यह आई.एल.ओ. का दायित्व है कि वह सभी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं वित्तिय नीतियों को जांचे एवं उनके बारे में विचार करें।
5. आई.एल.ओ. को जो कार्य प्रदान किये गये हैं, उनके संचालन में वह सभी सम्बन्धित आर्थिक एवं वित्तिय कारकों के बारे में सोचे तथा जो प्रावधान उसे उचित लगे उन्हें अपने निर्णयों एवं अभिशंसाओं में सम्मलित कर लें।

अधिवेशन में कहा गया था कि वह आइ.एल.ओ. का दायित्व है कि वह भविष्य में निम्नाकित लक्ष्यों को सामने रखकर कार्यक्रम तैयार करे–

(i) पूर्ण रोजगार एवं जीवन स्तर में वृद्धि

(ii) ऐसे रोजगार में श्रमिकों को रोजगार मिले जहाँ कि उन्हें पूर्ण संतोष मिल सके, उनके कौशल एवं उपलब्धियों को पूर्ण महत्व दिया जाये तथा वे सामान्य मानव प्राणियों हेतु अपना अधिकतम योगदान दे सके।

(iii) इस लक्ष्य की प्राप्ति एवं सभी को पर्याप्त गारन्टी प्राप्त होती रहे, इस हेतु श्रमिकों को प्रशिक्षण एवं हस्तांतरण की सुविधा सम्बन्धी प्रावधान।

(iv) वेतन एवं कमाई, कार्य के घण्टे एवं अन्य दशाओं से सम्बन्धित नीतियों की गणना इस तरह की जाये कि प्रगति के फलों में सभी की भागीदारी सुनिश्चित किया जा सके तथा सभी कार्यरत व्यक्तियों का न्यूनतम जीवन स्तर हो। इन्हें इस तरह के संरक्षण की आवश्यकता है।

(v) सामूहिक सौदेबाजी के अधिकार भी प्रभावी स्वीकृति, उत्पादक क्षमता में निरन्तर वृद्धि में प्रबन्ध एवं श्रमिकों का सहयोग, तथा सामाजिक एवं आर्थिक उपायों की तैयारी एवं उनके प्रयोग में श्रमिकों एवं कर्मचारियों का सहयोग

(vi) इस तरह के संरक्षण एवं व्यापक चिकित्सा देखरेख की आवश्यकता हेतु सभी को मूल आय देने के लिए सामाजिक सुरक्षा कदमों का विस्तार।

(vii) सभी पेशों में श्रमिकों के जीवन एवं स्वास्थ्य हेतु पर्याप्त संरक्षण।

(viii) बाल कल्याण एवं मातृत्व संरक्षण हेतु प्रावधान

(ix) पर्याप्त पोष्टिकता, आवास का प्रावधान एवं मनोरंजन एवं संस्कृति हेतु सुविधायें, तथा

(x) शैक्षणिक एवं व्यावसायिक अवसरों की समानता हेतु आश्वासन।

28.3 सदस्यता प्राप्त करने की प्रक्रिया

आई.एल.ओ. के संविधान में एक राज्य को इसकी सदस्यता हेतु प्रवेश पाने सम्बन्धी प्रक्रिया के नियम दिये हुये हैं। इसमें प्रावधान है कि वे सभी राज्य जो 1 नवम्बर 1945 को आई.एल.ओ. के सदस्य थे तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई भी भौतिक सदस्य आई. एल.ओ. के संविधान के दायित्वों को स्वीकार करते हुये इसका सदस्य बन सकता है। अन्य राज्य आई.एल.ओ. के सदस्य तभी बन सकती है, जबकि अधिवेशन में उपस्थित 2/3 प्रतिनिधि इस हेतु मतदान करें।

1945 में आई.एल.ओ. के संविधान में संशोधन किया गया तथा इसका संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ। नये नियमों में सदस्यता के बो में निम्नलिखित दो बातें कही गयी हैं:

(i) संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई भी भौतिक सदस्य तथा तद्उपरान्त बना कोई भी संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य राज्य आई.एल.ओ. का सदस्य बन सकता है बशर्ते कि वह आई.एल.ओ. के दायित्वों की औपचारिक स्वीकृति के इसके महा-निदेशक को सूचित कर दे।

(ii) अगर कोई राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं है तो आई.एर्ल.ओ. की आई.एल.सी. (आई.एल.ओ. की संसदीय विंग) को यह अधिकार है कि वह राज्य को सदस्यता प्रदान करें। आई.एल.ओ. का राष्ट्र संघ के साथ सम्बन्ध

का जो काल रहा, उसमें आ.एल.सी. तथ्य संगतता का रूप ग्रहण कर लिया था।

1919 में 45 राज्य आई.एल.ओ. के सदस्य थे। 31 दिसम्बर 1989 तक, सदस्य राष्ट्रों की संख्या 150 तक बढ़ गयी। भारत आइ.एल.ओ. की स्थापना से ही इसका सदस्य है।

28.4 वित्त व्यवस्था

सदस्य राष्ट्रों की सरकारों द्वारा वार्षिक रूप से दिये गये अनुदान से आई.एल.ओ. को वित्त प्राप्त होता है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र द्वारा दिये जाने वाले अनुदान के प्रतिशत का निर्धारण सम्पूर्ण खर्च के आधार पर किया जाता है। अब सदस्य राष्ट्रों द्वारा दिये जाने वाले आई.एल.ओ. अनुदान का निर्धारण संयुक्त राष्ट्र गणना के अनुसार अनुदान की अधिकतम एवं न्यूनतम दर क्रमशः 35 तथा 0.01 प्रतिशत रखी गयी है। मूल्यांकन गणना के अनुसार 1987, 88, 89 में भारत द्वारा दिया गया अनुदान 0.35 प्रतिशत रहा है। 1984 से 89 तक भारत द्वारा दिया गया अनुदान निम्न प्रकार हैः

तालिका 28.1

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में भारत का योगदान

वर्ष	आई.एल.ओ का कुल बजट यू.एस. डालर में	भारत के योगदान का अंश	कुल अनुदान में भारत का अंश
1984	127,372,000	158,539	0.36
1985	127,372,000	430,956	0.35
1986	126,570,000	455,652	0.36
1987	126,570,000	442,905	0.35
1988	126,430,000	508,505	0.35
1989	194,590,224	681,076	0.35

आई.एल.ओ. के संविधान में सदस्य राष्ट्रों को यह विशिष्ट अधिकार प्रदान किया गया है कि वह आइ.एल.ओ. के महानिदेशक को नोटिस देकर सदस्यता वापिस ले सकता है। अगर सदस्य राष्ट्र द्वारा सभी वित्तीय दायित्वों का निर्वहन किया गया है तो महानिदेशक सदस्यता वापसी के नोटिस का निर्धारण दो साल में कर देगा। आई.एल.ओ. से सदस्यता वापसी के मामले को बहुत गम्भीर माना जाता है। "आई.एल.ओ. की सदस्यता कोई गणितीय संख्या का योग नहीं है वरन् यह इन राष्ट्रों का एवं जीवन्त संघ है। जो कि बढ़ती हुयी अर्थ व्यवस्था में सन्तुलित आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति की प्राप्ति के सामान्य उद्देश्य हेतु संगठित हुये हैं।"

28.5 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की संरचना

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन निम्नलिखित तीन उप व्यवस्थाओं के चारों ओर संगठित किया गया है:—

1. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन
2. संचालक मण्डल
3. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय

सम्मेलन एवं संचालक निकाय के कार्यों क्षेत्रीय सम्मेलन क्षेत्रीय सलाहकार समिति, औद्योगिक समितियाँ – एवं सदृश्य निकाय, विशेषज्ञ समितियाँ, सलाहकारों के पैनल, विशिष्ट तदर्थ सम्मेलन एवं बैठकों द्वारा पूरा किया जाता है। आई.एल.ओ. की विशिष्ट विशेषता उसके त्रिपक्षीय स्वरूप में निहित है। सम्मेलन सर्वोच्च नीति निर्मात्री एवं विधायकी निकाय है। संचालक निकाय कार्यकारी परिषद् है तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यलय सचिवालय; संचालक मुख्यालय एवं सूचना केन्द्र होता है।

28.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour conference)
अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन सचिवालय, एक विश्व सूचना केन्द्र एवं एक प्रकाशन घर के रूप में कार्य करता है। यह श्रमिकों से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन एवं शोध में निरन्तर लगा रहता है, एक शोध केन्द्र के रूप में सेवायें देता है एवं सामाजिक - औद्योगिक प्रश्नों पर सूचना वितरण केन्द्र होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सर्वोच्च विचार विमर्श करने वाला निकाय होता है एवं संगठन की विधायी इकाई के रूप में कार्य करती है। सम्मेलन सामान्यतः साल में एक बार होता है किन्तु समुद्री श्रमिकों की समस्याओं का विवेचन करने हेतु विशिष्ट सत्र भी बुलाया जा सकता है। 1989 तक 76 सत्र हुये हैं एवं 10 सत्र हुये हैं।

सामान्य सम्मेलन संचालक निकाय का निर्वाचन करता है। यह आई.एल.ओ. के द्विवार्षिक कार्यक्रम तय करता है, बहुत बनाता है, समझौते के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तय करता है, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता हेतु अनुशंसा करता है तथा सामाजिक एवं श्रम प्रश्नों पर विचार हेतु एक मंच प्रदान करता है। हालांकि इसकी बैठक की कार्यसूची संचालक निकाय द्वारा तय की जाती है किन्तु यह स्वयं भी 2/3 बहुत द्वारा किसी भी विषय को अपनी कार्यसूची में सम्मलित कर सकती है। 2/3 बहुमत से यह संविधान में संशोधन कर सकती है किन्तु ये संशोधन तभी प्रभावी होंगे जबकि ये संचालक निकाय के पाँच निर्वाचित सदस्यों सहित आइ.एल.ओ. के 2/3 सदस्य राष्ट्रों द्वारा अनुसमर्थन कर दिया जाये। सम्मेलन एक अध्यक्ष एवं तीन उपाध्यक्षों का चुनाव करता है। इन उपाध्यक्षों में एक सरकारों का प्रतिनिधित्व करता है, दूसरा कर्मचारियों का एवं तीसरा श्रमिक समूह का।

सामान्य सम्मेलन की बैठक साल में एक बार होती है। इसकी बैठक में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र से चार प्रतिनिधि भाग लेते हैं। जिसमें दो सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। अन्य दो में एक नियोक्ताओं का एवं दूसरा राज्य के श्रमिक लोगों का प्रतिनिधि होता है। किसी विशिष्ट सत्र की विषय सूची के तकनीकी बिन्दू हेतु प्रत्येक प्रतिनिधि अपने साथ अधिकतम दो विशेषज्ञ ले जा सकता है। नियमित प्रतिनिधि एवं विशेषज्ञों के अतिरिक्त गैर क्षेत्रों, सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं गैर सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रतिनिधि भी सम्मेलन में भाग लेते हैं। साथ ही मुक्त ट्रेड युनियनों का अन्तर्राष्ट्रीय संघ, ट्रेड युनियनों का विश्व संघ एवं ईसाई ट्रेड युनियन अन्तर्राष्ट्रीय संघ, जिनका कि आई. एल.ओ. से विचार-विमर्शात्मक सम्बन्ध होता है, के प्रतिनिधि भी सम्मेलन में भाग लेते हैं। गैर सरकारी प्रतिनिधियों एवं सलाहकारों का चयन संगठन की सहमति से सम्बन्धित सरकार द्वारा किया जाता है, जो कि अधिकांशतः कर्मचारियों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधि होते हैं।

28.5.2 संचालक मण्डल : आई.एल.ओ. का संचालक निकाय संगठन की कार्यकारी इकाई के रूप में कार्य करती है। संचालक निकाय महानिदेशक को नियुक्त करती है।

महानिदेशक द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रमों एवं बजट प्रावधानों पर विचार करती है। सम्मेलन द्वारा पारित होने वाले कार्यक्रमों एवं बजट की अनुशंसा करती है। पारित प्रस्तावों पर उपयुक्त कार्यवाही हेतु निर्णय लेती है। सभी सहायक बैठकों के गठन, तारीखों, कार्यकाल एवं विषय सूची को तय करती है। यह समझौतों हेतु सदस्य-राष्ट्रों द्वारा दिये जाने वाले आवेदनों की जांच करती है। सम्मेलन द्वारा की गयी अनुशंसाओं के क्रियान्वयन हेतु उपयुक्त कदम उठाती है। संयुक्त राष्ट्र परिवार के अन्य सदस्यों, अन्य संगठनों एवं क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ आइ.एल.ओ. गतिविधियों का समन्वय करती है।

संचालक निकाय में 56 सदस्य, 28 प्रतिनिधि सरकार, 14 नियुक्ता तथा 14 श्रमिक होते हैं। 28 सरकारी सीटों में से 10 गैर निर्वाचित होती हैं तथा ये मुख्य औद्योगिक महत्व के देशों के पास होती है। ये देश चीन, फ्रांस, ब्राजिल, इटली, जर्मनी, भारत, जापान, यू.के., यू.एस.ए. एवं रूस है। बाकी 18 सरकारी सदस्यों की नियुक्ति सदस्य राष्ट्रों की सरकारों द्वारा तीन साल में एक बार चुनाव द्वारा होती है। इनके निर्वाचल मण्डल में, औद्योगिक महत्व के देशों अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों में जो उस साल सम्मेलन में भाग ले रहे है, वे होते है। कर्मचारियों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों का चुनाव भी उस साल सम्मेलन में भाग लेने वाले कर्मचारियों एवं श्रमिकों प्रतिनिधियों द्वारा तीन साल के लिए किया जाता है। संचालक निकाय में एक श्रमिक सदस्य एवं एक कर्मचारी सदस्य भारतीय नागरिक होता है।

1986 में आई.एल.ओ. के संविधान में संशोधन किया गया। जिसके फलस्वरूप संचालक निकाय में 112 सीटें हो गयी। जिनमें 56 सीटें सरकारों के प्रतिनिधियों की, 28 सीटें कर्मचारियों की एवं 28 सीटें श्रमिकों की रखी गयी। विभिन्न भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए इसके गठन की जहाँ संभव हो सकता था, प्रतिनिधित्मक बनाने की कोशिश की गयी। भारत ने सितम्बर 1988 में आइ.एल.ओ. संविधान में संशोधन की पुष्टि कर दी थी। संचालक निकाय को उसके कार्य में त्रिपक्षीय समितियों द्वारा सहायता प्रदान की जाती है। इसका गठन (नवम्बर 1989 तक संशोधित) निम्न प्रकार है:-

तालिका 28.2

संचालक निकाय का स्वरूप

क्र.सं.	समिति का नाम	कुल सदस्यता	सरकारी सदस्य	कर्मचारी सदस्य	श्रमिक सदस्य
1.	कार्यक्रम, वित्त एवं प्रशासकीय समिति, (1950)	46	43	20	13
2.	आवंटन समिति (1946)	11	11	—	—
3.	आदेश एवं समझौतों तथा अनुशंसा आवेदन समिति (1950)	32	24	04	04
4.	औद्योगिक गतिविधि समिति (1947)	46	16	18	12
5.	अन्तर्राष्ट्रीय संगठन समिति (1948)	27	12	1	8

6.	निष्पादित कार्यक्रम समिति (1960)	55	31	13	11
7.	संघ स्वतंत्रता समिति (1951)	9	3	3	3
8.	पक्षपात पर समिति (1962)	22	13	4	5
9.	बहुराष्ट्रीय उद्योग समिति (1981)	18	6	6	6
10.	रोजगार समिति	56	36	12	8

भारत सभी समितियों का नियमित सदस्य है। सामान्यतः संचालन निकाय की तीन साल में एक बार बैठक होती है। जब त्रिपक्षीय चुनाव होते हैं, तब इसकी साल में चार बैठकें होती हैं। यह प्रतिवर्ष अपने सरकारी सदस्यों में से एक को अध्यक्ष चुनती है। साथ ही यह दो उपाध्याक्षों का चुनाव करती है, जिनमें एक कर्मचारियों का एवं दूसरा श्रमिक समूहों का प्रतिनिधित्व करता है।

तालिका 28.3

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (आई.एल.सी.) एवं संचालक निकाये के कार्य

आई.एल.सी.	संचालन निकाय
1. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम स्तरों का निर्धारण	1. संगठन के कार्य में समन्वय
2. सदस्य राष्ट्रों की अनुदान राशि को तय करना	2. प्रत्येक सत्र के लिए कार्य सूची तय करना तथा आई.एल.सी. में निर्णय हेतु विषय तय करना।
3. संचालक निकाय द्वारा प्रस्तुत एवं महानिदेशक द्वारा तैयार किये गये बजट अनुमानों को तय करना	3. महानिदेशक की नियुक्ति
4. संविधान में संशोधन, इसका कालान्तर में इस औद्योगिक राष्ट्रों में से पाँच सहित 2/3 सदस्य राष्ट्रों द्वारा अनुसमर्थन होना जरूरी है।	4. बजट समीक्षा
5. श्रम समस्याओं एवं उनके समाधान हेतु महानिदेशक की रिपोर्ट पर विचार विमर्श करना।	5. सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों द्वारा किये समझौतों एवं अनुशंसाओं की क्रियान्विति करना
6. प्रत्येक सत्र के दौरान विभिन्न विषयों के निर्धारण हेतु समितियों की नियुक्ति करना।	6. क्षेत्रीय सम्मेलनों की तारीखें, अवधि एवं विषय सूची का निर्धारण
7. अपने स्वयं की प्रक्रियाओं को नियंत्रित करने की शक्ति	7. आइ.एल.सी. के निकट सहयोग में रहते हुये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सलाह प्राप्त करना।
8. संचालक निकाय हेतु तीन साल में एक बार सदस्यों का चयन करना	
9. इसके अध्यक्षों का चुनाव करना	
10. अन्तर्राष्ट्रीय न्याय समिति से सलाह प्राप्त करना।	
11. क्षेत्रीय सम्मेलन के कार्यों, शक्तियों एवं प्रक्रियाओं को अनुमोदन करना	

28.5.3 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय :

यह आई.एल.ओ. व्यवस्था का तीसरा महत्वपूर्ण निकाय है। यह आइ.एल.ओ. के सचिवालय के रूप में कार्य करता है। यह जिनेवा में स्थित है। आइ.एल.ओ. का महानिदेशक इस कार्यलय का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। महानिदेशक की नियुक्ति संचालक निकाय द्वारा की जाती है तथा सम्मेलन के महासचिव के रूप में भी काम करता है। महानिदेशक की नियुक्ति दस साल के लिए की जाती है तथा इसके कार्यकाल को संचालक निकाय द्वारा बढाया भी जा सकता है। इस कार्यलय के स्टाफ की नियुक्ति महानिदेशक के द्वारा की जाती है। महानिदेशक की सहायता हेतु दो उपमहा-निदेशक, छः सहायक महानिदेशक, एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम अध्ययन संस्थान का निदेशक, अन्तर्राष्ट्रीय अग्रिम तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र का एक निदेशक, विभागों के अध्यक्ष तथा एक सौराष्ट्रों से आये अन्य स्टाफ होता है।

आई.एल.ओ. के संविधान में इस कार्यालय के मुख्य कार्यों का विवेचन किया गया है। ये है—

1. सम्मेलन की विषयसूची के बिन्दुओं पर प्रलेख तैयार करना।
2. आई.एल.सी. में लिये गये निर्णयों के आधार पर कानून बनाने में सरकारों को मदद करना।
3. समझौतों के संचालन हेतु कार्यों का संचालन करना।
4. अन्तर्राष्ट्रीय रूचि की औद्योगिक श्रम समस्याओं के समाधान हेतु प्रकाशन को करना।
5. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम एवं सामाजिक समस्याओं की सूचनाओं को एकत्र करना एवं वितरण करना।

सामान्यतः आई.एल.ओ. कार्यलय उन शक्तियों का संचालन एवं दायित्वों का निर्वहन करता है जो कि उसे सम्मेलन या संचालक निकाय द्वारा करने हेतु दिये जाते है।

आई.एल.ओ. की संरचना

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन
सामाजिक समस्याओं का परीक्षण करती है।
सरकारों की पुष्टि हेतु समझौतों एवं
अनुशंसाओं को स्वीकार करती है।
सम्मेलन का निर्वाचन मण्डल चुनता है

संचालक निकाय

इसमें प्रतिनिधि होते हैं	
— सरकारों के	अनुपात
— कर्मचारियों के	2:1:1
— श्रमिकों क	

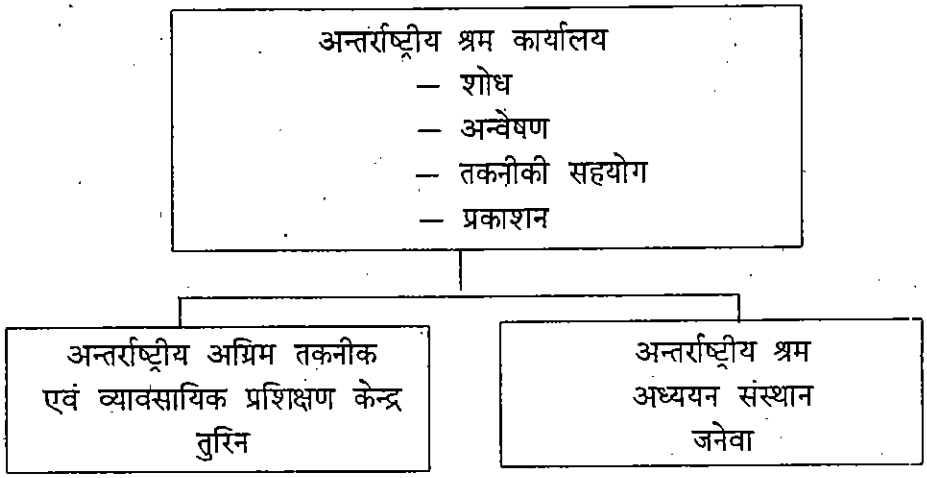

चार्ट 28.1

28.6 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के कार्य एवं गतिविधियाँ

आई.एल.ओ. के कार्यों को तीन भागों में वाँटा जा सकता है।

28.6.1 विद्यायी कार्य : आई.एल.ओ. के विधायी कार्यों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन द्वारा अपनाये समझौतों एवं अनुशंसाओं तथा विभिन्न औद्योगिक समितियों एवं क्षेत्रीय सम्मेलनों में निये गये निर्णयों को ले सकते हैं।

आई.एल.ओ. ने अपने विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु 128 समझौतों एवं 132 अनुशंसाओं को स्वीकार किया है।

28.6.2 संक्रियात्मक गतिविधियाँ : आइ.एल.ओ. की संक्रियात्मक गतिविधियाँ श्रम कानून एवं मानव शक्ति संगठन (व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं श्रम प्रबन्ध सम्बन्ध) के कार्यक्रमों के संचालन में सदस्य राष्ट्रों की तकनीकी सहायता देने से जुड़ी होती है। आइ.एल.ओ. सदस्य देशों को निम्नलिखित रूपां में तकनीकी सहायता प्रदान करता है:-

(i) सदस्य देशों को तकनीकी विशेषज्ञ प्रदान करता है

(ii) क्षेत्रीय सेमिनार एवं पाठ्यक्रमों का संचालन करना

(iii) यह फैलोशिप एवं अध्ययन अनुदान प्रदान करता है

(iv) यह श्रमिकों की व्यावसायिक प्रशिक्षण के संचालन हेतु उपकरण एवं सामग्री प्रदान करता है।

28.6.3 शैक्षणिक गतिविधियाँ : इसके अन्तर्गत श्रमिक एवं प्रशासकीय स्टाफ के प्रशिक्षण को सम्मलित किया जाता है। सामान्यतः शैक्षणिक गतिविधियाँ निम्नलिखित रूपों में होती हैं:-

(i) यह प्रशासकीय स्टाफ विशेषकर श्रम निरीक्षकों एवं रोजगार नियोजन अधिकारियों के प्रशिक्षण का प्रावधान करता है। —

(ii) इसमें श्रमिक शिक्षा कार्यक्रमों को सम्मलित किया जाता है ताकि वे अपनी श्रमिक संघ एवं उनसे जुड़े दायित्वों को सफलतापूर्वक पूरा कर सके।

(iii) इसमें श्रमिक समस्याओं पर शोध को बढ़ावा, सामयिकी का प्रकाशन तथा

सहयोग की समस्याओं, सामाजिक सुरक्षा, सामूहिक सौदेबाजी तथा श्रमिक संघ प्रशासन आदि पर मैन्यूअलों के प्रकाशन को लिया जाता है।

28.6.4 गतिविधियों के लिए आदर्श मानदण्डों की स्थापना : आई.एल.ओ. का संचालन उसकी संचालक निकाय कार्यालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के द्वारा होता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन, जिसका कि साल में एक बैठक होती है, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम परिदृश्य की समीक्षा करता है। वार्षिक सम्मेलन उद्योगों में कार्य घण्टों एवं साप्ताहिक आराम, समान कार्य, समानकार्य के लिए समान वेतन, बेगार का अंत, बीमारी में श्रमिक को संरक्षण, संघ की स्वतंत्रता के सिद्धान्त की स्वीकृति, व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा का संगठन तथा श्रमिक प्रबन्ध से सम्बन्धित बहुत से क्षेत्रों के बारे में जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर आदर्श मानदण्डों की स्थापना करता है।

सम्मेलन में व्यापक वाद-विवाद के उपरान्त मानदण्ड विकसित किये जाते हैं। इस हेतु तीनों पक्षों की तीनों इकाइयों को पर्याप्त समय दिया जाता है। सामान्तयः मानदण्ड सम्मेलन में विचार विमर्श के उपरान्त स्वीकृत किये जाते हैं, जो कि आने वाले दो वर्षों के लिए होते हैं। विभिन्न विषयों पर स्वीकृत मानदण्ड ही कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों या अनुशंसाओं के रूप में सामने आते हैं। ये कुछ सीमा तक बाध्यकारी होते हैं। समझौते को अनुमोदन उपरान्त सदस्य राष्ट्रों को मानना बाध्यकारी होता है, जबकि अनुशंसायें राष्ट्रों के लिए दिशा निर्देशन होती है।

कार्य एंव जीवन दशाओं में अभिवृद्धि

अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों की स्थापना के साथ ही आइ.एल.ओ. तकनीकी सहयोग भी प्रदान करता है। विभिन्न देशों में विशेषज्ञ भेजकर तकनीकी सहयोग प्रदान किया जाता है तथा जीवन एवं कार्य दशाओं को प्रभावित करने वाले विभिन्न पक्षों पर सेमिनारों एवं विवेचनों के द्वारा भी यह दिया जाता है। इस दिशा में आइ.एल.ओ. बहुत सी गतिविधियां संयुक्त राष्ट्र संघ एवं उसकी अन्य विशेषीकृत एजेन्सियों के सहयोग द्वारा संचालित की जाती है। आइ.एल.ओ. ने कार्य एवं जीवन दशाओं से सम्बन्धित बहुत सी रिपोर्ट तैयार की है। अन्य कार्यक्रमों के संदर्भ में भी सहायता प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए ये कार्यक्रम है- श्रम प्रशासन की स्थापना, श्रम कानूनों एवं नियमों की स्वीकृति आदि।

मानव संसाधनों का विकास

मानव संसाधन विकास के कार्यक्रम मानव शक्ति मूल्यांकन एवं योजना, उत्पादनशील रोजगार का उद्भव एवं विकास मानव सेवायें एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण से सम्बन्धित होते हैं।

(अ) **मानवशक्ति मूल्यांकन एवं योजना :** आई.एल.ओ. ने दो प्रकार के अध्ययन किये हैं। प्रथम, एक अध्ययन का आग्रह मुख्य व्यावसायिक समूह या योग्यता स्तर के अनुरूप मुख्य आर्थिक क्षेत्रों में रोजगार भी वृद्धि तथा उत्पादन वृद्धि के सम्बन्ध को जांचने का रहा है। द्वितीय अध्ययन का सम्बन्ध रोजगार संरचना में एक देश से दूसरे देश में पायी जाने वाली विभिन्नता से होता है। इन विभिन्नताओं को उत्पादन के आंकड़े, सम्बन्धित देश के विकास का स्तर, प्रयोग में लाये जाने वाले उपकरण तथा उत्पादकता से जोड़कर देखा जाता है। ये अध्ययन हमें यह समझने में सहायता प्रदान करते हैं कि रोजगार को प्रभावित करने वाले कौन से कारक हैं साथ ही ये भविष्य के लिए

दिशा निर्देशन भी प्रदान करते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में मानव शक्ति भी आवश्यकताओं की भविष्यवाणी की पद्धतियों का भी अध्ययन किया जाता है।

(ब) **उत्पादनशील रोजगार का उद्भव एवं विकास :** इस क्षेत्र में आई.एल.ओ. की गतिविधियाँ दो स्तरों पर संचालित होती है। प्रथम, विशेषकर विकसित देशों की सामान्य रोजगार नीति पर शोध किया जाता है। द्वितीय का सम्बन्ध ऐसा अध्ययन करता है, जिसका कि सम्बन्ध उत्पादनशील रोजगार के विकास में आने वाली कठिनाइयों को स्पष्टतः परिभाषित करना हो तथा सकारात्मक पक्षों से लाभ लेने के उपयुक्त तरीकों के निर्धारण से है ताकि रोजगार बढ़ाने के लिए उठाये जाने वाले तरीकों की सफलता निश्चित की जा सके। कुछ परियोजनाओं का सम्बन्ध ग्रामीण रोजगार में अभिवृद्धि विकास में युवाओं की सहभागिता, लघु उद्योग एवं हथकरघा, लोकनिर्माण एवं गृहकार्य में उत्पादनशील रोजगार से होता है।

(स) **मानव शक्ति सेवायें :** आई.एल.ओ. अध्ययन संचालित करता है तथा मानव शक्ति सेवाओं के क्षेत्र में तकनीकी सहायता प्रदान करता है। इन सेवाओं में रोजगार एवं व्यावसायिक निर्देशन सेवाओं को ले सकते हैं। इन सेवाओं का विशेष आग्रह असक्षम एवं प्रवासी श्रमिकों जैसे कुछ वर्गों के श्रमिकों पर होता है। व्यावसायिक पुनर्वास से जुड़े मुद्दों पर निरन्तर विचार-विमर्श किया जाता है। जिन देशों को आवश्यकता होती है वहां आइ.एल.ओ. परामर्शदाता एवं विशेषज्ञ भेजता है।

(द) **व्यवसायिक प्रशिक्षण :** इन गतिविधियों में शोध, सूचना गतिविधियाँ तथा तकनीकी सहयोग को लिया जाता है। समन्वय एवं एकीकृत दृष्टिकोण मुख्य आग्रह होता है। मुख्य विचार यह है कि विकासशील देशों में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाये ताकि यहां आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तेजी से आगे बढाया जा सके भूमि एवं अन्य प्राकृतिक स्रोतों का अधिकतम उपयोग करते हुए उद्योगों हेतु वांछनीय रणनीतिक कौशल को प्राप्त किया जाये।

आइ.एल.ओ. ने उन्नत तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र की स्थापना की है। यह केन्द्र विभिन्न श्रेणी के कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रम संचालित करता है। मुख्य रूचि के क्षेत्र प्रशिक्षुता प्रशिक्षण, विकासशील देशों के सामाजिक एवं आर्थिक विकास हेतु कर्मचारी प्रशिक्षण, प्रशिक्षण के लिए संगठनात्मक योजना तथा विशिष्ट उद्योगों के लिए प्रशिक्षण योजनायें रही हैं। व्यवसायिक प्रशिक्षण से सम्बन्धित बहुत सारे प्रकाशन निकाले गये हैं। व्यावसायिक प्रशिक्षण से सम्बन्धित सलाह एवं सहायता प्रदान करने हेतु आइ.एल.ओ. ने विभिन्न देशों में बहुत सारे विशेषज्ञ नियुक्त किये हैं।

सामाजिक संस्थाओं का विकास

सामाजिक संस्थाओं के विकास हेतु आई.एल.ओ. कार्यक्रम के मुख्य क्षेत्र निम्नलिखित रहे हैं:-

(अ) **सामाजिक संस्था विकास पर शोध :** इस संदर्भ में आइ.एल.ओ. ने बहुत सारी परियोजनायें संचालित की हैं। सामान्य सिद्धान्तों एवं पद्धतियों पर आधारित समन्वय एवं संयुक्त कार्य को बढावा देने हेतु बहुत सारे अध्ययन करवाये गये हैं।

(ब) **श्रम कानून एवं श्रम सम्बन्ध :** अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय अध्ययन संचालित करता है तथा सम्मेलनों में विचार विमर्श में सहायता हेतु इन क्षेत्रों में रिपोर्ट तैयार

करता है। साथ ही यह राष्ट्रीय श्रम सम्बन्ध व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। यह आर्थिक एवं सामाजिक विकास में सामाजिक सहभागिता को बढ़ावा देता है। श्रम कानून एवं श्रम सम्बन्धों से सम्बन्धित समस्याओं पर अन्य बैठकों जैसे क्षेत्रीय सम्मेलन, सलाहकारी समितियाँ तथा औद्योगिक समितियाँ में विचार विमर्श किया जाता है।

विशिष्ट श्रम सम्बन्ध समस्याओं एवं व्यवहार से सम्बन्धित व्याख्यान आयोजित करके एवं पाठ्यक्रम संचालित करके इस क्षेत्र में आइ.एल.ओ. ने शैक्षणिक गतिविधियाँ संचालित एवं विकसीत की है। श्रम प्रबन्ध सम्बन्धों में सहायता हेतु सरकारों को सहायता दी जाती है एवं सरकारी अधिकारियों एवं श्रम सम्बन्धों के प्रबन्धकीय स्टाफ तथा प्रबन्ध व्यवहार से जुड़े कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

(स) **श्रम प्रशासन :-** आई.एल.ओ. श्रम प्रशासन की भूमिका एवं श्रम निरीक्षण के संगठन पर अध्ययन संचालित करता है। श्रम प्रशासन के लिए उत्तरदायी राष्ट्रीय श्रम विभागों एवं अन्य सार्वजनिक संस्थाओं से सम्बन्धित प्रस्ताव भी स्वीकार किये गये हैं। जिन देशों को आवश्यकता है, वहां आई.एल.ओ. विशेषज्ञ भेजता है तथा श्रम प्रशासन के क्षेत्र में अधिकारियों को प्रशिक्षण देने में सहायता प्रदान करता है।

(द) **श्रमिक शिक्षा :** इस क्षेत्र में आइ.एल.ओ. की गतिविधियों में विभिन्न विषयों पर अध्ययन सामग्री तैयार करना एवं प्रकाशित करना, सेमीनार आयोजित करना, विशेषज्ञ मिशन भिजवाना, फैलोशिप प्रदान करना, शैक्षणिक परियोजनाओं में तकनीकी एवं सामग्री सम्बन्धित सहभागिता प्रदान करना आदि को लिया जाता है।

(इ) **को-ओपरेटिवज एवं ग्रामीण संस्थायें:** आइ.एल.ओ. देशी एवं जनजातिय जनसंख्या का अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सम्बन्ध जोड़ने एवं सहयोग स्थापित करने का प्रयास करता है। यह घुमक्कड़ जातियों को स्थायी रूप से बसाने में भी भूमिका निभाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थात्मक विकास को बढ़ाने के विशेष प्रयास किये जाते हैं, ताकि विकास प्रक्रिया में कार्यशील जनसंख्या की अधिकतम सहभागिता निश्चित की जा सके। आइ.एल.ओ. को-ओपरेटिवज के विभिन्न पक्षों पर शोधकार्य संचालित करवाता है, सूचनायें एकत्र करता है एवं उसका प्रचार-प्रसार करता है। को-ओपरेटिवज एवं ग्रामीण संस्थाओं पर उपयोगी साहित्य प्रकाशित करता है। आइ.एल.ओ. अन्य अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियो जैसें, एफ.ए.ओ., डब्ल्यू. एच.ओ., युनिसेफ एवं युनेस्को के संयुक्त तत्वाधान में विभिन्न परियोजनाओं का संचालन करता है।

अन्य गतिविधियाँ : आई.एल.ओ. श्रम एवं सामाजिक क्षेत्रों से जुड़े कुछ अन्य मुद्दों से भी जुड़ा होता है। इनमें कुछ इस प्रकार है: अर्थशास्त्र के क्षेत्र में शोध परियोजनायें, सांख्यिकी एवं स्वचालिता, श्रम सांख्यिकी हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का विकास एवं उन्नपन, मानवाधिकारों के सर्वव्यापकीय सम्मान में वृद्धि, मानकों के क्रियान्वयन में सहायता तथा नियमित प्रकाशन मुख्य है।

28.7 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एवं भारत

आइ.एल.ओ. की भारतीय शाखा नई दिल्ली में सन् 1928 में एक निदेशक (श्री वी.के.आर. मेनन) एवं पाँच अन्य अधिकारियों के स्टाफ के साथ स्थापित की गयी थी। इसने एक तरफ सरकार, नियोक्ताओं एवं श्रमिक संगठनों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित किया तो दूसरी तरफ आइ.एल.ओ. से भी इसका निकट का सम्बन्ध रहा है।

यह श्रम सूचनाओं के समाशोधन गृह के रूप में कार्य करता है। श्रम एवं आइ.एल. ओ. की गतिविधियों से सम्बन्धित उपयोगी साहित्य प्रकाशित करता है

28.7.1 श्रम कानूनों पर आइ.एल.ओ. का प्रभाव :

भारत द्वारा बहुत से महत्वपूर्ण अभिसमयों को स्वीकृति प्रदान की गयी है तथा देश के श्रम कानूनों में इन्हें अंगीकार किया गया है। कर्मचारी राज्य बीमा योजना में आइ.एल.ओ. विशेषज्ञों की सलाह काफी महत्वपूर्ण रही है। श्रम घण्टे, वेतन सहित छुट्टियाँ, पेशेगत सुरक्षा एवं स्वास्थ्य, महिलाओं एवं बच्चों के रोजगार से जुड़े श्रम कल्याण के तरीकों से सम्बन्धित अधिनियमों के प्रावधान भी आइ.एल.ओ. अभिसमयों के ही परिणाम रहे हैं। साथ ही कुछ अन्य अधिनियमों के प्रावधान भी विभिन्न अभिसमयों पर ध्यान दिये जाने के कारण सामाजिक प्रगति में योगदान मिला है तथा विभिन्न मतों में एक सहमति बन पायी है।

भारत सरकार का सदस्य रहे सर एन्ड्रूरू क्लाड ने कहा था कि श्रम मुद्दों में लोक रूचि पैदा करने में आइ.एल.ओ. एक महत्वपूर्ण कारक रहा है। उन तरीकों को आगे बढाया है, जो अन्यथा संभव नहीं हो पाते। भारत में श्रम पर रोयल आयोग की रिपोर्ट ने भी भारतीय श्रम सुधारों की प्रगति में आइ.एल.ओ. की उल्लेखनीय भूमिका का उल्लेख किया है। भारतीय श्रम सुधारों में इसकी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही भूमिकायें रही हैं। नियुक्ती भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत के आइ.एल.ओ. के सम्पर्क के फलस्वरूप सकारात्मक लाभ मिले है। देश के श्रम कानूनों में आइ.एल.ओ. का अनजाने ही प्रभाव पड़ रहा है।

अभिसमय में विचार विमर्श के फलस्वरूप बहुत सारी श्रम समस्यायें स्वतः सतह पर आ जाती है। यहाँ तक की अस्वीकृत अभि समय भी निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति कर रही है। बहुत सारी स्थितियों में विश्व के अग्रणी देशों द्वारा अभिसमय की स्वीकृति के फलस्वरूप उसके प्रावधान स्वतः ही व्यवहार में लागू हो जाते हैं चाहे औपचारिक रूप से बहुत से अन्य देशों द्वारा उसे स्वीकृति प्रदान न की गयी हो। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन द्वारा स्वीकृत अभिसमय को व्यवहार का सामान्य स्वीकृत मापदण्ड मान लिया जाता है, जिसे सामाजिक दृष्टि से पीछड़े देश धीरे-धीरे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। अतः बहुत सारी स्थितियों में अभिसमय द्वारा तय किये गये सामाजिक सुधार के मुद्दे राष्ट्रीय कानूनों के माध्यम द्वारा क्रियान्वित होते हैं। उदाहरण के लिए मातृत्व संरक्षण अभिसमय 1919 को ले सकते हैं जिसकी भारत में अभिव्यक्ति बहुत से मातृत्व लाभ विधेयकों में हुयी है।

भारत ने आइ.एल.ओ. द्वारा स्वीकृत 156 अनुशंसाओं में से 34 को स्वीकृति प्रदान की है। इनके अतिरिक्त बहुत सारी अन्य अनुशंसाओं को भी औपचारिक स्वीकृति के बिना भी क्रियान्वित किया गया है। भारत के विधि निर्माण में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन एवं अनुशंसाओं का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही रहा है। कल-कारखाना अधिनियम में प्रगतिशील संशोधन एवं परिवर्तन, 1931 से पहले नये श्रम कानूनों का विकास आई. एल.ओ. कार्य के मुख्य परिणाम रहे हैं। आइ.एल.ओ. अभिसमयों एवं अनुशंसाओं का निम्न पर रहा है:-

फैक्ट्री एवं खान अधिनियिम, जिसका सम्बन्ध श्रम घण्टे, महिलाओं एवं युवा व्यक्तियों के रात्रीकालीन कार्य, साप्ताहिक विश्राम आदि से रहा है। फैक्ट्री अधिनियम 1911 के इन संदर्भों में संशोधित किया गया था।

मानवाधिकारों को बढावा देना

वेतन अधिनियम :- भारत ने 1955 में अभिसमय 26 को स्वीकृति प्रदान की है, जिसका आग्रह न्यूनतम वेतन निर्धारण मशीनरी पर था। कालान्तर में भारत सरकार द्वारा न्यूनतम वेतन अधिनियम 1958 को पारित किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार द्वारा इस संदर्भ में सलाह देने के लिए एक सलाहकार समिति का गठन किया जा सकता है।

नाविकों से सम्बन्धित अधिनियम :

जिन अभिसमयों को भारत द्वारा स्वीकृति प्रदान नहीं की गयी, वे भी इसके श्रम अधिनियम को प्रभावित करती है। भारत ने मातृत्व संरक्षण अभिसमय 1952 को स्वीकृति प्रदान नहीं की, किन्तु फिर भी राज्य स्तर पर महिलाओं के संरक्षण हेतु मातृत्व अधिनियम के तथा अब भारतीय मातृत्व अधिनियम 1961 द्वारा वेतन सहित छुट्टियाँ का लाभ एवं कार्यशील माताओं को नौकरी की सुरक्षा का लाभ प्रदान किया जा रहा है। यद्यपि इस अधिनियम के अन्तर्गत लाभ का जो दायरा दिया गया है, वह उतना व्यापक नहीं है, जितना अभिसमय में है।

एस.एन. ध्यानी ने अपनी पुस्तक आइ.एल.ओ. एण्ड इण्डिया में लिखा है कि आइ.एल.ओ. के मानदण्डों ने भारतीय श्रम कानूनों को प्रभावित किया है। आइ.एल.ओ. अभिसमय विशेषकर 1946 के बाद से भारतीय श्रम कानूनों का आधार रहे है। भारतीय राष्ट्रीय सरकार द्वारा आइ.एल.ओ. मानदण्डों के अनुरूप ही श्रम नीति का खॉका तैयार किया गया है। संविधान की धारा 39, 41, 42 एवं 43 में दिये गये नीति निर्देशक तत्वों द्वारा श्रम के क्षेत्र में नीतिगत उद्देश्यों को प्रदर्शित किया गया है। ये आइ.एल.ओ. संविधान एवं फिलाडेलफिया चार्टर 1944 के काफी अनुरूप है।''

आइ.एल.ओ. की गतिविधियाँ श्रम कानूनों को प्रभावित की है एवं उन्हें सुदृढ़ बनाये है। नियोक्ताओं ने इसके अभिसमयों को ध्यान में रखते हुये कार्यशील जनता के लिए प्रगतिशील कदम उठाये हैं। अतः आइ.एल.ओ. ने भारतीय श्रम अधिनियमों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से बहुत प्रभावित किया है।

28.7.2 श्रमिक-आन्दोलन पर आई.एल.ओ. का प्रभाव

साथ ही आइ.एल.ओ. ने देश में श्रम आन्दोलन को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। आन्दोलन का प्रारम्भ एवं आइ.एल.ओ. श्रमिकों में एकता की भावना पैदा की है एवं उनमें अलगाव की भावना को दूर किया है। इसने श्रमिकों में अपने अधिकारों एवं विशेषधिकारों के प्रति चेतना जागृत की है। यह पत्रिकाओं एवं श्रमिक रिपोर्टों के माध्यम द्वारा श्रमिकों को उपयोगी सूचनायें प्रदान करता है। द्वितीय दशक के प्रारम्भिक वर्षों के विश्व साम्यवाद में श्रमिक संघों के द्वारा भारतीय श्रमिकों को वर्ग संघर्ष हेतु प्रेरित नहीं किया था। इस अवस्था में भारतीय श्रमिक एवं श्रमिक संघ आन्दोलन ने आइ.एल.ओ. से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। श्रमिकों के प्रतिनिधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलनों में भाग लिया एवं इन सम्मेलनों हेतु प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए ही भारत में श्रमिक संघों का प्रारम्भिक परिसंघ अस्तित्व में आया था।

भारत में श्रमिक संघ सेवाओं के क्षेत्र में आइ.एल.ओ. की सेवा में प्राप्त की है तथा आइ.एल.ओ. कार्यक्रम के अन्तर्गत अन्य देशों के श्रमिक संघों ने प्रशिक्षणार्थी भेजे

हैं। आइ.एल.ओ. के बिना भारतीय श्रमिक आन्दोलन इतने अल्प समय में जितना तेजी से प्रगति की है, वह संभव नहीं कर पाता। आइ.एल.ओ. के बिना श्रमिक कानूनों की गति भी धीमी रहती। इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि आइ.एल.ओ. ने मानव श्रम की गरिमा एवं स्वतन्त्रता की गारन्टी इस देश में प्रदान की है, वह बहुत ही उल्लेखनीय है।

28.7.3 आइ.एल.ओ. के कार्य में भारत की हिस्सेदारी

भारत आइ.एल.ओ. के संस्थापक देशों में हैं। आइ.एल.ओ. के विभिन्न निकायों में भारत का योगदान उल्लेखनीय है। भारत आज आइ.एल.ओ. के बहुत ही महत्वपूर्ण देशों में से है। भारत आइ.एल.ओ. के प्रारम्भिक कार्यों से लाभ लेने वाला देश है। भारत सरकार द्वारा आइ.एल.ओ. की सामाजिक प्रगति के प्रयासों में सक्रिय रूचि ली है। भारत में आइ.एल.ओ. के प्रभाव के फलस्वरूप जो सामाजिक कानून रहे, उन्हीं के अनुरूप अन्य संगठनों में भी भारत का सक्रिय योगदान रहा है एवं सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया है। सामाजिक सुरक्षा की विश्व प्रगति से सम्बन्धित आइ.एल.ओ. की वार्षिक रिपोर्टों में भारत का आज काफी उल्लेख होता है।

आइ.एल.ओ. रिपोर्टों के अनुसार इन वर्षों में भारत का श्रम विनिमय, रोजगार नीति, न्यूनतम वेतन, लोककल्याण के कदम, रोजगार नीति, न्यूनतम वेतन, लोककल्याण के कदम, औद्योगिक सुरक्षा कानून, उपभोक्ता सहयोग एवं सहकार सिद्धान्त का विस्तार क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान रहा है। आइ.एल.ओ. उद्देश्यों के संदर्भ में देखा जाये तो सामाजिक प्रगति में भारत का कार्य करने का तरीका काफी उत्साह जनक है तथा सकारात्मक विकास के लिए भारत का अपने देश में एवं पूरे विश्व में प्रशंसा की जानी चाहिये। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता हैं कि आइ.एल.ओ. का प्रभाव भी उल्लेखनीय है।

आइ.एल.ओ. में भारत की भागेदारी निरन्तर अर्थपूर्ण रही है। आइ.एल.ओ. के वार्षिक सम्मेलनों एवं उसकी औद्योगिक समितियों में देश की भागेदारी को प्रभावी बनाने के लिए प्रतिनिधियों को पहले से ही तय कर लिया जाना चाहिये। विषय सूची के बिन्दुओं पर विचार करने के लिए श्रम मंत्री को प्रतिनिधियों एवं विशेषज्ञों की तैयारी से सम्बन्धित एक बैठक बुलानी चाहिये। यह सहभागियों को अपना मत तय करने में सहायता प्रदान करती है, ताकि हमारे प्रतिनिधि तय मत मत को रख सकें। विषयों की जटिलताओं को देखते हुए प्रतिनिधियों की संख्या पर लचीला रूख अपनाना चाहिये। आइ.एल.ओ. के द्वारा अन्य देशों द्वारा जो तकनीकी सहायता ली जाती है, इसी भाँति वह स्वयं भी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को भी सहायता की पेशकश करें। इस द्विपक्षीय सहायता की वर्तमान में जो स्थिति है, उससे भी कहीं अधिक उसका क्षेत्र है। तकनीकी एवं प्रशासनिक कठिनाइयों के फलस्वरूप सरकार द्वारा जिन अभिसमयों को स्वीकृति नहीं मिली है, उन्हें भी समय के साथ-साथ स्वीकृति प्रदान की जाये। मौलिक मानवाधिकारों से सम्बन्धित कुछ अभिसमयों को भारत द्वारा अपनी औपचारिक स्वीकृति से सम्बन्धित धारणा का पुनः मूल्यांकन करना चाहिये। राष्ट्रीय श्रम आयोग के अनुसार आइ.एल.ओ. के साथ लम्बे निकट सहयोग के फलस्वरूप भारत अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को निम्न दिशाओं में पूरा कर रहा है: (i) राष्ट्रीय कार्यों के लिए आइ.एल.ओ. के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को अपनाना (ii) आइ.एल.ओ. कार्यक्रमों में सहयोग (iii) आइ.एल.ओ. मानदण्डों का प्रभावी क्रियान्वयन। भारत ने इन सभी दिशाओं में प्रगति की है तथा इस प्रक्रिया को और गति दी जानी चाहिये।

28.8 आइ.एल.ओ. के कार्य का आंकलन

आइ.एल.ओ. के कार्य के बिना लाखों श्रमिक आज जिस स्थिति में हैं, उससे भी बुरी स्थिति में होते। विगत चार दशकों में स्वतन्त्र हुए राष्ट्रों की बहुत सी सरकारें, नियुक्ति एवं श्रमिक समूह अनुभव एवं सलाह के अभाव में अपने आप को असहाय महसूस करते हैं, किन्तु आइ.एल.ओ. के फलस्वरूप उन्होंने आधुनिक सामाजिक अधिनियमों एवं उन्नत राष्ट्रीय सहयोग के कारण आर्थिक विकास संभव कर पाये हैं। वाणिज्यक क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता जहाँ सामाजिक लाभों की अपेक्षा न्यूनतम लागत एवं कीमत को ज्यादा महत्व दिया जाता है, वहां भी किसी देश की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिरता के लिए सामाजिक प्रगति को भी महत्व दिया जाता है।

आइ.एल.ओ. ने 1969 में अपने 50 वर्ष पूरे किये हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्कालीन महासचिव श्री यू. थान ने कहा था कि वे आश्वस्त थे कि आइ.एल.ओ. सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के लिए सार्वव्यापकता के सिद्धान्त को विस्तृत करने एवं उसे सुदृढ़ बनाने में अपनी भूमिका अदा करेगा। उसने प्रतिनिधियों को कहा "संयुक्त राष्ट्र संघ एवं आइ.एल.ओ. दोनों जानते हैं कि शान्ति के बिना सामाजिक न्याय तथा सामाजिक न्याय बिना शान्ति की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरी ने कहा की" आइ.एल.ओ. कार्यों की आधी शताब्दी ने उल्लेखनीय विकास दर्ज किया है। सम्पूर्ण विश्व, विशेषकर एशिया एवं अफ्रिका में आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों को प्राप्त करने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आइ.एल.ओ. के महत्वपूर्ण कार्यों को ही यह श्रेय जाता है कि इसने विश्व के राष्ट्रों के मध्य चेतना को बढ़ाया है, जिससे वे नजदीक आकर आर्थिक विकास हेतु अपने यहां के श्रमिक वर्ग की जीवन दशाओं को सुधारने के लिए एक सर्वमान्य व्यवहार को स्वीकृति प्रदान की है।" ये टिप्पणियाँ आज के विश्व समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की एजेन्सी के रूप में आइ.एल.ओ. के महत्व को अभिव्यक्त करती है।

आइ.एल.ओ. की शान्ति स्थापना के प्रयासों को उसकी स्थापना के 50वें वर्ष के अवसर पर 1969 में नोबल शान्ति पुरस्कार प्रदान करके, मान्यता प्रदान की गयी।

आई.एल.ओ. अपने सदस्यों तीन तरह की सेवायें प्रदान करता है। प्रथम, यह सामाजिक एवं श्रम सम्बन्धों के क्षेत्र में उद्भव होने वाले बहुआयामीय प्रश्नों के अध्ययन के माध्यम द्वारा एक तथ्य अन्वेषण निकाय के रूप में कार्य करता है। द्वितीय, आइ एल.ओ. का दूसरा कार्य करता है। द्वितीय, आइ.एल.ओ. का दूसरा कार्य इसके पहले कार्य से ही पैदा होता है। जिनेवा स्थित अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय जिन देशों को आवश्यकता होती है, उन देशों को सामाजिक कानूनों एवं संगठन के क्षेत्र में आवश्यक जानकारी, सलाह एवं व्यवहारिक सहायता प्रदान करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। अन्तिम, यह अपने चयनित क्षेत्रों में सामाजिक प्रगति हेतु शान्ति स्थापक का कार्य करता है। यह अपने अभिसमयों एवं अनुशंसाओं के द्वारा सामाजिक न्याय की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को बढ़ाता है।

28.9 सारांश

आइ.एल.ओ. की नीतियाँ एवं कार्यक्रम यह दर्शाते हैं कि यह एक जीवन्त एवं गत्यात्मक संगठन है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम मानदण्डों के निर्धारण द्वारा श्रमिकों के लिए न केवल निष्पक्ष व्यवहार की प्राप्ति का प्रयास करता है बल्कि साथ ही यह अपने सदस्य

राज्यों एवं उनकी जनता की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप निरन्तर रूप से अपने को मोडने का प्रयास करते रहने वाले अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में भी उभरा है। अब यह पूर्ण रोजगार, उत्पादकता, मानवशक्ति मूल्यांकन, रोजगार सूचना, श्रम प्रबन्ध सम्बन्ध, श्रमशोध, पेशेगत सुरक्षा जैसी समस्याओं पर ज्यादा जोर देने लगा है। आइ.एल.ओ. कार्यों का अधिकांश भाग व्यक्तिगत देशों को दी जाने वाली विशेषज्ञ सहायता एवं तकनीकी सहयोग के प्रावधानों द्वारा पूरा हो जाता है। उदाहरण के लिए 1971 के दौरान, लगभग 100 देशों में तकनीकी सहयोग की परियोजनायें संचालित थीं। 930 अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ कार्यरत थे तथा 78 देशों के विशेषज्ञों को 500 अध्ययन शोधवृत्ति प्रदान की गयी थी।

28.10 शब्दावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन — International Labour Organisation
2. संचालक निकाय — Board of Directors

28.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. कौल, एम.एम. : इण्डिया एण्ड दि आइ.एल.ओ., दिल्ली : मेट्रोपोलिटन बुक क., 1956
2. विधानाथन, ए. : आइ.एल.ओ. कन्वेंशन एण्ड इंडिया, कलकत्ता प्रिंटर्स एवं पब्लिशर्स 1975
3. कक्कर, एन.के. : इण्डिया एण्ड दि आइ.एल.ओ. दि स्टेडी ऑफ फिक्टी इयर्स, दिल्ली : सुलतान चन्द एण्ड संस, 1970
4. आइ.एल.ओ. वार्षिक रिपोर्ट

28.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आइ.एल.ओ. के उद्भव को अंकित कीजिये।
2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धों के क्षेत्र में आइ.एल.ओ. द्वारा संचालित कार्यों एवं गतिविधियों का उल्लेख कीजिये।
3. भारत में श्रम सम्बन्धों एवं श्रम कानूनों पर आइ.एल.ओ. का क्या प्रभाव रहा है?

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

श्रम अर्थशास्त्र

MAEC-04 (N)

श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा 5

खण्ड परिचय

श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

श्रम अर्थशास्त्र पर इस खण्ड में कुल 6 इकाइयाँ हैं। इस खण्ड में श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा का विवेचन किया गया है।

इकाई संख्या 29 में श्रम कल्याण की अवधारणा एवं संरचनात्मक ढ़ाँचे की चर्चा की गई है। श्रमिक कल्याण के अनेक सामाजिक लाभ प्राप्त होते हैं। श्रम कल्याण का स्वरूप आन्तरिक एवं बाह्य हो सकता है भारत में विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए उपलब्ध कल्याण योजनाओं की चर्चा भी इस इकाई की विषय वस्तु है। इकाई संख्या 30 में सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक बीमा योजनाओं की विवेचना की गई है। इस इकाई में सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता एवं सामाजिक सुरक्षा में अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। भारत में सामाजिक सुरक्षा योजना में प्राप्त विभिन्न प्रावधानों का उल्लेख इकाई संख्या 31 में किया गया है।

इकाई संख्या 32 में श्रम कल्याण योजनाओं एवं इसके लिए उत्तरदायी सरकार एवं गैर-सरकारी अथवा स्वैच्छिक संस्थाओं की विवेचना की गई है। इकाई संख्या 33 में भारत में महिला एवं बाल श्रम की स्थिति तथा इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा किए प्रयासों की चर्चा की गई है। इस खण्ड की अन्तिम इकाई संख्या 34 में भारत में ग्रामीण श्रम शक्ति की उपलब्धता एवं उनकी विभिन्न समस्याओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई में ग्रामीण गरीबी, बेरोजगारी, बन्धुआ श्रम एवं मजदूरी सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा की गई है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खण्ड-5
श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

	पृष्ठ सं०
इकाई 29 श्रम कल्याण - अवधारणा एवं संरचनात्मक ढ़ाँचा	7-19
इकाई 30 सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सहायता एवं सामाजिक बीमा	20-32
इकाई 31 भारत में सामाजिक सुरक्षा	33-49
इकाई 32 श्रम कल्याण योजनाएं एवं संस्थाएं	50-61
इकाई 33 भारत में महिला एवं बाल श्रम	62-87
इकाई 34 भारत में ग्रामीण श्रम	88-122

इकाई-29

श्रम कल्याण - अवधारणा एवं संरचनात्मक ढ़ांचा

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य

29.1 प्रस्तावना

29.2 श्रमिक कल्याण के सिद्धान्त

29.2.1 आन्तरिक एवं बाह्य कल्याण कार्य

29.3 श्रम कल्याण के प्रति दृष्टिकोण

29.3.1 श्रम कल्याण और मालिकों की भूमिका

29.3.2 श्रम कल्याण में मजदूर संगठनों की भूमिका

29.3.3 केन्द्रीय सरकार की भूमिका

29.3.4 राज्य सरकारों की भूमिका

29.4 सारांश

29.4.1 कानूनी प्रावधान करने की आवश्यकता

29.4.2 श्रम कल्याण के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के कानून

29.4.3 अभ्रक खान और श्रमिक कल्याण कोष

29.4.4 कारखाना अधिनियम 1948 के प्रावधान

29.4.5 खेत, बाग-बगीचा श्रमिक कानून 1951

29.4.6 खान अधिनियम 1952

29.4.7 कच्चा लोहा, धातु, खान श्रमिक कल्याण कर कानून 1961

29.5 सारांश

29.6 शब्दावली

29.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

29.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य श्रम कल्याण की अवधारणा को स्पष्ट करना एवं विभिन्न संगठनों के श्रम कल्याण के प्रति दृष्टिकोण पर संक्षेप में प्रकाश डालना है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में आपका परिचय विभिन्न उद्योगों में श्रम कल्याण योजनाओं के प्रावधानों से भी कराया जाएगा।

श्रम कल्याणकारी योजनाओं का मूल उद्देश्य यह है कि अपने कार्य की दशाओं के प्रति मजदूर का सहयोगी रुख बना रहे। इस प्रकार की योजनाओं को मूलतः तीन बिन्दुओ

पर आधारित किया गया है - आर्थिक (पेंशन, बीमा, स्वास्थ्य और दुर्घटना सेवा); मनोरंजन और सुविधाएँ (चिकित्सा, कानूनी और आर्थिक सलाह, शिक्षा वाचनालय-पुस्तकालय, व अन्य सुविधाएँ)। श्रमिक कल्याण औद्योगिक सम्बन्धों के लिए एक संकल्प के रूप में उभर कर सामने आया है। पश्चिमी देशों ने श्रमिक कल्याण को मजदूरी की सेवाओं का ही अंग मान लिया गया है।

प्रो. किरकाल्डी का मानना है कि - श्रमिक की व्यक्तिगत और पारिवारिक समस्याओं को हल करने में मदद करने, उसके स्वास्थ्य का ध्यान रखने और उसके व्यक्तिगत गुणों और विचारों को प्रकट करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने से औद्योगिक श्रमिक में जो निराशा और अर्न्तद्वन्द्व पनपता है - उसमें कमी आती है और उसके जीवन में रस पैदा होता है। इससे औद्योगिक वातावरण में अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण होता है।[1]

(i) इससे श्रमिक में नैतिक मूल्यों और मापदण्डों का विकास होने से वह औद्योगिक संगठन के प्रति अधिक निष्ठावान बनाता है।

(ii) इससे मजदूर में व्याप्त होने वाले नैराश्य में कमी आने से उसमें काम से अनुपस्थिति रहने में कमी आती है।

(iii) श्रमिक कल्याण से अनेक प्रकार के सामाजिक लाभ प्राप्त होते हैं जैसे - भोजनालय में कम मूल्य पर सन्तुलित भोजन मिलने से श्रमिक के स्वास्थ्य में सुधार होता है, चिकित्सा और मातृत्व सुविधाएँ मिलने से श्रमिक निरोग रहता है, शिशु मृत्यु दर में कमी होती है। शिक्षा से मन स्वस्थ्य बनता है और उसके सोचने का दायरा बढता है। मनोरंजन साधनों से समाज में व्याप्त बुराईयों को कम करने में मदद मिलती है।

(iv) कल्याणकारी कार्यक्रमों से श्रमिकों की भावनाओं पर प्रभाव पड़ता है। इससे औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने में मदद मिलती है। इस प्रकार की योजनाओं का उद्देश्य है - श्रमिक समझ बढ़ाना, उत्तरदायित्व की भावना को बढ़ाना, श्रमिको को आपस में सम्मान पूर्वक रहने की भावना विकसित करना।

(v) वर्तमान में श्रमिक कल्याण मानवीय मूल्यों पर आधारित औद्यगिक प्रशासन का अभिन्न अंग बन चुका है। उससे श्रमिक सामर्थ्यवान बनता है, उसमें स्फूर्ति का संचार होता है, उसके जीवन मूल्यों का विकास होता है - आर्थिक स्थिति सुधरती है।

29.1 प्रस्तावना

श्रमिक कल्याण का विचार एलास्टिक की तरह लचीला है। हर समय में अलग अलग देशों की अलग अलग परिस्थितियाँ होती हैं, उनका सामाजिक जीवन, रहने का स्तर बदलता रहता है। मोटे तौर पर यह कहा जाता है कि श्रमिक कल्याण देश की स्थिति, वहाँ के प्रचलित कानूनों और परिस्थितियों पर आधारित होता है।

पनानडीकर के अनुसार - "श्रमिक कल्याणकार्य उपलब्ध कानूनों के अन्तर्गत मजदूर की न्यूनतम स्थिति, स्वास्थ्य, सुरक्षा और उसकी औद्योगिक दक्षता को बढ़ाने के लिए किए जाते हैं।[2]

आई. एल. ओ. के अनुसार श्रमिक कल्याण के अन्तर्गत अनुकूल वातावरण बनाना, अनेक प्रकार की सुविधाएँ देना, पर्याप्त जलपान गृह, विश्राम गृह, मनोरंजन केन्द्र आवास

1. किरकाल्डी एच. एस. -दी स्प्रिट ऑफ इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स पृ. 77-78
2. पनानडीकर - एस. सी. इण्डस्ट्रियल लेबर इन इण्डिया - पृ. 243.

व्यवस्था और उद्योग तक आने जाने की सुविधा उपलब्ध करवाने आदि को सम्मिलत किया गया है।

श्रमिक कल्याण अनेक प्रकार के हैं। वास्तविकता तो यह है कि समय और परिस्थतियों के अनुसार उनका स्वरूप भी बदलता रहता है। कल्याणकारी योजनाओं के साथ राज्य, मजदूर संगठन, सार्वजनिक और अर्द्ध सार्वजनिक संस्थाएँ भी जुड़ी हुई हैं अतः इन योजनाओं को सिर्फ मालिक तक ही सीमित रखना उचित नहीं माना जा सकता। इन सभी पक्षों की ओर श्रमिक कल्याणकारी योजनाएँ संचालित होती हैं।

भारतीय संदर्भों में नियुक्त की गई कमेटी ने सर्वे कर अपनी रिपोर्ट में कहा है कि -"प्रत्येक ऐसा कार्य जो श्रमिक को वैवाहिक, शारीरिक, नैतिक, आर्थिक व अन्य विकास की ओर ले जाता है उसे श्रमिक कल्याण के अन्दर ही रखा जायेगा। स्थापित किए गए नियमों के अन्तर्गत भले ही ऐसे कार्य मालिक ने किए हों या सामाजिक संस्था या सरकार अपना सार्वजनिक संस्था ने किए हो - सभी इसी दायरे के अन्तर्गत माने जायेंगे।"

एक अध्ययन दल ने ऐसी गतिविधियों को तीन भागों में बांटा है :-

(1) उद्योग के अन्दर ही किए कार्य - जैसे - चिकित्सा सुविधा, पालना गृह, जलपान गृह, पीने का पानी आदि।

(2) बाहर की गई व्यवस्थाएँ जैसे - आन्तिरक और बाह्य मनोरंजन केन्द्र, गृह शिक्षा, हस्य यन्त्रों की सुविधा आदि।

(3) सामाजिक सुरक्षा - औद्योगिक श्रमिकों के हित में किए चहार दीवारी के अन्दर और बाहर किए गए कार्य।

29.2 श्रमिक कल्याण के सिद्धान्त

श्रमिक कल्याण का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि वह श्रमिक की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करता है।

1. विशेष कार्यों में लगे हुए श्रमिकों के लिए विशेष प्रकार के कल्याणकारी कार्यों की आवश्यकता होती है - जैसे खेती बाडी, बाग बगीचों में लगे हुए श्रमिकों को दूरस्थ और एकान्त में रहना पड़ता है। इसके लिए आवास मूलभूत आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सुरक्षात्मक कपड़े भी इनकी प्राथमिकता है। खनिज क्षेत्रों में लगे हुए श्रमिकों के लिए आवास, आने जाने के लिए यातायात, शिक्षा आदि आवश्यकता है। ऐसी फैक्ट्रियों में जहाँ महिलाएँ कार्य करती हों वहाँ पालना गृह और शिशु गृह की आवश्यकता रहती है।

2. कल्याणकारी गतिविधियों को संचालित करने में स्वस्थ भावनाओं का रखना आवश्यक है। कार्यों को करते समय इस बात का भी विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि श्रमिकों का आर्थिक विकास भी होना चाहिए। कार्यों को सम्पादन करने में यदि आन्तिरक जलन या ईर्ष्या झलके या जहाँ श्रमिक संगठनों को हीनता की भावना से देखा जाय तो वहाँ पर कल्याणकारी कार्यों के आगे चलकर सुखद परिणाम नहीं देखे जा सकते।

3. किसी भी प्रकार के श्रमिक कल्याणकारी योजना को क्रियान्वित करने में श्रमिकों का सहगोग होना अति आवश्यक है। जिनमें श्रमिक सहयोग होगा वहाँ उनमें आपस में सहयोग की भावना बढ़ती है तथा उत्तरदायित्व की दृष्टि भी विकसित होती है।

4. कल्याणकारी योजनाओ में सदैव मानवीय भावना रहती है। इसी कारण इन्हें सामाजिक

बन्धन और उपकार के रूप में देखा जाता है। इन्हें क्रियान्वित करने के लिए मालिको पर वैधानिक बन्धन भी रखना आवश्यक है।

5. कल्याणकारी योजनाओं को प्रारम्भ करने के पूर्व उस होने वाले व्यय का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। खर्चों को आंकना कोई मुश्किल कार्य नहीं होता। इसके साथ ही आवश्यकतानुसार धन की पूरी व्यवस्था रहनी चाहिए। जिस प्रकार अन्य योजनाओं पर गणित लगाकर खर्च किया जाता है उसी प्रकार उन भी व्यवस्थित ढंग से खर्च किया जाना चाहिए। ऐसा न करने पर असफलता और निराशा ही हाथ लगेगी तथा व्यवस्थापकों के लिए वह आर्थिक बोझा बन जायेगी। श्रमिकों की अनुपस्थिति, उनकी नैतिकता और निष्ठा के आधार पर इन योजनाओं की सफलता और असफलता का मूल्याकन नही किया जा सकता है। अतः इस प्रकार का सोचना उचित नहीं रहेगा।

29.3.1 आन्तरिक एवं बाह्य कल्याण कार्य :-

डा. ब्रोन गोटन के अनुसार -

फैक्ट्री की दीवारों के अन्दर जो कार्य चलाये जावें वे आंतरिक और जो कार्य बाहर चले वे बाह्य कार्य कहलाते हैं।

इसी प्रकार नौकरी के सम्बन्ध के कल्याणकारी कार्यों को तथा श्रमिकों के रहने की परिस्थिति को दो अलग अलग भागों में बाटा गया है। नौकरी सम्बन्धी कार्य जैसे - कार्य करने के घंटे, वेतन, वेतन सहित अवकाश, विश्राम, सुरक्षा और नौकरी की नियमितता आदि करके नौकरी के अन्तर्गत रखा गया है। दूसरे भाग में आवास और चिकित्सा व्यवस्था, सफाई आदि को माना गया है।

डॉ० पूनेकर ने भी श्रमिक कल्याण को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा है। एक तो वे जिनके लिए कानून व्यवस्था है जैसे सन् 1948 का फैक्ट्री एक्ट, बाग-बगीचों का कानून, खनिज कानून, श्रमिक कल्याण फंड बोनस योजना कानून, और प्रोविडेंट फंड कानून आदि। दूसरे वे जो स्वेच्छा से किए जावें जैसे नीति संस्थाओं द्वारा श्रमिकों के लिए किए जाने वाले जन हितेषी कार्य। इनसे श्रमिकों का मनोबल बढ़ता है।

29.3 श्रम कल्याण के प्रति दृष्टि कोण –

श्रमिक कल्याण के प्रति दृष्टिकोंण कें निम्न छः बिन्दु हैं :—

1. पितृत्व दृष्टि
2. औद्योगिक योग्यता दृष्टि
3. सामाजिक दृष्टि
4. औद्योगिक शान्ति दृष्टि
5. स्थाई श्रमिक शक्ति
6. नीतिगत दृष्टि

(1) पितृत्व दृष्टि

इसके अन्तर्गत श्रमिक को मानवीय भावना से देखा गया है। मालिक और बाहर की संस्थाएँ उनके लिए धार्मिक, नैतिक और अन्य हितेषी कार्यों को सम्पादित करके उनमें सुधार लाने का प्रयास करती हैं। परन्तु श्रमिकों में व्याप्त अनेक अनुचित तथ्यों के कारण इस प्रकार के प्रयासों से बहुत अधिक प्राप्ति नहीं हो सकी है।

(2) औद्योगिक योग्यता दृष्टि

उद्योग में होने वाली प्रतिस्पर्धा और मजदूर संगठनों तथा सरकार द्वारा पड़ने वाले दबाबों

के कारण प्रबन्धकों ने श्रमिकों में सुधार लाने की आवश्यकता महसूस की। ऐसी परिस्थितियों में मालिकों ने और बाहर की संस्थाओं ने श्रमिकों के बीच संवेदनहींनता के स्थान पर आत्मीयता, उनके लिए धार्मिक और मानदण्डों के आधार पर अनेक जनहितेषी कार्य कर नजदीकी सम्बन्ध बनाने के प्रयास किए। चूँकि इस सम्बध में दूरगामी परिणाम लाने के लिए कार्य किए जाते है इस कारण इन्हें गलत कारणों के लिए किए जाने वाले सही कार्य कहा गया है।

(3) सामाजिक दृष्टि कोंण

इस विचार में श्रमिक एक अलग रूप में देखने के स्थान पर उसे मानव के रूप में ही देखा गया है। इस प्रकार के विचारकों का कहना है कि इसके पीछे न तो दूरगामी परिणाम के लिए प्रयास होता है और न ही किसी प्रकार का जनहितेषी कार्य करते है। सामान्य तथा अन्य कल्याणकारी योजनाओं का ही एक अंग श्रमिक कल्याण को स्वीकारा गया है। मजदूर को एक मानव मानते हुए ही उस पर पड़ने वाले आर्थिक बोझों व अनेक प्रकार की उसके जीवन में आने वाली कठिनाईयों को दूर करने कर प्रयास किया जाता है।

(4) औद्योगिक शान्ति दृष्टि

कल्याणकारी योजनाओं में अनेक बार हड़ताली और आन्दोलन कारी मजदूर बाधक बन जाते हैं। प्रबन्धक भी इस प्रकार के संकेत देने लग जाते हैं कि हड़ताल और आन्दोलनों के कारण मजदूरों के इन कार्यों के लाभ नहीं मिल पायेंगे। कल्याणकारी कार्यों से यद्यपि औद्योगिक संस्थान में शान्ति की गारन्टी तो नहीं दी जाएगी परन्तु इसके बावजूद इतना तो निश्चित है कि उससे श्रमिकों में मानसिक सोच बढ़ता है और नैतिक धारणाओं का विकास होता है।

(5) स्थाई श्रमिक शक्ति दृष्टि

इस सोच को रखने वालों का मानना है कि इस प्रकार के कार्यों से प्रबन्धकों में मजदूरों को स्थाईत्व देने की भावाना पनपती है। ऐसी स्थिति में मजदूर में भी कार्य के प्रति आकर्षण बढ़ता है। इस प्रकार के किए गए प्रयास बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अनेक श्रमिक कमेंटियों ने भी अपनी रिपोर्टों में इस प्रकार की कल्याणकारी योजनाओं पर जोर डाला है।

(6) नीतिगत दृष्टि

इसके अन्तर्गत श्रमिक को मात्र उत्पादक न मानकर उसे मानव के रूप में देखा जाता है। इस बात को स्वीकार किया गया है कि आर्थिक सहयोग के बिना प्राप्त सारे अधिकार अधूरे ही रहते हैं। आर्थिक विकास को श्रमिक के लिए यद्यपि महत्वपूर्ण माना गया है परन्तु इस विचार में यह करना है कि उसमें और भी अन्य गुणात्मक सुधार होने चाहिए। बौद्धिक और आत्मिक सुधार वातावरण मिलने पर उसमें सुधार होता है। इससे जीवन में सुखद परिस्थितियां पैदा होती है। एक गरीब देश में यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि श्रमिक का रहन सहन का स्तर बहुत ऊँचा होगा। लेकिन आर्थिक सीमाएँ मानसिक और नैतिक विकास के लिए बाधा नहीं बन सकती। व्यावहारिक जीवन में नीतिगत भावना के बिना कल्याणकारी योजनाओं को विकसित करने में कठिनाई रहती है।

29.3.1 श्रमिक कल्याण और मालिकों की भूमिका

अनेक कार्य ऐसे है जिन्हें पूर्व में मालिकों द्वारा करने का उत्तरदायित्व था। परन्तु अब उन में कुछ कमी आ गई है जैसे - ई. एस. आई. और अन्य सुरक्षात्मक कार्य आदि। जो कार्य मालिकों को करने होते हैं उनमें से कुछ निम्न महत्वपूर्ण हैं —

सर्वप्रथम प्रबन्धक को यह देखना होता है कि श्रमिकों के लिए जितने कानून बनाए गए है

उन्हें वे पूरा कर रहें है या नहीं। कानूनी व्यवस्थाओं को पूरा करने के बाद ही मालिक अन्य कार्यों के बारे में सोच सकता है। बड़े बड़े उद्योगों से यह अपेक्षा की जाती है कि श्रमिकों के हितों के लिए वे उनके अनुकूल योजनाएँ बनावें। लेकिन छोटे मालिकों के सामने इस प्रकार की योजनाएँ चलाना बड़ा कठिन कार्य है। भारत की बड़ी बड़ी सूती मिलों में अनेक प्रकार की श्रमिक कल्याणकारी योजनाएँ चल रही हैं। कहीं कहीं पर 3-4 बड़े उद्योग आपस में मिलकर योजनाएँ चलाते हैं जैसे - मेडिकल कैम्प आदि। ये संस्थान अपने ही उद्योगें के पास या ऐसे स्थानों पर जहाँ अनेक मजदूर समूहों के रूप में रहते हैं - वहाँ पर इस प्रकार की सुविधाएँ जुटाते हैं।

विभिन्न प्रकार के किए गए सर्वेक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि बड़ी बड़ी सूती मिलें, कागज की मिलें, जूट फैक्ट्रियाँ, माचिस फैक्ट्रियाँ, मैगजीन खाने, कोलार स्वर्ण खानें आदि ने आपस में मिलकर अनेक प्रकार की कल्याणकारी योजनाएँ चला रखी हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा, मनोरंजन, अस्पताल और डिस्पेंसरियाँ, अनेक प्रकार की चिकित्सा सुविधाएँ, और खेलकूद प्रतियोगिताएँ आदि आपस में मिलकर समन्वित कर योजनाओं को चला रहे हैं। इन्होंने अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ भी चला रखी हैं।

29.3.2 श्रमिक जन कल्याण में मजदूर संगठनों की भूमिका

भारत में जिन परिस्थितियों में श्रमिक संगठन विकसित हुए हैं उसे देखते हुए इन संगठनों से किसी प्रकार की कल्याणकारी योजनाओं को संचालन करने की अपेक्षा नहीं कर सकते। श्रमिकों की गरीबी और बांहर से किसी प्रकार की मदद की आशा नहीं होंने के कारण इन संगठनो के लिए कल्याणकारी योजनाएँ चलाना सरल नहीं है। लेकिन इसके बावजूद कुछ श्रमिक संगठन ऐसे हैं जिनकी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि वे कल्याणकारी योजनाएँ चला रहे हैं। इनमें अहमदाबाद टैक्सटाइल मजदूर प्रमुख है जिसके द्वारा श्रमिकों के लिए अनेक कार्यक्रम चला रखें हैं। सामान्यताएँ उद्योगों के बाहर सरकारों से ही यह उम्मीद की जाती है कि वे कल्याणकारी योजनाओं के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करें। यद्यपि मजदूर संगठनों से निकट भविष्य में यह आशा नहीं की जा सकती है वे किसी प्रकार के श्रमिक कल्याणकारी योजनाएँ हाथ में ले सकेंगे परन्तु ये संगठन मजदूरों का प्रतिनिधित्व करते हैं इसलिए मजदूरों की समस्याओ को प्रबन्धकों और सरकारी सक्षम अधिकारियों के सामने संगठन के प्रतिनिधि ही प्रस्तुत करते हैं। ऐसी दशा में मजदूर संगठनों का यह दायित्व तो बनता ही है मजदूरों के लिए उपलब्ध योजनाओं के प्रति श्रमिकों को शिक्षित करें तथा ऐसी योजनाएँ बनावें जो कम खर्चीली हों। मजदूर संगठनों से यह अपेक्षा की जाती है कि जिस प्रकार एक स्वामीभक्त कुत्ता अपने मालिक की सुरक्षा और चौकसी करते हैं उसी प्रकार ये संगठन मजदूरों के हितों की निगरानी करें।

29.3.3 केन्द्रीय सरकार की भूमिका

भारत में श्रमिक कल्याण योजनाओं के लिए केन्द्रीय सरकार की भूमिका अप्रत्यक्ष है। मजदूरों की दशाओ का समय समय पर अध्ययन करना और उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार के विशेष कानून बनाने का कार्य केन्द्रीय सरकार का है। सन् 1946 में भारत सरकार ने ही उद्योगों में कल्याणकारी फंड्स स्थापित करने के लिए कानून बनाया था। इस कानून के अन्तर्गत सरकार और श्रमिक दोनों की बराबर की भागीदारी तय की गई। फंड पर सरकारी नियंत्रण रखा गया है। इसी प्रकार और भी समय समय पर फंडों के विकास के लिए सरकार ने व्यवस्था की है।

29.3.4 राज्य सरकारों की भूमिका

श्रमिक कल्याणकारी गतिविधियों के लिए प्रत्यक्ष में राज्य सरकारें ही आधार हैं। इन सरकारों द्वारा अनेक प्रकार के कार्य संचालित होते हैं जैसे - चिकित्सा सुविधा, मनोरंजन केन्द्र,

शैक्षणिक और सांस्कृतिक कार्य, पुस्तकालय और वाचनालय आदि। समय समय पर कवि सम्मेलन, संगीत कार्यक्रम, कांफ्रेंस आदि का प्रायोजन किया जाता है।

सन् 1966 में इस प्रकार के सात केन्द्र आन्ध्र प्रदेश, 11 केन्द्र बिहार, 25केन्द्र मध्यप्रदेश, 33 महाराष्ट्र में चलाए जा रहे थे। इनके अतिरिक्त 72 केन्द्रों का संचालन केन्द्रीय श्रमिक कल्याण बोर्ड के द्वारा संचालन था। लगभग सभी राज्यों और केन्द्रीय शासित प्रदेशों में कल्याणकारी केन्द्र कार्यरत हैं। दिल्ली में भी 10 केन्द्र हैं।

जिन राज्यों में उद्योग वहाँ की सरकारें चला रही हैं वहाँ यह पाया गया है कि कल्याणकारी योजनाएँ अधिक नहीं हैं। कहीं कहीं तो न्यूनतम स्थिति भी नहीं हैं। अतः यह आवश्यकता महसूस की जा रही है कि सार्वजनिक क्षेत्र में चलाए जा रहे उद्योगों के श्रमिकों के लिए इस प्रकार की योजनाओं को गति देने के लिए कानून बनाये जाने चाहिए। राज्य कर्मचारियों के लिए समय समय पर वेतन आयोग बिठाए जाते हैं। द्वितीय वेतन आयोग में यह पाया गया कि उसमें सार्वजनिक उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ बहुत कम थीं। यहाँ तक की पर्याप्त जलपान गृह के लिए भी प्रावधान नही था। अतः ऐसे मजदूरों के लिए कल्याणकारी योजनाओं की अधिक आवश्यकता है।

29.4 भारत में श्रम कल्याण

श्रमिक कल्याणकारी योजनाओं के लिए जितनी आवश्यकता है और इसके लिए जितना व्यय किया जाना चाहिए उतना भारत में व्यय नहा हे रहा है। हमारे यहाँ परिवर्तन की स्थिति चल रही है - अर्थात ग्रामीण और कृषि प्रधान समाज नगर और उद्योग पर आधारित समाज में बदल रहा है। हमारे यहाँ के गरीब मजदूरों की गरीब स्थिति देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्यों द्वारा कल्याणकारी कार्यक्रम चलावे जावें। जहाँ तक मजदूर संगठनों का सम्बन्ध है उनसे इस प्रकार की योजनाओं की अपेक्षा नहीं की जा सकती - क्योंकि न तो उनकी ऐसी आर्थिक स्थिति ही है और न ही उनमें इस प्रकार की रूचि है। उद्योगों के साथ यदि कृषि को भी कल्याणकारी योजनाओं के साथ जोड़ा जाय तो हमें एक बड़े पैमाने पर योजनाएँ प्रारम्भ करनी पड़ेगी।

प्रथम विश्व युद्ध के पहले कल्याणकारी योजनाओं के लिए मुख्य आधार मानवीय और हितेषी था। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान कुछ प्रगतिशील मालिकों ने अपने उद्योगों में मजदूरों को कुछ संविधाएँ उपलब्ध करवाई। इन दिनों में कुछ संस्थाएँ भी ऐसे कार्यों के लिए आगे आईं। प्रबन्धकों ने मजदूरों को संतुष्ट रखने क लिए सुविधाएँ उपलब्ध करवाई। अनुभवों से यह महसूस किया गया कि स्थान और आवश्यकताओं के अनुसार ही सुविधाओं के लिए विचार किया जाना चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए विचारणीय बिन्दु उस पर खर्च की गई राशि और प्राप्त किए गए परिणामों का मूल्यांकन भी है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि ऐसे कार्यों से होने वाले लाभ का मूल्य निकालना बहुत ही मुश्किल कार्य है। किसी देश या किसी उद्योग को इन कार्यों से कितना लाभ हुआ है तय करना सरल कार्य नहीं है। लेकिन इस बात में भी किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि इसके परिणाम दूरगामी होते हैं। आगे चलकर मजदूर के रहन सहन के स्तर और उद्योग के उत्पादन में सुधार होता है। श्रमिक कल्याण के लिए खर्च की जाने वाली राशि का निर्धारण हर वर्ष आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं के आधार पर तय किया जाना चाहिए।

द्वितीय विश्व युद्ध ने कल्याणकारी योजनाओं के लिए बहुत अधिक शक्ति और प्रेरणा दी है। रक्षा सामग्री, हथियार और युद्ध सामग्री का उत्पादन बढ़ाने के लिए इस प्रकार की फैक्ट्रियों में अनेक प्रकार की योजनाओं को क्रियान्वित किया गया। केन्द्रीय सरकार ने श्रमिक कल्याण

सलाहकार, सहायक सलाहकार और कल्याण अधिकारियों की नियुक्तियाँ की। कल्याणकारी योजनाओं को कानूनी स्वरूप दिया गया। कोयले की खानों में श्रमिकों के लिए कल्याण फंड की स्थापना सन् 1940 में की गई। इन्हीं दिनों उद्योग मालिकों को भी श्रमिकों को सुविधाएँ देने को प्रेरित किया गया।

29.4.1 कानूनी प्रावधान करने की आवश्यकता

केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोग मालिकों के प्रेरित करने के बाबजूद अनेक मालिकों ने श्रमिक कल्याणकारी योजनाओं की आवश्यकताओं को समझने की कोशिश नहीं की। इस प्रकार की स्थिति के कारण ही सरकार को प्रबन्धकों पर कानून व्यवस्था करनी पड़ी है। जहाँ तक मालिकों का प्रश्न है सामाजिक मूल्यों को देखते हुए उन्हें ऐसी योजनाओं पर कुछ न कुछ खर्च करना ही चाहिए। इसके अलावा राज्य सरकार द्वारा की जाने वाली गतिविधियों का विस्तार हो रहा हो तो उन्हें भी हिस्सेदारी स्वतः ही लेनी चाहिए। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन कार्यों के लिए राज्य सरकार के पास भी आर्थिक साधनों की कमी है। कानूनी आवश्यकताओं को निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है :—

1. कुछ सुविधाएँ तो ऐसी है जिनके लिए उद्योग के आकार या उसमे कार्य करने वालो की संख्या पर ध्यान न देते हुए करना आवश्यक है जैसे - कपड़ों की धुलाई, पीने का पानी, मूत्रालय और शौचालय।
2. कुछ सुविधाएँ ऐसी है जिन्हें श्रमिकों की संख्या देखकर दी जाती हैं जैसे - जलपान गृह, पालना गृह, विश्राम गृह आदि। अलग अलग उद्योंगो में लगे श्रमिकों के लिए उनकी स्थिति को देखते हुए व्यवस्था की गई है। फैक्ट्री कानून इस ढ़ंग से बनाए गए है कि कुछ तो 10 मजदूरों पर ही लागू होते हैं तो कुछ 20 पर लागू होते हैं तो कुछ 20 से ऊपर पर लगाए जाते हैं। पावर पर और बिना पावर कार्य करने वालों की स्थिति भी अपने ढ़ंग से है। बाग बगीचों में कार्य करने वालों में उनकी संख्या और क्षेत्र को देख कर कानून बनाये गए हैं।

29.4.2 श्रम कल्याण के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के कानून –

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के कानून निम्न रूप में वर्णित है :-

(अ) कोयलाखान श्रमिक कल्याण फंड आर्डिनेंस 1944 (बाद में इसके स्थान पर सन् 1947 का एक्ट बना)

कोयला खानों में कार्य करने वाले मजदूरों की खतरनाक परिस्थितियों को देखते हुए सन् 1944 में श्रमिक कल्याण कानून बनाया गया। इस कानून के अन्तर्गत मजदूरों के लिए मकान, पानी, शिक्षा चिकित्सा और आने जाने के लिए यातायात की सुविधा प्रदान की गई है।

सन् 1947 में सन् 1944 के कानून के स्थान पर कोयला खान श्रमिक कल्याण फंड एक्ट बनाया गया। इस कानून के अन्तर्गत मूलभूत सुविधाएँ जैसे पीने का पानी, आने जाने के लिए यातायात के साधन आदि को उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी प्रबन्धकों पर रखी गई है। इसी के अन्तर्गत मकानों की व्यवस्था के लिए हाऊसिंग बार्ड का प्रावधान किया गया। फंड के दायरे में ही अनेक अस्पताल, डिस्पैंसरियां,चल चिकित्सालय, मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्र चलाये जा रहे हैं। मजदूरों के बच्चों के लिए सामान्य और तकनीकी शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियों का प्रावधान किया गया है। किसी मजदूर के गम्भीर रूप से घायल हो जाने पर, विकलांग हो जाने पर या उसकी मृत्यु होंने की स्थिति में आर्थिक सहयोग की व्यवस्था रखी गई है। धनवाद, आसन

सोल, और महेन्द्रगढ़ में उनकी स्थिति को देखते हुए विशेष रूप से अच्छे साधन युक्त अस्पताल खोले गए हैं। इन विशेष अस्पतालों के अतिरिक्त अनेक आयुर्वेदिक और एलोपैथिक डिस्पैंसरियां चलाई जा रही हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिको के लिए सामाजिक कल्याण हेतु अनेक प्रकार की प्रवृतियां संचालित की गई हैं। इन प्रवृतियों में अनेक केन्द्र है। मजदूरों के लिए सहकारी संस्थाएँ कार्यरत हैं।

इस कोष को केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया है। इसके संचालन के लिए केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में एक सलाहकार समिति बनाई गई है। इस समिति में केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों के साथ ही मजदूरों के प्रतिनिधि भी रखे गए हैं। इनके अतिरिक्त एक महिला प्रतिनिधि का स्थान भी अनिवार्य रूप से रखा गया है। कोयला खान श्रमिक आयुक्त को इस कोष का प्रमुख बनाया गया है।

29.4.3 अभ्रक खान और श्रमिक कल्याण कोष

अभ्रक खान श्रमिक कोष की स्थापना सन् 1946 में की गई। इस कोष के लिए सभी अभ्रक निर्यातकों पर कर लगाया गया। सन् 1970 प्रारम्भिक दिनों में 2½% दर से कर लगाया था और यह भी तय कर दिया गया था कि इस दर को आगे चलकर बढ़ाया जा सकेगा परन्तु 6¼% तक ही बढ़ानें का प्रावधान किया गया। इससे अधिक कर नहीं लगाया जा सकेगा। इस कोष के द्वारा मजदूरों के सफाई, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कपड़ों की धुलाई, खानों तक जाने आने के लिए यातायात व्यवस्था की गई है प्रत्येक ऐसे राज्य में जहाँ अभ्रक निर्यातक हैं एक सलाहकार समिति रहेगी। यह समिति राज्य में संचालित कल्याणकारी योजनाओं को देखेगी और आवश्यकतानुसार आर्थिक वं अन्य सहयोग अभ्रक मालिकों को प्रदान कर गति देगी। अभ्रक उत्पादन राज्य जैसे राजस्थान, बिहार और आन्ध्रप्रदेश आदि में ऐसी समितियाँ कार्य कर रहीं हैं। सन् 1973 में इस कोष के अन्तर्गत पाँच बड़े अस्पताल सभी प्रकार के साधनों से युक्त तथा अनेक डिसपैसरियां, चल चिकित्सालय,, मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्र आदि बड़ी संख्या में चल रहे थे। इसके साथ ही अनेक प्रवृतियाँ जैसे स्कूल, चल सिनेमा, मजदूरों के बच्चों के लिए दिन में दूध, जलपान और स्टेशनरी आदि की व्यवस्था चल रही है। आन्ध्र प्रदेश में दो हाई स्कूलें और दो महिला केन्द्र चल रहें हैं। सभी प्रकार की हर क्षेत्र में चल रही गतिविधियों का समन्वय रखने के लिए एक त्रिमुखी केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गई है।

29.4.4 कारखाना अधिनियम के 1948 के प्रावधान

सन् 1947 में बनाये गए फैक्ट्री कानून में संसोधन कर उसके स्थान पर सन् 1848 में एक विस्तृत और एकीकृत कानून बनाया गया। इसमें निम्न प्रावधान किए गए हैं :—

(1) जहाँ पर 150 मजदूर कार्य कर रहें हों वहाँ आवश्यक वस्तुओं के साथ प्राथमिकता चिकित्सा बक्सा हर समय तैयार रहना चाहिए।

(2) जहाँ पर 150 से अधिक श्रमिक कार्य कर रहें हो। वहाँ पर रक्षा स्थल, विश्राम और भोजन हेतु कमरों की व्यवस्था की जानी है।

(3) जिस फैक्ट्री में 250 से अधिक मजदूर कार्य करते हों वहाँ आवश्यकतानुसार कम से कम एक केन्टीन तो होनी चाहिए। श्रमिक कल्याणकारी गतिविधियों को ठीक से चलानें के लिए श्रमिक कल्याण अधिकारी रखने का प्रावधान किया गया है। इस अधिकारी के लिए योग्यता, कर्त्तव्य और नौकरी की शर्तें आदि राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाय। यह भी देखने में आया है कि कुछ प्रगतिशील मालिकों को छोड़कर सामान्यतया मालिकों ने ऐसी व्यवस्था नहीं की। इस स्थिति को देखवर इस कानून में न सुविधाओं को लागू किया

गया है अथवा नहीं समय समय पर जांचने हेतु व्यवस्था की गई है। कुछ स्थानों पर यह भी अनुभव में आया है कि निरीक्षण करने वाले व्यक्तियों ने भी अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं किया। अनेक स्थानों पर यह भी सामने आया कि इस प्रकार की व्यवस्था पर होने वाले खर्चे के बोझ से बचने के लिए मालिकों ने उचित व्यवस्था नहीं की। वहाँ पर जब निरीक्षण करने व्यक्ति गए तो उनेक साथ सहयोग करने के स्थान पर आक्रोश प्रकट किया। इस कानून में निम्न सुविधाएँ रखने के लिए कहा गया है :—

1 नहाने-धोने की सुविधाएँ

जिन फैक्ट्रियों का ऐसा कार्य हो जिससे हाथ-पाँव धोन और स्नान की आवश्यकता हो वहाँ पर मालिकों को पानी और अन्य सामग्री की व्यवस्था करनी होगी। यह व्यवस्था ऐसे स्थान पर रहनी चाहिए जहाँ मतदूर आसानी से उपयोग कर सकें। भीड़-भाड़ वाले क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों और जहाँ इस प्रकार की न्यूनतम आवश्कता भी नहीं हो। वहाँ श्रमिकों के स्वयस्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। चमड़ा पकाने वाले तथा चमड़े सामान बनाने वाली फैक्ट्रियों में साधारणतया इस प्रकार की व्यवस्था नहीं मिली। परन्तु सीमेन्ट, सूती कपड़ा मिलों, और चीनी मिलों में इस प्रकार की अच्छी व्यवस्था पाई गई है।

2 जलपान गृह

मजदूरों के कष्टों को कम करने, समय बचाने और स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए इस कानून में कम कीमत पर अच्छे स्तर की सामग्री से तैयार संतुलित भोजन व अन्य भोज्य सामग्री के लिए जलपान गृहों की व्यवस्था करने का प्रावधान किया गया है। समय समय पर नमूनों के तौर पर किए गए सर्वेक्षणों और शोधकर्त्ताओं की रिपोर्टों से यह जनकारी मिलती है कि मालिकों ने इस ओर उचित व्यवस्था नहीं की है। कहीं कहीं पर तो ठेकेदार के भरोसे ही सब कुछ छोड दिया गया है। सीमेंट फैक्ट्रियों में ऐसी व्यवस्था शत प्रतिशत की गई है और यहाँ के जलपान गृहों का संचालन भी मालिकों द्वारा किया जा रहा है। चीनी मिलों में भी ठेकेदारों द्वारा ऐसी व्यवस्था रखी गई है।

3 बैठने और विश्राम के लिए कमरों की सुविधाएँ

ऐसी फैक्ट्रियों में जहाँ खड़े खड़े कार्य करना पड़ता है - वहाँ कार्य करने वालों को सुविधा देने के लिए बैठने की व्यवस्था रखने का प्रावधान किया गया है। अधिकांश सीमेंट मिलों में ऐसी व्यवस्था की गई है। काच और चीनी मिलों में इसी प्रकार की व्यवस्था बनाई गई है। कार्य समय मजदूरों में शक्ति का जो ह्रास होता है उसे बनाये रखने के लिए उनके विश्राम हेतु कमरों की व्यवस्था का प्रावधान कानून में रखा गया है। इस प्रकार की व्यवस्था के साथ यह अपेक्षा की गई है कि ऐसे कमरे साफ सुथरे, हवादार, और रोशनी युक्त हों। सर्वेक्षणों से यह प्रकट हुआ है कि अधिकांश फैक्ट्रियों जैसे सूती कपड़ा मिलों, चमड़ा उद्योगों, चीनी मिलों और प्रिंटिग प्रेसों आदि में ऐसी मूल भूत सुविधाएँ उपलब्ध नहीं है।

4 पालना गृह

इस कानून के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि जिन उद्योगों में महिलाएँ कार्य करती हैं वहाँ पर उनके बच्चों के लिए पालना गृहों की व्यवस्था रखी जाय। भारत में किए गए एक अध्ययन से जानकारी मिलती है कि अधिकांश उद्योगों में ऐसी व्यवस्था नहीं है। जहाँ है भी वहाँ समुचित व्यवस्था नहीं है। बीड़ी उद्योग में तो साधारणतया अधिकांश संख्या महिलाओं की ही होती है परन्तु यहाँ पर भी ऐसी मूल भूत सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

5 चिकित्सा

इस कानून के अन्तर्गत समुचित चिकित्सा व्यवस्था करने हेतु कहा गया है। अतः इसके अन्तर्गत अधिकांश फैक्ट्रियों में बड़े बड़े अस्पताल, डिस्पेंसरियाँ मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों की व्यवस्था की गई है। सूती कपड़ा, ऊनी कपड़ा मिलों में अस्पताल और डिस्पेंसरियों की अच्छी व्यवस्था पाई गई है। जूट मिलों में भी भारतीय भारतीय जूट मिल संघ के द्वारा समुचित व्यवस्था की गई है। प्राथमिक चिकित्सा बाक्स तो हर स्थान पर उपलब्ध है।

6 शिक्षा और मनोरंजन की सुविधाएँ

इस कानून के अन्तर्गत जागरूक और प्रगतिशील मालिकों ने अपने यहाँ शिक्षा और मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के कार्य किए हैं। कुछ प्रतिष्ठित उद्योगों ने तो अपनी ओर से न केवल हाई स्कूल ही चला रखे हैं बल्कि कालेज चला रखे हैं। श्रमिकों के बच्चों के लिए सामान्य और तकनीकि लिए छात्र वृत्तिया। दी जा रही हैं। मजदूरों के लिए पुस्तकालय और वाचनालयों को चलाया गया है। इससे बौद्धिक विकास के सुखद परिणाम देखे गए हैं। मजदूरों में एक ही प्रकार का निरन्तर कार्य करने से उनमें शिथिलता आ जाती है। उन्हें उत्साहित रखने के लिए मनोरंजन कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। बड़े बड़े उद्योगों में अनेक प्रकार के सामाजिक और कल्याणकारी कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। कुछ बड़े उद्योगों जैसे - टाटा समूह और बड़ी बड़ी सूती मिलों ने आपस में समन्वय बिठा रखा है। उनके द्वारा सम्मिलत खेल कूद व अन्य प्रतियोगिताएँ सम्मिलित रूप से आयोजित होती रहती हैं। इससे मजदूरों का आपस में मिलना जुलना होता रहता है। आपसी भाई चारा भी ऐसे कार्यक्रमों से बढ़ता है।

7 सहकारी भण्डारों की सुविधा

सन् 1962 में आयोजित भारतीय मजदूर कांफ्रेंस ने यह सुझाव दिया कि जिस फैक्ट्री में 300 या इससे अधिक मजदूर कार्य करते हों वहाँ पर सहकारी समिति द्वारा उपभोक्ता भण्डार बनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त मालिक की ओर से उचित पर की दुकानें खोलनीं चाहिएं। लेकिन इस दृष्टि से अधिक प्रगति नहीं हो पाई है। कुछ ही फक्ट्रियों में ऐसी व्यवस्था है।

29.4.5 खेत, बाग-बगीचा श्रमिक कानून सन् 1951

इस कानून के अन्तर्गत जिन खेत, बाग-बगीचों में 150 से अधिक मजदूर कार्य करते हों वहाँ पर मूल भूत सुविधाओं में पीने का पानी, सुरक्षात्मक कपड़े, कम्बलें, बरसाती कोट और छातों की व्यवस्था करना मालिकों के लिए अवश्यक कर दिया गया है इसके अतिरिक्त जहाँ 50 से अधिक महिलाएँ कार्यरत हों वहाँ पर छः वर्ष से कम बच्चों के लिए शिशु गृह रखने के लिए प्रावधान किया गया है। श्रमिकों के लिए मकान और शिक्षा का इन्तजाम करने का उत्तरदायित्व मालिकों पर रखा गया। 25 से अधिक बच्चे होने पर वहाँ बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा रखनी होगी। 300 से अधिक मजदूर होने पर श्रमिक कल्याण अधिकारी रखना अनिवार्य किया गया है। कानून व्यवस्था करने के बाबजूद इस क्षेत्र में किसी प्रकार की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ नहीं हो पाई है। चाय बगीचों में सिर्फ 5% हाथ पाँव धोने की व्यवस्था देखी गई है। सन् 1961-62 में चाय बगीचों में सिर्फ 15.8 प्रतिशत जलपान गृहों की व्यवस्था थी।

1 शिक्षा और मनोरंजन सुविधाएँ

आसाम और कर्नाटक के अधिकांश भूसम्पत्ति के मालिकों द्वारा स्कूलें संचालित की गई थीं। आगे चलकर ये स्कूलें राजकीय स्कूलों में बदल गई। बोर्ड द्वारा श्रमिकों के बच्चों के लिए उच्च शिक्षा की सुविधा दी गई है। आसाम और केरल में सरकारी सहायता से श्रमिक कल्याण केन्द्र और मनोरंजन गतिविधियाँ चलाई जा रहीं हैं। आसाम में जिन स्थानों पर 50 से अधिक श्रमिक महिलाएँ कार्य करती हैं वहाँ पर अनुग्रायी शिशु गृह चलाए जाते हैं। इन शिशु गृहों में

बच्चों की देखभाल के लिए डॉक्टरों और नर्सों को रखा गया है। बच्चों के लिए खाने पीने की सामग्री तथा दूध की व्यवस्था रखी है। आसाम, बिहार और तमिलनाडु के बाग-बगीचों मालिकों ने अनेक अस्पताल और डिस्पेंसरियाँ चला रखी हैं।

29.4.6 खान अधिनियम 1952

इसके अन्तर्गत श्रमिकों के लिए पीने का पानी, विश्राम हेतु कमरे, जलपान गृह और मजदूरों के लिए स्वास्थ्य रक्षा के लिए चिकित्सा सुविधाएँ और कल्याणकारी अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है। 500 से अधिक मजदूरों पर एक योग्य डॉक्ट रखना होगा। 150 मजदूरों सुरक्षा कमरे तथा 250 मजदूरों पर जलपान गृह की सुबिधा उपलब्ध करवाना आवश्यक रखा गया।

कुछ खानों में मूत्रालय और शौचालय बनाये तो गए हैं परन्तु उनका रख रखाव ठीक नहीं है। छोटी खानों में तो अत्यन्त आवश्यक मूल भूत सुविधाएँ तक नहीं हैं। अधिकांश खानों में एम्बूलेंस की बाध्यता होने के बाबजूद भी नहीं रखी गई हैं।

29.4.7 कच्चा लोहा, धातु, खान श्रमिक कल्याण कर कानून सन् 1961 -

कच्चा लोहा खानों में श्रमिकों के लिए सुविधाएँ जुटाने के लिए कर लगाया गया है। स्वास्थ्य, शिक्षा, पानी, धुलाई, सफाई, मनोरंजन, मकान आदि की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए उत्पादित लोहे पर प्रति मेट्रिक टन पर 50 पैसा कर निर्धारित किया गया है। लोह उत्पादन करने वाले राज्यों में फ़ण्ड के उपयोग हेतु सलाहकार समितियों का गठन करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दिया गया है। इसमें यह भी तय किया गया है कि एक राज्य में एक से ज्यादा सलाहकार समितियाँ नहीं होंगी। इस फण्ड से सन् 1967 में एक छोटा अस्पताल और दो रोगी वाहनों में चल चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध हो गई है।

उपर्युक्त कानूनों के अतिरिक्त और भी अनेक कानून समय समय पर बनाये गए है। जैसे - बन्दरगाह श्रमिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण योजना सन् 1961 (डोक वर्कर्स सेफ्टी एण्ड वेलफेयर स्कीम 1961), व्यापारी जहाज (मर्चेन्ट शिपिंग) क़ानून, मोटर यातायात श्रमिक कानून सन् 1961 और बीड़ी तथा सिगार श्रमिक कानून सन 1966 आदि। डोक वर्कर्स कानून बन्दरगाहों पर कार्य करने वाले मजदूरों के लिए हैं। डोक लेबर बोर्ड द्वारा ऐसे मजदूरों के लिए श्रमिक कल्याण फण्ड बनाया गया है। मर्चेन्ट शिपिंग एक्ट मं व्यावसायिक जहाजो के साथ समुन्द्र में कार्य करने वाले मजदूरों के लिए व्यवस्था है। मोटर ट्रांस्पोर्ट एक्ट उन सभी मालिकों पर लागू होता है जिनके यहाँ 5 या इससे अधिक मजदूर कार्य करते हैं। बीड़ी और सिगार एक्ट में मजदूरों के लिए स्वच्छता, रोशनदान, कमरों में भीड़ न हो, पीने का पानी, मूत्रालय और शौचालय आदि सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है।

कल्याणकारी योजनाओ के लिए सिद्धान्तों, प्रतिनिधि संस्थाओं और आर्थिक सहयोग करने वाले कार्यों को देखते हुए यह सामने आया है कि बढ़ती हुई समस्याओं में औद्योगिक मूलधन की वृद्धि भी एक समस्या हैं। यद्यपि कल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित करने में कुछ सीमाएँ और कमजोरियां हैं परन्तु इन सब के बाबजुद इन कानूनों के द्वारा श्रमिकों को अनेक लाभ मिले है। बड़े औद्योगिक संस्थानों में इस ओर अच्छी प्रगति हुई है। बड़े बड़े नगरों की बस्तियों में रहने वाले तथा गन्दी बस्तियों में रहने वाले श्रमिकों पर हर दृष्टि से प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं अतः इनकी गिरती हुई दशा पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें नागरिक संस्कारों की भी कमी देखी गई है। अफीम और नशीली वस्तुओं के उपयोग से इन्होंने स्वयं ही अपनी स्थिति को अधिक शोचनीय बना ली है। अतः श्रमिक कल्याणकारी योजनाओं का विस्तार

इस प्रकार के क्षेत्रों तक करने की आवश्यकता है। मजदूरों के जीवन में जड़ जमाई हुई बुरी आदत जैसे - जुआ, शराब और अन्य बुराईयों को मिटाने के लिए सामाजिक और कानूनन दोनों ही ओर से जितना भी किया जा सके उनके कल्याण हेतु करना ही चाहिए। यह स्थिति बुहत ही गम्भीर है यह स्थिति तभी सुधारी जा सकती है जब राज्य, मालिक वर्ग, मजदूर संगठन और स्वयं मजदूर अपनी जिम्मेदारी को समझकर निष्ठा और दृढ़ता से कल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित करें।

29.5 सारांश

श्रम कल्याण योजनाओं का उद्देश्य कारखानों के अन्दर व बाहर कार्य की दशाओं को श्रेष्ठ बनाना है जिससे देश के औद्योगिक वातावरण में सुधार हो एवं तेजी से विकास हो सके। श्रम कल्याण के प्रति विभिन्न संघटको-सरकार, मजदूर संघ तथा मालिको के दृष्टिगोण में भिन्नता पाई जाती है। भारत में विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की आवश्यकताओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न कानून बनाए गये हैं।

29.6 शब्दावली

आन्तरिक श्रम कल्याण (Internal Labour Welfare) :- ऐसे कार्य जो कारखाने के अन्दर आवश्यक श्रम कल्याण संम्बन्धी प्रावधान करते है।

बाह्य श्रम कल्याण (Extesnal Labour Welfare) :- इसमें कारखाने के बाहर किए जाने वाले कल्याण कार्यों को सम्मिलित किया जाता है।

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वाई. वी. सिंह (सम्पादित) इण्डस्ट्रियल लेबर इन इण्डिया -
2. डले योदेर एण्ड एच. सी. हेनेन लेबर इकॉनामिक्स एण्ड इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स -
3. ले. रिचार्ड ए लेसरेओ इकॉनामिक्स ऑफ लेबर -
4. ले. डा. जे. एन. मोग्या रिडिंग्ज इन इण्डियन लेबर एण्ड सोशियल वेलफ़ेयर,,
5. ले. वी. वी. गिरि लेबर प्राबलेम्स इन इण्डियान इण्डस्ट्री,

इकाई-30

सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सहायता एवं सामाजिक बीमा

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य

30.1 प्रस्तावना

30.2 सामाजिक सुरक्षा

30.2.1 सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय

30.2.2 सामाजिक सुरक्षा का विकास एवं उद्भव

30.3 सामाजिक सुरक्षा के प्रकार

30.3.1 सामाजिक बीमा

30.3.2 सामाजिक सहायता

30.3.3 लोक सेवा

30.4 सामाजिक बीमा के लाभ

30.5 सामाजिक सुरक्षा के माप

30.6 सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र

30.7 सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों का मूल्यांकन

30.8 सारांश

30.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

30.10 निबन्धात्मक प्रश्न

33.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि :

- सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सहायता एवं सामाजिक बीमा के रूप में दी जाने वाली सुविधाएं श्रम कल्याण का ही अंग है।
- आप जान जाएंगे कि सामाजिक बीमा के क्या लाभ है?
- सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत श्रमिकों को क्या सुविधाएं प्राप्त है।

30.1 प्रस्तावना :-

"श्रम कल्याण" शब्द के अनेक अर्थ एवं निहितार्थ हैं। इससे मानव संसाधन के कल्याण, स्वास्थ्य, सुख, समृद्धि तथा विकास की अवस्था का पता चलता है। यह शब्द लोचपूर्ग है तथा समय, क्षेत्र, उद्योग, देश, सामाजिक, मूल्यों एवं प्रथाओं, औद्योगीकरण की मात्रा, लोगों के

सामाजिक आर्थिक विकास तथा किसी विशेष समय पर विद्यमान राजनीतिक विचार धारा के साथ इस शब्द के अर्थ बदल जाते हैं। शाही श्रम आयोग के अनुसार, "औद्योगकि श्रमिकों पर लागू होने वाले "कल्याण शब्द" के निहितार्थ आवश्यक रूप से एक देश से दूसरे देश में भिन्न होते हैं तथा इसके अर्थ भिन्न सामाजिक प्रथाओं, औद्योगीकरण की मात्रा तथा श्रमिकों के शैक्षणिक विकास के साथ-साथ लोचपूर्ण होते हैं।"

श्रम कल्याण शब्द के साथ नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही पक्ष जुड़े हुए हैं। सकारात्मक पक्ष से लेने पर इसे अवसरों की उपलब्धता का पता चलता है। जिसे श्रमिक एवं उसका परिवार सामाजिक एवं व्यक्तिगत रूप से बेहतर जीवन की ओर अग्रसर होता है साथ ही अपने कार्य-जीवन, पारिवारिक जीवन तथा सामाजिक जीवन-काल में उसे बेहतर तरीके से समायोजिक होने में मदद मिलती है। नकारात्मक पक्ष से देखने पर इससे वृहत पैमाने के औद्योगीकरण के लाभ दायक प्रभाव समाप्त हो जाते हैं तथा अवांछित सामाजिक परिणाम तथा श्रम समस्याएं उत्पन्न होती हैं। जो संक्रमण की इस प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं।

औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण के विकास के साथ इसका महत्व बढ़ गया है। उद्योग तथा कृषि दोनो में श्रमिक न्यूनतम सुविधाओं के बिना आधुनिक जीवन की गति के साथ सामंजस्य ही स्थापित कर सकता। शरीर और आत्मा को एक साथ रखने के लिए उसे अतिरिक्त उद्दीपन की आवश्यकता होती हैं। इन अतिरिक्त सुविधाओं को प्रदान करने में नियोक्ता भी अपनी भूमिका के महत्व को समझने लगे हैं। आज कल्याण को नियोक्ताओं द्वारा स्वीकारा जाता है। राज्य केवल उसे लागू करने के क्षेत्र का विस्तार करने म अपना हस्तक्षेप करता है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि यह सामाजिक अधिकार है। 1969 में गठित श्रम कल्याण आयोग के अनुसार, जिसका अर्थ श्रम कल्याण योजनाओं की समीक्षा करना था। "श्रम उन दशाओं को सुधारने में योगदान करता है जिसके अन्तर्गत भारत में श्रमिक कार्य करते हैं।"

सामाजिक विज्ञानों के विश्वकोष ने श्रम कल्याण कार्य को इस प्रकार परिभाषित किया है "यह वर्तमान औद्योगिक, व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों की ऐसी कार्यकारी एवं जीवन एवं सांस्कृतिक दशा को नियोक्ताओं द्वारा स्थापित करने का स्वेच्छिक प्रयास है, जो देश के कानून एवं प्रथाओं तथा बाजार दशाओ से परे है।"

श्रम कल्याण समिति ने श्रम कल्याण के अन्तर्गत जो भी श्रमिको के बौद्धिक शारीरिक, नैतिक व आर्थिक कल्याण के लिए कार्य किया गया है। वह नियोजनों द्वारा किया गया हो, चाहे सरकार या अन्य संगठनों द्वारा किया गया हो या कानून के अन्तर्गत या बाहर सविदात्मंक लाभ जो श्रमिकों ने प्राप्त किये हैं। सम्मिलत किए जातें है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट के अनुसार "श्रम कल्याण के अन्तर्गत ऐसी सभी सेवायें, सुविधायें जो उपक्रम में प्रदान की जाती हैं। जिससे व्यक्ति अपना कार्य स्वास्थपूर्ण व स्वच्छ वातावरण में कर सके। तथा वे सुविधायें जिससे उसके स्वास्थ्य एवं नैतिक बल को प्रोत्साहन मिले, सम्मिलत हैं।" श्रमिकों एवं उनके परिवारों को एक औद्योगिक उपक्रम द्वारा प्रदान की गयी सेवायें, जिससे उनका नैतिक, भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर में वृद्धि हो तथा बेहतर जीवन की ओर अग्रसर हो सकें, श्रम कल्याण के अन्तर्गत आती है। श्रम कल्याण के लिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि इससे श्रमिकों की कुंठाओं को समाप्त किया जाता है, निजी एवं पारिवारिक चिंताओ से मुक्ति प्रदान की जाती है उनके स्वस्थ्य में सुधार किया जाता है उन्हें आगे बढ़ने हेतु अवसर प्रदान किया जाता है एवं उन्हें जीवन की विस्तृत अवधारणा के बारे में सहयोग प्रदान किया जाता है। इस प्रकार औद्योगिक कल्याण के कार्य के लाभ एवं उद्देश्य इनमे विभिन्न रूप से विद्यमान रहते हैं।

उपर्युक्त परिभषाओ के आधार पर श्रम कल्याण की मुख्य विशेषताएं निम्न लिखित है।

1. इसमें श्रमिकों एवं उनके परिवार के कल्याण हेतु किये गये कार्य सम्मिलत होते है।
2. ये सेवाएं उन सब से सर्वोपरि होती हैं जो एक उद्योग की परम्परा के अनुसार आवश्यक हैं या एक श्रमिक सेवा अनुबन्ध के अनुसार अपेक्षा करता है।
3. श्रम कल्याण के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा एवं अन्य कार्यकलाप जैसे चिकित्सा, पालना गृह, वाहन सुविधा इत्यादि सम्मिलत होते हैं।
4. श्रमिक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना मुख्य उद्देश्य होता है जैसे सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक एवं उसे अच्छा श्रमिक व नागरिक बनाना।
5. प्रगतिशील नियोजक इन उपायों स्वयं राज्य के आदेशों की वजह से या श्रम की बाध्यता के कारण अपनाते हैं।
6. उत्पादन के दौरान होने वाली क्षति व हांनि के लिए क्षतिपूर्ति भी श्रम कल्याण के अन्तर्गत सम्मिलत की जाती है।

श्रम कल्याण को सामाजिक कार्य में साथ सम्मिलत नहीं किया जाना चाहिए। सामाजिक कार्य के अन्तर्गत नियोजक एवं श्रमिक का कोई संबंध नहीं होता बल्कि राज्य एवं स्वयं सेवी संस्थाओं की गतिविधियाँ सम्मिलित होती है। सामाजिक कार्य एक सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित होता है। जबकि श्रम कल्याण कार्य केवल औद्योगिक समाज से ही सम्बन्धित होता है। श्रम कल्याण पूर्ण रूप से सामाजिक कार्य नहीं है। वरन् यह सामाजिक कार्य का परिणाम है। और वैधानिक तकनीकी एवं ज्ञान के भंडार का प्रयोग है जो कि सामाजिक कार्य को विज्ञान से सम्बन्धित है श्रम कल्याण इस प्रकार सामाजिक कार्य की एक विशेष शाखा है जो कि ऐसे ग्रुप, जिसमें औद्योगिक श्रमिक एवं उनका परिवार सम्मिलत है, की सहायता करती है।

औद्योगिक प्रणाली में श्रम की आवश्यकता दो कारणों की वजह से होती है। प्रथम श्रम कार्य की दशाएं श्रमिकों के स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है। द्वितीय श्रमिक को नये माहौल में कार्य करना पड़ता है अतः उसे इस नये माहौल में स्वयं को समायोजित करने में कठिनाई होती है।

अत्यधिक गर्मी, ठंड, दुर्गंध, धुआं इत्यादि के कारण फैक्ट्री व खानों में वायु प्रदूषण होता है। यह प्रदूषण श्रमिकों को भयंकर बीमारियों से ग्रसित करता है। इसको रोकने के उपकरणों की व्यवस्था तथा चोटग्रस्त एवं दुर्घटनग्रस्त होने पर क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करना आवश्यक है। इनके दीर्घ कालीन प्रभाव श्रमिकों पर नकारात्मक होते है। श्रमिक जो ग्रामीण समुदाय से आता है उसे अस्वस्थ्यकर एवं अनजान स्थान पर लगाने से उसमें शराब पीना, जुआखोरी एवं अन्य सामाजिक बुराईयाँ पनपती है। और उसका नैतिक पतन होता है। इस प्रकार औद्योगिक नियोजन एक आवश्यक बुराई बन जाता है। श्रमिक कार्य से अनुपस्थित रहने लग जाता है। अनियमित एवं अनुशासनहीन हो जाता है। ये सब बाते श्रमिकों में सामाजिक बुराई को जन्म देती हैं।

30.2 सामाजिक सुरक्षा

30.2.1 सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय -

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत उचित संगठनों के द्वारा निश्चित संकटों के विरूद्ध दी जाने वाली सुरक्षा सम्मिलित है जो श्रमिकों को प्रदान की जाती है। ये संकट आकस्मिक होते हैं जिसके विरूद्ध व्यक्तिगत रूप से श्रमिक सुरक्षा नहीं प्राप्त कर सकता है। जैसे बेरोजगारी, दुर्घटना, बीमारी, अपंगता आदि। समाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत एक

सुनिश्चित आय जो श्रमिक को प्राप्त होती है, उसे यदि बेरोजगारी, दुर्घटना के कारण व्यावधान होता है, की सुरक्षा को भी सम्मिलत किया जाता है। वृद्धावस्था के कारण सेवा निवृत्ति पर पेंशन किसी की मृत्यु पर उसके आश्रित को मदद, आकस्मिक व्यय, जैसे जन्म, मृत्यु या निर्वाह पर होने वाले व्यय हेतु आर्थिक सहायता भी सामाजिक सुरक्षा में सम्मिलत होती है। सामाजिक सुरक्षा का मुख्य ध्येय एक न्यूनतम आय एवं चिकित्सा सुविधा प्रदान करना है। जिससे आय के स्रोत में किसी प्रकार की व्यवधान न हों।

सामान्य रूप से सामाजिक सुरक्षा का अर्थ समाज द्वारा इसके सदस्यों को उन आकस्मिकताओं में सुरक्षा प्रदान करना है जिस पर सदस्यों का कोई नियंत्रण नहीं होता है। फ्राइडलेन्डर के अनुसार "सामाजिक सुरक्षा समाज द्वारा दी जाने वाली सुरक्षा का कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत आधुनिक जीवन में होने वाली आकस्मिकताओं जैसे बीमारी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, निर्भरता, औद्योगिक दुर्घअनाएं आदि सम्मिलत हैं, से सुरक्षा प्रदानकी जाती है। जिनसे एक अकेला व्यक्ति या उसका परिवार स्वयं की क्षमता या दूरदर्शिता के आधार पर स्वयं को सुरक्षित नहीं कर पाता है।" यदि एक व्यक्ति दूरदृष्टि या आर्थिक सहायता अपने परिवार के अन्य सदस्यों या मित्रों से प्राप्त करता है तो यह पर्याप्त नहीं है। ये आकस्मिकताएं उस व्यक्ति की क्षमताओं को छीन लेती है जिससे वह अपनी तथा परिवार को सुरक्षा नहीं दे पाता है। अतः पूरक रूप में या विस्तृत रूप में समाज या राज्य द्वारा सुरक्षा प्रदान की जाती है। विश्व के सभी देशों द्वारा श्रमिकों एवं उनके परिवारों के कल्याण एवं आर्थिक सुरक्षा की वृद्धि हेतु इन पूरक विस्तृत उपायोंको अपनाया गया है। इन उपायों को सामान्य रूप से सामाजिक सुरक्षा उपाय कहते है।

सामाजिक सुरक्षा पर 1977 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन नोर्वे की सेमीनार में यह निर्धारित किया कि सामाजिक सुरक्षा में (1) सामाजिक बीमा (2) सामाजिक सहायता (3) पारिवारिक लाभ (4) स्वास्थ्य सेवा एवं अन्य सामाजिक सेवायें (5) सामाजिक कल्याण सेवायें सम्मिलत की जायेंगी।

सामाजिक कार्य के शब्दकोष में सामाजिक सुरक्षा का अभिप्राय समाज के वे सभी कार्य एवं प्रयत्न जो व्यक्ति को उसकी बीमारी या अपंगता के कारण शारीरिक अक्षमता में सहायता करते हैं एवं बीमारी, अपंगता, बेरोजगारी, वृद्धावस्था या रोजगार पर लगे हुए व्यक्ति की मृत्यु होने के कारण आय में कमी या हानि से सुरक्षा प्रदान करते हैं। कुछ देशों में सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत उन सभी सरकारी कार्यक्रमों को सम्मिलत किया जाता है। जिनसे आय का स्रोत बना रहता है। अन्य देशों में इसके अन्तर्गत सामाजिक बीमा कार्यक्रम सम्मिलित किए जाते हैं। कुछ अन्य देशों में इसमें स्वास्थ्य एवं कल्याण सेवायें सम्मिलत की जाती हैं। इस प्रकार समाजिक सुरक्षा का क्षेत्र व्यापक है एवं अलग अलग देशों में अलग-अलग है। फिर भी सामाजिक सुरक्षा की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं (i) वे कानून द्वारा स्थापित हैं (ii) वे व्यक्ति के बेरोजगार, चोटग्रस्त, बीमार वृद्धावस्था, मृत्यु होने पर आर्थिक मदद के रूप में आय के रूप में नकद भुगतान करती है। (iii) इन सेवाओं के लाभ तीन रूप में प्रदान किए जाते हैं सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता एवं लोक सेवा।

30.2.2 सामाजिक सुरक्षा का विकास एवं उद्भव

प्रारम्भ मे सामाजिक विपत्तियों के लिए स्वेच्छा से दान गरीब व्यक्तियों की सहायतार्थ किया जाता था किन्तु यह अपर्याप्त था और यह महसूस किया गया कि जो व्यक्ति उत्पादन में संलग्न है, उनके विपत्ति में होने पर उसकी जिम्मेदारी समाज की है। इस प्रकार सामाजिक सहायता एवं सामाजिक बीमा को लागू किया गया। 1881 में सम्राट विलियिम प्रथम ने जर्मनी में सामाजिक बीमा योजनाओं को आरंभ किया। 1881 में रूग्णता बीमा कानून पारित किया गया। कर्मकार

क्षतिपूर्ति अधिनियम एवं वृद्धावस्था तथा निर्बलता बीमा अधिनियम क्रमशः 1883 एवं 1884 में पारित किये गये। बेरोजगारी बीमा का आरंभ किया गया। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में स्वतंत्र नीति की बुराईयों को महसूस किया जाने लगा तथा राज्य द्वारा विभिन्न योजनायें आरंभ की गयी ताकि जो औद्योगिक श्रमिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण राज्य हस्तक्षेप के अभाव में बेरोजगार हुए उनको मदद की जा सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने विभिन्न देशों के लिए 1920 में सामाजिक बीमा का प्रारूप तैयार किया। 1919 में इसने मातृत्व लाभ हेतु अभिसमय पारित किये। 1921, 1925 एवं 1934 में कामगार क्षतिपूर्ति तथा 1933 में निर्बलता तथा वृद्धावस्था 1934 में उत्तरजीवी बीमा हेतु अभिसमय पारित किये। 1928 में न्यूनतम मजदूरी अभिसमय, 1944 में आय सुरक्षा एवं स्वास्थ्य लाभ 1934 में बेरोजगारी बीमा अभिसमय पारित किये गये। इन अभिसमयों को विभिन्न देशों में पारित करके अपनाया गया तथा अन्य देशों ने बिना पारित किये ही अपनाया है। 1938 में न्यूजीलैंड में एक महत्वपूर्ण समाजिक सुरक्षा अधिनियम पारित किया गया जो कि सामाजिक सुरक्षा कर के द्वारा प्राप्त राशि में से सार्वभौमिक एवं अनिवार्य सामाजिक बीमा योजना लागू की गयी। अमेरिका में 1935 मे सामाजिक सुरक्षा अधिनियम इस सम्बन्ध विस्तृत अधिनियम था। द्वितीय विश्व युद्ध ने सामाजिक सुरक्षा योजना को आवश्यक बना दिया। विश्व युद्ध के बाद विभिन्न देशों में आवश्यक वस्तुओं की कमी हो गयी और पुनः रचना की समस्या आरंभ हो गयी। इससे सामाजिक सुरक्षा योजना के गठन को बल मिला।

अब हर औद्योगिक प्रगतिवान देश मे सामाजिक बीमा के महत्व को स्वीकारा है और विश्व के कई देशों जैसे:- कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड ने विस्तृत सामाजिक बीमा योजनाओं को अपनाया है।

30.3 सामाजिक सुरक्षा के प्रकार

सामाजिक सुरक्षा के निम्न तीन प्रकार हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है :-

30.3.1 समाजिक बीमा

सामाजिक बीमा एक उपाय है जो व्यक्ति की अपत्तिकाल में गरीबी एवं दुर्गति से सुरक्षा प्रदान करता है। सर विलियम बेवरेज के अनुसार सामाजिक बीमा अंशदान के बदले मे दिया जाने वाला लाभ है जिससे व्यक्ति जीवन निर्वाह स्तर को बनाये रख सके। सामाजिक बीमा को एक सहकारी कार्यक्रम के रूप में भी परिभाषित किया गया है जो कि बीमित व्यक्ति को अनिवार्य रूप से आवश्यक सुविधायें प्रदान करता है जब व्यक्ति बेरोजगार, बीमार या अन्य आकस्मिकताओं से ग्रसित है। इस न्यूनतम जीवन स्तर को प्राप्त करने के लिए त्रिपक्षीय अंशदान श्रमिकों, नियोजकों एवं राज्य द्वारा किया जाता है।

बीमा के अन्तर्गत विशेष आकस्मिकताओं के कारण हुयी हानि की क्षतिपूर्ति के लिए धन का भुगतान किया जाता है। बीमा के अन्तर्गत व्यक्तिगत विपत्ति के निराकरण का विचार सम्मिलित है। यह व्यक्तिगत प्रयास की तुलना में सामाजिक समूह के प्रयास की प्राथमिकता है। जिससे कि व्यक्तिगत हानि के प्रभाव को कम किया जा सके।

सामाजिक बीमा की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है —

(1) इसमें एक सामूहिक धन की व्यवस्था की जाती है जिससे सभी लाभ नकद या वस्तु के रूप मे दिया जा सके, इस कोष में योगदान श्रमिकों, नियोजकों, राज्य द्वारा किया जाता है।

(2) श्रमिकों का योगदान मामूली होता है जो कि उनकी चुकाने की क्षमता से अधिक नहीं होता जबकि नियोजको एवं राज्य का योगदान अधिक होता है।

(3) जब आय की आर्थिक या पूर्ण हानि होती है तो सीमा के अन्तर्गत ये लाभ व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर को प्राप्त करने में सहायक होते हैं।

(4) लाभ व्यक्ति को अधिकार के रूप में प्रदान किये जाते हैं जिससे उनके उनके आत्म सम्मान में कोई कमी नहीं आती।

(5) ये लाभ अनिवार्य आधार पर विस्तृत रूप से लागू किये जाते हैं अतः जो भी इनका लाभ उठाना चाहे वह उठा सकता है।

(6) सामाजिक बीमा आकस्मिकताओं के फलस्वरूप होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति करता है किन्तु यह उन्हें रोक नहीं पाता है। सामाजिक बीमा वाणिज्यक बीमा से अलग है। वाणिज्यक बीमा स्वैच्छिक है जो कि समाज के उस वर्ग के लिए जो अधिक चुकाता है और इसके लाभ चुकाई गई प्रीमियाम के अनुपात में होते हैं। यह केवल व्यक्तिगत विपत्ति के सुरक्षा प्रदान कर सकता है और न्यूनतम जीवन स्तर की गारन्टी नहीं दे पाता है जो कि सामाजिक बीमा का प्रमुख उद्देश्य है सामाजिक बीमा में जो श्रमिक लाभ प्राप्त करता है वह उसके अंशदान से बहुत अधिक होता है। सामाजिक बीमा में प्राकृतिक विपत्तियों से रक्षा प्रदान की जाती है जबकि वाणिज्यक बीमा में केवल व्यक्तिगत विपत्तियों से सुरक्षा प्रदान की जाती है।

30.2.2 सामाजिक सहायता

सामाजिक सहायता कार्यक्रम अल्प आय वाले व्यक्तियों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान में सहायता करते हैं। यह सामाजिक बीमा का पूरक है उन व्यक्तियों के लिए जो सामाजिक बीमा का भुगतान करने मे असमर्थ हैं। सामाजिक सहायता के भुगतान हेतु सरकार राजस्व की व्यवस्था करती है। इस प्रकार राज्य एक सामान्य व्यक्ति के कल्याण के लिए पहल करता है। जो व्यक्ति उल्लिखित शर्तों को पूरा करते हैं उनको यह विधिक अधिकार के रूप में प्राप्त होती है। यद्यपि ये लाभ एवं आय के मापदण्ड अलग अलग देशों में अलग-अलग होते हैं। सामाजिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत बेरोजगारी सहायता, वृद्धावस्था सहायता, राष्ट्रीय सहायता, एवं सार्वजनिक सहायता सम्मिलित है।

इन योजनाओं की मुख्य विशेषताएं हैं कि इसमें योगदान नियोजनों एवं कर्मचारियों का होता है। कभी-कभी सरकार भी अनुदान देती है। व्यक्तियों को सहायता उनके द्वारा दिये गये अंशदान के अनुपात पर निर्भर करती है। ये कार्यक्रम अधिकांशतः अनिवार्य हैं। जो कि श्रमिकों एवं उनके नियोजको के लिए कानून द्वारा बाध्यकारी है।

इस प्रकार सामाजिक सहायता कार्यक्रम की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं

(1) ये योजनाएं मुख्य रूप से राजकीय कार्य के अन्तर्गत आती है क्योकि राज्य ही पूर्णरूप से इनके लिए वित्त व्यवस्था करता है।

(2) इनका उद्देश्य अल्प आय वाले व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

(3) ये लाभ एक प्रकार से विधिक अधिकार के रूप में प्रदान किये जाते हैं।

(4) ये लाभ निःशुल्क प्रदान किये जाते हैं बशर्ते कि आवश्यक शर्तों की पूर्ति की गई हो।

(5) लाभ की मात्रा एवं आय का मापदण्ड अलग-अलग देशों में अलग-अलग होता है।

सामाजिक सहायता सामाजिक बीमा की पूरक है न कि स्थानापन्न दोनों में अंतर यह है कि सामाजिक सहायता पूर्ण रूप से सरकारी कार्यक्रम है। सामाजिक बीमा में राज्य केवल आर्थिक भुगतान करता है। सामाजिक बीमा का लाभ उनको प्राप्त होता है। जो अंशदान का भुगतान करते हैं जबकि सामाजिक सहायता में अनुदान किया जाता है। समाजिक बीमा में आय के मापदण्ड का विचार नहीं किया जाता है और लाभ बिना मापदण्डों के विचार किये प्रदान किया जाता है जबकि सामाजिक सहायता उन्हें प्रदान की जाती है जो आवश्यक शर्तों को पूरा करते हैं। इस प्रकार बीमा के अन्तर्गत अंशदान सम्मिलित है। जबकि सहायता में इनकी अनुपस्थिति है।

कोई भी अनुमान लगा सकता है कि सामाजिक बीमा का विस्तार सामाजिक सहायता से लेकर वाणिज्यक बीमा तक है। सामाजिक सहायता कार्यक्रम पूर्णरूप से राज्य द्वारा वित्त पोषित होते हैं एवं लाभ पूर्ण रूप से उन व्यक्तियों को प्रदान किये जाते हैं जिन्हें आवश्यकता होती है। वाणिज्यिक बीमा पूर्ण रूप से एक निजी संविदा है। सामाजिक बीमा में राज्य एवं बीमित द्वारा अंशदान किया जाता है। इस प्रकार यह दौनों के मध्य में ठहराव है।

30.3.3 लोक सेवा

लोक सेवा कार्यक्रम सामाजिक सुरक्षा का तीसरा प्रकार है। सामाजिक सुरक्षा लाभ सामाजिक सेवा योजनाओं द्वारा भी प्रदान किये जाते है। इन कार्यक्रमों हेतु सहायता सरकार के राजस्व से सीधे प्रदान की जाती है। जो व्यक्ति निश्चित श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं उन्हें ये नकद भुगतान या सेवाओं के रूप में प्रदान की जाती है। यद्यपि सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों की विभिन्न विशेषताएं सब में समान होती है।

लोक सेवा वर्तमान में सभी देशों में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के रूप में चिकित्सा सहायता सभी व्यक्तियों को प्रदान की जाती है। उत्तरजीवी पेंशन प्रत्येक विधवा या उसके आश्रित को, वृद्धावस्था पेंशन, निर्बलता, पेंशन, पारिवारिक भत्ता, उन परिवारों को जिनके एक सीमा में बच्चे हैं। आदि भी लोक सेवा के अन्तर्गत आते हैं।

राज्य के अलावा अन्य कई एजेन्सियां हैं जो आकस्मिकताओं के विरूद्ध हैं। सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती हैं। कई देशों में श्रम संगठन एवं अन्य संगठन इन सेवाओं को श्रमिकों को प्रदान करते हैं। सामाजिक सुरक्षा का मूल विचार है कि प्रत्येक नागरिक जिसने अपने देश के कल्याण में योगदान किया है। या योगदान करने वाला है को आकस्मिक संकटों से सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए।

30.4 सामाजिक बीमा के लाभ

सामाजिक बीमा किसी व्यक्ति को जीवन की सामांन्य विपत्तियों से सुरक्षा प्रदान करने का एक श्रेष्ठ उपाय है जो कि एक व्यक्ति स्वयं उपाय कर पाने में असमर्थ होता है।

एक श्रमिक अच्छे स्वास्थ्य एवं जीवन स्तर का अधिकारी होता है एवं सामाजिक बीमा इसे प्रदान करता है। सामाजिक बीमा योजना स्वयं व्यक्ति के योगदान से सम्बन्धित होती है। यह विधिक अधिकार के रूप में निश्चित अधिकार प्रदान करता है एवं इसमें लाभान्वित व्यक्ति का आत्मसम्मान बना रहता है।

नियोजकों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयासों को श्रमिक के व्यक्तिगत एवं सामूहिव दबावों को एवं राज्य के विधायी राज्यों को एक साथ संगठित एवं समन्वित किया जाना चाहिए। ये प्रयास सामाजिक बीमा को पूर्णता प्रदान करते हैं। सामाजिक सुरक्षा उपाय एवं सामाजिक सेवा

लोकतांत्रिक औद्योगिक समाज के आधार शिला है। सामाजिक बीमा लोकतंत्र के प्रयासों को स्वीकार करता है एवं आगे प्रगति का मार्ग दर्शाता है। यह सामाजिक न्याय को सरकार बनाता है। क्योंकि आधुनिक उद्योग में श्रमिक की विपत्तियों को समाज के द्वारा वहन किया जाना चाहिए।

30.5 सामाजिक सुरक्षा के माप

एक श्रमिक को जीवकोपार्जन की क्षमता निम्न कारणों से समाप्त हो सकती है :-

(अ) दुर्घटना या बीमारी के कारण अस्थायी योजना।

(ब) स्थायी अक्षमता।

(स) परिवार के जीवनयापन करने वाले व्यक्ति की मृत्यु। इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक सुरक्षा प्रणाली के मुख्य घटक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अभिसमय के अनुसार निम्नलिखित है।

1. चिकित्सा सहायता

इसके अन्तर्गत गर्भावस्था, प्रसूति एवं इसके प्रभाव तथा अन्य बीमारियाँ जो घोर दुरावस्था को जन्म देती है। प्रसूति के पूर्व एवं प्रसूति के बाद की देखभाल को अधिक महत्व दिया गया है। इस हेतु विशेष चिकित्सा सुविधा प्रदान की गई है। प्रत्येक बीमार को जब आवश्यक हो विशेष सुविधायें जिसमें अस्पताल में भर्ती में सम्मिलत है, प्रदान की जाती है। घोर दुरावस्था की स्थिति में श्रमिक को सामान्य चिकित्सीय सुविधायें प्रदान की जानी चाहिए। विशेषज्ञों की सेवायें यदि आवश्यक हो तो प्रदान की जाय आवश्यक दवाओं की सुविधा भी अस्पताल में भर्ती के साथ-साथ प्रदान किये जाने का प्रावधान है। इन सभी परिस्थितियों में मुफ्त चिकित्सा सुविधा जब आवश्यक हो, प्रदान की जानी चाहिए। चिकित्सा सुविधा, बहिरंग मरीज के रूप में या अस्पताल व चिकित्सालय में भर्ती होकर या संस्थान में भर्ती होकर या मरीज के घर पर चिकित्सक का देखना आदि सम्मिलत है।

2. रूग्णता लाभ

रूग्णता एक श्रमिक के जीवन में बड़ी विपत्ति है। रूग्णता की अवस्था में श्रमिक को नकद रूप में सहायता प्रदान की जाती है। रूग्णता के अन्तर्गत कार्य में अक्षमता एवं घोर दुरावस्था सम्मिलत है। ऐसी अवस्था में श्रमिक को आय की हानि होती है। रूग्णता सहायता अवधि के आधार पर प्रदान की जाती है। पूर्व निर्धारित मापदण्डों के आधार पर लाभ प्रदान किया जाता है। श्रमिक को प्रथम तीन दिवसों की आय की हानि का भुगतान नहीं किया जाता है और यह भुगतान एक वर्ष में केवल 26 दिनों के लिए ही किया जाता है।

3. बेरोज़गारी लाभ

बेरोजगारी का अर्थ योग्य व्यक्ति को रोजगार प्राप्त न होना है। यह स्वतंत्र उपक्रम वाली आर्थिक प्रणाली की एक स्वाभाविक शर्त है। यह अस्थिरता को प्रकट करती है जो कि स्वतंत्र उपक्रम प्रणाली की आवश्यक विशेषता है। यह वह कीमत है जो अधिक लाभ प्राप्ति हेतु तकनीकी एवं आविष्कार के कारण उत्पादन में नियमित रूकावट के फलस्वरूप चुकाई जाती है। चक्रीय उतार-चढ़ाव विदेशी बाजार की हानि, बाजारों की मौसमी प्रवृत्ति बेरोजगारी को बढ़ावा देती है। इस प्रकार बेरोजगारी आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की एक नियमित प्रवृत्ति बन गई है। बेरोजगारी सामाजिक बुराइयाँ पनपाती है। इसीलिए अधिकांश देश बेरोजगार व्यक्तियों को मदद करने की बाध्यता स्वीकार करते हैं।

बेरोजगारी लाभ उन व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है। जो कार्य करने के इच्छुक हैं किन्तु

उन्हें रोजगार उपलब्ध नहीं हो पाता है। इसके अन्तर्गत जब व्यक्ति रोजगार ढूढ़ता है किन्तु उसे रोजगार उपलब्ध नहीं हो पाता है तो आय की हांनि जो बेरोजगारी की अवधि में श्रमिक को हुई, उसकी क्षतिपूर्ति की जाती है। इस योजना का लाभ उठाने की शर्त यह है कि बेरोजगार व्यक्ति भी इसमें अंशदान दें। यह प्रावधान भी कुछ अवधि के लिए ही है। बेरोजगारी भत्ता एक वर्ष में केवल 13 सप्ताह की अवधि के लिए ही दिया जाता है जिसमें प्रथम सप्ताह सम्मिलत नहीं है।

4. वृद्धावस्था लाभ

वृद्धावस्था भी एक औद्योगिक समस्या है जिसके लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान किया गया है। श्रमिकों के भविष्य की सुरक्षा के लिए जब वे सेवानिवृत्ति होते है या उनके आश्रितों के लिए यदि वे कार्य के जिए अयोग्य हो जाते हैं तो उनको भविष्य निधि द्वारा या ग्रेच्युटी योजना द्वारा या वृद्धावस्था पेंशन योजना द्वारा प्रावधान किया गया है। वृद्धावस्था वह अवस्था है जब वह कार्य करने में असमर्थ हो जाता है या जब श्रमिक वेतन सहित अवकाश ग्रहण करता है अर्थशास्त्रियों के अनुसार वृद्धावस्था वह अवस्था है जबकि सेवानिवृत्त हो जाना चाहिए क्योकि अब वह सामान्य रूप से उत्पादन प्रक्रिया में प्रभावशाली तरीके से योगदान करने में असमर्थ रहता है।

वृद्धावस्था लाभ पेंशन, ग्रेच्युटी या भविष्य निधि योजनाओं के द्वारा प्रदान किये जा सकते हैं। इस योजना का लाभ सामान्यतः श्रमिक के सेवानिवृत्त वाले दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त रहता है। इस योजना के लाभ की मात्रा निर्धारित नहीं है। यह प्रत्येक श्रमिक की अलग-अलग कार्य क्षमता पर अलग-अलग होती है जो कि उसमे कुल सेवा काल पर निर्भर करती है। पेंशन योजना केवल श्रमिकों पर लागू होती है। उसके जीवन काल तक यह लागू होती है। उसकी मृत्यु के बाद पेंशन समाप्त हो जाती है। अलग-अलग देशों में इस योजना के लागू होने की शर्तें भी अलग-अलग हैं।

5. रोजगार दुर्घटना लाभ

औद्योगिक दुर्घटना से श्रमिकों को सुरक्षा आवश्यक है। मशीनों एवं श्रमिकों की उपयोग मात्रा बढ़ने के साथ-साथ औद्योगिक दुर्घटना की संख्या में भी वृद्धि हुई है। कई सुरक्षा उपकरण स्थापित किये गये हैं किन्तु इसके बावजूद आर्थिक रूप से श्रमिकों की लापरवाही गलत निर्णय या निर्णय में भूल, जान-बूझकर सावधानियों की कमी, आदि के कारण फिर भी दुर्घटनाएं होती हैं श्रमिक खानों में फैक्ट्रियों में संयंत्र में कार्य करते समय कभी-कभी व्यवसायगत बीमारी की चपेट में आ जाता है। रोजगार दुर्घटना लाभ के अन्तर्गत निम्नलिखित आकस्मिकताऐं सम्मिलित होती हैं।

(अ) घोर दुरावस्था।

(ब) घोर दुरावस्थाओं के कारण श्रमिक कार्य करने के अयोग्य हो जाय जिससे आय कमाने के योग्य न रहे।

(स) आर्थिक या पूर्ण रूप से आय प्राप्त करने की क्षमता से हानि जो कि स्थाई रूप में हो।

(डी) परिवार के कमाने वाले व्यक्ति की मृत्यु जिससे कि परिवार की वित्तीय स्थिति खराब हो जाये।

कार्य स्थल पर दुर्घटना होने पर नकद लाभ का भुगतान किया जाता है। यह लाभ अस्थाई अपंगता लाभ के रूप में हो सकता है। जब तक कि अपंगता बनी रहती है या जीवन कालीन पेंशन के रूप में हो सकता है। लाभ की मात्रा स्थाई अपंगता की स्थिति पर निर्भर करती है। मृत श्रमिक के आश्रितों को भी पेंशन का लाभ दिया जा सकता है। चिकित्सा सुविधा एवं अवधि में

भुगतान जो कि एक शक्ति की आवश्यकता है, भी प्रदान की जाती है।

6. पारिवारिक लाभ

पारिवारिक लाभ योजना आकस्मिकता अवधि सक सम्पूर्ण काल में बच्चों के परवरिश की जिम्मेदारी वहन करती है। इस योजना में श्रमिकों के परिवारों को मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समय-समय पर नकद भुगतान किया जाता है। नकद भुगतान के अलावा उन्हें भोजन भी उपलब्ध कराया जाता है। पारिवारिक लाभ के अन्तर्गत उचित आवास व्यवस्था एवं श्रमिकों के लिए कपड़ों की व्यवस्था मुहैया करवायी जाती है। आवश्यकता वाले परिवारों को इस सुविधा के अन्तर्गत छुट्टियों एवं घरेलू मदद की व्यवस्था की जाती है।

कुछ पश्चिमी देशों में यह माना जाने लगा है कि ऐसे परिवार के बच्चों के परिवरिश की जिम्मेदारी राज्य की है।

7. मातृत्व लाभ

मातृत्व एक स्त्री को किसी भी उपक्रम में काम करने के लिए प्रसूति से कुछ सप्ताह पूर्व एवं कुछ सप्ताह बाद तक असमर्थ बना देता है। माँ व बच्चे की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि माँ को औद्योगिक उपक्रम में कार्य करने से इस अवधि के लिए मुक्त रखा जाये। कई नियोजक स्त्री श्रमिकों की सेवाओं को समाप्त कर देते हैं। जब उन्हें ज्ञात होता है कि ऐसी स्त्री श्रमिक मातृत्व के कारण अपने सामान्य जिम्मेदारियों एवं कर्तव्य को निभाने में असमर्थ हो रही है। मातृत्व लाभ इसी आशय से लागू किये ताकि महिला श्रमिकों को मातृत्व काल में उनके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव न पड़े एवं उन्हें मजदूरी में हानि न हो।

मातृत्व लाभ के अन्तर्गत गर्भावस्था, प्रसूतिकाल एवं इसके बाद के प्रभावों तक आय में रूकावट को सुरक्षा प्रदान करना है। इसमें चिकित्सा सुविधा भी सम्मिलत है। चिकित्सा सुविधा के अन्तर्गत प्रसूति से पूर्व एवं प्रसूति के बाद में उचित देखभाल सम्मिलत है। महिला श्रमिक को यदि आवश्यक हो तो अस्पताल में भर्ती की व्यवस्था करना चाहिए। इसके अन्तर्गत समय-समय पर भुगतान जो कि 12 सप्ताह तक किया जा सकता है, सम्मिलत है। इसमें प्रसूति के 6 सप्ताह से पूर्व एवं 6 सप्ताह बाद की अवधि के लिए भुगतान किया जाता है जो कि उस समय जो वेतन उसे मिलता है उसके आधे से लेकर बराबर तक हो सकता है। कुछ देशों में एक मुश्त राशि भी प्रदान की जाती है। ताकि नये बच्चों के लिए कपड़ें, प्रसाधन सामग्री एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं को क्रय किया जा सके।

8. असमर्थता लाभ

असमर्थता कार्य में स्थाई असक्षमता है इस प्रकार वृद्धावस्था के कारण श्रमिक कार्य करने के लिए अयोग्य हो जाता है। असमर्थता लाभ के अन्तर्गत समय-समय पर भुगतान किया जाता है। यह लाभ उन श्रमिकों को प्रदान किया जाता है जो बीमारी के कारण या दुर्घटना के कारण कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। ये लाभ उस समय तक प्रदान किये जाते हैं जब तक व्यक्ति वृद्धावस्था प्राप्त न कर ले। वृद्धावस्था प्राप्त करने पर वृद्धावस्था लाभ चालू हो जाते हैं। पेंशन भी कभी-कभी असमर्थता के कारण चुकायी जाती है।

पेंशन अंशदायी भविष्य निधि के रूप में या गैर अंशदायी पेंशन बीमारी के रूप में हो सकती है गैर अंशदायी पेंशन कई देशों में अपनायी गयी है।

9. उत्तरजीविता लाभ

उत्तरजीविता लाभ उस श्रमिक की विधवा व बच्चों को प्रदान किये जाते हैं जो श्रमिक अचानक मर जाते हैं और उसके पीछे पत्नि व बच्चों के आय का कोई स्रोत नहीं होता है।

उत्तरजीविता पेंशन के अभाव में इन अभागे पत्नि व बच्चों की जिंदगी बड़ी दयनीय हो जाती है। और इससे सामाजिक बुराइयों को जन्म मिलता है।

उत्तरजीविता के लाभ के अन्तर्गत समय-समय पर भुगतान, जो कि उत्तरजीविता को पेंशन के रूप में, उपक्रम में कार्य करने वाले मजदूर की मृत्यु पर उसके परिवार को प्रदान की जाती है परिवार उसके कमाने वाले व्यक्ति को खोता है और उसके पास कोई आर्थिक सहायता देने वाला उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार की आर्थिक सहायता सम्पूर्ण आकस्मिकता अवधि के लिए दी जानी चाहिए।

यह आर्थिक सहायता उन सभी श्रमिकों के आश्रितों को प्रदान की जानी चाहिए चाहे उनकी मृत्यु किसी भी प्रकार से हुई हो। यह सहायता तब तक चालू रहनी चाहिए जब तक कि उनके परिवार का कोई व्यक्ति कमाने के लायक न हो जाये।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने विभिन्न प्रकार की सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के गठन, स्थापना एवं आर्थिक सहायता हेतु सुझाव दिये हैं। अल्प विकसित देशों में लाभ हेतु लाभ के मापदण्ड स्थिर किये हैं। जिससे कि योजनाओं को व्यावहारिक रूप से लाभ प्राप्त हो सके।

30.6 सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र

सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम के मुख्य तीन प्रकार हैं। सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता, एवं लोक सेवा। सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत सामाजिक बीमा एवं सामाजिक सहायता सम्मिलत है। सभी प्रकार की सामाजिक जोखिमें जैसे कि चिकित्सा सहायता, कार्य को न ढूढ़ पाना, कार्य करने में असमर्थता इत्यादि सभी या तो सामाजिक बीमा या सामाजिक सहायता के अन्तर्गत आती है। सामान्य रूप में फिर भी कुछ जोखिमें सामाजिक बीमा के अर्न्तगत आती है एवं आय के लिए सहायता के विशेष प्रावधान हैं। नकद भुगतान एवं सामान्य चिकित्सा सेवाऐं बीमा प्रणाली के अन्तर्गत प्रदान की जाती हैं। बीमा का सामान्य रूप में वहाँ उपयोग किया जाता है जहाँ दावों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है एवं कोष का दुरूपयोग हाने लगता है। यदि बीमा कम महत्वपूर्ण वाली जोखिम का किया है तो मजदूरी की हानि के अनुपात में नकद भुगतान किया जाता है। बीमारी की सामान्य जाखिम को भी बीमा के अन्तर्गत सम्मिलत किया जाता है। इसमें दुर्घटना एवं बीमारियों की क्षतिपूर्ति को भी सम्मिलित किया जाता है। पेंशन एवं बेरोजगारी के लाभ भी बीमा के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। यद्यपि उस समय ये सामाजिक सहायता के अन्तर्गत भी आते हैं।

सामाजिक सहायता ऐसे क्षेत्रों में दी जाती है जहाँ जनहित सर्वोच्च होता है और दुरूपयोग हाने क बहुत कम अवसर होते हैं जैसे सामान्य व मानसिक अस्पताल, चिकित्सालय, टी. बी. का चिकित्सालय, रतिज रोगों के निदान केन्द्र, मातृत्व एवं शिशु कल्याण केन्द्र, स्कूल स्वास्थ्य सेवाएं, पुर्नवास सेवाएं, एवं बेरोजगारी सहायता।

किसी भी देश की सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था में सहायता एवं बीमा दोनों का संयोग होता है और कई स्थितियों में दोनों का समन्वय होता है और इन दोनों सामाजिक सुरक्षा के बीच स्पष्ट विभाजन करना कठिन हो जाता है। आकस्मिकताओं से सुरक्षा राज्य के अलावा अन्य तरीकों से भी प्रदान की जा सकती है। जैसे श्रम, कई देशों में उनकी बेरोजगारी, बीमारी एवं वृद्धावस्था योजनाएं लागू हैं। कुछ फर्मों ने अपने श्रमिक के लिए बचत निधि, रूग्णता लाभ, वृद्धापेंशन योजनाएं लागू कर रखी हैं।

30.7 सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों का मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना 1919 में की गयी। इसकी स्थापना सामाजिक आय,

श्रमिकों की कार्य दशा एवं जीवन स्तर में सुधार हेतु की गई। सम्पूर्ण विश्व में सामाजिक सुरक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया। दूसरे संविधान की प्रस्तावना में "बीमारी से श्रमिकों सुरक्षा, रोजगार के दौरान, बीमारी व दुर्घटना, बच्चों युवकों एवं महिलाओं की सुरक्षा वृद्धावस्था एवं दुर्घटना के लिए प्रावधान" की व्यवस्था सुनिश्चित की गयी है।

सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जब समाज में विशेषकर राज्य एवं नियोजक उचित संगठन के माध्यम से उन जोखिमों के विरूद्ध जिनमें अल्प आय वाला एक व्यक्ति स्वयं या निजी संस्था भी अपने साथियों के साथ नहीं कर पाती है। इस प्रकार समाजिक सुरक्षा उपायों का विकासशील देशों में दोहरा महत्व है। ये भविष्य की अनिश्चितताओं के विरूद्ध व्यक्तियों को सुरक्षा, श्रमिकों की कार्य दशाओं में जीवन स्तर में सुधार जो कि कल्याणकारी राज्य का प्रमुख उद्देश्य है। की ओर महत्वपूर्ण उपाय करती है।

श्रमिकों हेतु सामाजिक सुरक्षा योजना वांछनीय ही नहीं बल्कि स्वस्थ्य एवं कार्य कुशल औद्योगिक श्रमिकों के विकास हेतु परम आवश्यक है जो कि तेजी से फैलते हुये उद्योग एवं वाणिज्य में भी आवश्यक है। सामाजिक सुरक्षा योजना की लागत का भाग जहाँ तक हो सके श्रमिकों से कम से कम लिया जाये एवं सरकार तथा नियोजक इसका अधिकांश भाग वहन करें। इन योजनाओं को लागू करने से पहले यह भी आवश्यक है कि श्रमिकों के साथ होने वाली दुर्घटनाओं की संख्या व प्राकृतिक संबंध में उचित आंकड़े एकत्रित किये जायें। सब के लाभ हेतु आर्थिक जगत में एक समान्य व्यक्ति की मूलभूत सुरक्षा हेतु जिम्मेदारी राज्य को वहन करनी चाहिए।

इन योजनाओं से समाज में नैतिक मूल्यों में वृद्धि होगी शारीरिक एवं मानसिक कठिनाइयों से मुक्ति मिलेगी जिनसे जनता का एक बड़ा वर्ग प्रभावित है। सामाजिक बुराईयों को कम करने में सहायता मिलेगी, समाज ढ़ांचा सुदृढ होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा संगठन ने सही कहा है कि "बिना सामाजिक सुरक्षा के न्याय नहीं है।" यह स्पष्ट है कि जब तक श्रमिकों को उचित जीवन निर्वाह के साधन नहीं प्रदान किये जाते हैं और विभिन्न आपत्तियों से सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती तब तक उनसे जुड़ी अपेक्षाओं की पूर्ति होना कठिन है।

कुछ व्यक्ति यह महसूस करते है कि सामाजिक सुरक्षा के प्रभाव अच्छे नहीं होंगे क्योंकि यह पहल करने की क्षमता को कम कर देगी, उपक्रम की ध्यान कम करके स्वयं अपने पर केन्द्रित कर देगी, जोखिम उठाने की क्षमता को कम कर देगी। यद्यपि इन योजनाओं में उत्पादक से अनुत्पादक की ओर अर्थात नियोजकों से श्रमिकों की ओर भुगतान किया जाता है।

इसा प्रकार बीमार एवं बेरोजगार व्यक्ति पुनः उत्पादक श्रेणी में आ जायेंगे एवं सामाजिक सुरक्षा उन्हें अधिक कार्य करने के योग्य बना देगी जब वे पुनः कार्य पर आयेंगे। इस प्रकार आधुनिक औद्योगिक प्रणाली में सामाजिक सुरक्षा बहुत महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

30.8 सारांश

सामाजिक सुरक्षा समाज द्वारा आकस्मिकताओं के विरूद्ध प्रदान की जाने वाली सुरक्षा है। इसके तीन रूप है : सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता एवं लोक सेवा। सामाजिक बीमा में व्यक्ति स्वयं योगदान कर संकट के समय सहायता प्राप्त करता है जबकि सामाजिक सहायता में व्यक्ति का स्वयं का योगदान नहीं होता। सामाजिक सुरक्षा एक व्यापक शब्द है जिसमें श्रमिक को दी जाने वाली समस्त सुविधाएं सम्मिलित होती है।

30.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. बिलियम बेवरिज – सामाजिक बीमा एवं अधीनस्थ सेवायें 1942

2. भारत सरकार, श्रम रोजगार एवं पुर्नवास मंत्रालय, राष्ट्रीय श्रम आयोग 1969 राष्ट्रीय श्रम आयोग, 1966 पृष्ठ-162

3. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन — सामाजिक सुरक्षा के दृष्टिकोंण, एंक अन्तर्राष्ट्रीय सर्वेक्षण, जेनेवा, आई. एल. ओ. 1942 पृष्ठ-83

30.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र०1. "सामाजिक सुरक्षा" की अवधारणा को संक्षिप्त में बताइये एवं औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा के उद्गम एवं विकास का वर्णन कीजिए।

प्र. 2 सामाजिक सुरक्षा के तीन मुख्य प्रकारों की विशेषताऐं में एक-दूसरे से क्या अंतर है?

प्र०3. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अधिनियम 1952 में दर्शाये गये सामाजिक सुरक्षा के नौ तत्वों का वर्णन कीजिये।

प्र०4. क्या सामाजिक बीमा एवं सामाजिक सहायता के प्रावधान के बीच एक सुनिश्चित स्पष्ट रेखा खींचना संभव है? समझाइये।

इकाई 31

भारत में सामाजिक सुरक्षा

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य

31.1 प्रस्तावना

31.2 भारत में सामाजिक सुरक्षा के विचार का विकास

31.3 भारत में सामाजिक सुरक्षा के उपाय

- 31.3.1 श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून 1923
- 31.3.2 मातृत्व सहायता कानून 1961
- 31.3.3 कर्मचारी राज्य बीमा कानून 1948
- 31.3.4 वृद्धावस्था - असमर्थता और मृत्यु होने पर उपाय
- 31.3.5 कोयला खान लाभांश योजना
- 31.3.6 आसाम चाय बागान भविष्य निधि कोष कानून 1955
- 31.3.7 नाविक भविष्य निधि कोष कानून 1966
- 31.3.8 श्रमिकों का कल्याण और उनकी स्वास्थ्य सुरक्षा
- 31.3.9 अन्य उपाय

31.4 सामाजिक सुरक्षा के विचारणीय बिन्दु

31.5 सारांश

31.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

31.7 निबन्धात्मक प्रश्न

31.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में वर्तमान में चल रही विभिन्न सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के तहत मिलने वाले लाभों से आपका परिचय कराना है।

31.1 प्रस्तावना

भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया देरी से प्रारम्भ हुई इस कारण यहाँ का मजदूर वर्ग अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरुक नहीं था। इस इकाई में सामाजिक सुरक्षा के उद्‌भव व भारत में सामाजिक सुरक्षा कानूनों की जानकारी दी जाएगी।

31.2 भारत में सामाजिक सुरक्षा के विचार का विकास

प्राचीन काल में किसी भी प्रकार की आने वाली विपत्तियों का सामना करने के लिए संयुक्त परिवार में ही हल ढूंढ़ना पड़ता था। साधनों के धन के अभाव में सीमित साधनों से जितना हो सकता था उतना ही हो पाता था। विपत्तियों का मुकाबला करने के लिए अनेक प्रकार के प्रभाव होने के बावजूद वह अपने आप को परिवार में पाता था। संयुक्त परिवार इस जिम्मेदारी का निर्वाह करता था। संयुक्त परिवार की भांति ही निश्चित जातियाँ भी अपने अपने ढंग से कार्य करती थी।

अपनी ही जाति के विधवाओं, अनाथ बच्चों, रोगियों और असहाय लोगों की मदद करते थे। लेकिन पश्चिम के देशों के साथ सम्पर्क होने पर वहाँ के उदार और व्यक्तिगत विकास की भावना का यहाँ भी प्रसार हुआ। ज्यों-ज्यों औद्योगिकरण ने गति पकड़ी त्यों-त्यों शासन ने इस प्रकार की जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेना प्रारम्भ कर दिया। राज्य सरकारों ने व्यवस्थाएं करना प्रारम्भ किया।

औद्योगीकरण के विकास के दौर में ग्रामीण पृष्ठभूमि वाले गरीब और साधन हीन मजदूरों का एक अलग ही वर्ग बनता गया। इस प्रकार के वर्ग के खिलाफ सामाजिक सुरक्षा की विशेष आवश्यकता महसूस की गई। सन् 1939 में अनेक देशों में संस्थागत सुरक्षा साधनों के विचार का विकास हुआ। इस विचार का प्रभाव भारत पर भी पड़ा और कुछ वर्षों पूर्व इस प्रकार की व्यवस्था हमारे देश में भी की गई। हमारे देश के मजदूरों की समस्या यह रही कि ये लोग एक स्थान पर स्थाई रूप से नहीं रहते ऐसी स्थिति में रायल कमीशन ने श्रमिकों के लिए जिस बीमा योजना का सुझाव दिया था उसे इन अलग-अलग स्थानों पर रहने वाले मजदूरों के लिए लागू कर पाना दुस्कर कार्य समझा गया।

इस कारण एक लम्बी अवधि तक भारत में ऐसी बीमा योजना बौद्धिक विचार विमर्श का ही विषय बना रहा। अनेक विचारों के आने और प्रयासों के बावजूद सामाजिक सुरक्षा सीमित क्षेत्रों तक ही सिमटी रही। ब्रेवरीज की रिपोर्ट अपने के बाद ही हमारे यहाँ समाजिक बीमा की योजना प्रारम्भ की जायेगी। यह भी महसूस किया जाने लगा कि श्रमिक को उच्च जीवन जीने का अधिकार है। इस विचार के अर्न्तगत यह माना गया कि जब तक श्रमिकों के लिए अच्छे साधन नहीं दिये जायेंगे तब तक उसका विकास नहीं हो पायेगा। घटित होने वाली आकस्मिक घटनाओं और आने वाली अप्रत्याशित विपत्तियों के लिए सुरक्षात्मक कदमों की आवश्यकता जैसे क्रांतिकारी विचारों को फैलने से रोकना अब सम्भव नहीं था। उद्योगों के विकास के साथ ही साथ प्रगतिशील उद्योगपतियों ने भी सरकार पर दबाव डालना शुरू किया कि सरकार को अपनी ओर से इस सम्बन्ध में कदम उठाना चाहिए।

इस ओर आगे बढ़ते हुए सन् 1944 में रेगे कमेटी का गठन किया गया। इस कमेटी ने सरकार और नियोजन दोनों के कंधों पर यह जिम्मेदारी डाली। उसने सरकार और नियोजक दोनों के ही लिए क्या कार्य करने चाहिए? चिन्हित किया। एक और भी समस्या की ओर ध्यान दिया गया - यह समस्या थी श्रमिक की अनुपस्थिति। अनेक ऐसे छोटे मोटे कारण देखे गए जिनके कारण श्रमिक काम पर नहीं आ पाता है। उपस्थिति को बढ़ाने के लिए सरकार और नियोजक दोनों के लिए ही किए जाने वाले कार्यों को सूचिबद्ध किया गया। सन् 1947 में एक प्रस्ताव - उद्योगों में कार्यरत् श्रमिकों के लिए कल्याण कार्यों के सम्बन्ध में आया। आगे चल कर राज्य सरकारों ने अपने यहाँ कल्याणकारी कार्यों को क्रियान्वित करने के लिए इसे अपने लिए नीति निर्देशक तत्व माना। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में श्रमिकों के लिए कल्याणकारी कार्य करने के लिए नियोजकों को उत्तरदायी माना गया। इसके साथ ही श्रमिकों में आवसी सहयोग बढ़ाने के लिए तथा कार्यकुशता लाने की दृष्टि से सहकारी भावना को पनपाया गया। सहकारी संस्थाओं का निर्माण किया गया। इससे सहकारी गतिविधियों को आगे बढ़ाने के लिए मार्ग प्रशस्त हो सका। लौह और खानों से सम्बन्धित कार्य करने वाली श्रमिक महिलाओं के प्रसव और मातृत्व सुविधा देने का केन्द्रीय कानून भी तीसरी पंचवर्षीय योजना के अर्न्तगत आ गया।

इन सुविधाओं के आ जाने के बाद इस प्रकार के कार्यों ने गति पकड़ी। चौथी पंचवर्षीय

(1) नेशलन कमीशन आन लेबर 1966 पृ. 162

योजना में - पारिवारिक पेंशन, सेवानिवृत्ति के अवसर पर ग्रेज्युटी और परिवारों के लिए बीमा योजना जैसे महत्वपूर्ण कार्य हुए। पांचवी और छठी पंचवर्षीय योजनाओं में सुरक्षात्मक व्यवस्थाओं का विस्तार हुआ जैसे राजकीय बीमा योजना। श्रमिक के लिए सामाजिक सुरक्षा को सन् 1966 में नेशनल कमीशन आन लेबर ने इसे देश के विकास के लिए सार्वजनिक नीति के रूप में घोषित करते हुए इसे क्रियान्वित करना राज्य सरकारों के लिए अनिवार्य कर दिया गया।[1] इस प्रकार के कदमों से औद्योगिक क्षेत्र में आपसी विश्वास की भावना और अधिक दृढ़ हो गयी।

31.3 भारत में सामाजिक सुरक्षा के उपाय

समय-समय बदलते हुए वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार भारत सरकार ने श्रमिकों के लिए निम्न सुरक्षात्मक उपाय किए —

31.3.1 श्रमिकों के लिए क्षतिपूर्ति कानून 1923

श्रमिकों को क्षतिपूर्ति देने के लिए मार्च सन् 1923 में सर्वप्रथम कानून बनाया गया। यह कानून 1 जुलाई 1924 से क्रियान्वित हुआ। इस कानून के अन्तर्गत कार्य करते हुए श्रमिक के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर नियोजक द्वारा क्षतिपूर्ति दिलवाने की व्यवस्था की गई। इस कानून के अनुसार यदि श्रमिक तीन दिनों के लिए भी यदि अयोग्य हो जाता है तो उसे क्षतिपूर्ति दी जायेगी। इसी प्रकार 28 दिनों तक की अयोग्यता या उससे भी अधिक दिनों के लिए अयोग्य हो जाय अथवा व्यवसायिक बीमारी से ग्रस्त हो जाय अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के लिए नियम बनाये गए।

एक हजार रूपये मासिक तक प्राप्त करने वाले उन श्रमिकों के लिए व्यवस्था की गई जो कारखानों, खानों, उद्यान, यातायात, निर्माण, रेल और कुछ खतरानाक माने जाने वाले कार्यों में लगे हुए हैं। इसके साथ ही व्यवसाय और व्यापार में दैनिक और फुटकर मजदूरी करने वाले श्रमिकों के लिए भी इस कानून में व्यवस्था की गई है।

श्रमिक को लगने वाली चोट या उसकी होने वाली अयोग्यता के अनुसार ही क्षतिपूर्ति का निर्धारण किया जाता है। यह क्षतिपूर्ति मिलने वाले वेतन के अनुसार होती है। इसमें वयस्क या अवयस्क का भेद नहीं रखा गया। इस कानून में सन् 1976 में संशोधन कर क्षतिपूर्ति के लिए दरें बढ़ाई गई।

(अ) कार्य करते हुए श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर उसके वेतन के अनुसार 7 हजार 200 रु. से लगाकर अधिकतम 30 हजार रुपयों तक की क्षतिपूर्ति देने का प्रावधान किया गया।

(ब) पूर्णतया अयोग्य हो जाने पर एक मुश्त में 10 हजार 80 रुपयों से लगाकर 42 हजार रुपयों तक का नियम बनाया गया।

(स) अयोग्यता के लिए क्षतिपूर्ति का आधार यह माना गया है कि उसे आय में कितनी क्षति हुई है उसी के अनुपात पर मूल्यांकन किया जाता है।

(द) अस्थाई अयोग्य हो जाने पर श्रमिक को आधा वेतन दिया जाना तय किया गया। 60 रुपये से कम वेतन पाने वाले, 175 रु. तक प्राप्त करने वाले, तथा 900 रु. तक प्राप्त करने वाले और 1 हजार तक रुपये प्राप्त करने वाले श्रमिकों को भुगतान करने की दरों पर अन्तर रखा गया है।

श्रमिकों की आय पर आधारित उनके परिवारों के सदस्यों को दो भागों में बाँटा गया - एक

वर्ग के अनुसार पत्नि, विधवा माँ, अविवाहित वैध लड़की तथा अवयस्क लड़के को माना गया है - दूसरे वर्ग में ऐसे माँ-बाप जो अपनी विधवा माँ के अतिरिक्त हों, अव्यस्क अवैध लड़का, अविवाहित अवैध लड़की, अविवाहित बहिन, विधवा बहिन अवयस्क होने पर, विधवा साली, पूर्व में मृतक लड़के या लड़की का अवयस्क बच्चे आदि में माना गया। प्रथम वर्ग के सदस्यों के लिए पुस्टि हेतु किसी भी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती परन्तु दूसरा वर्ग अनेक प्रकार के संदेहों से घिरा रहने के लिए उसके लिए पुस्ट प्रमाण की आवश्यकता रखी गई।

कानून का मूल्यांकन – नियोजकों का यह मानना है कि यह कानून उनके प्रति न्याय नहीं करता। उनका कहना है कि दुर्घटना के पीछे श्रमिक की लापरवाही, ही प्रमुख होती है नियोजक का स्वयं का दुर्घटना के लिए जैसे जिम्मेदार माना जा सकता है। ऐसी मानसिकता के कारण वे श्रमिकों को किए जाने वाले भुगतान में टालम टोल करते हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियों में तो क्षतिपूर्ति की कार्यवाही होती है परन्तु वहाँ पर छोटी घटनाओं को तो वे दर्ज ही नहीं करते। न्यायिक अधिकारी भी औपचारिकताओं को पूरा करने में अत्यधिक विलम्ब करते हैं। इससे भी मूल भावना की क्षति पहुँचती है। साधारणतया दुर्घटना के लिए श्रमिक को किसी न किसी प्रकार चुप करवा दिया जाता है। व्यावहारिक कठिनाई यह है कि ठेकेदार तो जहाँ तक सम्भव होता है वह क्षतिपूर्ति से बचना चाहते हैं और करने की स्थिति बनती भी है तो पूरा भुगतान नहीं करता कम भुगतान कर पूरे पर हस्ताक्षर ले लेता है।

एक और कठिनाई यह आती है कि श्रमिक दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर अपने गाँव चला जाता है। ऐसी स्थिति में उसे ढूंढ़ पाना कठिन हो जाता है। इस स्थिति में भुगतान करना असम्भव हो जाता है। इसके साथ ही एक कठिनाई यह भी है कि श्रमिक अशिक्षित होने के कारण क्षतिपूर्ति प्राप्त करने के लिए वह उचित वार्तावाही भी नहीं कर पाता। श्रमिक की आर्थिक कमजोरी एक ऐसा कारण है जिसके कारण वह नियोजक के विरूद्ध संघर्ष करने में अपने आपको असमर्थ पाता है। इस कानून की सबसे बड़ी कमी यह है कि दुर्घटना ग्रस्त होते ही श्रमिक की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है उसके लिए चिकित्सा सहायता जिसका इसमें प्रावधान नहीं रखा गया है। चिकित्सा सहायता जिसका इसमें प्रावधान नहीं रखा गया है। चिकित्सा सहायाता उसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता होती है।

राष्ट्रीय आयोग के सुझाव – राष्ट्रीय आयोग के मुख्य सुझाव निम्न हैं :

1. श्रमिकों को क्षतिपूर्ति करने के लिए एक केन्द्रीय कोष बनाया जाय। इस कोष के लिए सभी नियोजकों को पाबन्द किया जाना चाहिए कि वे हर श्रमिक का उसके वेतन के अनुपात से निश्चित की गई राशि को जमा करावें ताकि आवश्यकता पड़ने पर सम्बन्धित श्रमिक को इस कोष से भुगतान किया जा सके।

2. कोष का नियंत्रण राज्य बीमा निगम के हाथ में रखा जाय।

3. आवश्यकतानुसार चोट लगने पर श्रमिक और उसके आश्रितों को भुगतान किया जा सके।

4. चोट लगे घायल श्रमिक को चिकित्सा निगम के द्वारा करवाई जाय।

5. उद्योग में घटित दुर्घटना से अयोग्य हो जाने वाले श्रमिक के लिए क्षतिपूर्ति की राशि बढ़ाई जाये।

31.3.2 मातृत्व सहायता का कानून सन् 1961

प्रारम्भ में कुछ राज्यों में मातृत्व सहायता का प्रावधान रखा गया। सन् 1941 में खानों

में कार्यरत् श्रमिकों के लिए यह व्यवस्था की गई। सन् 1948 में राज्य बीमा कानून बना। सन् 1951 में उद्यान श्रमिक कानून बना। सन् 1961 में सरकार ने इन कानूनों के प्रावधानों को और अधिक विस्तृत करते हुए मातृत्व सहायता कानून बनाया।

कारखानों, खानों, उद्यानों में कार्यरत् श्रमिकों को इस कानून के अर्न्तगत रखा गया। जिन श्रमिकों को कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अर्न्तगत सहायता मिलती है उन्हें इस कानून के घेरे से बाहर रखा गया है। इस कानून की धाराओं में - (i) परिस्थितियों की पात्रता (ii) सुविधा देने की अवधि (iii) और सुविधा दी जाने की दर का प्रावधान किया गया।

(अ) जिस महिला श्रमिक ने प्रसव की सम्भावित तीथि तक बारह महिनों में से 160 दिनों तक कार्य किया हो इस अवधि में यदि ले आफ आया हो तो उसे भी इसी अवधि में माना जायेगा। इसके साथ ही बच्चे के 1½ वर्ष वर्ष की आयु होने तक दो बार और सुविधा देने का प्रावधान रखा गया।

(ब) इस कानून के अन्तर्गत 12 सप्ताह की भुगतान सुविधा रखी गई है। इन 12 सप्ताहों में 6 सप्ताह तो प्रसव के पहले और 6 सप्ताह बाद में रखा गया है। गर्भावस्था के दौरान होने वाली अस्वस्थता, गर्भपात या समय के पूर्व ही हो जाने वाले प्रसव की स्थिति में भी इस कानून के अर्न्तगत व्यवस्था की गई। प्रसव के पहले और बाद में यदि नियोजक द्वारा वाहन व्यवस्था उपलब्ध नहीं करवाने की स्थिति में उसमें लिए 25 रु. देने का प्रावधान किया गया।

(स) महिला श्रमिक जिस दिन मे ...ृत्व पर जाती है उस दिन से कैलेण्डर के तीन माहों तक उसे मिलने वाली राशि का औसत दर से भुगतान किये जाने का प्रावधान रखा गया। किसी भी स्थिति में 1 रु. से कम का प्रतिदिन भुगतान नहीं किया जायेगा। अर्थात् प्रारम्भ में 30 रु. प्रति माह का भुगतान तो निश्चित किया ही गया।

(द) गर्भपात होने की स्थिति में प्रसव काल में किये जाने वाले भुगतान की दर है 6 सप्ताह का भुगतान किये जाने का प्रावधान रखा गया।

(इ) राज्य सरकार और केन्द्रीय सरकार ने यह भी निश्चित किया गया है कि कानून के अर्न्तगत मातृत्व अवकाश के दौरान किसी भी श्रमिक महिला को न तो कार्य मुक्त ही किया जायेगा और न ही उसे सेवा से पृथक किया जायेगा। नियोजक यदि ऐसा करता है तो उसे दण्डनीय अपराध माना जायेगा। इसके साथ ही यह भी रखा गया है कि गर्भवती महिला से कठिन या दुस्कर साध्य कार्य नहीं करवाया जासकेगा जिससे कि उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। ऐसी महिला से ज्यादा घण्टे खड़े रहने वाला कार्य भी नहीं लिया जा सकता।

(उ) मातृत्व सहायता सम्बन्धी दी जाने वाली सहायता के सम्बन्ध में सरकार यदि किसी उद्योग से सन्तुष्ट न हो तो वह ऐसे किसी भी कार्य पर रोक लगा सकती है जो ऐसी सुविधा देने में बाधक है। इतना ही नहीं उद्योग यदि पालना नहीं करे तो सरकार उस उद्योग को कार्य करने से भी रोक सकती है। उपलब्ध करवाई जाने वाली सुविधा के समय-समय पर निरीक्षण करने हेतु सरकार द्वारा निरीक्षण या अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान भी इस कानून में रखा गया।

इस कानून की क्रियान्वित करवाने की जिम्मेदारी राभी राज्यों में फैक्ट्री इन्सपेक्टरों को सौंपी गई। कोयले की खानों में इसके लिए कल्याणकारी आयुक्त और खानों में माईन्स सेफ्टी डायरेक्टर जनरल को यह उत्तर दायित्व दिया गया।

कानून का मूल्यांकन – यद्यपि इस कानून में फैक्ट्री में कार्यरत महिला श्रमिक के लिए

समुचित विश्राम और आर्थिक सहायता देने का प्रावधान किया गया है परन्तु कानून में निम्न कमियां नजर आई है --

(i) इसके अर्न्तगत सिर्फ नगद भुगतान तो रखा गया है परन्तु चिकित्सा के लिए किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं रखी गई।

(ii) एक और व्यावसयिक कठिनाई खड़ी हो गई कि नियोजकों ने अपना यह स्वभाव बना लिया कि विवाहित महिला को रखा ही नहीं जावे। यदि महिला विवाहित रख भी ली जाय तो उसके गर्भवती होने की चिन्ह उभरते ही उसे हटा दिया जाता है।

(iii) इस कानून से बच निकलने का किसी न किसी प्रकार से नियोजक मार्ग ढूंढ ही लेता है।

(iv) कई श्रमिक महिलाएं इस सुविधा को अपनी अनभिज्ञता या नौकरी छूट जाने के भय से भी उठा नहीं पाती है।

(v) कई बार नियमों की शर्तों का पूरा नहीं करने का बहाना बना कर नियोजक उस श्रमिक महिला को सुविधा से वंचित कर देता है।

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने यह सुझाव दिया है कि इस प्रकार की सुविधा केन्द्रीय सहायता कोष के अर्न्तगत रखी जाय। इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध करवाने के लिए सभी नियोजकों के लिए इस कोष में अंशदान नियमित रूप से करने के लिए अनिवार्यता रखी जाय। ताकि इस प्रकार की सुविधा और प्रशासनिक खर्चों का वहन उठाया जा सके। कोष का संचालन कर्मचारी राज्य बीमा योजना के नियंत्रण में रखा जावे। रायल कमीशन का तो यह भी सुझाव रहा था कि ऐसी ऐसी सुविधा को क्रियान्वित करवाने के लिए महिला निरीक्षकों को रखा जावे। (महिला फैक्ट्री इन्सपेक्टर)

31.3.3 कर्मचारी राज्य बीमा कानून 1948

अप्रैल सन् 1948 में केन्द्रीय सरकार ने कर्मचारी राज्य बीमा कानून पारित किया। इसके अर्न्तगत कर्मचारी के बीमार हो जाने पर, कार्य करते समय चोट लग जाने पर, मातृत्व सहायता, कार्य के दौरान मर जाने वाले श्रमिक पर आश्रितों को पेंशन आदि का भुगतान का प्रावधान किया गया। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए चिकित्सा सुविधा की भी व्यवस्था की गई।

इस कानून को उन सभी उद्योगों पर लागू किया गया जहाँ 20 या इससे अधिक श्रमिक कार्य करतें हों। लेकिन मौसमी उद्योगों को इस कानून से मुक्त रखा गया। इस कानून को किसी भी संस्थान के स्थापना शाखा में आंशिक या पूर्ण रूप से भी लागू कियाजा सकता है। औद्यौगिक वाणिज्य तथा कृषि सम्बन्धी क्षेत्रों में भी इसे लागू किया जा सकता है। इस कानून की सीमा 400 रु. प्रतिमाह रखा गया सन् 1965 में इसके अर्न्तगत 50 रु. प्रतिमाह के वेतन भोगी श्रमिकों तक सीमित रखा गया। सैनिकों पर यह कानून लागू नहीं होता। यह भी तय किया गया कि जो श्रमिक 36 कानून के अर्न्तगत लाभ प्राप्त करेगा वह अन्य कानून से मिलने वाले ऐसे लाभ को प्राप्त नहीं कर सकेगा। सन् 1966 में इस कानून में संशोधन कर इसका विस्तार किया गया और अंशदान और भुगतान करने के तरीकों को भी सरल बनाया गया। सन् 1975 में इसमें पुनः संशोधन कर श्रमिक की वेतन सीमा 500 से 1 हजार रुपया प्रतिमाह कर दी गई। इसके अर्न्तगत भुगतान नहीं करने वाले को जैल तक भेजने की व्यवस्था कर दी गई।

इस कानून की क्रियान्वित के लिए तथा बीमा योजना को संचालित करने के लिए एक स्वायत्तशासी संस्थान की स्थापना की गई जिसका नाम कर्मचारी राज्य बीमा निगम रखा गया।

कार्य को सरलतापूर्वक संचालित करने के लिए निगम में स्टेण्डिंग कमेटी तथा चिकित्सा सहायता परिषद (मेडिकल बेनीफिट कौंसिल) का गठन करने की व्यवस्था की गई। इन कार्यों को चलाने के लिए एक प्रधान निदेशक (डायरेक्टर जनरल) की नियुक्ति की गई। डायरेक्टर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह आवश्यक्तानुसार अपने अधीन जगह-जगह पर क्षेत्रीय और स्थानीय कार्योलयों की स्थापना कर सकता है।

आर्थिक दृष्टि से कर्मचारी राज्य बीमा कोष की व्यवस्था की गई। इस कोष में कर्मचारी और नियोजक का अंशदान, केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा दिए जाने वाले अनुदान, दान किसी व्यक्ति का संस्था द्वारा दिये जाने वाली आर्थिक सहायता को स्रोत के रूप में रखा गया। सैद्धान्तिक रूप से यह माना गया कि नियोजक अपने स्वयं का तथा श्रमिक के अंशदान लेकर दोनों का वह जमा करवायेगा। नियोजक कम्रचारी का श्रमिके के अंशदान को उसके वेतन में से वह काट सकेगा। कर्मचारी की सामूहिक आय के अनुपात से सामूहिक अंशदान भी किया जा सकता है।

कानून के अर्न्तगत मिलने वाले लाभ

इस कानून से होने वाले लाभ इस प्रकार हैं :

(1) **अस्वस्थ हो जाने पर लाभ** – श्रमिक के अस्वस्थ हो जाने पर समय-समय पर उसे नगद भुगतान की व्यवस्था की गई हैं। उसकी अस्वस्थता का प्रमाण पत्र अधिकृत चिकित्सक द्वारा दिया हुआ होना आवश्यक रखा गया। प्रारम्भिक के दो दिनों की प्रतीक्षा में होने पर यह लाभ नहीं मिलेगा लेकिन यदि वह पन्द्रह दिनों में ही दुबारा अस्वस्थ हो जाय तो उसे यह लाभ मिलेगा। 365 दिनों के एक वर्ष को दो भागों में विभक्त कर बाँटे गए दिनों में अधिकतम लाभ 56 दिनों का प्रावधान किया गया था लेकिन 1 मई 1977 से इन दिनों की संख्या 91 कर दी गई। इस प्रकार के दिए जाने वाले लाभ के लिए एक दिन की आय की आधी राशि मानी गई है। लेकिन रविवार का अन्य आने वाले अवकाशों के दिनों का भुगतान नहीं कि .ा जाता। सामान्यतया यह राशि 7/12 औषत रह पाती है। 1 जून 1956 से निम्म ने ऐसे श्रमिकों के लिए जिन्होंने दो वर्ष पूरे कर लिए हों बीमा योजना के अर्न्तगत हों - यदि वे क्षय रोग से ग्रसित हो जाएं तो 75 पैसे प्रतिदिन के दर से 124 दिनों तक आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गई। 1 जून 1959 से इस प्रकार की सुविधा कोढ़, मानसिक रोगी, बदनामी वाली बीमारी (मेलगनेंट) से पीड़ित होने पर, किसी दवाई या इंजेक्शन के दुष्प्रभाव से होने वाली अयोग्यता, या लोअर एक्सटरमिटी का फ्रेक्चर हो जाने वाले श्रमिकों के लिए भी कर दी गई है।

(2) **मातृत्व लाभ** – मातृत्व दृष्टि से प्रमाणित होने पर बीमित महिला श्रमिक के लिए सक्षम अधिकारी द्वारा समय-समय पर भुगतान करने की व्यवस्था की गई है। इसके लिए निर्धारित महिला चिकित्सक या मिडवाइफ द्वारा प्रमाणित होना आवश्यक है। अस्वस्थता के दौरान 75 पैसे की दर से जिस प्रकार भुगतान की व्यवस्था की गई थी उसी प्रकार उससे दुगनी राशि का भुगतान का प्रावधान 1 जून 1958 से कर दिया गया। उसके लिए प्रसव की सम्भावित तीथि से 6 सप्ताह पूर्व और प्रसव के 6 सप्ताह बाद तक की अवधि के लिए ऐसा भुगतान किया जाता है।

(3) **अयोग्यता होने पर सुविधा** – कार्य करते समय चोट लग जाने की स्थिति में या व्यवसायिक बीमारी हो जाने की स्थिति में श्रमिक के अयोग्य हो जाने पर उसके लिए नगद भुगतान की व्यवस्था निम्न प्रकार की गई है।

(i) सात दिनों की अस्थाई अयोग्यता के लिए पूरी दर से भुगतान करना रखा गया है।

(ii) स्थाई या आंशिक अयोग्यता होने की स्थिति में उसे कमाने में जितनी क्षति पहुंचती है उसको देखते हुए आजीवन प्रतिशत तय कर राशि का भुगतान किया जाता है।

(iii) पूर्णतया अयोग्य हो जाने पर पूर्ण दर से राशि दी जाती है।

सन् 1967 में यह तय किया गया था कि कार्य करते समय यदि श्रमिक 25% अयोग्य हो जाता है तो मिलने वाली राशि में से 75% की राशि का भुगतान किया जा सकता है तथा मामला निपट जाने पर अस्थाई तौर पर जो राशि दी जाय उससे अन्तिम चुकारे के समय दी गई राशि का समायोजन कर लिया जाय। 1 जनवरी 1981 से निर्धारित राशि से 40% अधिक राशि का भुगतान करने का प्रावधान किया गया।

4. आश्रित सदस्यों के लिए सुविधाएँ – ऐसे श्रमिक जो बीमित हो - यदि कार्य करते हुए उनकी मृत्यु हो जाय तो उसके आश्रितों को समय बद्ध आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गई है। इसके लिए निम्न प्रकार से प्रावधान किए गए है –

(i) श्रमिक की विधवा पत्नि को आजीवन या पुनर्विवाह करने तक पूर्ण दर का 3/5 हिस्सा दिया जायेगा। श्रमिक के यदि एक से अधिक पत्नियाँ हो तो यह राशि उन सभी पत्नियों को समान हिस्सें में दी जायेगी।

(ii) पूर्ण दर का 2/5 के हिसाव से उसके वैध या गोद लिए हुए लड़के के 18 वर्ष की आयु तक (वयस्क होने) तथा अविवाहित लड़की की शादी होने अथवा 18 वर्ष की आयु में वयस्क होने तक इसमें से जो पहले होगा तब तब उसे भी आर्थिक सहायता मिलेगी।

(iii) मृतक के पीछे यदि उसके पत्नि न हो, या गोद लिया हुआ या वैध लड़का भी न हो तो ऐसी स्थिति में उसके माँ-बाप, या दादा-दादी को आजीवन अथवा न्यायालय द्वारा तय की जाने वाली अवधि तक आर्थिक सहायता दी जायेगी। यदि बंटने वाली राशि पूर्ण राशि से अधिक हो तो उस स्थिति में आश्रितों को पूर्ण राशि जितनी राशि में से अनुपात में दिया जायेगा। 1 जनवरी 1981 से आश्रितों को मिलने वाली राशि में 40% की दर से वृद्धि कर दी गई है।

5. शव संस्कार – बीमित श्रमिक की मृत्यु होने पर शव संस्कार के लिए नगद राशि देने की व्यवस्था की गई है। इस राशि का भुगतान श्रमिक के आश्रित सदस्य को किया जायेगा। उसके न होने की स्थिति में इस राशि का भुगतान उसे किया जायेगा जिसने वास्तव में शव संस्कार किया हो।

इस संस्कार के लिए 100 रु. से अधिक का प्रावधान नहीं है। इसका भुगतान तीन महिनों में या निगम के सक्षम अधिकारी द्वारा बढ़ाई गई अवधि में लिया जाना चाहिए।

6. चिकित्सा सुविधा – सामान्यतया चिकित्सा सुविधा सीमित श्रमिक के लिए रखी गई है परन्तु विशेष परिस्थितियों में चिकित्सा सुविधा श्रमिक के परिवार के सदस्यों को भी दी जाती है। यदि रोगी अस्वस्थ्य हो जाय और डाक्टर को घर बुलाने की आवश्यकता पड़े तो इसे चिकित्सा सुविधा के अर्न्तगत ही माना गया हैं किसी अस्पताल में भर्ती रहने पर, डिस्पेंसरी या क्लिनिक में बाह्य रोगी के रूप में चिकित्सा करवाने की आवश्यकता को भी इसी के अनुसार रखा गया है। कृत्रिम हाथ, पांव या और और कोई अंग, चश्में, दाँत, सुनने का यंत्र आदि कार्य करते समय चोट लगने पर निःशुल्क दिए जाते हैं। कुष्ठ रोग, या मानसिक रोग होने पर रोगी को वहाँ भेजने के लिए भी प्रावधान रखा गया है।

निगम राज्य सरकार की अनुमति से अपने अस्पताल, डिस्पेंसरी, सर्जिकल चिकित्सा सुविधा आदि के लिए खोल सकता है। चिकित्या की सुविधा देने के लिए किसी चिकित्सक या संस्था

से भी अनुबंध किया जा सकता है। कर्मचारी राज्य बीमा कानून के अर्न्तगत राज्य सरकारों को चिकित्सा के लिए प्रबन्ध करने के लिए उत्तरदाई रखा गया है। भारत के कुछ स्थानों पर निगम ने अपनी ओर से ई. एस. आई. अस्पतालों का निर्माण करवाया है इनमें से प्रमुख हैं — कानपुर, हैदराबाद, मद्रास, आदि स्थानों पर बनाये गए अस्पताल। भारत के विभिन्न स्थानों पर छोटे बड़े ई. एस. आई. अस्पतालों तथा डिस्पेंसरियों का निर्माण करवाया गया है। अनेक स्थानों पर राज्य सरकार द्वारा निर्मित और संचालित बड़े अस्पतालों में ई. एस. आई. के अर्न्तगत आने वाले श्रमिक रोगियों के लिए बिस्तरों की अलग से व्यवस्था की गई है।

कानून का मूल्यांकन

श्रमिक के सम्बन्ध में जहाँ परिभाषा बहुत ही विस्तृत है वहीं उसके वेतन या मजदूरी की परिभाषा उतनी ही अस्पष्ट है। इसके लिए श्रमिक को हिस्सा देना है उसकी वसूली की जिम्मेदारी नियोजक पर रखी गई है। लेकिन वसूली के लिए किसी भी प्रकार का नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त मासिक वेतन को साप्ताहिक पद्धति में बदलने में बहुत ही कठिनाई आती है।

ई. एस. आई. योजना के मूल्यांकन के बिठाई गई कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया है कि यह योजना बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुई है लेकिन इसका आकार बहुत ही बड़ा है - क्रियान्वित में अनेक प्रकार की कठिनाइयां आती है। रिपोर्ट को मद्देनजर रख कर इस योजना की कार्य प्रणाली को सरल बनाने का प्रयास किया गया है। इसके अर्न्तगत होने वाले विलम्ब को भी कम किया गया है।

इस योजना के अर्न्तगत प्रारम्भ में 500 रु. प्रतिमाह के वेतन वाले को ही रखा गया था - बाद में इसकी सीमा का विस्तार भी हुआ परनतु दैनिक मजदूरी वाले या अस्थाई श्रमिक के बारे में किसी भी प्रकार का विचार नहीं किया गया। मौसम के अनुसार चलने वाले उद्योगों में कार्यरत् श्रमिकों को भी इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है। ई. एस. आई. मूल्यांकन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में यहभी सुझाव दिया हैं कि इस योजना का लाभ ऐसे उद्योगों के श्रमिकों के सामाजिक सुरक्षा की भावना पनपे - इस दृष्टि से इस योजना को प्रथम कदम माना गया है। यद्यपि आने वाली अनेक समस्यायें ऐसी हैं जिनका समाधान नहीं किया जा सका है परन्तु इसके बावजूद भी देश भर में सामाजिक सुरक्षा के लिए विस्तृत योजना बनाने के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ है। अतः इस योजना को इतना ही माना जा सकता है कियह योजना भविष्य के लिए उठाया गया एक विनम्र कदम है।

31.3.4 वृद्धावस्था-असमर्थता और मृत्यु की अवस्था में उपाय

मजदूरों के सम्बन्ध में देखा जाय तो कुछ नियोजक तो सदैव से उदार रहे हैं भले ही उनकी सहायता मात्र आँसू पोंछने जितनी ही रही हो परन्तु रही है। लेकिन सरकार ने इस ओर विधिवत कदम उठाये हैं। इन कदमों में हैं — प्रोविडेंट फंड, ग्रेज्यूटी, और पेंशन आदि।

कर्मचारी प्रोविडेंट फंड कानून सन् 1952 (भविष्य नीधि) – 15 नवम्बर 1951 में भारत सरकार ने एक आर्डिनेंस (अध्यादेश) जारी कर उद्योगों में अनिवार्य बचत चालू करने के लिए निर्देश जारी किए। इस अध्यादेश ने सन् 1952 में कानून का रूप धारण कर लिया। प्रारम्भ में प्रोविडेंट फंड योजना सरकारी कर्मचारियों तक ही सीमित थी परन्तु इसी के साथ अनिवार्य बचत के लिए नियम बन गए। सन् 1971 में इसमें संशोधन कर फैमिली पेंशन जोड़ दी गई। सन् 1976 में यह योजना और विस्तृत हुई। इसके साथ ही बीमा योजना भी जोड़ दी गई। इसका नाम भी एम्पलोइज प्रोविडेंट फंड एण्ड मिसलेनियस प्रोविज़न एक्ट कर दिया गया।

कोल माइन्स प्रोविडेंट फंड एण्ड मिसलेनियस प्रोविजन एक्ट 1948

इन खानों में कार्य करने वाले श्रमिकों में स्थाईत्व और मितव्ययता की भावना पैदा करने तथा भविष्य के लिए सुरक्षा की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए इस क़ानून को बनाया गया।[2] इस कानून के आने से श्रमिकों के अनुपस्थित हरने की स्थिति में सुधार हुआ। इस कानून के अर्न्तगत अनेक सुविधाएं दी गई — (अ) कोयला खनिज श्रमिक भविष्य नीतिध फंड (ब) कोयला श्रमिक बोनस योजना (स) कोयला श्रमिक परिवारिक पेंशन योजना (द) जुड़ी बीमा योजना। इस योजना को अनेक बार संशोधित किया जा चुका है।

31.3.5 **कोयला खान लाभांश (बोनस) योजना** – कोयला खानों में श्रमिकों की उपस्थिति अच्छी रह सके तथा ये श्रमिक अवैध हड़तालों और अन्य गतिविधियों से दूर रह सके इस दृष्टि से यह कानून बनाया गया। सन् 1968 में इसके दूसरे उद्देश्य पर पड़ने वाले प्रभाव को देखा गया। इस सम्बन्ध में निम्न कदम उठाये गये —

(i) सन् 1948 में पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और उड़िसा की खानों पर लागू किया गया।

(ii) सन् 1954 में आंध्रप्रदेश में लागू की गई।

(iii) सन् 1954 में ही राजस्थान प्रदेश के लिए कानून बना।

(iv) सन् 1955 में आसाम के आदिवासी क्षेत्र को छोड़कर शेष आसाम के लिए इस योजना को लागू किया गया।

इन कानूनों के नाम - कोयला खान लाभांश योजना 1948: दी आँध्र प्रदेश कोयला खान लाभांश योजना 1954: राजस्थान स्टेट कोयला खान लाभांश योजना 1954; दी आसाम कोयला खान लाभंश योजना 1955 रखा गया था।

आसाम को छोड़ कर अन्य सभी स्थानों पर तिमाही लाभांश दिया गया है।

लाभांश प्राप्त करने के लिए अलग-अलग स्थानों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उपस्थिति के दिन रखे गए। जो मजदूर खानों के अन्दर भूमिगत कार्य करें उनके लिए 48 से 54 दिन तथा अन्य 60 से 66 दिनों की उपस्थिति आवश्यक मानी गई। लाभांश की दर 10% रखी गई। इस राशि तिमाही समाप्त होने के बाद दो माह के अन्दर अन्दर निश्चित रूप से भुगतान कर दिए जाने के निर्देश दिए गए। साप्ताहिक लाभांश दर 1/25 या 1/30 श्रमिक द्वारा अर्जित वेतन पर रखा गया। तिमाही बोनस के लिए उस अवधि में जो सामूहिक बोनस बनता हो उसका 50% रखा गया।

बीमारी की स्थिति में कुछ निश्चित दिन, ले आफ, या तालाबंदी के कारण कार्य बंद होने की स्थिति में भी श्रमिक को बोनस देने का कानून में प्रावधान रखा गया।

कोयला खान भविष्य निधि योजना

सन् 1948 में सर्वप्रथम इस योजना को बिहार और बंगाल में लागू किया गया था। इसके बाद में अनेक संशोधन होते होते आज यह योजना देश की सभी कोयला खानों में लागू हो चुकी है। इस योजना के अर्न्तगत उन सभी श्रमिकों को सम्मलित कर लिया गया है चाहे वे सीधे नियुक्त किए गए हों अथवा ठेकेदार ने नियुक्त किया हो। इसके लिए वेतन दर किसी भी प्रकार से बाधक नहीं है। इस राशि का पूर्ण भुगतान 50 वर्ष की आयु होने पर, हंसी हो जाने पर,

(2) भारत सरकार - भारतीय श्रमिक ईयर बुक 1982 पृ. 236

स्थाई-अस्थाई मानसिक या शारीरिक अयोग्यता हो जाने पर - स्थाई रूप से बसने के लिए कहीं बाहर जाने पर - या किसी कारणवश नौकरी से हटाये जाने पर एक मुश्त में चुकारा किए जाने का प्रावधान इस कानून में रखा गया है।

पूर्ण भुगतान के लिए श्रमिक का अपना अंश, नियोजक का अंश, और इस सम्मलित राशि पर बनने वाले ब्याज को जोड़ा जाता है। सामान्यतया सेवनिवृत्ति या सेवा से हटा दिया जाने की स्थिति पूर्ण भुगतान होता है। श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर उसके द्वारा मनोवृत्ति किए जाने वाले को या उसके उत्तराधिकारी को भुगतान किया जाता है।

श्रमिक द्वारा जमा किए गए उसके अंश पर निम्न आधारों पर वापिस नहीं लौटने वाली अग्रिम राशि भी दी जाती है — (i) उपभोक्ता सहकारी समिति के लिए शेयर खरीदना (ii) मकान बनाना या जमीन खरीदना (iii) जीवन बीमा निगम के लिए राशि जमा करवाने हेतु (iv) लड़की की शादी के लिए (v) तथा मैट्रिक के बाद आगे बच्चों को शिक्षित करने हेतु।

परिवार पेंशन योजना 1971

सेवा में रहते हुए 60 वर्ष की आयु के पूर्व ही श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर उसके द्वारा मनोनीत किए गए परिवार के सदस्य को यह पेंशन दी जाती है। परिवार पेंशन परिवार के एक ही सदस्य को मिलती है। मृतक द्वारा जमा किए गए अंशदान के आधार पर 60 से 150 रुपये तक की पेंशन दी जाती है। इस राशि को 300 रु. तक भी बढ़ाया जा सता है। इसके लिए कम से कम अंशदान करते हुए 7 वर्ष पूरे हो जाने की अनिवार्यता रखी गई है। सेवा काल में मृत्यु हो जाने की स्थिति में बीमा प्रावधान के अर्न्तगत एक मुश्त एक हजार रुपयों के भुगतान के लिए भी व्यवस्था की गई है।

तीन वर्षों तक जिसने अंश दान किया हो सेवा निवृत्ति के पहले ही मृत्यु हो जाय और उसने तीन वर्षों का अंशदान कर रखा हो तो परिवार पेंशन प्राप्त करने वाले सदस्यों को इन चार हजार रूपयों का भी भुगतान किया जायेगा।

31.3.6 आसाम चाय बागान भविष्य निधि कोष कानून 1955

चाय बागानों में कार्य करने वाले सभी श्रमिकों और कारीगरों को इस कानून के अर्न्तगत रखते हुए उनके लिए सन् 1955 में भविष्य नीतिध फंड अनिवार्य कर दिया गया। कार्यालय में कार्य करने वाले कर्मचारियों और चिकित्सा कर्मियों को इस योजना में सम्मिलित नहीं किया गया। सन् 1966 में नियोजक द्वारा किए जाने वाले 6¼ अंशदान को 8 प्रतिशत कर दिया गया। अंशदान के लिए वेतन और अन्य भत्तों को आधार माना गया। श्रमिक के लिए अंशदान की जो राशि रखी गई उससे अतिरिक्त भी वह स्वेच्छा से अधिक जमा करवाना चाहे तो उसके लिए भी वह स्वतंत्र है।

श्रमिकों के अंशदान को इकट्ठा करने का उत्तरदायित्व नियोजक पर रखा गया है। समय पर राशि को जमा करवाना - उसके सम्बन्ध का सारा लेखा जोखा रखने की जिम्मेदारी भी मालिक पर ही रखी गई है। ऐसा नहीं करने वाले नियोजक के लिए 1 हजार रु. दण्ड या 6 माह की सजा या दोनों ही प्रकार से दण्डित करने का भी कानून में प्रावधान किया गया ताकि नियोजक इस कार्य के लिए गफलत नहीं करे। कर्मचारी पेंशन योजना 1971 को भी अप्रैल 1972 में आसाम के चाय बागानों के श्रमिकों के लिए भी लागू कर दी गई।

31.3.7 नाविक भविष्य निधि कोष कानून 1966

केन्द्रीय सरकार ने इस कानून के अर्न्तगत समुद्र में कार्य करने वाले इस कानून के अर्न्तगत

सन् 1958 में मर्चेंट शीपिंग एक्ट (व्यापारिक जहाज नियम) के अनुसार नाविक दल की जो परिभाषा रखी गई है उसी को स्वीकार किया गया है। जहाज के मालिक को नियोजक के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्रारम्भ में 6% की दर से और 1968 में 8% की दर से श्रमिक का अंश दान रखा गया और इतना ही अंशदान मालिक के लिए भी अनिवार्य रूप से नाविक भविष्य नीधि में जमा करने का नियम रखा गया है।

वृद्धावस्था अयोग्यता या मृत्यु प्रावधानों का मूल्यांकन

भविष्य निधि योजना के अर्न्तगत आने वाले श्रमिकों के लिए उनकी अयोग्यता होन पर, वृद्धावस्था या मृत्यु की स्थिति को लिया गया था। परन्तु ज्यों-ज्यों व्यवहारिकता में आये त्यों-त्यों उनमें अनेक प्रकार की कमियां सामने आई। अतः राष्ट्रीय आयोग श्रम ने अपनी रिपोर्ट में जो सुझाव दिए हैं उनके आधार पर भविष्य नीधि में से कुछ हिस्से को सेवानिवृत्ति और पारिवारिक पेंशन के लिए रखने की व्यवस्था की गई है। सन् 1971 में लागू की गई इस योजना के अन्तर्गत देश की सभी कोयला खानों, भविष्य नीधि कानून 1948, कर्मचारी भविष्य निधि कानून 1952, और आसाम चाय बागान कानून 1955 को सम्मलित किया गया है।

31.3.8 श्रमिकों का कल्याण और उनकी स्वास्थ्य सुरक्षा

सन् 1923 में भारत में क्षतिपूर्ति कानून श्रमिकों के लिए बनाया गया था। सन् 1948 में इसका विस्तार करते हुए बीमा कानून बनाया गया। इन कानूनों से श्रमिको के लिए कल्याण और स्वास्थ्य सुरक्षा रखा गया है। इन कानूनों के अन्तर्गत सभी प्रकार की खानों, बागानों, यातायात, निर्माण कार्यों में लगे मजदूरों, रेल्वे, और विशेष रूप से निर्धारित किए गए कठिन व्यवसायों में लगे सभी श्रमिकों को माना गया है। इसके साथ ही कुछ आकस्मिक कार्यों में लगे मजदूरों को भी माना गया हैं।

(i) बागान श्रमिक कानून 1951 चिकित्सा, स्वास्थ्य, मातृत्व सुविधाएँ – निश्चित प्रकार के बागानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए चिकित्सा, स्वास्थ्य और मातृत्व सुविधाएँ देने का प्रावधान किया गया है। श्रमिक और उनके परिवारों के लिए निर्धारित अस्पतालों, चिकित्सालयों के समूह या डिस्पेंसरियों में व्यवस्था की गई। इसके साथ ही अधिकृत चिकित्सक के प्रमाण पत्र के आधार पर 14 दिनों का अस्वस्थता अवकाश देने का भी नियम बनाया गया। इस अवधि में श्रमिक को उसके वेतन का 2/3 भुगतान किया जाएगा। यह राशि किसी भी स्थिति में 75 पैसे प्रतिदिन से कम नहीं होगी।

बागानों के लिए बनाई गई कमेटी ने सन् 1967 में यह निश्चित किया कि (i) श्रमिक 80 दिनों का अस्वस्थता अवकाश इकट्ठा कर सकेगा (ii) मिलने वाले वार्षिक अवकाश को अस्वस्थता अवकाश के पहले या बाद में लिया जायेगा। (iii) आवश्यकता पड़ने पर चालू वर्ष की देय 14 दिनों के अस्वस्थता अवकाश को श्रमिक ले सकेगा।

मूल्यांकन – यद्यपि अनेक राज्यों में चिकित्सा सुविधा का प्रावधान किया गया है परन्तु राष्ट्रीय श्रम आयोग ने अपने निरीक्षण के दौरान पाया कि पूरे देश में एक सी व्यवस्था नही है। एक ओर आसाम और बंगाल राज्यों में तो बागानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए अच्छी डिस्पेंसरियां और अस्पताल पाये गए परन्तु दूसरी ओर दक्षिण भारत में चिकित्सा व्यवस्था का अभाव पाया गया। अतः यह तय किया गया कि जिन राज्यों में बागान श्रमिक कानून के अर्न्तगत मिलने वाली सुविधाएँ पर्याप्त नहीं है वहाँ की सरकारों से सहयोग लेकर उचित व्यवस्था की जाय।

(ii) बन्दरगाह श्रमिक कानून 1948 – सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण नियम – बन्दरगाहों में सामान उतारने और चढ़ाने के लिए जो स्थान होता है उसे डॉक कहा जाता है।

जहाजों के सामान को उतारने और चढ़ाने वाले तथा उससे जुड़े हुए श्रमिकों की डॉक मजदूर के नाम से जाना जाता है। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, विशाखापत्तनम, कोचीन, मोरामोयगो और कान्डला के डॉक मजदूरों के लिए सन् 1948 में पहली बार कानून बनाया गया।

इस कानून के अर्न्तगत– (i) मासिक श्रमिक को नियमित श्रमिक माना गया और उन्हें इस कानून के द्वारा लाभान्वित किया गया परन्तु जिन श्रमिकों का नाम सुरक्षित सूची (रिजर्वपूल) में होता था उन्हें इस कानून का लाभ नहीं दिया गया। (ii) भविष्य निधि, ग्रेज्यूटी, मकान योजना आदि की सुविधा दी गई। (iii) चिकित्सा सुविधा के अतिरिक्त केन्टीन, उचित मूल्य की दुकानों की व्यवस्था, तथा श्रमिकों के बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रावधान किया गया।

(iii) कच्चा लोहा खान और कच्चा मनागनेस खान श्रमिक कल्याण फण्ड कानून 1976 और श्रमिक उपकर (Cess) कानून 1976 – इस कानून के द्वारा इस क्षेत्र में लगे हुए श्रमिकों के लिए कल्याणकारी कोष की स्थापना की गई। इस कोष के लिए केन्द्रीय सरकार से मिलने वाली राशि के अतिरिक्त एक्साइज तथा उपकरों और कस्टम आदि से होने वाली सरकारी आय में से इस कार्य के लिए अंशदान करने की वयवस्था रखी गई।

कस्टम और एक्साइज कर की दरें केन्द्रीय सरकार तय करती है। कच्चा लोहा या कच्चा मनागनेस जो विदेशों में जाता है उस पर लगने वाले निर्यात कर का भुगतान निर्यात कर्ता है। एक्साइज के रूप में लगने वाला कर जो कच्ची धातु शोधक कारखानों तथा केन्द्रीय सरकार के पास जाता है उसका भुगतान खान मालिकों द्वारा किया जाता है।

अतः इन दोनों करों को मिलाकर जो संयुक्त राशि बनती है उसमें से इस कोष के लिए प्रावधान किया गया। इस कोष से श्रमिकों के लिए अयोग्य-स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, मनोरंजन, यातायात, वेतन भत्तों और कमान योजना आदि सुविधाएँ उपलब्ध करवाने की व्यवस्था की गई।

31.3.9. अन्य उपाय

विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के अतिरिक्त निम्न अन्य उपाय भी किए गए:-

(i) सुपरिवार पेंशन योजना (अचानक टूट पड़ने वाली आपत्ति) – भविष्य नीधि कोष योजना के तहत वृद्धावस्था, सुरक्षा श्रमिक के अयोग्य हो जाने, तथा जीविका उपजित करने वाले की मृत्यु, की स्थिति में सहायता देने की व्यवस्था की गई है। श्रमिक की मृत्यु, की स्थिति में सहायता देने की व्यवस्था की गई है। श्रमिक की मृत्यु के बाद दी जाने वाली सुविधा को अपर्याप्त मानते हुए मरने वाले के लिए परिवार पेंशन की व्यवस्था की गई है। अतः भविष्य नीधि योजना के अर्न्तगत आने वाले श्रमिक के लिए सन् 1871 से परिवार पेंशन लागू की गई।

(ii) छँटनी से निकाले गये श्रमिकों के लिए क्षतिपूर्ति (ले आफ रिट्रैचमेंट) – ऐसे श्रमिकों को जो औद्योगिक विवाद कानून 1948 के अर्न्तगत आता हो - उसकी छँटनी करने पर निकाल दिया गया हो - उसके लिए क्षतिपूर्ति की व्यवस्था रखी गई है। इसके अनुसार किसी भी ऐसे श्रमिक को जिसने एक वर्ष पूरा कर लिया हो उसे हटाने के पूर्व एक माह का कारण बताते हुए नोटिस देने या एक माह का वेतन देने की अनिवार्यता रखी गई। छँटनी से निकाले जाने वाले श्रमिक के लिए क्षतिपूर्ति के लिए उसने जितने वर्ष पूरे किए हैं उतने ही वर्षों का प्रतिवर्ष के 15 दिनों का औसत वेतन का भुगतान किया जायेगा। इसके लिए यदि श्रमिक ने जितने वर्ष पूरे किए हैं उसके अतिरिक्त के जो माह बनते हैं वे यदि 6 माह से अधिक हैं तो उन्हें एक वर्ष पूरा होना माना जायेगा और उन माहों को एक वर्ष मान कर भुगतान राशि के लिए योग्य माना जायेगा।

खानों, बागानों, या मौसमी उद्योगों में लगे हुए उन सभी श्रमिकों ने जिन्होंने 190 दिन

पूरे कर लिए हो या ऐसी खाने जो जमीन के नीचे खदान का कार्य करवाती हो उनमें जिस श्रमिक ने भी 240 पूरे कर लिए हो उन्हें ले आफ के दिनों की क्षतिपूर्ति का लाभ दिए जाने का नियम बनाया गया है। ले आफ के लिए मिलने वाली क्षतिपूर्ति के लिए आधार वेतन की मूल राशि और उसके साथ मिलने वाले भत्तों आदि को जोड़ते हुए उसकी जो राशि बनती है उसको माना गया है। इस जुड़ने वाली राशि की आधी राशि दी जायेगी। इस राशि का भुगतान के लिए 45 दिनों तक की ही अवधि रखी गई है। इससे अधिक दिनों पर यदि ले आफ रहता है तो बाद के दिनों का श्रमिक को क्षतिपूर्ति का लाभ नहीं मिल पायेगा।

मूल्यांकन – इस कानून का मूल उद्देश्य यह है कि जल्दबाजी में जो नियोजक श्रमिक को हटाने की कार्यवाही करता है उसे नियंत्रित करना है। इससे श्रमिक को अस्थाई लाभ मिल जाता है। इन परिस्थितियों को देखते हुए राष्ट्रीय आयोग श्रम का यह मानना है कि इस समस्या का स्थाई हल श्रमिकों कि लिए बेरोजगारी बीमा योजना के द्वारा ही निकल सकता है। लेकिन जब तक ऐसी व्यवस्था न हो तब तक इस व्यवस्था को रखना उचित है।

(iii) वृद्धावस्था पेंशन – पूरे देश में वृद्धावस्था पेंशन योजना प्रारम्भ की गई है। इसके तहत 60 वर्ष की आयु से ऊपर के व्यक्तियों के लिए जिनका कोई सहारा नहीं हो या आय का किसी प्रकार का स्रोत नहीं हो ऐसे व्यक्ति को सरकार द्वारा पेंशन देना है। राष्ट्रीय आयोग श्रम ने इसे बहुत ही उचित कदम बताया है। उत्तर प्रदेश, केरल, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, पंजाब, पश्चिम बंगाल, और राजस्थान आदि में यह योजना कार्य कर रही है। अनेक राज्यों में अभी दूसरी क्रियान्वित शेष है।

31.4 सामाजिक सुरक्षा के लिए विचारणीय बिन्दु

1. ग्रेज्युटी ट्रस्ट फंड – कुछ जागरुक नियोजकों ने अपने प्रगतिशील विचारों से श्रमिकों के हितों को विचार कर श्रमिक संगठन के साथ विचार कर ग्रेज्युटी ट्रस्ट फंड की स्थापना की है। कुछ ऐसे भी नियोजक है जिन्होंने अपनी ही ओर से इस योजना को लागू कर रखा है। इस कोष के लिए श्रमिक को जो ग्रेज्युटी राशि मिलती है उसका उपयोग किया जाता है। सन् 1973 में सरकार ने इस प्रकार के चलने वाले फंडों के सम्बन्ध में एक अध्ययन टोली को नियुक्त किया था। इस टोली के अर्न्तगत कार्यकर्त्ताओं ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा है कि इस प्रकार का फंड बड़े नियोजक तो स्थापित भी कर सकते हैं और उनका सफलता पूर्वक संचालन भी हो सकता है परन्तु छोटे नियोजकों के लिए यह ज्यादा हितकर है कि वे जीवन बीमा योजना के साथ जुड़ कर कार्य करें। राष्ट्रीय आयोग श्रम ने इस पर अपना किसी भी प्रकार का मत न देते हुए सिर्फ इतना ही कहा है कि इसका क्रमिक विकास होने दिया जाय।

2. बेरोजगारी बीमा – हमारे देश में जितनी प्रमुख बड़ी समस्यायें हैं उनमें से एक समस्या बेरोजगारी की है। बेरोजगारी के श्रेणी में उसे माना गया है जो शारीरिक दृष्टि से तो योग्य है परन्तु उन्हें करने के लिए कार्य नहीं मिल पा रहा है। अनेक बार यह माना गया हैं कि ऐसी बेरोजगारी अस्थाई होती है और ऐसे बेरोजगारों के लिए सहायता व्यवस्था रखी जाय। जो लोग मौसमी उद्योगों में लगे हुए हैं और जिन दिनों में उन्हें कार्य नहीं मिलता उन दिनों में वे अधिक खतरा नहीं महसूस कर पाते क्योंकि वे इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि उनका रोजगार उस उद्योग में मौसम के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन सामान्यतया देश भर में फैली हुई बेरोजगारी एक बहुत ही भयंकर समस्या है। इस सम्बन्ध में किए जाने वाले कार्यों से अभी तक किसी प्रकार का समाधान हो पाना तो दूर की बात है कोई आशाजनक मार्ग तक दिखाई नहीं पड़ रहा है। यह समस्या उन लोगों के लिए तो बहुत ही कष्टकारी है जिन्हें कभी रोजगार मिला ही न हो। अतः ऐसी स्थिति में बेरोजगारी बीमा योजना में कुछ आशा की किरण दिखाई देती है।

3. एकीकृत सामाजिक सुरक्षा योजना (इन्टोग्रेटेड सोशियल सिक्योरिटी स्कीम) – राष्ट्रीय श्रम आयोग ने कुछ सामाजिक वैज्ञानिक योजनाओं को एकीकृत कर क्रियान्वित पर विचार किया है। –

(अ) सभी प्रकार की समाजिक सुरक्षा योजना को धीरे-धीरे क्रमिक रूप से एकीकृत कर एक फंड के अर्न्तगत लाने का प्रयास किया जाय।

(ब) वर्तमान में किए जाने वाले अंशदानों में वृद्धि की जाय और ऐसे एकीकृत फंड में उन्हें सम्मलित किया जाय। इसके अतिरिक्त जिन बिन्दुओं को अभी जोड़ा नहीं जा सका है उन्हें भी जोड़ा जाय। ऐसी स्थिति में भविष्य नीधि, सेवानिवृत्ति, परिवार पेंशन स्थितियों में सुधार हो सकेगा तथा बेरोजगारी बीमा योजना को क्रियान्वित करने की ओर बढ़ा जा सकता है।(3)

सरकार ने एकीकृत योजना की रूप रेखा तैयार करने के लिए एक सदस्यीय आयोग गठित कर इसका कार्य श्री एन. एन. चटर्जी को सौंपा। इस आयोग ने एक ऐसी पंचवर्षीय योजना बनाई जिसके अर्न्तगत ई. एस. आई. (कर्मचारी राज्य बीमा योजना) और ई. पी. एस. (कर्मचारी भविष्य नीधि) आदि को एक एक कर एक सूत्र में पिरोया जाय। इन्हें और अन्य सुरक्षा योजनाओं के एक एक जोड़ते हुए आगे बढ़ा जाय। बागान, खनिज और अन्य योजनाओं का समावेश भी इसी में कर लिया जाय। इस आयोग ने यह भी कहा कि एन.सी.एल. की सुझाओं के अनुसार एक फंड की स्थापना की जाय। परन्तु इसके हाथ यह भी ध्यान रखा जाय कि अन्य योजनाओं के लिए जो आर्थिक व्यवस्थाएं हैं उनमें किसी भी प्रकार की कटौती नहीं की जाय। इसके लिए 6¼% या 8% जो भी अंशदान प्राप्त हो उसे ही इस नवगठित किए जाने वाले केन्द्रीय फण्ड में उपयोग किया जाना चाहिए। आयोग ने बेरोजगारी बीमा योजना के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है कि इस प्रकार की योजना के लिए अभी स्थिति नहीं बन पाई है। लेकिन इस ओर बढ़ने के लिए सर्वप्रथम कुछ उद्योगों में लागू करके देखा जा सकता है। उसके आने वाले परिणामों को देख कर आगे के लिए विचार किया जाय।

आयोग ने बेरोजगारी की परिभाषा में उन श्रमिक को सम्मलित करने का सुझाव दिया है कि ऐसा श्रमिक जो एक बार नौकरी में आ गया हो लेकिन अस्थाई रूप से बेरोजगारी हो जाय। ऐसे श्रमिक के लिए "माह की बीमा किया जा सकता है। औद्योगिक विवाद एक्ट में ले आफ के दिनों में या छटनी किए गए मजदूरों के लिए कुछ प्रावधान किया गया है। डॉक श्रमिकों तथा आसाम चाय के बागानों के मजदूरों के बेरोजगार हो जाने की स्थिति में कुछ सहायता का प्रावधान रखा हुआ है।

ये सुझाव अभी तक विचाराधीन है। लेकिन आयोग द्वारा दिए गए इस सुझाव को कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अर्न्तगत जितने श्रमिक आते हैं उससे अधिक दायरा बढ़ाया जाय। इस दृष्टि से बीमा योजना का दायरा बढ़ाने के लिए कार्य भी प्रारम्भ किया जा चुका है।

31.5 सारांश

सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में अबतक किए गए अध्ययन का यह निष्कर्ष सामने आया है कि भारत में अब तक जो कार्य हुआ है उसकी प्रगति की गति धीमी रही है। वांछित परिणाम भी प्राप्त नहीं हो पाये हैं। जो कुछ हो पाया है वह बीमारी, स्वास्थ्य, मातृत्व, क्षतिपूर्ति बीमा, और भविष्य नीधि के क्षेत्र में हुआ है। इनमें भी अभी बहुत कुछ करना शेष है। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में आने वाली देवी आपत्तियों और वर्तमान में औद्योगिक जीवन में घटने वाली घटनाओं से पीड़ित होने वाले श्रमिकों के लिए अभी तक कदम उठाना शेष है। इस ओर कुछ भी नहीं किया जा सका है।

(3) राष्ट्रीय आयोग श्रम रिपोर्ट : 1969

भारत में तेज गति से बढ़ने वाली जन संख्या, व्यापक रूप से फैलने वाली बीमारियों, निरक्षरता और देश में बढ़ती दरिद्रता के कारण है जिनके रहते सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में अधिक उपयोगी कार्य नहीं हो पा रहे हैं। इन सभी कारणों के रहते हुए भी हमें प्रयास तो करना ही चाहिए। सारी स्थितियों को देखते हुए यह निर्णय लिया गया है कि प्रारम्भ औद्योगिक क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों पर तथा समुद्र में कार्य करने सीमेन (Seaman) कहलाने वाले श्रमिकों पर इस योजना को क्रियान्वित किया जाना चाहिए। इस सुझाव के अर्न्तगत कुछ कार्य आगे बढ़ाया गया है। जिसके बाद अन्य क्षेत्रों में सुविधाऐं बढ़नी चाहिए। व्यवसायिक क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों पर भी लागू करने की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। कुल मिलाकर चारों ओर देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि अभी तक सामाजिक सुरक्षा क्षेत्र में हुआ है वह नगण्य सा है। सामाजिक सुरक्षा के कारण श्रमिक में स्थाईत्व की भावना बढ़ती है, स्वास्थ्य के अच्छे हरने पर उनकी कार्य क्षमता में कुशलता रहती है। स्वस्थ और स्थाई रूप से रहने से उद्योगों में और व्यवसाय की परिणामों पर अच्छा असर पड़ता है।

देश के श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह समझा जा रहा है कि सामाजिक सुरक्षा के अर्न्तगत आने वाली योजनाओं में भारत सरकार और नियोजकों दोनों को मिल कर आर्थिक व्यय भार उठाना चाहिए। श्रमिकों के अंशदान को कम से कम रखा जाय। सामाजिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व को सरकार को अपने उपर रखना चाहिए। सरकार को सर्वप्रथम एक व्यापक सर्वे करवा कर यह देखना चहिए कि श्रमिकों को बार बार किस प्रकार की घटनाओं का सामना करना पड़ता है। सरकार और उसके अधिकारियों के सोचने की प्रवृति में बदलाव लाने की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसे अधिकारिकयों और कर्मचारियों पर निगाह रखी जाय जो श्रमिकों के हितों के लिए उदासीनता बरते, क्रियान्वयन में रूचि नहीं ले, सरकारी कार्य पद्धति में ही कार्यो को उलझाए रखे। श्रमिकों के मामले में उनकी समस्याएँ लाल फीता शाही के भ्रमर जाल में फँसी रहती है इस भ्रमर जाल में भी स्वच्छता आनी जरूरी है। एक बहुत बड़ी समस्या यह भी है कि सरकार समय समय आयोग का गठन करती रहती है - कमेटियों का गठन कर दिया जाता है - सर्वेक्षण करवा लिए जाते हैं परन्तु इनमें सम्बन्ध में जो रिपोर्टें दी जाती है उन्हें ठंढे बस्तों में डाल दिया जाता है। ठंडे बस्तों के भी ढेर बढ़ते जा रहे हैं। अतः इस ओर गम्भीरता से विचार कर कार्यवाही करने की आवश्यकता है।

सामाजिक सुरक्षा का विस्तार करना आज की परिस्थितियों में हमारे समक्ष एक जटिल और महत्वपूर्ण समस्या है। इसमें विकास करना हमारा एक वांछनीय उद्देश्य है। श्रमिकों की गरीबी, उनका कुपोषण, मकान का निर्माण, कपड़ा, शिक्षा, अच्छा स्वास्थ्य आदि जो समस्याएँ हैं उनमें सुधार के लिए सामाजिक सुरक्षा ही एक मात्र उपयोगी मार्ग है। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा संघ का नारा है। — "सामाजिक न्याय और शांति के लिए सामाजिक सुरक्षा आवश्यक है।"

कल्याणकारी राज्य की कल्पना करने वालों के लिए सामाजिक सुरक्षा एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में इसे उचित स्थान दिया जाना चाहिए। हमारे देश में इस सम्बन्ध में कर्मचारी राज्य बीमा योजना और भविष्य नीधि जैसी महत्वपूर्ण कदम उठाये जा चुके हैं। हमें आशा है कि इस मंजिल की ओर हमारे कदम अधिक गति और दृढ़ता और विश्वास के साथ बढ़ते रहेंगे। इससे श्रमिक जगत में स्वास्थ्य वातावरण बनेगा और सुरक्षा महसूस की जायेगी।

31.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. रिपोर्ट आफ दी नेशनल कमीशन आन लेबर, 1966
2. एन साइक्लोपीडिया आफ सोशियल वर्क वोल्यूम I

3. वाल्टर ए फ्राइडलेंडर - इन्ट्रोडक्शन आफ सोशियल वेलफेयर वर्ल्ड 1963
4. विलियम ब्रेवरीज - सोशियल इन्स्योरेंस एण्ड एलाइड सर्विसेज।

31.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में सामाजिक सुरक्षा पद्धति के हुए विकास को संक्षिप्त में समझाइये।
2. आकस्मिक घटना में हुई मृत्यु, अयोग्य होने पर, और वृद्धावस्था के लिए सामाजिक सुरक्षाके अर्न्तगत कौन कौन से उपाय किए गए हैं?
3. कर्मचारी राज्य बीमा योजना और भविष्य निधि योजना सामाजिक सुरक्षा के अनर्तगत महत्वपूर्ण कानून सिद्ध हुए हैं। इसका लाभ अधिकांश श्रमिकों को मिला है उसकी - विवेचना कीजिए।

इकाई-32

श्रम कल्याण योजनाएं एवं संस्थाएं

ईकाई की रूपरेखा

32.0 उद्देश्य

32.1 प्रस्तावना

32.2 औद्योगिक श्रमिकों की आवास व्यवस्था

32.3 औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य योजनाएं

32.4 औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य योजनाएं

32.5 कल्याणकारी संस्थाएं

32.6 ऐच्छिक संस्थाएं

32.7 सारांश

32.8 शब्दावली

32.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें संदर्भ एवं

32.0 उद्देश्य

आप इकाई संख्या 29 में श्रम कल्याण की अवधारणा से परिचित हो चुके हैं। इस इकाई में आपका परिचय आवास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में राजकीय एवं निजी कल्याण योजनाओं एवं संस्थाओं से कराया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि विभिन्न कल्याण योजनाओं की क्या आवश्यकता है? एवं इनका क्या महत्व है?

32.1 प्रस्तावना

श्रम कल्याण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में राजकीय एवं स्वैच्छिक संस्थाओं ने उल्लेखनीय कार्य किया है। इस इकाई में सर्वप्रथम हम श्रम कल्याण का अर्थ संक्षेप में पुनः व्यक्त करेंगे इसके बाद विभिन्न क्षेत्रों में किए जा रहे कार्यों का विस्तार से वर्णन करेंगे।

श्रम कल्याण शब्द एक है जिसके कई अर्थ लगाये जाते हैं और विभिन्न देशों में इसका महत्व भी समान नहीं है। शाही श्रम आयोग के मतानुसार औद्योगिक क्षमिकों से सम्बन्धित 'कल्याण' शब्द ऐसा है, जो आवश्यक रूप से लचीला रहेगा। इसका अर्थ भी एक देश से दूसरे देश में विभिन्न सामाजिक प्रथाओं, औद्योगीकरण के स्तर एवं श्रमिकों के शैक्षिक विकास के अनुसार भिन्न होता है। "श्री डार्वरजेम्स टॉड के अनुसार" औद्योगिक कल्याण कार्य के ध्येय तथा विशेषताओं पर तीव्र मतभेद हैं।"

व्यापक रूप से सरकार, सेवायोजकों एवं श्रमिकों के संघों द्वारा श्रमिकों के जीवन-स्तरों में सुधार तथा इनके आर्थिक एवं सामाजिक हितों को बढ़ाने के लिए जो व कार्य किये जायें उन्हें 'कल्याण कार्य' कह सकते हैं। अतः 'कल्याण कार्य' वह कार्य है जो कारखाना कानून एवं दूसरे श्रम कानूनों द्वारा निर्धारित न्यूनतम प्रमापों से ज्यादा श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, सामान्य भलाई एवं औद्योगिक कार्यक्षमता में सुधार के लिए किया जाता है।

भारत सरकार की श्रम अनुसंधान समिति ने कल्याण कार्यों के क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए लिखा "श्रम कल्याण कार्यों के अन्तर्गत नियोक्ताओं, सरकार अथवा उन संस्थाओं द्वारा किये गये, श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक व आर्थिक विकास के कार्यों का समावेश होना चाहिए। यह कार्य ऐसी सुविधाओं के अतिरिक्त होने चाहिए जो श्रमिक समझौते के रूप में अपने नियोक्ताओं से प्राप्त कर लेते हैं या जो विधान के अन्तर्गत उनको मिलती है इस प्रकार इस परिभाषा के अन्तर्गत वे सब कार्य कैसे आवास व्यवस्था, चिकित्सा एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें, उत्तम भोजन (कैन्टीन की सुविधाओं सहित) विश्राम करने एवं मनोरंजन की सुविधायें, सहकारी समितियां, नर्सरी एवं शिशु गृह, स्वास्थ्यप्रद स्थान, सवेतन अवकाश, सामाजिक बीमा, बीमारी एवं मातृत्व-हित-लाभ योजनायें, प्रोवीडेण्ट रूप से अकेले अथवा श्रमिकों के सहयोग से किये जाते हों, आते हैं।"

इस अध्ययन के उद्देश्य के लिये निम्न कल्याण कार्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है:

32. 2. औद्योगिक श्रमिकों के लिये आवास व्यवस्था

आवास की समस्या निश्चय ही भारत में औद्योगिक श्रमिकों की एक महत्वपूर्ण समस्या है। भोजन तथा कपड़े के बाद आवास का ही स्थान है। उचित आवास के अभाव के कारण बीमारियाँ फैलती हैं, व्यक्तियों में असन्तोष व्याप्त होता है, मानव की उच्चतर भावनाओं का अन्त हो जाता है तथा उनमे असभ्यता एवं निर्दयता आ जाती है। अमेरिकन तथा यूरोपियन लेखकों द्वारा आवास के आर्थिक एवं सामाजिक महत्व पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। आवास केवल मौसम से बचाव, खाना बनाने और सोने के लिए ही नहीं होता वरन् यह सामाजिक रीतियों का केन्द्र भी है। फिर एक आधुनिक आवास उस कीमत पर मिलना चाहिये, जिसे औसत अथवा कम आय का व्यक्ति भी दे सकें।

सरकार की विभिन्न आवास योजनाओं के होते हुए भी श्रमिकों की वर्तमान आवास व्यवस्था अत्यन्त शाचनीय हैं। शाही श्रम आयोग के ये शब्द इस सम्बन्ध में आज भी सत्य है "नगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में एक दूसरे से सटे हुए स्थान, भूमि का उच्च मूल्य तथा श्रमिकों की अपने उद्योगों के निकट रहने की आवश्यकता के कारण अधिक भीड़ और धनी आबादी में वृद्धि हुई है। व्यस्त केन्द्रों में प्राप्त भूमि का पूरा उपयोग करने हेतु मकान एक दूसरे से सटाकर बनाये जाते हैं, यहां तक कि ओरी से ओरी छूती है, और दीवार से दीवार मिली होती है। वास्तव में भूमि इतनी मूल्यवान है कि मकानों में पहुंचने के लिये सड़कों के स्थान पर छोटी एवं संकरी गलियां होती हैं। सफाई को ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता और यह इस तथ्य से प्रकट है कि सड़ते हुये कूड़े के ढेर पड़े रहते हैं, और गन्दे पानी के गड्ढ़े भरे रहते हैं। शौचघरों के अभाव में हवा और धरती दोनों में गन्दा वातावरण फैल जाता है। अनेक मकान जिनमें चौखट, खिड़की और संवातन का अभाव होता है, प्राय एक कमरे वाले होते हैं, जिनमें वायु के आवागमन का केवल एक द्वार होता है, जो कि इतना नीचा होता है कि उससे बिना झुके आना असम्भव है। एकान्तता पाने के लिये पुराने कनस्तरों के टीन एवं पुरानी बोरियों को पर्दे के रूप में काम में लाया जाता है जिससे प्रकाश एवं निर्मल वायु का आना और भी बन्द हो जाता है। इस प्रकार के मकानों में मनुष्य नाम लेता है, सोता है, खाता है, रहता है और मृत्यु को प्राप्त होता है।" वर्तमान समय में यह औद्योगिक श्रमिकों के आवास व्यवस्था की सामान्य स्थिति है।

भारत में औद्योगिक श्रमिकों की शारीरिक अस्वस्थता एवं कुशलता का कारण यहाँ पाई जाने वाली असन्तोषप्रद एवं असहनीय आवास दशायें हैं। जहाँ अच्छे घरों का तात्पर्य पारिवारिक जीवन, सुख तथा उत्तम स्वास्थ्य है, परन्तु बुरे मकान गन्दगी, बीमारी, शराबखोरी, व्याभिचार और अपराध की जड़ है। औद्योगिक नगरों में अंधेरे तथा बेहवादार कमरों में आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों का रहना बाल-मृत्यु व क्षय रोग का एक महत्वपूर्ण कारण है। अधिकतर बुरी आवास परिस्थितियां भारतीय श्रमिकों की प्रवासी प्रवृति के महत्वपूर्ण कारणों में से एक हैं। अस्वास्थ्यपूर्ण व अनाकर्षक मकानों की स्थिति श्रमिकों को इसके लिये बाध्य करती है कि वे अपने परिवारों को गाँव में छोड दे और शहरों में अकेले रहें। भीड़-भाड़ पारिवारिक जीवन के कभी अनुकूल नहीं हो सकती। नगरों में आते समय श्रमिक प्रायः नवयुवक होते हैं और वे शीघ्र ही बुराइयों के आसानी से शिकार हो जाते हैं। अनेक वेश्यायें श्रमिकों के आवासों के पास रहती हैं। औद्योगिक नगरों में इनका होना आवश्यक समझ लिया गया है। ऐसी स्थिति में महिला श्रमिकों के लिये नैतिक जीवन को बनाए रखना बहुत कठिन हो जाता है। बहुत सी महिला श्रमिक अपना आत्मसम्मान व सतीत्व खो देती है। डा. राधाकमल मुकर्जी ने श्रमिकों की भयंकर परिस्थितियों का वर्णन किया है "औद्योगिक केन्द्रों की इन हजारों गंदी बस्तियों में मनुष्यता का निःसन्देह ही निर्दयता के साथ गला घोंटा जाता है, नारीत्व का अपमान होता है और शिशुता को प्रारंभ में ही विषपान कराया जाता है।" असन्तोषप्रद एवं बुरी आवास व्यवस्था, औद्योगिक अशान्ति, श्रमिकों की अनुपस्थिति और श्रम परिवर्तन के लिये उत्तरदायी कारणों में से एक महत्वपूर्ण कारण है अतः आवास व्यवस्था में निवेश अपनी लागत को स्वयं पूर्ण करता है। इसलिए सरकार के विकास कार्यक्रमों में आवास व्यवस्था को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

राजकीय आवास योजनाएँ

औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य और आवास व्यवस्था में सुधार किये जाने के महत्व पर सन् 1919 में औद्योगिक आयोग द्वारा दबाव डाला गया। जिसने स्थानीय सरकार और सेवायोजकों के आधे योगदान द्वारा श्रमिकों को आवास व्यवस्था को प्रदान करने के लिए भूमि के अधिग्रहण की अनिवार्यता का सुझाव दिया। इसके बाद वर्ष 1931 में भारत में श्रम पर शाही आयोग, हिवटले आयोग (Whitley commission) आया।

अप्रेल 1948 में भारत सरकार ने स्थानीय सरकारों संयोजकों और श्रमिकों के मकानों के निर्माण के लिये अनेक वित्तीय सहायता देने का निश्चिय किया। परिणामस्वरूप प्रथम पंचवर्षीय योजना में की गई सिफारिशों के अनुसार एक नई उपदान प्राप्त औद्योगिक आवास योजना, सितम्बर 1952 में प्राप्त की गई।

1. सरकार की उपदान प्राप्त औद्योगिक आवास योजना (1952)

भारत सरकार ने राज्य सरकारों, सेवायोजकों एवं श्रमिकों के प्रतिनिधियों के विचार विमर्श के बाद सितम्बर 1952 में उपदान प्राप्त औद्योगिक आवास योजना को सुनिश्चित किया। इस योजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता एवं ऋणों के लिये तीन तरह के रियायशी मकान शामिल किये गये: (1) वे मकान जो राज्य सरकार अथवा वैद्यानिक निकायों (जैसे - सुधार ट्रस्ट या विकास बोर्ड) द्वारा बनाये जायेंगे (2) वे मकान जो सेवायोजकों द्वारा अपनी संस्थाओं में काम करने वाले श्रमिकों के प्रयोग के लिए बनाये जायेंगे तथा (3) वे मकान जिन्हें श्रमिकों की सहकारी आवास समितियों द्वारा बनाया जायेगा।

इस योजना के अन्तर्गत केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों और वैद्यानिक मण्डलों की आवास योजना को सम्पूर्ण लागत की 50 प्रतिशत, जिसमें भूमि की कीमत भी शामिल है उपदान या आर्थिक सहायता प्रदान करने व शेष 50 प्रतिशत ऋण के रूप मे जिसे लौटाने की अवधि 25 वर्ष रखने में सहमति दी है। निजी सेवायोजकों और श्रमिकों की आवास समितियों के सन्दर्भ में केन्द्र ने सम्पूर्ण लागत की 25 प्रतिशत उपदान या आर्थिक सहायता और 25 प्रतिशत ऋण के रूप में जिसके लौटाने की अवधि 15 वार्षिक किस्तों में सहमति प्रदान की। जबकि ऋण की मात्रा बढ़ाकर 37½ प्रतिशत की जा सकती है, किन्तु इस बढे हुए 12½ प्रतिशत पर अधिक ब्याज लिया जाता है।

समय-समय पर इस योजना में कई संशोधन किये गये हैं। श्रमिकों की सहकारी समितियों की दशा में वर्ष 1958 में ऋण की सीमा 50 प्रतिशत बढ़ा दी गई तथा ऋण लौटाने की अवधि 25 वर्ष कर दी गई और वर्ष 1959 में 65 प्रतिशत कर दी गई। इस प्रकार अब श्रमिकों को सहकारी समितियों की स्वीकृत परियोजनाओं की वित्तिय सहायता की मात्रा 90 प्रतिशत हो गई है। लागत की बाकी 10 प्रतिशत की पूर्ति भी श्रमिक अपने प्रावीडेण्ट फण्ड से ऋण लेकर कर सकते हैं। वर्ष 1958 में सेवायोजकों को मिलने वाले ऋण की सीमा 37½ प्रतिशत से बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दी गई।

आर्थिक सहायता प्राप्त **औद्योगिक** आवास योजना यह स्वीकृति देती है कि राज्य सरकारें, आवास मण्डल स्थानीय निकाएं तथा औद्योगिक श्रमिकों की सहकारी समितियां पाने योग्य औद्योगिक श्रमिकों के ये मकान किराया खरीद आधार पर बेच सकती है। नवम्बर 1967 में आवास मन्त्रियों के सम्मेलन की सिफारिशों के फलस्वरुप यह निश्चय किया गया कि श्रमिकों द्वारा इन मकानों की पुनः बिक्री को उत्साहित किया जाना चाहिए और यदि इसकी अनुमति की भी जाए तो यह कार्य मकान की पूर्ण लागत के भुगतान के पश्चात ही किया जाना चाहिए तथा 25% उसे नहीं दिया जाना चाहिए।

वर्ष 1966 में आर्थिक सहायता प्राप्त औषघालय आवास योजना में संशोधन किया गया और अक्टूबर में शुरू की गयी निम्न आय वर्ग आवास योजना में शामिल कार्यक्रम में जिसमें 23 प्रतिशत लागत उपदान दिया जाता था मिलाकर इसे अब औद्योगिक श्रमिकों तथा आर्थिक सहायता प्राप्त आवास योजना कहां जाता है। यद्यपि योजना के प्रति राज्य सरकारों के काफी सन्तोषप्रद रुचि ली है फिर भी सेवायोजकों और श्रमिकों की सहकारी समितियों की ओर से प्रयास प्रायः निराशाजनक रहा है।

2. बागान श्रमिकों के लिए सहायता प्राप्त आवास योजना

बागान श्रमिकों के लिए आवास योजना वर्ष 1956 में बनाई गई तथा इसे द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान लागू किया गया और यह 1 अप्रैल 1970 से केन्द्रीय क्षेत्र की योजना हो गई है। यह बागान श्रमिकों के लिए अपने श्रमिकों को निःशुल्क आवासों के निर्माण के लिए कार्यक्रमों को स्वीकृत लागत के 87½ प्रतिशत तक (37½ प्रतिशत उपदान एवं 50% ऋण) वित्तीय सहायता के अनुदान की व्यवस्था करती है। बागान श्रमिकों की सहकारी समितियों की दशायें वित्तीय सहायता किसी कार्यक्रम को स्वीकृत लागत के प्रतिशत तक (65 प्रतिशत ऋण तथा 25 प्रतिशत उपदान) दी जाती है। यह योजना 6 राज्यों (असम, केरल, तमिलनाडु, मंगलोटक, पं. बंगाल एवं त्रिपुरा) में लागू की गई है।

3. निम्न आय वर्ग आवास योजना (1954)

यह 1954 में लागू हुई। इस के अन्तर्गत ब्याज सहित ऋण विश्वसनीय आवास निर्माण संस्थाओं के माध्यम से नये मकान की खरीद एवं नवीन मकानों के निर्माण के लिये जिसमें आवास के अतिरिक्त दुकान या व्यावसायिक उद्देश्य हेतु परिसर निर्माण भी शामिल है, दिया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत निर्माण की लागत का 80 प्रतिशत ऋण दिये जाने का प्रावधान है।

4. गन्दी बस्तियों की सफाई व सुधार योजना

यह योजना मई 1956 में शुरू की गयी। इसके अन्तर्गत राज्य सरकारों को कार्यक्रम की स्वीकृत लागत के 87½ प्रतिशत तक (50 प्रतिशत ऋण के रूप में तथा 37½ प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप) वित्तिय सहायता गन्दी बस्ती क्षेत्रों में रहने वाले परिवारों के पुनर्वास के लिये देने की व्यवस्था है।

5. ग्रामीण आवास परियोजना कार्यक्रम:

स्वयं मदद के सिद्धान्त पर आधारित योजना अक्टूबर 1957 में लागू की गई और इसमें सामुदायिक विकास खण्डों के चयनित गांवों में आवासीय योजनाओं के स्थायीकरण पर विचार किया गया। इस योजना के अन्तर्गत निर्माण की लागत का 80 प्रतिशत ऋण सहायता के रूप में दिया जाता है।

6. राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन

जुलाई 1954 में भारत सरकार के कार्य आवास एवं पूर्ति मंत्रालय द्वारा राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन की स्थापना की गई। इस संगठन का उद्देश्य डिजायन एवं भिन्न निर्माण तकनीकों तथा निर्माण सामग्रियों में सुधार द्वारा कम लागत पर अच्छी किस्म के मकान बनाने में सहायता प्रदान करना है तथा यह संगठन आवास के विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं जैसे — विनियोग, वित्त, करारोपण किराया नियन्त्रण आदि के बारे में अध्ययन कार्य भी करता है। देश के विभिन्न भागों में इसके स्थानीय कार्यालय स्थित है।

7. भूमि अधिग्रहण और विकास योजना (1959)

इस योजना के अन्तर्गत राज्य सरकारें और केंद्र शासित क्षेत्रों के शासक शहरी क्षेत्रों में भूमि का अधिग्रहण और विकास करते हैं ताकि मकान बनाने के लिये इच्छुक व्यक्तियों को विशेषकर निम्न आय वर्ग के व्यक्तियों को उचित मूल्य पर विकसित प्लाट मिल सके।

8. आवासीय निगम

हुड़को (Hudco) 1970 में सरकारी मण्डल के रूप में स्थापित हुई। केन्द्र सरकार के द्वारा 200 करोड़ रुपये परिक्रमी कोष के रूप में इस निगम को स्वीकृत किये गये जो कि राज्य सरकार, राज्य आवासीय मण्डल एवं आवास एवं नगरीय विकास संस्थाओं को ऋण के रूप में दिये जाते हैं। अक्टूबर 1975 में आयोजित आवासीय एवं नगरीय विकास मन्त्रियों के अखिल भारतीय सम्मेलन में यह अलग अनूठा सा की गई कि एक अन्य निगम की स्थापना की जाये जो कि ग्रामीण विकास के साथ-साथ ग्रामीण आवासीय योजनओं के संस्थागत एवं वित्तीय सहायता के माध्यम से ग्रामीण आवासीय कार्यक्रमों को लागू कर सकें।

राष्ट्रीय आवास नीति

राष्ट्रीय आवास नीति, भारत सरकार के द्वारा 1988 के पश्चात राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्यों पर विकास हेतु आश्रय क्षेत्र के अन्तर्गत निर्मित की गई थी। यह नीति भारतीय संसद द्वारा 1994 में समर्पित की गई। इस योजना की दीर्घकालीन लक्ष्य अपर्याप्त आवासीय दशाओं को सुधार कर इस क्रम में न्यूनतम स्तर तक की आधारभूत सेवाएं एवं सभी को सुविधायें प्रदत्त करना था तथा आवासीयहीनता का उन्मूलन करना था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य यह था कि सरकार की भूमिका प्रबन्धक के स्थान पर सुविधाप्रदान कर्ता की ज्यादा हो।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि उचित स्थानों की कमी, श्रम और इमारती सामान भी लागत में अत्यधिक वृद्धि, दूर बसे हुए उपनगरों से आने जाने के लिये यातायात के साधनों की कमी और सबसे अधिक धन की कमी ने आवास की समस्या के समाधान को असाधारण रूप से जटिल बना दिया है। इस प्रकार के संकट का सामना केवल सरकार, मालिकों, श्रमिकों तथा सहकारी समितियों के संयुक्त और दृढ़ प्रयत्नों के द्वारा ही हो सकता है।

32.3. औद्योगिक श्रमिकों के लिये शिक्षा योजनाएं

श्रमिकों और उनके बच्चों के लिये शैक्षिक सुविधाओं की व्यवस्था एक सामाजिक सेवा है, जिसका भारत में बड़ा महत्व है। श्रम पर शाही आयोग ने सुझाव दिया कि औद्योगिक श्रमिकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये और सेवायोजकों को अपने कारखाने के विद्यालय में श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा के विकास के लिये प्रयास करने चाहिए। आयोग के अनुसार "भारत में ज्यादातर औद्योगिक श्रमिक निरक्षर है। यह एक ऐसी अवस्था है जो किसी भी दूसरे औद्योगिक महत्व के देश में नहीं पायी जाती। इस असमर्थता के निष्कर्ष को अधिक अनुमान लगाना असम्भव है जो मजदूरी में, स्वास्थ्य में उत्पादकता में संगठन में और अनेक अन्य क्षेत्रों में पाई जाती है।"

अतः श्रमिकों को उपयोगी नागरिक बनाने और औद्योगिक सम्बन्धों की स्थापना करने श्रमिकों को आधुनिक आर्थिक प्रवृत्ति के समझने योग्य बनाने, उन्हें अनुशासित करने को की शक्ति का विकास करने तथा निहित सम्भावनाओं के विकास के लिये शैक्षिक सुविधाओं का निश्चित रूप से बडा महत्व है। श्रम जांच समिति के विचार में शिक्षा प्रदान करने का उत्तरदायित्व राज्य का होना चाहिए और यह सेवायोजकों पर नीति के विषय के रूप में नहीं डाला जा सकता।

श्रमिक शिक्षा कार्यक्रम

द्वितीय पंचवर्षीय योजना देश के श्रमिकों के लिए शिक्षा की विशाल योजना प्रदान करती है। साथ ही श्रम संघ तरीकों एवं दर्शनशास्त्र पर विशेष बल देती है। इस सुझाव को लागू करने के लिये जनवरी 1957 में श्रमिकों की शिक्षा के लिए समिति की स्थापना विदेशी विशेषज्ञों की सहायता से की गई। केन्द्रीय श्रमिक शिक्षा बोर्ड (जिसका मुख्यालय नागपुर में है) केन्द्र व राज्य सरकारों के प्रतिनिधि, श्रमिकों एवं सेवायोजकों के पदाधिकारी और शिक्षाशास्त्रियों से बना है और यह एक समिति के रूप में पंजीकृत है। बोर्ड के अन्तर्गत अनेक क्षेत्रीय व उपक्षेत्रीय श्रमिक शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की गई है।

श्रमिक शिक्षा कार्यक्रम तीन स्तरों में विभाजित है। प्रथम स्तर पर क्षेत्रीय श्रमिकों के अध्यापन संगठन के उपयुक्त सदस्यों को प्रशिक्षिण। ऐसे प्रबन्धक शिक्षा अधिकारी

के रूप में जाने जाते हैं। ये अधिकारी लोक सेवा में कार्यरत होते हैं। द्वितीय स्तर पर ये शिक्षा हमें अपने प्रशिक्षिण के पूर्ण होने पर विभिन्न केन्द्रों पर नियुक्त किये जाते हैं। तथा इन्हें चुने हुए 25 श्रमिकों के समूह को तीन महने की अवधि का पूर्णकालीन नियमित प्रशिक्षित का कार्य सौंपा जाता है। यह चुने हुये श्रमिक, श्रमिक शिक्षक के रूप में जाने जाते हैं। तीसरे स्तर पर यह श्रमिक शिक्षक आने प्रशिक्षिण को पूर्ण करने के पश्चात अपने औद्योगिक इकाई में लौट जाते हैं और अपनी इकाईयों के सभी श्रमिकों को कार्य के घण्टो को छोड़कर शिक्षा कार्यक्रमों को आयोजित करते हैं।

बोर्ड श्रम विषय पर श्रमिकों के लिये सरल भाषा में विषयक पुस्तकों का प्रकाशन करता है। बोर्ड तथा क्षेत्रीय केन्द्र श्रम विषयों पर अनेक सेमीनारों का आयोजन करते है। प्रशिक्षण के लिये दृश्य श्रव्य सामग्री और सरल दृश्य सामग्री का उपयोग किया जाता है।

बोर्ड औद्योगिक, बागान, खान और ग्रामीण श्रमिकों के लिये प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का आयोजन करता है यह कार्यक्रम बागान व खान में शीघ्रता से लागू किया गया। अन्य कार्यक्रम जो बोर्ड द्वारा लिया गया वह है ग्रामीण श्रमिको का शिक्षा कार्यक्रम 1 वर्ष 1977-78 में ग्रामीण श्रमिक शिक्षा कार्यक्रम पर मार्गदर्शी परियोजना के आधार पर प्राप्त अनुभव पर इस कार्यक्रम का वर्ष 1978-79 में सरलीकरण कर दिया गया।

बोर्ड का प्रशिक्षण कक्ष, श्रमिक शिक्षा का भारतीय संस्थान, के रूप में जाना जाता है। यह बम्बई में मार्च 1970 में स्थापित किया गया जो एक प्रदर्शन एवं सूचाना केन्द्र के रूप में कार्य करता है। और यह एक केन्द्र की भूमिका करता है जिसमें श्रमिकों को प्रशिक्षित करने एवं शिक्षा पर विशेष योजनाएं तैयार की जाती हैं। इसमें शिक्षण के विकसित एवं आदर्श तरीकों और उपकरणों पर विचार किया जाता है, अनुसन्धान का संचालन किया जाता है और उत्कर्ष अध्ययन सामग्री को तैयार किया जाता है।

अन्त में यह पाया गया कि श्रमिकों की शिक्षा योजना परिस्थितियों के अन्तर्गत शायद अच्छी है, परन्तु कुछ अध्ययन यह दर्शाते हैं कि तृतीय स्तर पर योजना की प्रगति अच्छी नहीं है जैसे - इकाई स्तर कक्षायें। इसका प्रमुख कारण यह है कि सेवायोजक कक्षाओं को चलाने के लिये सुविधायें प्रदान करने में पूर्ण सहयोग नहीं करते हैं और न ही बहुश्रमिकों को इन कक्षाओं में जाने के लिये प्रेरित करते हैं। अतः श्रमिक शिक्षकों पर अधिकतम नियन्त्रण, अध्यापन के लिये उनके चुनाव में अधिकतम ध्यान, कक्षाओं को चलाने के लिये सुविधाओं को प्रदान करने के प्रावधान को सेवायोजकों का वैधानिक दायित्व, इस योजना की सफलता के लिये अत्यावश्यक है।

32.4. औद्योगिक श्रमिकों के लिये स्वास्थ्य योजनाएं

भारत में श्रम पर शाही आयोग ने इस बिन्दु को महत्व दिया कि औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य का न केवल उसके स्वयं के लिये महत्व है वरन् सामान्य औद्योगिक सम्बन्ध के विकास और प्रगति के लिये भी महत्व है। बीमारी और खराब स्वास्थ्य, अनुपस्थिति, निम्नतर नैतिकता और असमय सोना के व्यापक कारणों के रूप में पहचाने जाते हैं, और जो उत्पादन को कम करते हैं, काम में बाधा डालते हैं तथा श्रमिकों और प्रबंधकों के सम्बन्ध को खराब करते हैं। औद्योगिक स्वास्थ्य में निम्न उपाय सम्मिलित है (1) श्रमिकों को उनके काम या उन दशाओं जिनके अन्तर्गत वह कार्य करता है में उत्पन्न होने वाली खराब स्वास्थ्य कठिनाइयों से सुरक्षित रखना, (2) श्रमिकों के उनके

कार्य या काम के वातावरण के साथ समायोजन को बढ़ाना और इस तरह श्रमिकों के ''भौतिक या शारीरिक एवं मानसिक समायोजन में योगदान देना और (3) श्रमिकें के शारीरिक और मानसिक कल्याण की ज्यादा से ज्यादा मात्रा प्रदान करना तथा उसे कायम रखना। प्रौढ़ पुरूष जनसंख्या के एक के भाग तथा प्रौढ़ महिलाओं की भी एक बड़ी संख्या का काम करने का ज्यादा समय वर्तमान में एक औद्योगिक वातावरण के जिसमें कि वे काम करते हैं, बीत जाता है। उद्योग में ऐसे रोजगार का श्रमिकों के स्वास्थ्य की दृष्टि से विशेष महत्व हो।

तथापि औद्योगिक स्वास्थ्य राष्ट्रीय स्वायत्ता का अंग है और इसमें सुधार की आशा तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि सामान्य सार्वजनिक स्वास्थ्य न सुधरे। प्रगतिशल देखों में अब लोक स्वास्थ्य सामाजिक औषधि है सामाजिक सेवा का एक श्रेत्र है जिसका लक्ष्य समान और इसके सदस्यों को संगठित सामूहिक प्रयासों द्वारा चिकित्सा संरक्षण देना है। भारत में जहां बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण लागू हो रहा है औद्योगिक बीमारी को दूर करने और प्रभावपूर्ण नियन्त्रण तथा श्रमिकों के स्वास्थ्य के सुधार के लिये आधुनिक व्यवस्था अपनाई है। यह महसूस किया गया है कि औद्योगिक स्वास्थ्य सेवा अधिक उत्पादक और संगठन का सकारात्मक भाग है यह इतनी ही महत्वपूर्ण गतिविधि है जितनी कि आधुनिक उद्योग में मशीनरी को सही दशा में रखने का होता है।

सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा अपनाये गये उपाय

भारत में औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित आंकड़े थोड़े ही हैं। इसका मुख्य कारण ऐसी सूचना हो इकट्ठा करने के लिये व्यवस्था ठीक न होता रहा है। वास्तव में सम्पूर्ण देश में चिकित्सा संगठन अपर्याप्त हैं सेवायोजकों द्वारा प्रदान की जाने वाली चिकित्सा सुविधायें न्यूनतम है। स्वास्थ्य सर्वेक्षण एवं विकास समिति (भोर समिति) के सुझाव भी सम्पूर्ण देश में चिकित्सा संगठन में महत्वपूर्ण सुधार के लिये उपयोगी है। स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास समिति की रिपोर्ट 1961 के पश्चात के अधिकाशतः स्वास्थ्य योजनाओं के बारे में आधार निर्मित किये हैं। कर्मचारी राज्यों बीमा योजना औद्योगिक श्रमिकों को बीमारी के समय, रोजगार के समय चोट, बच्चे के जन्म और श्रमिकों के स्वास्थ्य में सुधार के लिये चिकित्सा सुविधा प्रदान करती है। केन्द्र सरकार ने भी केन्द्रीय श्रम संस्थान बम्बई (1961) में बनाया और तीन क्षेत्रीय श्रम संस्थान कलकत्ता, मद्रास और कानपुर (1965) में स्थापित किये हैं। प्रत्येक में औद्योगिक स्वास्थ्य विज्ञान प्रयोगशालायें, एक महत्वपूर्ण विभाग के रूप में जिसमें प्रशिक्षण कार्यक्रम और स्वास्थ्य, सुरक्षा, कल्याण और मानवीय साधनों से सम्बंधी उद्योग में कार्य परिस्थितियों के विभिन्न पहलुओं पर विशेष अध्ययन कराये जाते हैं, विद्यमान है। एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद भी बनाई गई है। अनेक राज्यों में चिकित्सा निरीक्षक नियुक्त किये गये हैं।

32.5. कल्याण संस्थाएं

कल्याण कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है: (1) वैधानिक (2) ऐच्छिक और (3) पारस्परिक कल्याण कार्य। वैधानिक कल्याण कार्यों के अन्तर्गत के कार्य आते हैं जिनको सरकार के अवपीडक अधिकारों (Coercive Power) के कारण करना अनिवार्य होता है। ऐच्छिक कल्याण कार्य के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो कि सेवायोजक अपने श्रमिकों के लिये सम्पादित करते हैं। पारूपरिक कल्याण कार्य श्रमिकों द्वारा किये गये वे कार्य है जो कि वह पारस्परिक सहयोग से अपने कल्याण

के लिये करते हैं। इस उद्देश्य से श्रमिक संघ श्रमिकों के कल्याण के लिये अनेक कार्य करते हैं।

भारत सरकार द्वारा सम्पादित श्रम कल्याण कार्य

दूसरे महायुद्ध से पहले कल्याण कार्य के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा बहुत ही कम काम किया गया था। देश में वैधानिक कल्याण व्यवस्थाओं को दो वर्गों में रखा जा सकता है: (1) वे सुविधाएं जिन्हें संस्थाओं के आकार या उनमें काम करने वाले श्रमिकों की संख्या कुछ भी होने पर देना होता है जैसे- कपड़े धोने, रखने तथा सुखाने, पीने के पानी, शौचालय और मूत्रालय की जगह की सुविधाएं तथा (2) वे सुविधाएं जो श्रमिकों की एक निर्धारित संख्या नियुक्त किये जाने पर दी जानी होती है जैसे - केन्टीन, विश्राम की जगह तथ एम्बुलेस की सुविधाएं।

कारखाना अधिनियम 1948 खान अधिनियम 1952 बागान श्रमिक अधिनियम 1951 और इसके पश्चात कुछ अन्य महत्वपूर्ण अधिनियम पास किये गये जिन में श्रमिकों के कल्याण हेतु विभिन्न प्रावधानों का समावेश किया गया है। कल्याण गतिविधियों का निम्न अधिनियमों विचार किया गया है कोयला खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम 1947, अभ्रक खान श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम 1946। वर्ष 1961 में कच्चा लोहा खान श्रमिक कल्याण अधिनियम का वर्ष 1978 में मैगनीज खानों के श्रमिकों को शामिल करने के लिये विस्तार किया गया, लाइम स्टोन एवं डोलोमाइट खान श्रमिक कल्याण कोष अधिनियम 1977 एक व्यापक क्षेत्र पर लागू होते हैं। इन अधिनियमों के अन्तर्गत कल्याण सम्बन्धी योजनाएं बनाते समय श्रमिकों के जीवन पर पूरी तरह ध्यान रखा गया है तथा यह प्रयास किया गया है कि श्रमिक एवं उसका परिवार अपने खाली समय का अच्छे से अच्छा प्रयोग कर सकें।

1. श्रम कल्याण कोष

केन्द्रीय राज्य संस्थानों में रेल और बन्दरगाहों को छोड़कर श्रम कल्याण कोष की एक प्रयोगात्मक योजना सरकार ने वर्ष 1946 में बनाई। वर्ष 1948-49 में लगभग 80 केन्द्रीय सरकारी औद्योगिक संस्थानों में श्रम कल्याण निधियों की स्थापना हो गयी थी। वर्ष 1950-51 में इनकी संख्या बढ़कर 221 हो गई। श्रमिकों के प्रतिनिधियों को भी इन निधियों के प्रबन्ध में सम्मिलित कर लिया गया है। इन निधियों में से श्रमिकों के लिये कमरे के भीतर एवं मैदान में खेले जाने वाले खेलों, वाचनालय, पुस्तकालय मनोरंजन आदि के लिये धन व्यय किया जाता है अर्थात ऐसी सुविधाओं पर जो किसी अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त नहीं की जाती। सरकार भी आंशिक अनुदान के रूप में निधि को कुछ सहायता देती है। इसके अतिरिक्त इस निधि में धन जुर्माने, साइकिल स्टैण्ड, फल की दुकानों आदि से प्राप्त राशि तथा केन्टीन, व्यावसायिक कार्यों, उपभोक्ता भण्डार, सब्जी बागान आदि से आमदनी द्वारा संयुक्त होता है। अंशदान इस शर्त पर दिया जाता है कि एक कल्याण समिति होगी जिसमें निधि के प्रबन्धन कल्याण कार्यों के करने के लिये श्रमिकों और सरकार के प्रतिनिधि होंगे। वार्षिक रूप से लेखा-जोखा बनाया जायेगा, उसकी उचित जांच होगी और निधि पर धन केवल चालू व्यय पर ही किया जायेगा, पूंजीगत व्यय पर नहीं।

2. रेलवे तथा बन्दरगाहों आदि में श्रम कल्याण कार्य

रेलवे में कर्मचारियों और उनके परिवारों की चिकित्सा के लिये अस्पताल, उचित

सामान सहित कई चिकित्सालयों और कई चिकित्सा अधिकारियों की व्यवस्था है। रेलवे कर्मचारियों के लिये मुख्य मुख्य पहाड़ी स्थानों पर विश्राम गृह खोले गये हैं। इस के अतिरिक्त रेलवे आय में से प्राप्त धन की सहायता से रेलवे लाभ निधि समितियों द्वारा अनेक मातृत्व हित एवं शिशु कल्याण केन्द्र चलाये गये हैं। रेलवे अपने श्रमिकों को विद्यालय चला कर तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था कर शिक्षा की सुविधा प्रदान करती है। अधिकांश रेलवे द्वारा संचालित संस्थानों, क्लबों में कमरे के भीतर तथा बाहर मनोरंजन हेतु सुविधायें प्रदान की जाती हैं और बच्चों के मनोरंजन के लिये कैम्पों को संगठित किया जाता है। आपत्तिकाल में सहायता देने हेतु स्टाफ हित निधियां भी स्थापित की गई हैं। रेलों में कैंटीन भी हैं जहां कर्मचारियों को भोजन देने की व्यवस्था रेलवे कर्मचारियों के अनेक उपभोक्ता सहकारी भण्डार संस्था साख समितियां तथा सहकारी आवास समितियां भी हैं। समूचे कर्मचारियों के निर्वाह खर्च में वृद्धि को रोकने के लिए अनेक अनाज की दुकानें तथा चलती फिरती अनाज दुकानें भी हैं।

समान रूप से सभी प्रमुख बन्दरगाहों पर श्रमिकों एवं उनके परिवारों के लिये योग्य चिकित्सकों क तथा उचित सामान सहित औषद्यालयों की व्यवस्था है। बम्बई, मद्रास, विशाखापट्नम और कोचीन में सहकारी साख समितियां और कलकत्ता मं एक ऋण निधि है। अधिकांश मुख्य बन्दरगाहों पर श्रमिकों को मनोरंजन की सुविधायें प्रदान की जाती हैं तथा कैन्टीन प्रायः सहकारिता के आधार पर चलायी जाती है।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार ने श्रमिकों के कल्याण कार्यों के लिये सक्रिय कदम उठाये हैं। केन्द्रीय संस्थानों में और केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग में श्रम कल्याण अधिकारी भी नियुक्त किये गये हैं।

3. राज्य सरकारों द्वारा किये जाने वाले कल्याण कार्य

लगभग सभी राज्यों और संघ क्षेत्रों में श्रमिकों के लिये कल्याण कार्यों को करने के लिये कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गई है, और अधिकांश राज्यों में अधिनियम के अन्तर्गत कल्याण कोषों की स्थापना की गई है। इन केन्द्रों में खेलों, विश्राम, पुस्तकालय, वाचनालय श्रमिकों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण आदि सुविधायें प्रदान की जाती हैं। इन गतिविधियों में प्रोढ़ शिक्षा, मनोरंजन सांस्कृतिक गतिविधियां, स्वास्थ्य, स्वास्थ्य विज्ञान, शिशु पाठशाला बच्चों के लिये शिशु मन्दिर, बढ़ईगिरी में प्रशिक्षण सिलाई कढ़ाई पुस्तकालय सेवा, निर्वाह स्तर को ऊपर उठाने का प्रचार कस्तकारी प्रशिक्षण, संगीत कक्षायें, सिनेमा शो, चाय बागान श्रमिकों के लिये व्यावसायिक प्रशिक्षण सम्मिलित है।

32.6 ऐच्छिक संस्थाएं

यह महसूस किया गया कि कानून द्वारा निर्धारित सुविधाओं और सरकारी अधिकारियों द्वारा निर्धारित सुविधाओं और सरकारी अधिकारियों द्वारा किये गये कार्यों के अलावा सेवायोजक भी अपनी संस्थाओं में कल्याण सुविधाओं की व्यवस्था करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। सेवायोजकों द्वारा किये जाने वाले कल्याण का तरीका विस्तार आधारित नीति है बड़ी संस्थाओं में मनोरंजन एवं शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है जबकि छोटी संस्थाएं सिर्फ कानून द्वारा निर्धारित सुविधाओं के आयोजन से सन्तोष कर लेती हैं। कुछ बड़े पैमाने वाले और अच्छे संगठित उद्योगों जैसे जूट और चाय उद्योग में कल्याण कार्य संयुक्त आधार पर किये जाते हैं। भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन कलकत्ता ने अपनी सदस्य संस्थाओं के लिये कल्याण कार्यों के संगठन की जिम्मेदारी ली है तथा

पांच कल्याण केन्द्रों की स्थापना की है।

आमतौर में सेवायोजकों द्वारा श्रमिकों के कल्याण के लिये दी गयी ज्यादातर सुविधायें जैसे - औषधालय बैंक शिशु सदन वैधानिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दी गई है। सेवायोजकों द्वारा दी गयी ऐसी सुविधाओं का स्तर कानूनी आदेशों से कहीं ज्यादा व्यापक है। उदाहरण के लिये नये स्थापित कारखाने के लिये अच्छी केन्टीन की व्यवस्था जिसमें विद्युत के उपयोग वाली रसोईघर हो। अनेक सूती वस्त्र मिल के सेवायोजक ओर बड़े स्तर के उद्योग कई कल्याण उपाय जैसे वाचनालय, पुस्तकालय और अन्य मनोंरजन के कार्यक्रमों की सुविधायें स्वयं की पहल पर प्रदान करते हैं।

असम और पश्चिमी बंगाल के सभी चाय बागान श्रमिकों को चिकित्सा सुविधा देने के लिये योग्य चिकित्सकों और कम्पाउण्डरों के आधीन औषधालय चलाते हैं। कुछ बागान मिलकर एक मेडीकल एसोसियेशन रखते हैं, जिनमें एक प्रधान चिकित्सा अधिकारी और योग्य चिकित्सकों का स्टाफ हो जाता है। इसमें पूरा साज समान है और जहां एसोसियेशन के सदस्यों द्वारा भेजे गये गम्भीर मामलों का इलाज होता है। दक्षिण भारत में एक ही कम्पनी के विभिन्न बागानों में सामूहिक अस्पताल है जिनमें प्रसूति और वियोजन (Isolation) वार्ड है।

कोयला खान में अनेक चिकित्सालय, चलती-फिरती चिकित्सा इकाईयाँ प्रसूति और बच्चों के कल्याण के केन्द्रों की स्थापना की गई है। अनेक कोयला खान क्षेत्रों में कई बहुउपयोगी संस्थान प्रौढ़ शिक्षा, प्रौढ़ों को भोजन प्रदान करने वाले केन्द्र चलाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में अनेक महिला कन्याण और बच्चों की शिक्षा केन्द्र कार्यरत हैं।

32.7 सारांश

श्रम कल्याण एक व्यापक शब्द है। इसमें सेवायोजकों, सरकार एवं स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा किए गए वे सभी कार्य सम्मिलित किए जाते हैं जिनसे श्रमिकों का जीवन स्तर उन्नत हो अथवा कार्य की दशाओं में सुधार हो। औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवास सुविधा का बड़ा महत्व है। गन्दी एवं तंग बस्तियों में रहकर अच्छे स्वास्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती अतः सस्ते, हवादार एवं साफ सुथरे आवास उपलब्ध कराने हेतु श्रमिकों को ऋण देना अथवा उनके लिए आवास योजनाएं बनाकर उन्हें कम ब्याज एवं किश्तों में उपलब्ध कराना सरकार की प्राथमिकताओं में से एक है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की शिक्षा के लिए सरकार ने कई योजनाएं चलाई हैं। स्वास्थ्य योजनाएं व्यक्ति की शारीरिक क्षमताओं को बनाए रखती हैं एवं उनमें वृद्धि करती है। श्रम कल्याण के क्षेत्र में स्वैच्छिक संस्थाएं भी काफी आगे आई हैं।

32.8 शब्दावली

आवास योजनाएँ	—	Housing Schemes
हुडको	—	HUDCO
राष्ट्रीय आवास नीति	—	National Housing Policy
स्वैच्छिक/ऐच्छिक संस्थाएं	—	Voluntary Organisations
श्रम कल्याण कोष	—	Labour Welfare Fund

32.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें सन्दर्भ एवं

1. Report of the Royal Commission on Labour P. 267.
2. Todd Arthar James' Industry and Society - A Socilogical Appraisal of Modern Industrialism PP.25
3. Report of the Labour Investigation Committee P.245
4. Report of the Royal Commission on Labour P.271-272.
5. Mukerjee R., "Indian Working Class" P.320
6. Report of the Royal Commission on Labour P.27.
7. Bhagoliwal, T.N. Economics of Labour and Industrial Relations.
8. Saxena, R.C. Labour Problems and Social Welfare.
9. Agarwal, A.N. Indian Labour Problems (Edited by A.N. Agarwal)
10. Bajpai, D.S. our **Labour Problems.**
11. Brougton, G.M. **Labour in Indian** Industries.
12. Datar, B.N. Labour **Economics**
13. Dass, B.K. Factory **Labour in India**
14. Gupta, R.B. Labour Housing in India.
15. Ghosh, Alok, Indian Economy, Its Nature and Problems
16. Giri, V.V. Lubour Problems in Indian Industry.
17. Mathetra, P.C. Indian Labour Movements.
18. Pigou, A.C. Economics of Welfare, Part III.
19. Rastogi, T.N. Indian Industrial Labour.
20. Roberts, I.H. Industrial Relations.
21. Shiva Rao, B. The Industrial Worker in India.

इकाई-33

भारत में महिला एवं बालश्रम

इकाई की रूपरेखा

33.0 उद्देश्य

33.1 प्रस्तावना

33.2 बाल श्रम

- 33.2.1 भारत में उद्योग में बाल श्रम
- 33.2.2 भारत में बाल श्रम के कारण
- 33.2.3 बाल श्रम के दोष
- 33.2.4 भारत में बाल श्रम निवारण हेतु सरकार द्वारा निर्धारित बाल श्रम कानून
- 33.2.5 भारत सरकार द्वारा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बाल श्रम के संबंध में पारित निर्णय व निर्णय की अनुपालना में वर्तमान में राज्य सरकार द्वारा अपेक्षित कार्यवाही।
- 33.2.6 भारत में बाल श्रम स्थिति
- 33.2.7 सुधार के उपाय

33.3 महिला श्रम

- 33.3.1 भारत में महिला श्रम
- 33.3.2 विभिन्न देशों में महिला श्रम की स्थिति
- 33.3.3 भारत में महिला श्रम रोजगार संबन्धी प्रवृत्तियां
- 33.3.4 भारत में महिला श्रम की विभिन्न रोजगारों में स्थिति
- 33.3.5 भारत में महिला श्रम की तुलनात्मक स्थिति व प्रतिशत कम होने के कारण
- 33.3.6 भारत द्वारा महिला श्रम के संबन्ध में उठाए गए महत्वपूर्ण कदम

33.4 सारांश

33.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

33.6 निबन्धात्मक प्रश्न

33.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य भारत मे बाल व महिला श्रम की संकल्पना, भारत में बाल व महिला श्रम की आवश्यकता और भारत में बाल व महिला श्रम की स्थिति के संबंध मे ज्ञान व संपूर्ण जानकारी देना है।

भारत में बाल व महिला श्रम की समस्या के प्रति रूचि जागृत करना, बाल व महिला

श्रम समस्या निवारण के लिए अभिरूचि उत्पन्न करना।

भारत में बाल व महिला श्रम के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना, इस दृष्टिकोण में अधिक व्यापकता से विचार करना. आस-पास के क्षेत्रों में पाए जाने वाले बाल व महिला श्रम को शोषण मुक्त कराने में सहयोग प्रदान करना।

मानव जीवन के सभी क्षेत्र में कार्य करते हुए चाहे विभागीय प्रशासन हो या घरेलू परिवेश, सामाजिक सांस्कृतिक क्रियाएं हो या सार्वजनिक क्रियाएं बाल व महिला श्रम समस्या पर नया आयाम, नया दृष्टिकोण अपनाने में सहायता प्रदान करना।

33.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारत मिश्रित नियोजित अर्थव्यवस्था है जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र भी आर्थिक जगत में अपना समान योगदान देता है। साथ ही स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से लेकर वर्तमान तक विभिन्न पंचवर्षीय व एक-एक वर्षीय योजनाओं के माध्यम से अपना आर्थिक विकास किया है। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था के संदर्भ में एवं समाजवादी पद्धति के आदर्श के प्रति राष्ट्र के प्रयत्नों की दृष्टि से श्रम जो आर्थिक प्रणाली का मानवीय भाग है, स्पष्ट, तथा अद्वितीय रूप से महत्वपूर्ण है। यह आर्थिक नियोजन का आधार और उसे लागू करने का माध्यम दोनो ही है। जब हम मानव श्रम के विषय में अध्ययन करते हैं तो हमें इस देश की विशाल जनसंख्या में मानव श्रम के रूप में बाल एवं महिला श्रम की भूमिका को कम नहीं आंकना चाहिए जो कि कुल श्रम का लगभग आधे से कुछ ही कम पाया जाता है। यह सही है कि बाल एवं महिला श्रम से कार्य तो सामान्य मानव श्रम के बराबर लिया जाता है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं उनका शोषण ही होता है। अतः वर्तमान कल्याणकारी सरकार में बाल व महिला श्रम की समस्या हर क्षेत्र में, हर जगह, हर रोजगार में पाई जाने वाली समस्या है। जिस पर न केवल गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए, वरन इनके निराकरण व कल्याण की दिशा में उपयुक्त कदम उठाये जाने जरूरी हैं। भारत में बाल व महिला श्रम हेतु विभिन्न प्रयास भी किए गए हैं जिनके सकारात्मक परिणाम भी सामने आए है।

33.2 बाल श्रम

आधुनिक औद्योगीकरण के युग में सेवायोजकों में यह प्रवृत्ति बढती जा रही है कि वे अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। औद्योगीकरण के बढ़ते हुए इस प्रभाव ने बाल श्रम की इस समस्या को जन्म दिया है। इस प्रकार से बाल श्रम का कार्य पर लगाया जाना औद्योगिक क्रांति की देन है। उद्योगपति व कारखाने के मालिक अपने उत्पादन व्ययों को घटाने के लिए सस्ता श्रम का उपयोग करना चाहते थे। इस दृष्टि से बाल श्रम सबसे सस्ता साधन था। बच्चे अपने श्रम के लिए मोलभाव भी नहीं कर सकते थे अतः उनसे जितने घण्टे चाहे उतने घण्टे कार्य करवाया जा सकता था। कार्य करने की दशाओं के संबंध में भी वे कभी आवाज नहीं उठाते थे। इस प्रकार से श्रम कल्याण संबंधी समस्त व्यय की तो बचत होती ही थी साथ ही बच्चों को अपेक्षाकृत कम मजदूरी देकर दोहरा लाभ मिलता था। सेवायोजकों की दृष्टि से इन विविध लाभों के कारण बच्चों को कार्य पर लगाने की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती गयी। यह प्रवृत्ति केवल असंगठित उद्योगों में ही नही वरन् संगठित उद्योगों, बागानों, खनिज उद्योगों आदि सभी प्रकार के व्यवसायों में पनपती गई।

बाल श्रम का उपयोग सामान्यतः बुरा नहीं है, परन्तु जिन परिस्थितियों एवं जिन शर्तों पर इन्हें काम पर लगाया जाता है, वह बुरा है। इस सन्दर्भ में यह कथन महत्वपूर्ण है कि "बचपन में कार्य करना सामाजिक अच्छाई है एवं वह राष्ट्रीय हित में भी है, परन्तु बाल श्रम एक सामाजिक

बुराई व राष्ट्रीय अपव्यय भी है।" *सामाजिक अच्छाई से अथवा बुराई से हमारा आशय यह है कि जब तक किसी वस्तु का न्यायोचित उपयोग होता है, तब तक वह सामाजिक अच्छाई कहलाती है, किन्तु जब उसका दुरूपयोग होने लगता है तब वह सामाजिक बुराई का कारण बन जाती है। वैसे तो बाल श्रम के उपयोग से रोजगार में वृद्धि होती है रोजगार बढ़ने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है परन्तु जब व्यक्तिगत लाभ की आड़ लेकर नन्हें मुन्नों का शोषण होने लगता है, तो कोई भी राष्ट्र इसे स्वीकार नहीं कर सकता। प्रारम्भ से ही जब बच्चों का शोषण होने लगता है तो उनके जीवन की सभी महात्वाकांक्षाए समाप्त हो जाती है। ऐसी दशा में हम उनसे औद्योगिक समृद्धि की आशा नहीं कर सकते। "बच्चों के श्रम का उनके स्वास्थ्य से प्रत्यक्ष संबंध रहता है, जिस प्रकार का काम बच्चों से उद्योगों में लिया जाता है उसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों के इस प्रकार काम करने से परिवार के सामान्य जीवन में बाधा पहुँचती है तथा सामाजिक नियंत्रण टूटने लगता है जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बहुत आवश्यक है। बच्चों को उचित शिक्षा नहीं मिल पाती तथा उनका बौद्धिक विकास रूक जाता है इस प्रकार अन्तिम रूप में देखने पर बच्चे नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों में अत्यधिक लाभदायकपूर्ण ढंग से भाग नहीं ले पाते।"*

निसंदेह बच्चे राष्ट्र के कर्णधार है, भावी आधार-स्तम्भ है। बचपन में तो उनको ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे कि आगे चलकर वे योग्य नागरिक बन सके। बाल्यावस्था की देखरेख, पालन पोषण; खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, संस्कारों का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। अतः यदि बच्चों को छोटी आयु में ही कारखानों के दूष्टि वातावारण में डालकर उनकी क्षमता से अधिक कार्य लेकर उन्हें शिक्षण संस्थाओं से हटाकर उनकी क्षमता से अधिक कार्य लेकर उन्हें शिक्षण संस्थाओं से हटाकर उद्योगों में लगाया जायेगा तो इससे राष्ट्र की भावी समृद्धि ही खतरे में नहीं पड़ेगी, वरन् समाज का अस्तित्व भी अत्यन्त शिथिल हो जायेगा। श्रम अनुसन्धान समिति के अनुसार "भारत में अवस्थाओं में एक काला धब्बा विद्यमान है वह है बालकों को कार्य पर लगाया जाना।"

33.2.1 भारत में बाल श्रम

यह सच है कि प्राचीन भारत में बाल श्रम का कोई स्थान नहीं था। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के दौरान जब भारत विश्व व्यापार का एक महत्वपूर्ण भाग बना तथा अपने निर्यातकों द्वारा इसे यूरोप से बहुमूल्य धातुएं प्राप्त होने लगीं तो बढते औद्योगिक विकास ने बढ़ते-बढते 17 वीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश तक पूरी तरह से औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया व उसके परिणाम स्वरूप भारत में बिगड़ी अर्थव्यवस्था ने बाल श्रम को कार्य करने के लिए मजबूर किया, क्योंकि बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के फलस्वरूप बहुत सी गड़बड़ियां पैदा हो जाती हैं। जिनमें से एक गड़बड़ी कारखानों, कार्यशालाओं और दूसरे अनियंत्रित व्यवसायों में बच्चों को रोजगार पर रखना है। भारत में बाल श्रम का प्रादुर्भाव, औद्योगीकरण क्रांति के परिणाम स्वरूप औद्योगीकरण की बढ़ती हुई मांग के कारण हुआ। सस्ते श्रम के लिए उद्योग की मांग इतनी तेजी से बढ़ी तथा जनता की गरीबी इतनी ज्यादा हो गई कि सेवायोजकों में बाल श्रम के शोषण की प्रवृति पहले से ज्यादा बढ़ने लगी और फलस्वरूप संगठित उद्योगों एवं दूसरी औद्योगिक संस्थाओं में बड़ी

---

* While work in childhood is a social good and a national gain, child labour is a social evil and a national waste.

*Child labour is directly related to child health and exerts a negative effect upon it. It tends to interfere with the normal family life and to encourage the breakdown of the social control that is largely dependent upon to preserve the existing social order. it seriously interferes with their education and precludes the most productive participation in the privileges and obligations of citizenship.

संख्या में बच्चों को काम दिया जाने लगा तथा रोजगार की दशाओं पर उचित नियंत्रण और बच्चों की सुरक्षा के लिए शुरू में कानूनी कार्यवाही की कमी होने के कारण कम आयु के बच्चों से लम्बे घण्टों तक कारखाना श्रमिक की तरह रोजमर्रा के खास कार्यों के लिए कुछ आने प्रतिदिन की मजदूरी पर काम लिया गया। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले बच्चों की आयु सीमा के संबंध में विभिन्न कानूनी प्रतिबंध होते हुए भी बाल रोजगार प्रायः जारी है। शाही आयोग ने पाँच वर्ष की उम्र के बच्चों को अठारह घण्टे प्रतिदिन काम करते हुए पाया। श्रम जाँच समिति (1946) ने इस संबंध में लिखा था, कि, "भारत में श्रम संबंधी दशाओं का एक बड़ा दोष यह है कि कुछ उद्योगों में बच्चों को गैर कानूनी रूप से काम पर रखा जाता है।" 1950 के बाद के वर्षों में बाल श्रम से संबंधित स्थिति अपेक्षाकृत सुधरती गयी है। लेबर ब्यूरो द्वारा की गई एक जांच के अनुसार यह तो पता चलता है कि "कारखाना उद्योगों में बाल श्रम कोई गंभीर समस्या नहीं है किन्तु कारखाना निरीक्षकों एवं क्षेत्र जांचों में लगे हुए दूसरे अधिकारियों का यह व्यापक अनुभव रहा है कि उनके काम की जगह पर पहुँचते ही काफी संख्या में वे बच्चे कारखानों से भाग जाते हैं जो प्रायः रोजगार के लिए निर्धारित न्यूनतम उम्र से कम होते हैं।" इस अध्ययन से पता चलता है कि लघु उद्योगों एवं कुटीर उद्योगों में निर्धारित उम्र से कम के बच्चों का रोजगार या तो बिना प्रमाणित किए हुए या झूठे प्रमाण-पत्रों के साथ जारी था तथा कार्य के वास्तविक घण्टे विभिन्न कानूनों के अन्तर्गत निर्धारित काम के घण्टों से ज्यादा थे तथा बच्चों के काम की दशाएं खराब थी। यद्यपि बागानों, कारखानों तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों में जहाँ भी बच्चों को रोजगार था उन्हें अपेक्षाकृत हलका काम दिया गया था।

हमारे समाज में बाल श्रम का उपयोग कारखानों में ही नहीं अपितु अनियन्त्रित उद्योगों, खनिज उद्योगों, उद्यानों तथा कृषि क्षेत्र में भी होता है।

1. कारखानों में बाल श्रम

भारत में कारखानों का प्रसार औद्योगिक क्रांति के पश्चात् प्रारम्भ हुआ और इसी समय से बालकों को शिक्षा केन्द्रों, क्रीड़ा स्थलों से हटाकर कारखानों में लगाया जाने लगा। सस्ते श्रम की आपूर्ति का साधन बालकों को बड़ी तेजी से काम मिलने लगा और बचपन की दहलीज पर उनके शोषण का सिलसिला प्रारम्भ हो गया। सर्व प्रथम 1881 में कारखाना अधिनियम पास हुआ जिसमें बाल-श्रम की दशाओं में कुछ सुधार हुआ। समय-समय पर इस नियम में अनेक संशोधन किए गए।

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में विभिन्न कारखानों में कुल श्रमिकों की संख्या में बाल श्रमिकों का प्रतिशत 5.9 था जो वर्तमान में घटकर 0.9 रह गया है परन्तु आकड़े सही स्थिति को जानने के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि

(क) अनेक स्थानों पर बालकों को अपनी आयु 18 वर्ष बतलाने के लिए पहले से ही सिखा दिया जाता है।

(ख) कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आयु के प्रमाण पत्र भी गलत दिये जाते है।

(ग) कहीं-कहीं तो कारखाना निरीक्षकों के आने की खबर पाकर बच्चों को भगा दिया जाता है।

भारत में रसायनिक उद्योग, पेय पदार्थ, खनिज तथा तम्बाकू उद्योगों में बाल श्रम का उपयोग अधिक होता है। रसायनिक उद्योगों में भी दिया सलाई के कारखानों, खनिज उद्योगों में अभ्रक के कारखानों में बाल श्रम का अत्यधिक उपयोग किया जाता है। तथा तम्बाकू उद्योग में बीड़ी के कारखानों में बाल श्रम का अत्यधिक उपयोग किया जाता है

2. अनियंत्रित उद्योगों में बाल श्रम

बाल श्रमिकों की दशा अनियंत्रित कारखानों और कार्यशालाओं में बहुत खराब है वहा 5

वर्ष से 12 वर्ष तक के बालकों को रोजगार दे दिया जाता है इन कारखानों में न तो कारखाना अधिनियम लागू होता है और न अन्य कोई कानूनी व्यवस्था ऐसे उद्योगों में बीड़ी, चमड़ा, कालीन बनाना, अभ्रक कूटना और कॉच की चूड़ियां बनाना आदि मुख्य है।

3. बागानों में बाल श्रम

श्रम अधिनियम 1952 ने 12 वर्ष से कम आयु के बालकों को बागानों में रोजगार देना वर्जित किया हुआ है इसके बावजूद भी वहाँ बालकों को काम दिया जाता है। आकड़ों से पता चलता है कि बंगाल में 25.7 प्रतिशत दार्जिलिंग में 12 प्रतिशत असम की घाटी में 14.4 प्रतिशत, सुरमा की घाटी में 16 प्रतिशत तथा दक्षिणी भारत के चाय व काफी बागानों के 11 प्रतिशत बालक कार्य करते है। भारत के अन्य राज्यों की अपेक्षा असम के चाय बागीचों में बाल श्रम का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है।

4. खानों में बाल श्रम

खानों में बालकों को रोजगार पर लगाया जाता है जब से खान अधिनियम 1923 बना तब से बाल श्रमिकों की संख्या कुछ कम हुई है। अभ्रक की खान में बाल श्रमिक सर्वाधिक संख्या में है।

5. औद्योगिक व्यवसायों में बाल श्रम

औद्योगिक संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक उनके व्यवसायों में भी बाल श्रम का उपयोग किया जाता है इन व्यवसायों में सिनेमा, होटल, शराब घर, कार्यशाला आदि प्रमुख है। इन व्यवसायों में बच्चों को लाने के लिए विभिन्न नगरों में ऐजेन्ट होते हैं। जो गांव के गरीब माँ-बाप को बहला फुसलाकर उनके बच्चों को शहर में ले जाते हैं और बहुत से गन्दे व अनैतिक कार्य करवाते हैं।

6. कृषि उद्योग में बाल श्रम

भारत की लगभग दो तिहाई जनसंख्या आज भी अपनी जीविका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि से ही प्राप्त करते है। ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चे अपने माता-पिता की सहायता के लिए अल्पायु में ही खेतों में काम करने लगते है। बहुत से बच्चे मजदूरी भी करते है और भूस्वामी के घर बेगार करने के लिए भी विवश किये जाते हैं। इनकी संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है।

इन क्षेत्रों के अतिरिक्त बहुत से बच्चे नौकर के रूप में घरों में सफाई, बर्तन माजना, कपड़े धोना, खाना पकाने में सहायता करना, बच्चों को खिलाना, घरेलू कार्यों में सहायता करना आदि काम करते देखे जा सकते है। इसी प्रकार बहुत से बच्चे दुकानों पर काम करते है।

33.3.2 भारत में बाल श्रम के कारण

भारत में विभिन्न उद्योगों में बच्चों को काम पर रखने के कारणों में प्रमुख निम्न हैं :-

(i) वयस्क श्रमिक की कमाई का नीचा स्तर।

(ii) देश में राज्य द्वारा चलाई गयी किसी ऐसी योजना का न होना, जो गरीब माता-पिताओं को अपने बच्चों के लिए ठीक और संतुलित खुराक तथा रहन-सहन दशाएं करने में सहायक हो।

(iii) सुरक्षा प्रदान करने वाले श्रम कानूनों से बचे रहना।

(iv) बहुत से धन्धों का श्रम कानूनों से बचे रहना।

(v) वर्तमान कानून व्यवस्था का पालन करने में ढिलाई या कोताही बरतना।

(vi) श्रम कानून व्यवस्था में निरीक्षण व्यवस्था कम पाई जाना।

श्रम के रोजगार का सबसे बड़ा कारण व्यापक गरीबी है। ऐसा श्रम सस्ता भी होता है। तमिलनाडु के तीन शहरो में बाल श्रम के संबंध में किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि 35% बच्चे 300/- रू० मासिक से कम आय वाले परिवारों के थे तथा कुल के 72% परिवार की आय बढाने के लिए काम पर लगे हुए थे। यही स्थिति प्रायः सभी महानगरों की है। "बम्बई नेशनल इस्स्टीट्यट ऑफ पब्लिक कोआपरेशन एण्ड चाइल्ड डवलपमेन्ट" द्वारा किए एक सर्वेक्षण के मुताबिक 52% परिवारों में जिनकी मासिक आय दो हजार रूपये से चार हजार तक थी बच्चों द्वारा परिवार की आय में योगदान करीब 23% थी। अनुमान के मुताबिक "यदि सभी बच्चे भारत की श्रम शक्ति से अलग कर दिए जाये तो कम से कम 15 मिलियन वयस्क बेरोजगार व्यक्तियों के लिए रोजगार के मौके बढ़ जायेंगें"

भारत में बालकों को काम पर लगाये जाने की प्रवृत्ति के मुख्य कारण निम्न है –

1. निर्धनता के कारण बालकों को अतिरिक्त आमदनी का साधन बनाना।
2. अनपढ़ व गरीब माता पिता का शिक्षा के महत्व को न समझना तथा अनिवार्य शिक्षा योजना का प्रभावी ढंग से लागू न हो पाना।
3. पाश्चात्य देशों की तरह गरीब परिवारों के बच्चों के लिए भत्ता देने की प्रणाली का अभाव।
4. बालकों को कार्य पर रखने संबंधी प्रतिबन्धों का कठोरता से पालन न होना।
5. सेवायोजकों द्वारा सस्ते श्रम की मांग।

33.2.3 बाल श्रम के दोष

बाल श्रम एक बड़ी सामाजिक बुराई और बड़ी राष्ट्रीय बरबादी है क्योकि "परिवार के निर्वाह के लिए मजदूरी कमाने की आर्थिक जरूरत बच्चों को खेलकूद, शिक्षा एवं मौके नहीं देती है। उसके शारीरिक विकास को रोकती हैं। उनके व्यक्तित्व के सामान्य विकास में रूकावट डालती है। तथा वयस्क जिम्मेदारी के लिए उसके तैयार होने में रोड़े अटकाती है।" सेवायोजक की दृष्टि से बाल श्रम लाभदायक है क्योंकि बच्चों को दी जाने वाली मजदूरी कम होती है। साथ ही कुछ उद्योगों और व्यवसायों में वे एक वयस्क के बराबर काम करते हैं। अतः सेवायोजक अपने हित में बच्चों का शोषण करने में संकोच नहीं करते और उनके स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों के प्रति उदासीन रहे हैं। वास्तव में बाल श्रम की समस्या के महत्वपूर्ण सामाजिक व आर्थिक प्रभाव होते है। यह समस्या प्रत्यक्ष रूप से बच्चों के स्वास्थ्य से संबंधित है, क्योंकि यह उन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। बाल श्रमिकों का रोजगार बहुत सी आर्थिक समस्याओं को उत्पन्न करता है। जैसे सबसे नीची उत्पादकता वाले श्रम का प्रयोग जिसका आशय श्रम शक्ति का अकुशल उपयोग होता है। "यह प्रायः सबसे ज्यादा उत्पादकता वाले प्रौढ़ व्यक्तियों का रोजगार रोकता है जिससे समाज को बहुत बड़ी हानि होती है।" बच्चों को रोजगार देने की प्रथा से वयस्क श्रमिकों से अनुचित प्रतियोगिता होती है जिससे या तो प्रौढ़/वयस्क व्यक्तियों में व्यापक बेरोजगारी फैल सकती है या कार्य दशाएं खराब हो जाती हैं जो अन्यथा नहीं होती। बाल श्रमिकों के रोजगार से सामान्य पारिवारिक जीवन में बाधा पड़ती है तथा यह उस सामाजिक नियंत्रण को तोड़ता है जिस पर मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए निर्भर रहा जाता है। बाल श्रमिकों के रोजगार की प्रथा से उनकी शिक्षा मे बाधा पडती है तथा उसके व्यावसायिक प्रशिक्षण के अवसर कम होने से उनके बौद्धिक विकास में रूकावट आती है।

बाल श्रमिकों की समस्याएं

यद्यपि विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले बाल श्रमिकों की अपनी अपनी समस्याएं है परन्तु समस्याएं इस प्रकार की है जो सब क्षेत्रों में समान रूप से पाई जाती है।

1. अल्प वेतन

बाल श्रमिकों को कम वेतन दिया जाता है जो कि पुरुष श्रमिकों की मजदूरी का 30 से 50 प्रतिशत तक होता है।

2. अत्यधिक कार्य

बाल श्रमिकों से अत्यधिक कार्य लिया जाता है जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. कार्य करने की असंतोषजनक दशाएं

बाल श्रमिकों को अन्धकारपूर्ण, गन्दे वायु, मण्डल एवं भीड़ भाड़ के स्थानों में कार्य करना पड़ता है। पीने के लिए स्वच्छ जल तक उपलब्ध नहीं होता शौचालयों की भी सही व्यवस्था नहीं होती।

4. अनैतिक एवं अमानवीय शोषण

अधिकांश क्षेत्रों में बाल श्रम का बड़ा दुरुपयोग होता है उनसे अनेक अनुचित, अनैतिक एवं अमानवीय कार्य कराये जाते है जिससे उनका चरित्र एवं स्वास्थ्य गिर जाता है तथा समाज में भी अवांछनीय तत्वों की वृद्धि होती है।

5. झेठे प्रमाण पत्र

कुछ उद्योगों में एक विशिष्ट आयु से कम आयु के बालकों को कार्य पर रखना निषेध है परन्तु झूठे प्रमाण पत्र तैयार कर जालसाजी की जाती है जिसमें बालक के माता पिता भी सहयोग देते है।

6. अधिनियमों के पालन में शिथिलता

यद्यपि भारतीय कारखाना अधिनियम के द्वारा बाल श्रमिकों के लाभार्थ कार्य के घण्टे, मध्यकालीन विश्राम, अवकाश आदि निश्चित किये गये है लेकिन सेवायोजकों की शिथिलता के कारण बाल श्रमिकों को इनका लाभ प्राप्त नहीं हो पाता।

33.2.4 भारत में बाल समस्या के निवारण हेतु सरकार द्वारा निर्धारित श्रम कानून

भारत में बाल श्रम कानूनों का इतिहास बाल श्रम के शोषण का इतिहास है, क्योंकि बच्चे के लिए कार्य का स्थान घर और गाँव से हटकर कारखानों में आ गया। जिन विभिन्न अवस्थाओं में बाल श्रम को भारत में सुरक्षा दी गयी है वे निम्नलिखित हैं

(i) **कारखाना एक्ट, 1881** बच्चे की परिभाषा 12 वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति के रूप में की गयी। काम पर रखने की न्यूनतम उम्र 7 वर्ष से 12 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए कार्य घण्टे प्रतिदिन 9 निर्धारित किए गए एवं विश्राम मध्यांतरों और छुट्टियों के लिए भी व्यवस्थाएं की गई।

(ii) **कारखाना एक्ट, 1891** रोजगार देने की न्यूनतम उम्र 9 वर्ष कर दी गई। कार्य घण्टे 9 से 14 वर्ष की उम्र के बच्चों के लिए प्रतिदिन 7 नियत किये गये तथा यह प्रतिबंध लगाया गया कि उनसे दिन की रोशनी में ही कार्य कराया जायेगा।

(iii) **कारखाना एक्ट, 1911** बच्चों के काम के घण्टे वस्त्र मिलों में 6 तक सीमित किये गये। कड़े निरीक्षण और आयु प्रमाण पत्र की व्यवस्था की गई शाम के 7 बजे से लेकर प्रातः 5.30 बजे तक काम लेना मना किया गया।

(iv) **कारखाना एक्ट, 1922** 15 वर्ष से कम उम्र के व्यक्तियों को बच्चा माना गया। काम के घण्टे आधे घण्टे के विश्राम मध्यान्तर सहित 6 नियत किये गये और न्यूनतम कार्यवस्था 9 से बढ़ाकर 12 कर दी गई।

(v) **कारखाना एक्ट, 1934** काम पर रखने की न्यूनतम उम्र 12 वर्ष नियत की गई और 12 वर्ष से 15 वर्ष की उम्र के व्यक्तियों को बच्चे माना गया। 15 से 17 वर्ष के व्यक्तियों की एक नयी 'किशोर श्रेणी' बनायी गयी। शाम के 7 बजे और प्रातः 6 बजे के बीच इनसे काम लेना मना किया गया। काम के घण्टे 5 कर दिये गए और मध्यान्तर सहित कार्य दिवस 7.30 घण्टे कर दिया गया।

(vi) **कारखाना एक्ट, 1948** 14 वर्ष की उम्र होने पर ही किसी व्यक्ति को काम पर रखा जा सकता है काम के घण्टे 4.30 घण्टे तथा मध्यान्तर सहित 5 घण्टे कर दिया गया।

(vii) **कारखाना एक्ट, 1952** खानों में रोजगार संबंधी न्यूनतम उम्र 15 वर्ष निर्धारित की गयी। एक्ट ने इस उम्र से कम के बच्चों को खान में किसी भी भाग में चाहे यह भूमिगत हो या खुले में खुदाई का काम हो, काम पर रखना मना किया गया है। इसमें व्यवस्था की गई है कि किशोर किसी दिन 4.30 घण्टे से ज्यादा काम पर नहीं लगाये जायेंगे।

(viii) **बागान श्रमिक एक्ट, 1951** इस अधिनियम के तहत बागान में रोजगार के लिए न्यूनतम उम्र 12 वर्ष है कुछ विशिष्ट कानून की व्यवस्था बाल श्रम के संबंध में निम्न है

(i) बाल (श्रम गिरवी) एक्ट, (The Children Pledging of Labour Act, 1933)

शाही श्रम आयोग की सिफारिश पर बने एक्ट के अनुसार अनेके उद्योगों में (खासतौर से गलीचा बुनाई व बीड़ी उद्योग में) माता-पिता या अभिभावको द्वारा अपने बच्चे के श्रम को कर्जे के एवज में सेवायोजकों के पास गिरवी रखने की प्रणाली पायी जाती थी। जिसके अन्तर्गत एक्ट ने किसी भी समझौते को चाहे वह लिखित हो या मौखिक अमान्य घोषित कर दिया। कानून उल्लंघन के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को दण्ड करने की व्यवस्था की गई है।

(ii) बाल रोजगार एक्ट, (The Employment of Children Act, 1938)

इसका प्रमुख उद्देश्य कार्यशालाओं में जो कारखाना एक्ट के सीमा क्षेत्र से बाहर हैं। बच्चों को रोजगार देने से पैदा होने वाले दोषों को रोकना है।

निम्न मुख्य अधिनियमों द्वारा बच्चों को कानूनी सुरक्षा प्राप्त है

(i) The Children (Pledging of Labour) Act, 1933.

(ii) The Bidi and Cigar Workers (Conditions of Employment) Act, 1966

(iii) The Factories Act, 1948

(iv) The Mines Act, 1952

(v) The Motor Transport Workers Act, 1961

प्रथम को छोड़कर शेष चारों अधिनियमों में १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को रोजगार में लगान की मनाही है।

(vi) The child Labour (Protection and Regulation Act, 1986, (Act 61 of 1986)

बाल श्रम में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिनियम है। इस अधिनियम के अनुसार कुछ रोजगारों में बच्चों की नियुक्ति की मनाही है तथा कुछ में सिर्फ छः घण्टे काम सुबह आठ बजे से शाम सात बजे के मध्य लिया जा सकता है। जिन प्रतिष्ठानों में बच्चों से काम लिया जाता है उन्हें स्थानीय निरीक्षक को इसकी सूचना देनी पड़ती है तथा निहित (Prescribed)रजिस्टर रखना होता है।

(vii) Section 24 The Plantation Labour Act, 1951

इस अधिनियम के अनुसार 12 वर्ष से कम के बच्चों को काम पर नहीं लगाया जाता है। साथ ही सप्ताह में मात्र 27 घण्टे ही काम लिया जा सकता है व बागानों में रात में बच्चों से काम लेने की मनाही है।

(viii) Minimum Wages Act, 1948

(ix) Section 109 Marchant Shipping Act, 1951.

(xi) Shops and commercial Establishment Acts, Under different nomenclatures in various Stages

33.2.5 भारत सरकार द्वारा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बाल श्रम के संबंध में पारित नवीनतम व निर्णय की अनुपालना मे राज्य सरकार द्वारा अपेक्षित कार्यवाही

उच्चतम न्यायालय द्वारा याचिका संख्या 465/86 एम. सी. मेहता बनाम तमिलनाडू राज्य व अन्य में बाल श्रम समस्या की रोकथाम एवं प्रभावी समाप्ति हेतु दिनांक 10/12/96 को अपना निर्णय पारित कर केन्द्र व राज्य साकारों निम्न दिशा निर्देश दिये हैं:-

(i) जोखिम पूर्ण एवं गैर जोखिम पूर्ण उद्योगों, व्यवसायों एवं प्रक्रियाओं में कार्यरत बाल श्रमिकों का सर्व कर उन्हें चिन्हित किया जावे।

(ii) जोखिम पूर्ण संस्थाओं में बाल श्रमिकों को कार्य मुक्त कराया जावे तथा नियोजक से बालकों की शिक्षा आदि के व्यय के लिए 20000/- रू० मुआवजा राशि वसूल की जाये।

(iii) जोखिम पूर्ण संस्थान से कार्य मुक्त बाल श्रमिकों के परिवार के एक वयस्क सदस्य को उसी संस्थान अथवा प्राइवेट/पब्लिक अण्डरटेकिंग में राज्य सरकार वैकल्पिक रोजगार दिलाए। यदि रोजगार न दिलाया जा सके तो प्रत्येक श्रमिक के लिए 5000/- रू० राज्य सरकार द्वारा अंशदान के रूप में दिये जावे।

(iv) राज्य सरकार द्वारा अंशदान के रूप में प्राप्त राशि से बाल श्रम पुर्नवास एवं कल्याण कोष की स्थापना की जावे तथा मुक्त हुए बाल श्रमिकों को शिक्षा विभाग के माध्यम से उपयुक्त शिक्षण संस्थान में शिक्षा दिलाई जावे।

(v) बाल श्रम पुर्नवास एवं कल्याण कोष प्रत्येक जिले के जिलाधीश की अध्यक्षता एवं नियंत्रणमें एक चुनी हुई समिति द्वारा संचालित किया जावे। यह समिति सोसायटी एक्ट के तहत में शिक्षा दिलाई जावे।

(vi) गैर जोखिम पूर्ण उद्योगों आदि में नियोजित बाल श्रमिकों से 6 घण्टे से अधिक कार्य न लिया जावे, कार्य अवधि में एक घण्टे का विश्राम दिलाना सुनिश्चित किया जावे।

(vii) इन उद्योगों में नियोजित बाल श्रमिकों को कम से कम दो घण्टे रोजाना नियोजक के व्यय पर समुचित शैक्षणिक संस्थान में शिक्षण की सुविधा उपलब्ध कराई जावे।

(viii) बाल श्रमिकों की सर्वे रिपोर्ट बाल श्रमिकों की सूची सहित राज्य के श्रम सचिव द्वारा दिनांक 30/05/97 तक शपथ पत्र के साथ उच्चतम न्यायालय में पेश की जावे।

सर्वोच्च न्यायालय की अनुपालना में केन्द्र/राज्य सरकार द्वारा निम्न कार्यवाही अपेक्षित की गई:-

(i) जोखिम पूर्ण एवं गैर-जोखिम पूर्ण संस्थानों में कार्यरत बाल श्रमिकों का सर्वे किया जावे।

(ii) जोखिम पूर्ण संस्थाओं में बाल श्रमिकों को कार्य मुक्त कराना।

(iii) कार्यमुक्त बाल श्रमिकों को शिक्षा विभाग के समन्वय से शिक्षा दिलाना।

(iv) इन बाल श्रमिकों की शिक्षा एवं अन्य व्यय के लिए नियोजक से 20000/- रू० मुआवजा राशि वसूल करना।

(v) कार्यमुक्त बाल श्रमिक के परिवार के एक सदस्य जो वयस्क हो, को वैकल्पिक रोजगार दिलाना, यदि रोजगार नहीं दिलाया जा सके तो 5000/- रूपये की, राशि राज्य सरकार द्वारा अंशदान के रूप में देना।

(vi) इस प्रकार प्राप्त 25000/- रू० प्रति बाल श्रमिक से "बाल श्रम पुर्नवास एवं कल्याण कोष" की स्थापना करना।

(vii) बाल श्रम पुर्नवास एवं कल्याण कोष के संचालन के लिए जिला कलेक्टर की अध्यक्षता में समिति का गठन करना एवं राजस्थान संस्था अधिनियम, 1958 में पंजीकृत कराना।

(viii) कोष की राशि को अधिकतम लाभ देने वाले न्यासों/बैंको में निवेश/संचय करना एवं प्राप्त परिलाभों से मुक्त बाल श्रमिकों की शिक्षा स्वास्थ्य आदि के खर्च चलाना।

(ix) गैर जोखिम पूर्ण संस्थानों आदि में नियोजित बाल श्रमिकों के कार्य घण्टों एवं विश्राम की अवधि को सुनिश्चित करना।

(x) नियोजक के व्यय पर इन गैर जोखिमपूर्ण कार्यों में नियोजित बाल श्रमिकों के लिए कम से कम दो घण्टे के लिए शिक्षा की व्यवस्था कराना।

बाल श्रमिकों की अवस्था में सुधार के राजकीय प्रयत्न

भारत में बाल श्रमिकों की अवस्था में सुधार करने के लिए समय-समय पर अनेक प्रयत्न किये गये। इस दृष्टि से सटी प्रथम सन 1933 में (श्रमअनुबन्ध) अधिनियम पारित किया गया। अधिनियम के अनुसार किसी प्रकार का समझौता जो ऋण के बदले में बाल-श्रम के गिरवी रखने से सम्बन्धित किया गया हो, अवैध माना जायेगा। परन्तु ऐसा कोई समझौता किसी लाभ के लिए न किया गया हो तथा बालक के लिए हानिप्रद न हो, अपितु उसके श्रम को उचित मजदूरी पर लगाने तथा एक सप्ताह की सूचना देकर समाप्त करने के लिए किया गया हो वह अवैध नहीं माना जायेगा। इस अधिनियम के लागू होने की दृष्टि से वे ही बालक परिभाषा में आते है जिनकी आयु 15 वर्ष से कम है। अधिनियम के लागू होने की दृष्टि से वे ही बालक परिभाषा में आते है जिनकी आयु 15 वर्ष से कम है। इस अधिनियम का उल्लंघन करने वालो के लिए 200 रूपये के दण्ड की व्यवस्था की गई है।

भारत में सन् 1933 के अधिनियम के होते हुए भी बालकों को गिरवी रखने की प्रथा चालू रही। अतः सन् 1936 में "बाल रोजगार अधिनियम" पारित किया गया, जिसमें तदोपरान्त अनेक संशोधन हो चुके है। इस अधिनियम को विशेषतया उन उद्योगों की दृष्टि से पारित किया गया जिनमें कारखाना अधिनियम लागू नहीं होता है। सन् 1946 में कारखाना अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार 14 वर्ष से कम आयु के बालक कारखाने में कार्य नहीं कर सकते है। 1985 में बाल रोजगार अधिनियम, 1938 में संशोधन किया गया तथा 14/15 वर्ष से कम आयु के बालकों को रोजगार पर लगाने सम्बन्धी प्रथम तथा बाद में किये गये अपराधों के दण्ड में बढ़ोत्तरी की गई।

सरकार की वर्तमान नीति कारखानों, खानों तथा अन्य संकटपूर्ण रोजगारों में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों के रोजगार पर प्रतिबन्ध लगाना है और गैर संकटमय रोजगारों में कार्य कर रहे बालकों की कार्य स्थिति को नियमित करना है। बाल श्रमिक (संशोधन) (निषेध तथा विनियमन) अधिनियम, 1986 जो 23 दिसम्बर, 1986 से प्रवृत्त हुआ है इस मूल उद्देश्य को प्राप्त करने

की व्यवस्था है। अधिनियम के अर्न्तगत निर्मित नियमों को अगस्त, 1988 में अधिसूचित किया गया।

भारत सरकार द्वारा समिति का गठन

बाल श्रमिकों की समस्याओं को अध्ययन करने और उनके संरक्षण तथा कल्याण के लिए उपयुक्त सुझाव देने के लिए श्रम मन्त्रालय, भारत सरकार ने अपने संकल्प 6/7 फरवरी 1979 द्वारा एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 29 दिसम्बर, 1979 को सरकार को प्रस्तुत की। समिति ने अन्य बातों के साथ-साथ निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की है –

1. बाल श्रमिकों की समस्याओं पर लगातार निगरानी रखने के लिए केन्द्रीय और राज्य स्तरों पर सलाहकार बोर्डों का गठन किया जाना चाहिए।

2. किसी भी रोजगार में प्रवेश के लिए न्यूनतम आयु 15 वर्ष होनी चाहिए वर्तमान कानूनी में, जिनमें इससे कम आयु निर्धारित की गई है। उपयुक्त संशोधन किया जाना चाहिए।

3. बाल-श्रमिकों के नियोजन के लिए विनियमन सम्बन्धी वर्तमान कानूनों को एक व्यापक कानून में संमकित किया जाना चाहिए।

4. बाल-श्रमिकों को शिक्षा और मनोरंजन की उत्तम सुविधाएं दी जानी चाहिए। बाल श्रमिकों की आवश्यकताओं की पाठ्यचर्चा और लम्बे अवकाश तथा छुट्टियों की अनुसूची तैयार करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। ऐसे क्षेत्रों में अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए जहाँ बाल-श्रमिकों की संख्या अधिक है।

5. शिशु सदन/शिशु कल्याण केन्द्र स्थापित किये जाने चाहिए ताकि ऐसी युवा लड़कियां स्कूल जा सकें जो छोटे भाई/बहनों की देख भाल करती है।

6. बाल श्रमिकों को अनुपूरक उपहार देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

बाल श्रमिक सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति

1. भारत सरकार ने बाल-श्रमिक (निषेध और विनियमन) विधेयक, 1986 कारखाना अधिनियम 1948 खान अधिनियम, 1952 तथा बाल रोजगार से सम्बन्धित उपबन्धों वाले अन्य अधिनियमों के उपबन्धों के वाले अन्य अधिनियमों के उपबन्धों के कठोर और कारगर प्रवर्तन पर जोर दिया जायेगा।

2. बाल-श्रमिक तथा उसके परिवारों के लाभ के लिए सामान्य विकास कार्यक्रमों पर ध्यान देना तथा

3. बाल-श्रमिक बाहुल्य क्षेत्रों में कार्यवाही की परियोजना आधारित योजना।

33.2.6 भारत में बाल श्रम स्थिति

भारत में बाल श्रम के रोजगार के आंकडे यद्यपि कम हैं। वास्तव में काम पर लगे हुए बालकों की संख्या कानूनी रूप से नियोजित बच्चों की संख्या से बहुत अलग रही है। बच्चों की (कारखानों में लाभप्रद रूप से काम पर लगे) संख्या 1923 के बाद में काफी कम हुई। संगठित उद्योगों में कुल बाल श्रम प्रतिशत 1946 में 0.6 से घटकर 1952 में 0.25, 1960 में 0.10 तथा 1970 में 0.05 प्रतिशत रह गया। 1981 की जनगणना के अनुसार 14 वर्ष से कम उम्र के बालकों की संख्या 14.5 मिलयन थी। यह बालकों की कुल संख्या का 5.5 प्रतिशत था। ग्रामीण बाल जनसंख्या का 6.3 प्रतिशत तथा शहरी बाल जनसंख्या का 2.5 प्रतिशत विभिन्न व्यवसायों में कार्यरत थे। इण्डियन एक्सप्रेस (25/10/1966) को भावनगर के शिवाकास कस्बे में जहां कि कुल चार लाख जनसंख्या है कम से कम

13000 बच्चे 300 विभिन्न व्यवसायों /उद्योगों में कार्यरत थे। इससे स्पष्ट है कि भारत में बाल श्रम की समस्या किस हद तक बढ़ती जा रही है यूनाइटेट नेशंस वोलण्टीयर **नीराभारी** ने पुस्तक "चाइण्ड लेबर इन इण्डिया" में शीर्षक 'बोर्न टू वर्क' में भारत में संलग्न विभिन्न उद्योगों में बाल श्रमिकों की स्थिति निम्न तालिका 33.1 के द्वारा प्रदर्शित की गई है :

तालिका 33.1

भारत में बाल श्रम स्थिति

क्र.सं.	उद्योग	राज्य स्थान	कुल श्रमिक	बाल श्रमिक	कुल श्रमिकों में बाल श्रमिकों का प्रतिशत
1	सेलेट पेन्सिल उद्योग	मदसौर मध्य प्रदेश	12000	1000	8.3
2	सलेट	मारकपुर, आन्ध्रप्रदेश	15000	3750	25
3	हीरा कटिंग	सूरत, गुजरात	100000	15000	15
4	जैम पॉलिस	जयपुर राजस्थान	60000	13600	22.6
5	पावर लूम	भिवाण्डी महाराष्ट्र	300000	15000	5
6	कॉटन होटरी	त्रिपुरा, तमिलनाडू	30000	8000	23.3
7	गलीचा बुनाना	मिरजापुर भादो ही	200000	150000	75
		उत्तर प्रदेश	30000	12000	40
8	गलीचा	राजस्थान	80000	7000	8.7
9	ताला निर्माण	अलीगढ़ उत्तर प्रदेश	20000	10000	11.8
10	चीनी मिट्टी वर्तन	खुर्जा, उत्तर प्रदेश	20000	5000	5
11	धातु तार उद्योग	मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश	15000	40000	24.6
12	माचिस उद्योग	शिवाकासी तमिलनाडु	उपलब्ध नहीं	45000	"
13	कॉच उद्योग	फिरोजाबाद उत्तर प्रदेश	200000	50000	25
14	सिल्क एवं सिल्क उत्पाद	वाराणसी, उत्तर प्रदेश	11900	4.409	37
15	टैक्सटाईल	वाराणसी, उत्तर प्रदेश	3512	1108	31.5
16	चाकू	रामपुर, उत्तर प्रदेश	उपलब्ध नहीं	3000	"
17	हाथ करघा	जम्मू और कश्मीर	90000	26478	29.42
18	सिल्क निर्माण	बिहार	उपलब्ध नहीं	10000	
19	ब्रोकेड एवं जरी उद्योग	वाराणसी और अन्य	उपलब्ध नहीं	300000	
20	ईंट उद्योग	पश्चिमी बंगाल	उपलब्ध नहीं	35000	
21	बीडी	भारत	3275000	327500	10
22	सर्कस उद्योग	40 बड़े सर्कस	कुल श्रम शक्ति का 12%		
23	हाथ करघा एवं हस्त कला उद्योग	जम्मू एवं कश्मीर	116000	28348	25

1971 की जनगणना के अनुसार 4.66 बाल श्रमिक बाल जनसंख्या के अनुपात में कार्यरत थे जोकि लगभग 10.7 मिलियन की नेशनल सेम्पल सर्वे के 29 वें दौर (1972- 73) में कार्यरत बाल श्रमिकों की संख्या मार्च 1973 में (5 से 14 वर्ष की आयु वाले) अनुमानित 16.3 मिलियन शहरी बाल श्रमिकों की थी। 1981 की जनसंख्या के आधार पर यह आंकड़े बढकर 11.16 मिलियन बाल श्रमिकों तक पहुच गए। योजना आयोग 1 मार्च 1983 के आधार पर 15.70 मिलियन दस से चौदह वर्ष की आयु के बाल श्रमिक व पाँच से चौदह वर्ष आयु के बाल श्रमिकों की संख्या 6 मिलियन थी। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (N.S.S.O) द्वारा 1985 में बाल श्रमिकों की संख्या 17.78 मिलियन थी। भारत में विभिन्न गैर सरकारी स्रोतों के द्वारा प्राप्त बाल श्रमिकों की अनुमानित संख्या 44 मिलियन से 100 मिलियन है।

33.2.7 सुधार के उपाय

बाल-श्रमिको की अवस्था में सुधार करने की दृष्टि से कुछ उपाय निम्नलिखित है --

1. परिवार के पुरुष सदस्य की मासिक आय इतनी होनी चाहिए कि उससे वह अपनी तथा अपने परिवार की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इस दृष्टि से सभी सम्भव तरीकों से प्रयत्न किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर परिवार के पुरुष सदस्य को अपने बच्चों को कारखानों में कार्य करने के लिए भेजने के लिए विवश न होना पड़ेगा।

2. बाल श्रमिकों के संरक्षण की दृष्टि से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को उचित अधिनियम पारित करने चाहिए। उनको कारखानों में जाकर कार्य करना निषेध होना चाहिए तथा आर्थिक समस्या को सुलझाने की दृष्टि से ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि उनको घर पर ही सम्मानपूर्ण कार्य प्राप्त हो सके।

3. निरीक्षण कर्मचारियों में कर्तव्य पराण इन्सपैक्टरों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए। ताकि कार्य करने के स्थानों की कड़ी देखभाल की जा सके। कोई भी अनियमितता देखने पर उसके विरूद्ध कठोरतम कर्यवाही की जानी चाहिए।

भावी नीति

भारत सरकार ने बाल श्रमिक के हितार्थ अनेक प्रयत्न किये है तथा विशेष रूप से अधिनियम पारित किये है, फिर भी इस दृष्टि से स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। पाल डूग्लास के अनुसार, "समाज के बालकों को संरक्षण प्रदान करने का सबसे प्रभावपूर्ण ढंग बालकों के माता-पिता को उतनी आय प्रदान करना है जिसमें वह उसका उचित रूप से पालन-पोषण कर सके। कम आय वाले श्रमिकों से यह आशा करना बिल्कुल मूर्खता है कि वह अपनी उस आय में अपने बालकों की ठीक से पोषित कर सकेंगे। औसतन् वृद्धि किसी भी परिवार को पर्याप्त धन से वह अपने बालकों को ठीक से भरण पोषण करना सीख जायेगा। सबसे अधिक उत्तरदायित्व तो उद्योगों के ऊपर है कि वह मजदूरी प्रदान करने की प्रणाली को उचित आधार बनायें, जिसके अभाव में प्रत्येक प्रकार का सामाजिक सुधार विफल सिद्ध होगा।"

श्रम जांच समिति के शब्दों में, श्रमिकों की भावी सन्तान की ओर ध्यान देना सरकार का कर्तव्य है तथा सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए कि कहीं बालकों का बचपन विद्यालयों में, शिशुगृहों में पालित पोषित होने तथा क्रीड़ा स्थल के स्थान पर कार्यशालाओं तथा कारखानों के अस्वच्छ स्थानों में तो नष्ट नहीं हो रहा है।"

राष्ट्रीय श्रम आयोग के अनुसार, अब संगठित क्षेत्र में बाल-श्रम में कमी होती जा रही है, परन्तु अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में वह अभी भी सामान्य है। बालकों का रोजगार किसी और

की अपेक्षा आर्थिक समस्या अधिक है। जहाँ पर बालकों की संख्या पर्याप्त हो वहाँ पर नियोजकों को राज्य सरकार की सहायता से कार्य तथा शिक्षा को मिलाने का प्रबन्ध करना चाहिए।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1. भारत में किन उद्योगों में बाल श्रम का अधिक उपयोग किया जाता है आपकी सम्मति में बाल श्रम के संरक्षण के लिए क्या अतिरिक्त व्यवस्था करनी चाहिए?

प्रश्न 2. "बचपन में कार्य करना सामाजिक अच्छाई है एवं यह राष्ट्रीय हित में भी है, परन्तु साथ-साथ बाल-श्रम एक सामाजिक बुराई एवं राष्ट्रीय अपव्यय भी है।" इस कथन को स्पष्ट करिये तथा भारत के विभिन्न उद्योगों एवं उद्यानों में बाल-श्रम की दशा का वर्णन कीजिए। बाल-श्रम उन्नति के लिए सुझाव दीजिए।

33.3 महिला श्रम

भारत सहित विश्व के सभी देशों में आज महिलाएं पुरूषों के साथ बराबर कार्य करने लगी हैं। चाहे फैक्ट्री उद्योग हो चाहे बागान उद्योग, लगभग प्रायः सभी उद्योगों में महिला श्रम अपना योगदान देती है। महिलाएं दूसरे औद्योगिक श्रमिकों से समाज के अलग रवैये एवं कार्यवाहियों के कारण बहुत भिन्न होती हैं। यद्यपि महिला श्रम का प्रयोग परिवार की आय का स्तर नीचा हाने के कारण हुआ है। विकासशील देशों में आय का स्तर ज्यादातर नीचा होता है और परिवार को एक अतिरिक्त आय कमाने वाले की मदद जरूरी होती है। जहाँ सामाजिक प्रथाएं महिलाओं के मजदूरी पर रोजगार में लगाये जाने के खिलाफ नहीं होती वहाँ पारिवारिक आय की पूर्ति काम करने वाली उम्र की महिलाओं के काम पर लगाये जाने से अच्छी हो जाती है।

33.3.1 भारत में महिला श्रम

भारत में महिला श्रम प्राचीन भारत से ही कृषि क्षेत्र में विद्यमान है। भारत की महिलायें कृषि संबंधी कार्यों में शुरू से ही संबंधित रही हैं। इसी प्रकार हस्तकलाओं की दशा में महिला श्रम की भूमिका अद्वितीय रही है। उत्पादन की कारखाना पद्धति के शुरू होने पर आर्थिक दबाबों ने उन्हें सीमित पारिवारिक आय बढाने के लिए कारखानों में रोजगार पाने के लिए मजबूर किया। जब कि पूर्व औद्योगिक काल में महिलाएं लगभग उतने ही ज़्यादा और विभिन्न कार्य करती थीं जितने कि पुरूष करते थे। आधुनिक औद्योगिक पद्धति के अन्तर्गत उनका कार्य एक पूरक स्वभाव का बना दिया गया जिससे महिलाओं का रोजगार कम निपुणता वाले कार्यों में केन्द्रित हो गया। महिलाओं के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण के प्रसार से उनको गैर शारीरिक, प्रशासनिक एवं व्यावसायिक कार्यों में रोजगार के ज्यादा मौके प्राप्त होने लगे। इसके अलावा पुरूष श्रमिकों के साथ बिना किसी भेदभाव के महिलाओं के सार्वजनिक रोजगार के लिए सबसे व्यापक क्षेत्र कृषि में है। खाद्यान्न, कॉटन मिनिंग व प्रेसिंग, तम्बाकू, अलौह धातु उद्योग, कागज, रासायनिक उद्योग, सूती, ऊनी, रेशमी व जूट टैक्सटाइल तथा धान च दाल मिलों सहित कई अन्य कारखानों में महिलाएं काम पर लगी हुई हैं।

भारत में महिलाएं उद्योग का स्थाई अंग बन गयी हैं, सभी क्षेत्रों में महिलाओं के साथ खास व्यवहार की जरूरत है। महिलाओं की कोमलता और घरों पर एवं देश की भावी संतानों पर उनके प्रभावों को ध्यान में रखना जरूरी है। महिला श्रमिकों के लिए खास संरक्षण चाहिए और इसलिए दूसरे देशों की ही तरह भारत में भी उन्हें पुरूषों के बराबर का दर्जा दिलाने के लिए महिला श्रमिकों की शिक्षा स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए खास कदम उठाने पड़े हैं। महिलाओं ने रासायनिक और दवाई बनाने वाली संस्थाओं में अपनी जगह बना ली है और उनके लिए रोजगार में पायी जाने वाली कठिनाईयों, सीमित गतिशीलता, कम प्रशिक्षण और आवास

सुविधाओं की कमी है। यह पुरानी धारणा कि महिलाओं को स्वास्थ्य और घर की देखभाल करनी चाहिए धीरे-धीरे खत्म हो रही है और आज देश की जनशक्ति का अंदाजा लगाने में महिलाओं की सेवा पर बराबरी से ध्यान दिया जाता है।

विकसीत तथा विकासोन्मुख देशों की आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में महिलाओं के योगदान में वृद्धि हो रही है। महिलाओं के लिए रोजगार प्राप्त करने की समस्या को अन्तराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हो चुकी है और इस समस्या पर सन् 1964-65 में अन्तराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में विचार किया गया था। महिलाओं के लिये पर्याप्त रोजगार की व्यवस्था के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन की अनेक नीति निर्धारित की है।

समस्त संसार में प्रति 100 महिलाओं में 27 महिलायें आर्थिक दृष्टि से सक्रिय है और महिला कारीगरों की संख्या के सम्पूर्ण श्रमिकों की लगभग एक तिहाई है। महिलाओं के योगदान की दर प्रत्येक क्षेत्र और देश में भिन्न-भिन्न है। यूरोप और उ. अमेरिका में यह सर्वाधिक है जबकि लातानि अमेरिका, मध्य पूर्व और सदूर पूर्व के देशों में यह अपेक्षाकृत कम है। भारत में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात सस्ते एवं अधिक श्रम की आवश्यकता अनुभव को गई जिसके फलस्वरूप निम्न-श्रेणी के लोगों की स्त्रियों ने उद्योगों में कार्य करना आरम्भ कर दिया। डा. राधा कमल मुखर्जी के विचारानुसार "प्राचीनकाल में महिलाओं को वस्त्र रंगने, काटने, टोकरी/बनाने, आदि उद्योगों में कार्य पर लगाया जाता था। इसके अतिरिक्त उन्हें सरकारी कारखानों में कपड़ा बुनने एवं कातने के लिए भी कार्य पर लगाया जाता था।"

जनगणना के आधार पर स्त्री श्रमिकों की संख्या इस प्रकार रही है-

वर्ष	स्त्री श्रमिकों की संख्या (करोड़ो में)
1901	3.73
1911	4.18
1921	4.01
1941	3.76
1951	4.04
1961	5.96
1971	3.50
1981	3.12

आर्थिक क्षेत्रों में स्त्रियों के सहयोग की आज बड़े स्तर पर सभी देशों में मान्यता प्राप्त हो चुकी है। स्त्रियों की उचित रोजगार प्रदान करने की सुविधा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की हो चुकी है। सन् 1945 में राष्ट्रीय नियोजन समिति के सर्वेक्षण के अनुसार स्त्री श्रमिकों की संख्या कुल श्रमिकों की 30 प्रतिशत थी।

1961 में महिला श्रमिकों की संख्या 5.95 करोड थी किन्तु-1981 में 3.12 करोड रह गई 1961 में महिला जनसंख्या में महिला श्रमिकों का अनुपात 27.95 प्रतिशत था किन्तु 1980 में 11.85 प्रतिशत ही रह गया।

कार्यकारी जनसंख्या का स्त्री पुरुष के क्रम से विभाजन जनगणना के अनुसार यह दिखाता है कि कुल श्रमिक संख्या का 82.6 प्रतिशत पुरुष है जबकि महिलाएं केवल 17.4 प्रतिशत है। यह स्थिति हमारे समाज के पिछड़ेपन का चिन्ह है।

कारखाना उद्योग में महिला श्रम

कारखाना उद्योग में महिलाये अधिकांशतया निम्नलिखित व्यवसायों में सलंग्न है - खाद्यान्न, काटन जिनिंग व प्रेसिंग, तम्बाकू, अलौह धातु उद्योग रासायनिक पदार्थ, लकड़ी, सूती, रेशमी एवं जूट टैक्सटाईल और धान एवं दाल मिले आदि। कारखाना उद्योग में जितनी महिलाओं को रोजगार प्राप्त हुआ है उनमें से लगभग आधी कपास और जूट मिलों में लगी हुई है। सन् 1971 में कारखानों में लगभग 9.5 लाख महिलाओं को रोजगार प्राप्त था। महिलायें अधिकतर रीलिंग बाईडिंग विभागों में कार्य करती है। यद्यपि महिला श्रमिकों की कुल संख्या में वृद्धि हुई है परन्तु कुल श्रमिकों के अनुपात में उनका प्रतिशत घटा है।

बागानों में महिला श्रम

यह उद्योग विशेष रूप से महिलाओं को रोजगार प्रदान करता है। चाय, काफी रबड़ के बागानों में अधिकतर स्त्री श्रमिकों की संख्या अधिक पाई जाती है क्योंकि वे चाय की पत्तियां तोड़ने का कार्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुगमता से कर सकती है। दुसरे, किसी विशेष प्रशिक्षण आदि की भी इसके लिऐ आवश्यकता नहीं होती है। इसके साथ स्त्रियों को मजदूरी भी कम प्रदान की जाती है। असम के चाय उद्योगों में सन् 1946-47 में औसतन दैनिक रोजगार 1.24 लाख स्त्रियों को प्राप्त था। सन् 1955 में उद्यानों से रोजगार प्राप्त कुल श्रमिकों का 40 प्रतिशत स्त्रियां थी। श्रम जांच समिति के अनुसार द्वार तराई, दार्जिलिंग के चाय बगानों में महिलाओं श्रमिकों को प्रतिशत 44.7 प्रतिशत, 47.4 प्रतिशत तथा 44.8 प्रतिशत है। दक्षिण भारत में कुछ श्रमिकों में से चाय के उद्यानों में 40 प्रतिशत एवं रबड़ के उद्यानों में 24 प्रतिशत स्त्री श्रमिक है। इस प्रकार के अन्य उद्योगों की अपेक्षा बागानों में स्त्री श्रमिकों की संख्या सर्वाधिक है।

चावल व दाल मिलों में स्त्री श्रमिक

भारत के जिन क्षेत्रों में चावल दाल अधिक उत्पन्न होती है (जैसे बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश व तमिलनाडु) आदि में वहां महिला श्रमिकों की संख्या भी काफी है जो मुख्यतः धान कुटने, धोने, सुखाने, आदि का कार्य करती है। इन्हें बहुत कम मजदूरी प्रदान की जाती है।

खनिज उद्योगों में महिला श्रम

खनिज उद्योगों में भी स्त्री श्रमिक एक बड़ी संख्या में कार्य करती है। एक रिपोर्ट के आधार कुछ वर्ष पूर्व खनिज उद्योगों में स्त्री श्रमिकों की कुल संख्या 1,19,840 का विवरण इस प्रकार था - कोयला 41,460, अभ्रक 2,742, स्वर्ण 792, मैगनीज 32,286, लौह खनिज 13,242, चूना पत्थर 13,372। सर्व प्रथम खान अधिनियम 1901 में पारित किया गया। उनके द्वारा केवल खनिजों की सुरक्षा और निरीक्षकों की नियुक्ति का ही प्रयोजन था। दूसरा खान अधिनियम 1933 में पास किया गया इसके अन्तर्गत खान के बाहर और के अन्दर कार्य करने के घण्टे 60 और 48 घण्टों का सप्ताह नियुक्त किया गया। इसी के द्वारा एक साप्ताहिक अवकाश की भी व्यवस्था की गई। सन् 1924 के पश्चात से इस उद्योग में महिला श्रमिकों की संख्या में कमी होने लगी। सन् 1937-43 में महिलाओं के खान के अन्दर कार्य करने पर रोक लगा दी गई है।

अभ्रक उद्योग में महिला श्रमिक

इस उद्योग में भी बालक और श्रमिक महिला काफी संख्या में कार्य करती है। क्योंकि इस उद्योग के अधिकांश कारखाने सामान्यतया भारतीय कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत नहीं आते है। बिहार के अभ्रक के उद्योगों में महिला श्रमिकों की संख्या लगभग 20 प्रतिशत है। महिला

श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए 1948 में न्यूनतम मजदूरी की दृष्टि से कुछ पग उठाये गये जिससे उन स्थानों में सुधार हुआ है जहां कारखाना स्तर पर कार्य होता है परन्तु जहां गृह उद्योग के रूप में कार्य होता है वहां अब भी स्थिति दयनीय है।

बीड़ी उद्योग में महिला श्रमिक

बीड़ी उद्योग मुख्यतया मध्य प्रदेश, बिहार और बंगाल में केन्द्रित है। यह मौसमी उद्योग है। अतः इसमें केवल कुछ महीनो ही स्त्रियों से कार्य लिया जाता है। इस उद्योग में लगी महिलाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय है।

अन्य कार्य में महिला श्रम

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त महिला श्रम का उपयोग अन्य कार्यों में भी किया जाता है। जैसे घरो में खाना बनाना बर्तन योजना, बच्चों की देखभाल करना, शिक्षण संस्थाओं में छोटा कार्य करना, सड़कों पर झाड़ू लगाना आदि। इन सब कार्यों में महिला श्रम अत्यन्त शोचनीय अवस्था में है। उनको आवश्यकता से अधिक कार्य करना पड़ता है और वेतन बहुत ही कम दिया जाता है। और बुरा व्यवहार भी किया जाता है।

स्त्री श्रमिको के कार्य की प्रकृति

उद्योगों में स्त्री श्रमिकों की एक पर्याप्त संख्या कार्य-संलग्न है। अतः इनकी कार्यदशाओं में सुधार करने से देश के उत्पादन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग मिल सकता है। कुटीर उद्योगों में प्रायः वे अपने पारिवारिक कार्यो के साथ साथ व्यवसाय में पुरुषों की सहायता करती है। बडे उद्योगों में उनका पुरुषों की भांति औद्योगिक केन्द्रों में काम करना पड़ता है। उनका उद्देश्य पारिवारिक आय में वृद्धि करना होता है। मुख्य रूप से वे परिवार के अन्य सदस्यों पर आश्रित रहती है। बागानों में स्त्री श्रमिक पारिवारिक आधार पर कार्य करती है अर्थात परिवार के सभी सदस्य (छोटे असमर्थ बच्चो को छोड़कर) प्रायः एक ही बागान में काम करते हैं। कोयला खानों में स्त्री श्रमिको को बोझा ढोने के काम पर लगाया जाता है वे कृषि में पुरुषों की सहायता करती है स्त्री श्रमिकों को वृद्ध उद्योगों में काम देने की प्रवृत्ति कुछ वर्षो से ही चली है।

महिला श्रमिकों की समस्याएं

यद्यपि विभिन्न उद्योगों में महिला श्रमिकों की समस्याएं अलग-अलग है, किन्तु कुछ सामान्य व प्रमुख समस्यायें निम्नलिखित है -

(1) पुरुषों की भांति कठोर कार्य करना -

प्राचीन काल में स्त्रियों को मुख्यतः पुरूषों को मन बहलाने अथवा मनोरंजन करने वाले कामों में ही लगाया जाता था, परन्तु आधुनिक युग में उनसे ऐसे कार्य भी लिए जाते है जिसके लिऐ वे सर्वथा अयोग्य है। यह विवादरहित तथ्य है कि महिलायें, पुरुषों की भांति बहुत कठोर काम करने के लिए योग्य नहीं है। अतः उनको ऐसे कामों से बचाया जाये, जिनसे उनको शारीरिक दृष्टि से हानि पहुचती है।

(2) कम मजदूरी -

महिला-श्रमिकों की सबसे महत्वपूर्ण समस्या मजदूरी की है और यह है कि जब स्त्रियां-पुरुषों के बराबर काम कर सकती है और करती है, तो क्या कारण है कि उन्हें पुरुषों के बराबर मजदूरी न दी जाये? यह एक सुपरिचित सत्य है कि भारत केवल अलग-अलग राज्यों में ही मजदूरी भिन्न नहीं होती, वरन् विभिन्न उद्योगों में, विभिन्न वर्षो में, यहां तक की स्त्री तथा पुरुषों की मजदूरी में विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। साधारणतया, महिला श्रमिकों को दी जाने

वाली मजदूरी पुरुष श्रमिकों की अपेक्षा कम होती है। यह केवल भारत में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी देखा जाता है।

कम मजदूरी के कारण

पुरुषों की अपेक्षा स्त्री श्रमिकों की कम मजदूरी के प्रमुख कारण निम्नलिखित है -

(1) कार्यक्षमता में कमी -

सामान्यतः पुरुषों की अपेक्ष स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा कार्यक्षमता कम रहती है। परिणामतः उनकी उत्पादन क्षमता भी कम होती है और उन्हें कम मजदूरी प्राप्त होती है किन्तु यह तर्क बड़ा विवादग्रस्त है। यह एक कोरा भ्रम है कि स्त्रियों में काम करने अथवा शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने की शक्ति कम होती है। वैज्ञानिक अनुभव इस बात की पुष्टि नहीं करता है।

(2) स्थायित्व का अभाव

अधिकांश दशाओं में स्त्रियां किसी काम को स्थायी रूप में ग्रहण नहीं करती। वे कुछ समय तक ही काम करना पसन्द करती है आधी से अधिक स्त्रियां विवाह के पश्चात काम छोड़ देती है। अस्थायी श्रम सदा ही कम मजदूरी पाता है। सेवायोजक भी ऐसा अनुभव करता है कि स्त्रियों के लिए शिक्षण आदि पर व्यय करना लाभदायक नहीं है क्योंकि काम सीखने के बाद भी यह आवश्यक नहीं है कि श्रमिक काम करे ही।

(3) व्यवसायों की कमी -

स्त्रियों के लिए व्यवसाय भी गिने-चुने है। ये कार्य साधारणतया अकुशल होते है और इनके लिए मजदूरी की दर नीची रहती है। इसके अतिरिक्त व्यवसायों के सीमित रहने के कारण ऐसे श्रम की मांग भी सीमित रहती है।

(4) आय का प्रमुख साधन नही -

स्त्रिया साधारणतया अपनी नौकरी को पारिवारिक आमदनी में कुछ थोड़ी सी वृद्धि कर लेने अथवा शौक को पूरा करने का साधन समझती है और इस विषय में बहुत चिन्तित नहीं रहती कि उन्हें कितनी मजदूरी मिलती है।

(5) श्रम संगठन की कमी

पुरुषों की भांति श्रम का संगठन कम होता है। महिला श्रम-संघ बहुत कम है, इसलिए मजदूरी नीची ही रहती है।

(6) सामाजिक प्रतिबन्ध -

स्त्रियों पर अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध है। अनेक कार्य उनके लिऐ वर्जित है। रात्रि में कार्य करना उनके लिए कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत वर्जित है। उन्हें अपेक्षाकृत छुट्टी और दूसरी सुविधाएं भी अधिक दी जाती है, इसीलिए मजदूरी भी कम रहती है।

उपर्युक्त कारणों से स्त्रियों की मजदूरी पुरुषों की अपेक्षा कम रहती है। परन्तु अब धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। हमारा संविधान भी समान कार्य के लिऐ समान वेतन की व्यवस्था करता है, चाहे कार्यकर्ता पुरुष हो अथवा स्त्री। पाश्चात्य देशों में स्त्री श्रम-संघ शक्तिशाली होते जा रहे है। धीरे-धीरे सामाजिक प्रतिबन्ध भी दूर हो रहे है। आर्थिक परिस्थियों में कुछ ऐसे परिवर्तन होते जो रहे है कि स्त्रियों को स्थायी रोजगार की आवश्यकता पड़ने लगी है। परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे स्त्रियों को मजदूरी भी बढ़ रही है। समाजवादी देशों में तो स्त्री और पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। इन देशों का यह अनुभव है कि किसी काम

में स्त्रियों पुरुषों से पीछे नहीं है। वैसे भी यह समझना भूल होगी कि सभी उद्योगों और व्यवसायों में स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है। कुछ व्यवसाय स्वभाव से ही ऐसे है कि वे स्त्रियों के लिए अधिक उपयुक्त है और उनमें स्त्रियों को पुरुषों से अधिक मजदूरी मिलती है।

(3) दुर्व्यवहार

जिन स्थानों में महिला श्रमिकों का उपयोग किया जाता है, वहां पर अधिकांशतः उनके साथ दुर्व्यवहार होता है। शायद ही ऐसा कोई स्थान हो, जहां पर व्यभिचार जैसे हीन कृत्यों को स्थान न मिलता हो।

(4) गर्भावस्था में अवकाश का अभाव -

गर्भावस्था में महिलाओं को पर्याप्त अवकाश नहीं दिया जाता, जिससे उनको तो शारीरिक हानि होती है उनकी सन्ताने भी दुर्बल तथा अनेक रोगों को शिकार हों जाती है।

(5) प्रतिकूल वातावरण में काम करना -

स्त्रियां किसी भी देश की संतति को दृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इनके स्वास्थ्य पर इनकी उचित देखभाल पर इनकी दशाओं पर देश की वर्तमान एवं भावी श्रम-शक्ति की क्षमता निर्भर करती है। यदि स्त्रियों को काम पर लगाया जाये और उनके काम करने की दशायें ऐसी हो कि उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े तो निश्चित ही उनसे पैदा होने वाले बच्चे कमजोर होंगे जो आगे चलकर उद्योगों के उत्पादन का भार उठायेगे। भारतवर्ष में स्त्रियों की काफी संख्या में काम पर लगाया जाता है। लेकिन इनके काम करने की दशायें अत्यन्त असन्तोषजनक रही है। अधिकांश दशाओं में स्त्रियों को अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में काम करना पड़ता है तो उनके शरीर व स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालता है।

महिला - श्रमिकों की सुरक्षा के राजकीय प्रयास

स्वतन्त्रता के पूर्व ब्रिटिश भारत में समय समय पर अनेक अधिनियम बनाये गये जिनसे अन्य श्रमिकों के साथ महिलाओं की सुरक्षा का भी ध्यान दिया गया है। किन्तु शुरू में जो भी प्रयास किये गये, वे मुख्यतः काम करने के घण्टों और रोजगार से सम्बन्धित थे। बाद में विशेषतः स्वतन्त्रता की अवधि में इस दिशा में अनेक रचनात्मक प्रयास किये गये। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

(1) रोजगार -

कारखाना अधिनियम 1948 खान अधिनियम 1952 और बागान श्रम-अधिनियम 1957 के अनुसार महिला श्रमिकों की संध्या के 7 बजे से प्रातः काल 6 बजे तक के लिए काम पर नहीं लगाया जा सकता। कारखानों में अधिकतम काम की सीमा 48 घण्टे प्रति सप्ताह तथा बागानों में 55 घण्टे प्रति सप्ताह रखी गई है। इसके अलावा लगातार 5 घण्टे काम करने के बाद आधे घण्टे का अवकाश दिया जाता है। खानों के अन्दर जमीन के नीचे स्त्रियां काम नहीं कर सकती।

(2) स्वास्थ्य व सुरक्षा -

बोझा उठाने के लिए देश के लगभग सभी राज्यों में इस प्रकार सीमा निर्धारित कर दी गई है प्रौढ़ स्त्रियों के लिए 65 पौंड़, वयस्क स्त्रियों के लिए 45 पौंड और बालिकाओं के लिए 30 पौंड।

(3) भर्ती -

असम के चाय क बागानों को छोड़कर भारत में किसी भी क्षेत्र में महिलाओं को काम करने

पर भर्ती करने पर प्रतिबन्ध नहीं है। असम के चाय बगीचों में काम करने के लिए ही डिस्ट्रिक्ट लेवर एक्ट 1932 के अनुसार कोई भी विवाहित स्त्री बिना अपने पति की आज्ञा के नहीं जा सकती।

(4) नहाने-धाने की समस्या -

कारखानों, खानों व बागानों में अधिनियम अनुसार स्त्रियों व पुरुषों के लिए पृथक शौचालय, मुत्रालय व स्नानागार आदि की व्यवस्था होती है।

(5) खतरे का काम करना -

कारखाना अधिनियम 1948 के अनुसार महिला-श्रमिकों को खतरे वाले कामों पर नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार खानों में भी ऐसे कामों के लिए उनकी सेवाओं को उपयोग नहीं किया जा सकता, जिनसे उनके स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं जीवन पर बुरा प्रभाव पड़े।

(6) मातृत्व व लाभ -

भारत के विभिन्न राज्यों ने अपने उद्योगों में काम करने वाले महिला-श्रमिकों को गर्भधारण के समय अनेक सुविधायें प्रदान करने के लिए अधिनियम बनाये है।

(7) सुरक्षा व दण्ड -

श्रम अधिनियमों के अन्तर्गत यह भी व्यवस्था की गई है कि किसी भी स्त्री श्रमिक को प्रसवकाल के समय नौकरी से अलग नहीं किया जा सकता। प्रसवकाल के समय दी गई छुट्टी की अवधि में काम लेना दण्डनीय अपराध समझा जायेगा। कुछ अधिनियमों के अन्तर्गत, जैसे असम में, बच्चा जन्म लेने के चार या छः सप्ताह के बाद हल्का काम दिया जाने की व्यवस्था है। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल मातृत्व लाभ (चाय बगान) अधिनियम के अन्तर्गत इस बात की व्यवस्था है कि यदि डाक्टरों द्वारा उसे स्वस्थ प्रमाणित कर दिया जाता है तो स्त्री - श्रमिक को हल्के काम पर प्रसव के छः सप्ताह पूर्व लगाया जा सकता है।

महिला श्रमिकों की सामाजिक दशा

प्रायः यह देखा जाता है कि औद्योगिक संस्थानों में काम करने वाली महिलायें अपने माता, पिता, पति अथवा अन्य सम्बन्धियों के साथ राजगार की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों की ओर आती है। उनकी इस प्रवासिता का मुख्य कारण परिवार की आय में वृद्धि करना होता है। नगरों में रहने पर भी उनके ग्रामीण दृष्टिकोण अथवा परम्परागत नीति रिवाज आदि में कोई विशेष अन्तर नहीं होती। महिला - श्रमिकों में अधिकतर स्त्रियां विवाहित होती है। एक जॉच के अनुसार विवाहित स्त्रियों का अनुपात विभिन्न उद्योगों में 50 से 80 प्रतिशत तथा विधवाओं का 20 से 50 प्रतिशत है। बाल-बिवाह तथा पुनर्विवाह की प्रथाओं के कारण विवाहित स्त्रियों की संख्या अधिक पाई जाती है। देश की-धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं के अनुसार छोटी उम्र में तथा अविवाहित लडकियों को पुरुषों के साथ कार्य करने की मनाही है। महिला-श्रमिकों की आयु अधिकतर 25 वर्ष से 45 वर्ष के बीच होती है।

पारिवारिक जीवन का प्रभाव

पारिवारिक जीवन पर महिलाओं के रोजगार का गहरा प्रभाव पड़ता है। महिलाओं को दो मोर्चो पर काम करना पड़ता है। एक तो कारखाने में और दूसरे घर पर। इन दोनों स्थानों पर उन्हें क्रमशः 10 व 5 घण्टे काम करना पड़ता है। इस प्रकार दिन में 15 घण्टे का काम करने के बाद उनका शरीर बहुत अधिक थक जाता है। जिसका उनकी कार्यक्षमता और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मनोरंजन और आराम के लिए उन्हें बिल्कुल समय नहीं मिलता। यहीं नहीं उनके बच्चों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास रूक जाता है।

शिशु-सदन के अभाव में जब बच्चों को घर अकेला रहना पड़ता है तो नियन्त्रण के अभाव में उनमें बुरी आदते आ जाती है कुछ माताये तो बच्चों को अफीम खिलाकर घर पर छोड़ जाती है। जिससे उनका दिल और दिमाग कमजोर हो जाता है। महिलाओं के रोजगार का पति पत्नी के सम्बन्धों पर भी कुप्रभाव पड़ता है। जब स्त्रियां कमाने लगती है तो यह सोचती है कि पुरुषों को भी घर के काम में मदद देनी चाहिए। हमारे देश में घर का समस्त उत्तरदायित्व महिलायों के कन्धों पर होता है यही कारण है कि वे भी पुरुषों को अपने कार्य में भागी बनाना चाहती है नवीन वातावरण के अन्तर्गत पति पत्नी के सम्बन्ध कहा तक मधुर रहेगें यह तो समय ही बतायेगा।

महिलाओं के रोजगार के प्रभाव से समाज भी अछूता नहीं रहता। जब स्त्रियां भी कारखानों में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करने को तैयार रहती है तो स्वभावतः उनको प्राथमिकता दी जाती है। जिससे पुरुषों के रोजगार में कमी आती है। कभी-कभी यह समस्या पैदा हो जाती है कि पुरुष व स्त्रियों के कार्यों का वर्गीकरण कर दिया जाये सामान्यतः शिक्षा, नर्सिंग, परिवार तथा समाज के कल्याण से सम्बन्धित सेवाओं के क्षेत्र में महिलाओं के लिए अधिक उपर्युक्त समझा जाता है। यहां पर लिखना आवश्यक न होगा कि महिला श्रमिकों के कारण समाज में नई समस्यायें पैदा हो गई है जैसे छोटे बच्चो की निगरानी करना उन्हें आवारा होने से बचाना, पारिवारिक कलह इत्यादि। रोजगार में महिलायें अन्य स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुषों के सम्पर्क मे भी आती है इससे एक और उनका दृष्टिकोण व्यापक होता है किन्तु दूसरी ओर स्त्री पुरुष सम्पर्क से चारित्रिक समस्याये भी उत्पन्न हो जाती है।

महिला - श्रमिक तथा श्रम-संघ

स्वतन्त्रता के उपरान्त महिला - श्रम संघ आन्दोलन में कुछ वृद्धि हुई है। आंकड़े इस बात के घोतक है कि महिलायें अधिकाधिक संख्या में श्रम-संघों में रूचि ले रही है। हां यह अवश्य है कि पाश्चात्य देशों की तुलना में महिला श्रम संघवाद बहुत धीमी गति से बढ़ रहा है। अन्य उद्योगों की अपेक्षा बागान उद्योगों में स्त्रियों की संख्या अधिक है। बागानों में कुल श्रम संख्या में महिलाओं का अनुपात यद्यपि 46 प्रतिशत है किन्तु स्त्री श्रमिकों की संख्या कुल श्रम संघ सदस्यता में केवल 15 प्रतिशत है। इसके विपरित खनिज उद्योग में महिलाओं की संख्या कुल श्रमिक संख्या का 1/5 है, लेकिन व श्रम संघों में अधिक रूचि लेती है जिससे श्रम संघ सदस्यता में उनका अनुपात 1/4 है। कारखानों उद्योगों में श्रम-संघ सदस्यता में महिलाओं का अनुपात केवल 7 प्रतिशत है जबकि रोजगार में उनका प्रतिशत 10 है।

स्त्री श्रमिकों की समस्याओं का निवारण

भारत में महिलायें उद्योग का स्थायी अंग बन गई है। सभी क्षेत्रों में उनके साथ विशेष बर्ताव की आवश्यकता होती है। महिलाओं के बारे में यह पुरानी धारणा अब खत्म हो चली है कि उन्हें केवल स्वास्थ्य और घर की देखभाल करनी चाहिए। दूसरे देशों की तरह भारत मे भी महिला श्रमिकों को पुरुषों के बराबर का दर्जा दिलाने हेतु उनकी शिक्षा स्वास्थ्य और कल्याण के लिए खास कदम उठाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से निम्न उपयोगी सुझाव दिये जा सकते है।

(1) समान कार्य के लिए स्त्री एवं पुरुष श्रमिकों को समान वेतन देना।

(2) उनको कानूनी संरक्षण बढ़ाना एवं प्रभावी ढंग से कार्यान्वित करना।

(3) निरीक्षण व्यवस्था को मजबूत करना।

(4) महिला आश्रमों का आयोजन करना।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1975 वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया गया। भारत सरकार ने महिलाओं की स्थिति विषयक कमेटी नियुक्त की थी जिसे अपनी रिपोर्ट में अमूल्य सस्तुतिया की है। महिलाओं के रोजगार से सम्बन्धित नीति सबसे पहले छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत महिला विकास शीर्षक वाले अध्याय में स्पष्ट की गई थी। श्रम विभाग में स्थापित "महिला सैल" महिलाओं के रोजगार से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं की देखरेख नीतिया बनाने आदि का कार्य करता है। यह गैर सरकारी संस्थाओं को महिला श्रमिकों के लिए रोजगार के अवसर बढ़ाने के समबन्ध में योजनायें बनाने हेतु प्रोत्साहन देता है। "समान भुगतान" के प्रशासक को मानीटर करने की जिम्मेदारी भी उसी पर है।

अन्त में डा. राधा कमल मुकर्जी के निम्नलिखित शब्दों का उल्लेख अनावश्यक न होगा- "उद्योगों में स्त्रियों और बच्चों के श्रम को काम पर लगाने की दशाओं में भारत वर्ष विश्व के अधिकांश औद्योगिक देशों के स्तर के कल्याण स्तर से काफी पीछे है। अनियन्त्रित कारखानों में अत्यधिक बाल-श्रम का प्रयोग, महिला-श्रमिकों का शोषण और उत्पादन में मानीवय घटकों के प्रति सामान्य उदासीनता, शीघ्र ही अत्यधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति ये सब दोष ऐसे है जिनको श्रम अधिनियम तथा सरकारी श्रम-सेवावओं के द्वारा जल्दी ही दूर किया जाना चाहिए।" भविष्य में उद्योगों को महिला-श्रमिकों के लिए आवास की पर्यापत व्यवस्था करनी चाहिए। तभी स्थयी श्रम-शक्ति का विकास हो सकता है।

बोध प्रश्न 1

प्रश्न - 1

भारतीय उद्योगों में महिला श्रमिकों की विशिष्ट समस्याओं की विवेचना कीजिए उन समस्याओं के निवारणार्थ क्या कदम उठाये गये है?

प्रश्न - 2

"भारत में कारखानों में स्त्रियों को रोजगार सामाजिक दृष्टि से अवाछनीय तथा आर्थिक दृष्टि से अबुछितापूर्ण है और इसलिए इसकी नियन्त्रित किया जाना चाहिए। उपरोक्त कथन का आलोचनात्मक विवेचन करिये।

33.3.2 विभिन्न देशों में महिला श्रम की स्थिति

एक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि वास्तव में औसत महिलाएं पुरूषों से दुगना कठिन कार्य करती हैं विश्व के आंकड़े भी इस बात के प्रमाण हैं कि अनाज उगता है तो नारियों की बाजुओं से, तन ढकता है तो नारियों की श्रम बिदुओं से। विकासशील देशों में 50 प्रतिशत से अधिक अनाज नारी उगाती हैं। आईवरी कोस्ट, मालाबी, माली लाइबीरिया व तंजानिया जैसे देशों में समस्त कृषि श्रमिकों में अस्सी प्रतिशत तक महिलाएं हैं। आम तौर पर विकासशील देशों में महिलाएं अठारह घण्टे काम करने व घरेलू छोटे-मोटे उत्पादन के काम लगाती हैं।

यदि कार्यरत होने का अर्थ नौकरी पेशा होना माने तों 90% स्त्रियां पूर्णरूपेण कार्यरत हैं। जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट के अनुसार महिलाएं और लड़कियां विश्व की जनसंख्या का आधा हिस्सा हैं। किन्तु नारी वर्ग विश्व के श्रम घण्टों का 2/3 भाग काम करता है, इस उत्तेजक निष्कर्ष का प्रमाण दैनिक जीवन में देख सकते हैं। घर का सारा कार्य सभालने के बाद खेतों, फैक्ट्रियों में भी महिलाएं उतनी ही दक्षता से काम करती हैं। क्यूबा जैसे साम्यवादी देश में 95% स्त्रियां पुरूषों के साथ कृषि या फैक्ट्री मे कम करती हैं। यह स्थिति राजस्थान में तो इतनी दयनीय है कि राजस्थान में ग्रामीण क्षेत्रों में तो एक आम महिला पानी की व्यवस्था में एक वर्ष में कुल मिलाकर दिल्ली से कलकत्ता जितनी दूरी पैदल तय कर लेती है। अनौपचारिक रूप से आय के लिए नौकरी करने वालों में एक तिहाई स्त्रियां हैं। बरूंडी,

मोजंबीक, तंजानिया व युगांडा जैसे देशों में स्त्रियां पुरूषों से अधिक संख्या में कार्य कर रही हैं। रोम में स्थित संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संघ के अनुसार खाद्य उत्पाद के लिए 50% उत्तरदायी महिला श्रम है। लेसोथो नामक अफ्रीका देश में जहां गरीबी के कारण पुरूष दक्षिण अफ्रीका की खानों में काम करने को विवश हैं प्रत्यक्ष महिला श्रम रोजगार के रूप में नहीं वरन अप्रत्यक्ष श्रम के रूप में घर व गांव संभालने में है।

अफ्रीका की आर्थिक समिति के अध्ययन के अनुसार समस्त शुद्ध कृषि श्रम साठ से अस्सी प्रतिशत महिलाओं द्वारा किया जाता है। साथ ही पशुपालन का कार्य महिलाओं द्वारा किया जाता है। महिलाओं के लिए औसत कार्य दिवस साढे पन्द्रह घण्टे और सोलह घण्टे होता है।

33.3.3 भारत में महिला श्रम के रोजगार संबंधी प्रवृत्तियाँ एवं स्वरूप

लेबर ब्यूरो और योजना आयोग के श्रम रोजगार डिवीजन द्वारा महिलाओं के रोजगार से संबंधित प्रवृत्तियों का हाल में ही संयुक्त रूप से किये गये अध्ययन से यह पता चला है कि काम करने वाली महिलाओं की संख्या 1911 में 43.0 मिलियन से घटकर 1951 में 40.7 मिलियन रह गई। अध्ययन से मालूम हुआ कि कृषि में महिलाओं के योगदान में तथा कृषि श्रम के रूप में उनके रोजगार में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। यद्यपि एक दशक से दूसरे दशक में कुछ फर्क हुआ। अध्ययन से यह भी मालुम हुआ कि कृषि वाणिज्य और दूसरी सेवाओं और विविध क्षेत्रों को छोड़कर बाकी उत्पादन क्षेत्र में लगी महिलाओं की सापेक्ष और निरपेक्ष (दोनों ही रूपों में) कुछ अन्य क्षेत्रों में महिलाओं का रोजगार बढा है। जैसे तम्बाकू, लोहा व इस्पात, अलोह धातु उद्योग, यातायात, साज-समान, छपाई एवं संबंधित उद्योग, शिक्षण सेवाएं एवं अनुसंधान, नगरपालिकाएं एवं स्थानीय निकाय, होटल, रेस्तरों और चाय घर एवं कानुनी सेवाएं आदि। उनका रोजगार विविध खाद्य उद्योगों एवं दालों अधातु उत्पाद उद्योगों, ईधन संबंधी फुटकर व्यापार, सफाई कार्य एवं सेवाओ तथा कपड़ा धुलाई सेवाओं आदि में कम हुआ। इस प्रकार महिला रोजगार से संबंधित प्रवृत्तियां अलग-अलग रही हैं। कुछ औद्योगिक वर्गों जैसे कृषि संबंधी क्रियाओं में महिलाओं का रोजगार लगभग स्थिर रहा है। बीड़ी और दिया सलाई उद्योगों में रोजगार संबंधी स्थिति अच्छी रही है। काजू उद्योग में और चाय के उद्योग में महिलाओं का उद्योग काफी घटा है। खान क्षेत्र में महिलाओं का रोजगार मैगजीन तथा कच्चे लोहे की खानों में बढ़ा किन्तु कोयला और अभ्रक खानों में घटा है। बागानों में महिलाओं का रोजगार घटा किन्तु वयस्क (स्त्री एवं पुरूष) श्रमिकों की कुल संख्या में हुई गिरावट के अनुपात में ही रही।

33.3.4 भारत में महिला श्रम की विभिन्न रोजगारों में स्थिति

भारत में कारखानों में महिलाओं का औसत दैनिक रोजगार 1947 में कुल का 11.60%, 1951 में 11.43%, 1961 में 10.64%, 1971 में 8.62% तथा 1980 में लगभग 8% प्रतिशत रह गया। सूती वस्त्र उद्योग में वे ज्यादातर रीलिंग व बाइंडिंग विभागों में नियुक्त है। विभिन्न खानों में कुल श्रम शक्ति से महिला श्रमिकों का अनुपात बहुत अलग-अलग रहा है। कोयला, अभ्रक और मैगजीन खानों में यह बहुत घट गया है। कोयला खानों में महिलाएं बिहार, प० बंगाल, मध्य प्रदेश और कुछ हद तक आन्ध्रप्रदेश में काफी संख्या में काम पर लगी हुई हैं। अभ्रक खान खास तौर से बिहार व आन्ध्र प्रदेश में केन्द्रित हैं। 1971 में खान उद्योग में महिला श्रमिकों की औसत संख्या 7.99 लाख थी। 1980 में खानों में कुल श्रम शक्ति में महिलाओं का प्रतिशत लगभग 12 थी। चाय बागानों में इनकी संख्या ज्यादा है। 1980 में बागानों में कुल श्रम शक्ति में महिलाओं का प्रतिशत लगभग चालीस है। अकृषि क्षेत्र में रोजगार में महिला श्रमिकों के अनुपात में कमी हुई है। घरेलू तथा लघु उद्योगों में

महिलाएं सेवा वर्ग में शमिल धन्धों में ज्यादातर काम करती हैं। बीड़ी उद्योग सबसे ज्यादा महिलाओं को काम देने वाला है।

33.3.5 भारत में महिला श्रम की तुलनात्मक स्थिति व प्रतिशत कम होने के कारण

भारत में सार्वजनिक रोजगार में महिलाएं के अधिकार को संविधान के अन्तर्गत माना गया है। संविधान के अनुच्छेद 16(1) तथा 16(2) पुरूषों एवं महिलाओं को बिना किसी भेदभाव के रोजगार के संबंध में बराबर मौकों का अधिकार देते हैं। इससे संबंधित सार्वजनिक नीति का निर्देशन सिद्धान्त 39 (अ) है।

भारत में 1911 में महिला श्रम की संख्या 43.0 मिलियन, 1951 में 40.7 मिलियन, 1961 में 5.95 करोड़ थी। परंतु 1971 में यह 3.13 करोड़ रह गई। इसी क्रम में 1961 में महिला जनसंख्या में महिला श्रमिकों का अनुपात 27.25 प्रतिशत था जो 1971 में घटकर 11.85 प्रतिशत रह गया। 1971 में महिला श्रमिकों की संख्या कम होने का एक कारण यह भी है कि जन-गणना में "श्रमिक" शब्द की एक अलग परिभाषा अपनायी गयी।

1991 की जनगणना के अनुसार जम्मू तथा कश्मीर को छोड़कर बाकी देश में महिलाओं की संख्या 403, 36 मिलियन थी। इसमें से 22.25 प्रतिशत अर्थात 89.36 मिलियन महिला श्रमिक थी। इन महिला श्रमिकों में से 80.43 मिलियन अर्थात नब्बे प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र में निवास करती है और बाकी 8.93 मिलियन शहरों में कार्यरत है। उपरोक्त स्थिति स्पष्ट करती है कि भारत में महिला श्रम का प्रतिशत निरंतर कम होता जा रहा है जिसके लिए निम्न कारण उत्तरदायी माने जा सकते हैं :-

i. कुछ स्थानों एवं कुछ समयों के दौरान महिलाओं की नियुक्ति मना होना।

ii. प्रसूति लाभ, शिशु सदन एवं बोझा ढोने आदि के संबंधों के कानूनी दायित्व।

iii. सेवा योजकों के लागत ढ़ांचे पर बुरा असर पड़ना।

iv. कारखाना एक्ट, खान एक्ट और दूसरे श्रम कानूनों को अमल में लाने वाले संगठन की मजबूती तथा महिलाओं द्वारा सीमित स्वभाव का कार्य ही किया जाना।

v. पुरूषों और महिलाओं के लिए बराबर मजदूरी का निर्देशन होने से पुरूषों में जहाँ तक मुमकिन हो प्राथमिकता देना सेवायोजकों के लिए किफायती बनाना है। क्योंकि पुरूष श्रमिक द्वारा किया गया कार्य ज्यादा माना जाता है।

vi. अकेली महिला श्रम की आवास संबंधी कठिनाइयां महिला श्रम में बाधक हैं।

vii. प्रसूति लाभों के भुगतान, शिशु सदनों की स्थापना आदि के रूप में सेवायोजकों को जो अतिरिक्त खर्च उठाना पड़ता है जिसने उन्हें महिलाओं की नियुक्ति के प्रति अनिच्छुक बना दिया है।

viii. इनके अतिरिक्त खानों में भूमिगत कार्य के लिए महिलाओं की नियुक्ति को 1929 में मना किया गया किन्तु 1943 में युद्धकालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप यह रोक अस्थाई रूप से हटा ली गई। 1946 में प्रतिबंध फिर लगा और तब से आज तक जारी है।

33.3.6 भारत सरकार द्वारा महिला श्रम के संबंध में उठाए गए महत्वपूर्ण कदम

भारत में महिलाएं उद्योग का स्थायी अंग हैं सभी क्षेत्रों में महिलाओं के साथ खास व्यवहार की जरूरत है महिलाओं की कोमलता और घरों पर एवं देश की भावी संतानों पर उनके प्रभावों को ध्यान में रखना जरूरी है। महिला श्रमिकों के लिए खास संरक्षण चाहिए और इसलिए दूसरे

देशों की तरह भारत में भी उन्हें पुरुषों के बराबर का दर्जा दिलान के लिए महिला श्रमिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य एवं कल्याण के लिए खास कदम उठाने पड़े हैं। संविधन के अनुच्छेद 16 (1) तथा 16 (2) पुरुषों एवं महिलाओं को बिना किसी भेदभाव के रोजगार के संबंध में बराबर मौको का अधिकार देते हैं। इससे संबंधित सार्वजनिक नीति का निर्देश सिद्धांत 39 (अ) है, इन्हीं बातों के बारे में महिलाओं के रोजगार पर विचार किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1975 वर्ष "अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष" घोषित किया जाना, भारत सरकार द्वारा नियुक्त "कमेटी ऑन वूमेन" की रिपोर्ट आदि इस दिशा के सकारात्मक कदम कहे जा सकते है। महिलाओं के रोजगार से संबंधित स्पष्ट नीति का कथन सब से पहले छठी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत "महिला विकास" शीर्षक वाले अध्याय में किया गया, श्रम विभाग में स्थापित महिला सेल महिलाओं के रोजगार से संबंधित विभिन्न समस्याओं की देख-रेख नीतियाँ बनाने आदि का कार्य करता है। यह गैर सरकारी संस्थाओं को महिला श्रमिकों के लिए रोजगार के मौकों को बढ़ाने के संबंध में योजनाएं बनाने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह समान भुगतान अधिनियम को मॉनीटर करने का दायित्व भी रखता है।

नवम्बर 1991 में भारतीय श्रमिक शिक्षा संस्थान, बंबई में महिला एवं बाल श्रम के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान ध्यान के लिए एक प्रकोष्ठ की स्थापना की गई है।

33.4. सारांश

भारत की विशाल जनसंख्या यहां की आर्थिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। श्रम जोकि उत्पादन का एक सक्रिय साधन है, के संदर्भ में बाल श्रम व महिला श्रम के महत्व को कम नहीं आंका जा सकता। औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप भारत में परम्परागत देशी उद्योगों के पतन के फलस्वरूप बिगड़ी अर्थव्यवस्था ने सस्ते श्रम के रूप में बाल श्रम और वह भी पर्याप्त न हो पाने व परिवार के आय के स्रोत सीमित होने के कारण महिला श्रम को कार्य करने हेतु मजबूर किया। भारत में बाल श्रमिकों की स्थिति अत्यन्त शौचनीय रही है व आज स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंती मनाने के बावजूद भी इस दिशा में उठाए गए गदमों के परिणाम संतोषप्रद नहीं है। यद्यपि भरत सरकार ने समय-समय पर इस समस्या निवारण हेतु, बाल श्रमिकों के उचित संरक्षण हेतु समय-समय पर श्रम विधान कानून पारित किए है परंतु अप्रत्यक्ष रूप से आज भी इनकी संख्या में ना तो विशेष कमी आई है ना ही इसको उचित सुविधाएं उपलब्ध हो पाई है। प्रतिवर्ष 14 नवम्बर बाल दिवस के रूप में जब हम मनाते है तो शायद कोई समाचार पत्र इस गंभीर समस्या के विषय में लिखने से चूकना होगा। 1998 में भारत सरकार द्वारा बाल श्रमिक संबंधी राष्ट्रीय नीति का "नेशलन पोलिसी ओन चाइल्ड लेबर" की घोषणा की गई थी। सर्वोच्च न्यायालय के 10-12-96 के महत्वपूर्ण निर्णय के बाद लगभग सभी राज्यों में बाल श्रमिकों का सर्वे कराया जाना, उन्हें मुक्त कराया जाना व उनके लिए दोषी व्यक्तियों को दंडित किया जाना निःसंदेह सरकार द्वारा प्रशंसनीय प्रयास है। जिसके कारण दिसंबर 1997 तक बाल श्रमिकों की एक बड़ी संख्या को निजात मिली है व उनकी उचित परवरिश, शिक्षा की व्यवस्था की गई है। राष्ट्रीय बाल श्रमिक नीति के तहत विभिन्न स्थानों पर बाल कल्याण कोष स्थापित किए गए है। साथ ही बाल कल्याण केन्द्र भी चलाए जा रहे हैं। रोजगार से मुक्त किए गए बच्चों के लिए लगभग 720 स्कूल चलाए जा रहे है। जहाँ 350,000 के लगभग बच्चों को शिक्षा दी जा सकती है।

आर्थिक क्रिया में महिलाओं द्वारा भाग सभी देशों में लिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा श्रम शक्ति सहभाजन के अनुमानों पर आधारित एक अध्ययन से पता चला है कि महिला श्रमिक विकास शील देशों की ग्रामीण जनसंख्या में आर्थिक दृष्टि से बहुत सक्रिय वर्गों में से एक है। भारत में महिला श्रम की स्थिति पर्याप्त संतोष जनक है। यहाँ संविधान ने स्त्री व पुरूषों

को समान काम पर समान वेतन का प्रावधान है। कुछ उद्योगों में महिला स्थिति को देखते हुए रोक है। यहां के महिला श्रम की मुख्य कमी महिला श्रम संघों का पर्याप्त रजिस्टर्ड न होना है। चूंकि कार्य को उसके बाजार मूल्य द्वारा मापने की प्रथा आज भी है अतः लगभग 80 प्रतिशत कार्यशील महिलाओं को काम में ना लगा हुआ समझा जाता है।

भारत में श्रम विभाग में महिला श्रम हेतु महिला प्रकोष्ठ स्थापित किया गया है। जो महिलाओं के रोजगार से संबंधित विभिन्न समस्याओं की देख रेख का कार्य करता है।

33.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

(i) यादव, सुन्दर लाल : मजदूरी नीति व सामाजिक सुरक्षा, जयपुर, राजस्थान ग्रंथ अकादमी।

(ii) भगोलीवाल, टी. एन. एवं प्रेमलता : श्रम अर्थशास्त्र एवं औद्योगिक संबंध, आगरा साहित्य भवन।

(iii) सक्सेना, आर, सी, : श्रम अर्थशास्त्र एवं औद्योगिक संबंध।

(iv) चौधरी, सी. एम. : मजदूरी नीति एवं सामाजिक सुरक्षा जयपुर, रिसर्च पब्लिकेशन्स।

(v) "बाल श्रमिक निर्देश पुस्तिका एवं संदर्भ सामग्री" सर्वे 1997 जयपुर राजस्थान सरकार।

(vi) भूरा, नीरा चाइल्ड लेबर इन इण्डिया, यूनाइटेड रेशन्स रिपोर्ट, दिल्ली (पृष्ठ 22 से 24)

(vii) दैनिक भास्कर, जयपुर (दिनांक 3 जून, 1998)

(viii) इंडियन एक्सप्रेस, दिल्ली (दिनांक 25 अक्टूबर, 1996)

33.6 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. उद्योग में बाल श्रमिकों के रोजगार से उत्पन्न होने वाली आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिए। भारत में बाल श्रमिकों की दशाओं में रम कानूनों द्वारा कहाँ तक सुधार है। स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. भारत में बाल श्रमिकों के विषय में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय की विशेषताएं बताइये व सरकार द्वारा अपेक्षित कार्यवाही का वर्णन कीतिए।

प्रश्न 3. "जब कि बचपन में कार्य एक सामाजिक अच्छाई व एक राष्ट्रीय लाभ है, बाल श्रमिकों का रोजगार एक सामाजिक बुराई व राष्ट्रीय बर्बादी है" भारत से उदाहरण सहित इस कथन को समझाइये।

प्रश्न 4. भारत में महिला श्रम की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5. भारत में बाल श्रम के लिए उठाए गए कानूनी कदमों से बाल श्रम स्थिति में कहाँ तक सुधार हुआ है उदाहरण सहित स्पष्ट करे।

प्रश्न 6. विभिन्न भारतीय उद्योगों में महिला श्रमिकों की सुरक्षा के लिए कानूनी व्यवस्थाएं क्या है? क्या उद्योग में महिलाओं को रोजगार देने को कानून द्वारा पूरी तहर मनाही की जाना चाहिए?

प्रश्न 7. वे प्रमुख उद्योग बताइए जिनमें बालक व महिलाएं रोजगार पाती है इस प्रकार के रोजगार से उदय होने वाली समस्याएं क्या है? उनके हितों की रक्षा के लिए भारत में क्या उपाय किये गये है? इस संबंध में अपने सुझाव दीजिए।

इकाई 34

भारत में ग्रामीण श्रम

इकाई की रूपरेखा

34.0 उद्देश्य

34.1 प्रस्तावना

34.2 ग्रामीण रोजगार के प्रकार

34.3 ग्रामीण श्रम शक्ति का परिमाप

34.4 मुख्य मजदूरों (ग्रामीण) का वर्गीकरण

34.5 ग्रामीण बेरोजगारी का विस्तार, वर्तमान प्रवृत्ति और आठवी योजना के अनुमान

- 34.5.1 भारत में ग्रामीण बेराजगारी का विस्तार
- 34.5.2 बेरोजगारी : वर्तमान स्थिति
- 34.5.3 आंठवीं योजना के दौरान बेरोजगारी के अनुमान

34.6 ग्रामीण श्रम और गरीबी

- 34.6.1 ग्रामीण किसानों के मध्य गरीबी का प्रभाव
- 34.6.2 निर्धनता-रेखा के नीचे जनसंख्या का विस्तार
- 34.6.3 अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के मध्य गरीबी

37.7 कृषि श्रम

- 34.7.1 भारत में कृषि श्रम की विशेषतायें
- 34.7.2 कृषि श्रमिकों के प्रकार
- 34.7.3 कृषि श्रम का परिमाण
- 34.7.4 कृषि श्रमिकों में वृद्धि के कारण
- 34.7.5 कृषि श्रमिकों की हीन आर्थिक दशा के कारण
- 34.7.6 सरकार द्वारा कृषि श्रमिकों के लिये किये गये प्रयास
- 34.7.7 कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए सुझाव

34.8 कृषि मजदूरी

- 34.8.1 भारत में कृषि मजदूरी
- 34.8.2 कृषि मजदूर और न्यूनतम मजदूरी

34.9 बंधुआ मजदूर

34.10 बेरोजगारी और अल्परोजगार के उन्मूलन के लिए प्रारम्भ की गई योजनएँ एवं इनके प्रभाव

- 34.10.1 बेरोजगारी व अल्परोजगार को कम करने के लिए प्रारम्भ की गई विभिन्न योजनाएँ
- 34.10.2 भारत में रोजगार की प्रवृत्ति

34.10.3 शिक्षित व्यक्तियों में रोजगार वृद्धि दर
34.10.4 क्षेत्रीय कार्यक्रमों की रोजगार सम्भावनाएँ
34.11 शब्दावली
34.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
34.13 निबन्धात्मक प्रश्न

34.0 उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था में ग्रामीण श्रम का विशेष महत्व है। यह मुख्य रूप से भूमिहीन कृषि श्रमिक है एवं असंगठित होने के कारण इनकी समस्याओं के प्रति सरकार अथवा जनता अधिक संवेदनशील नहीं है। ये अत्यधिक गरीब एवं बेरोजगार हैं इनमें से कुछ श्रमिक बंधुआ मजदूर हैं। इस इकाई का उद्देश्य आपको ग्रामीण श्रम के अर्थ, प्रकार एवं उनकी विभिन्न समस्याओं से अवगत कराना है।

34.1 प्रस्तावना

ग्रामीण मजदूर पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का अभिसमय संख्या 141 ग्रामीण मजदूरों के अन्तर्गत "ग्रामीण क्षेत्र का कोई भी व्यक्ति जो कृषि, हस्तशिल्प या इससे सम्बन्धित कार्य में संलग्न है, चाहे वह मजदूरी प्राप्त करने वाला हो या स्वरोजगार व्यक्ति जैसे - कृषक, बटाईदार व छोटा भूस्वामी आते है।" केवल कृषि मजदूर, गरीब किसान, कलाकार जो खुद किराये पर कार्य करते है, ग्रामीण मजदूर में शामिल हैं।

भारत, बांगलादेश, ब्राजील, मिश्र, इंडोनेशिया, ईरान, ईराक, कुवैत, मैक्सिकों, नेपाल, पाकिस्तान और सऊदी अरब में कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत काफी कुछ समान है भारत, बांग्लादेश, चीन, केन्या और नेपाल में विश्व के अन्य देशों की तुलना में, कृषि में संलग्न श्रम शक्ति का प्रतिशत अधिक है। तालिका संख्या 34.1 विभिन्न देशों में कार्यशील जनसंख्या के प्रतिशत, कृषि, उद्योग व सेवा क्षेत्र में संलग्न श्रम शक्ति के प्रतिशत और श्रम शक्ति की औसत वार्षिक वृद्धि के सम्बन्ध में जानकारी प्रस्तुत करती है।

तालिका 34.1

श्रम शक्ति

देश	कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत (15-64 आयु समूह) 1985	श्रम शक्ति- प्रतिशत वर्ष 1980 में A	I	S	श्रम शक्ति में औसत वार्षिक वृद्धि प्रतिशत में वर्ष 1980-85
1. भारत	56	70	13	17	2.0
2. आरजेन्टिना	60	13	34	53	1.1
3. आस्ट्रेलिया	66	7	32	61	1.8
4. बांग्लादेश	53	75	6	19	2.8
5. ब्राजील	59	31	27	42	2.3
6. कनाडा	68	5	29	65	1.4

7.	चीन	65	74	14	12	2.5
8.	ईजिप्ट	55	46	20	34	2.6
9.	फ्रांस	66	9	35	56	0.9
10	जर्मनी स.ग.	70	6	44	50	0.7
11	इन्डोनेशिया	56	57	13	30	2.4
12	ईरान	53	36	33	31	3.3
13	ईराक	50	30	22	48	3.7
14	जापान	68	11	34	55	0.9
15	केन्या	45	31	7	12	3.5
16	कोरिया गण	64	36	27	37	2.7
17	कुवैत	58	2	32	67	6.2
18	मैक्सिको	54	37	29	35	3.2
19	नेपाल	54	93	01	7	2.3
20	पाकिस्तान	53	55	16	30	3.2
21	सऊदी अरब	54	48	14	37	4.4
22	श्री लंका	62	53	14	33	1.6
23	ब्रिटेन	65	3	38	59	0.5
24	अमरीका	66	4	31	66	1.2
25	रूस	66	20	39	41	0.9

स्रोत - विश्व विकास रिपोर्ट 1988

विशेष - A = कृषि, I = उद्योग व S = सेवा क्षेत्र को प्रदर्शित करता है।

34.2 ग्रामीण रोजगार के प्रकार

मौटे तौर पर ग्रामीण श्रम को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :--

1) स्वरोजगार प्राप्त

2) नियमित मजदूरी या वेतन प्राप्त

3) आकस्मिक श्रमिक।

वर्ष 1972-73 में लगभग 65 से 66 प्रतिशत ग्रामीण मजदूर स्वरोजगार के अन्तर्गत थे। वर्ष 1983 में इनका हिस्सा गिरकर 60 से 62 प्रतिशत रह गया। प्रतिशत में यह कमी कृषि क्षेत्र में पुरूषों की तथा गैर कृषि क्षेत्र में महिलाओं से सम्बन्धित थी। नियमित रोजगार पाने वालों का भी अनुपात इस अवधि के दौरान कम हो गया। परन्तु कृषि व गैर कृषि क्षेत्र में आकस्मिक श्रमिकों के हिस्से में पर्याप्त वृद्धि हुई। तालिका संख्या 34.2 लिंग के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार के प्रकार के आंकड़ों को प्रस्तुत करती है :--

तालिका 34.2

लिंग के अनुसार, भारत के ग्रामीण क्षेत्र में स्तर और रोजगार के क्षेत्र के अनुसार मजदूरों का वितरण (1972-73 से 1987-88)

	स्तर/रोजगार के क्षेत्र	पुरूष				महिलायें			
		72-73	77-78	83	87-88	72-73	77-78	83	87-88
A	स्वरोजगार	65.9	62.7	60.4	58.6	64.5	62.1	61.9	60.8
(i)	कृषि क्षेत्र	55.0	52.6	49.7	–	54.7	54.7	56.7	–
(ii)	गैर कृषि क्षेत्र	10.9	10.1	10.7	–	9.8	7.4	5.2	–
B	रोजगार प्राप्त								
1.	नियमित	12.1	10.8	10.6	10.4	4.1	2.8	2.8	3.7
(i)	कृषि	6.6	4.5	3.8	–	2.1	1.1	1.0	–
(ii)	गैर कृषि	5.5	5.8	6.5	–	2.0	1.7	1.8	–
2.	आकस्मिक	22.0	26.6	29.3	32.1	31.4	35.1	35.1	35.5
(i)	कृषि	19.3	23.2	24.6	–	28.9	32.3	32.3	–
(ii)	गैर कृषि	2.9	3.5	4.7	–	2.5	2.8	3.0	–

स्रोत : 1. सर्वेक्षण, वाल्यूम-5, जुलाई-अक्टूबर 1982 और वाल्यूम-II, नम्बर 4 अप्रैल, 1988.
2. राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन 1990.

34.3 ग्रामीण श्रम शक्ति का परिमाप

वर्ष 1981 तक देश में ग्रामीण श्रम शक्ति को कुल श्रम शक्ति का 82 प्रतिशत आँका गया जिसमें 68.6 प्रतिशत (15.30 करोड़) को 76.5 प्रतिशत आँका गया। तब से इसमें ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ। लघु व सीमान्त कृषक (जिनके पास 2 हेक्टेयर से कम भूमि है) 74.5 प्रतिशत आँके गये। वर्ष 1960-61 में लघु व सीमान्त कृषकों की कुल संख्या 30.78 मिलियन थी, जो वर्ष 1980-81 में 66.60 मिलियन हो गई। कुल कार्यशील श्रम शक्ति में कृषि श्रमिकों का प्रतिशत हिस्सा वर्ष 1960-61 के 16.7 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 1981 में 29.9 प्रतिशत हो गया।

भारत में ग्रामीण जनसंख्या शहरी जनसंख्या की तुलना में अधिक है। ग्रामीण क्षेत्र में शहरी क्षेत्र की तुलना में कार्य नहीं करने वालों की संख्या भी अधिक है। भारत में कार्यशील व अकार्यशील जनसंख्या का विस्तार तालिका संख्या 34.3 में दिया गया है:—

तालिका 34.3

भारत में कार्यशील और अकार्यशील जनसंख्या (1981)

श्रेणी	संख्या (मिलियन में)			प्रतिशत		
	कुल	पुरूष	महिला	कुल	पुरूष	महिला
1. मुख्य मजदूर	222.5	177.5	45.0	33.4	51.6	14.0
ग्रामीण	176.4	136.8	39.6	34.8	52.6	16.0
शहरी	46.1	40.7	5.4	29.2	48.5	7.3
2.सीमान्त मजदूर	22.1	3.5	18.6	3.3	1.0	5.8
ग्रामीण	20.9	3.1	17.8	4.1	1.2	7.2
शहरी	1.2	0.4	0.8	0.8	0.5	1.1
3.अकार्यशील मजदूर	420.7	162.9	257.8	63.3	47.4	80.2
ग्रामीण	310.3	120.1	190.2	61.1	46.2	76.8
शहरी	110.4	42.8	67.7	70.0	51.0	91.6
4.कुल जनसंख्या	*665.3	343.9	321.4	100.0	100.0	100.0
ग्रामीण	507.6	260.0	247.6	100.0	100.0	100.0
शहरी	157.7	83.9	73.8	100.0	100.0	100.0

स्रोत - रजिस्टार जनरल, भारत

विशेष : मुख्य मजदूर उन व्यक्तियों को इंगित करता है जो आधे वर्ष से अधिक (183 दिन) आर्थिक दृष्टि से उत्पादन कार्यों में संलग्न रहते है। सीमान्त मजदूर उन व्यक्तियों को बताता है जो 183 दिन से कम दिन आर्थिक उतपादक कार्यों में लगे रहते है और अकार्यशील उन व्यक्तियों को बताता है जो सम्पूर्ण वर्ष के दौरान कोई कार्य नहीं करते है।

* – असम की जनसंख्या को निकालकर।

भारत में ग्रामीण श्रम शक्ति में ग्रामीण मजदूरों की संख्या, कार्य नहीं करने वाले मंजदूरों की संख्या से कम है। यह इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि ग्रामीण क्षेत्र में गम्भीर रूप से बेरोजगारी है, जिसको ध्यान देने की आवश्यकता है। पुरूष मजदूरों की संख्या, कार्य नहीं करने वाले पुरूष मजदूरों की संख्या से अधिक है। किन्तु महिला मजदूरों की संख्या कार्य नहीं करने वाली महिलाओं से कम है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ग्रामीण क्षेत्र में महिलाओं को पुरूषों की तुलना में अधिक रोजगार प्रदान करने की ओर ध्यान देना आवश्यक है। तालिका संख्या 34.4 भारत में ग्रामीण श्रम शक्ति की स्थिति को प्रदर्शित करती है।

तालिका 34.4

भारत में ग्रामीण श्रम शक्ति का वितरण (1981)

(मिलियन में)

कार्यशील व अकार्यशील मजदूरों की श्रेणी	कुल	पुरूष	महिलायें
1. कुल मुख्य मजदूर	176.4	136.8	39.6
[a] खेतीहर	90.2	75.5	14.2
[b] कृषि श्रमिक	52.7	32.8	19.9
[c] गृह उद्योग	5.4	3.9	1.5
[d] अन्य मजदूर	28.1	24.6	3.5
2. सीमान्त मजदूर	20.9	3.1	17.8
3. अश्रमिक	310.3	120.1	190.2

स्रोत : भारत की जनगणना, पृष्ठ संख्या 3, 1981 गणना।

कार्यशील जनसंख्या में मुख्य श्रेणियां, किसान, कृषि श्रमिक, अन्य मजदूर जो कृषि से सम्बन्धित क्रिया कलाप तथा ग्रामीण उद्योग और व्यवसाय में संलग्न हैं। इससे सम्बधित आंकड़े तालिका संख्या 34.5 में दर्शाये गये है। तालिका 37.5 में यह देखा जा सकता है कि वर्ष 1961 की तुलना में वर्ष 1981 में किसानों की संख्या में कमी हुई और यह कमी मुख्य रूप से महिला किसानों को लेकर थी। कृषि श्रमिकों की संख्या में (पुरूष व महिला दोनों में) वर्ष 1961 की तुलना में वर्ष 1981 में वृद्धि हुई। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि अधिक से अधिक किसान मजदूरी कमाने वाले हो गये है। ग्रामीण क्षेत्र में कुल मजदूरों की संख्या वर्ष 1961 की तुलना में वर्ष 1981 में बढ़ गई। कुल पुरूष मजदूरों की संख्या वर्ष 1961 की तुलना में वर्ष 1961 की तुलना में वर्ष 1981 में घट गई।

तालिका 34.5

भारत में ग्रामीण क्षेत्र में मजदूरों का वर्गीकरण (1961-81)

(मिलियन में)

श्रेणी	1961	1971	1981
1. किसान			
कुल	93.85 [59.9]	73.49 [51.2]	89.00 [51.0]
पुरूष	62.46 [60.7]	64.44 [55.6]	64.10 [55.3]
महिला	31.39 [68.5]	9.05 [51.2]	89.00 [51.0]
2. खेतिहर श्रमिक			
कुल	30.42 [19.5]	45.14 [31.4]	52.57 [30.1]
पुरूष	16.67 [16.2]	29.95 [25.8]	32.53 [24.2]
महिला	13.75 [25.6]	15.19 [55.0]	20.04 [49.6]
3. अन्य मजदूर			
कुल	32.31 [20.6]	25.00 [17.4]	32.95 [18.9]
पुरूष	23.82 [23.1]	21.62 [18.6]	27.47 [20.5]
महिला	8.49 [15.9]	3.38 [12.2]	5.48 [13.5]
4. कुल मजदूर	156.58. [100]	143.63 [100]	174.52 [100]
पुरूष	102.95 [100]	116.63 [100]	134.10 [100]
महिला	53.63 [100]	27.63 [100]	40.42 [100]

स्रोत - भारत की जनगणना पृष्ट संख्या 3, 1981 गणना

विशेष - जो आंकड़े कोष्ठक में दिये गये है वे कुल कार्यशील शक्ति के प्रतिशत को प्रदर्शित करते है। कुल जनसंख्या में मुख्य मजदूरों का अनुपात वर्ष 1961 में 45.11 से वर्ष 1981 में घट कर 34.36 रह गया। कुल जनसंख्या में किसानों का अनुपात भी घट गया जबकि कुल जनसंख्या में कृषि श्रमिकों का अनुपात इस अवधि के दौरान बढ़ गया। उपर्युक्तप्रदर्शित आंकड़ें कुल जनसंख्या में कुल मुख्य मजदूर, किसान, कृषि श्रमिक, घरेलु उद्योग तथा अन्य मजदूरों के अनुपात को बताते हैं।

तालिका 34.6

कुल जनसंख्या में मुख्य मजदुरों, कृषकों, कृषि श्रमिकों घरेलू उद्योग- धन्धो एवं अन्य मजदूरों का अनुपात

(प्रतिशत में)

श्रेणी	पुरूष	ग्रामीण महिलायें	कुल
कुल मुख्य मजदूर			
1961	58.35	31.40	45.11
1971	53.62	13.36	34.01
1981	52.62	16.00	34.76
कृषक			
1961	35.51	18.41	27.11
1971	29.89	4.40	17.47
1981	29.02	5.93	17.76
कृषि श्रमिक			
1961	9.38	8.01	8.71
1971	13.73	7.33	10.61
1981	12.63	8.03	10.39
घरेलू उद्योग धन्धे			
1961	3.40	2.12	2.77
1971	1.71	0.47	1.11
1981	1.51	0.61	1.07
अन्य मजदूर			
1961	10.06	2.86	6.52
1971	8.29	1.16	4.82
1981	9.46	1.43	5.54

स्रोत - भारत की जनगणना 1981, श्रेणी-1, भाग-II, B[1]

विशेष - 1 शब्द "मुख्य मजदूर" 1981 की जनगणना में प्रयोग किया गया। वर्ष 1961 व 1971 की जनगणना के सन्दर्भ में केवल 'मजदूर' है।

2. वर्ष 1981 के आंकड़े असम को छोड़ कर है।

34.4 मुख्य मजदूरों (ग्रामीण) का वर्गीकरण

मुख्य मजदूरों में, मजदूरों की अन्य श्रेणियों की तुलना में कृषकों की संख्या अधिक है इसके बाद कृषि श्रमिकों की संख्या है। तालिका संख्या 34.7 मुख्य मजदूरों के अन्तर्गत विभिन्न श्रेणियों के मजदूरों की संख्या से सम्बन्धित आकड़ों को प्रस्तुत करती है:—

तालिका 34.7

मुख्य मज़दूरों (ग्रामीण) का वर्गीकरण 1981

श्रेणी	संख्या (मिलियन में)	प्रतिशत
कृषक	80.2	51.1
कृषि श्रमिक	52.7	29.9
पशुधन, वानिकी आदि	4.2	2.4
खनन और उत्खनन	0.8	0.5
घेरलू उद्योग धन्धे	5.4	3.1
अन्य उद्योग धन्धे	6.1	2.4
निर्माण	1.7	1.0
व्यापार और वाणिज्य	4.9	2.8
परिवहन, संचार आदि	1.9	1.1
अन्य सेवाएं	8.5	4.8
कुल	176.4	100.0

स्रोत : रजिस्टार जनरल, भारत

विशेष : 1981 की जनगणना के 5 प्रतिशत नमूना आंकड़े पर आधारित, असम को छोड़कर।

34.5 ग्रामीण बेरोजगारी का विस्तार, वर्तमान प्रवृत्ति और आठवी योजना के अनुमान

34.5.1 भारत में ग्रामीण बेरोजगारी का विस्तार

भारत में सर्वाधिक पाई जाने वाली बेरोजगारी व अल्परोजगार के विस्तार को ज्ञात करने के लिये सरकार द्वारा प्रयास किया गया है। भगवती समिति ने अपनी रिपोर्ट मई 1973 में भारत सरकार को प्रस्तुत की। आंकड़ों के आधार पर वर्ष 1971 में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या 18.7 मिलियन आँकी गई है। इनमें से 9 मिलियन तो ऐसे व्यक्ति है जिनके पास कोई रोजगार नहीं है, और 9.7 मिलियन ऐसे हैं, जिनके पास 14 घण्टे से कम प्रति सप्ताह का कार्य उपलब्ध है और जिन्हें लगभग बेरोजगार ही माना जा सकता है। इनमें से 16.1 मिलियन (86 प्रतिशत कुल बेरोजगारी को) बेरोजगार व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों से हैं और 2.6 मिलियन शहरी क्षेत्रों से है। कुल श्रम शक्ति के प्रतिशत के रूप में बेरोजगार व्यक्तियों की मात्रा 10.4 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की मात्रा 10.9 प्रतिशत है और शहरी क्षेत्रों में यह 8.1 प्रतिशत है।

बेरोज़गारी पर विशेषज्ञों की समिति ने अनुमान लगाया कि 8.5 मिलियन व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों में और 1.2 मिलियन व्यक्ति नगरीय क्षेत्रों में प्रति सप्ताह 14 घण्टे से कम काम कर रहे है। ये इतने गम्भीर रूप से अल्परोजगार है कि बेरोजगारी पर समिति (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 19वां दोर) ने उन्हें "बेरोजगारी के नजदीक" माना उन्हें बेरोजगारी की श्रेणी में शामिल किया। इसके अतिरिक्त 23.50 मिलियन व्यक्तियों (ग्रामीण श्रम शक्ति का 15.9 प्रतिशत) प्रति सप्ताह 28 घण्टे से कम घण्टे काम कर रहे है जो गम्भीर रूप से अल्प रोजगार में है। श्रम शक्ति में अल्परोजगार का विस्तार तालिका संख्या 34.8 में दिया गया है :—

तालिका 34.8

श्रम शक्ति में अल्प-रोजगार का विस्तार 1971

प्रति सप्ताह के घण्टे	अल्परोजगारों की संख्या (मिलियन में)	श्रमशक्ति में अल्प रोजगारों का प्रतिशत
14 घण्टे से कम		
ग्रामीण	8.5	5.7
शहरी	1.2	4.0
24 घण्टे से कम		
ग्रामीण	23.5	15.9
शहरी	3.4	10.5

स्रोत : बेरोजगारी पर समिति पर रिपोर्ट, मई 1973 द्वारा संकलित।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 32वें एवं 38वें दौर के अनुसार शहरी क्षेत्र की तुलना में ग्रामीण क्षेत्र में सभी आयु समूह में बेरोजगारों की संख्या अधिक है। जो इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि बेरोजगारी का विस्तार शहरी क्षेत्र की तुलना में ग्रामीण क्षेत्र में अधिक है। यह निष्कर्ष तालिका संख्या 34.8 में दिये गये आंकड़ों से प्रमाणित है। राष्ट्रीय नमूना सवेक्षण (NSS) के 32वें दौर के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में 15+ से अधिक और 15-59 आयु समूह में बेरोजगारों की मात्रा समान है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 38वें दौर के अनुमान की तुलना में 32वें दौर की रिपोर्ट में ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी का विस्तार सभी आयु समूह में अधिक है। इसका कारण सरकार द्वारा अनुशासित विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रमों द्वारा उत्पन्न किये गये रोजगार अवसर हो सकते हैं।

तालिका 34.9

बेरोजगारी का अनुमान (सामान्य स्थिति में) मार्च 1985

(मिलियन में)

	आयु समूह		
	[5+]	[15+]	[15-59]
राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का 32वां दौर			
1. ग्रामीण	7.80	7.33	7.33
2. शहरी	6.09	5.92	5.87
3. कुल बेरोजगार [1+2]	13.89	13.25	13.10
4. कुल श्रम शक्ति	305.40	287.82	269.81
बेरोजगारी की दर प्रतिशत में	4.54	4.69	4.86
राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का 38वां दौर			
5. ग्रामीण	4.97	4.67	4.59
6. शहरी	4.23	4.10	4.08
7. कुल बेरोजगार	9.20	8.77	8.67
8. कुल श्रम शक्ति	305.40	287.82	269.81
बेरोजगारी की दर प्रतिशत में	3.01	3.04	3.21

स्रोत : सातवी पंचवर्षीय योजना (1985-90) वाल्यूम II पृष्ट, 113 के आंकड़ों पर आधारित।

ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी की दर आयु समूह 15-29 में की अधिक है और इसके बाद आयु समूह 5-14 में बेरोजगारी की दर अधिक है। यही स्थिति शहरी क्षेत्र में है। तालिका 34.10 ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में विभिन्न आयु समूह में बेरोजगारी की दर से सम्बन्धित आंकड़ों को प्रस्तुत करती है।

तालिका 34.10

सामान्य स्थिति में निवास स्थान एवं आयु समूह के अनुसार बेरोजगारी की दर - 1983

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 38वें दौर के अनुसार (प्रतिशत में)

आयु समूह	ग्रामीण	शहरी
5–14	2.17	6.79
15–29	4.54	13.39
30–34	0.66	1.51
45–59	0.40	1.03
60–+	0.52	0.88
सभी आयु के	2.15	6.35

स्रोत - सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) वालयूम-II
विशेष - बेरोजगारी के दर व प्रतिशत श्रम शक्ति के अनुरूप है।

34.5.2 बेरोजगारी की वर्तमान स्थिति

योजना आयोग ने राष्ट्रीय नमूना, सर्वेक्षण के 43वें दौर के आधार पर वर्ष 1987-88 के लिए बेरोजगारी का अनुमान लिया गया। इस अनुमान के अनुसार सामान्य मुख्य स्थिति (Usual Principal Status) के आधार पर बेरोजगारी की मात्रा 124.3 लाख, साप्ताहिक स्थिति (Weekly Status) के आधार पर 153 लाख, और दैनिक स्थिति (Daily Status) के आधार पर 189.5 लाख आँकी गई। शहरी क्षेत्र के लिये बेरोजगारी की दरें ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में अधिक है और पुरूषों की तुलना में स्त्रियों में बेरोजगारी की दरें अधिक है। उदाहरण के लिये सामान्य मुख्य स्थिति (UPS) में बेरोजगारी की दर शहरी क्षेत्र में 6.56 प्रतिशत है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह केवल 3.07 प्रतिशत है। इसी प्रकार सामान्य मुख्य स्थिति (UPS) में बेरोजगारी की दर ग्रामीण स्त्रियों में 3.52 प्रतिशत है जबकि ग्रामीण पुरूषों के लिये यह 2.87 प्रतिशत है।

चूंकि 1980-90 के दशक के दौरान श्रम शक्ति की वृद्धि दर 2.2 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से होती रही है, किन्तु रोजगार की वृद्धि दर 1-55 प्रतिशत प्रति वर्ष रही है। इसके परिणामस्वरूप बेरोजगारी की मात्रा का बढ़ना स्वाभाविक है। तालिका संख्या 34.11 लिंग के अनुसार ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में बेरोजगारी के प्रतिशत के आंकड़ों को प्रस्तुत करती है।

तालिका 34.11

बेरोजगारी (श्रम शक्ति के प्रतिशत के रूप में) 1983 और 1987-88 में लिंग व निवास के अनुसार

मजदूर		ग्रामीण			शहरी			
	वर्ष	पुरूष	महिला	कुल	पुरूष	महिला	कुल	कुल [R+U]
सामान्य मुख्य स्थिति	1983	2.12	1.41	1.91	5.86	6.90	6.04	2.77
[WPS]	1987-88	2.87	3.52	3.07	6.07	8.77	6.56	3.77
साप्ताहिक स्थिति	1983	3.72	4.26	3.88	6.69	7.46	6.81	4.51
[WS]	1987-88	4.16	4.27	4.19	6.71	8.93	7.12	4.80
दैनिक स्थिति	1983	7.52	8.98	7.94	9.23	10.99	9.52	8.25
[DS]	1987-88	4.58	6.91	5.25	8.79	12.00	9.26	6.09

स्रोत - योजना आयोग, रोजगार पूर्व प्रवृत्ति और 1990 के लिये अनुमान, मई 1990, पृष्ठ 15

उपर्युक्त तालिका के आंकड़े दर्शाते हैं कि सामान्य मुख्य स्थिति (UPS) और साप्ताहिक स्थिति (WS) अवधारणा में बेरोजगारी की दर वर्ष 1983 की तुलना में वर्ष 1987-88 में बढ़ी है जबकि इस अवधि में दैनिक स्थिति (DS) में बेरोजगारी की दर ग्रामीण व शहरी दोनों में घटी है। वर्ष 1983 में ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 1.91 प्रतिशत खुली बेरोजगारी थी जो वर्ष 1987-88 में बढ़कर 3.07 प्रतिशत हो गई, परन्तु दैनिक स्थिति बेरोजगारी ग्रामीण क्षेत्रों में इसी अवधि के दौरान 7.94 प्रतिशत से घट कर 5.25 प्रतिशत रह गई शहरी क्षेत्रों में खुली बेरोजगारी में बहुत थोड़ा अन्तर आया और यह सामान्य स्थिति बेरोजगारी (UPS) में 6.04 प्रतिशत से बढ़ कर 6.56 प्रतिशत हो गई और दैनिक स्थिति बेरोजगारी 9.52 से कम होकर 9.26 प्रतिशत रह गई।

स्त्रियों में खुली बेरोजगारी शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्य स्थिति बेरोजगारी में वृद्धि हुई। स्त्रियों में खुली बेरोजगारी जो वर्ष 1983 में ग्रामीण क्षेत्रों में 1.41 प्रतिशत थी बढ़कर वर्ष 1987-88 में 3.52 प्रतिशत हो गई। और शहरी क्षेत्रों में इसी अवधि में बेरोजगारी की दर 6.90 प्रतिशत से बढ़कर 8.77 प्रतिशत हो गई। सामान्य स्थिति (UPS) एवं दैनिक स्थिति [DS] बेरोजगारी के सम्बंध में अन्तर पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों में कहीं अधिक है। इसका तात्पर्य है कि पुरूषों की स्त्रियों का कुल बेरोजगारी में, बेरोजगारी का अनुपात अधिक है। बेरोजगारी का सबसे व्यापक माप दैनिक स्थिति [DS] बेरोजगारी है। जिसमें खुली बेरोजगारी और अल्प-रोजगार दोनों शामिल है। वर्ष 1987-88 में देश में कुल बेरोजगारी 5.143 मिलियन व्यक्ति दिन थी, या 18.95 मिलियन व्यक्ति वर्ष। [एक व्यक्ति वर्ष 273 व्यक्ति दिनों के समान मानते हैं।]

34.5.3 आठवी योजना के दौरान बेरोजगारी के अनुमान

योजना आयोग ने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के बेरोजगारी की दर के आधार पर बेरोजगारी का अनुमान लगाया जो तालिका संख्या 34.12 में दिया गया है। तालिका से स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्रों में लिंग के अनुसार व तीनों अवधारणा के आधार पर शहरी क्षेत्रों की तुलना में बेरोजगारी का विस्तार अधिक है। तीनों अवधारणों [UPS, WS, DS] के आधार पर पुरूषों में बेरोजगारी की मात्रा स्त्रियों की तुलना में ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में अधिक है और यह भी देखा गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्य स्थिति बेरोजगारी [UPS) और साप्ताहिक स्थिति बेरोजगारी [WS] की मात्रा की तुलना में दैनिक स्थिति बेरोजगारी [DS] की मात्रा अधिक है।

तालिका 34.12

बेरोजगारी का अनुमान 1 अप्रैल 1990 (मिलियन में)

1. सामान्य मुख्य स्थिति (UPS)

	पुरूष	महिला	कुल
ग्रामीण	4.97	2.66	7.63
शहरी	4.16	1.30	5.46
कुल	9.13	2.66	7.63

2. साप्ताहिक स्थिति (WS)

	पुरूष	महिला	कुल
ग्रामीण	7.06	2.92	9.98
शहरी	4.59	1.31	5.90
कुल	11.65	4.23	15.88

3. दैनिक स्थिति (DS)

	पुरूष	महिला	कुल
ग्रामीण	7.75	4.59	12.34
शहरी	5.91	1.66	7.57
कुल	13.66	6.25	19.90

विशेष - उपर्युक्त आंकड़े 5+ आयु समूह की जनसंख्या से सम्बन्धित है।

34.6 ग्रामीण श्रम और गरीबी

34.6.1 ग्रामीण किसानों के मध्य गरीबी का प्रभाव

विश्व बैंक ने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) के 38वें दौर के आधार पर ग्रामीण किसानों की विभिन्न श्रेणियों के मध्य गरीबी के प्रभाव की गणना की। और यह पाया गया कि ग्रामीण क्षेत्र में मजदूरी पर आश्रित परिवारों के व्यक्तियों (इसमें वे व्यक्ति भी शामिल है, जो कृषि भिन्न कार्यों में कार्य कर रहें हैं), में 46 प्रतिशत गरीब है। आंध्रप्रदेश, उड़ीसा और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में ऐसी इकाईयों का ग्रामीण परिवारों में भाग 50 प्रतिशत से अधिक था। कृषि श्रम परिवारों में, 1983 में लगभग 64 प्रतिशत

परिवार गरीबी-रेखा के नीचे रह रहे थें। (यह अनुपात बिहार और मध्यप्रदेश में 70 प्रतिशत से भी अधिक था।) स्वरोजगार प्राप्त परिवार, ग्रामीण निर्धनों का दूसरा बड़ा खण्ड था। स्वरोजगार प्राप्त परिवारों में लगभग 38 प्रतिशत गरीबी-रेखा के नीचे थे।

34.6.2 निर्धनता-रेखा के नीचे जनसंख्या का विस्तार

निर्धनता रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या वर्ष 1960-61 से 1977-78 तक बढ़ी, परन्तु इसके बाद ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों की संख्या घटी। निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों की संख्या शहरी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक थी। वर्ष 1960-61 के अतिरिक्त अन्य सभी वर्षो में जो तालिका में दिये गये है, निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन करने वालों का प्रतिशत शहारी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक रहा। भारत में निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों की संख्या व प्रतिशत तालिका 34.13 में दिया गया:—

तालिका 34.13
निर्धनता-रेखा से नीचे की जनसंख्या

वर्ष	गरीबों की संख्या (मिलियन में)		निर्धनता की दर (प्रतिशत में)	
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
1960-61	138	29	38	40
1970-71	200	41	45	41
1977-78	253	54	51	38
1984-85	222	51	40	28
1989-90	169	42	28	19

स्रोत : 1. संसद में 1985 (बजट) में निर्मित नीति वक्तव्य का सारांश, योजना मंत्रालय
2. राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की रिपोर्ट
3. सातवीं पंचवर्षीय योजना वर्ष

34.6.3 अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के मध्य गरीबी

निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति का प्रतिशत शहरी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक है। निर्धनता रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाली अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति का प्रतिशत ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों में वर्ष 1977-78 की तुलना में वर्ष 1983-84 में घटा है। तालिका 34.14 ग्रामीण शहरी क्षेत्रों में निर्धनता रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करने वाली अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के प्रतिशत को प्रस्तुत करती हैं :—

तालिका 34.14

अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के मध्य गरीबी (प्रतिशत में)

क्षेत्र	1977-78		1983-84	
	अनूसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति
ग्रामीण	64.6	72.4	53.1	58.4
शहरी	54.3	52.6	40.4	39.9
कुल	63.2	71.4	50.9	51.1

स्रोत - CMIE : भारतीय जनता का निर्वाह स्तर, 1988

ग्रामीण कृषकों में व्यापक मात्रा में गरीबी के अनेक कारकों में से एक महत्वपूर्ण कारण ग्रामीण श्रमिकों में बेरोजगारी व अल्परोजगार का अत्यधिक मात्रा में पाया जाना है। यह अनुमान लगाया गया कि बेरोजगारी का सर्वाधिक प्रभाव आकस्मिक मजदूरों पर है। यही नहीं उनके रोजगार की अवधि में उनकी कमजोर सौदेबाजी शक्ति के कारण उन्हें कम मजदूरी का भुगतान किया जाता है। बाजार शक्तियाँ इतनी शक्तिशाली है कि न्यूनतम मजदूरी कानून को लागू करने के स्थान पर इसका उल्लंघन अधिक किया जाता है।

34.7 कृषि श्रम - यहां भारत में कृषि श्रम के बारे में विस्तृत रूप से व्याख्या की गयी है।

34.7.1 भारत में कृषि श्रम की विशेषतायें

कृषि श्रम की कुछ विशेषतायें है, जो इसे औद्योगिक श्रम से पृथक करती है। सर्वप्रथम औद्योगिक श्रम के विपरीत कृषि मजदूर असंगठित है तथा बिखरे हुये है। दूसरा कृषि श्रमिक अधिकतर एक ही श्रेणी के है, उदाहरण के लिए अकुशलता। तीसरा कृषि श्रम की प्रवासी प्रवृत्ति जो उन्हें दूरस्थ काम के स्थानों से अधिक काम के मौसम में खींच जाती है। चौथा कृषि श्रम में मजदूर-मालिकों के सम्बंध भी औद्योगिक श्रमिकों से बहुत भिन्न है। अधिकतर एक या दो श्रमिक काम पर लगाये जाते है और खुद किसान, जो उन्हें रोजगार पर लगाता है, खुद भी उनके साथ काम करता है और इनके मध्य सीधा सम्बंध रहता है। कुछ स्थानों पर मजदूर परिवार के सदस्य के स्तर का उपभोग करते हैं. ये किसान के घर में ही रहते व खाते है। अधिकतर वे किसान की जाति व धर्म से ही सम्बन्धित होते है, कई बार किसान के रिश्तेदार भी होते है। पाँचवा, कम मजदूरी और अनियमित रोजगार के कारण मौसमी मजदूरों की वार्षिक आय बहुत कम होती है। अंतिम भुगतान का तरीका भी कृषि व औद्योगिक श्रमिकों में भिन्न है। कृषि श्रमिकों को कुछ अंश का भुगतान किया जाता है कुछ अंश नगद दिया जाता है तथा कुछ अंश श्रमिक नाश्ता भोजन वस्त्र आदि के रूप में प्राप्त करता है।

34.7.2 कृषि श्रमिकों के प्रकार

कृषि श्रमिकों को मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

1) भूमिहीन श्रमिक जो भूस्वामियों से जुड़े रहते है;

2) व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र किन्तु पूर्णतः दूसरों के लिये काम करने वाले भूमिहीन श्रमिक;

3) छोटे किसान जिनके आधीन अत्यन्त छोटे-छोटे खेत है, वे अपना अधिकांश समय दूसरों के लिये काम करने में लगाते है और

4) वे किसान जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त जोतों के स्वामी है, किन्तु जिनके एक-दो लड़के या आश्रित अन्य समृद्ध किसानों के यहां काम करते है।

इनमें प्रथम वर्ग के श्रमिकों की स्थिति बहुत कुछ दासों या गुलामों की सी है। इन्हें 'बन्धुआ श्रम' भी कहते है।

34.7.3 कृषि श्रम का परिमाण

वर्ष 1960 में प्रकाशित द्वितीय कृषि श्रम जांच की रिपोर्ट के अनुसार कुल ग्राम परिवारों में कृषि श्रमिक परिवार लगभग 25 प्रतिशत है। इस जांच रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण श्रमिकों में से 85 प्रतिशत आकस्मिक श्रमिक है, जो किसी भी किसान के यहां काम कर सकते है। केवल 15 प्रतिशत श्रमिक विशेष भूस्वामियों के यहां विशेष श्रमिक के रूप में काम करते है। आधे से अधिक श्रमिकों के पास अपनी भूमि नहीं है। इनमें से बहुत कम श्रमिकों के पास बहुत थोड़ी भूमि है। कृषि श्रमिकों की भारी संख्या अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गो से है।

कृषि श्रमिकों की संख्या वर्ष 1961 में 31 मिलियन थी जो वर्ष 1981 में बढ़कर 59 मिलियन हो गई। यह कुल ग्रामीण श्रम शक्ति में वृद्धि के कारण हुई, जो वर्ष 1964-65 में 174 मिलियन थी और वर्ष 1981 में बढ़ कर 226 मिलियन हो गई। इस का तात्पर्य है कि सीमान्त कृषक भूमिहीन श्रमिकों की मात्रा को बढ़ाते रहे हैं। पुराने ऋणों के रूप में बढ़ती हुई आर्थिक मजबूरियों के कारण वे अपनी भूमि बेचने के बाध्य हो जाते है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सिंचाई, ट्यूबवैल, उर्वरकों या सड़कों के रूप में विनियोग में लगाये गये मिलियन रूपयों का लाभ बड़े किसानों को हुआ है, इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सहकारी समितियों एवं ग्रामीण बैंकों ने भी समृद्ध किसानों की ही सहायता की है।

हाल ही में किये गये अध्ययन से एक तथ्य स्पष्ट हुआ है कि कृषि मजदूरों को वर्ष में उपलब्ध रोजगार के दिनों की संख्या में कमी हुई है। वर्ष 1964-65 में वह वर्ष में औसतन 250 दिन कार्य करता था। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि रोजगार का अर्थ पूरे दिन रोजगार नहीं बल्कि इसमें अंशकालीन रोजगार को भी एक दिन का लाभकर रोजगार माना गया है।

भू-वितरण के औपचारिक आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि 61 प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास या तो भूमि है ही नहीं, या उनके पास 1 हेक्टेयर से कम भूमि के अलाभकर अुकड़े है। कुल मिलाकर 61 प्रतिशत परिवारों के पास कृषिगत भू क्षेत्रफल का केवल 8 प्रतिशत हैं। इनमें से 22 प्रतिशत परिवार ऐसे है जिनके पास कोई भूमि नहीं है। अन्य 25 प्रतिशत के पास आधे हेक्टेयर से कम भूमि है। अतः ये सीमान्त किसान

भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ाते रहे है। चूंकि यह निर्धनता स्तर की सीमा पर रहते है, ये धीरे-धीरे इससे नीचे खिसकाते रहते है।

34.7.4 कृषि श्रमिको में वृद्धि के कारण

कृषि श्रमिकों में वृद्धि के लिये उत्तरदायी कारण अग्रलिखित है :—

1. देश की जनसंख्या की तीव्र वृद्धि दर।
2. कम आय के कारण बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता, भूमि को कम भूमिस्वामियों से ऋणदाता की और अग्रसर करती है। परिणामस्वरूप किसान कृषि श्रमिक बन जाते है।
3. रोजगार के सहायक साधनों का स्थानान्तरण जिससे अकेले भूमि की अनार्थिक इकाई पर अस्तित्व असम्भव हो जाता है।
4. अनुपस्थित जमीदारी में वृद्धि आदि।

34.7.5 कृषि श्रमिकों की हीन आर्थिक दशा के कारण

1- निम्न सामाजिक स्थिति

ग्रामीण श्रम शक्ति में अधिकांश कृषि श्रमिक सदियों से उपेक्षित एवं दलित जातियों के सदस्य है। निम्न और दलित जातियों के लोग सामाजिक दृष्टि से असहाय है। उनमें कभी दबंग बनने का साहस नहीं रहा।

2- असंगठित

कृषि श्रमिक अनपढ़ और अजागरूक हैं। वे बिखरे हुये, गांवों में असंगठित रूप से रहते है। वे अपने को संघों में संगठित नहीं कर पाये है। इसके विपरीत शहरी क्षेत्रों में श्रमिक अपने को संगठित करने में सफल हो सकें है। शहरों में राजनीतिक दल भी श्रम संघों की गतिविधियों में रूचि लेते है। कृषि श्रमिक इस लाभ से वंछित है। फलतः वे अच्छी मजदूरी के लिये जमीदारों से सौदेबाजी नहीं कर पाते।

3- मौसमी रोजगार

कृषि कार्य प्रकृति से मौसमी है इसलिये कृषि श्रमिकों को नियमित कार्य नहीं मिल पाता है। अनेक परिस्थितियों में एक फसल प्रणाली के कारण वर्ष में केवल छः या सात महीने का काम ही मिल पाता है। औसतन एक कृषि श्रमिक को वर्ष में 200 दिन ही काम मिलता है। शेष समय वह बेकार रहता है। अल्प रोज़गार एवं बेरोजगारी दोनों भारतीय कृषि श्रमिकों की कम आय और हीन आर्थिक स्थिति के जिम्मेदार महत्वपूर्ण कारक है।

4- कृषि भिन्न व्यवसायों की कमी

ग्रामीण खेत्रों में पर्याप्त मात्रा में कृषि भिन्न व्यवसायों की कमी भी कृषि श्रमिकों की कम मजदूरी और हीन आर्थिक स्थिति के लिये उत्तरदायी है। ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण भूमिहीन श्रमिकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में खेती से भिन्न काम धन्धों कमी तथा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में न आने-जाने के कारण जमीन पर जनसंख्या का दवाब बढ़ता जा रहा है।

5- ग्रामीण ऋणग्रस्तता

कृषि श्रमिक अत्यधिक ऋणग्रस्तता का शिकार होता है। साधरणतया ये श्रमिक अपने भूस्वामियों से जिनके आधीन वे कार्य करते है, उन्हीं से ऋण लेते है। चूँकि उनके पास रहन (गिरवी) रखने को कुछ नहीं होता है अतः वे अपने आपको ही महाजनों और समृद्ध जमींदारों के पास रहन रख देते है और बन्धुआ मजदूर बन जाते है। और कम मजदूरी स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

इस प्रकार कुछ तो ऐसे कारणों से जिन पर श्रमिक को का अपना वंश नहीं है और कुछ उनकी सौदा करने की अपनी दुर्बलता के कारण कृषि श्रमिक बहुत कम मजदूरी प्राप्त करते है तथा दयनीय जीवन जीते चले जा रहे हैं।

34.7.6 सरकार द्वारा कृषि श्रमिकों के लिये किये गये प्रयास

केन्द्र तथा राज्य सरकार द्वारा खेती हर श्रमिकों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये कई कदम उठाए हैं जो इस प्रकार है:—

i. भारतीय संविधान

भारतीय संविधान में कृषि दास प्रथा को अपराध घोषित किया गया है। संविधान के कानून द्वारा कृषि दासता जिसमें बंधुआ श्रमिक भी शामिल हैं, बिल्कुल समाप्त कर दिया हे परन्तु व्यवहारिक रूप से इसे समाप्त होने में अभी वक्त लगेगा।

ii. न्यूनतम मजदूरी कानून

वर्ष 1948 में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम बनाया गया था। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य सरकार को तीन वर्षो में कृषि श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने को कहा गया। न्यूनतम मजदूरी स्थानीय लागत तथा जीवन मान को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती है। चूँकि देश के अलग-अलग भागों में परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न है और कानून के अनुसार एक ही राज्य में मजदूरी -अधिनियम व्यवहार में कृषि श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने में असफल रहा है।

iii. अन्य वैधानिक उपाय

सभी राज्यों में कानून द्वारा जमींदारी प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। इससे सम्बन्ध सभी प्रकार का शोषण भी देश भर में समाप्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त काश्तकारों और मजदूरों के हितों की रक्षा करने तथा जिस जमीन पर वे खेती करते है, उसे प्राप्त करने में उनकी मदद करने के लिए बहुत से राज्यों में काश्तकारी कानून बना दिये गये है। कई राज्यों में विधान बनाकर कृषि जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई है। इन विधानों के अनुसार समृद्ध भू-स्वामियों के पास अतिरिक्त जमीन भूमिहीन मजदूरों में बांटे जाने की व्यवस्था है।

iv. श्रम सहकारी समितियों का संगठन

दूसरी पंचवर्षीय योजना में श्रम सहकार या सेवा सहकारों के निर्माण को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया गया था। इन सहकारों के सदस्य, जो कि श्रमिक होते है, सड़कें बनाने, नहरे और तालाब खोदने तथा जंगल लगाने आदि सरकारी कामों का ठेका लेते है। यह सहकार मंदी के समय (जब कार्य नहीं होता है) कृषि श्रमिकों को रोजगार प्रदान करेंगे तथा निजी ठेकेदारों के शोषण से उनकी रक्षा करेंगे। इस आंदोलन के मूल विचार

प्रशंसनीय है परन्तु इस आंदोलन को अभी ग्रामीण क्षेत्रों में सक्रियता प्राप्त करनी है।

v. रोजगार गारंटी योजना

महाराष्ट्र सरकार ने वर्ष 1972 में रोजगार गारंटी योजना चालू की। (विस्तृत विवरण दिया गया है)।

vi. 20 सूत्री कार्यक्रम

जुलाई 1975 में सरकार ने 20 सूत्री कार्यक्रम प्रारम्भ किये। इसमें भूमिहीन श्रमिकों एवं ग्राम समाज के अन्य निर्बल वर्गो की आर्थिक दशा सुधारने के लिये कई उपाय किये गये है। ये उपय है -

1) शीघ्रता से कृषि भूमि की अधिकतम सीमा के कानून को लागू करना और अतिरिक्त भूमि को भूमिहीनों श्रमिकों एवे छोटे किसानों में तेजी से वितरित करने की कार्यवाही करना,

2) भूमिहीनों को मकानों की जगह वितरित करना तथा जिस मकान मे वे एक निश्चित समय से रह रहे, उस मालिकाना हक दिलाना,

3) बंधुआ मजदूर को गैर कानूनी घोषित करना

4) ग्रामीण ऋणग्रस्तता को समाप्त करना। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन, मजदूरों, दस्तकारों और छोटे किसानों से ऋण वसूली पर रोक लगाने के लिये कानून बनाकर प्रतिबन्ध लगाना,

5) कृषि श्रमिकों के लिये न्यूनतम मजदूरी अधिनियम का पुनरावलोकन करना और जहाँ आवश्यकता हो न्यूनतम मजदूरी में वृद्धि के लिये प्रयास करना।

34.7.7 कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के लिऐ सुझाव

कृषि श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं:-

1- दासता को समाप्त करना

कृषि दासता जो कि भारत के बहुत से भागों में विद्यमान है, समाप्त की जानी चाहिए। वस्तुतः भारत के संविधान में तो सभी प्रकार की दास प्रथा का निषेध किया गया है किन्तु शताब्दियों से चली आ रही दासता आसानी से नहीं मिटाया जा सकती। इसका कारण यह है कि भारत के कृषि श्रमिक अनपढ़, असहाय और अशिक्षित है। दास प्रथा की समाप्ति के उपायों में ग्रामीण जनता को शिक्षित करना और उसे अपेक्षाकृत उन्नत अवसर उपलब्ध कराना मुख्य है। 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रमों में बंधुआ श्रम को समाप्त करना, समृद्ध भूस्वामियों की गतिविधियों पर रोक, भूमिहीन श्रमिकों को मकानों की व्यवस्था आदि प्रशंसनीय कदम है, यदि इन्हें ईमानदारी से लागू किया जाता है।

2- कृषि क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी नियमों को प्रभावशाली ढंग से लागू करना

पंजाब और केरल को छोड़कर देश के शेष भागों में कृषि श्रमिकों को बहुत कम मजदूरी मिलती है। उनकी मजदूरी बढ़ाना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना उनकी आर्थिक दशा नहीं सुधारी जा सकती। केवल न्यूनतम मजदूरी कानून बना देना पर्याप्त नहीं है, उसे लागू करने के उपाय किये जाना भी आवश्यक है।

3- भूमिहीन कृषि श्रमिकों को पुनः बसाना

कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये भूमिहीन कृषि श्रमिकों को भमि देना आवश्यक है। यह कई तरीकों से किया जा सकता है। जिनमें एक यह है कि नई सुधारी भूमि केवल इन्हें बाँट दी जायें। भूदान आन्दोलन दूसरा उपाय है। जिसमें जिनके पास भूमि है, भूमिहीनों को स्वैच्छिक रूप से जमीन प्रदान करते हैं।

4- कृषि में सुधार

भारतीय कृषि के मौसमी स्वरूप के कारण कृषि श्रमिकों को पूर्णकालीन रोजगार नहीं मिल पाता है। कृषि कार्य बढ़ाने के लिये, सघन खेती और सिंचाई के विस्तार, दोनों की अत्यन्त आवश्यकता है। इन उपायों से दोहरी फसल होने लगेगी, जिससे श्रमिक को वर्ष भर कार्य मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त श्रमिक की उत्पादिता में भी वृद्धि होगी। जिससे उसकी मजदूरी भी बढ़ेगी। ग्रामीण क्षेत्र में ग्राम उद्योगों की स्थापना के विशाल अवसर है। ग्रामीण उद्योग जो कच्चा माल गांवों में आसानी से उपलब्ध है, काम में लेगे और जो ग्रामीण जनता को रोजगार के अवसर प्रदान करेंगे। वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रों में बजली के विस्तार के कारण आधुनिक तकनीक से युक्त छोटी इकाई आसानी से स्थापित की जा सकती है। इस तरह की औद्योगिक इकाईयाँ कृषि श्रमिकों के लिये कई तरह से सहायक सिद्ध हो सकती है। उदाहरण के लिये - (i) मौसमी बेरोजगारी समाप्त होगी (ii) अतिरिक्त श्रम शक्ति उद्योगों में बट जायेगी (iii) कृषि पर जनसंख्या का दवाब कम होगा और यह कृषि उत्पादिकता को बढ़ायेगा तथा कृषि श्रमिकों की आय को बढ़ायेगा (iv) जो कृषि में रोजगार प्राप्त नहीं कर पाते है उन्हें रोजगार प्राप्त होगा और इस प्रकार परिवार की अतिरिक्त आय बढ़ाने में सहायक होगा (v) कृषि श्रमिकों को समृद्ध भूस्वामियों तथा साहूकारों के शोषण से मुक्त कराने में सहायता मिलेगी।

5- कृषि श्रमिकों के वर्तमान संगठन

जब भी कृषि श्रमिकों के लिये श्रम संघ संगठित किये जायेंगे, श्रमिकों की मजदूरी सुरक्षित रहेगी तथा शक्तिशाली भूस्वामियों व साहूकारों से उनका शोषण समाप्त होगा। अतः कृषि श्रमिकों के लिये संघ बनाने की अत्यधिक आवश्यकता हैं और सरकार को इस प्रकार के संघ बनाने में सजगता से मदद करनी चाहिये।

6- सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम

ग्रामीण श्रमिकों को रोजगार दिलाने और ग्रामीण श्रम का पूरा-पूरा उपयोग करने के लिए उपायों में एक उपाय सरकार द्वारा किये गये सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम है। सरकार गांवों में अपनी परियोजनाओं को सावधानीपूर्वक बनाये ताकि रीते मौसम (off season) में खाली श्रमिकों को लाभपूर्ण रोजगार मिल सकें। सड़क बनाना, तालाबों तथा नहरों की खुदाई और उन्हें गहरा करना, वनरोपण आदि ऐसी ही परियोजनायें है। लघु उद्योगों की स्थापना का और सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम का, गाँवों की जनसंख्या को सक्रिय न गतिशील बनाने, ग्रामीण जनता की मजदूरी बढ़ाने और अप्रत्यक्ष रूप से देश की आय में वृद्धि करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।

7- सहकारी खेती

अन्ततोगत्वा यह आवश्यक है कि एक ऐसे समाज की स्थापना की जाये जिसमें सभी ग्रामीण जनता लगभग समान हो। इसका अन्तिम सम्भाव्य समाधान सहकारी गांव

व्यवस्था है, जिसमें सभी श्रमिकों को समान अधिकार, कर्त्तव्य और अवसर प्राप्त हो।

34.8 कृषि मजदूरी

भारत में कृषि मजदूरी के बारे में यहां सविस्तार से बर्णन किया है।

34.8.1 भारत में कृषि मजदूरी

भारत में कृषि श्रमिक परिवारों की औसत वार्षिक आय 1950-51 में 447 रूपये थी जो वर्ष 1955-56 में गिरकर 437 रूपये रह गई। यह औसत वार्षिक आय वर्ष 1963 में बढ़कर 600 रूपये हो गई और वर्ष 1973-74 के दौरान 1671 रूपये हो गई। भारत में कृषि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी वर्ष 1954-55 से वर्ष 1980-81 में लगभग समान रही। तालिका संख्या 34.15 कृषि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी से सम्बन्धित आंकड़ों को प्रस्तुत करती है।

भारत के सभी भागों में कृषि मजदूरी सबसे नीची ही रही है। ऐसा लम्बे समय से चल रहा है। जब स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात न्यूनतम मजदूरी कानून पारित किया गया तो औसत मजदूरी 62 पैसे और 1.50 रूपये की सीमा में निश्चित की गई। खेती के कुशल तरीकों के प्रयोग औय यन्त्रीकरण को अपनाने के कारण देश में 'हरित क्रान्ति' हुई और इसके फलस्वरूप मध्यम व समृद्ध किसानों में खुशहाली आ गयी। इसके साथ ही यह श्रम की मांग में कमी करने और वास्तविक मजदूरी तो कम करने के उत्तरदायी हुये।

कृषि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी औद्योगिक श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी से बहुत कम है। कृषि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी और औद्योगिक श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी के अन्तर करने वाले कारण है - (i) खेती के लिये उपलब्ध भूमि से जुड़ी अत्यधिक जनसंख्या (ii) कृषि के लिये उपलब्ध भूमि इतनी अधिक नहीं है कि जिस पर उत्पादन के आधुनिक तरीकों को बड़ी मात्रा में अपनाया जा सकें। (iii) भूस्वामियों के साथ ऋणग्रस्तता (iv) कृषि श्रमिकों की उपेक्षित व बिखरे रहने की प्रकृति और कृषि कार्य की मौसमी प्रवृत्ति कृषि श्रमिकों की सौदेबाजी की शक्ति को कम करती है। (v) समृद्ध किसानों के हाथों में भूमि का केन्द्रीकरण; गरीब व कमजोर श्रमिकों का सामाजिक व आर्थिक शोषण को प्ररित करता है। (vi) कृषि श्रमिक सामान्यतया: अकुशल होते है और अधिकतर असंगठित होते है। (vii) छोटे किसान पारिवारिक श्रमिकों को रोजगार पर रखते है, और जहाँ तक सम्भव होता है, अत्यधिक कामकाज के मौसम को छोड़कर; किराये के श्रमिक नही रखते है।

तालिका 34.15

भारत में कृषि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी (रूपये में)

वर्ष	कृषि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी
1954-55	5.75
1955-56	5.53
1956-57	5.30
1957-58	5.29
1958-59	5.33
1959-60	5.45
1960-61	5.57
1961-62	5.88
1962-63	5.75
1963-64	5.00
1964-65	5.35
1965-66	5.13
1966-67	4.85
1967-68	4.83
1968-69	5.74
1969-70	5.81
1970-71	6.14
1971-72	6.20
1972-73	5.76
1973-74	5.13
1974-75	4.58
1975-76	5.80
1976-77	6.55
1977-78	6.30
1978-79	6.55
1979-80	5.91
1980-81	5.40

स्रोत डे - "वास्तविक मज़दूरी में परिवर्तन"
अहलुवा - भारत में औद्योगिक वृद्धि

34.8.2 कृषि मजदूर और न्यूनतम मज़दूरी

वर्ष 1948 में न्यूनतम मजदूरी कानून के लागू होने के पश्चात सरकार पर यह दबाव डाला गया कि इस कानून को कृषि क्षेत्र पर लागू किया जाये। इस कानून के क्षेत्र का विस्तार किया गया। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे राज्य है जिनमें कृषि श्रम के अधिकतर भाग इस कानून के अधीन न लाये जा सके। जिन राज्यों में यह कानून लागू भी किया गया उनमें न्यूनतम मजदूरी निश्चयन व पालन के लिये समान व्यवस्था लागू नहीं की जा सकी। कुछ राज्यों में इसे राजस्व विभाग लागू करता है और कुछ अन्य राज्यों में यह कार्य श्रम विभाग द्वारा किया जाता है। पर सामान्य रूप से कहा जा सकता है- (i) यह कानून प्रत्येक राज्य में मृत अधिनियम ही रहा है। (2) कृषि में न्यूनतम मजदूरी को बहुत समय से संशोधित नहीं किया गया है। (3) लगभग हर जगह, वास्तविक मजदूरी अधिक कामकाज वाले मौसम में न्यूनतम मजदूरी से अधिक हो जाती है और कम कामकाज वाले मौसम में न्यूनतम मजदूरी से कम हो जाती है। (4) इस कानून को प्रभावी रूप से पालन कराने की व्यवस्था अपर्याप्त है। इस कानून के आधीन मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। परिणामतः इसमें सफलता प्राप्त नहीं होती। (5) कानून को लागू करने की अन्य कठिनाइयों में मुख्यतः कृषि मजदूरों की दरिद्रता, निरक्षरता, वर्तमान कानून सम्बंधी जानकारी का अभाव, कृषि फार्मों का बिखरा होना रोजगार का अनियमित होना, कृषि श्रम का असंगठित होना आदि है।

ग्रामीण क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी कानून की कार्यवाही को स्थगित करने के पक्ष में सशक्त विचार है, आधारभूत यह है कि कृषि मौसम के व्यस्ततम काल में श्रमिक अपनी शर्तों पर कार्य करता है और स्वाभाविक रूप से वास्तविक मजदूरी, न्यूनतम मजदूरी से बहुत अधिक हो जाती है। ऐसी स्थिति में न्यूनतम मजदूरी के लिए बाध्य करना व्यर्थ है, और दूसरी तरफ रिक्त, मन्द मौसम के दौरान जब कृषि श्रम की पूर्ति, कृषि श्रम की मांग से काफी ज्यादा हो जाती है तब न्यूनतम मजदूरी को लागू करना कठिन हो जाता है। राष्ट्रीय श्रम आयोग ने इस विचार को महत्व दिया और आयोग ने इस कानून को जारी रखने के सम्बंध में सशक्त सुझाव इस आधार पर दिया कि कृषि श्रमिक दीर्घकाल में अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक होंगे अतः न्यूनतम मजदूरी को निश्चित करना लाभदायक होगा। आयोग ने सुझाव दिया कि पंचायतों को आवश्यक रूप से न्यूनतम मजदूरी को लागू करने के लिये कहा जाये, यद्यपि इसमें प्रत्यक्ष दोष हैं आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि न्यूनतम मजदूरी को निश्चित करने का व्यापक प्रचार किया जाये और सार्वजनिक स्थानों पर मजदूरी के सम्बंध में सूचना जारी की जाये, जो रोजगार दाताओं को श्रमिकों के न्यूनतम घोषित मजदूरी से वंचित करने के सम्बंध में सावधान करेंगी।

विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न फसलों आदि में पुरूषों स्त्रियों तथा बच्चों को दी जाने वाली मजदूरी में काफी भिन्नता पाई जाती है। राष्ट्रीय श्रम आयोग पर्याप्त प्रमाण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वर्ष 1956 और 1963 के दौरान कृषि श्रमिकों की आय औद्योगिक मजदूरों की मजदूरी की तुलना में अधिक बढ़ी है। इसका मुख्य कारण यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में औसत मजदूरी में काफी वृद्धि हो रही थी, और यह भी विशेषकर पंजाब और तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रों के लिये सत्य है।

अगस्त 1981 में हुए श्रम मंत्रियों के सम्मेलन में न्यूनतम मजदूरी के बारे में विचार कर ये निर्णय लिए गए- 1. न्यूनतम मजदूरी निर्धनता रेखा के नीचे नहीं गिरनी चाहिए, 2. जिस हद तक संभव हो सकें, जैसा कि कुछ राज्यों में किया गया हैं न्यूनतम मजदूरी

को उपभोक्ता कीमत सूचकांक के साथ जोड़ना चाहिए और 3. न्यूनतम मजदूरी कानून में व्यापक रूप से संशोधित होना चहिए ताकि इसके दोष दूर किये जा सके और इसे अधिक प्रभावी बनाया जा सके।

इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए सामान्य न्यूनतम मजदूरी की एक नयी अवधारणा निर्मित की गयी जिसमें सामान्य श्रमिकों के लिए खाद्य ईंधन एवं मकान के रूप में श्रमिकों को अनिवार्यताएँ उपलब्ध कराने का निर्णय किया गया जो कि न्यूनतम मजदूरी कानून के आधीन नहीं आते थे। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ग्रामीण निर्धनता का उन्मुलन बहुत हद तक न्यूनतम मजदूरी की गारंटी पर निर्भर करता है।

श्रम मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट (1988-99) के अनुसार वर्ष 1988 में कृषि श्रमिकों के लिए निर्धारित न्यूनतम मजदूरी में काफी विभिन्नता थी। अधिक न्यूनतम मजदूरी वाले राज्य थे - हरियाणा (16.25 रूपये भोजन के साथ तथा 20.25 रूपये भोजन के बिना, पंजाब (18.50 रूपये), पश्चिमी बंगाल (18 रूपये) असम (19 रूपये), हिमाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, और नागालैण्ड (15 रूपये) और राजस्थान (14 रूपये) इनकी तुलना में जिन राज्यों में मानदण्ड से नीचे मजदूरी थी वह थे - महाराष्ट्र (12 से 20 रूपये) कर्नाटक (12 से 17.65 रूपये), केरल (12 से 15 रूपये), उत्तर प्रदेश (11. 50 से 12.50 रूपये), उड़ीसा (10 रूपये), तमिलनाडु (8 से 18 रूपये) और आंध्रप्रदेश (8 से 11 रूपये) यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि न्यूनतम मजदूरी का निश्चयन इस बात की कोई गारन्टी नहीं कि वह कृषि मजदूरों को दिया ही जायेगा। यह राज्य की भूमिका और कृषि श्रमिकों के संघीकरण पर निर्भर करता है।

34.9 बंधुआ मजदूर

भारत में बंधुआ श्रम प्रथा शताब्दियों से चली आ रही है। यह हमारी कृषि अर्थव्यवस्था का विशेष लक्षण है। यह प्रथा अनुसूचित जातियों, आदिवासियों और अर्द्ध जनजातियो में घोर निर्धनता और विवशता की स्थिति से उत्पन्न हुई जिन्हें वर्ष के एक भाग के दौरान ही मजदूरी के रूप में कुछ आय प्राप्त होती थी। जब उन्हें बुरी फसल के मौसम में खाद्यान्नों की आवश्यकता होती या विशेष अवसरों अर्थात् विवाह, उत्सव तथा बीमारी की हालत में धन की आवश्यकता होती, तो उन्हें उधार लेना पड़ता था। परन्तु उनके पास अपने श्रम की अपेक्षा भूमि, हीरे जवाहरात था अन्य जायदाद के रूप में गिरवी रखने के लिए कुछ भी नहीं था। अतः वे अपने आपको ही गिरवी रख देते थे। साहूकारों और उच्चजाति के भूस्वामियों ने उनकी लाचारी एवं अनभिज्ञता का लाभ उठाया और उनके साथ शोषणात्मक कारनामें कर लिए। उनकी मजदूरी इतनी कम और ब्याज की दर इतनी ऊँची, प्रायः 25 से 50 प्रतिशत थी, कि समय के साथ ऋण का भार बढ़ता ही जाता। वास्तव में ऋण का भार इतना अधिक हो जाता था कि इसका भुगतान ऋणी के परिवार के श्रम द्वारा कई पीढ़ियों तक भी नहीं किया जा सकता था। यदि किसी भूमिहीन श्रमिक ने उधार ले लिया तो वह और उसके वश के लोग शाश्वत गुलामी से ग्रस्त हो जाते थे।

आधुनिक काल में भी अनुसूचित जातियों के कृषि श्रमिकों को वर्ष में केवल 5 या 6 महीने ही रोजगार प्राप्त हो पाता है बाकी समय भूस्वामियों से प्राप्त उधार राशि या खाद्यान्नो पर जीवित रहते है। देश के विभिन्न भागों में बंधुआ श्रम को कई नामों से जाना जाता है। उदाहरणार्थ मद्रास में 'पनिया', उड़ीसा में 'हलिया' या 'गूलिया', उत्तरी बिहार में 'बारहमासिया' और दक्षिण बिहार में 'कामिया' मध्यप्रदेश में 'हरवाहा' उत्तरप्रदेश में 'सेवक' या 'हरि' आदि।

चाहे बंधुआ श्रम प्रथा शताब्दियों से प्रचलित है परन्तु बंधुआ श्रम के बारे में कोई विश्वसनीय आकड़ों उपलब्ध नहीं है। अत्यन्त दुख की बात है कि कुछ राज्यों ने बंधुआ श्रम विद्यमान होने से ही इन्कार कर लिया। परन्तु देश के बहुत से भागों में गरीब किसानों की भूमि और मकान खून चूसने वाले महाजनों के हाथों में धीरे-धीरे स्वामित्वांतरित हो गये और इस प्रकार बंधुआ श्रमिकों की संख्या बढ़ती गयी केवल 1961 से 1971 की अवधि के दौरान जमीदारों की संख्या 93 मिलियन से घट कर 78 मिलियन रह गयी परन्तु भूमिहीनों की संख्या 27 मिलियन से बढ़कर 47 मिलियन हो गयी। इससे स्पष्ट है कि सम्पति कुछ ही हाथों में सकेन्द्रित होती जा रही है, और ग्रामीण समाज में दरिद्रीकरण बढ़ता जा रहा है।

भूतकाल में बंधुआ श्रम के उन्मूलन के प्रयास किए गए। वर्ष 1933 में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने सारे ब्रिटिश साम्राज्य में बंधुआ श्रम की समाप्ति का कानून पारित किया। परन्तु दुर्भाग्यवश इसका भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान ने दासता, बेगार और जबरन मजदूरी के अन्य रूपों की मनाही कर दी। इसके शीघ्र बाद कई राज्यों में बंधुआ श्रम के उन्मूलन के कानून पास किए गए। परन्तु यह प्रथा कायम रही। क्योंकि इन कानूनों को लागू न किया गया और शहरी लोग न तो इस बुराई के प्रति जागरूक हुए और नहीं इस बुराई के प्रति कोई कदम उठाये गये। साम्यवादियों द्वारा शोषकों के विरूद्ध बंधुआ आदिवासी श्रमिकों को संगठित कर कई आन्दोलन चलाये गए। इनके परिणामस्वरूप इन श्रमिकों के प्रति उच्चजाति भूस्वामियों, समृद्ध महाजनों द्वारा भयंकर शोषण के प्रति सरकार तथा जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। प्रायः इन आन्दोलनों को साम्यवादी विद्रोह कह कर दबा दिया गया। इसी समय अनुसूचित जातियों और जनजातियों के आयुक्त की लगातार रिपोर्टो में पिछड़ी जातियों के निर्मम शोषण एवं दमन के वर्णन का प्रभाव सरकार पर पड़ा। 25 अक्टूबर 1975 में, देश में बंधुआ मजदूर व्यवस्था को, बंधुआ मजदूर उन्मूलन कानून 1976 द्वारा समाप्त किया गया। और पहली बार सरकार ने महाजनों, भवन ठेकदारों खान स्वामियों और अन्य व्यक्तियों जो कि किसी भी रूप में बंधुआ या ठेके के श्रमिकों से काम करवाते है, के विरूद्ध शीघ्र कार्यवाही की।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में बंधुआ श्रमिकों के पुनः स्थापना के लिये 25 करोड़ रूपये की व्यवस्था की गई। इस योजना के आधीन एक बंधुआ श्रमिक को पुनः स्थापित करने के 4000 रूपये की राशि निर्धारित की गई। जिसमें से राज्य सरकारों को 50 प्रतिशत समतुल्य अनुदान के रूप में दी जाती है। यह सहायता मुक्त किये गये बंधुआ श्रमिकों को आय जनित आर्थिक इकाइयों के रूप में दी जाती है। इन इकाइयों में कृषि सम्बंधी औजार एवं आदान, मुर्गीखाने, भेड़े, बकरियाँ, सुअर, बढ़ई के औजार और व्यक्तिगत रूचियाँ एवं आवश्यकताओं के अनुसार अन्य व्यवसायों क लिए उपकरण शामिल है।

राज्य सरकारों से श्रम मन्त्रालय को प्राप्त सूचना के अनुसार 30 नम्बर 1988 तक 2,38,867 बंधुआ श्रमिकों को पहचाना गया और इन्हें मुक्त कराया गया, और मुक्त बंधुआ श्रमिकों में से 2,03035 को पुर्णतः पुनः स्थापित किया गया। यह स्पष्ट करता है कि 85 प्रतिशत पहचाने गये बंधुआ श्रमिकों को पुनः स्थापित किया गया। यह बहुत आशाप्रद है, जब यह महसूस किया गया कि केन्द्र सरकार द्वारा बंधुआ श्रमिकों की पुनः स्थापना के लिए दी जाने वाली अनुदान राशि 4000 रूपये प्रति बंधुआ श्रमिक से बढ़ाकर 6,250 रूपये कर दी गई। इसे 1 फरवरी 1986 से लागू किया गया।

वर्ष 1978-79 और 1987-88 के दौरान केन्द्र सरकार द्वारा बंधुआ श्रमिकों की पुनः स्थापना के लिए 29.4 करोड़ रूपये व्यय किये गये।

34.10 बेरोजगारी और अल्परोजगार के उन्मूलन के लिए प्रारम्भ की गई योजनाएँ एवं इनके प्रभाव

34.10.1 बेरोजगारी व अल्परोजगार को कम करने के लिए प्रारम्भ की गई विभिन्न योजनाएँ :

बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए उपायों को सुझाने के सन्दर्भ में भारत सरकार ने श्री भगवती की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। समिति ने कई योजनाएँ जैसे बिजली करण, सड़क निर्माण, ग्रामीण गृह निर्माण, छोटी सिंचाई योजना के काम का सुझाव दिया। वर्ष 1973 में प्रकाशित भगवती समिति की रिपोर्ट पर अमल करते हुए सरकार ने रोजगार प्रदान करने तथा अल्परोजगार कोकम करने के लिये निम्न उपाय अपनायें -

1. ग्राम निर्माण कार्यक्रम

इस कार्यक्रम में स्थायी प्रकृति की जन-सम्बंधी निर्माण परियोजनाओं पर बल दिया गया ताकि वे इन क्षेत्रों में अभाव की स्थिति को दूर कर सकें।

2. सीमान्त कृषक और कृषि श्रमिक

सीमान्त किसान व कृषि श्रमिकों के परिवार इस योजना के अन्तर्गत लाभ प्राप्त करेंगे। इस योजना के अनतर्गत इन ग्राम परिवारों को कृषि तथा अन्य सहायक व्यवसायों जेसे डेरी, मुर्गीपालन, सूअरपालन, मत्स्यपालन आदि के लिये सस्ती दर सारन सहायता प्रदान की जाती है।

3. लघु किसानों के विकास की एजेन्सियाँ [SEDA]

लघु किसानों के द्वारा नई तकनीक के उपभोग न करने कारणों वालें में एक कारण साख की कमी भी है। इस समस्या के समाधान के लिये 'लघु किसानों के विकास की एजेन्सियाँ' स्थापित की गई ताकि यह छोटे किसान नई तकनीक का उपयोग कर सकें, सघन खेती को अपना सकें और अपनी क्रियाओं का विशाखन कर सकें।

4. समन्वित खुश्क भूमि विकास कार्यक्रम

इस कार्यक्र के अन्तर्गत कुछ स्थायी प्रकार के कार्य जैसे भू-संरक्षण, भूमि विकास कार्यक्रम सम्मिलित किए गए। ये श्रम प्रधान कार्यक्रम थे।

5. कृषि सेवा केन्द्र

इस योजना के अन्तर्गत यान्त्रिक, कृषि, विद्युत इंजीनियरिंग और सम्बन्धित क्षेत्रों में बेरोजगार स्नातकों तथा डिप्लोमाधारियों और कृषि तथा विज्ञान में स्नातक जिन्हें कृषि तथा उद्योग का अनुभव प्राप्त हो, उन्हें स्वरोजगार हेतु सहायता प्रदान की जाती है। इसका उद्देश्य कारखानों, कृषि को संगठित करने, मशीनों व मरम्मत के केन्द्रों को स्थपित करने सहायता करना तथा अन्य तकनीकी सेवाएँ जैसे अतिरिक्त पुरजों व आदानों की पूर्ति के लिये सुविधाएँ उपलब्ध करना है।

6. क्षेत्र विकास योजनाएँ

यह योजनाएं अधः संरचना सुविधाएं जैसे सड़के, बाजार कामप्लेक्स आदि के विकास से सम्बन्धित है। 10 प्रमुख सिचाई परियोजनाओं द्वारा क्षेत्रों में नियन्त्रण रखा जाता है।

7. ग्राम रोजगार के लिये भारी (कैश) कार्यक्रम

इस योजना का प्राथमिक उद्देश्य श्रम प्रधान एवं उत्पादक ग्रामीण परियोजनाओं द्वारा अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न करना है।

8. महाराष्ट्र की रोजगार गारन्टी योजना

वर्ष 1972-73 में महाराष्ट्र सरकार ने रोजगार गारन्टी योजना चालू की। यह अपने प्रकार की पहली योजना थी, जिसमें संविधान में दिए गए काम के अधिकार को स्वीकार किया गया। इसके अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति काम करने की मांग करता है तो राज्य सरकार का यह दायित्व है कि उसे काम उपलब्ध कराए। इस योजना के मुख्या उद्देश्य निम्नलिखित है-

a किसी व्यक्ति को स्वीकृत ग्राम परियोजनाओं में जो अर्थव्यवस्था की उत्पादिता बढ़ाने वाली हो, लाभकारी एवं उर्त्पादक रोजगार उपलबध कराना।

b इन परियोजनाओं द्वारा क्षेत्र में चिर-स्थायी सामुदायिक परिसम्पति कायम करनी चाहिए।

c श्रम प्रधान उत्पादक परियोजनाओं अर्थात छोटी सिंचाई, जल एवं भूसंरक्षण, नालों पर बांध लगाना, नहरे खेदना भूमि विकास वनरोपण आदि को कार्यान्वित करना चाहिए।

d इन योजनाओं को ठेकेदारों की अपेक्षा विभागों द्वारा लागू करना चाहिए ताकि इनका कम से कम 60 प्रतिशत व्यय मजदूरी पर और 40 प्रतिशत सामग्री, पूंजी, उपकरणो, पर्यवेक्षक एवं प्रशासनिक सेवाओं के लिए खर्च हो।

इस योजना केवल ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार की गारंटी प्रदान करने के लिए लागू की गई।

9. काम के बदले अनाज कार्यक्रम

वर्ष 1977 मे सरकार द्वारा 20 मिलियन टन अनाजों का सुरक्षित संग्रह किया गया। कई अर्थशास्त्रियों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि उस अनाज का उपयोग, गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों को काम के बदले मजदूरी के रूप में भुगतान के लिये किया जाये। परिणामस्वरूप काम के बदले अनाज कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इसके उद्देश्य इस प्रकार है।

1. ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले बेरोजगार व अल्परोजगार वाले पुरूष व स्त्रियों दोनो के लिए अतिरिक्त लाभप्रद रोजगार उत्पन्न करना।
2. गांव के बुनियादी ढाँचे को अधिक मजबूत करने के लिये स्थायी सामुदायिक सर्म्पातियों का निर्माण करना। ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन बढ़े और ग्रामीण जनता का जीवन स्तर बढ़ सके।
3. देश के मानवीय संसाधनों के विकास के लिए अतिरिक्त अनाज भण्डार का उपयोग करना।

10. राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम

अक्टूबर 1980 में काम के बदले अनाज कार्यक्रम [FWP] को पुर्नगठित करके इसका नाम राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम रखा गया। इसे भी केन्द्र सरकार द्वारा चालू की गई योजना के रूप में जिसे 50 प्रतिशत केन्द्र से सहायता प्राप्त थी, कार्यान्वित किया गया। राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम में बेरोजगार एवं अल्परोजगारों के लिए 300-400 मिलियन मानव दिन प्रतिवर्ष अतिरिक्त रोजगार कायम करने का संकल्प किया गया। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण अर्ध संरचना को मजबूत करने के लिए सामुदायिक परिसम्पदों का निर्माण करना है। इसमें शामिल है पीने के पानी का कुएँ, सामुदायिक सिचाई कुएँ, ग्राम तालाब, छोटी सिचाई परियोजनाएँ, ग्रामीण सड़के, स्कूल, बालबाड़ी, भवन, पंचायत घर आदि। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम एक सही दिशा है। राष्ट्रीय ग्राम रोजगार को बढ़ावा देने के लिए भूमिहीन श्रमिकों के लिए नई ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम प्रारंभ किया गया।

11. ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी योजना [RLEGP]

ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रों में लाभदायक रोजगार जुटाने, उत्पादक परिसम्पत्तियों का निर्माण करने तथा ग्रामीण जीवन को बेहतर बनाने के उद्देश्य से 15 अगस्त 1983 को प्रारम्भ किया गया। किन्तु साधनों की कमी के कारण इस कार्यक्रम के गारंटी वाले भाग को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। इसके अन्तर्गत भूमिहीन-श्रमिकों, महिलाओं, अनुसूचित व अनुसूचित जनजाति के व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने में प्राथमिकता प्रदान की गई।

इस कार्यक्रम का शत प्रतिशत व्यय केन्द्र सरकार द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। राज्यों केन्द्र शासित क्षेत्रों को निर्धारित मापदण्ड के आधार पर साधन आवंटित किये जाते हैं जिसमें 50 प्रतिशत महत्व खेतिहर मजदूरों, सीमान्त किसानों और सीमान्त मजदूरों को संख्या के आधार पर तथा शेष 50 प्रतिशत महत्व निर्धनता के आधार पर दिया जाता है। कार्यक्रम के अन्तर्गत श्रमिकों को मजदूरी न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के अनुसार दी जाती है। मजदूरी का कुछ भाग रियायती दरों पर अनाज के रूप में दिया जाता है। इसमें यह भी शर्त रखी गयी थी कि किसी परियोजना की मजदूरी राशि उसके कुल खर्च के 50 प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ठेकेदारों को रखने की अनुमति नहीं है। कुल निर्धारित राशि का 10 प्रतिशत भाग अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए व्यय करना आवश्यक है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सामाजिक वानिकी, इन्दिरा आवास योजना तथा दस लाख कुँओं की योजना को शामिल किया गया।

छठी योजना [1980-1985] में यह सुझाव दिया गया "इस प्रकार बहुत से कार्यक्रम जो ग्रामीण निर्धनों के लिए बहु-विध एजेन्सियों द्वारा चलाये जाते हैं, समाप्त करने चाहिए और उनका प्रतिस्थापन समग्र देश के लिए समन्वित कार्यक्रम द्वारा किया जाना चाहिए।" इस कार्यक्रम को समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम कहा गया। छठी योजना [1978-83] के प्रारूप बताया गया "देश के ग्रामीण क्षेत्र के लिए योजना की अनिवार्यता यह है कि सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि की व्यूह रचना से देश के उत्पादन में वृद्धि की जाये और ग्रामीण क्षेत्र में 10 वर्ष की अवधि में पूर्ण रोजगार उपलब्ध कराया जाये। व्यापक व्यूह रचना के रूप में और इन उद्देश्यों को विशेष कार्यक्रम में स्थानान्तिरत करने में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण विकास की समस्याओं पर बहु-विध प्रहार करने के लिए प्रयासरत हैं। 'समन्वित' यहाँ चार आयामों को शामिल करता है : क्षेत्रीय

कार्यक्रमों का समन्वय, भौगोलिक समन्वय, सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं का समन्वय और इन सबसे ऊपर उन सभी नीतियों का समन्वय करना होगा जो विकास, निर्धनता की समाप्ति और रोजगार जनन के बीच बेहतर तालमेल बिठाना चाहती है। और अधिक स्पष्ट रूप में इसमें उन लक्षित समूहों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है जिनमें छोटे एवं सीमान्त किसान, कृषि श्रमिक एवं ग्रामीण कारीगर शामिल है और जिनके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत स्थिति चयन विशिष्ट (Location Specific Planning) आयोजन की आवश्यकता है। इस प्रकार ग्राम विकास कार्यक्रम की कल्पना अनिवार्यतः एक निर्धनता विरोधी कार्यक्रम के रूप में की गई है।

छठी योजना में दो महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का परिकल्पन किया गया- समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) और राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम (NERP)। समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम द्वारा मूल रूप में गरीब परिवारों में स्वरोजगार को प्रोन्नत करने की विधि अपनाई गई ताकि उत्पादक परिसम्पदों के हस्तांरण से वे इतनी आय कमा सकें कि निर्धनता रेखा को पार कर ले। राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम का उद्देश्य मौसमी तथा अनियमित अल्परोजगार की अवधि के दौरान मजदूरी रोजगार उपलब्ध करना है। इसका उद्देश्य यह भी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि भिन्न व्यवसायों में रम नियोजन क्षमता बटाई जाए ताकि अद्यः संरचनाओं सामाजिक एवं आर्थिक के निर्माण द्वारा अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ाया जा सकें।

11. जवाहर रोजगार योजना

1 अप्रैल 1989 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रम (RLEGP) नामक दोनों कार्यक्रम का विलय करके जवाहर रोजगार योजना (JRY) नामक एक कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया।

योजना के मुख्य लक्षण

i. राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम के सात वर्ष तक चलाए जाने पर भी ग्राम रोजगार कार्यक्रम देश भर में 55 प्रतिशत पंचायतों तक ही पहुँच पाये है। जवाहर रोजगार योजना का लक्ष्य प्रत्येक पंचायत तक पहुँचना है।

ii. इस योजना का प्रशासन ग्राम पंचायतों के आधीन होगा और इस प्रकार भारत में रहने वाले 440 लाख परिवार जो निर्धनता रेखा से नीचे है, ग्राम रोजगार कार्यक्रम से लाभ उठा सकेंगे।

iii जबकि, पहले चल रहे ग्राम रोजगार कार्यक्रमों में केन्द्र एवं राज्यीय सरकारों द्वारा दी गई सहायता का आधार 50:50 था। वहाँ जवाहर रोजगार योजना में यह निश्चित किया गया है कि केन्द्रीय सहायता द्वारा 80 प्रतिात वित्त जुटाया जायेगा और राज्यीय सरकारों का भाग केवल 20 प्रतिशत होगा। इस कार्यक्रम के पहले साला (1989-90) के लिये केन्द्र ने 2100 करोड़ रूपये व्यय करने का प्रावधान रखा।

iv राज्यों में साधनों के आवंटन, में गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाली जनसंख्या के अनुपात में 50 प्रतिशत महत्व गरीबी और शेष 50 प्रतिशत भार कृषि श्रमिकों की संख्या को दिया गया है।

v. आगे इस कोष का वितरण जिलों में पिछड़ेपन के आधार पर किया जाता है जो जिले की कुल आबादी में अनुसूचित जाति व अनुसूचति जनजाति के भाग कुल श्रमिकों में कृषि श्रमिकों के अनुपात और कृषि उत्पादकता के स्तर के आधार पर तय किया जाता है। फिर भी क्षेत्रों की भौगोलिक विभिन्नताएं, जैसे- पहाड़, रेगिस्तान तथा दीप, की आवश्यकताओं की पूर्ति को विशेष महत्व दिया जाता है।

vi. जवाहर रोजगार योजना में ग्राम् पंचायतों को पर्याप्त मात्रा में कोष उपलब्ध कराया जायेगा। जिसे ग्रामीण गरीबों के विकास के लिये स्वयं बनाई गई रोजगार योजना पर व्यय किया जायेगा ग्रामीण क्षेत्रों के गरीब परिवारों में कम से कम एक सदस्य को 50 से 100 दिन का रोजगार उसके गांव के आस-पास ही उपलब्ध कराया जायेगा।

vii. इस योजना की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमें 30 प्रतिशत रोजगार महिलाओं को उपलब्ध कराया जायेगा। साथ ही सरकार ने आशा की, कि इस कार्यक्रम के द्वारा खानाबदोश जनजातियों को भी रोजगार उपलब्ध कराया जायेगा।

तीसरी पंचवर्षीय योजना ग्रामीण समुदाय के लिये सभी क्षेत्रों में कार्य तथा बेहतर जीवन के लिए पर्याप्त अवसर निश्चित करना और विशेष रूप से कृषि श्रमिकों तथा पिछड़ी जातियों को आराम के स्तर तक लाने में सहायता करना पंचवर्षीय योजना के प्राथमिक उद्देश्यों में से एक है।

34.10 भारत में रोजगार की प्रवृत्ति

रोजगार के अवसर उत्पन्न किये जायें और इससे बेरोजगारी और अल्परोजगार की समस्या का समाधान हो सकेगा। सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गये ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों ने प्रशंसनीय भूमिका निभायी। तालिका संख्या 34.16 ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में लिंगानुसार रोजगार वृद्धि दर से सम्बन्धित आंकड़ों को प्रस्तुत करती है।

तालिका 34.16

निवास एवं लिंग के अनुसार रोजगार" वृद्धि दर

लिंग/निवास	1972-73 से 1977-78	1977-78 से 1983	1983 से 1987-88	1972-73 से 1987-88
ग्रामीण	2.52	1.74	0.95	1.75
शहरी	4.31	4.10	3.79	4.00
पुरुष	2.61	2.15	1.81	2.19
महिलाएं	3.23	2.36	1.04	2.24
कुल	2.82	2.22	1.55	2.21

स्रोत : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन और जनसंख्या अनुमान पर विशेषज्ञ समिति

" सामान्य मुख्य एवं अनुषंगी स्थिति

वर्ष 1972-73 से 1977-78 में रोजगार वृद्धि दर शहरी क्षेत्र [4.31] की तुलना में ग्रामीण क्षेत्र [2.52] में कम थी। इस अवधि के दौरान पुरुषों में रोजगार वृद्धि दर 2.61 प्रतिशत थी और महिलाओं में 3.23 प्रतिशत थी। वर्ष 1977-78 से 1983

के बीच में रोजगार वृद्धि दर ग्रामीण क्षेत्र में केवल 1.74 थी किन्तु शहरी क्षेत्र में 4.10 प्रतिशत थी। इस अवधि के दौरान महिलाओं व पुरुषों में रोजगार वृद्धि दर लगभग समान थी। उदाहरण के लिए 2.15 प्रतिशत पुरुषों में और 2.36 प्रतिशत महिलाओं में। वर्ष 1983 से 1987-88 के दौरान ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार वृद्धि दर केवल 0.95 प्रतिशत थी और 3.79 प्रतिशत शहरी क्षेत्रों में थी। और इसी अवधि के दौरान पुरुषों में रोजगार वृद्धि दर [1.81] महिलाओं में रोजगार वृद्धि दर [1.04] की तुलना में अधिक रही। वर्ष 1972-73 से 1987-88 के दौरान रोजगार में वृद्धि दर का प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र में केवल 1.75 था किंतु शहरी क्षेत्र में 4 प्रतिशत था। इसी अवधि के दौरान पुरुषों व महिलाओं में रोजगार में वृद्धि दर का प्रतिशत लगभग समान था। उदाहरण के लिए पुरुषों में 2.19 और महिलाओं में 2.24।

34.10.3 शिक्षित व्यक्तियों में रोजगार वृद्धि दर

तालिका संख्या 34.17 शिक्षित व्यक्तियों में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर से सम्बन्धित सूचनाओं को प्रदर्शित करती है।

तालिका 34.17

शिक्षितों में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर

लिंग/निवास	1977-78 से 1983	1983 से 1987-88	1977-78 से 1987-88
ग्रामीण	7.8	8.5	8.1
शहरी	6.8	7.4	7.1
पुरुष	7.2	7.5	7.3
महिलाएं	8.1	11.7	9.7
कुल	7.2	7.8	7.5

विशेष : सामान्य मुख्य स्थिति [आयु वर्ग $^{15+}$]

स्रोत : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 32वाँ, 38वाँ और 43वाँ दौर

वर्ष 1977-78 से 1983 के दौरान ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षितों में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर [7.8] शहरी क्षेत्र की तुलना में [6.8] अधिक थी। इसी अवधि के दौरान पुरुषों में शिक्षित रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 7.2 थी, जबकि महिलाओं में 8.1 थी। वर्ष 1983 से 1987-88 में ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षितों में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 8.5 थी और शहरी क्षेत्र में 7.4 थी। इसी अवधि के दौरान पुरुषों में शिक्षितों में रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 7.5 थी, किन्तु महिलाओं में 11.7 थी। वर्ष 1977-78 से वर्ष 1987-88 में ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षित रोजगार की वार्षिक वृद्धि 8.1 थी, किन्तु शहरी क्षेत्र में यह 7.1 थी। इसी अवधि के दौरान पुरुषों में शिक्षित रोजगार की वार्षिक वृद्धि दर 7.3 थी और महिलाओं में 9.7 थी।

34.10.4 क्षेत्रीय कार्यक्रमों की रोजगार सम्भावनाएँ

क्षेत्रीय निवेशों/कार्यक्रमों की रोजगार सम्भावनाएं/निहितार्थ निम्न प्रकार होंगे :

इन के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में पर्याप्त रोजगार उत्पन्न किये जा सकेंगे [a] सिंचित खेती का विकास और सिंचाई सम्भावनाओं का अनुकूलतम उपयोग [b] उपलब्ध तकनीक

का शुष्क भूमि और वर्षा से सिंचित खेती में प्रसार [c] चावल, मोटा अनाज, दलहन और तिलहन को बढ़ाने के लिये विशेष कार्यक्रम [d] बेकार पड़ी खेती योग्य भूमि के उपयोग तथा लवणीयता, क्षारीयता और जलभराव की समस्या से ग्रस्त क्षेत्रों के सुधार के लिये विशेष कार्यक्रम [e] पहाड़ों, जनजातिय क्षेत्रों, बेकार पड़ी भूमि और शुष्क क्षेत्रों में तीव्रता से बागवानी विकास [f] पशु पालन व डेरी कृषि से सम्बन्धित कार्यक्रमों को बढ़ाना [g] मत्स्य क्षेत्र से सम्बन्धित क्रियाकलापों का, उत्पादन की विशाल सम्भावनाओं की निकासी के लिए, विस्तार [h] वनरोपण के विकासात्मक क्रियाकलापों का तीव्रीकरण।

यदि ग्रामीण कारीगरों की परम्परागत कुशलता को बढ़ाया जाये और उनकी स्पर्धात्मकता में सुधार हो तो ग्रामीण उद्योगों के सहायक क्षेत्र रोजगार के अधिक स्थायी मार्ग प्रदान करेंगे।

सिंचाई और कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न क्रियाकलाप, जो बड़ी मात्रा में रोजगार की सम्भावनाओं को प्रस्तुत करते हैं, प्रमुख हैं — [a] बड़ी व मध्यम परियोजनाओं के नहर कार्य जिनमें बाँध का निर्माण किया जाता है। जबकि नहरें पीछे छोड़ दी जाती हैं। [b] पूर्ण खेत विकास कार्यक्रम और कमाण्ड क्षेत्र विकास कार्यक्रम कार्यों की खेत नहरें और जलनिकास नहरें [c] लघु सिंचाई कार्य 1[d] नदी के किनारों को सुरक्षित रखने के लिये बाढ़ नियन्त्रण व भूक्षरण विरोधी कार्य।

ग्रामीण रोजगार और अल्परोजगार समस्या को अधिक व्यावहारिक रूप से हल करना होगा और इसके लिए भरपूर प्रयासों जैसे भूमि सुधारों को लागू करना विशेषतः आर्थिक दृष्टि से खण्डित भूमि की चकबंदी करना आवश्यक है। कृषि श्रमिकों की मजदूरी औद्योगिक मजदूरों की मजदूरी से कम है। दोनों समूहों में मजदूरी में अन्तर के लिए उत्तरदायी कारक है — 1. खेती के लिए उपलब्ध भूमि से सम्बन्धित अत्यधिक जनसंख्या 2. अधिकतर कृषि जोते इतनी अधिक नहीं है कि उन पर बड़ी मात्रा में आधुनिक इकाई लगाई जा सके, वातावरण तथा पारिस्थितिकी की सुरक्षा एवं संवर्धन, ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण और इसे अपनी आधारभूत आवश्यकताओं और सेवा क्षेत्र के विकास में स्वयसक्षम बनाना, ग्रामीण क्षेत्र में कृषि पर आधारित तथा वनों पर आधारित उद्योगों का विकास और ग्रामीण भारत की बेहतर वृद्धि के लिये नये मार्गों की खोज करना।

सरकार द्वारा अपनाये गये सभी कार्यक्रमों का आधारभूत उद्देश्य कृषक, कृषि श्रमिक और ग्रामीण कारीगरों का समन्वित विकास करना है।

34.11 शब्दावली

1. **श्रम :** सभी मानवीय संसाधन जो कि समाज को उत्पादन प्रक्रिया में उपयोग के लिये प्राप्त होते हैं।
2. **श्रम प्रक्रिया :** जनसंख्या का वह अंश जो श्रम बाजार में प्रवेश करता है उदाहरण के लिए रोजगार और बेरोजगार व्यक्ति।
3. **कार्यशील जनसंख्या :** वो सभी जो कार्य करने की इच्छा रखते हैं तथा कार्य करने के योग्य हैं चाहे वह रोजगार में है या बेरोजगार के रूप में पंजीकृत है।
4. **मुख्य मजदूर :** मुख्य मजदूर उन व्यक्तियों का इंगित करता है जो आधे वर्ष से अधिक [183 दिन] आर्थिक दृष्टि से उत्पादन कार्यों में संलग्न रहते हैं।
5. **सीमान्त मजदूर :** सीमान्त मजदूर उन व्यक्तियों को बताता है जो 183 दिन से कम दिन आर्थिक उत्पादन कार्यों में संलग्न रहते हैं।

6. **काश्तकार :** एक काश्तकार वह व्यक्ति है, जो एक सेवायोजक, एकांकी, कर्मकार या पारिवारिक कार्यकर्ता के रूप में निज की या सरकार या निजी व्यक्तियों या संस्थाओं से प्राप्त भूमि पर काश्त, निरीक्षण या संचालन करने में संलग्न है और जिन्स [Kind], मुद्रा अथवा फसल के हिस्से के रूप में भुगतान प्राप्त करता है।

7. **कृषि श्रमिक :** वह व्यक्ति जो दूसरे व्यक्ति की भूमि पर जिन्स [Kind] या फसल के एक भाग के रूप में मजदूरी के भुगतान के लिए कार्य करता है, कृषि श्रमिक कहलाता है। ऐसा व्यक्ति खेती की कोई जोखिम नहीं रखता, किन्तु वह मुख्य रूप से मजदूरी के लिये दूसरे की भूमि पर कार्य करता है। कृषि श्रमिक को उस भूमि को जिस पर काम करता है उसे ठेके पर देने का कोई अधिकार नहीं होता है।

8. **गैर-श्रमिक :** वह व्यक्ति जो पूरे वर्ष के दौरान कार्य नहीं करता है।

9. **घरेलू उद्योग :** एक घरेलू उद्योग वह है जो वस्तु के उत्पादन, प्रक्रिया, वितरण, प्रतिपूर्ति या बनाना तथा बेचना (किन्तु केवल बेचना नहीं) में संलग्न है। यह ऐसे व्यवसायों जैसे वकील, कलाकार, नाई, संगीतज्ञ, नर्तक, धोबी, ज्योतिषी आदि अनुभव प्राप्त कर्ताओं या केवल व्यापार या व्यवसाय यद्यपि यह व्यवसाय, व्यापार या सेवाएं घर के सदस्यों द्वारा चलाये जाते हैं, को शामिल नहीं करता है।

10. **बेरोजगार :** इसका तात्पर्य उन व्यक्ति विशेषों से है, जो रोजगार में नहीं होते हैं और जो नई नौकरी प्राप्त करने अथवा प्रचलित वास्तविक मजदूरी दर पर कार्य प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

11. **अल्परोजगार :** द्वैत श्रम बाजार की परिकल्पना के अनुसार द्वितीयक श्रम बाजार में ऐसे बहुत से मजदूर होते हैं जिनमें पहले से ही कुशलता होती है, जो उन्हें प्राथमिक क्षेत्र में सन्तोषजनक कार्य के लिये योग्य बनाती है या जिन्हें बिना अधिक सामान्य लागत के कुशलता वाली नौकरी के लिये प्रशिक्षित किया जा सकता है। प्राथमिक क्षेत्र में प्रवेश के लिये अवरोध दिये जाते हैं। फिर भी वे द्वितीय क्षेत्र की अकुशल नौकरियों के लिये बाध्य किये जाते हैं, और इस रूप में वे अल्परोजगार होते हैं।

12. **चिरकालिक बेरोजगारी या सामान्य स्थिति बेरोजगारी :** ऐसे व्यक्ति जो वर्ष के अधिकतर समय के दौरान बेरोजगार रहते हों (यह व्यक्तियों की संख्या के रूप में मापी जाती है) यह प्रमाप उन व्यक्तियों के लिए विशेष महत्व रखता है जो नियमित रोजगार की तलाश में रहते हैं (उदाहरणार्थ, शिक्षित एवं कुशल व्यक्ति) वे लोग आकस्मिक काम स्वीकार नहीं करते हैं। इसी कारण इस बेरोजगारी को खुली बेरोजगारी भी कहते हैं।

13. **साप्ताहिक स्थिति बेरोजगारी :** ऐसे व्यक्ति जिन्हें सर्वेक्षण सप्ताह के दौरान एक घण्टे का भी रोजगार नहीं मिलता (यह व्यक्तियों की संख्या के रूप में मापा जाता है)।

14. **दैनिक स्थिति बेरोजगारी :** वे व्यक्ति जिन्हें सर्वेक्षण सप्ताह के दौरान या एक दिन या कुछ दिन रोजगार प्राप्त न हुआ हो (इसे व्यक्ति दिनों या व्यक्ति वर्षों के रूप में मापा जाता है।)

15. **गरीबी :** गरीबी निरपेक्ष व सापेक्ष अवधारणा मानी जा सकती है। निरपेक्ष गरीबी की धारणा जीवित रखने के लिए आय के न्यूनतम स्तर को प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिये न्यूतम दैनिक आहार सम्बंधी आवश्यकताओं का अनुमान और यह सबसे अधिक सस्ता कैसे मिल सकता है। सापेक्ष गरीबी की धारणा समुचित तुलनाकारी समूहों से सम्बन्धित गरीबी को परिभाषित करती है। इस तरह से जब कि व्यक्ति

विशेष जीवित रहने के लिए पर्याप्त आय से अधिक प्राप्त कर सकता है, यदि यह समुदाय के अवशेष की तुलना में बहुत कम है तो व्यक्ति विशेष गरीबी के अन्तर्गत माना जायेगा। जैसे समाज धनी होता जाता है वैसे ही आय का स्तर जो गरीबी को परिभाषित करता है, बढ़ता जाता है।

34.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. A.N. Agrawal, Indian Agriculture, second revised, edition, Vikas Publishing House Private Ltd., New Delhi, 1981.
2. S.N. Agarwala, revised by U.P. Sinha, India's Population Problems, Third edition, Tata Mograw Hill Publishing Co. Ltd., New Delhi, 1989.
3. P.C. Bansil, Agricultural Problems of India, Fourth edition, Oxford & IBH Publishing Co., Bombay, 1981.
4. Charan D. Wadhva (ed.), Some Problems of India's Economic Policy, Second edition, Tata Mograw Hill Publishing Co. Ltd., New Delhi, 1980.
5. Lakshmi Narayan Das, Employment Generation in Five Year Plans, Deep and Deep Publication, New Delhi, 1990.
6. Manabendu Chattopadhyay, Conditions of Labour in Indian Agriculture, K.P. Bagchi & Co., Calcutta, 1985.
7. L.K. Naidu Bank Finance for Rural Artisans, Asia Publishing House, New Delhi, 1988.
8. A.R. Patel and Dr. D.P. Khankhoje, Rural Economics, Sultan Chand & Sons, New Delhi, 1985.
9. Robert Lucas & Gustav Papanek (ed.), The Indian Economy, Recent Development and Future Prospects, Oxfort University Press, Madras, 1988.
10. Ruddar Datt and K.P.M. Sundaram, Indian Economy, S. Chanc & Sons Ltd., New Delhi, 1991.
11. J.S. Uppal (ed.), Indias' Economic Problems : An Analytical Approach, Third edition, Tata Mograw Hill Publishing Co. Ltd., New Delhi, 1983.
12. Vasant Desai, A Study of Rural Economics : A Systems Approach, Himalaya Publishing House, Bombay, 1990.

34.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में कृषि श्रमिकों के विस्तार पर एक लेख लिखिये और भारत में कृषि श्रमिकों की वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिये।
2. कृषि श्रमिकों की हीन स्थिति के लिये उत्तरदायी कारणों को स्पष्ट कीजिये और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार के सुझावों को स्पष्ट कीजिये।
3. सरकार द्वारा कृषि श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिये अपनाये गये उपायों के प्रभावों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये।
4. "न्यूनतम मजदूरी कानून भारत में सफल है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं?
5. "ग्रामीण परिवारों में गरीबी का अत्यधिक प्रभाव है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं?
6. बंधुआ मजदूर के बारे में एक संक्षिप्त विवरण दीजिए।
7. कृषि श्रमिकों की बेरोजगार व अल्परोजगार की स्थिति को दूर करने के लिए सरकार द्वारा लागू किये गये ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को स्पष्ट कीजिये।